

DUE DATE SLIP**GOVT. COLLEGE, LIBRARY**

KOTA (Raj)

Students can retain library books only for two weeks at the most

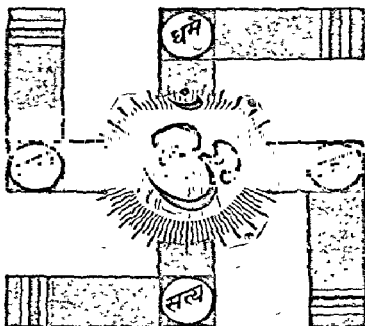
BORROWER S No	DUE DTATE	SIGNATURE

अभिनवनाट्यशास्त्रम्

अभिनवभरतोपाधिधारिणा भैमसेनि-चतुर्वेदोपाहाचार्यश्रीसीताराममहोदयेन विरचितम्]

[प्रथम खण्ड]

रूपक - रचना



अभिनवभरत साहित्याचार्य पंडित सीताराम चतुर्वेदी

—प्रकाशक—

प्रधान मन्त्री,

अखिल भारतीय विक्रम परिषद्,

काशी

प्रथम संस्करण
संवत् २००८ वि०

इस ग्रन्थको छापनेका अधिकार केवल पंडित सीताराम चतुर्वेदीको है ।

मूल्य १५)

मुद्रक—

दुर्गादत्त त्रिपाठी

सन्मार्ग प्रेस, टाउनहाल, बनारस ।

भूमिका

इस ग्रन्थकी सामग्रीका संचय पिछले लगभग बाईस वर्षोंसे हो रहा था विशेषतः तबसे जब आचार्य श्यामसुन्दरदासजीके 'रूपर-रहस्य'की रचनामें मैंने कुछ सहयोग दिया था। किन्तु उससे बहुत पहले ही मेरी नाट्यप्रियताने मेरे मनमें इसकी वासना इतनी भर दी थी कि मैं निरन्तर नाट्यविद्यासे सम्पन्न होनेका प्रयास करता ही रहता था। मेरठकी भारत-व्याकुल थिएट्रिकल कंपनीने तथा कलकत्तेकी कोरिन्थियन थिएट्रिकल कंपनीने मेरी इस वासनाको और भी अधिक उदीप्त किया जिसे हिन्दू विश्वविद्यालयकी नाट्यसमितिके नाट्यप्रयोक्ता (डाइरेक्टर), बनस्पति-शास्त्रके आचार्य डा० याज्ञवल्क्य भारद्वाजने चरम सीमातक पहुँचा दिया। काशी हिन्दू विश्वविद्यालयमें अध्ययन करते समय मैंने केवल अभिनय-कौशल ही नहीं सीखा वरन् संसार भरके श्रेष्ठ नाटक-कारोंके सब नाटक छान डाले, संगीत (गीत, वाद्य और नृत्य) का सुव्यवस्थित अभ्यास किया और अभिनयकला, रंगप्रदीपन, रंग-व्यवस्था आदि सभी नाट्यसंगत विषयोंपर सभी प्राप्त ग्रन्थोंका सूक्ष्म अनुशीलन कर डाला। हिन्दी एम. ए. करनेके पश्चात् मैंने विचार किया कि इसी विषयपर ग्रन्थ लिखकर, महाचार्य (डाक्टर) बन जाऊँ। मैंने इसके लिये डाक्टर श्यामसुन्दरदास तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ला आशीर्वाद और निर्देश प्राप्त करके आवेदन-पत्र भी भेज दिया किन्तु डा० श्यामसुन्दरदासने वृद्धवयस्कताके कारण अवकाश प्राप्त कर लिया, आचार्य शुक्ला भी चल बसे और मैं भी हिन्दू स्कूलसे टीचर्स ट्रेनिंग कालेजमें प्राध्यापक बनकर चला गया। इन सब घटनाओंने तथा ग्रन्थके विस्तारने मुझे यही प्रेरणा दी कि अब डाक्टरीकी उपाधिना मोह छोड़कर इस ग्रन्थको सर्वांगपूर्ण बनाकर अलग प्रकाशित किया जाय क्योंकि चारों ओर दृष्टि डालनेपर भी कोई ऐसा व्यक्ति नहीं दिखाई पड़ा जो इस शास्त्रका परीक्षक बन सकता। मेरे आत्मसम्मानने मुझे यही उपदेश दिया कि अनधिकारियोंके हाथोंसे सम्मान पानेकी अपेक्षा स्वयं सम्मान अर्जित करना कहीं अच्छा है। इस गर्वसे समृद्ध स्वाभिमानकी रक्षा करनेके लिये मैंने अपनी शक्ति ग्रन्थ-निर्माणमें केन्द्रित कर दी।

टीचर्स ट्रेनिंग कालेजमें पहुँचनेपर वहाँके आचार्य मेरे गुरु प्रिंसिपल हरिकृष्णदास बूलचन्द मलकानीने अभिनय रंगशालाकी स्थापना कराकर मुझे स्वलिखित नाटकोंका प्रयोग करनेका प्रोत्साहन दिया जिनमें मेरे मित्र शिष्य श्री शिवप्रसाद मिश्र रुद्र, कर्मणापति त्रिपाठी, मुकुन्ददेव शर्मा, बशीरुज्जी, काशीनाथ उपाध्याय 'भ्रमर'

'बेधङ्क', राधाविनोद गोस्वामी, कमलिनी मेहता, विमला वैद्य, पुष्पा, चन्द्रा, इन्द्रा मलकानी, सुशीलाशरण सिंह, उमाकुमारी मौडवेल, इन्दुमती डे, राधा चक्रवर्ती, प्रभावती सिंह, प्रभा तथा शोभा चटर्जी, सुशीला शर्मा, हीरा सिपाहीमलानी, शक्ति अधिकारी, अन्नपूर्णा वर्मा, कुन्ती नागर, शैलवाला दुबे आदिने पूर्ण सहयोग देकर तथा मेरे लिखे हुए नाटकोंमें अभिनय करके मेरे इस अनुष्ठानकी पूर्तिमें सक्रिय योग दिया। संवत् १००० में विक्रम सहस्राब्दि-महोत्सवके अवसरपर ऊपर लिखे मेरे मित्र-शिष्योंके अतिरिक्त श्री कृष्णदेव प्रसाद गौड़ 'वेढव' बनारसी, इन्द्रशंकर मिश्र, त्रिलोचन पन्त आदि अनेक मित्रोंने श्री शिवप्रसाद मिश्र रचित 'महाकवि कालिदास' और मेरे नाटक 'विक्रमादित्य' या उत्तर कालिदासके सफल प्रयोगमें हार्दिक और स्तुत्य सहयोग दिया। इन सभी प्रयोगोंसे मेरे नाट्यसम्बन्धी अनुभवमें कल्पनातीत संवर्द्धन हुआ और जन में गुजरातीके प्रसिद्ध लेखक तथा नेता श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशीकी प्रार्थनापर उनके भारतीय विद्या-भवनमें हिन्दी और पालि विभागांश अध्येतृ बनकर गया तब मेरा यह नाट्यानुभव अपनी पराजिताकी पहुँच गया।

मेरा ग्रन्थ लिखा जाने लगा और अखिल भारतीय विक्रम परिषद्की ओरसे उसके विश्वविन्ध्य अध्यक्ष तथा मेरे गुरु महामना पंडित मदनमोहन मालवीयजीके आशीर्वादसे छपने भी लगा। किन्तु मेरी अस्थिरता, मुद्रणकी अव्यवस्था तथा बंबईसे बलिया कीलेजना प्रिंसिपल बन आनेके कारण उसमें शतश ग्राहण आई किन्तु मन्द होनेपर भी गति बनी अवश्य रही और मेरे मित्र श्री पुरुषोत्तम लाल दवेके प्रयत्नसे पहले उनके आनन्द प्रेसमें फिर सन्मार्ग प्रेसमें पुस्तक छपने लगी और छपते छपते आज लगभग पाँच वर्षमें उसका प्रथम खंड ही छप पाया है।

प्रारंभमें इस ग्रन्थकी भी कालिदास ग्रंथावलीके आकारमें ही बड़े अक्षरोंमें छापना प्रारंभ किया था किन्तु सोलह पृष्ठ छपनेतक यह आभास होने लगा कि यदि इस आकारमें इतने बड़े अक्षरोंसे छापना प्रारंभ किया तो प्रथम खंड ही लगभग १२०० पृष्ठोंमें आवेगा अतः उसनी छपाई और उसना कागज नष्ट करके इसका आकार बड़ा किया गया और अक्षर छोटे किए गए फिर भी इसके प्रथम खंडकी पृष्ठ-संख्या चार सौ तक पहुँच ही गई। हमने यह घोषणा की थी कि प्रथम खंड पाँच रूपमें ही देंगे किन्तु इन पाँच वर्षोंमें छपाई और कागजकी महार्घता अप्रत्याशित ढंगसे बढ़ गई फिर भी हम अपने ग्राहकोंको अजिब प्रति ५) में और सजिल ६) में ही दे रहे हैं।

इसका दूसरा खंड शीघ्र छापनेका भी प्रयत्न हम कर रहे हैं किन्तु

उसमें निश्चय ही कुछ समय लगेगा क्योंकि उसमें रंगशाला, दृश्यपीठ, अभिनय-मुद्रा तथा नृत्यमुद्रा आदिके रीकड़ों चित्र प्रस्तुत करने पड़ेंगे जिसमें श्रम, समय और द्रव्य तीनों ही अपेक्षित हैं और जिसका मूल्य भी ३०) के लगभग पड़ेगा किन्तु हमारे जो ग्राहक १ अगस्त १९५१ तक १) अप्रिम देकर पूर्व ग्रहण वन जायेंगे उन्हें हम केवल १२) रुपयेमें ही दे सकेंगे ।

इस ग्रन्थके निर्माणमें अनेक ग्रन्थोंसे हमने उद्धरण लिए हैं जिन्हें उलटे अर्द्ध विराम (इनवर्टेड कॉमा) में रखकर हमने मूल लेखकका नाम दे दिया है किन्तु कहीं उलटे अर्द्ध विराम नहीं लगे हैं और कहीं मूल लेखकका नाम नहीं आ पाया है । विज्ञ पाठक कृपया ठीक कर लेंगे और मैं अगले संस्करणमें उनका संस्कार भी कर दूँगा । कुछ ऐसे ग्रन्थोंके मैंने पूरे अंश ले लिए हैं जिनका मैं लेखक, सहायक लेखक या अनुवादकर्ता रहा हूँ जैसे भाषाकी शिक्षा, रूपरहस्य, अरस्तूका काव्यशास्त्र आदि । इनके अतिरिक्त जिन दिवंगत अथवा वर्तमान लेखकोंकी कृतियोंके अंश मैंने लिए हैं उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ । यदि किसीका नाम देना मैं भूल गया होऊँ तो वे क्षमा करके मुझे सूचित कर देंगे मैं उचित सुधार कर दूँगा ।

बहुत सावधानी रखनेपर भी हमारे प्रफ-संशोधकों या मुद्रकोंने कुछ भूलें छोड़ दी हैं, कुछ स्थानोंपर मात्राएँ टूट गई हैं और प्रायः ऐसी अशुद्धियाँ संस्कृत पाठोंमें अधिक रह गई हैं । सुविज्ञ पंडितगण कृपया उन्हें सुधार लेंगे ।

हमने अभिनव-नाट्यशास्त्रकी रचना संस्कृतकी सूत्रप्रणालीपर की है । पहले एक सूत्र दे दिया है, फिर प्रायः पद्यबद्ध उसका नागरी रूपान्तर दे और तत्पश्चात् नागरी भाषामें उसकी व्याख्या है । अपने वक्तव्यके समर्थनमें हमने जहाँ-जहाँ संस्कृतके उद्धरण दिए हैं वहाँ उनका नागरी अनुवाद भी दे दिया है । अन्य भाषाओंके उद्धरणोंका हमने केवल नागरी अनुवाद मात्र दिया है ।

नाट्यशास्त्र अनेक शास्त्रोंका सागर है । इसमें भाषाशास्त्र, साहित्यशास्त्र, संगीतशास्त्र, आलेख्यधर्म, वास्तुशास्त्र, भौतिक शास्त्र आदि अनेक शास्त्रोंका संयोजन होता है इसी लिये भरतने नाट्यशास्त्रके प्रारंभमें कहा है—

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला ।

न स योगो न तत्कर्म नाट्योऽस्मिन्न्यन्न दृश्यते ॥

[कोई ऐसा ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला योग और कर्म नहीं है जो नाट्यमें न दिखाया जा सके ।] इतने विस्तीर्ण विषयका निरूपण करना सरल कार्य न होते हुए भी मैंने चपलता करके केवल परमेश्वरके भरोसे अभिनव-भरत नाम स्वीकार करके इसकी रचना प्रारंभ की

जिसका प्रथम खंड देवी शक्तिके सहारे आज पूर्ण भी हो गया है। इस ग्रन्थमें नाट्यरचनाके सम्बन्धमें भारतीय तथा अभारतीय जितने वाद, सिद्धान्त, मत तथा प्रयोग प्राप्त हैं सबका यथास्थान समावेश कर दिया गया है फिर भी कुछ ऐसे विषय छूट जा सकते हैं जो मेरी पहुँचसे बाहर हों। जो सज्जन ऐसा श्रुटियोंमुझे सुझावेंगे या इस ग्रन्थके दोष बतावेंगे उन्हें मैं सघन्यवाद कृपज्ञतापूर्वक अगले संस्करणमें सुधार दूँगा।

मैं सभी पूर्व ग्राहकोंसे इस विलम्बके लिये क्षमा माँगता हूँ और आशा करता हूँ कि वे अत्यन्त उदारताके साथ हमारी इस विवशताको क्षमा करेंगे।

काशी
वसन्तपंचमी, }
संवत् २००८ }

सीवाराम चतुर्वेदी,
एम्. ए. (हिन्दी, संस्कृत, पालि, प्रान्तीय इतिहास
तथा संस्कृति), बी. टी., एल्. एल्. बी., साहित्याचार्य,

अभिनवनाट्यशास्त्र

[प्रथम खंड]

रूपक-रचनाकी

विषय-तालिका



विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
१. प्रस्तावना	१-१०	शमन करनेके लिये संघीत, कथा और अभिनयके संयोगसे नाट्यकी उत्पत्ति ।	
नाट्यका आध्यात्मिक पक्ष—नाट्यका लौकिक पक्ष—नाट्यकी श्रेष्ठता तथा लोकप्रियता—उपदेश और शान्तिके लिये नाट्यकी व्यवस्था—नाट्यकी परिधि—अभिनवनाट्यशास्त्रकी रचनाका प्रयोजन—ग्रन्थकी परिधि—ग्रन्थका नामकरण ।		३. परिभाषा [नाटककी परिभाषा] ४२-४८	
२. नाट्यकी उत्पत्ति	१०-४२	नाट्य किसे कहते हैं—आखेर—आखेपका समाचान—किसी प्रसिद्ध या कल्पित कथाके आचारपर नाट्यकार द्वारा रचित रचनाके अनुसार नाट्य-प्रयोक्ता-द्वारा सिखाए हुए नट जब अभिनय तथा संगीतादिके द्वारा उस उत्पन्न करके प्रेक्षकोंका मनोविनोद करते हैं तथा उन्हें उपदेश और मनःशान्ति प्रदान करते हैं तब उस प्रयोगको रूपक या नाटक कहते हैं ।	
अपने देशमें नाट्यकी उत्पत्ति—नाट्योत्पत्तिका आख्यान या संवाद-सिद्धान्त—आख्यान या संवाद-सिद्धान्तका खंडन—नाट्यकी उत्पत्तिका वैदिक कर्मकांड-सिद्धान्त—कर्मकांड-सिद्धान्तका खंडन—कर्मकांड-सिद्धान्तकी निरर्थकता—नाचसे नाट्यकी उत्पत्तिका सिद्धान्त—पुतली-नाचसे नाट्यकी उत्पत्तिका सिद्धान्त—इस मतकी भ्रमात्मकता—अभिनवभरतका विरोध—छाया-नाटकसे नाट्यकी उत्पत्ति—छाया नाटकसे नाट्यकी उत्पत्ति अमान्य—वीर पुरुषोंका आदर ही नाट्योत्पत्तिका कारण—उपबृक्त मतकी अमान्यता—कथा प्रकृति-परिवर्तनका प्रतीकात्मक रूप नाट्य है—स्वयं-विरोध—हृद्भव-बोत्सवसे नाट्यकी उत्पत्ति—उक्त मतका खंडन—यूनानी नाट्यसे भारतीय नाट्यकी उत्पत्ति—उक्त मतका खंडन—यूनानी नाटककी उत्पत्ति—रोमके नाटककी उत्पत्ति—चीनी नाटककी उत्पत्ति—जापानी नाटक—अन्य देशोंके नाटक भारतसे प्रभावित—श्लेच्छ देशोंमें नाटकका अभाव—अभिनवभरतके मतसे लोक-चिन्ताका		४. सिद्धान्त	४८-६६
		आदर्शवाद और यथार्थवाद—यथार्थकी असाधारणता ही आदर्श है—यथार्थवादकी व्याख्या—नाटक मुलान्त हो या दुःखान्त—मुलान्त ही उचित है—अस्तुका मत—समय, स्थान और व्यापारका एकरत्न—नाट्य-रुद्धियों—नाटकमें पद्य—गद्यका प्रयोग अनुचित—गीतोंका प्रयोग—गीतोंका अचिक प्रयोग अनुचित—संवाद सर्व-आव्य हैं—नाटकका परिमाण—दस घड़ोंमें पूर्ण हो सकनेवाला नाटक श्रेष्ठ—घोड़े समयमें खेले जा सकनेवाले, घोड़े पावों तथा इर्ष्योंवाले नाटक ही श्लाघ्य हैं ।	
		५. नाट्यकार [नाटककार]	६६-७४
		लोकका इतिहास, भाग, संगीत, अभिनयकला तथा लोकचिन्तिका पारखी ही नाटककार ही सकता है—	

कवि नाटक क्यों लिखता है—सिद्धान्ततः चार प्रकार-
के नाटककार—आदर्शगदी नाटककार—संभावनावादी
नाटककार—वस्तुवादी नाटककार—भाग्यगदी नाटक-
कार—स्वभावके अनुसार दो प्रकारके नाटककार—
गम्भीर तथा अगम्भीर—जनताकी मनोवृत्ति
समझना नाटककारके लिये आवश्यक—मानवचरितके
अध्ययनके साथ भाषाप्रौढता ज्ञान भी आवश्यक—
रंगक्रियाकुशल, लोक वृत्ति, इतिहासज्ञ तथा भाषाका
पठित हो नाटककार हो सकता है ।

६. रूपरचनाके तत्त्व

७४-७८

काव्यके दो भेद—दृश्य और अदृश्य—कथा, संवाद और
रंग-निर्देश ही रूपके तीन तत्त्व हैं—अस्तुके
अनुसार रूपके तत्त्वोंका विवेचन—इतिवृत्त आचार,
विचार, वर्णनशैली, दृश्य और गीत—वस्तु, नेता
और रस क्या तत्त्व हैं ।

७. कथावस्तु

७९—११२

कथावस्तुकी रचना—घर्षभयका मत—पताका-
स्थानक—वस्तुकी अर्थमञ्जुलि (बीज बिन्दु, पताका,
प्रकरी, कार्य)—नाटक-रचनार्थ सन्धियों—सन्धि—
मुखसन्धि—मुखसन्धिके तरह अंग—प्रतिमुख-सन्धि—
प्रतिमुख-सन्धिके तरह अंग—गर्भसन्धि—गर्भसन्धिके
तेरह अंग—अवमर्श या विमर्शसन्धि—विमर्श-
सन्धिके तरह अंग—निर्वहणसन्धि—निर्वहण-
सन्धिके चौदह अंग सन्ध्यन्तर—उपसन्धियों या
सन्ध्यन्तर—इक्कीस अन्तःसन्धियों—सन्ध्यंगों और
सन्ध्यन्तरोका उद्देश्य—छः निमित्तोंके सन्धियोंके
चौसठ अंगों और इक्कीस सन्ध्यन्तरोका प्रयोग—
अंक—अर्थोपलक्षक (विध्वंसक, प्रवेशक, फूलिका
अंकास्य, अंकावतार)—आधिकारिक और प्रासंगिक
कथावस्तु—आव्य, अभाव्य और नियतभाव्य—
अस्तुके अनुसार इतिवृत्त रचनाका विधान—दो
प्रकारके इतिवृत्त, साधारण और गूढ—नाटकमें एक
इतिवृत्त हो और निश्चित परिमाणका हो—अंकमें
कथा हो—दृश्यका परिमाण—अंकोंकी संख्या—
इतिवृत्तके भेद—इतिवृत्त और कथावस्तुमें भेद—
इतिवृत्त और कथावस्तु—वस्तु-रचनानी पाँच

रीतियाँ—नायक - केन्दरीति—घटनाचक्ररीति—मनो-
वैज्ञानिक आभिव्यक्ति-रीति—कुतूहल-निर्वाह रीति—
दृश्यानुकूल रीति—घटनाचक्ररीति हो भेदोत्तम—
नाट्यवस्तुकी आधार—गम्भीर और हास्यनाटक
कथावस्तु—विशिष्ट कथावस्तु—कथावस्तुकी गति—
नाटकीय प्रभाव—पताकास्थानकका प्रयोग ठीक
नहीं—अर्थोपलक्षक—उसकी अनुसुकता—कथा-
वस्तु रचनाके उपाय (दृश्यकम-संविधानक तथा
घटनाकम-संविधानक)—संविधानकके तिन तत्त्व—
पात्र, स्थान और व्यापार ।

८. पात्र-योजना

११३—१३७

पात्रकी व्याख्या—मरतके अनुसार तीन प्रकृतिके
मनुष्य—यह तो नायक और प्रेक्षक परिवारका स्वभाव
है—शारदातनयका मत—नायक-नायिका भेद—
नायकके बाईस गुण—स्वभाव-भेदसे नायकके चार
प्रकार (धीरशान्त, धीर लज्जित, धीरोदात्त, धोरोद्धत)
—इन चारों प्रकारोंके चार चार भेद (अनुकूल,
दक्षिण, शठ और घृष्ट)—मरतने इनके तीन तीन
भेद किए, उत्तम, मध्यम और अधम—इनके भी
तीन तीन भेद, दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य—
नायकके सहायक—नायक के आठ साहायक गुण—
नायिका भेद—स्वकीया—परकीया - गणिका - मुग्धा,
मव्या और प्रणत्मा नायिकाके भेद—व्यवहार और
दशाश्रोके अनुसार नायिकाश्रोके भेद—नायिकाकी
दूतियाँ—नायिकाश्रोके अलंकार-अंगन, अयत्नज और
स्वभावज अलंकार—अनुपागती चेष्टाएँ—हरि-
औघजोका रस-कनस—अन्तर्मुख और बहिर्मुख
मानस—यूगका मत—यूरोपीय आचार्योंके बताए
अन्य भेद—अस्तुका मत—उच्च और अपराधी
प्रकृति—कुल-परपरा और संगतिक संस्कार—
अभ्यास, आचरण और इच्छाशक्ति—रिपर
चित्तवाले और अरिपर चित्तवाले—कल्पना-
शील और संस्कारशील—सब भावोंके
दोष—सांख्यिक शास्त्र और कामशास्त्रके अनुसार
पुरुषों और स्त्रियोंके भेद—रतिमंजरीमें स्त्रियोंके
भेद—आभिनवमरतके मतानुसार नाटकीय पात्रके

तीन भेद, सबुद्धि, अबुद्धि तथा जड़—उबुद्धि मनुष्य—
 अबुद्धि पशु-पक्षि आदि—नाश्रकिया जड़ भी कर
 सकते हैं—रंगपीठपर पशु-बद्धियेका प्रयोग
 अवाञ्छनीय—अल्पज्ञानके लिये छोटे पालतू जीवों-
 का प्रयोग हो सकता है—मानव-भाव ही लौकिक,
 अलौकिक तथा भावपात्रों (क्रोध, धमा, शान्ति,
 धर्म आदि) के प्रतिनिधि हो सकते हैं—पुरुष, स्त्री
 और नपुंसक भेदसे मानव तीन प्रकारके होते हैं—
 गोरे, काले, पीले और लालके भेदसे चार प्रकारके—
 दुबले, मोटे न अधिक दुबले न अधिक मोटेके
 भेदसे चार प्रकारके—जाड़े, लंबे, न बहुत नाटे, न
 बहुत लंबे भेदसे चार प्रकारकी देहवाले मनुष्य—
 सुन्दर, विकृत और कुरूप तीन प्रकारकी मानवीय
 आकृतियाँ—सुरोग और नीरोग—सच्च, रज और
 तम प्रकृतिवाले—स्वभाव कैसे बनता है—संगतिसे
 संस्कार अच्छे और बुरे हो जाते हैं—अच्छे और बुरे-
 का भेद—दूसरोका हित करनेवाले, दूसरोका अहित
 करनेवाले—स्वभावपर अवस्थाका प्रभाव—दस
 अवस्थाओंके मानव—पुरुष और स्त्रीकी प्रकृतिमें भेद—
 अवस्थाके अनुसार पुरुषोंके भेद—बालक—कुमार—
 किशोर—तीन प्रकारके तर्षण—अनुपक्त, पिरक्त—
 उदासीन—अनुरक्तके दो भेद—लोक-वर्षदी और
 स्वार्थी—साहसी—स्वार्थी—विपयी—अनुरक्त लोभी—
 अनुरक्त ईर्ष्यालु—अनुरक्त अभिमानी—अनुरक्त
 क्रोधी तथा आवेग-क्रोधी—चिड़चिड़े—अनुरक्त
 मूढ़—महत्वाकांक्षी—दुहरे चरित्रके लोग—विशिष्ट
 प्रकृतिके लोग—प्रौढ़ अवस्था—अतिप्रौढ़ अवस्था—
 अतिवृद्ध अवस्था—स्त्रियोंकी प्रकृति—शिशु अवस्था-
 बालिका—कुमारी—किशोरी—सुरालीला, कर्कशा,
 प्रमत्ता और दुहरे चरित्रवाली—प्रौढ़ा—वृद्धा—सन्तनी,
 विधवा, अपुत्रा, पुंश्चली, अपमानिता, ताडिता
 पीडिता तथा कामार्ता—नपुंसक—बुद्धिभेदसे सात
 प्रकारके लोग—देवबुद्धि, देवप्राय बुद्धि, अत्यन्त
 प्रखर बुद्धि, प्रखर बुद्धि, साधारण बुद्धि, स्थूल बुद्धि,
 मन्द बुद्धिकी सीमापर, निश्चित मन्दबुद्धि या जड़—
 अभिनवमरतका विरोध—स्वाधीन, पराधीन तथा
 जड़—स्वभावमें देय, जाति, कुल, वर्ग और वृत्तिकी
 प्रभाव—लोकवैशिके अनुसार स्वभाव—यूरोपीय

नाट्याचार्योंके कुछ सिद्धान्त—नाटकमें अधिक पात्रों-
 का प्रयोग निषिद्ध—कुल, वर्ग, देश, वृत्ति,
 (व्यवसाय), देह, लिंग, मानसिक स्थिति, स्वास्थ्य,
 परिस्थिति, संगति तथा संस्कारके अनुकूल पात्र-
 चित्रण ।

६. स्थान-योजना १७३-१७८

स्थान-निर्देशका महत्त्व—संस्कृत नाटकोंमें स्थान-
 निर्देश—वास्तविक और काल्पनिक स्थान—आकाशमें
 कार्य—तीन प्रकारके स्थल—उन्नत, सम, निम्न—
 जल-स्थान—स्थानका प्रभाव—रंगव्यवस्थापकके
 सामर्थ्यसे बाहर स्थान-निर्देश करना अनुचित—नाट-
 कीय वस्तुके अनुरूप काल, पात्र तथा संस्कारके योग्य
 स्थानका निर्देश हो ।

१०. व्यापार-योजना १७८-१८५

व्यापारकी व्याख्या—नाटकीय कथाके प्रवाहमें सहायक
 या बाधक घटनाएँ ही व्यापार कहलाती हैं—सब कार्य
 अपने कारण, दूसरोके कारण या दैवके कारण होते
 हैं—तीन प्रकारके व्यापार—दृष्ट-प्राप्ति, आदर्शकी
 सृष्टि तथा पर-पीड़ा—सब व्यापारोंका आश्रय चार
 सम्बन्धोंपर—स्वसम्बन्ध, दृष्ट-जन-सम्बन्ध, नगर-ग्राम-
 सम्बन्ध तथा राष्ट्र-सम्बन्ध—पुत्रवर्षणा, लौकैयणा,
 वित्तवर्षणा—तीन प्रकारकी विश्व-सम्बन्धी घटनाएँ ।

११. संवाद-योजना [भाषा-तत्त्व] १८५-२०१

भाषाकी आवश्यकता—संवादमें भावसंक्रमणका
 सामर्थ्य—व्यक्त और अव्यक्त ध्वनि—एकके दो रूप,
 ध्वनि और शब्द—परा, पर्यन्ती, मध्यमा और
 वैखरी—वेदके अनुसार दो प्रकारकी भाषा—
 निरुक्ता और अनिरुक्ता—विभिन्न देशोंको वर्णमाला-
 संस्कृतके वर्ण अक्षर भी हैं, शब्द भी—हमारे
 भाषाका ध्वनिस्वर—नागरीकी सैतालीय ध्वनियाँ—
 नागरीकी अनुनासिका प्रवृत्ति—नागरीकी कुछ विचित्र
 ध्वनियाँ—देशभेदसे उच्चारणमें विचार—नाटककी
 भाषा—दैवी, भौतिक और पार्थिव वाक्—भरतके अनु-
 सार भाषा-भेद—समान, विभ्रष्ट और देशी—देशीके
 अनेक भेद—अतिभाषा, आर्यभाषा, जाति-भाषा और
 जात्यन्तरी भाषा—पात्रों प्रवृत्तिके अनुसार शिष्ट

भाषाका प्रयोग ही उचित—हृष्ट अर्थका बोधक शब्द या शब्द-समूह ही वाक्य कहलाता है—परस्पर बोल-चाल ही संवाद है—स्वयंल्लाप भी संवाद ही है—उल्लासमें बकना या गाना भी संवादके अन्तर्गत—संवाद गद्य में भी, पद्य में भी ।

१२. संवाद-योजना [काव्य-तरंग] २०२—

रूपक-काव्य—संवादमें आकर्षण—नाट्यका काव्यत्व प्रसंगानुकूलता है—चार प्रकारसे भाषाका संस्कार—नाटककारीके संसर्गसे, नाटकोंका अध्ययन करने और देखनेसे, रंगपीठपर नाटक उपस्थित करनेको कलाके ज्ञानसे, तथा जनताके विभिन्न वर्गों संप्रदायों, वृत्तियों और समुदायोंके संपर्क तथा अध्ययनसे—राज-शेखरके अनुसार सारस्वत कविको श्रेष्ठताका वर्णन—दो प्रकारके शिष्य (कवि)—बुद्धिमान् और आहार्य बुद्धि—कारयित्री प्रतिभा—भावयित्री प्रतिभा—काव्यपाक कला—प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनोंको आवश्यकता—तीन प्रकारके कवि—शास्त्रकवि, काव्यकवि और उभय कवि—तीन प्रकारके शास्त्रकवि—आठ प्रकारके काव्य कवि रचना कवि, शब्दकवि, अर्थकवि, अलंकारकवि, उक्तिकवि, रसकवि, मार्गकवि और शास्त्र कवि—अभिनवभरतका विरोध—वामनाचार्य और ध्वनिमुद्ररीका मत—नौ प्रकारके काव्यपाक—शब्द और अर्थ दोनोंका नित्य सम्बन्ध—सम्बन्धकी सरसता ही काव्य है—वाक्यकी परिभाषा—अविरल कौतूहलको ही सरसता कहते हैं—योरोपीय आचार्योंके अनुसार काव्यकी परिभाषा—वाक्यके दो रूप सायास और अनायास—उत्तम, मध्यम और अधम काव्य—अभिनवभरतकी अस्वहमति—तीन प्रकारके शब्द—शब्द और वाक्य—दृष्ट शब्द—शब्दशक्ति—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना—अभिधाशक्ति और वाक्य शब्द—वाच्यार्थ—अभिधाशक्तिसे प्रकट होनवाले चार प्रकारके अर्थ—रूढ यौगिक, योगरूढ और कूट—लक्षणा और लक्ष्यार्थ—लक्षणाके भेद—गूढव्यथा लक्षणा नाटकमें स्वाध्य—व्यंजना—साव्योख्यावृत्ति—पद—नाटकीय भाषाके सम्बन्धमें अरस्तूका मत—वक्ताके द्वारा किसी अर्थके लिये प्रयुक्त की जानेवाली ध्वनि ही शब्द है—

वक्ता और श्रोताके कहने और समझनेके अनुसार दो प्रकारके अर्थ—वक्ताके भावोंके व्यञ्जक शब्द या शब्दसमूह ही वाक्य कहलाते हैं—नाटकीय वाक्यकी परिभाषा—ध्वनि—ध्वनिके भेद—सामाजिक जो अर्थ समझें वही नाट्य शब्दका अर्थ है—संवादकी परिभाषा—संबोधनात्मक शब्द—भावके अनुसार वाक्यके भेद—विधि-वाची, निषेधवाची, काकु-प्रवृत्ति—भावके अनुसार वाक्य रचना—सूचनात्मक वाक्य—समर्थनात्मक वाक्य—आदेशात्मक वाक्य—सम्भतिसूचक वाक्य, उपदेशात्मक वाक्य—सर्जनात्मक वाक्य, अधिकारगतक वाक्य—प्रायर्णारमकवाक्य—व्यप्रतापसूचक वाक्य उन्माद सूचक वाक्य—हास्यात्मक वाक्य—उपेक्षात्मक वाक्य—व्यग्यात्मक वाक्य—चाटुकारितायुक्त वाक्य—संवाद स्वाभाविक हो, उतना हो जितनेसे कथाका विस्तार और नाटकीय चरित्रोंका विकास हो, लोकप्रिय ही, जोड़-तोड़के प्रत्युत्तर आवश्यक अनिवार्य और स्वाभाविक हों, देर तक एक मंडलके पात्रोंद्वारा न चलें, उनमें अभिनयके लिये अंतर हो—पूरा वाक्य प्रारम्भक नहीं—योरोपीय नाटकोंके संवादका रूप साहित्यिक किन्तु प्रकृति स्वाभाविक—संवादमें सम्बन्ध निर्वाह—संवादके लक्षण—अनुस्र वादो तथा भाषाभिनयमें केवल आंगिक अभिनय—वाचालकार—योग्य तथा उचित संज्ञावत् ही अलंकार—भरतके अनुसार केवल चार अलंकार ही मान्य—काव्यके गुण—प्रसाद और कुण्डल—नाट्य संवादके—दोष—काव्यके दोष—अग्रमनसूचक शब्दोंका प्रयोग स्वाभ्य—संवादकी स्वाभाविकता संवादकी परिस्थितियों—मनःस्थिति ही संवादका आधार—मनुष्यकी प्रवृत्तियों—स्वार्थ, परार्थ और वर्ग प्रवृत्ति—संसारम मानव-वैष्टाके छः आधार—सम्पत्ति या राज्य (भो जन वश्यादि सब इष्टमें सम्मिलित) स्त्री और परिवार, विद्या, आरुध्य या स्वास्थ्य (शरीरकी कुशलता), यश और शक्ति—विभिन्न मानसिक अवस्थाओंमें चौबीस मनोवृत्ति युग्म—अनुराग—अनुरागके भेद—पृथा—स्थायी भावोंके द्वारा मनोवृत्तियोंका पोषण—स्थायी-भावकी व्याख्या और उनके भेद—संचारी भाव—

अभिनवभरतके मतसे बत्तीस संचारी भाव—रतिकी व्याख्या हास—शोक—उत्साह—भय—क्रोध—आश्चर्य—घृणा—नाटकीय संवादके चार प्रकार—स्वामाविक, कृत्रिम, प्रभावकर, साहित्यिक—इनकी व्याख्या—स्वामाविक संवादकी श्रेष्ठता—भाषा सर्वबोध्य हो—पात्रोंके अनुरूप वाणी हो—एक साथ उत्तरमें विभिन्नता होनी चाहिए—एक ही दृश्यमीठपर अनेक व्यापार-स्थलोंका प्रयोग और उनके अनुसार संवाद-योजना—नाट्यकारकी स्वतन्त्रता ।

३. संवाद-योजना [रंगनिर्देश] ३६७—३१५

अभिनेता, रंगव्यवस्थापक, प्रकाश-व्यवस्थापक, संगीतव्यवस्थापक तथा नेपथ्यव्यवस्थापकके लिये रंगनिर्देशका महत्त्व—अन्य देशोंमें रंगनिर्देश—नाटकके सब प्रकारके कार्योंकी प्रणालीकी स्पष्ट समझना ही रंगनिर्देशका उद्देश्य रंगनिर्देश सरल तथा पूर्ण हो तीन प्रकारके रंगनिर्देश—मंचके लिये, नेपथ्यके लिये और सामग्रीके लिये—जीव, अग्नि तथा विस्फोटक पदार्थोंका प्रयोग निषिद्ध—अभिनेताओंके लिये रंगनिर्देश—प्रकाश-व्यवस्थापकके लिये रंगनिर्देश—दस प्रकारकी प्रकाश-व्यवस्था—एक दृश्यमें बहुत रंगोंका प्रकाश निषिद्ध—प्रकाश एक ओरमें ही हो—संगीत-व्यवस्थाके लिये रंगनिर्देश—रस या भावोंके अनुसार राग—कौमल और उर्कता वाशनिर्देश प्रसंगके अनुरूप संगीत-निर्देश—पक्षवाद्य वा पृष्ठ-संगीत—पराश्रित गीत और वाद्य (प्ले बैक)—नेपथ्य-विधायकके लिये रंगनिर्देश—नाट्यप्रशोक्ताके लिये रंगनिर्देश आवश्यक ।

४. संवादयोजना [छन्दस्तत्र (कविता और गीत)] ३१५—३५५

पद्यका प्रयोजन—छन्दकी व्याख्या—छन्दमें रस और भावकी अनुकूलता—छन्दकी परिभाषा—मात्रिक और धार्मिक छन्द—माना—पदान्तरी दीर्घता अस्वीकृत—लघु और गुरु—उच्चारणके अनुसार लघु-गुरुत्व—मत्रिक और धार्मिक छन्दमें अन्तर—शुभ, अशुभ

और दग्धाक्षर वर्ण—अपवाद—मात्रिक और धार्मिक छन्दके उपभेद—गण और उनके पल मात्रिक छन्द—वर्णछन्द—रस या वर्णोंके अनुसार छन्दो-योजना—क्षेमेन्द्रका मत अभिनवभरतकी असह-मति—मात्रिक सम—मात्रिक सम (दंडक)—मात्रिक अर्द्धसम—मात्रिक विषम—धार्मिक सम धार्मिक अर्द्धसम—धार्मिक विषम—अन्य देशोंमें छन्दकी योजना—यूरोपीय छन्दःशास्त्र—अरबी छन्दःशास्त्र—फारसी छन्दःशास्त्र—उर्दूका छन्दःशास्त्र—चीनीयोंकी छन्दोयोजना—जापानी छन्दोयोजना—कविता और गीत—अर्द्धक वर्ष (अनुकूलत पद्य)—गीतका अयमर—कविताके प्रयोगस्थल—गीतका प्रयोग—गीतके रूप और प्रयोग—सिद्धार्थ (नृत्तमात्र) ।

५. नाट्यवृत्ति

३५६—३७६

वृत्तिकी व्याख्या—भारती वृत्ति कैशिकी वृत्ति—साल्नी वृत्ति—आरमयी वृत्ति—राजेश्वर और तर्क-वागीश द्वारा वृत्तिकी व्याख्या कथावस्तुके व्यापारकी प्रकृति ही वृत्ति है—समीमांसा—रूढ़क—रूपकके दस भेद—नाटक, प्रकरण, भाण्य, महान, डिम, व्यायोग, समवाहार, बोधी, अङ्क, ईदाम्युग—उप-रूपक—उपरूपकके अठारह भेद नाटिका श्रेयक, गोष्ठी, सट्टक, नाट्यरासक, प्रस्थानक, उल्लास्य, काव्य, रासक, प्रबंधण, संलापक, शीघ्रदित, शिल्पक, विलासिका दुर्मल्लिका, प्रकरणिका, इत्सीश, भाणिका—विदेशोंमें रूपकके भेद—यूनानी नाटक—त्रासद (ट्रोजेडो)—प्रहसन—रोमके नाटक—यूरोपके मध्ययुग में नाटक—इतालवी नाटक—जर्मन, आस्ट्रियन और जेकोस्तोवाकियन नाटक—स्कोडिनेवि-यन और फ्लेमिश नाटक रूसी नाटक—अंग्रेजी नाटक—अमरीकाके नाटक—एकॉकी नाटक—कला-घादी तथा वास्तविकतावादी नाटक—जनीन धर्म-करण—विषयके अनुसार पाँच भेद—रङ्गमंचके अनुसार छः भेद—प्रदर्शन-विधिके अनुसार सात भेद—प्रमाणके अनुसार अठारह भेद—रचनाके अनुसार पाँच भेद—उद्देश्यके अनुसार तीन भेद—दर्शकके अनुसार चार भेद—पात्रके अनुसार पाँच

मेद—वर्तमान वर्गीकरणके अनुसार छः भेद—कथा-
प्रधान, चरित्र प्रधान, व्यापार प्रधान, संगीत-प्रधान,
उद्देश्य-प्रधान तथा सम्वाद प्रधान ।

रूपककी रूप रचना—पूर्वरंग—भारतीवृत्तिके अंग—
प्रवेशना, वीथी, प्रहसन, आमुख—स्थापनाके तीन
अंग—वीथीके तेरह अंग—प्रहसनके दस अंग—
अक—गर्भक—प्रस्तावनाके नौ अन्य प्रकार—
प्रस्तावनाका विषय—घटना, सम्वाद, प्रवेश, निर्गम—
विशेष नाट्य-ग्रन्थ — नाट्यवृत्त्य — गीतिनाट्य—
मूकनाट्य—मूकप्रार्थनाट्य—अव्ययनाट्य (रेडियो
प्ले)—उपसंहार ।

१६. नाट्यग्रन्थ

३७६-३८६

सविधानककी रचना—नाटकका नामकरण—नाटकके
नामकरणके सिद्धान्त—पात्रोंके नामकरण—पात्र-
परिचय—अक तथा दृश्य विभाजन—प्रस्तावना—

अभिनवनाट्यशास्त्र

[द्वितीय खंड]

[सचित्र रूपक-रचना]

मूल्य ३०)

१ अगस्त सन् १९५२ तक १) अग्रिम भेजकर प्राहक धननेवालोंको

केवल १२) में

अभिनवनाट्यशास्त्रके दूसरे खंडमें चित्रसहित निम्नलिखित विषयोंपर विस्तारसे विचार होगा—

- | | |
|------------------------------|--|
| १ — नाट्य प्रवेश | १३ — रंग-व्यवस्थापक |
| २ — नाटकके अवसर | १४ — दृश्य प्रयोग |
| ३ — अवसरयोग्य नाटक | १५ — नेपथ्य-व्यवस्थापक |
| ४ — नट या अभिनेताके गुण-दोष | १६ — नेपथ्यकर्म (मुखराग, परिधान) |
| ५ — नटोंकी शिक्षा (अभिनयकला) | १७ — रंग प्रदीपन |
| ६ — संगीत प्रयोक्ता | १८ — विज्ञापन |
| ७ — संगीतके तरंग | १९ — प्रवेश व्यवस्था |
| ८ — संगीतकी शिक्षा | २० — उपवेशन व्यवस्था |
| ९ — प्रेक्षागृह-निर्माण | २१ — प्रेक्षकोंके संस्कार |
| १० — नेपथ्य-गृह | २२ — रस मोमासा |
| ११ — रंगपीठ | २३ — नाट्य-समीक्षा |
| १२ — व्यवस्था-प्रकोष्ठ | २४ — संस्कारके प्रसिद्ध नट और नाट्यकार । |

व्यवस्थापक—

अखिल भारतीय विक्रम-परिषद्, काशी



॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

अभिनवनाट्यशास्त्र

प्रथम खण्ड : रूपक-रचना

वामर्थाभिनिवेशाय वन्दे वाणीविनायकी ।
 वन्दे प्राचेतसं व्यागं वन्दे स्वपितरौ गुरुम् ॥१॥
 रामं शिवमयं वन्दे वन्दे राममयं शिवम् ।
 मातृभूमिं शुभां काशीं वन्दे रामशिवाश्रिताम् ॥२॥
 रामं रामप्रियां वन्दे वन्दे रामानुजांस्तथा ।
 रामस्य पितरौ वन्दे वन्दे रामानुगं हरिम् ॥३॥
 अरुन्धतीं वशिष्ठं च भरतं प्रणिपत्य वै ।
 सीतारामेण लोकार्थं नाट्यशास्त्रं प्रकाशयते ॥४॥

आनन्दोल्लासपूर्णं वसुरसरचिरं वेदवेदाङ्गत्तारम्
 सप्तदुः सृष्टिं विचित्रां निखिलसुरगणाशंसितं विस्वहृद्यम् ।
 पूर्वं सुप्नु प्रयुक्तं भारतमुदिवरैर्नाट्यवेदं पवित्रम्
 नाट्यप्राचीनभक्त्याभिनयगुणमयं विस्तरेशोऽन्वितमि ॥५॥

प्रस्तावना

नाट्यका आध्यात्मिक पक्ष

० सर्वं खल्विदं ब्रह्मनाट्यम् ॥ १ ॥

[सकल विश्व है नाट्य ब्रह्मका] ।

मगलमय, विगुणातीत, निर्लेप, निराकार और निर्गुण होते हुए भी परब्रह्म परमेश्वर ऐसे स्वीलमय हैं कि महत्मा उन्हें नि मकवा किया—एसोर्ट्ट बहुर्यां प्रजापेद—जर्भात

में एक होकर भी अनेक रूप हो जाऊँ, और यह संकल्प करते ही वे अपने अमरत्व, अद्भुत तथा विलक्षण नाम और रूप धारण करके इस महाखल्वमें इस प्रकार फैल गए कि उनकी भावमयी अभिनय-कलासे व्याप्त सृष्टि ही सम्पूर्ण अशाश्वत तथा अनित्य कण्डुओं और नियाओं की हम उस महान-रके ही विभिन्न रूप और कार्य न समझकर इन्हें वैशे ही सत्य मन्यकर इनसे प्रमगित होने लगे जैसे रङ्गशाकमें

पैदा हुआ कोई भायुक्त दर्शक, रङ्गपीठपर होनेवाले प्रत्येक रसपूर्ण नाट्यको वास्तविक समझकर रङ्गमञ्चपर दिखाई देनेवाले कार्यों और रूपोंको सत्य समझकर तथा उनसे प्रभावित होकर विभिन्न रसोंका अनुभव करते हुए कभी हँसता है, कभी रोता है और कभी अचरजसे आँखे पाड़कर देखता रह जाता है। रङ्गमञ्चपर अभिनय करनेवाले अभिनेताओंको पहचानकर तो यह कदा भी वा सकता है कि यह अमुक व्यक्ति है, यह अमुक है, किन्तु उस महानटकका अभिनय ऐसा मोहक और मायामय है कि उसे बड़े योगियों और महात्माओं ने पहचाननेका प्रयत्न करनेपर भी उन्हें न पहचान पाया और ज्ञानके आधार वेद भी नेति नेति कहकर चुप हो गए। स्वयं नटवरने श्रीमद्भगवद्गीतामें अपने श्रीगुरुसे कह भी डाला—

आश्चर्यवत्प्रदयति कश्चिदेन

माश्चर्यवद्भद्रदति तथैव चान्यः ।

आश्चर्यवन्वैनमन्यः शृणोति

श्रुत्वाप्येन वेद न चैव कश्चित् ॥२,२९॥

[इस ब्रह्मको, परमात्माको कोई तो अचरजमें भरकर देखता रह जाता है, कोई अचरजमें भरकर इसका वर्णन करता दिखाई देता है, कोई कोई अचरजमें भरा हुआ इसका वर्णन ही सुनता मिलता है, पर आज तक कोई ऐसा मार्दका लाल नहीं जनमा जो इनके विषयमें सब कुछ सुनकर भी इसे पहचान पाया हो ।]

इस प्रकार इस विराट् विश्व-रङ्गशालामें, प्रेम, ईर्ष्या, कबला, भय, क्रोध, उत्साह आश्चर्य, घृणा आदि जितने भाव दिखाई दे रहे हैं वे सब केवल उसी परम नटकके सात्त्विक अभिनय हैं, अनेक रङ्गोंके परिधान पहने हुई सम्पूर्ण जड़ और चेतन प्रकृतिके अनन्त रूप उसीके आहार्य अभिनयके सौत्रक हैं, सौर मण्डलके ज्योतिषिण्डोंकी गतिसे लेकर जड़ और चेतन प्राणियोंकी सम्पूर्ण गतियाँ और क्रियाएँ उसीके आदिक अभिनयकी विभिन्न मुद्राएँ हैं और सब प्रकारकी निश्चता तथा अनिश्चता वाणी उसीके वाचिक अभिनयकी ही अनेक व्यञ्जनाएँ हैं । अभिनय-दर्पणके रचयिता भद्रकेश्वरने अपने ग्रन्थके वारम्भमें नटराजकी स्तुति करते हुए लिखा है—

आदिक भुवन यस्य वाचिक सर्ववाङ्मयम् ।

आहार्य चन्द्रवारादि त उमाः सात्त्विक शिवम् ॥

[ससारमें होनेवाली सभी क्रियाएँ जिनके आदिक अभिनयमें प्रकट होती हैं, ससार भरमें धोली जानेवाली सब मायाएँ ही जिनके वाचिक अभिनयकी घोषिका हैं और चन्द्र तारादि जितने भी ससारमें रूप हैं, वे सब जिसके आहार्य अभिनय हैं, उन सात्त्विक अभिनयके स्वरूप शिवजीको हम प्रणाम करते हैं ।]

और यदि इस अश्रद्धालु, नास्तिक, तथा बुद्धिवादी कहलानेमा श्रद्धा दोग करनेवाले नास्तिक युगकी उपेक्षा करके हम श्रद्धा और विष्णुसमय अतीतनी गाथाओंके सान्त्वना पूर्ण पन्ने उलटें तो हमें साक्षात् भगवान् गीतामें यह कहते हुए सुनाई पड़ेगे—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

परिनाणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।

धर्मसंस्थानार्थाय सम्भामि युगे युगे ॥

[जब जब धर्मपर सकट आता है और अधर्म बढ़ता है तब तब मैं साधुओं की रक्षा, दुर्गोंका नाश, तथा धर्म की स्थापना करनेके लिये प्रत्येक युगमें उत्पन्न होता रहता हूँ ।]

हम भारतीयोंके सांस्कृतिक विश्वासके अनुसार भगवान् न जाने कितनी बार आए और मत्स्य, कच्छप, वराह, वामन, नृसिंह, परशुराम, राम-कृष्ण और बुढ़के ऐसे ऐसे विलक्षण नाटकीय रूप बनाकर आए कि भगवानकी नाट्यप्रियता तथा नाट्य-सुश्रुतता उत्तरोत्तर सिद्ध और प्रत्यक्ष होती चली गई । इन अवतारी रूपोंको देखकर यह जान पड़ता है मानो वे कृष्णके रूपमें शृङ्गारका, रामके रूपमें वीरका, वामनके रूपमें हास्यका, परशुरामके रूपमें रौद्रका, नृसिंह के रूपमें भयानकका, मत्स्यके रूपमें करुणका, कच्छपके रूपमें अद्भुतका, वराहके रूपमें बीभत्सका और बुढ़के रूपमें शान्त रसना ही साकार अवतार धारण करके आए हों ।

दशरूपकके रचयिता धनञ्जयने भी ग्रन्थके प्रारम्भमें नटराज विष्णुकी प्रार्थना करते हुए लिखा है—

दशरूपानुकारेण यस्य माद्यन्ति भावकाः ।

नमः सर्वविदे तस्मै विष्णवे भरताय च ॥

[जिनके दस रूपोंकी लीलाओंपर उनके भक्त भगन

होते हैं उन सर्वज्ञ नट्यर विष्णुजी और भरतको मैं प्रणाम करता हूँ।]

दूसीलिये भक्तोंने भगवानके इन चरितोंको मीचे लीला कहना प्रारम्भ कर दिया और सभी लोग लीलामें या नाट्यमें इसी भावनासे अधिक रस लेने लगे कि जब स्वयं भगवान ही लीला करते हैं, अभिनय करते हैं, तो मनुष्य क्यों न करे। क्योंकि स्वयं भगवानने ही तो कहा है—

य प्रदानरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।

म यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवचते ॥

(गीता-३, ११)

[श्रेष्ठ लोग जैसा काम करते हैं वैसा ही दूसरे लोग भी करने लगते हैं क्योंकि श्रेष्ठ लोग जो काम करते हैं वही प्रमाण बन जाता है और सब लोग उसे ही ठीक मनुसर वैसा ही करने लगते हैं।]

नाट्यका लौकिक पक्ष

● लोकव्यवहारेऽपि नाट्यप्राधान्यम् ॥ २ ॥

[लोकके व्यवहारमें भी नाट्यका प्राधान्य है।]

नाट्यके आध्यात्मिक और रहस्यमय पक्षके अतिरिक्त उसका लौकिक मरुत्त भी है। हम लोग अपने अपने घरमें घंटों फटे-पुराने, मैले-कुचैले कपड़े पहनकर निर्वाह कर लेते हैं किन्तु जब हमें ब्याह-बारात, समाज-उत्सवमें जाना पड़ता है तो हम बॉकी चुनद-दार धोती, दूधिया धुल, हुआ कुर्चा, तुनहरी पाड़वा दुपट्टा, रेशमी पाग और चरभराता कोमल मणमली जोड़ा उटकर निकलते हैं। यह सब शृङ्गार केवल नाट्य ही तो है।

रोग-शय्यासे उठनेपर जब कोई हमसे पूछता है— कष्टिच चित्त कैसा है, तब हम अत्यन्त विनीत तथा हृत्ततापूर्ण मुद्रामें कहते हैं—आपकी कृपासे भय अन्त है। रंस्वर और वैद्यकी कृपाकी उपेक्षा करके हम शिष्टाचारवश अपनी स्वयन्तः कुण्ठ श्रेय कुशल पूछने-बोलने दे डालते हैं। यह शिष्टाचार प्रदर्शन भी तो कासा नाट्य ही है।

कुटिल विक्रमता जब बड़े आदर और विनयपूर्ण शब्दोंमें अपने आह्वकके आगे अपनी वस्तुसे सराहता

हुआ, अपनी सत्यता और निर्लोभिताका प्रवचन करता हुआ, अत्यन्त दैन्य मुद्रा साधकर, त्याग और सचाईका मयीक नाट्य करके, अपनेको हरिश्चन्द्र और युधिष्ठिर सिद्ध करनेका उपक्रम करता है, उस समय उसका व्यवहार नाट्य नहीं तो और क्या है।

दूसी प्रकार जीवनके सभी क्षेत्रोंमें अधिक मष्टताका सौम्य उर्साको प्राप्त होता दिखाई देता है जो इन प्रकारकी नाट्य-कलामें पूर्णतः कुशल और निष्णात होते हैं। विचित्र बात तो यह है कि बड़े-बड़े विचक्षण सुधी लोग भी सामाजिक व्यवहारके, इस कृत्रिम किन्तु सफल अभिनयको ही सिद्धता, शील, व्यवहार-कुशलता और चतुरताकी उचित परमावधि मानते चले आए हैं। इस दृष्टिसे हमारे समाजका सम्पूर्ण शिष्टाचार एक ऐसा विराट् अभिनय है जिसके असफल या अतिरिचित्र अभिनयको लोग दोंस, धाड़ध्वर, प्रवचनना, शिरवा य. बनावट करते हैं, और सफल तथा समुचित अभिनयको शिष्टाचार करते हैं। अतः अपने सामाजिक जीवनका प्रगतः सफल बनानेके लिये भी यह आवश्यक है कि हम साहित्यक, आङ्गिक, वाचिक और आहार्य अभिनयमें ऐसे कुशल हो जायें कि श्रवण और व्यक्तिके अनुकूल हम अपने भाव, अपनी चेष्टाएँ, अपनी वाणी, अपना व्यवहार और अपना स्वरूप व्यवस्थित कर सकें।

शिष्टाचारके इन मामूली व्यवहारोंके अतिरिक्त भी हम विशेष संस्कारों, उत्सवों और पर्वोंपर कभी कभी नाट्यका ठीक उसी रूपमें प्रयोग करते हैं जैसा रङ्गमञ्चपर अभिनय दिखानेके लिये अभिनेता करते हैं। यज्ञोपवीत संस्कारके समय जब नया माणवक मैथला और वीपीन धोषकर, खड़ाऊँ पहनकर, बाएँ कंधेपर पल्ला-दण्ड, पीठपर वृष्णाजिन और दाहने हाथमें मिश्रापात्र लेकर 'भवति मिश्रां मे देहि' कहता हुआ अपने परम संस्कारके समन एकत्र हुए नरनारियोंके मिश्रा मँगता है, वह वैदिक युगके ब्रह्मचारीके आचरणका शुद्ध नाट्य मात्र ही तो होता है। इसी प्रकार पाणिप्रदण संस्कारके अवसरपर बरके मुँहपर हरिद्रा या कुकुमका लेगन करके, उसकी ओँघोंमें काजन्ड लगाकर, उसके विरपर फूलोंका मुकुट धोषकर और पीला या गुलाबी वस्त्र पहनाकर, उसे मुञ्चित नालकी, पालकी, घोड़े-नाड़ी या हार्मी रत्न-दिनर बैठाकर जो बाजे गाजेके

धर्म, धर्म, काम, और मोक्ष देनेवाला नाट्यशास्त्र बनाया जिससे श्रुति, वाक्यानुभव, सौभाग्य और विद्वत्ता बढ़ती है और जिससे उदारता, स्थिरता, धर्म और विलास उत्पन्न होता है तथा दुःख, पीडा शोक, असन्तोष, जीबी जलन मिट जाती है और जिसमें ब्रह्मानन्दसे भी अधिक आनन्द प्राप्त होता है नहीं तो भला ब्रह्मानन्दमा आनन्द ले चुकने वाले नारद जैसे बड़े-बड़े ब्रह्मर्षियोंका मन यह नाट्य कैसे माहित कर पाता ।]

इसमें यह स्पष्ट है कि नाट्यशास्त्रकी रचना करते समय ही ब्रह्माजीने कल इसके बाह्य प्रभाव तक ही अपनी दिव्य दृष्टि परिमित नहीं रखी, वरन् नाटकके प्रयोगसे अभिभूत सामाजिकोंके मानसके भीतर कान्तासम्मित उपदेशके रूपमें रामादिपद्मसहितव्यम न रावणादिवत् आदि उपदेशोंका जा अमूर्त, अव्यक्त, तथा अदृष्ट प्रभाव पड़ते हैं उसका भी उन्होंने निर्देश कर दिया था ।

अपनी रचिकों पोषित और प्रमत्त करनेवाली कला ज्ञानन्द देनेके साथ-साथ जब हम अपनी लौकिक चिन्ताशासे व्याप्त होकर भी अपने सम्पूर्ण रङ्गमंचपर अज्ञानी निम्न अवस्थाओंका मूर्च्छित अभिनय देखते हैं तब हमारा हृदय रङ्गमंचपर अभिनय करनेवाले नर्तक तथा उनका अभिनयसे इतना प्रभावित हो जाता है कि हमारी चिन्ताएँ उतनीं देखके लिये निरालस मौन हो जाती हैं और हम तन्मय होकर अपने सम्पूर्ण हौंसाले अभिनयमें मगन हो जाते हैं, उसका रस लेने लगते हैं । इस आनन्द और रसके साथ साथ हम अव्यक्त रूपसे अपने चरित्र, स्वभाव तथा अपनी वृत्तियोंका सुधार और परिष्कार भी करते चलते हैं । अर्थात् नाटकके प्रभावसे हमारे मनमें दो प्रकारकी वासनाएँ अव्यक्त रूपसे जड़ पकड़ती चलती हैं—एक तो यह कि हमें अमुक प्रकारके कार्य अमुक प्रकारसे करने चाहिएँ और दूसरी यह कि अमुक प्रकारके कार्य नहीं करने चाहिएँ या यदि करते भी हों तो अमुक प्रकारसे नहीं करने चाहिएँ । उपदेशक राम भी तो इसी प्रकारके त्रिपि-निषेधात्मक उपदेश देते हैं अर्थात् वे भी तो यही कहते हैं कि अमुक कार्य करना चाहिए और अमुक कार्य नहीं करना चाहिए । किन्तु नाटकके द्वारा जो उपदेश मिलते हैं वे सीधे 'करो या न करो' के रूपमें नहीं कहे जाते । वे तो नाटकमें होनेवाली घटनाओं या वृत्तियोंकी क्रियाओंके परिणामस्वरूप अपने

आप दर्शक या सामाजिकके चरित्रमें बिना अल्पमग्नयके उल्लते मिलते पैठते चले जाते हैं । इसलिये बहुतसे नाटककारों तथा समीक्षकोंकी यह स्पष्ट घोषणा है कि नाटककारको अपने पात्रोंके मुँहसे उपदेश नहीं कराने चाहिएँ । उसे च लिए कि अपने पात्रोंको घटनाओंमें इस प्रकार रूँध दे कि नाटककारका स्पष्ट प्रयोजन या उपदेश उन घटनाओंके परिणामसे व्यक्त हो जाय ।

जापान, रूस, जेरोस्योत्रिकिया तथा जर्मनीने नाटकके इस अद्भुत तथा स्वाभाविक प्रभावको देखकर शिक्षाके क्षेत्रमें इसका प्रयोग प्रारम्भ कर दिया है । यहाँ छोटे या बड़े नाटककोंके द्वारा इतिहास, भूगोल, विज्ञान, समाज शास्त्र तथा राजनीति आदि सभी विषयोंकी शिक्षा दी जाने लगी है और राजनीतिक प्रचारके लिये तो नाटकका प्रयोग प्रायः सभी देशोंमें वेगसे किया जा रहा है । योरोपमें सालहवीं और अठारहवीं शताब्दीमें ईसाई धर्मके प्रचारके लिये रहस्यमय तथा नैतिक नाटक खेले जाने लगे थे और बहुत दिनों तक योरोपके विभिन्न प्रांतोंमें नाटककी धर्मप्रचारका प्रमुख साधन माना जाने लगा था । आजकलके मनोवैज्ञानिकोंने भी यह सर्वसम्मत घोषणा की है कि बालकी शिक्षा स्वाभाविक और स्वतः अजित होनी चाहिए और उसे स्वाभाविक मनोवैज्ञानिकोंके लिये, ऐसे शिक्षाजनक खेलोंकी व्यवस्था करनी चाहिए जिनमें अधिकसे अधिक खेल हों और शिक्षार्थी या ज्ञानार्जनकी अधिकसे अधिक सम्भनाएँ हों । इस दृष्टिमें भी नाटक ही एक मात्र ऐसा खेल है जो आदिसे अन्त तक खेल होनेपर भी सीधे ज्ञान या उपदेशको सम्भनाओंके पूरा भरा हुआ है ।

नाटककी परिधि

नाट्ये सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ ४ ॥

[सभी विषय हैं भरे नाटकमें ।]

यद्यपि राक्षसोंसे युद्ध करके घरआए हुए इन्द्र आदि देवताओंने ब्रह्माजीसे यही कहा था कि—

मोदनीयश्मिच्छामो ह्यथ श्रव्यं च यद्रवेत् ।

—नाट्यशास्त्र १, ११

[हम काह ऐसा खेल चाहते हैं जिसे हम सुन भी सकें और देख भी सकें ।]

किन्तु ब्रह्माजीने जहाँ पहले ही नाटकको 'विनोद-

जननम्' कहा वहीं उसे 'सर्वोपदेश-जननम्' भी कह दिया अर्थात् उन्होंने केवल नाट्यके बाह्य प्रभावको ही महत्त्व नहीं दिया वरन् उसके अन्तःप्रभावका महत्त्व भी स्पष्ट कर दिया ।

नाट्यके द्वारा हम कितने विषय सीख सकते हैं, कितना उपदेश ग्रहण कर सकते हैं, इस विषयमें ब्रह्माजीने कहा है—

त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्य भावानुवीचनम् ।

—नाट्यशास्त्र १.१०७

[सम्पूर्ण त्रैलोक्यके भावोंका अनुकरण ही नाट्य है ।] जब सम्पूर्ण त्रैलोक्यके भावोंका अनुकरण दसमें है तो इसमें तीनों लोकोंका इतिहास स्वभावतः आ ही गया । फिर आगे वे कहते हैं—

कचिद्वर्मः कचिज्जाडा कचिद्व्ययः कचिच्छमः ॥
 कचिद्व्यात्यं कचिद्वृद्धं कचिल्लामः कचिद्वधः ।
 धर्मो धर्मप्रवृत्तानां कामः कामोपरोपेविनाम् ॥
 निग्रहो दुर्विनीतानां विनीतानां दमक्रिया ।
 क्लीबानां पाप्यजननमुत्साहः शूरमानेनाम् ॥
 बलुधानां विबोधश्च वैदुष्यं विदुषामपि ।
 इक्षराणां विलासश्च रथैर्षं दुःखार्दितस्य च ॥
 अधोपजीविनामर्थो धृतिवद्विमचित्तसाम् ।
 नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम् ॥
 लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम् ।
 उत्तमाधममम्भानां नराणां कर्मसम्पदम् ॥

* * *

लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद्विधिपति ।
 न तत्त्वज्ञानं न तत्किल्बिषं न सा विद्या न सा कला ॥
 नासौ योगो न तत्कर्म नाट्योऽभिमन्यत्र दृश्यते ।
 सर्वशास्त्राणि दिवसानि कर्माणि विविधानि च ॥

* * *

सदाही अनुकरणं नाट्यमेतद्विधिपति ।
 वेदानुकरणं नाट्यमेतत्तद्यग्मया कृतम् ॥
 देवानामसुराणां च राशामयं कुटुम्बिनम् ।
 ब्रह्मर्षिणां च निजयं नाट्यं वृत्तान्तदर्शनम् ॥
 योऽथ रसभक्तो लोकाय सुखदुःखसमन्वितः ।
 सोऽज्ञायभिनयोपेतो नाट्यमित्यभिधीयते ॥

वेदविद्ये तिहासानामाख्यानपरिकल्पनम् ।
 विनोदकरणं लोके नाट्यमेतद्विधिपति ॥
 अतिमृत्तिसदानार - परिशील्यार्थकल्पनम् ।
 विनोदजननं लोके नाट्यमेतद्विधिपति ॥

[नाट्यमें कहीं धर्म, कहीं खेल, कहीं अर्थज्ञान, कहीं शान्ति, कहीं हँसना, कहीं बुद्ध, कहीं काम और कहीं बचका वर्णन होगा । धर्मात्मा लोगोंके धर्म, कामियोंके काम, अधिष्ठोंके सुधार, नम्र लोगोंकी शान्ति, नपुंसकोंकी डिटार्ड, शूरोँ और मानियोंके उत्साह, मूर्खोंके ज्ञान, विद्वानोंकी विद्वत्ता, धनियोंके विलास, दुखियोंके धीरज, व्यवसायियोंके धन-प्राप्तिके उपाय, धवराएँ हुए लोगोंके धैर्य आदि अनेक भावों और अवस्थाओंसे भरे हुए इस नाट्यमें लोगोंकी क्रियाओंका अनुकरण किया जाता है और उत्तम, मध्यम और अधम पुरुषोंके कार्योंका प्रदर्शन होता है । ऐसा कोई ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला, योग या काम नहीं है जो इसके द्वारा न दिखलाया जा सके । इन नाट्यमें सब शान्त, सब शिल्प, और अनेक प्रकारके कार्य सब इकट्ठे दिखाए जा सकते हैं । इस नाट्यके द्वारा सातों द्वीपोंके निवासियोंके जीवनका अनुकरण किया जा सकता है और देव, अमुर, राजा, यक्ष्य और ब्रह्मर्षि आदि सबके वृत्तान्त दिखाए जा सकते हैं । ससारका सब सुख-दुःख वाग्निक आदि अभिनयोंसे इसमें दिखाया जाता है और यह सब दृग्गमे बनाया गया है कि वेद, विद्या, इतिहास, कथा आदि सबको इकट्ठा करके सब प्रकारके लोगका एक साथ मनोरञ्जन किया जाय ।]

इसना यह अर्थ हुआ कि ऐसा कोई ज्ञान, विद्या ससारमें नहीं है जो नाट्यके द्वारा न दिखाया जा सके । अतः विनोद और शिवा दोनोंसे पूर्ण होनेके कारण नाटक ही एक मात्र सर्वाधिकरूप और सुन्दर उत्सव है ।

अभिनव नाट्यशास्त्रकी रचनाका प्रयोजन

१) नाट्यशासनयाभिनवनाट्यशास्त्रोत्पत्तिः ॥१॥

[नव्य शासनके लिये ही शास्त्र पर अभिनव रत्ना ।]
 स्तंभरञ्जन और सिधाका जो रत्ना महत्त्वपूर्ण साधन माना जाता था और माना जा रहा है उसकी सर्वलोकप्रियता उपेक्षा ही इन ग्रन्थोंकी उत्पत्ति का कारण है । क्योंकि विद्या और योग-ज्ञानके साधनोंकी उपेक्षा पहले

लोक-रुचि मित्र होती है, उससे समाज अव्यवस्थित होता है और अव्यवस्थित समाज सम्पूर्ण राष्ट्रको विनाशकी ओर वलपूर्वक गति ले जाता है। वास्तवमें लोक-रुचि के माधनों पर राजन्या ऐसा नियंत्रण होना चाहिए जिससे लोगोंकी रुचि और उनके सस्वागताना परिष्कार और सुधार हो। यूनानमें दिवनुमसुं दिवनुमिया नगरमें होनेवाले नाटकोंस सब प्रग्रन्थ वहीके राज्याधिकारियोंकी ओरसे होता था। यहाँतक कि नाटकोंका चुनाव, पात्रोंका चुनाव, रङ्गवालासी व्यन था, दशनामों मैदानेसा प्रग्रन्थ, सब कुछ वहीके राज्याधिकारियोंकी ओरसे होता था। हमारे देशमें भी सज्जन नाटकोंकी प्रस्तावनासे यह ज्ञान होता है कि राजाओं या विद्वानोंकी सभाके आदेशपर ही नाटक खेले जाया करते थे। अपने मालविकाग्निमित्र नाटककी प्रस्तावनामें महाकवि कालिदासने सूत्रधारसे कहा था—

अभिहितोऽसि मन्त्रिणां प्रियदा कालिदासप्रथितयस्तुना
मन्त्रिणाग्निमित्र नाम नाटकमभिन् वसन्तास्तवे
प्रयोऽन्यमिति ।

[विद्वानोंकी सभासे कहाया है कि इस वसन्तोत्सवपर कालिदासका लिखा हुआ मालविकाग्निमित्र नाटक ही श्रेष्ठ है ।]

इससे यह सिद्ध होता है कि उस समय नाटकके चुनावमें विद्वानोंका बड़ा हाथ था। नाटककार भी अपने नाटकके प्रयोगसे विद्वानोंकी ही स्तुति और प्रसन्न करनेके लिये आतुर रहता था। अभिज्ञानशाकुन्तलकी प्रस्तावनामें नीचे सूत्रधार कहता है—

आयें ! कथयामि ते भूतार्थम्—

आगतोपाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम् ।
वदन्तदपि शिष्यतानामात्मान्यप्रत्यय चेतः ॥

[आयें ! सच्ची बात तो यह है कि जनक विद्वान् लोग अच्छे न बना दें तबतक मैं नाटकको सफल नहीं समझता क्योंकि पात्रोंको चाहे जितने अच्छे ढंगसे भी मैं न सिनाया जाय किन्तु भी जाने मनमें भरोसा नहीं होता ।]

किन्तु आजकल मनोरञ्जनके साधनोंपर न तो राज्यका ही शासन है और न विद्वानोंका ही। अमेरिका और रूस आदि विदेशोंमें मित्रिण और कुशल व्यक्ति परलेने परतकर

यह निर्णय कर देते हैं कि अमुक नाटक या चित्र, लियो या बालकोंको नहीं दिखाना चाहिए। ऐसे नाटकों खेलनेके दिन नाटकपरके आगे मोटे मोटे प्रकाशाधरोंमें यह अंकित करा दिया जाता है—लियोके लिये नहीं या बालकोंके लिये नहीं। किन्तु हमारे देशमें ऐसा भी कोई नियम नहीं है। यद्यपि सरनाकी ओरसे चित्रोंपर भी नियन्त्रण नियुक्त किए गए हैं किन्तु जिस प्रकारके चित्र प्रस्तुत किए जा रहे हैं उन्हें देखकर हम यही कह सकते हैं कि नियन्त्रण लोग केवल यही भर देगने हैं कि चित्रमें कहीं बर्ग-ट्रोटर, राज ट्रोटर या जातीय विद्रोहकी गद्य तो नहीं है। इसके अतिरिक्त उनके लिये सब ग्राह्य है। झील, सभ्यता और सुसुचिकी इतनी उपेक्षा की ओर ध्यान दिखानेपर भी और पत्रोंमें आन्दोलन करनेपर भी नियन्त्रणोंने या राज्याधिकारियोंने कभी इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया।

हमारे देशमें चित्र और नाटक प्रस्तुत करनेवाले धनियोंकी दृष्टि कलापर उतनी नहीं है जितनी धन-समग्रपर उननी यह धारणा है कि प्रत्येक नाटक या बोलचालमें नृत्य होना ही चाहिए और गीत ऐसे हों जिन्हें लोग गलियोंमें अलापते चले। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि इन व्यययियोंके हाथमें पड़े हुए नाटककारोंकी लेखनी स्वामियोंकी रुचिके दृष्टितर ही नाचने लगी। इसके विरोधमें जो प्रतिभियां हुईं वह उससे भी अधिक अव्यवस्थित हुईं क्योंकि जिन सुसुचि-सम्पन्न नये विद्वान् नाटककारोंने लेखनी उठाई उन्हें न रगमचका ज्ञान था, न अधिनयन अनुभव, न नाटकीय प्रभाव उदात्त करके साधनोंका ज्ञान था, न लोक-रुचिकी पहचान। ये लोग केवल भाषा सुधारनेके पीछे पड़े गए और एक नये प्रकारके नाटक लिखे जाने लगे जिन्हें 'साहित्यिक नाटक' कहा जाने लगा। नाटकके रूपकत्वकी उपेक्षा हो गई। लाक्षणिक, सत्कृतमयी, दुरुह भाषासे ओत प्रोत, उबे-उबे पांडित्यपूर्ण सनादोंसे लदे हुए नाटक, विचारपूर्वकी कथाओंमें जाकर बैठ गए, रङ्गमञ्च पर न चढ़ पाए और जब जब उन्हें रङ्गमञ्च पर चढ़नेका आयतन दिया गया तब तब वे उरे ढंगसे लड़खड़ाकर गिरे और ऐसे गिरे कि फिर ऊपर न चढ़ पाए। वे जनतासे इतनी दूर चले गए कि बलपूर्वक पाठ्य ग्रन्थके हममें अनिवार्य रूपसे ही जब वे पढ़ाए जाने लगे तभी उनका अध्ययन हुआ, अन्वयाय वे क्योंकि त्यों पड़े

रह गए। साहित्यिक नेताओंने भी न तो उनके लिये रङ्गमंचकी ही व्यवस्था की न लोककवियों उन्नत करनेका कोई साधन ही निकाला। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि नाटक वह साहित्यिक कृति समझा जाने लगा जिसमें ऐसे कठिन अंश अवश्य हों जिन्हें पढ़ाने और समझानेमें अध्यापकको कष्ट हो और जो परीक्षमें पूछे जा सकें। फलतः नाटकका मुख्य अभिप्राय 'क्रीडनीयकत्व' तीव्रतासे लुप्त होने लगा। नाटक अपने पहले अपदस्थ कर दिया गया और वह भी उनके हाथोंसे किया गया जो अपनेको साहित्यिक ठेकेदार मानते हैं—लेखक, नाटककार, साहित्यिक नेता, और साहित्यिक संस्थाएँ।

जब नाटककारोंने यह दसा हुई तो नाटकके आलोचक भी वेसे ही बन गए। नाटककी कथावलु, चरित्र-चित्रण, संवाद, उद्देश्य आदिकी खोज करना ही उन्होंने नाटककी आलोचनाका परम मध्य समझ लिया। क्योंकि उनके धारण आदर्श या योरोपका। हमारी शिक्षाका उत्पत्ति ही यह हो गया है कि हम अँगरेजोंकी आँसोंसे ही सतारकी तथा सतारकी समस्त चेष्टाओंको समझनेका प्रयत्न करें। हम लोगोंने कर्मा यह सोचनेका प्रयत्न नहीं किया कि हम जिसे आलोचना कर रहे हैं वह आलोचना नहीं बरन् बिदलेपण मात्र है। फिर, हम लोग देखकोंके व्यक्तित्व, उनके प्रचार या उनके नामके आतक और प्रभावसे इतने उत्सह हो गए हैं कि हममें मत्स्य कहनेका नैतिक साहस भी नहीं रह गया। हम बहुमत देखते हैं और लोकमतसे भयभीत हमारा हृदय, सत्यकी हत्या करके असत्यकी प्रतिष्ठा करनेमें ही धाना सपूर्ण बौधाल्य लगा देता है। यही कारण है कि आज ऐसे ऐसे लोग प्रसिद्ध, सुप्रसिद्ध और महानाटककार बन गए हैं जिन्होंने नाटकके मर्मकी गंध भी नहीं पाई है, जो उसका छोर भी नहीं छू सके हैं।

इस प्रकारके विदेशी प्रभाव तथा गतानुगतिकतासे केवल हमारे नाटककार और नाट्यलोचक ही नहीं बरन् अभिनेता, रङ्ग-सच, लक्षक, नर्तक, गायक, नाट्य प्रयोगका तथा दर्शक सभी पीड़ित हुए बैठे हैं। इसीलिये उन्हें उचित मार्ग-प्रदर्शन करनेके लिये तथा अनधिकारियोंको शासित करनेके लिये इस अभिनव-नाट्यशास्त्रीकी रचना की जा रही है। इस ग्रन्थमें उन सब लोगोंको विरस्त सामग्री प्राप्त होगी, जो नाट्य प्रयोगका, रङ्ग मंच-लक्षक, अभिनेता, संगीत

कार, नेपथ्य-विधायक, आलोचक तथा दर्शकके रूपमें नाट्यकलासे संबद्ध हैं अर्थात् न टुक टुक लिखने, उसका प्रयोग करने तथा उसका आनन्द लेनेकी मपूर्ण विधियोंका हम ग्रन्थमें विस्तारसे विवेचन किया गया है।

ग्रन्थकी परिधि—

! विश्वनाट्योत्पत्ति-विकास-सिद्धान्त रचना प्रयोग विधानात्मक-मभिनवनाट्यशास्त्रम् ॥ ७ ॥

[विन्ध्य-नाट्यका जन्म, विवर्धन, उसके सब निदान्त ।

रचना और प्रयोग-ज्ञानका इगमें वर्णन कान्त ॥]

इस ग्रन्थमें नाट्यकी उत्पत्ति, विकास, सिद्धान्त, नाटक-रचना, दृश्य-विधान, नेपथ्य-विधान, संगीत, प्रकाश, रङ्ग-व्यवस्था, नाट्यालोचन आदि नाटक लिखने, सिखाने, खेलने, देखने या उसकी आलोचनाके सम्बन्धमें जिननीय यत्ने विन्ध्य साहित्यमें कही गई हैं, प्रयोगमें लाई गई हैं या लाई जा रही हैं उनके विवेचनके साथ साथ यह भी विचार दिया गया है कि उपयुक्त सब बातोंका जितना अंग भारतीय सङ्कृति, समाज, आचार, विचार, विश्वास तथा प्रकृतिके अनुकूल ग्राह्य या त्याज्य है। क्योंकि नाटक, नाट्यदाला तथा अभिनयके जितने विभिन्न रूप विश्वमें प्रकट होते चले जा रहे हैं और विश्वानकी सहायतासे इनकी जो नवीनता लोककविकी प्रभावित करती चली जा रही है उसका परिचय जहाँ अत्यन्त वाञ्छनीय और आवश्यक है है वहाँ यह भी अत्यन्त आवश्यक है कि हम उन्हें ज्योंका त्यों ग्रहण न करके उनकी प्रकृति का परीक्षण करके अपनी सङ्कृति, रचि, प्रकृति और प्रकृतिके अनुरूप उनका यथावश्यक अंश ग्रहण कर लें और जो हमारी सामाजिक भावना और प्रकृतिके विपरीत हो उसे छोड़ दें।

ग्रन्थका नामकरण—

! प्रलूनूल्लानाट्यसमन्वयादभिनवनाट्यशास्त्रम् ॥ ८ ॥

[नया पुराना नाट्य समन्वित अभिनवनाट्यशास्त्र कहलाया।]

समाजके विभिन्न देशोंमें आजकल नाटकके न जाने कितने रूप विकसित हुए, रङ्गशाला तथा रङ्गपीठके निर्माण, प्रकाश, व्यवस्था, थलकरण और नेपथ्य-विधानके सम्बन्धमें न जाने कितने प्रयोग हुए, उन सबकी उपासना करके और उस ज्ञानमें लोकको वचित करके केवल अपने देशके नाट्यीय विज्ञानतक ही परिमित रहना उचित नहीं है, क्योंकि वैज्ञानिक सधनोंने समय और स्थानीय सब मर्मों

को संकुचित करके विश्वके सब राष्ट्रोंको इतने समीप ला दिया है और विश्वके सभी राष्ट्रोंकी साहित्यिक चेतनाओं, प्रगतियों और प्रवृत्तियोंको इतने बेगसे मिला-जुला दिया है कि हम अपने विचारों, भावों, साहित्यिक चेतनाओं और प्रवृत्तियोंको उनसे अलग नहीं रख सकते। हाँ, यह आवश्यक है कि हम उनमेंसे अपने समाज, धर्म, शान, परम्परा, रीति, प्रवृत्ति और परिस्थितिके अनुसार जो प्राज्ञ

हो उसे ले लें, अग्राह्यको छोड़ दें, केवल विदेशोंका अन्धाधुनिकरण न करें। इसीलिये हमने अपनी जिज्ञासा भरतके नाट्यशास्त्रक परिमित न करके अपनी विवेचनाकी परिधिमें विश्व-नाट्यशास्त्रको भी अपना लिया है और प्राचीन तथा नवीन नाट्यशास्त्रका भारतीय दृष्टिके समन्वय करनेका प्रयत्न किया है। इसीलिये इस ग्रन्थका नाम केवल नाट्यशास्त्र न रखकर अभिन्न-नाट्यशास्त्र रक्खा गया है।

॥ इत्यभिन्नवभरतश्रीसीतारामचिरचिताभिनयनाट्यशास्त्रे रूपक-रचनाखण्डे
प्रस्तावनाप्रकरणं नाम प्रथमोऽध्यायः ॥

—*#*#*—

नाट्यकी उत्पत्ति

अपने देशमें नाट्यकी उत्पत्ति-

! वेदेषुतिहाससंयोगाद्ब्रह्मणा नाट्यमाधिष्ठितमिति भरतः ॥ १ ॥

[वेद और इतिहास मिलानर ब्रह्माजीने नाट्य रचा है।] जैसे यह करना संभव नहीं है कि अक्समात् हिरण्यगर्भसे यह नामरूपात्मक जगत् बन और कैसे फूटकर फैला चला गया, जैसे ही यह भी निश्चयपूर्वक कहना कठिन है कि सभी विधाओं और ललित कलाओंसे पूर्ण तथा लोकरञ्जनकी अद्भुत शक्तिके ओत-प्रोत नाट्य, कब और कैसे विश्व-नाट्यमयके गर्भसे आविर्भूत हो गया। यूनान और रोमकी प्राचीन नाट्यशास्त्राओंके लैंटहर आज भी उन देशोंकी नाट्य प्रवृत्तियोंका इतिहास योही बहुत भाषामें बता सकनेमें समर्थ हैं किन्तु इस प्रकारके सूच्य प्रमाणोंके अत्यन्त अभावमें हमें केवल अनुमान और भास्य प्रमाणोंपर ही अज्ञानविश्व होनेके लिये विश्वास होना पड़ रहा है। यदि हमारे देशमें भी स्तूपों, स्तम्भों, मूर्तियों और विहारोंके समान प्राचीन नाट्य-शास्त्राओंके लैंडहर मिले होंगे और उनके कथामें भी अज्ञानके लेशोंके समान कुछ लेख मिले होते तो हमें प्रमाणके लिये अँधेरेमें न भटकना पड़ता। मध्य भारतके रीवाँ राज्यान्तर्गत सरगुजा नामक उपराज्यकी दो पहाड़ियोंमें से एक की सीतलेंगरा नामक गुहामें कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि वहाँ किसी समय प्रेषाग्रह रहा होगा जिसका समय विक्रमान्दके कभसे कभ

दो सौ वर्ष पहलेका बताया जाता है। उसमें जो चित्रकारी है उसके विषयमें कुछ विद्वान् यह बताते हैं कि भरत मुनिने नाट्यशास्त्रमें जिस प्रकारकी चित्रकारी करनेका विधान किया है वैसी ही चित्रकारी इसमें मिलती है। किन्तु यह मत नितान्त भ्रामक है। उसमेंकी चित्रकारी अत्यन्त अनियमित, मिथी हुई और भावशून्य है। नाट्यशास्त्रमें धर्षित चित्रकारीसे उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। उसके पासवाली गुहामें जो अशोक-कालीन बालीमें खुदा हुआ शिलालेख है उससे केवल इतना पता चल जाता है कि मुतनुका नामकी किसी देवदासीने नर्तनियोंके लिये यह गुहा बनवाई थी। अतः उसे नाट्य-शास्त्र न बहकर नृत्यशास्त्र कहना अधिक उपयुक्त होगा। उसे यूनानी दगका प्रेषाग्रह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि रङ्गाग्र (प्रोसीनियम) तथा काथस्थान (थोरकेन्डा) के लिये जो व्यस्था यूनानी नाट्यकर्मों में हुआ करती थी वह भी इसमें नहीं है। उनकी अवस्थिति और रचनाको देखकर यही जान पड़ता है कि ये किसी विलासी राजाके उसी प्रकारके विलासपर थे जिनका शकते कालिदासने मेघदूतमें किया है—

निवैरास्य गिरिमथिनसेस्तव विश्रामहेवो—

एवत्यपवात्पुलकितमिव प्रौढपुष्पैः कदम्बैः।

यः पृथ्वीरतिरिसलोद्गारिभिर्नागराण—

सुदामानि प्रथयति विजाचेरमभिर्द्वैवानि ॥

—पूर्वमेव, २७

[वहाँ पहुँचकर तुम 'नीच' नामकी पहाड़ीपर थका-वट मिटानेके लिये उठ्ठ जाना । वहाँपर फूल हुए कदम्बके वृक्षोंको देखकर ऐसा जान पड़ेगा मानो तुमसे भेंट करनेके कारण उनके रोम रोम फरफरा उठे हों । उसी पहाड़ीकी गुफायोंमें से उन सुगन्धित पदार्थोंकी गन्ध निकल रही हांगी जो वहाँके छैल, वेद्याओंके साथ रति करनेके समप्र काममें लते हैं । इसने तुम्हें यह पता चल जायगा कि वहाँके नागरिक कितनी खुल्लमखुल्ला जवानीका रस लते हैं ।]

मूर्च्छ प्रमाणके न रहनेपर भी कुछ ऐसे प्रत्यक्षभास प्रमाण मिलते हैं जिनसे हमें अपना इतिहास मिद्ध करनेमें पूर्ण सहायता मिलती है । इन प्रमाणोंको हम इस प्रकार विभाजित कर सकते हैं :—

- १—जिनमें नाट्यकी उत्पत्तिका इतिहास मिलता है ।
- २—जिनमें नाटकोंके प्रयोगका, नटोंका तथा नाट्यसे सम्बद्ध विषयोंका उल्लेख मिलता है ।
- ३—जिनमें नाटकका या नाटकके किन्हीं अर्थोंका सादृश्य मिलता है ।

इस क्रमसे पहले हमें उन प्रमाणोंपर विचार करना चाहिए जिनमें नाट्यकी उत्पत्तिका व्यवस्थित इतिहास मिलता है ।

यह तो सर्भाने माना है कि नाट्यशास्त्र ही नाट्य तथा अलङ्कार-प्रयोगोंका अग्रणी है । किन्तु प्रायः सभी विद्वान् नाट्यशास्त्रको ईसाकी पहली शताब्दीसे छठी या आठवीं शताब्दीके बीचका मानते हैं । योरोपीय विद्वानोंकी यह प्रवृत्ति रही है कि वे पूर्वीय देशोंके ज्ञान-विज्ञानकी प्राचीनताका विरोध करनेमें अपनी सारी बुद्धिका अवयव्य कर डालते हैं । वे पल्लवप्राही विद्वान् कहींसे एक शब्द या वाक्य लेकर उसपर एक नये सिद्धान्तका ऐसा आडम्बरपूर्ण प्रासाद खड़ा कर देते हैं कि हमारे देशवाले परसुखापेक्षी विद्वान् भी इन्हींके स्वयंसे स्वर मिलानेकर मानने लगते हैं, इन्हींके विचारोंसे विचार करते हैं और इन्हींकी देनपर अपना उत्सव मनाते हैं । किन्तु अब कुछ विद्वानोंने मौलिक दृष्टिसे विचार करना प्रारंभ कर दिया है जिससे बहुतसी ऐतिहासिक गुरिधियों धीरे-धीरे मुखझती जा रही हैं । नाट्यशास्त्रके सम्बन्धमें भी यही बात है । अतः पहले हम भरतके

नाट्यशास्त्र ही प्राचीनतापर विचार करना चाहते हैं ।

सस्कृत नाटकोंकी प्रस्तावनाओंसे यह सात होता है कि उभ समय राजाओंके सम्मान या मनोरञ्जनके लिये विदोष पत्रों और उत्सवोंपर नाटक हुआ करते थे । अतः इस आधारपर तो निश्चयपूर्वक यह कहा ही जा सकता है कि हमारे देशमें बहुत पहले नाटक लिखे और खेले जाते थे । यदि हम भासका ही सबसे प्राचीन नाटककार मान लें तो यह कह सकते हैं कि विक्रमसे चौथी शताब्दी पूर्वतक नाटक अपने पौढ़ताको पहुँच गया था । भासने कौटिल्यसे पहले अपने नाटक लिखे थे, क्योंकि भासके प्रतिज्ञायोग्य-रायण नाटकका यह श्लोक किसी धन्यके नामसे अथगान्धर्व उद्धृत किया हुआ मिलता है—

नव शराव सलिलैस्तुपूर्णं मुसन्दृत दर्भङ्गतोत्तमोयम् ।

तत्तय माग्नूरकञ्च गच्छेद्यो भृत्पिण्डस्यकृते न युद्रेत् ॥

—अर्थशास्त्र १०।३।१६

[जो व्यक्ति अपने स्वामीकी रक्षा करनेके लिये युद्ध करनेमें पीछे हटता है उसे जलभरी नई सरसिमें डुसासे देना हुआ जल न मिले और वह नरसमें-पड़े ।]

इसके अतिरिक्त भी भासने अपने नाटकोंमें जहाँ योग-शान्म और अर्थशास्त्रका उल्लेख किया है वहाँ न तो पानञ्जल योगसूत्रको ही स्मरण किया न कौटिल्यके अर्थ-शास्त्रको, वरन् बार्हस्पत्यमर्षशास्त्रम् और माहेश्वर योगशास्त्रम्की ही चर्चा की है । कौटिल्यने भी विद्यासमुद्रेश्वर प्रकरणमें—गार्तदण्डनीतिश्चेतिवार्हस्पत्याः । [बृहस्पतिके माननेवाले केवल वार्ता और दण्डनीति दो ही विद्याएँ मानते हैं ।]—आचार्य बृहस्पतिका उल्लेख किया है, अतः भास कौटिल्यने पूर्व अर्थात् ई० पू० चौथी शताब्दी या इससे पूर्व किन्तु बलराज उदयनके पीछे या उसके समयमें था । उदयनकी कथा इतनी लोकप्रिय थी कि विजय गवतुके प्रारंभ होनेके समय महाकवि कलिदास भी अपने मेघदूत उदयनकी कथा मुनवानेका लोभ न संवरण कर सकें और उन्होंने कहा—

प्राप्यावन्तीयुदयन-कथा-विद्वदग्रामदृष्टान्-

पूर्वादिदामनुमर पुंसं श्रीविशालां विशालाम् ।

स्वर्वाभूतं सुचरितकृतं स्वर्गिणां गां गतानां

दोषैः पुण्यैर्दत्तमिव दिवः कान्तिमस्त्यग्दमेकम् ।

—पूर्वमेव, ३२

[अवन्ति देशमें पहुँचकर तुम धन धान्यसे भरी हुई उम मिशाला नगरीकी ओर चले जाना जिसकी चर्चा में पहले ही कर चुका हूँ और जहाँ गाँवके बड़े बड़े लोग, महाराज उदयनकी कथा भली प्रकार जानने बृहत्ते हैं । वह नगरी ऐसी लगती है मनो स्वर्गमें अपने पुण्योंना पट भोगनेनाले पुण्यात्मा लोग पुण्य समाप्त होनेसे पहले ही, अपने बचे हुए पुण्यके बदले स्वर्गका एक चमकीला भाग लेकर उसे अपने साथ धरतीपर उतार लाए हों ।]

भासके नाटकोंके सम्बन्धमें बाणभट्टन कहा है—

एतद्धारहृतारमैनाट्यर्कंहुभूमिर्षः ।

सपताकैर्यशोलेभे भासो देवकुलैरिव ॥

[सूत्रधारसे आरम्भ होनेवाले, अनेक कथाआँवाले तथा अनेक पताकाओंसे सजे हुए कुलोंपर लिखन नाटक भासने मानो देवताओंमें यज्ञ प लिया हो ।] उसने यह सिद्ध हुआ कि उन्होंने यों ही अनियमित रूपसे ही नाटक नहीं लिख दिए थे वरन् उनकी रचनापर किसी विधिनिषेधात्मक नाट्यशास्त्रका अकुश रहना होगा चिन्ता उन्होंने सदा ध्यान रक्खा । यह भरतका नाट्यशास्त्र ही रहा होगा । अतः भरतका नाट्यशास्त्र उसने बहुत पहले अवश्य रहा होगा । यह प्रश्न दूसरा है कि जो नाट्यशास्त्र हमें मिला है वह किस भरत प बनाया हुआ है और क्या वही मौलिक ग्रन्थ है । इसपर जा विवाद हुआ है वह भी अनावश्यक ही है क्योंकि नाट्यशास्त्रके पहले अथ्ययमें ही क्या गया है कि ऋषियोंने आकर भगत मुनिसे पूछा—

याऽयं भगवता सम्यक् श्रितो वेदसम्मिलः ॥

नाट्यवेदः कथं ब्रह्मन्नुत्तरः कथं वा ज्ञते ।

[हे ब्रह्मन् ! आपने जो वेदसम्मिल नाट्यवेद (सूत्रमें) गूँथा है वह क्यों और किन्से लिखे रचा है ।]

यहाँ यह बात स्पष्ट कह दी गई है कि भरतने ग्रथित किया था । ग्रथित करनेमा अर्थ ही है संगीत या डोरीमें गूँथना या सूत्रोंमें रचना करना । अतः स्वयं नाट्यशास्त्र ही यह प्रमाणित करता है कि जिस नाट्यवेदकी सविस्तर कथा नाट्यशास्त्रमें कही गई है वह मूलतः सूत्र रूपमें रचा गया होगा, जैसी हमारे देशमें परिपाटी थी और फिर उसपर कविता, वृत्ति आदि रची गई होगी ।

प्राचीनताके विचारसे अभिपुराणमें ३३८ से ३१२ अथ्याय

तक नाटक, रस रीति, नृत्य तथा अभिनय आदिपर विचार किया गया है किन्तु यह उतना पूर्ण और माझोपाङ्ग नहीं है जितना भरतका नाट्यशास्त्र । जो लोग अभिपुराणके अन्तर्गत आए हुए नियर्थोपर विचार करने में बहुत पीछेका मानने हैं उन्हें यह ध्यान रखना चाहिए कि अभिपुराण या कोई भी पुराण मौलिक रचना नहीं है, वह तो पुराने ज्ञान या इतिहास—जो श्रुत, स्मृत या ज्ञात होता है उसकी रक्षा करनेके लिये—लिखित सकलन मात्र है । इसके अतिरिक्त पुराण शब्द भी यह संकेत करता है कि उसमें वर्णित सामग्री पुरानी है और जैसे जैसे कोई ज्ञान, अनुभव, इतिहास पुराना होता चलाता है वैसे वैसे वह पुराणमें झुड़ता चलाता है । इसीलिये पुराणोंमें जो त्रिकमके पीछेकी घटनाएँ मिलती हैं उनमें यही अर्थ निकलता है कि उस पुराणमें उस घटनाके पीछेकी कथा नहीं जोड़ी गई, केवल उस समय और उससे पहलेकी घटनाएँ हैं । अतः उसमें दिया हुआ ज्ञान परम्परासे प्राप्त होता हुआ चला आ रहा है । पुराणका लक्षण भी कहा गया है—

सर्गोश्च प्रतिसर्गोश्च वगो मन्वन्तराणि च ।

वशानुचरितमन्वन् पुराण पञ्च लक्षणम् ॥

[ईश्वरकी सृष्टि, मनुष्यकी सृष्टि, देव, राजा ऋषि आदिक वशाक वर्णन मन्वन्तरोंना वर्णन तथा अन्य राजकुलों तथा देवकुलोंका चरित जिसमें हो वह पुराण कहलाता है ।]

इसी आधारपर हम यह भी कह सकते हैं कि नाट्यशास्त्र भी बहुत प्राचीन कालमें प्रचलित रहा होगा जिसे भरतकी शिष्य-परंपरासे किसी नाट्यप्रयोक्ता या नाट्य-चार्यने लेख प्रदत्त कर डाला होगा । कालदासने अपने मालविशान्निमित्र नाटकमें हरदत्त और गणदास नामके दो नाट्यचार्य उपस्थित भी किए हैं ।

हमारे सर्वप्रथम प्राप्त नाटककार भासके नाटकोंमें प्रतिज्ञा-योग्यधारण, स्वप्नवासवदत्ता और अभिमारक ता ऐतिहासिक हैं, चारुदत्त सामाजिक है, प्रतिमा और अभिषेक राम, वगैरे आधार पर हैं और पञ्चपात, बालचरित, मध्यमव्यायोग, दूतवाक्य, दूतप्रयोजक, कर्णभार और उरुभङ्ग महाभारतकी कथाओंपर आश्रित हैं । अतः रामायण और महाभारतमें भी नाट्यकी खोज कर लेनी चाहिए ।

रामायणके रचयिता महर्षि वाल्मीकिका समय विक्रमसे तीन या चार सहस्र वर्ष पूर्व माना जाता है। उनके रामायणमें अयोध्याको बधुनाटकसवैश्च सुकुम्भ [वेश्या और नाटक मडलियोंसे युक्त] कहा गया है और रामके अभिषेकके समय यह वर्णन किया गया है—

नटनर्चकसयानां गायकानां च गायताम् ।

यतः कर्णमुखावाचः सुध्रुव जनता ततः ॥

[नटों नर्चकों, और गायकोंके गानों और मनोहर वचनोंके जनता सुन रही थी ।]

महाभारतके हरिवंश पर्वमें ९१ से ९७ अध्यायतक वज्रनाभके वध और प्रद्युम्नके विवाहके प्रकरणमें रामायण नाटक और कौबेररम्भाभिसार नामक नाटकका बड़ा अद्भुत प्रकरण मिलता है। क्या यह है—वज्रनाभ कहलानेवाले समितिन्त्रय नामक महाराक्षसेने तपस्या करके ब्रह्मजीसे यह वर माँगा कि देवता मुझे न मार सकें और मेरे पास सम्पूर्ण पुण्यों और वैभवसे भरा हुआ वज्रपुर नामक नगर हो। यह वरदान पाकर उसने इन्द्रको भी जा ललकारा। इन्द्रने द्वारिकामें जाकर वृष्णजीसे महायत्ना माँगी। वृष्णजीने कहा कि वसुदेवजीका अश्वमेध यज्ञ समाप्त हो जाय तो मैं उस राजको मार दूँगा। उसी समय उस वज्रनाभ भद्र नामक नटने अपने मुन्दर नाटकमें महर्षिगोत्रके प्रसन्न करके यह वर माँगा कि सब ब्राह्मण लोग मेरे नाटकसे सदा प्रसन्न रहें, मैं आश्रयमें चल सकूँ, कोई मुझे न मार सके और जैसा चाहूँ वैसा रूप बना सकूँ। वह महानट श्रीकृष्णजीकी द्वारिकामें भी आया करता था। उन्हीं दिनों इन्द्रने देव-लोकके धार्तराष्ट्र हस्तीसे कहा कि तुम लोग वज्रनाभ पुरमें जाकर उसकी कन्या प्रभावतीको ऐसी गीत दाँ कि वह प्रद्युम्नपर मोहित हो जाय, उधर यादव लोग भी महानटके साथ नटका वेश धरकर चले जायेंगे और उसे मार डालेंगे। उन हस्तीमें की शुक्रिमुखी नामकी हस्तीने प्रभावतीका ऐसा प्रभावित कर दिया कि वह प्रद्युम्नके लिये व्यकुल हो गई और उधर वज्रनाभने उस हस्तीने महानटका ऐसा वर्णन किया कि वह राक्षस उसे लानेके लिये व्यकुल हो गया। श्रीकृष्णजीने भी मायसे भद्र नाम कानट बनाया और उनके नथ भीमवर्षी यादवोंको नट बना बनाकर भेजा। इनमें प्रद्युम्न नायक बने, साम्ने यादव विद्वक बने और गद पारिशर्वक बने और दूसरे यादव नट बनवकर उनमें

सहायताके लिये गए। वे सब वज्रपुरके उपनगर सुपुरमें पहुँचे। वहाँ इनकी बड़ी आबभगत हुई और इन्होंने रामायणका नाटक किया। उसमें इन लोगोंने दशरथ, ऋषि शृग, शान्ता, राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न सबको ठीक मूल रूपमें लाकर दिखला दिया। नटोंके वेश और इस वास्तविक अभिनयका देखकर वे दानब बड़े विस्मित हुए जिन्होंने रामावतारके समय वास्तविक राम, दशरथ आदिको देखा था। इस नाटकका इतना हल्ला हुआ कि वज्रनाभने इन्हें वज्रपुरमें नाटक करनेके लिये आमन्त्रित किया। वहाँ इन लोगोंने घन, मुषिर, मुख और तवी बजाकर देवगाव्वार राममें गगावतरणी कथाका अभिनय किया। फिर इन लोगोंने मगल पत्र कहकर कौबेररम्भा भिमार नामक नाटक प्रारंभ किया जिसमें शूने रावणका मनोवतीने रम्भाका और साम्नेने विद्वकका अभिनय किया। वह इतना सुन्दर हुआ कि दैत्यों और उनकी स्त्रियोंने अपने भूषण उतार उतारकर दे दिए। फिर इन लोगोंने वज्रनाभका वध किया और प्रद्युम्नका प्रभावतीमें विवाह कर दिया।

एक बात यह भी है कि हमारे देशमें प्रत्येक कार्यका विनियम नियमों और क्रियाओंमें बँधनेकी प्रथा बहुत पहलमें चली आती थी, क्योंकि समाजका यह विश्वास था कि हमारी कोई भी क्रिया ऐसी न हो जो अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष नामक चारों पुरुषार्थों की प्राप्तिमें बाधक हो। हमारी प्रत्येक वृत्ति और कृति ऐसी हो जो हमारे लिये इहलोक और परलोकमें सुख समृद्धि सप्रद कर सके। इसीलिये हमारे समाजके नेता ऋषिगण प्रत्येक कार्य प्राग्भन करनेसे पूर्व ऐसे विधिनियमनामक शास्त्री रचना कर डालते थे जिसमें उस कार्यके रूपकी साक्षात्प्राप्त व्यवस्था हो। जैसे अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र, कामशास्त्र, व्याकरणशास्त्र आदि शास्त्रोंकी व्यवस्था हुई जैसे ही समाजकी बचिको परिष्कृत करने और उनका विनाश करनेके लिये नाट्यशास्त्रकी भी रचना की गई। यह भी हो सकता है कि शूद्रोंने समाजके नेताओंसे यह प्रार्थना की हो कि यदि हमारे लिये वेद-वेदांगना माया बन्द है तो हमें आचार, शील आदिकी शिक्षा देनेके लिये कोई ऐसी व्यवस्था की जाय कि जिससे हमारे दैनिक कार्यों में भी बाधा न हो और हमें अधिक नैतिक परिश्रम भी न करना पड़े। इसपर समाजके समाजके

उदार और विचारशील नेता ब्राह्मणोंने उनके विनोद और शिक्षणने जिग नाट्यकी व्यवस्था कर दी हो ।

यह भा समझ है कि किंसा उदार सम्राट् न ही नगरी प्रजाका सुखसुखत पनानेक लिये तथा उन्हें मेल नीतिते विश्व भरका इतिहास और आम विज्ञानके लिये विद्वानोंको यह आदेश दिया हो कि कोई ऐसा सरल साधन निकालो जिससे लोग शिक्षा भी प्राप्त करूं और उनका विनोद भी हो । नाट्यशास्त्रमें नाट्यकी उत्पत्तिको जो कथा दी गई है उसमें भी दो बातोंका संकेत मिलता है—एक तो यह कि महद्भद्र आदि देवताओंने ब्रह्माजीसे एसा वेद रचनेकी प्रायना की जिसमें सब बगके लोग भाग ले सकें । दूसरी बात यह है कि यह प्रार्थना उस समय की गई थी जब सरसरेके लोग बुरे बुरे काम करने लगे थे और काम, लोभ, ईर्ष्या क्रोध आदिमें पड़े हुए लोग किती विभी प्रकर अपने दिन काटते थे । इन दो बातोंसे यह स्पष्ट भवि निम्नलती है कि जब राज्यके ब्र अभिकारियों और नैतानोंने यह देखा कि समाज अव्यवस्थित हो गया है लोगोंकी वृत्तियों बिगड़ गई है वेद या अन्य विद्याओंमें लोगोंकी रुचि नहीं रह गई है तब उन्होंने किसी लानबिभूत उपधिद विद्वानसे यह कहा होगा कि कोई एसा साधन निकालो जिसकी ओर सब बगके तथा सब वृत्तियोंके लोगोंका ध्याभाविक आकर्षण हो और जिसका स्वरूप एसा हो कि उससे सब प्रकारकी और सब विषयोंकी शिक्षा दी जा सके । ब्रह्माजीने या उस विचक्षण विद्वानसे सममत, इसी कारण नाट्यका रचना कर दी हो ।

यथापि पणिनिंकी अष्टाध्यायी नाम शिखला और बृहस्पतेके नट्यनर्तका उल्लेख मिलता है —

पाराशर्यशिलालिम्ब्यां त्रिनुनत्प्रश्नाः । [पाणिनि ४।३।११०] कम दक्षशास्त्रादिनिः । [पाणिनि ४।३।१११]
—रिनु उन प्रश्नोंके शेष हो जातेसे यह नहीं कहा जा सकता कि नाट्यकी उत्पत्तिके विषयमें उनके क्या मत थे । वास्तविकतया अपने कामधुक्के नागरकश्च प्रकरणमें घटा निबन्धन (मला) पर इतना ही लिखा है—

—अथय मासस्य वा प्रत्यवेदिनि सरस्वत्या भगने नियुक्तानां नित्य समाजः ॥ १५ ॥

[प्रत्यवेदि या महीनेके निश्चित वा प्रसिद्ध परक दिनां पर सरस्वतीक मन्दिरमें (या विशालयामें) राजाकी आरखे नियुक्त नर्तकों द्वारा नाटक या उत्सव हों ।]

भागो चलकर भूषविलेपनघटा प्रकरणमें कहा है ।

—तुशीलर अगन्तवः प्रेक्षणवमेयां दृशुः । द्वितीये ऽहनि तेभ्यः पूजा नियत लभेन् । ततो यथाश्रद्धमेयां दर्शनमुत्सर्गां वा । न्यसनोत्सवेषु चैषां परस्परस्यैकना यता ॥१६॥

[बाहरक भाए हुए नर्तका चाहिए कि पहले दिन नागोंका अपना नाटक दिखवायें और जा कुछ ठहरान हुआ हो उसे दूसरे दिन ले लें । यदि फिर भी लोग देखना चाहें ता व्यवस्थाके साथ इनका खेल देखें नहीं ता उन्हें विदा कर दें । वहाँके नियुक्त नर्तका चाहिए कि आगन्तुकों के कप और आभूषणों सहायता दे । इन अगन्तुका नर्तका भी रायकी आरसे नियुक्त नर्तकों साथ यही व्यवहार करना चाहिए ।]

कौटिल्यक अथशास्त्रमें भा अथय प्रचार अधिभरणक सनाइसवं अथययमं लिखा है—

एतेन नटनसकगारकनाटकनगजीवनतुशालगलक संभिकचारणाना कौन्पनहारिणा क्रियो गूढाजोवाक वा एवातः ॥ १८ ॥

[नट (अभिनय करनेवाला) नसक गायक नाटक वगैरान (कथा करके जीविका करनेवाले) तुशालन (मुख्यतया दृश्य आदि दिखाकर गानेवाले) एनक (रस्यपर चढकर खेल दिखानेवाले) कौमिक (एनड्रा लिक नट) चारण (भोंड मल्ल आदि) तथा और भी जा का शिष्याक द्वारा अपना जीविना कमाते है उनकी शिष्योंके सम्पत्त्यमें भा गणिकाओंके समान ही सब प्रधाचित नियम परत प्राप्त बधात नट आदिना शिष्योंके नियमों जा नियम वहाँ सम्मत हों उसक अनुधार ही इनके साथ बचान किना आवे ।]

तयों नृत्यमागन्तुक पत्राय प्रेशावतेन दगात् ॥ ३० ॥

[यदि नट आदिनी का मडली किनी दूसर देशमें नाटक या भेष दिखानेके लिये आवे त प्रत्येक खल दिखानास पांच पण कर राना जा दे ।

गीतरायपाठ्यइतनाम्या अरचिनराणावगुमुदगमन्चित सान गन्धमलेषसयूदन सगादन सगाहन पैथिककल्लागानि गणित्ना दक्षी रत्नोभजीनिनीसच ग्राहयतो राजमण्टलादा जीव बुयान् ॥ ४१ ॥

[राजाको चाहिए कि गणिका, दासी (गणिकाओं से अतिरिक्त और साधारण वेश्या) तथा रङ्गमंच पर अभिनय करके जीविका करनेवाली क्रियाओंको गाना, बजाना, नाचना, अभिनय करना, लिखना, चित्रकारी करना, बीणा, वेणु, तथा मृदंगको विशेष रीतिसे बजाना, दूसरेके चित्रको पहचानना, गन्ध बनाना, माला गुँथना (गन्धसयून माल्य-सपादन), पैर आदि अंग दबाना (सवाहन), शरीरको सत्र प्रकारसे अलङ्कृत करना, धौर (चौमठ) बलाएँ आदि सिखानेके लिये आचार्यका प्रबन्ध करे और उस पर गज-मण्डल (नगर या ग्रामोंसे आनेवाली भाय) से व्यय करे।]

[गणिकापुत्राङ्गोपजीविनश्च मुल्याङ्गिण्यादयेयुः सर्व-
तालावचाराणां च ॥ ४२ ॥]

[गणिकाओंके पुत्रों तथा मुख्य रङ्गोपजीवियों (रङ्गमंच पर अभिनय आदि करके जीविका बमानेवाले मुख्य नर्तकों) को अन्य सब रङ्गोपजीवियोंका (सर्वतालावचाराणां) प्रधान बनाया जाय। अर्थात् ये, सबके आचार्य होकर काम करें।]

जैनियोंका रायसेणीयमुक्त नामक एक आगम ग्रन्थ है। इसमें यह कथा दी गई है कि एक बार भगवान महावीर घूमते-फिरते आमलकण्या नगरमें पहुँचे और अम्बालाल वनमें अशोक वृक्षके नीचे एक बड़ी सी कर्ली शिलापर बैठ गए। उसी समय खगोंके सूर्योदये उनकी वन्दना करनेके लिये आए, किन्तु उनकी यह वन्दना साधारण नहीं थी। सूर्योदयेने महावीरजीके पास आकर पहले गा भजा और नाचकर वन्दना की और फिर अभिनयात्मक नाटक किया। इसी प्रसंगमें, सूत्रकारने संगीतके स्वरूप और प्रकारके साथ साथ अनेक प्रकारके वाद्योंके नाम और उन्हें विभिन्न प्रकारसे बजानेकी रीति विस्तारसे वर्णन भी है। इनके अतिरिक्त सूर्योदयेने बलीस प्रकारके अभिनयात्मक नाटक करके दिखाए, ये जिनमें कुछ प्रकृतिसम्बन्धी थे जैसे—सागरकी तरंगता, चन्द्रोदयका, सूर्योदयका और हाथीकी गतिका अभिनय इत्यादि। इनके परचात उन्होंने लिपिका अभिनय प्रारम्भ किया और उसमें वर्णमालाके वचस्वर वर्णोंका अभिनय किया। इन बलीस प्रकारके अभिनयोंमेंमें कुछ तो ऐसे हैं जो भक्तके नाट्यशास्त्रमें भी मिलते हैं किन्तु रोप नितान्त नये हैं। इससे भी यह सिद्ध होता है कि जैनियोंमें भी महापुराणोंके

भादरके लिये अभिनय करनेकी परंपरा थी। महावीर स्वामीके लगभग दो या सवा दो सौ वर्ष पीछे भद्रबाहु स्वामीने भी कल्पसूत्रमें जड़वृत्ति साधुओंका उल्लेख करते हुए यह कथा दी है—

एक बार एक साधु जब बहुत देरमें आश्रममें लौटा तो गुरुजीने देरसे छोटनेका कारण पूछा। उसने कहा—भाग्यमें नर्तकोंका नाटक देखनेके लिये मैं रुक गया था। इसपर गुरुजीने यह आदेश दिया कि नर्तकोंका नाटक साधुओंका नहीं देखना चाहिए। थोड़े दिन पीछे वह फिर विलम्बसे आया और पूछे जानेपर कहा कि मैं नर्तकोंका नाटक देखने लगा था। तब गुरुजीने कहा—तुम बड़े जड़वृत्ति हो। जब हमने नर्तकोंका नाटक देखनेका निषेध किया उसका अर्थ ही यह था कि नर्तकोंका भी नाटक नहीं देखना चाहिए।

शौद्रोंके धर्म ग्रन्थोंमें भी नाटकका स्पष्ट उल्लेख मिलता है। यहाँ कि एक बार बुद्धदेव जब राजशुद्धमें थे उस समय उनके शिष्य मोक्षलायन और उपतिष्यने सबके सामने अभिनय करके दिखाया था।

किन्तु इन सबसे पहले शुद्ध मजुवेदकी वाजसनेय संहिताके तीसरे अध्यायमें पुरुषमेध (पुरुषरूप परमात्माके लिये यज्ञ) प्रकरणमें यह व्यवस्था दी है कि यज्ञके समय किस प्रकारके कार्यके लिये किन्ते नियुक्त किया जाय। उसी प्रसंगमें ठठी कण्डिकामें यह मंत्र दिया गया है—

रुचायस्तर्हीताय शैत्यन्धर्मायवभाचरत्तरिधाय
भीमस्तम्भायरेभे हसायपरिमानन्दयस्त्रीयस-

म्प्रमेदे कुमारीपुत्रम्भेधायै रथरान्धैर्ययन्नाणम् ॥

[रुच (ताल, लयके साथ नाचने) के लिये स्तनों गीतके लिये शैत्य (नट) को, धर्मकी व्रतों ब्रतानेके लिये समा-चतुर व्यक्तिको, सबको टीकमें बैठानेके लिये लम्बे-चौड़े जवानको, लोंगाके विनोदके लिये वाक्चतुरको, शूद्राकी बातों के लिये कटाकारको, आनन्दके लिये नपु सकोंको, समय बितानेके लिये कुमारीपुत्रको, चतुरपाईके कामोंके लिये रथ-कारको और शीरजने काम करनेके लिये बदर्शनो नियुक्त करना चाहिए।]

इससे यह सिद्ध होता है कि शास्त्रे महर्षों वर्ष पूर्व वैदिक कालमें भी नाट्य पूर्ण रूपमें हमारे देशमें विद्यमान

पढ़ने या बोलनेका अंग लिया, सामवेदसे गीत लिया, यजुर्वेदसे अभिनय लिए और अथर्ववेदसे शृङ्गार आदि रम लिए । इस प्रकार ब्रह्माजीने वेद और उपवेदोंसे संबंध रखनेवाला सभी मुन्दरताओंसे भरा हुआ यह नाट्यवेद बनाया ।]

भरतके अतिरिक्त अभिनयदर्पणकार श्रीनन्दिकेश्वरने ग्रन्थके प्रारम्भमें नाट्यही उल्लेख इस प्रकार बतलाई है—

ऋग्यजुःसामवेदेभ्यो वेदाचार्यवर्णः क्रमात् ॥७॥

पाठ्यं चाभिनयं गीतं ररात् संगृह्य पञ्चजः ।

व्यरीरचञ्छन्नमिदं धर्मकामार्थमोक्षदम् ॥८॥

नाट्यवेदं ददौ पूर्वं भरताय चतुर्मुखः ॥९॥

[ब्रह्माजीने ऋग्वेदसे पाठ्य, यजुर्वेदसे अभिनय, सामवेदसे गीत और अथर्ववेदसे रसोंको लेकर धर्म, काम, अर्थ और मोक्ष देनेवाला यह शास्त्र बनाया । सबसे पहले यह नाट्यवेद ब्रह्माजीने भरतको दिया ।]

श्रीधनञ्जयने अपने दशरूपकके प्रारम्भमें ही इसी कथाका समर्थन करते हुए यह भी संकेत किया है कि नाट्यवेदकी पूर्ण करनेमें और किस किसका हाथ रहा है—
उद्धृत्योद्धृत्य सारं यमखिलनिगमाच्चाट्यवेदं विरिञ्चि-
श्रक्तं यस्य प्रयोगं मुनिरपि भरतस्पाण्डव नीलकण्ठः ।
शर्षाणां वास्यमस्य प्रतिपदमपरं लक्ष्म कः कर्तुमीष्टे
नाट्यानां किन्तु किञ्चिदुपगुरचनया लक्षणं सधियामि ।

[सपूर्ण वेदोंका तत्पर निकालकर ब्रह्माजीने जिस नाट्यवेदकी रचना की, भरतजीने जिसका प्रयोग या अभिनय कराया, जिसमें ताण्डव या उद्दन नृत्त महादेवजीने और लग्य या कामरु नृत्त पार्वतीजीने जोड़ा, उस पूरे नाट्यवेदके सन लक्षण भला बौन कह सकता है, फिर भी कुछ विरोध गुणवाले नाट्यों या रूपकोंके लक्षण सक्षेपमें कहता हूँ ।]

लगभग स्यारहवीं शताब्दीमें भावप्रकाशानमके रचयिता शारदातनयने अपने गुरु नाट्यशालाधिपति दयाकरजीसे जितने प्रकारके नाट्यशास्त्र सीखे थे उनका इतनापूर्ण उल्लेख करते हुए वे ग्रन्थके प्रारम्भमें ही कहते हैं—

प्रीतस्योऽपि सदाशिवस्य शिवयोगींशं मतं वासुके—
वर्षादेव्या अपि नारदस्य च मुनेः वृष्णोद्भव्यामयोः ।
शिवायं भरतस्य यनि च मतात्पद्यप्य तावन्ना-

स्योरथ्य नाट्यवेदमखिलं सम्पत्कमध्यापयत् ॥

[सदाशिवजीके, शिव पार्वतीजीके, गौरीजीके, वासु-
किके, सरस्वतीजीके, नारदमुनिके, अगस्त्यजीके, व्यासजीके,
हनुमानजीके, तथा भरतजी और उनके शिष्योंके जितने
नाट्य सम्बन्धी मत थे उन सबके साथ पूरा नाट्यवेद उन
दियाकरजीने प्रसन्न होकर बड़े अच्छे ढंगसे उन्हें (शार-
दानयको) सिखाया ।]

आगे सङ्गीतकी उत्पत्तिभी क्या देते हुए वे भावप्रका-
शनमके दशम अधिकागमें करते हैं—

पुरा मनुर्गृहीतः सतद्वीपनतां भुवम् ।

पाट्यन्दुर्मरणस्या भारेण श्रान्तचेतनः ॥

केनाग्य भूमिभारस्य विश्रान्तिमुखमानुष्याम् ।

इति मन्त्रिन्य पितरं सधितारमुद्देशत ॥

तदैवाभ्यागमत्तत्र भास्वरः पुत्रयन्तरः ।

मनुष्यैर्वदयत्तस्मै भूभारकलेशाम्भनः ॥

सं मनोभारंरिखितस्य विश्रामोपायमब्रवीत् ।

पुरा दुग्धाब्धिनाथस्य नामीकमलसम्भवः ॥

ब्रह्माऽमुजदिमान् लोकान् जङ्गमरथावरात्मनाम् ।

एतथां पातनायासव्यापारपरिखेदितः ॥

विश्रान्तिमुखमन्त्रिञ्चन्नुपागच्छन्चिदुः पतिम् ।

प्रजापालनखेदस्य विश्रामाय व्यजिज्ञिपत् ॥

अचिन्तयद्देवदेवः श्रान्तं वीक्ष्यात्समभ्रवम् ।

केनैवास्य विनोदेन विश्रामः सम्भवेदिति ॥

विचिन्त्य भाव स्वक्षेत्रभाविनं विधिमब्रवीत् ।

गच्छ ब्रह्मन् पुरारातिमन्त्रिकापतिर्माश्वरम् ॥

स ते विश्रान्तिमुखदमुपायमुपदेशयति ॥

इत्यमारापितो ब्रह्मा देवदेवसुमापतिम् ॥

अभिष्ट्यात्मनः खेदं सर्वं तस्मै व्यजिज्ञिपत् ।

विज्ञाय शम्भुस्तत्खेदं नन्दिकेश्वरमभ्यधात् ॥

मत्सङ्गादाधोतं त्वं नाट्यवेदमगेषतः ।

अध्यापयन् ब्रह्मण उपयोगं सविस्तरम् ॥

स तथेत्यन्जन्मान्तमध्यापयद्गेषतः ।

अध्याप्यानांचद्रेतस्य वेदस्यैव प्रयोगतः ॥

जगतां पाण्डनात्मविश्रान्तिमुखमानुहि ।

इत्थं स नन्दिनाऽऽशतः समागम्य स्वमन्दिरम् ॥

नाट्यवेदप्रयोगकारं भारतीगहितोऽभरत् ।

स्मृतमात्रो मुनिः पश्चिच्छिष्यैः पञ्चभिरन्वितः ॥

पुरोऽप्रतस्ये भारत्या सहितम्याञ्जन्मनः ।
 तान्ब्रवीन्नाट्यवेदं भरतेति पितामहः ॥
 तेऽधीत्य नाट्यवेदं तत्प्रयोगैश्च पृथग्विधान् ।
 पुरावृत्तानि देवानां प्रपञ्चेत्पुपदिश्य ते ॥
 रसैर्भावैरभिनयं प्रयोगैश्च पृथग्विधैः ।
 नाट्यवेदोदितैः सम्यक्प्रयोगिनस्तुतुपन् ॥
 तुष्टस्तोम्यो वर प्रादादभीष्टं पञ्चविधैः ।
 नाट्यवेदमिमं यस्माद्भरतेति मयेरितम् ॥
 तस्माद्भरतनामानो भविष्यथ जगत्त्रये ।
 नाट्यवेदोऽपि भरतां नाम्ना ख्यातिं गमिष्यति ॥
 इत्यादिश्य ततो ब्रह्मा तैरेव भरतैः सह ।
 विनोदयति लोकानां स्थाव्यसन्नजं ध्रमम् ॥
 त्वमप्याराध्य तं देव मनो ब्रह्मणमच्युतम् ।
 विद्याप्य वसुधाभारकृत्शत्रिभामहेतवैः ॥
 तेन प्रणीतैर्भरतप्रयोगैर्भु विकल्पितैः ।
 आत्मानो भूमरभ्रान्तिविनोदाय यथानुसृतम् ॥
 इत्यमादिश्य च मनु दिग्देशान्निदिव ययौ ।
 मनुर्ब्रह्मसदोऽन्वेत्य प्रणिपत्य पितामहम् ॥
 आत्मनो भूमरभ्रान्तिं व्यजिज्ञिपदशेषतः ।
 चतुसुऽपि विज्ञाय मनोर्भूमिभरकलमम् ॥
 आहूय भरतान् सारांनिदं वचनमप्रवीत् ।
 यात यूयं मह्यं विद्या मनुना निदिवादिताः ॥
 भारत वर्षमाश्रित्य वर्तन्व मनुना सह ।
 इति सञ्चोदितास्तेन भरताः पञ्चयानिना ॥
 अयोध्यां मानवेन्द्रेण मनुना सार्धमाययुः ।
 तत्र राजपिचरितं पुरा कल्पान्तरे कृतम् ॥
 प्रपञ्चेत्पुपदिश्यैतच्चत्तन्नेवृत्परिच्छदम् ।
 रसैर्भावैरभिनयैः प्रयोगैश्च विचित्रितैः ॥
 नाट्यवेदोपदिष्टेन सदा सङ्गीतवर्त्मना ।
 भूमारवहनश्रान्तिं मनोः सम्यग्गणानुदन् ॥
 परिगृह्य ततः शिष्यं न्मरत श्यैश्चन द्विजान् ।
 देजे देशे नरेन्द्राणां विनोदं तैरचीकृत् ॥
 तत्र प्रयुक्तसङ्गीतं देशरीतिपरिष्कृतम् ।
 प्रयोगाणां च वैचित्र्याद्देवीशास्त्रानुपगमत् ॥
 नाट्यवेदोऽत्र भरतां सारमुद्धृत्य सर्वतः ।
 संग्रहं सुप्रयोगार्हं मनुना प्रार्थिता व्युत् ॥
 एकं द्वादशशाहस्रैः श्लोकैरेकं तदर्धतः ।

पञ्चभिः श्लोकमहल्लैर्यौ नाट्यवेदस्य समग्रः ॥
 भरतेनामिस्तोषां प्रख्यातो भरताह्वयः ।
 यदिदं भारते वर्षे मनुना सुप्रकाशितम् ॥

[अत्यन्त प्राचीन कालमें मानरीय जगत्के स्वामी स्वयम्भुव मनुने अपने पिता सूर्यसे कहा कि आप कोई ऐसा उपाय बताइए जिससे राज्यकी चिन्ताओंमें पडा हुआ हमारा मन बहले । इसपर सूर्यने उनसे कहा—सृष्टि कर चुकनेपर ब्रह्माजी भी यही प्रार्थना लेकर महाविष्णुके पास गए थे । महाविष्णुजीने उन्हें शिवजीके पास भेज दिया । शिवजीने अपने गण नन्दीको बुलाया जिसने पहले ही शिवजीसे गन्धर्व विद्या सीख ली थी । शिवजीने उसे आज्ञा दी कि गन्धर्व वेदके सब तत्त्व ब्रह्माजीको बता दो । ब्रह्माजी जब सब कुछ सीखकर लौटे तो उन्होंने एक नटकी कल्पना की । तत्काल पाँच शिष्योंके साथ एक मुनि वहाँ आकर प्रकट हो गए । सरस्वतीजी वहाँ बैठी हुई थीं । ब्रह्माजीने मुनि और उनके शिष्योंसे कहा कि आप लोग यह नाट्यवेद प्रणय कर लीजिए । उन्होंने साङ्गोपाङ्ग नाट्यवेद सीखकर गीत और रसोंसे भरे हुए अनेक नाटक दिखाकर ब्रह्माजीको प्रसन्न कर दिया । नाट्यवेदके प्रति उनरी रुचि और भक्ति देखकर ब्रह्माजीने उन्हें वरदान दिया कि अब आप लोग तीनों लोकोमें भरत कहलायेंगे और यह नाट्यवेद भी तुम्हारे ही नामपर 'भारत' कहलायगा ।

अपने पिता सूर्यसे यह कथा सुनकर स्वयम्भुव मनुने ब्रह्माजीसे नाट्यवेदके लिये प्रार्थना की । ब्रह्माजीने उन भरतोंको आज्ञा दी कि तुम लोग मनुके साथ भारतवर्षमें चले जाओ । भारतवर्षमें जाकर उन लोगोंने अयोध्यामें डेरा डाला । देवताओंकी रक्षालालमें जिन देवार्थियोंकी कथाओंके नाटक खेले जाते थे वे सब उन्होंने अयोध्यामें खेले । इन्हीं भरतोंके शिष्योंने धीरे धीरे भारतके निम्न प्रदेशमें नाट्यशास्त्रा प्रचार किया । तत्र मनुके कहनेसे इन भरतोंने नाट्यवेदका सारांश दो ग्रन्थोंमें एकत्र करके रक्त्वा । उनमेंसे एक है द्वादशशाहस्री, दूसरा है पट्टसाहस्री । इन दो नों ग्रन्थोंमेंसे पट्टसाहस्री यही है जो भरतका नाट्यशास्त्र कहलाता है ।]

इन सब विवरणोंसे इतनी बातें सिद्ध होती हैं—

(१) नाट्यका जन्म सगरकी चिन्ताओंको भुला

देनेके उद्देश्यसे हुआ।

(२) ब्रह्माजी इसके आदि-स्रष्टा या अग्नि प्रचारक हैं।

(३) वेदोंके तत्त्व मिलाकर ही नाट्यकी सृष्टि की गई है।

(४) आदि नाट्यमें पाठ्य, गीत, अभिनय और रस चारों होते थे।

(५) नाट्यका द्वार सबके लिये खुला था।

नाट्यवेदकी रचना करनेवाले ब्रह्माजी कौन हैं इस पर इस युगमें दूसरी दृष्टिसे भी विचार कर लेना चाहिए। हमारी परम्पराके अनुसार परमेश्वरकी सृष्टि-शक्तिके आधिपत्या ब्रह्माजी ही सारी सृष्टिके रचयिता हैं। अतः यदि वे नाट्यवेदके भी स्रष्टा बताए जायें तो कोई आश्चर्य नहीं। इसीको हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि जैसे मन्व-व्रथा ऋषियोंने वेदका सञ्चारकर किया था वैसे ही न ऋग्वेद भी उनके दिव्य नेत्रोंके आगे ज्यों-त्यों प्रकट हो गया था। यह भी अर्थ निकाला जा सकता है कि वैदिक साहित्यके युगमें ऋषियों और मुनियोंने ही वैदिक ज्ञानसे लोकोपयोगी अथ निकालकर उससे लेकर-जक तथा उपदेशजनक नाट्यका आविष्कार कर लिया हो और पीछेने समय-समयपर अनेक अचार्योंने अपने-अपने मतोंसे नई नई कलाओं तथा प्रयोगोंका इसमें सम्मिश्रण किया हो। बुद्धिवादियोंका समाधान करनेके लिये यह भी कहा जा सकता है कि जिसने पहले-पहले चारों वेदोंका अध्ययन करके और प्रत्येकमें गे लेकर-जकके तत्त्व निकालकर और मिलाकर, सबकी समझमें आनेवाला, सब विद्याओंसे भरा हुआ तथा सबसे अच्छा लभनेवाला नाट्यवेद बनाया, उसीसे लोग ब्रह्मा, विधाता, स्रष्टा या रचयिता कहने लगे। जो भी हो, किन्तु जिस ब्रह्मने नाट्यवेदकी रचना की है वह अलौकिक-ज्ञान-सम्पन्न अवश्य रहा होगा, इसमें सन्देह नहीं।

अब हमें नाट्यकी उत्पत्तिके उस दूरके प्रकारके प्रमाणोंकी परीक्षा भी करना चाहिए, जिसमें नाट्यमन्त्रकी विषयोंका किमी न किसी प्रसङ्गमें निर्देश मिलता है। इनमें से यजुर्वेद, रामायण, महाभारत तथा बौद्ध और जैनियोंके धर्म-ग्रन्थोंका कुछ विवरण हम ऊपर दे आए हैं। वैदिक

साहित्यमें गीत और नृत्यका बहुत उल्लेख मिलता है। ऊपर हम यजुर्वेदका प्रमाण दे आए हैं कि यन्के समय ['गीताय शैत्य] गीतके लिये शैत्य (नट) नियुक्त किए जाते थे। कौपीतिक ब्राह्मणोंमें भी संगीतकी यज्ञ-क्रियाका एक अंग माना गया है, यद्यपि पारस्कर श्रद्धासूत्रमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यके लिये उसका प्रयोग निषिद्ध बतलाया गया है।

इसी प्रकार महाभारत-स्तोत्रमें भी यह विधान है कि उस अवसरपर जो कुमारियों अथिनी परिक्रमा करती हुई नाचती गाती हैं वे चिर सौभाग्यवती होकर सन्तान पाती हैं।

महाभाष्यकार पतञ्जलिनने अपने महाभाष्यमें कस्यय और बलि-बन्ध नाटकके होनेका संकेत देकर यह सिद्ध कर दिया है कि महाभाष्यकारके समय नाटक अपनी प्रौढतामें विद्यमान था—

इतु कथ धर्त्तमानकालना क्म घायाते बलि बन्धय तीति चिरहते कये चिरधदे च बलो। अत्रापि युक्ता। क्यम्। ये तावदेते शांभनिका (सौभिका) नामैते प्रत्यक्ष कसं घातयन्ति, प्रत्यत्र च बलि बन्धयन्तीति।

[जो कस इतने समय परदे मारा जा चुका है और जा बलि इतने समय परले बंध जा चुके हैं उनके लिये यह वर्त्तमान कालमें क्यों कहा जाता है कि वह कसका मारता है या वह बलिकों बंधता है। पर यह ठीक है क्योंकि नट लोग हमारी आंखोंके आगे ही नाटकमें कसको मारते हैं और बलिकों बंधते हैं।]

बौद्धनि भी नाटकको अपने धर्म-प्रचारका साधन माना था। इसका प्रमाण अश्वघोषका सारिपुत्रप्रकरण नामक नौ अंशोंका नाटक है जिसमें बुद्धके द्वारा मौद्गलायन और सारिपुत्रके बौद्ध होनेकी कथा दी है। ललितविस्तर, अवदान-जातक, मद्धम पुण्डरीक और महावस आदि ग्रन्थोंमें भी विशेष पवीर नाट्योंके अभिनय होनेका उल्लेख मिलता है। चन्द्रगुप्त मौर्यके समयमें तो राज्यकी ओरसे नट नियुक्त किए जाते थे जिनका प्रयोग राजनीतिक कार्योंके लिये किया जाता था। काटिल्यके अर्थशास्त्रके पाटगुण्य नामक सनय अधिकरणमें, विश्वासके लिये शत्रुके पास रखे हुए राजपुत्रकी धुड़ा लेनेके उपायोंका निर्देश करते हुए कहा गया है—

नटनर्तकगायकवादकवाग्जीवनमुशीलवप्लवकसौमिना वा प्रपं प्रणिहिताः परमुगतिष्ठेरन् ॥ ४३ ॥ ते कुमार परम्परयोपतिष्ठेरन् ॥ ४४ ॥ [१७ वें अध्याय]

[नट, नाचनेवाले, गानेवाले, पजानेवाले, कथ करनेवाले, अभिनेता, रस्सीगर चढकर खेल दिखाने वाले और ऐन्द्रजालिकके धोपामें गुप्तचर लोग शत्रुके देशमें जाकर पहले शत्रु राजातक अपनी पहुँच करें, फिर धीरे धीरे वहाँ रहते हुए कुमार या राजपुत्र तक पहुँच जायें ।]

इसी प्रकार पौचवें योगवृत्त अधिकरणके तीसरे अध्यायमें भूतनाँवे भरण पोषणकी व्यवस्था करते हुए लिखा है—

मुशीलवाग्लवर्धततीयशता. ॥ १६ द्विगुणवेतनाभौपां त्व्यंभगः ॥ २७ ॥

[मुशीलव (नट) आदिको ३५० पण वार्षिक पतन दिया जाय और उनमें जो बढ़िया वाले भी ब्रजाना जानते हैं उन्हें ७०० पण वार्षिक वेतन दिया जाय ।]

इसका तात्पर्य यह है कि नौदिव्यके समयतक नाट्य एक अच्छा व्यवसाय हो गया था और राज्यने भी उसे आश्रय देखकर उसपर नियन्त्रण कर लिया था, क्योंकि अर्धशास्त्रके अध्याय—प्रचार अधिकरणके प्रथम अध्यायमें कहा गया है—

न च तत्रारामविहारार्थाः शालाः स्युः ॥ ४१ ॥ नट नर्तकगायकवादकवाग्जीवककुशीला वा न कर्मनिश्च कुर्युः ॥ ४२ ॥

[वहाँ (जनपद अर्थात् गाजाके बीचमें) आमोद-प्रमोदके लिये भवन या नाट्यशालाएँ न बनाई जायें जिससे नट, नाचने-गाने-ब्रजानेवाले, कथा करनेवाले और अभिनेता लोग वहाँ अपने खेल दिखा दिखकर लोगोंके काममें विघ्न न डालने पावें ।]

अब तीसरे प्रकारके उन प्रमाणोंपर भी विचार करना आवश्यक है जिनमें नाट्य या नाट्यके किसी अशक्त सादृश्य मिलता है। जिन सादृश्योंके लेकर नाट्यकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें अनेक मत निकले हैं उन सबकी भी हम अलग अलग समीक्षा करेंगे।

नाट्योत्पत्तिका आख्यान या संवाद-सिद्धान्त ।

ऋग्वेदसंवादा एवादिनाट्यरूपमित्येके ॥ १० ॥

[एक पक्ष है, आदि नाट्य हैं ऋग्वेदी समाद ।]

ऋग्वेदमें सरमा और पणिस, यम और यमी तथा पुरुखा और उर्वशीके संवाद-संवादाँ देखकर आचार्य मुग्धानलने (मैकडोनलने) अपने हिस्ट्री औफ सख्ट लिटरेचरमें कहा है कि ये संवाद ही भारतीय नाट्य साहित्यके आदि रूप हैं, जिनमेंसे पुरुखा और उर्वशीके कथानकको लेकर भारतके आदितीय नाटककार महाकवि कालिदासने इस वैदिक आख्यानके एक सख्त या इससे अधिक वर्षों पीछे 'विक्रमोर्वशीयम्' नाट्यकी रचना की। आचार्य ए० बी० वीथने स० १९६८ (सन् १९११) में 'जर्नल औफ दि रीयल एथियाटिक सोसाइटी' के १७९ सख्यक पृष्ठपर 'दि वैदिक आख्यान ऐंड दि इडियन ड्रामा शीर्षक लेखमें इन संवादोंको आख्यान कहा है। इन आख्यानों या संवादोंके बलपर दो प्रसिद्ध मत स्थापित किए गए हैं। पहला तो है आचार्य विंदिश और ओल्डेनबर्गका आख्यान मत, जिसका समर्थन आचार्य पिरोल और गेल्डेनरने भी किया था। गेल्डेनर तो इन्हें आख्यान कहनेके बदले इतिहास करना अधिक उपयुक्त समझते हैं। इन दोगोंका यह मत है कि मूलतः ये संवाद गद्य-पद्यात्मक कथाके रूपमें रहे होंगे जिनमें परस्पर बातचीतक अवसरपर कथाने संवादका रूप ले लिया होगा। अन्तमें आचार्य ओल्डेनबर्गने इन संवादोंमें गद्यका अत्यन्त अभाव देखकर यह मत निर्धारित किया कि पद्यभाग तो एक कठसे दूसरे कठमें परमरासे चले आनेके करण बचा रहा किन्तु गद्यभाग नष्ट हो गया।

आख्यान या संवाद-सिद्धान्तका खण्डन

नेत्यभिनवभरतः । ११ ॥

[अभिनवभरत नहीं सहमत हैं ।]

विदेशी पंडितोंने जैसे भारतीय इतिहास तथा साहित्यके विभिन्न अंशत रहस्योंके उद्घाटनके लिये अनेक अटकलवाँ काले लिखा है वैसे ही नाट्यकी उत्पत्तिके विषयमें भी उन्होंने अनेक वेदगी निराधार अटकलें लगाई हैं। अतः उनका निराकरण अत्यन्त अपेक्षित है।

यद तो गत्य है कि ऋग्वेदमें ऐसे बहुतसे सूक्त हैं जिनमें

दो या दोसे अधिक व्यक्तियोंकी परस्पर बातचीत होती है, जैसे भगवद्-लोपासुद्राशिष्य संवाद (१, १७९), विश्वामित्र-नदी संवाद (३, ३३), इन्द्रादिति-वामदेव-संवाद (४, १८) सपुत्रवसिष्ठेन्द्र संवाद (७, ३३), इन्द्रवसुक्त संवाद (१०, २८), यमयमी संवाद (१०, १०), इन्द्रेन्द्राणी-वृषाऋषि संवाद (१०, ८६), तथा पुरुखा-उर्वशी संवाद (१०, १५)। ये सभी संवाद धार्व्यानाँके साथ आए हुए हैं, अतः यह नितान्त स्वाभाविक है कि कथाओंके बीचमें जहाँ दो या दोसे अधिक व्यक्तियोंकी बातचीतका प्रकरण हो वहाँ कवि, दर्शकका रूप छोड़कर उन दोनोंको उपस्थित करके उनकी बातचीत उन्हींके मुखसे सुनावे। ऐसा करनेसे स्वाभाविकता भी भाती है और काव्यमें शक्ति भी भाती है। ससार भरके विभिन्न साहित्योंमें जहाँ जहाँ कथाएँ आई हैं, वहाँ सभी कवियोंने स्वाम.विषमा लानेके लिये इसी प्रकारके संवादोंका प्रयोग किया है। किन्तु कथान्तर्गत संवादों और नाटकीय संवादोंमें मौलिक अन्तर यह है कि जहाँ नाटकीय संवादोंमें वाचिक या धार्मिक अभिनयके द्वारा कथोपकथनको भावपूर्ण बनाकर रस उत्पन्न करनेका उपक्रम किया जाता है वहीं कथाके संवादोंमें केवल किसी प्रसंगमें मिले हुए दो व्यक्तियोंके मनकी व्यंजनाके रूपमें ही बातचीत चलाई जाती है जिनमें विशेषतः तर्ककी प्रधानता होती है, पाठक या श्रोताको रसमग्न करनेका मुख्य काम लेखक या कथाकार अपनी भाषा शैलीसे ही कर लेता है। उपर्युक्त वैदिक संवादोंमें भी इसी प्रकार सीधे सादे रूपसे या तो गुरु शिष्यके प्रश्नोत्तरके समान शक्य-समाधान किया गया है, या अज्ञात विषयपर प्रश्न करके जिज्ञासाकी वृत्ति की गई है, या प्रथम अनुरोधपर प्रेमी और प्रेयसीकी केवल संक्षेपपूर्ण बातचीत होती है। इनमें न तो नाटकीय संवादवाला जोड़-तोड़का उत्तर होता है, न भावोंकी उच्चैःकरनेवाली भाषा-शैली ही होती है। भगवद्-लोपासुद्रा संवाद, यमयमी संवाद और पुरुखाउर्वशी संवाद आदि सभीमें तर्ककी प्रधानता है, भावकी नहीं। अतः भावक्य-अभाव होनेसे इन संवादोंमें नाटकीयताका स्वभाव भी नहीं है। इसलिये कोरोपीय विद्वानोंका यह कहना नितान्त भ्रमक है कि ये संवाद ही भारतीय नाटकके आदिम रूप हैं।

दूसरी बात यह है कि नाटकमें किसी सत्य या कल्पित घटनाका अनुकरण दिखाया जाता है। सब प्रकारके काव्योंकी

अनुकरण माननेवाले यूनानी आचार्य अरस्तूके मतसे भी यद्यपि काव्य सत्य अनुकरण होता है, किन्तु उन्हींने भी अभिनय-व्यापारसे पूर्ण त्रासदको प्रबन्ध काव्यसे भिन्न माना है। पर इन वैदिक कृत्योंमें अभिनयता है ही कहाँ? यह उल्लेख कहीं मिलता है कि वैदिक ऋषि लोग देवताओं या ऋषियोंकी सभामें जाकर इन संवादोंका अभिनय करते थे या पृथक् पृथक् एक एक व्यक्तिके पाठका विभाजन करके उसका वाचन करते थे? फिर ऋग्वेदमें तो सब ऐसे रक्त हैं जो अत्यन्त सुन्दर ढंगसे विभिन्न देवताओं, देवी विभूतियों या परमात्माकी स्तुतियोंमें कहे गए हैं, उनमें अभिनयशीलताका लेश भी नहीं है। इसीलिये नाट्यशास्त्रमें कहा गया है—ब्रह्म पाठ्य ऋग्वेदान् [ऋग्वेदसे पाठ्य लिया है]। इसका यही अर्थ है कि नाटकमें बोलने योग्य अंश—सुन्दर भाषा, अलंकार, छन्द आदिके नियम, कथा, संवाद आदि भाषा या भाषा शैलीसे संवद्य रखनेवाले अंश तथा आचार-विचार, रहन सहन-सम्बन्धों म.म.जिक व्यवहारका विवरण आदि—सब ऋग्वेदमें लिया गया है। ऋग्वेदमें पाठ्यके ये संपूर्ण तत्त्व प्रचुरतासे मिलते भी हैं इसमें सन्देह नहीं है। स्वयं भरत मुनिने भी जामदग्न्य विजय (व्यायोग), कुसुमगण्डर विजय (इंदाभृग), धांग नहुषके इन्द्रपद पा लेने पर खेलनाया हुआ शर्मिष्ठा ययाति (श्रोक) नामक नाटक लिखा था। इन सभीके आख्यान ऋग्वेदमें मिलते हैं। स्वयं ब्रह्मजीने इन्द्रध्वज-महोत्सवपर खेले जानेके लिये जो सुसुन्दरमन्थन (समवकार) रचा था या हिमालयके उत्तरी ढालपर परमेस्वरके आगे खेला हुआ त्रिपुरदार (दिम) रचा था या मरुतीजीका रचा हुआ जा लक्ष्मीस्वयंवर नामक नाटक भरत मुनिने अस्सतर्कसे इन्द्रकी रङ्गाशालामें खेलवाया था, उन सबके सविधानक ऋग्वेदसे ही लिए गए थे। अतः यह करना निर्वाण भ्रामक है कि ये संवाद नाटकके आदि रूप हैं। हाँ! यह अक्षर्य कह सकते हैं कि इन संवादोंने तथा ऋग्वेदमें आई हुई अनेक कथाओंने नाटकके सविधानकी रचनाके लिये प्रचुर सामग्री उपदरताके साथ प्रदान की थी।

नाट्यकी उत्पत्तिका वैदिक फर्मकाण्ड-सिद्धान्त

॥ वैदिककर्मकाण्डान्नाट्योत्पत्तिरित्यपरे ॥ १२ ॥
[कोई कहते, कर्मकाण्डमें हुआ नाट्यम जन्म]-
ऋग्वेदके सचत सूक्तके एक मन्त्रकी व्याख्या करते हुए

जर्मन विद्वान् मोक्षमूलर भट्ट (मेक्समूलर) ने सन् १९२६ (सन् १७६९) में यह मत प्रतिपादित किया कि नाट्यकी उत्पत्ति वैदिक कर्मकाण्डसे हुई है। फ्रांसीसी विद्वान् श्री सिल्वन लेनीने भी इस मतका समर्थन करते हुए कहा था कि वैदिक साहित्यमें बहुतसे ऐसे सवाद हैं जिन्हें भारतीय नाट्यका मूल स्रोत समझना चाहिए। उनका यह भी मत था कि ये सवाद केवल कवियों या ऋषियोंकी कल्पना मात्र नहीं हैं वरन् उन्होंने वैदिक यज्ञोंमें इन सव दोंका प्रत्यक्ष नाट्यीय रूपमें कहे जाते हुए देखा होगा। इसी सिद्धान्तका समर्थन जर्मन विद्वान् श्री लियोपोल्ड फौन श्रौएडेर और श्री योहान्स हर्टेलने भी किया था। श्रौएडेर महोदयने ऋग्वेदके सातवें मण्डलके १०२ सख्यक मङ्कक दसमो नाट्यीय बताते हुए कहा था कि बहुतसे ब्राह्मण मिलकर किसी मंडकॉसे भरे हुए जलाशयमें खड़े होकर उस गूँकको गाया करत रहे होंगे। इसी आधरपर उन्होंने इस सूक्तकी तुलना यूनानी प्रहसन कार अरे तोफनेसके 'मॅडक' तथा 'चतुषपद' नामक यूनानी प्रहसनोंसे कर डाली है।

प्राच्यपत्र श्री फौन श्रौएडेरने ऋग्वेदके उस सूक्त [११११२] को भी नाटक माना है जिसमें सोमरस निकालता हुआ एक ब्राह्मण उसी प्रकार अपना सरथक प्राप्त करना चाहता है जैसे दूसरे जीवधारी अपनी इच्छा-पूर्तिके लिये सरथक हूँटते हैं। उस उत्सवमें वनरपति जगत्के देवी देवता छिपकर गाते और नाचते हैं। उनका यह भी कहना है कि अत्यन्त प्राचीन कालमें गूँक, गीत और वाद्य साथ-साथ चलते थे। उसीसे प्रभावित होकर ऋग्वेदके ऋषियोंने वैदिक यज्ञोंके सवादोंको गायन और नर्तनके साथ अभिनय करना आरम्भ कर दिया था। अन्तर इतना ही था कि यूनान और मेक्सिकोके गीतोंके समान इनमें बीमत्स प्रकार नहीं थे और अभिनय केवल यज्ञसे संबद्ध होते थे, जिनका व्यापारिक भाग आजकल (बङ्गाली) यात्राके रूपमें बचा रह गया और कर्मकाण्ड भाग एकदम लुप्त गया।

श्री हर्टेल महोदयने यही कहा है कि ये वैदिक सवादात्मक एक गाएँ भी जाते थे। सवादोंका गान एक ही गायकसे होना असम्भव था क्योंकि ऐसा करनेसे सवाद करनेवाले दो व्यक्तियोंका भेद प्रतीत नहीं हो सकता था।

अतः वैदिक सवादोंमें नाट्यका बीज अवश्य है और ऋग्वेदके सुपर्णाध्यायमें इस बीजका विकास है जिसका अनुकरण आजकल यानाओंमें मिलता है।

कर्मकाण्ड सिद्धान्तका खण्डन

● नेत्याचार्याः ॥ १३ ॥

[इससे नहीं सुधी सहमत हैं]

आचार्य ए० बी० वीयने इस मतका खण्डन करते हुए कहा है कि इन सवादोंको नाट्यीय सवाद समझनेकी मूल नहीं करनी चाहिए, क्योंकि प्राचीन भारतीय यज्ञोंमें जो कर्मकाण्डीय सवाद होते थे वे नाट्यीय नहीं वरन् वेसे ही पौरोहित्य-कर्म मात्र होते थे जैसे ईसाई गिर्जाघरोंमें प्रायः हुवा करते हैं जहाँ पादरी कहते हैं—अपने हृदय ऊपर उठाओ। और एकत्रित जन समुदाय उत्तर देता है—हम अपने हृदय भगवान् तक उठाते हैं। अनुकरणकी भावनाका अभाव होनेसे ये सवाद नाट्यीय नहीं हैं क्योंकि नाटकका तत्त्विक आधार अनुकरण है। फौन श्रौएडेरने कर्मकाण्ड और नाटकके इस मौलिक अन्तरको न समझकर ही ऋग्वेदके मङ्कक सूक्तको नाट्यीय बताया है।

श्री श्रौएडेर और श्री हर्टेलका यह कथन भी ठाक नर। इति ऋग्वेदके सवाद गाएँ जाते थे क्योंकि गानके लिये तो समवेदके मंत्र रचे ही गए थे। सामगान करनेवाले इन ऋषियोंका नाम भी अलग उद्गातृ रक्ता गया था। ऋग्वेदके मन्त्रोंका तो केवल ससन होता था। और फिर ऋग्वेदके सवाद-सूक्त भी तो अनेक प्रकारके हैं। कहीं तो इन सवादोंमें तत्त्विक विचार किए गए हैं, कहीं ऐतिहासिक गाथाएँ कही गई हैं, कहीं प्रेतयात्राके उल्लेख दिए गए हैं, और कहीं जुएका बुपल प्रदर्शित किया गया है। ये सब अत्यन्त व्यापारिक हैं और अधिकसे अधिक इतना कहा जा सकता है कि इनमें नाट्यका बीज उपस्थित है। यह कहना भी असत्य है कि धार्मिक सवादोंका अनुकरण पीछे लुप्त हो गया क्योंकि आरण्यक और सूक्त ग्रन्थोंमें महाजत और अश्वमेध यज्ञोंके प्रसंगमें धार्मिक सवादोंका उल्लेख स्पष्ट मिलता है।

श्री विंटरनिस्सेने भी इसी सिद्धान्तका समर्थन करते हुए इतना सशोधन किया है कि इस प्रकारके सूक्तोंका हम नाटकका स्थानापन्न ता नहीं पर नाट्यका एक दूसरा रूप मान सकते हैं।

कर्मकाण्ड-सिद्धान्तकी निरर्थकता

● अभिनवभरतस्याप्यसहमतिः ॥ १४ ॥

[अभिनवभरत भी हैं असहमत ।]

आचार्य कीयने उपर्युक्त सिद्धान्तका खडन करते हुए जो मत दिया है उसके अतिरिक्त सर्वाधिक विचारणीय बात यह है कि नाट्य तां स्वतः एक यज्ञ बताया गया है। महाकवि वालिदासने अपने मालविकाग्निमित्र नाटकके प्रथम अंकमें नाट्याचार्य गणदाससे नाट्यज्ञी प्रशंसा पुराते हुए कहाया है—

देवानामिदमामनन्ति मुनयः शान्तं प्रतुं चाक्षुष
रुद्रेणोदमुमाकरव्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्त द्विधा ।
संशुष्योद्भवमत्र लोकचरित नानारस दृश्यते
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम् ॥

[मुनि लोगोंका कहना है कि यह नाट्य तो देवताओंकी, ओंलोंकी मुहानेवाला एक यज्ञ है। स्वयं महादेवजीने ही उभासे विवाह करके अपने शरीरमें उमके दो भाग कर दिए, एक ताण्डव और दूसरा लारस। हममें रुद्र, रज, और तम तीनों गुण भी दिखलाई पड़ते हैं और अनेक रसोंमें लोगोंके चरित्र भी दिखाई पड़ते हैं। इसीलिये अलग अलग रुचिवाले लोगोंके लिये प्रायः नाटक ही एक ऐसा उत्सव है जिसमें सबको एकसा आनन्द मिलता है ।]

इस प्रकारका स्वयं ब्रह्मजीका रचा हुआ समुद्रमन्थन नामका चाक्षुष यज्ञ महेन्द्रध्वजोत्सवपर हुआ था और इसी चाक्षुष यज्ञमें इतना बड़ा उपद्रव हुआ कि महेन्द्रको जर्जरकी स्थापना करनी पड़ी थी। इसके अतिरिक्त त्रिपुरदाह और लक्ष्मीत्वयवर नामके दो और चाक्षुष यज्ञ हुए जिनमें देवता लोग स्वयं उपस्थित थे।

नाट्यदासके अन्तमें इस चाक्षुष यज्ञका फल भी बतलाया गया है—

य ददं शृणुयात्प्रोक्तं नाट्यमेतत्सर्वयमुवा ।
प्रयोगं यच्च कुर्वीत प्रेक्षते चाकथानवान् ॥
या गतिर्वेदविदुषां या गतिर्यज्ञयाजिनः ।
या गतिर्दानशीलानां तां गतिं प्राप्नुयुःशरः ॥
न तथा गन्धमात्येन देवास्तुष्यन्ति पृथिताः ।
यथा नाट्यप्रयोगकृतं यन्ति भुविमङ्गलैः ॥
गात्रवर्चश्चैव नाट्यज्ञ यः सम्यगनुपस्यति ।

रुद्रते सद्गति पुण्यां सम ब्रह्मार्पिभिर्नरः ॥

[ब्रह्मजीने जिस नाट्यका वर्णन किया है उसे जो ध्यानसे सुनता है, जो उसका प्रयोग करता है और जो सावधान होकर देखता है उस मनुष्यको वही सद्गति मिलती है जो वेदके विद्वानोंको, यज्ञ करनेवालोंको और दान देनेवालोंको मिलती है। देवता लोग सुगन्धित द्रव्य और मालाओंसे पूजित होकर उतने संतुष्ट नहीं होते बितने नाट्यका प्रयोग जाननेवालोंकी खुति प्रार्थनासे होते हैं। गन्धर्ववेद और नाट्यवेदको जो मनुष्य भली प्रकार समझ लेता है उसे ब्रह्मर्षियोंकी पवित्र सद्गति प्राप्त होती है ।]

जिस यज्ञका फल स्वतः ब्रह्मर्षियोंको प्राप्य गति दिला सकता है वह पूर्ण यज्ञ कित्ती यज्ञका एक अंग कैसे हो सकता है। क्योंकि यह तो एक सार्वभौम तथ्य है कि अंगो कभी अंग नहीं हो सकता।

दूसरी बात यह है कि नाट्यका नृत्य या नाच-गानेके साथ मिलानेकी भूल नहीं करनी चाहिए। श्रौण्डेर, हट्टेल आदि सभीने यह बड़ी भारी भूल की है कि उन्होंने य. तो नाचको या केवल संवादको ही नाट्य समझ लिया और जहाँ इनमेंसे किसीका उल्लेख मिला वहीं उन्होंने नाट्यका स्रोत खोजना प्रारम्भ कर दिया। नाट्य तो अभि-नयात्मक होता है जिसमें सात्त्विक, आज्ञिक, वाचिक और आहार्य चारों अभिनयोंके प्रयोगसे रसनी सृष्टि होती है। वैदिक संवाद-रुक्तों या व्रतोत्सव स्तोम आदिके अवसरपर होनेवाले नृत्योंमें अभिनयका कहीं यज्ञते नहीं है, इसलिये उन शुद्ध व्रतोत्सवोंके धार्मिक कर्मकाण्ड या रुद्र कर्मको नाटक या नाटकका स्रोत करना निवान्त भ्रामक है क्योंकि उसमें ऋत्विजोंको यह स्वतन्त्रता नहीं होती कि वे अभि-नेताके समान किसी भावको अपनी स्वेच्छासे प्रदर्शित कर सकें। उनकी वाणी, उनकी क्रिया सब इतने कठोर नियमों में बँधी रहती हैं कि वे तनिक भी उसमें टैर-फैर नहीं कर सकते। वे भली भाँति जानते हैं—

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्षमाह ।

स वाभ्यन्नां यत्रमान दिनस्ति यथेन्द्रशानुः स्वरतोऽपराधात् ।

[कोई शब्द यदि स्वर या वर्णके अशुद्ध प्रयोगसे विगड़ा तो वह यज्ञ करनेवालेको उसी प्रकार मार डालना है जैसे इन्द्रशानु शब्दमें केवल स्वर बदलने भरसे इन्द्रका शत्रु हुआसुर मारा गया था ।]

तीसरी बात यह है कि योरोपवाले अपने विकास यादका सिद्धान्त सन स्थानोंपर लागू कर देते हैं। वे इस बातकी कल्पना भी नहीं कर सकते कि कोई वस्तु पूर्ण होकर भी उत्तम हो सकती है। हम यदि ओरों कोलकर अत्यन्त ध्यान पूर्वक देखें तो ज्ञात होगा कि हमारे यहाँ धर्म राज, कामशास्त्र, धातुवेद, व्याकरण, द. दःशास्त्र तथा सङ्गीतशास्त्र अपने प्रौढतम रूप में ही पाए गए हैं और उनकी उत्पत्तिकी सम्पूर्ण कथाओंके पीछे कोई न कोई दैवी प्रेरणा अग्र्य लुडी हुई है। उनमें यदि मानव निर्मितिका तनिक भी योग होता तो जालरी खाल खींचने वाले पौराणिक व्यास उसके विकासमकी कथाका दुःखि भोष करनेमें कभी सङ्कोच न करते, क्योंकि जहाँ उन्होंने सृष्टिके विकासमका बड़ा निरुद्ध और जटिल विवरण दिया है वहाँ वे अन्य शास्त्रोंके विकासरा निररण देनेमें उदासीनता न दिगते। इन शास्त्रों में भी जहाँ जहाँ बीचमें नई शक्तियाँ या त्रियाओंका समावेश हुआ है वहाँ वहाँ आचार्याने उसे स्पष्ट स्वीकार भी किया है। नाट्यशास्त्रके ही प्रथम अध्याय में यह वर्णन मिलता है कि भरत जी ने पहले नाट्यमें भारती (जिसमें केवल पुरुषोंका प्रायः मस्त्रत भागमें ही सम्वाद हो), सार्वती (जिसमें सार्विक भावोंके प्रदर्शनका विधान हो) और आरभगी (जिसमें मारकाट, युद्ध आदिका विधान हो) वृत्तियोंका ही प्रयोग किया था। इसपर सुरगुरुने कहा कि इसमें कैशिकी वृत्ति भी जोड़ दीजिए तो आनन्द आ ज य। उसपर भरतजीने कहा कि कोमल भङ्गहारोंके विधान वाली, रस और भाव उत्पन्न करनेवाली, त्रिषोडशों वाली, सुन्दर वस्त्रालङ्कार और सजावटकी व्यवस्थावाली और शृंगार रससे उत्तम होनेवाली कैशिकी वृत्तिका प्रयोग केवल स्त्रियोंकर सतता है, वह पुरुषोंके बसका काम है ही नहीं। इसपर ब्रह्मजीने अस्त्राथोंकी मानममष्टिकी और कैशिकी वृत्ति भी नाट्यमें जोड़ दी गई। यहाँ स्पष्ट रूपसे इस बातका उल्लेख कर दिया गया है कि चारों वृत्तियाँ एक साथ नहीं जाईं। अतः यदि दर्शक क्रमसे अन्य नाट्यके तत्त्व या अङ्ग आगे पीछे जोड़े गए होंगे तो किसी एक क्रमसे इनका विकास हुआ होता तो ऋषि लोग उसका उल्लेख करनेसे चूकते नहीं।

चौथी बात यह है कि प्रत्येक वेदका प्रयोग करनेवाले में अलग अलग मजा दी गई है जिमसे वेदने व्यवहारिक स्वरूपका

भी परिचय प्राप्त हो जाता है। ऋग्वेदका सूक्त करनेवालेको होता (हवन करनेवाला), यजुर्वेदके अनुसार यज्ञ क्रिया करनेवालेको अध्वर्यु (यज्ञकी क्रिया करनेवाला), सामवेदके अनुकूल यज्ञ क्रियाओंमें भाग लेनेवालेको उद्गाता (गाने वाला) और अथर्ववेदके अनुसार यज्ञक्रिया चलानेवाले ब्रह्मा (सन यज्ञकी क्रियाके सञ्चालनका आदेश देनेवाला) कहा गया है किन्तु नाट्यवेदका प्रयोग करनेवालेको प्रयोक्ता अर्थात् नाटक कराकर दिखानेवाला बताया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि नाट्यका प्रयोजन ही यह है कि वह प्रयोग करके या खेलकर दिखलाया जाय। यह लक्षण अन्य किसी वेदके लिये नहीं बताया गया। इसलिये उनमें नाट्यका बीज या नाट्यका स्वरूप खोजना अत्यन्त असगत और धन-पेषित है।

नाचसे नाट्यकी उत्पत्तिका सिद्धान्त

● नृत्ताध्यपूर्वरूप मित्यपरे ॥ १५ ॥

[नाचही है नाट्यका पहला स्वरूप]

श्री मुधानल (मैकडानेल) का मत है कि अभिनेता और रूपरके लिये प्रयुक्त होनेवाले नट और नाटक शब्द नट धातुसे निकले हैं जो सङ्कृतकी नृत् (नाचना) का प्रकृति या देशी रूप है और जिसका वर्तमान रूप 'नाच' अत्र जोंके कानों का भी मली भौति परिचित है। यही नाच सम्भवतः भारतीय नाटकके प्रारम्भका द्योतक है जिसमें पहले पहल मोटे रूपसे नाच या शरीर-सञ्चालनके साथ साथ हाथ तथा मुखके भावों और चेष्टाओं द्वारा मूक अनुकरण होता रहा होगा और फिर शीघ्र ही गीत भी जुड़ गए होंगे। इसी प्रकार नाटकके पौराणिक आविष्कर्ताका नाम भी 'भरत' पड़ गया होगा जिसका अर्थ सङ्कृतमें नट ही है और कई देशी भाषाओंमें जिसका अर्थ गानेवाला है जैसे गुजरातीमें उसे 'भरोव' कहते भी हैं। यूनानमें जैसे सवाद नहुत पीछे जोड़ा गया था वैसे ही भारतमें भी सवाद नहुत पीछे जोड़ा गया होगा। इस प्राचीन नाट्यका रूप बगालकी यात्राओं और गीतगोविन्दमें मिलता है जो पुराने नाट्यों और गीत-सम्पादसे भरे सङ्कृत नाट्योंके नीचर्षी कड़ी बनी हुई है।

दशरूपकी अनलोन नामकी टीकाके रचयिता श्रीधनिक ने भाग्यप्रयुक्तकी टीका करते हुए लिखा है—

नृतेर्गात्रविक्षेपार्थंवेनाङ्गिकाद्युत्पात्तत्कारिणु च नर्चक-
व्यपदेशाल्लोकेऽपि चात्र प्रेक्षणीयकमिति व्यवहाराभावात्का-
देरन्यन्त्यम् । * * * नाट्यमिति च नट अवस्यन्दने इति
नटः किञ्चिच्चलनार्थात्सात्त्विकवाहुल्यम् । अतएव
तत्कारिणु नट व्यपदेशः ।

[नृत् धातुका अर्थ गात्रविक्षेप अर्थात् शरीर चञ्चलना
हे अर्थात् इसमें अङ्ग-सञ्चालनकी ही अधिकता होती है
इसलिये बहुत हाथैर भटकाकर नृत्य करनेवालेको लोग
नर्चक (नचनिया) कर्तते हैं और उसके प्रदर्शनको प्रेक्ष-
णीयक कहते हैं । इस दृष्टिसे नृत्य नाटक सेभिन्न वस्तु है ।

* * * नट् धातुका अर्थ है ऐसी सूक्ष्म क्रियाएँ करना
जिनमें सात्त्विक भावोंकी बहुतायत होती । इन्हींलिये
सात्त्विक भावोंका प्रदर्शन करनेवालोंको नट कहा जाता है ।

दूसरी बात जो उन्होंने कही कि गायत्रीने भारतकी
देशी भाषाओंमें भरत कहते हैं यह भी अशक्य है । गुजरातीमें
गायकको भले ही 'भरोत' कहते हों किन्तु और किसी देशी
भाषामें गायकको भरत नहीं कहते ।

संस्कृतमें नट्, नृत् और णट् तीन धातुएँ हैं जिनसे
क्रमशः नाट्य, नृत्य और नृत्त शब्द बनते हैं
और इन तीनों शब्दोंका अर्थ भी पृथक् पृथक् कहा गया
है । 'वाक्याणामिभिनयं रसाश्रय नाट्यम्'—पूरे वाक्यके
अर्थको अभिनय द्वारा प्रदर्शित करके रस उत्पन्न करनेको
नाट्य कहते हैं । और 'पदार्थांमिनय भावाश्रय नृत्यम्'—
केवल एक शब्दके अर्थका अभिनय करके उमरा भाव
प्रदर्शित करनेको नृत्य कहते हैं । 'नृत्त ताललयाश्रयम्'—
ताल और लयके साथ हाथैर चलानेको नृत्त कहते हैं ।
इनका विशेष विवेचन प्रसंगानुसार आगे किया जायगा ।
यहाँ केवल इतना ही कहना है कि नाट्य, नृत्य और नृत्तको
एक दूसरेका पर्याय नहीं समझना चाहिए ।

अतः मुग्धानलजीका यह मत अत्यन्त भ्रामक है कि
नाचसे नाट्यही उत्पत्ति हुई ।

पुतली-नाचसे नाट्यकी उत्पत्तिका सिद्धान्त

● पुत्तलिकानृत्यमेव नाट्योत्पत्तिकारणमिति कोचिन् १६

[कोई पुतली-नाच बताते नाट्यमयिका कारण ।]

आचार्य पिनेल्लेने कहा है—

"हिन्दू नाट्यकी उत्पत्ति कठपुतलियोंके नाचमे हुई
है । किन्तु यह पहले ही बता देना उचित होगा कि यूनानमें
पुत्तलिका-नृत्यका सर्वप्राचीन निर्देश जो हमें मिल सका है
वह ईसासे केवल चौथी शताब्दी पूर्वका है और इस बातका
कोई प्रमाण नहीं मिलता कि यैसिम, फ़ुनिफ़स और ऐरु-
लसके त्रासद अथवा क्रातिनम तथा अरिस्तोफ़नेएके
प्रहमनकी उत्पत्तिके मूलमें पुत्तलिका-नृत्यका तनिक भी अंश
था क्योंकि उस युगमें यत्र-चालित गुड़ियोंका भी विवरण
नहीं मिलता यद्यपि मिस्र देशमें ऐसी गुड़ियोंकी चलन
निधयपूर्वक बहुत पहलेसे हो गई थी । हेरदतसुने ओमिरिस
(मिस्रके देवता) की पूजाके विधानका उल्लेख करते हुए
कहा है कि वह यूनानकी दिअनुसमूची पूजाके समान ही
होती थी, अन्तर केवल इतना ही था कि जहाँ यूनानमें
लोग उम उलवगर पुरुषक लिंग लेकर उत्सव-यात्रामें
चलते थे वहाँ मिस्रमें मिस्री स्त्रियों ओमिरिसकी अर्पण
मूर्तियों लेकर खेतोंकी उपज बढ़ानेकी कामना सफल करनेके
लिये खेतोंके चारों ओर घूमती थी । ये मूर्तियाँ छोरे बोधर
चलाई जाती थीं । हेरदतसके कथनसे यह स्पष्ट हो जाता है
कि ऐंमे साधन यूनानमें अज्ञात थे और यदि ज्ञात हों भी
तो वे पुत्तलिका-नृत्यसे अत्यन्त भिन्न होंगे । अतः उपर्युक्त
प्रसिद्ध नाट्यकारोंसे पहले या उनके समयमें पुत्तलिका-नृत्योंके
धार्मिकता को प्रमाण नहीं मिलता । इसलिये यह करना
अधिक तर्कसम्मत जान पड़ता है कि पुत्तलिका-नृत्य यूनानके
हासकालमें प्रचलित हुआ और वह भी पहले ता सम्भवतः
देशतियोंके लिये अर्घ्य तथा अन्य यूनानी नगणमें होनेवाले
प्रसिद्ध नाट्योंके सस्ते प्रदर्शनके रूपमें आया और पीछे
अर्थव्ययके नगरवासियोंका मन बहलानेके लिये भी प्रयुक्त
होने लगा । नाट्योंके स्वर्णयुगके पश्चात् कुछ समय
तक पुत्तलिका-नृत्योंके केवल देहाती ही नहीं वरन् नागरिक
भी अगमाने लगे थे क्योंकि अर्थव्ययसमने लिगा है कि
अर्थव्ययमिथेने प्रसिद्ध पुत्तलिका नचनेवाले पोथिनसनां
"वह रत्नमत्त दे दिया जिसपर किसी समय इउर्गीनाइटेमूके
अभिनेता अपने समाजियोंसे सम्मन्य किया करने थे" ।
इसके अनिश्चित सम्भृतमें भी पुत्तलिकाके लिये पुत्तिका,
दुडिचिना, पुत्तली और पुत्तलिनान् प्रयोग किया है जिनका
अर्थ है जन्हीं बड़ी डोग कहाँहीं पुत्तलिका शब्दका भी
प्रयोग हुआ है । इनमेंसे पुत्तिका और पुत्तलिनान् शब्द

प्राकृत या लोकभाषामें पहुँचे होंगे और ये शब्द लोकभाषामें अवतक प्रचलित हैं। पुचलिकाकी नन्हीं वेदी या छोटी कन्या कहेनेकी चलन केवल भारतमें ही नहीं है वन् यूनानी भाषामें भी है और उसके लिये लातिनमें प्युपा और प्युपुलाका प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ होता है छोटी कन्या।

“प्राचीन भारतमें य पुचलिकाएँ ऊन (ऊर्ण-पचालिका), लकड़ी, भैंसके सींग और हाथीदंत (दन्तपचालिका) की बनी होती थी और वे भारतकी कन्याओंको उतनी ही प्यारी थी जितनी हमारे देश (जर्मनी) की कन्याओंको हैं।

“महाभारतमें राजकुमारी उच्छा और उसकी सखियोंने अशुनसे प्रार्थना की थी कि कौरवोंपर आक्रमण करके जब लौटो तो हमारी गुड़ियोंके लिये महीन अच्छे रङ्गवाले चिकने और कामल परिधान लेते आना।

“ये पुतलियाँ कभी-कभी देवी देवताओंकी प्रतिद्वन्द्विनी भी बन जाती थीं। एक कथा है कि पार्वतीजीने अपने हाथसे एक गुड़िया बनाई। यह इतनी सुन्दर बनी कि उन्होंने उस गुड़ियाको शिवजीसे इसलिये छिपाना ठीक समझा कि कहीं वे उसे देखकर उसपर मुग्ध न हो जायँ। इसलिये वे उसे मलय पर्वतपर जाकर रख भाई और निल्य उसका शृङ्गार करनेके लिये वहाँ जाया करतीं। पार्वतीजीको इस प्रकार निल्य देरतक अनुपस्थित होते देखकर शिवजीके मनमें यह जाननेका कुतूहल हुआ कि पार्वतीजी जाती कहाँ हैं। एक दिन उन्होंने पार्वतीजीका पीछा किया और वहाँ उस गुड़ियाको देखते ही मुग्ध होकर उसमें प्राण डाल दिए।

“यन्त्रचालित पुतलियोंका और भी एक पुराना विवरण मिलता है। प्रसिद्ध काश्मीरी पण्डित सोमदेवके कथा सरित्सागरमें वर्णन है कि प्रसिद्ध शिल्पी मयदानवकी कन्या सोमप्रमाने अपनी सखी राजकुमारी कलिंगसेनाके लिये अपने पिताके हाथकी बनी हुई यन्त्रचालित पुतलियोंसे भरी एक टोकरी में उमँ लाकर दी थी। इन सब पुतलियोंमें एक-एक लकड़ीकी लूँटी लगी हुई थी। उनमेंसे एककी लूँटी झूँधी तो वह ऊपर उड़कर एक माला लेकर कहेनेपर लोट आती थी, दूसरी पानी लाकर देती थी, तीसरी नाचने लगती थी, चौथी बातचीत करने लगती थी। कठिन्नेसा इनपर इतनी लट्टू हो गई कि वह यमाना-धीना भूलकर दिन रात इनसे खेलती रहती थी। यद्यपि सामदेव तो ग्यारहवीं शताब्दीमें उत्पन्न हुए, ये किन्तु उनका यह ग्रन्थ गुणाढ्यकी बृहद्भक्त्या

(बहुम्हा) का संस्कृत रूपान्तर है जो भारतीय लोक-कथाओंका सबसे प्राचीन संग्रह है। यह ग्रन्थ अत्यन्त प्राचीन पैशाचिक प्राकृतमें लिखा गया था और दुर्भाग्यवश धमी तन प्राप्त नहीं हो सका है। इन बोलनेवाली गुड़ियोंको केवल कथकड़ोंके मतिपक्की उपज मात्र नहीं समझनी चाहिए।

“पुतलीका नाच सर्वसाधारणको बहुत रुचता है क्योंकि” उसकी उत्पत्ति भी तो उन्हीं लोगोंके (बद्धियों या शिल्पियोंके) हाथोंसे हुई है और इन पुतलियोंके नाचोंमें प्रायः प्राचीन कथाएँ ही दिखाई जाती हैं। डाक्टर फाउलरका पुतलिका नाटक इसका प्रमाण है।

“कामसूत्रमें भी जहाँ सामाजिक विनोदका उल्लेख है वहाँ पांचालयानम् अर्थात् पुचलिकाओंके अनुकरणका भी एक खेल दिया गया है जो व्याकरणके अनुसार इस प्रकार खेला जाता था कि लोग पुचलिकाकी घनि और त्रियाओंका अनुकरण करते थे। पूर्विय भारतमें विदेहकी राजधानी मिथिलामें इसका सबसे अधिक प्रचार है।

“बोलनेवाली पुचलिकाएँ भी रङ्गमचपर लाई जाती थीं” किन्तु नियम यह था कि वे रात्र यत्रसे नहीं चलती थीं वरन् उसे पुतली नचानेवाला डोरे (सूत्र) के सहारे चलाता था। बालरामायणके पचम अक्षमें दसवीं शताब्दीके राज-शेखरने मय अमुरके सर्वश्रेष्ठ शिष्य विशारद नामक शिल्पीके हाथसे बनाई हुई दो टुकड़ी पुतलियों उपस्थित की हैं। उनमेंसे एक सीता है जिन्हे रावण हर ले गया था और दूसरी हे सीताकी पालिता बहिन सिन्धुरिका। सीता बनी हुई पुतलीके मुँहमें एक ऐसी चिड़िया बैठा दी गई थी जो गत्र और पक्षमें धाराप्रवाह सस्रुत बोलती थी और स्वयं पुतली नचानेवाला जो राक्षस बना था, अन्य पुतलियोंकी धोरसे सस्रुत और प्राकृत बोलता था। राजशेखरके नाटकमें चिड़िया अपने पाठना निर्गम बधी सुन्दरतासे करती है। वे दोनों चिड़ियाँ वास्तविक सीता और सिन्धुरिकाका इतना अच्छा नाट्य करती थीं कि रावणने पुतलियोंकी सच्ची सीता और सिन्धुरिका समझ लिया था। उसे अपनी भूल तभी प्रतीत हुई जब उसने उस सीता बनी हुई पुतलीका गलेसे लगाया और कहा ‘इममा मर्गं स्त्रीके समान नहीं है’। इसके पश्चात् उसने अपने मनत्रहलायक लिये सब पुतलियों, अपने राजदरवारमें भँगवा लीं। यद्यपि यह घटना अवगमन सी है किन्तु हमें राजशेखरका वृत्त होना चाहिए

क्योंकि सम्पूर्ण भारतीय साहित्यमें राजशेखरका बालरामायण एक मात्र ऐसा प्रमाण है जहाँ सस्वृत नाटकमें पुतलियों रगमचपर आती हैं और इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उससे हमें दसवीं शताब्दीमें पुतली नचानेवालेकी सत्ताका भी परिचय मिलता है। यह सूत्रधार अर्थात् टोरा पकड़ने वाला कहा गया है और यह महाभारतमें वर्णित सूत्रप्रोत (डोरमें बधी हुई) पुतलियोंसे भी मेल खाता है और आजकल भी भारतमें पुतली नचानेवालोंको सूत्रधार कहते हैं।

“यह सूत्रधार शब्द ही इस बातका प्रमाण है कि पुत्तलिका नृत्यसे ही नाटक प्रारम्भ हुआ था। सस्वृत और प्राकृतक अत्यन्त कलापूर्ण नाटकोंमें नाटकके प्रारम्भमें नाट्य-प्रयोक्ता आकर नान्दी कहता है और नाटककी प्रस्तावना करता है। यह नाट्य प्रयोक्ता पुत्तलिका नृत्यके संचालकके समान सूत्रधार सूत्र पकड़नेवाला कहलाता है। सन् १८७९ में उच्च योरोपीय शिक्षा प्राप्त विद्वान् श्रीसंकर पांडुरंग पण्डित ने जो अत्यन्त युक्ति युक्त परिणाम निकाला था कि मनुष्योंसे पहले इन पुतलियों और कागजकी मूर्तियोंके ही नाटकीय प्रदर्शन हुआ करते थे यह अत्यन्त मान्य है। नहीं तो यह कल्पना ही असम्भव है कि जब नाट्य-प्रयोक्ता को सूत या डोरेका काम ही नहीं पड़ता तो प्रयोग ही कैसे हुआ। भारतीय नाटककारोंसे हमें यह ज्ञात होता है कि प्राचीन समयमें सूत्रधार नाटकके प्रारम्भमें आया करता था और एक छोटी सी प्रस्तावनाकी आयोजना किया करता था जिसमें नृत्य, गीत और वाद्य, या गीत और वाद्य अथवा इन दोनोंमें से किसी एक का प्रयोग होता था। प्रारम्भमें यह प्रस्तावना बहुत बड़ी हुवा करती थी किन्तु धीरे धीरे यह छोटी होते-होते छत हो गई। इन प्रस्तावनाके पश्चात् सूत्रधार चला जाता था और प्राचीन समयमें रगमचपर सूत्रधारसे मिलता-जुलता तथा नाटकीय विषयके अनुरूप वेशभूषा धारण किए हुए एक व्यक्ति आता था जो कविका नाम और नाटकीय विषयका परिचय दिया करता था। पर पीछे यह प्रथा भी उठ गई, यद्यत्कि आजकल जो नाटक मिलते हैं उनमें इनका कहीं पता भी नहीं मिलता। उनके बदले सब काम सूत्रधार ही कर लेता है जैसा रीतिप्रथाकारोंने मली प्रकार निर्धारित भी कर दिया है। उभयुक्त दूसरा नाट्यप्रयोक्ता स्थापक

स्थापित करनेवाला कहलाता था किन्तु अभी तक इस शब्द की ठीक-ठीक व्याख्या ही नहीं पाई है। इसके अतिरिक्त यह स्थापक शब्द देव-विप्रदोंकी प्रतिष्ठा करनेवाले पुरोहित के लिये भी प्रयुक्त होता था और रगमचपर भी प्रारम्भमें पुतलियोंको लकर खड़े करनेवालोंको स्थापक ही कहते थे। अतः नाटकोंका प्रारम्भ इन्हीं पुतलियोंके नाच-से हुआ है।”

॥ अमात्मकं हि तन्मतमित्याचार्याः ॥ १७ ॥

[यह भी मत भ्रमपूर्ण बताया ।]

अपने ‘ड्रामाज एण्ड ड्रैमैटिक डान्सेज ऑफ दि नॉन यूरोपियन रैसेज’ नामक पोथीमें पुतलीके नाचसे नाट्यकी उत्पत्तिका खण्डन करते हुए श्री रिजने महोदय लिखते हैं—

“पिथोलके मतानुसार भी यूनानमें पुत्तलिका नृत्य, नाटकके पश्चात् ही आरम्भ हुए और उनका प्रचार इस-से चार सौ वर्ष पूर्व यूनानके हासके समय हुआ। अतः कोई भी ऐतिहासिक प्रमाण इस बातका गवाही नहीं है कि पुत्तलिका-नृत्य अथवा यत्र-संचालित गुड़ियों यूनानी नाटकोंके पहलेकी थीं। अतः यह निर्विवाद है कि उनकी चलन बहुत पीछे ही हुई।

“राजशेखरके बालरामायणमें जो पुत्तलिकाका उल्लेख है उसे ऐसा पुत्तलिका-नाटक नहीं कहा जा सकता जिसमें पूरा अभिनय पुतली नचानेवालेके द्वारा ही कराया जाय और जो दृश्यके पीछेसे अपनी पुतलियोंके अनुसार बोलनेके अतिरिक्त स्वयं नाटकके अभिनयमें कोई प्रमुख भाग लेता हो। बालरामायणके दृश्यमें सीता और उनकी पति बहिन मिन्दुरिका तो पुतलीके रूपमें थीं किन्तु पुतली नचानेवाला स्वयं रावण बना था। अतः यद्यपि पुतलियों रगमच पर आती हैं किन्तु वे तो रावण राजाके घोड़ा देनेके लिये लाई जाती हैं, पूर्ण पुत्तलिका नाटकके आवश्यक मापनका अंश बनकर नहीं। दूसरे शब्दोंमें सीता और मिन्दुरिका बननेवाली पुत्तलिकाओंके चतुर्ग मिल्कीके हाथके खिलाँने मात्र समझने चाहिये। स्वयं पिथोलने भी कथाकारोंमें आए हुए पुत्तलिका-नाटकका यह बात मानी है। पुत्तलिका नाटक राजा मुन्दुरके अंगे उस पुत्रके अमरचन्द्रके विवाहके उपलक्ष्यमें खेन्द्र

गया था। उसमें पुत्रिका शब्दका प्रयोग पुतलीके लिये और एन पीछेके उल्लेखमें 'दादा' शब्द चार पुतलियोंके लिये आया है जहाँ ये पुतलियों कथासंगित्सागरकी पुतलियोंके समान (कालिकाः) कीलसे चलाई जाती थीं। इनके सजानेवाले मेघन वैराकर कहलें न थे। पुतली नाटकका स्वामी 'नर्तक' कहलाता था और यह नर्तक शब्द वाक्यमें प्रयुक्त हुए अन्य शब्दोंकी भाँति पुत्तलिका नाटक से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं रखता। डा० पिंशेलने टीक ही कटा है कि इस उद्धारणा पुतलियोंके अभिनयसे सम्बन्ध नहीं रखे यह तो पुतलियोंके नृत्यमात्रका प्रदर्शन है अथवा यों कह सकन हैं कि यह यन्त्र चालित पिस्तौनोंकी प्रदर्शनी मात्र है।

'नाटकके सूत्रधार शब्दका सम्बन्ध पुतली नचानेवालेसे जोइन्टर श्री शंकर पाण्डुरङ्ग पंडितने जो अनोखा मत प्रतिपादित किया है और जिसे विशेष महोदयने स्वीकार कर लिया है वह भी अत्यन्त अभ्रमाणिक है। पहली बात तो यह है कि पुत्तलिका नचानेवालेके लिये सूत्रधार शब्दका प्रयोग विनमयी नवीं शताब्दीके नाटककारने किया है और यह बात सम्भवतः नाटकोंके स्वर्णयुगके बहुत पीछेका है। यह कोई कारण नहीं है कि पुत्तलिका नाटकसे पहले नाट्यप्रयोगके लिये सूत्रधार शब्दके प्रयोगकी सम्भावना न हो क्योंकि इस समयमें बहुत पहले यन्त्र-चालित गुड़ियोंका प्रयोग हो चुका था और जैसे उन यन्त्र-चालित गुड़ियोंको कोई व्यक्ति डारि खींचकर या बूटियों छूकर मनचाहे ढंगसे संचालित कर सकता था उसी प्रकार सजीव अभिनेताओंको संचालित करनेवाला नाम भी सूत्रधार पड़ सकता है। फिर कथा-क्रोममें वर्णित पुत्तलिका-नाटकमें संस्कृत शब्द नर्तक (नाचनेवाला) पुत्तलिका-नाटकके संचालकके लिये आया है। इससे ज्ञात होता है कि पुतली नचानेवालेके लिये पुराना शब्द नर्तक ही था और नाट्यप्रयोगके लिये सूत्रधार शब्दका प्रयोग बहुत पीछे हुआ।

“डाक्टर पिंशेलने नाटकीय क्रोममें पूर्वर्ग प्रस्तावना या 'कर्टेन रेजर'को तथा मुख्य भारतीय नाटकोंको इसी आधारपर पुत्तलिका-नाटकसे निकला हुआ बताया है कि व्यवस्था करनेवाला सूत्रधार कहलाता है और नाटकी प्रस्तावना करनेवाला म्याक कहलाता है और यह स्थापक शब्द फेवल

उन पुरोहितोंके लिये प्रयुक्त होता है जो देव-निग्रहोंकी स्थापना करते हैं। यदि हम यह भी मान लें तब भी यह निर्विवाद है कि पुरोहितोंके हाथसे देवताओं या वीरोंकी मूर्तियों प्रतिष्ठित करनेका व्यवहार पुत्तलिका नाटक या पुतलियोंके खेलमें बहुत पर्यटकीय बात है और स्थापक शब्दसे यही तर्क सुष्ट हो सकता है कि गम्भीर नाटक देवताओं और वीरोंकी मूर्तियोंकी पूजासे ही उत्पन्न हुए थे। यह सम्भव है कि सूत्रधार शब्द पूर्वर्ग प्रस्तावना (कर्टेन रेजर) के व्यवस्थापकके लिये प्रयुक्त होता हो। क्योंकि धाजक भी चीनमें नाटक होनेसे पहले पुतलीका खेल दिपललनेकी चलन है। किन्तु ब्रह्मा और चीनके नाटकोंका उद्भव भी इन पुत्तलिका नाटकोंसे नहीं हुआ वरन् पुत्तलिका नाटक और छाया-नाटक शुद्ध या वास्तविक नाटकके सस्ते प्रदर्शन मात्र हैं।”

● नेदमित्यभिनवभरतोऽपि ॥ २८ ॥

[हम भी यह मत नहीं मानते ।]

पुतलियोंसे नाटकके उत्पन्न होनेकी बात स्वतः अस्वाभाविक है। मनुष्यने पहले अपनी वाणी, अपनी कथा, अपनी बौद्धिक चेतना और अपना व्यवहार स्थिर किया हागा क्योंकि पुतलीके उत्पन्न होनेसे तो सविधानक या कथानुसृत आवश्यक होती है और कथावस्तुकी रचना के साथ यह भी निर्णय करना होता है कि पुतलियों क्या क्या कहेंगी और क्या क्या करेंगी। यह कहने और करने का सम्युक्त रूपक पहले किसी मनुष्यके मास्तिष्कमें आता है और यह तभी सम्भव है जब उसे लोकमें उस प्रकारके प्रत्यक्ष सत्कार मिलना हो। अतः पुतलियोंके नाच का नाटक का पूर्ववर्तमाना ही नहीं जा सकता।

दूसरी बात यह है कि मनुष्यके सम्युक्त ब्रौह्म-साधन वास्तविक प्रकृतिसे छोटे, समान या बड़े प्रतिरूप होते हैं। बालकोंके लिये हाथी, घोड़े, ऊँट, गाड़ी आदि खिलौने तभी बनते हैं जब मुश्किलें हाथी घोड़े देखे हों या उनका वर्णन सुना या पढ़ा हो। जैसे यह सम्भव नहीं है कि खिलौनोंके बन जानेपर ही वास्तविक हाथी घोड़े उत्पन्न हुए वैसे ही यह कहना भी असंगत है कि पुतलियोंके नाच को देखकर मनुष्यके मनमें रचनेवाले या नाटक करने की भावना आई हो। वास्तविक बात यही है कि नर्तकों

एकत्र करने और उनका संस्करण करनेमें अधिक व्यय देखकर किसी निर्धन नाटक प्रेमीने लोगोंका नाटकका मन्ता प्रतिरूप दिव्यानेके लिये पुतलियोंके नाचकी व्यवस्था की होगी। यदि पुतलियोंका नाच प्राचीन होता तो प्रत्येक वस्तुका सूक्ष्म वर्गीकरण और विस्तरेण करनेवाले ऋषियोंने पुतलिका नृत्यके भी धनेक भेद-उपभेद गिना दिए होते।

सूत्रधारका पुतली नचानेवाला कहनेमें पूर्व डा० पिगेल-को मसूहतेके मत्र अर्थ और उनके प्रयोगोंपर भी विचार कर लेना चाहिए। सूत्र और सूत्रधार शब्द हमारे साहित्यके विशेष शब्द हैं। प्रत्येक शास्त्रकार अपने सिद्धान्तोंको सक्षिप्त करके सूत्र रूपमें लिखता था और यह भी निश्चय है कि वह शास्त्रके सूत्र बनानेमें सूत्रके डारेका प्रयोग नहीं करता था। केवल विद्वानोंकी सुविधाके लिये इसलिये सक्षेपमें कह देता था कि वे सरलतासे स्मृतिमें सुरक्षित किए जा सकें। सूत्र धातुका अर्थ ही है बाँधना। जैसे फैली हुई वस्तुओंको एकत्र करके हम लोग एक रस्तीमें या गठरीमें बाँध देते हैं वैसे ही ऋषि लोग बहुत लम्बे लंबे वक्तव्योंको एक छोटेसे सूत्रमें बाँध देते थे। इसीलिये कहा भी गया है—

तथा च सञ्चते हि भगवता पिङ्गलन, जैमिनिर्वा
इदमपि धर्मलक्षणमसूत्रयत् । [भगवन् पिङ्गलने इस प्रकार सूत्रमें कहा है, जैमिनिने यह भी धर्मका लक्षण सूत्रमें कह दिया है।] इसी सूत्र धातुका अर्थ होता है व्यवस्था करना, क्रमसे लगाना, योजना बनाना जैसे मालवीमध्व नाटकके प्रथम अक्षमें कहा गया है—

तन्निपुण मया विसृष्टार्थं दूतीकृत्यः सूत्रायनव्यः ।
[दूती बनकर काम करनेका जो भार मुझे सौँपा गया है उसे पूरा करनेकी ठीक योजना मुझे बना लेनी चाहिए ।]

सूत्रकी व्याख्या भी यह की गई है—
स्वल्पाक्षरमसद्विन्धं सारवद्विश्यतामुष्णम् ।
अस्तोममनवयं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥
[जिसमें थोड़े और निश्चित अक्षर हों। किसी साध-
र्मम सिद्धान्तका तत्त्व हो, अर्थमें किसी प्रकारकी बाधा

न हो और निर्दोष हो उम कथनको सूत्रकार लोगोंने सूत्र कहा है ।]

अतः सूत्रधार शब्दके बलपर पुतलियोंसे नाटककी उत्पत्ति सिद्धान्त निकालना भी अत्यन्त अप्रामाणिक है। शारदातनयने अपने भावप्रकाशनमें नाट्य-प्रयोग-भेद-प्रकार-विशेष-निर्णय नामक दशम अधिकारमें सूत्रधार शब्दका निर्वचन इस प्रकार किया है—

सूत्रयन्त्रायनिश्चिन्तयन्सुतेनृकथा-रमान् ।

नान्दीश्लोकेन नान्यन्ते सूत्रधार इति स्मृतः ॥

[जो व्यक्ति काव्य (नाटक) में आई हुई कथावस्तु, नाटकके नायक, तथा नाटकके रसोंका वर्णन सूत्र रूपमें, सक्षेपमें करता है उसे सूत्रधार कहते हैं]। भरत मुनिने भी अपने नाट्यशास्त्रके 'भूमिका-पात्र-विकल्प' नामक ३५ वें अध्यायमें सूत्रधारका वर्णन करते हुए लिखा है कि—

आशीर्वादनयुक्तेर्मधुरैर्वर्त्यैश्च स्वमङ्गलान्वारैः ।

सर्वसौति हि लोकं यस्मात्समाद्भवेद् नान्दी ॥७४॥

नान्यो बहुधासिन्धुर्णां वदति यतो नाट्ययोगं तु ।

प्रकृतसम्भृतपाथ्यैर्नान्दी नामैव विज्ञेयः ॥७५॥

गान्धय च वाग्दश पाठ्य याग्येकभावविहितस्य ।

शब्दोपदेशयोगान् सूत्रज्ञः सूत्रधारस्तु ॥७६॥

[अशीर्वादम युक्त मधुर वक्तव्यों और मङ्गलान्वारके साथ सब लोगोंकी स्तुति जिसमें टानी है उसे नान्दी कहते हैं। इसमें बहुत कुछ नहीं करा जाता क्योंकि प्राकृत और सम्भृत दोनों भाषाओंके कवि नाट्यके इस प्रसङ्गको नान्दी ही करते हैं। गीत बाद्य और पाठ्य सबको समान रूपसे जाननेवाले तो तथा शास्त्रके अनुसार उनका प्रयोग करनेवाले व्यक्तिको सूत्रधार करते हैं।]

सूत्रधारका गुण बताते हुए भी भरत मुनिने लिखा है—

तत्र सूत्रधारगुणान् वक्ष्यमः । पुण्याभिधानमेव तल्लक्षण

अभिमत वाक् सस्वाराः तालयिथानशता स्वरवादित्रतस्त्र-
वेदनञ्च ।

चतुरातोयकुचलः शास्त्रकर्म-मुनिश्चितः ।

नान पण्डक.यज्ञो नीतिशास्त्रार्थ-नररगिव् ॥८५॥

वे शोपचार-निपुणः कामशास्त्र-विचक्षणः

नाना गतिचचारज्ञो रसभाव विशारदः ॥८६॥

नाट्यप्रयोगकुशलो नानाशिल्प-समन्वितः
पाठच्छन्दोनिधानज्ञ सर्वशास्त्र-निचक्षणः ॥४७॥
ग्रहनक्षत्रतरणज्ञो देहव्यापारगणितः ।
पृथिवीद्वीपगणार्था पर्वत नां जनस्य च ॥४८॥
प्रमाणचरितज्ञश्च राजवश-प्रवृत्तिवान् ।
श्रोता शास्त्रार्थराराणां श्रुत्या चैवावधारकः ॥४९॥
अन्यथायं प्रवक्ता च शक्तश्चैवोपदर्शने ।
एव गुणस्तथाचार्यः सूत्रधारो विधीयते ॥५०॥
स्वभाविकान् गुणान् चैव गदतां मे निगोधत ।
स्मृतिमान् मतिमान् धरी उदारः स्थितशक् कविः ॥५१॥
अरोगो मधुरः धान्तो दान्तश्चैव प्रियवदः ।
मन्युदोपविनिमुक्तः सत्यशक् दुष्णिगः शुचिः ॥५२॥
[अग्रे सूत्रधारके लक्षण बतलाते हैं । उसका लक्षण

यह है कि प्रारम्भमें मंगलाचरण रहे, इच्छित वाणीका सस्वार हा, ताल, स्वर, बाजे इत्यादिका पूरा ज्ञान हो । चारों प्रकारके बाजे बजानेमें चतुर हो, शास्त्रका व्यवहार मली भौति जानता हो, अनेक प्रकारका ढाँग कर सकता हो, नीति और शास्त्र समा में ज ननेवाला हो, बे-याधोँसा आदर करनेमें निपुण हो, कामदा न्न भगी भौति जानता हो, अनेक प्रकारके गीताभा मि तार जानता हा तथा रस और भावमें मली भौति समझता हा, नाटक मन्दमें ही सन क्रियाएँ मली भौति जानता हो, अनेक प्रकारके शिल्प जानता हो, विंगल और छन्दके नियम जानता हो, सब शास्त्रोंम पण्डित हो, ग्रहों और नक्षत्रोंकी चाल समझता हो, शरीर की सब गतियाँ ज नता हो, पृथ्वी, क्षीर, वर्ष पर्वत, जनता तथा राजकुलके लोगोंके प्रामाणिक जीवनचरित जानता हो, श श्त्रके अर्थ करनेवालोंकी बात मली भौति सुनता हो, सुनकर समझत हो, समझकर उसका प्राचन करता हो और उसका प्रदर्शन कर सके, वे सन् गुण जिसमें हाँ वह सूत्रधार हो सकता है । आगे मैं सूत्रधारके स्वाभाविक गुण बतलाता हूँ । सूत्रधारको मेधावी, बुद्धिमन्, धैर्यवान् उदार, अपनी बातका पक्का, कवि, स्वस्थ, मीठा बालनेवाला, शान्त, सदाचारी प्रियवक्ता, कभी क्रोध न करनेवाला, सत्य बोलने वाला, समस्त समान व्यवहार करनेवाला, उदार, पतिव्रत प्रातिक अवसरमें भी निर्दोषी होना चाहिए । 'नञ्जराज यशामृग' के रचयिता अभिनव काठियावाणे भी सूत्रधारका लक्षण बतलाते हुए कहा है कि नेताके गुणोंमें तथा करिनी

रचनाको जो सूत्र रूपमें वर्णन करे और रमण्यकी सजावट करनेमें चतुर हो वह सूत्रधार कहलाता है—

आसूत्रयन् गुणानेतुः श्वेरोपि च वस्तुनः ।
रङ्गप्रसाधनप्रौढः सूत्रधार इतीरितः ॥

यदि ये परिभाषाएँ विशेष महोदयको ज्ञात होतां तो वे कभी न सोचते कि सूत्रधार शब्द केवल पुतलीकी डोरी पर झड़कर नचानेवालेको करते हैं ।

छायानाटकसे नाट्यकी उत्पत्ति

१ छाया नाटकात्नाट्योत्पत्तिरित्यपरे ।

[नाट्य हुआ छाया नाटकसे यह भी हे मत एफ ।]

डा० पिगेलने एक और मत भी प्रतिपादित किया था जिसको आचार्य व्यूटरसनने नाटकोंके विकासमें ध्यान रख करण माना है और जिसका समर्थन डॉक्टर बोनोने भी किया है । इस मतके अनुसार छाया-नाटकोंसे ही नाटकोंकी उत्पत्ति हुई । इसका कहना है कि मलया, कम्बोडिया, स्याम, चीन, त्रिशा, जापान, अरब, लघु एशिया और उत्तरी अफ्रीका में छाया-नाटकका बड़ा प्रचार है ।

यद्यपि मसूतके नाट्य लक्षण प्रथममें छाया नाटकका उल्लेख नहीं है फिर भी स वृत्तमें सात नाटकोंका विवरण मिलता है जिनमें सर्वप्राचीन तथा प्रकाशित दूत इन्द्र नाटक है जिसकी कथा रामायणमें ली गई है । श्री सेथिल बर्डलगे यह सिद्ध किया है कि यह नाटक गुजरातके शासक अन्हिलनाड या अन्हिलपुर वंशके चालुक्य राजा कुमार-पालदेवके अभिनवन्दनार्थ एक उत्सवमें सन् ११४३ और सन् ११७२के बीचमें खेला गया था । यह उत्सव काठियावाड़के सोमनाथ या देवप्रदनके शिवमन्दिरके जीर्णोद्धारके समय खेला गया था और यह धूलि उत्सवके दिन ७ मार्च सन् १२४३ की घटना है । दूताइन्द्रके दो पाठ मिलते हैं । एक तो ऐसा है जिसमें नाटक तथा प्रख्यात्मक कविताकी विचित्र मिश्रणी है और दूसरा छोटा पाठ तीन दृश्योंमें विभक्त है जिनमें रामायणकी अगद वैजनाली घटनाके तीन चार दिनोंका वर्णन है । छाया नाटकका अर्थ बहुत दिनोंसे स्पष्ट नहीं था । श्रीविलसनने अपने 'सेन्ट्रल स्पेसिमन्स ओफ दि थियेटर ओफ दि हिन्दूज के द्वितीय खण्डमें' यह करना की है कि छाया नाटक "नाटकके ढाँचे

या रूपरेखा" को कहते होंगे और दूताङ्कद नाटकको सम्भवतः किसी उत्सव-यात्राके दृश्यकी प्रस्तावनाके लिये रचा गया होगा। नहीं तो इतना छोटा सा नाटक रचा ही क्यों जाता।

प्रोफ़ेसर लेवीने भी अपने 'थियेन्ट्रिज् इन्ट्रिज्' में बहुत संकीर्णके साथ यही बात मानी है। श्रीपिरोल्लने भी अपने 'गौट्टिगिश गेलेहर्टे औनजौरगेन'में कहा है कि छाया-नाटकका अर्थ सम्भवतः अर्द्धनाटक होगा। किन्तु एक बहुत सुन्दर छोटेसे लेख 'इस थल्टिन् डिरोनाटेन्स-पौपेत्' में यह दिखलाया है कि छाया नाटकका शुद्ध और केवल अर्थ छाया द्वारा नाटक दिखाना है। नीलकण्ठने महाभारतकी टीकामें रूपोपजीवनपूर्वी व्याख्या करते हुए इस प्रकारके नाट्यीय प्रयोगोंका उल्लेख किया है। उन्होंने कहा है कि रूपोपजीवनको दक्षिणात्य लोग जलमण्डपिका कहते हैं जहाँ बीचमें एक महीन कागडा दौंगकर चमड़ेकी मूर्तियों द्वारा राजाओं, मन्त्रियों आदिका अभिनय दिखलाया जाता है।

रूपोपजीवन जलमण्डपिनेति दक्षिणात्येषु प्रसिद्धम् यत्र दक्षम वस्त्रं व्यवधाय चर्ममयराजैः राजामालादीनां चर्या प्रदर्श्यते ॥

दीपककी सहायतासे दिखलाए जानेवाले सर्वप्राचीन रूपका दूताङ्क ही कमसे कम न्यायतः उत्तराधिकारी है और इस प्रकारका सर्वप्राचीन भारतीय उदाहरण है, चाहे उसमें पुतलियोंकी मूर्तियोंकी छाया दिखलाई जाती हो या वास्तविक अभिनेताओंकी।

● प्रमाणाभावाच्छायानाटकप्रधान्यमग्राह्यम् ॥११॥

[छाया-नाटककी प्रधानता नहीं प्रमाणित हो पाई]

छाया-नाटकसे नाट्यकी उत्पत्ति माननेवालोंने केवल आकाश-कुसुम खानेका प्रयत्न किया है क्योंकि एक तो दूताङ्कद बहुत दिन पीछेका है और फिर यदि छाया-नाटक जैसा नाटकका कोई मेद होता तो नाटकके अन्धमें कहीं न कहीं उसका उल्लेख होता। दगनों शताब्दीके पीछे शारदातनयने केवल भारतके ही नहीं बरन् अनेक आचार्यों का मत समझ करके भावप्रसादानम् नामक महानाट्य ग्रन्थ लिखा है किन्तु उसमें भी छाया-नाटककी कहीं छाया नहीं मिली। छाया-नाटकका अर्थ यही हो

सकता है कि या तो वे उसी नामके किसी बड़े नाटकके लिये हुए छोटे नाटक हों या किसीके काव्यका कोई नाट्यीय अंश इस प्रकार ले लिया गया हो कि भाव उसके हों, केवल मध्या नाटककारकी हो क्योंकि छायाका अर्थ केवल प्रसादा पड़नेसे वास्तुके पीछे पड़नेवाली छाया का लिये ही नहीं है बरन् छायाका अर्थ प्रतिरूप और समानता भी तो है। अतः प्रमाणके अभावमें ही यह मत अमत्त हो जाता है।

वीर पुरुषोंका आदर ही नाट्योत्पत्तिकका कारण—

● वीरसमादर एव नाट्योत्पत्तिकारणमित्येके ।

[वीरोंकी पूजासे ही हे हुआ नाट्यका जन्म, एक मत]

डॉक्टर रिजवने अपनी "डामाज एण्ड ड्रैमैटिक टान्सेज ऑफ नौन गार्गेपियन रीजेज" नामक पुस्तकमें नट्यकी उत्पत्तिके सत्र सिद्धान्तोंका खण्डन करके और मन्वृत नाटक, रामलीला, रासलीला और यथाके उत्पत्तिको अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण विवेचन करके निम्नलिखित निष्कर्ष निकाला है।

(१) राम और सीताकी कथा भारतके सत्र विभागों में तथा जावा, ब्रह्मा मलेशिया, इन्डोनेशिया और म्याममें अत्यन्त लोकप्रिय है।

(२) महाभारतकी कथा तथा श्रीकृष्णचरितके आधारपर मथुरा आदि स्थानोंमें नाटक या नाट्योत्सव किए जाते हैं।

(३) राम और बृष्णके धार्मिक चित्रणके चरित्रपर भी नाटक क्ये जाते हैं जैसे भक्त, महाद, शिष्य-कनिपुत्रा वष आदि।

(४) इन पौराणिक वीरोंके धार्मिक ऐतिहासिक वीरोंके चरित्र भी नाटकके द्वारा दिखलाए जाते हैं जैसे तेंदुगु प्रदेशमें रामदास और नन्दके चरित्र, पञ्जाबमें गोर्गलन्द, पूरन भगत, इकीरके अथवा राजपूतानेमें दोगामरू, इन्दुल, हीर रौला, राणाप्रताप, गिरावा आदिके।

(५) वीर पुरुषोंके जीवनको निरन्तर स्मरण करते रहनेकी प्रथा प्रारम्भसे अवतक हिन्दू नाट्यकी मूल प्रेरणा

रही है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि ग्यारहवीं शताब्दीमें तजौरके चोल राजा राजराज प्रथमने एक सुन्दर शिवमन्दिर बनवाकर उसमें एक नाट्यमण्डली स्थापित कर दी थी जिसका कर्तव्य हो यह था कि वह प्रतिपन्न नियमित रूपसे राजराज नाटक खेला करे, जिसमें समस्त राजराजके परक्रमका ही वर्णन होता होगा। इन सब बातसे यह निश्चय होता है कि नृत्य, प्रदासि स्तम्भ और मूर्ति आदि साधनोंके साथ साथ किसी व्यक्तिके कठों या परक्रमोंका नाटक खेलना भी उस विशिष्ट व्यक्तिके प्रति आदर दिखानेका एक प्रमुख साधन माना जाता था।

(६) हिन्दू नाटकोंमें अब भी अपना धार्मिक स्वरूप नहीं छोड़ा है और ये नाटक प्रारम्भमें भी ऐसे ही रहे होंगे जिन्होंने अपने जीवनकालमें अपने भाग और प्रभावसे अपने समकाली समाजको प्रभावित किया।

(७) अतः यह निश्चय है कि इन कथाओंका नाटकीय स्वरूप देनेका प्रधान तत्त्व यही है कि वीरोंके परक्रमों और कथोंकी स्मृति समाजमें बनी रहने दी जाय।

उपर्युक्त मतकी अमान्यता

● नेत्यभिनवमरतः ॥ २० ॥

[अभिनव मरत अमान्य समजते ।]

डाक्टर रिचवने उपर्युक्त मतका प्रतिपादन यूनानी प्रसदोंकी उत्तराधिके सम्बन्धमें किया था पर पीछे उन्होंने उसी मतको भारतीय नाटककी उत्तराधिके लिये भी मान्य कर दिया। अपने मतका समर्थन करते हुए उन्होंने भारतीय नाट्य-साहित्य, काव्य साहित्य, रामलीला, कृष्ण-लीला तथा याना आदिका अत्यन्त विस्तृत विवेचन करते हुए यही दिखलाया है कि इन सब नाटकीय प्रवृत्तियोंके पीछे मृत वीर पुरुषोंके प्रति आदर दिखलानेकी ही भावना है। किन्तु यह मत सर्वथा भ्रामक न होते हुए भी अगतः भ्रामक है।

गोस्वामी तुलसीदासजीने काशीमें रामलीलाका प्रचार प्रमीलिये किया कि इस बहने लोग भगवान् रामकी लीलाओंको स्मरण कर सकें और रामका चरित लोक-कल्याणका साधन बन सकें। इसी भावनासे भगवान् श्री कृष्णकी लीलाओंका प्रचार हुआ। किन्तु इन प्रवृत्तियोंके

पीछे मृत वीर पुरुषोंके प्रति आदर दिखलानेकी भावना नहीं थी। उनका उद्देश्य था कि भगवान्के चरितका कीर्तन, स्मरण और श्रवण करके मनुष्यको मुख शान्ति और मुक्ति मिले क्योंकि नौ प्रकारकी भक्तिमें कीर्तन, श्रवण और स्मरण भी है और इसमें नाटकक भी समावेश हो जाता है। श्रीमद्भागवतमें नवधा भक्ति इस प्रकार बताई गई है—

श्रवण कीर्तन विष्णोः स्मरण पादसेवनम्।

अर्चनं चन्दन दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥७११२३॥

[विष्णुका गुण सुनना, बार-बार कहना, स्मरण करना, उनके चरणोंकी सेवा करना, उनकी पूजा करना, उन्हें प्रणाम करना, उनके दास बने रहना उनसे मित्रताका नाता जोड़ना और अपनेको उन्हें सौंप देना—यह नौ प्रकारकी भक्ति होती है।]

इस नौ प्रकारकी भक्तिमें श्रवण, कीर्तन और स्मरणके भीतर राम कृष्ण, परशुराम, नृसिंह आदिकी कथाओंका भी समावेश हो जाता है। जिन्होंने रामलीलाका संचालन किया होगा वे जानते होंगे कि रामलीला या कृष्णलीलामें पाठ करनेवाले राम या कृष्णके स्वरूपोंकी पहले पूजा की जाती है और उनमें देवत्व भावनायुक्त प्रतिक्रिया की जाती है। यद्यत्कि इतुमान या मुनीव बननेवाले अभिनेता-गणकी भी व्यवस्थित रूपसे पूजा की जाती है और जबतक वे उस विशिष्ट वेशमें रहते हैं तबतक लाभ उनमें तद्वत् देव भावना रहते हैं। अतः इन लीलाओंको नाटकीय न समझकर इन्हें भक्ति सम्प्रदाय द्वारा स्वीकृत ईश्वर प्राप्तिकी साधनाका एक अंग समझना चाहिए।

इसके अतिरिक्त सङ्घतके प्रायः १४ गार-परक नाटकों और प्रहसनोंमें वीरता या पराक्रमका प्रत्यक्ष अभाव ही होता है और यदि वहाँ वीरताका उल्लेख भी है तो वह केवल नायिकाके लिये नायककी योग्यता सिद्ध भर करनेके लिये है। उनके चरित भी ऐसे नहीं हैं जिन्हें लोकके लिये आदर्श माना जा सके। भासका प्रतिज्ञा-यौगन्धरायण या स्वप्नरासवदत्ता या कालिदासके अभिशप्तनाड्युत्तल या विक्रमोर्वशीयमें कौन-सी ऐसी वीरताका वर्णन है, कौन-सा ऐसा परान्तम प्रदर्शित कर,या गय, है जिसकी स्मृति बनाए रखनेके लिये भ्रस या कालिदासने अपनी

लोक विश्रुत प्रतिभाका प्रयोग करके अपने नाट्योंकी रचना की हो ।

मालविकाग्निमित्र या रत्नावली नाट्यकमें ही राजाओंके प्रेम व्यंग्यरसके अतिरिक्त और क्या है ? इसी प्रकार सूत्रकके मूढ-वृत्तिकमें भी वह कौन सा असाधारण पराक्रम या गौरव है जिसे समाजमें आदर्श रूपसे प्रतिष्ठित करनेके लिये नाटकका प्रणयन किया गया हो । भवभूतिके उचरारामचरितमें रामके मुँहसे—

स्नेह दया तथा सौख्य यदि वा जाननीमपि
भारप्रनाय लोकस्य मुञ्चतो नस्ति मे व्यथा ॥

[यदि मुझे प्रजाकी सेवा करनेमें स्नेह, दया, सुख अथवा जानकी भी छोड़नी पड़े तो मुझे दुःख नहीं होगा ।] कहलाकर जो रामको बलाया है उससे भी बहुतसे विद्वान् सन्तुष्ट नहीं हैं क्योंकि रामकी इस प्रतिभाका सम्पूर्ण महेश उनके विचारमें धुल जाता है औ—

वज्रादपि कठोरणि मृदूनि कुसुमादपि
लोकोत्तराणां चेतांसि को न विज्ञातुमर्हति ।

[संसारमें निराले वा महापुरुष होते हैं उनके वज्रसे भी कठोर और फूलसे भी कामल हृदयोंको कौन पहचान सकता है ।] कहलाकर जो दोग-परिहार करनेकी चेष्टा की गई है वह भी नितान्त भोयी है । अतः नाटक लिखनेकी प्रवृत्तिके मूलमें और चाहे कुछ भी रहा हो किन्तु मृत वीरोंके प्रति आदर दिखानेकी और नाटककारोंकी प्रवृत्ति कभी नहीं थी । यदि यह बात होती तो रामलीला राम-नवमीसे हुआ करती और कृष्णलीला कृष्णाष्टमीसे, किन्तु वादायी प्रसिद्ध रामनगरकी लीला भाद्रपद शुक्ल अश्विन चतुर्दशीसे प्रारम्भ होकर आश्विन शुक्ल विजयादशमीतक चलती है और कहीं-कहीं थोड़ा और पीछेसे प्रारम्भ होकर कार्तिकतक चलती रहती है और रासलीला या कृष्णलीला तो चाहे जत्र होती रहती है । वादायी अस्ती-पाथर गोस्वामी तुलसीदासजीकी स्थापित की हुई कृष्ण-लीला भी कार्तिकमें होती है ।

सदृश नाट्योंके प्रारम्भमें जहाँ रचना और रचयिताका परिचय दिया जाता है वहाँ अथसरका भी परिचय दिया जाता है किन्तु किसी भी नाटककी प्रस्तावनामें यह नहीं कहा गया है कि भगवान् रामकी स्मृतिसे चिरस्थायी

करनेके लिये या कृष्णजीका आदर करनेके लिये नाटककी रचना हो रही है । उन संभ्रमों यही कहा गया है कि अमुक राजाको अपनी नाट्यरसासे प्रसन्न करनेके लिये या सभासदोंको प्रसन्न करनेके लिये ही नाट्योंकी रचना हुई है । यह पहले ही कहा जा चुका है कि नाट्यकी उत्पत्ति मनोविनोदके लिये हुई थी, किमी मृतका आदर करनेके लिये नहीं ।

यया प्रकृति-परिवर्तनका प्रतीकारमक रूप नाट्य है ?

● प्रकृतिभावात्मक नाट्यमित्यपरे ॥ २२ ॥

[प्रकृतिके परिवर्तनोंका भाव होता नाट्यमें ।]

रिजवे महोदयके उपर्युक्त मतका उलटन करते हुए श्री वीथने एक अनोखा ही मत सुहाया है । वे करते हैं कि प्रकृतिमें जो अनेक प्रकारके परिवर्तन होते हैं जैसे जाड़ा, गर्मी, वर्षा आदि, उन्हींका भावात्मक रूपमें दिखानेकी भावनासे ही भारतीय नाट्योंकी रचना की गई है । महा-भयमें दिष्ट हुए कथवच नाटकके उल्लेखका निर्देश करते हुए श्री वीथने लिखा है कि उस नाटकमें कम और उसके अनुयायी काल कपड़े पहने हुए थे और वृष्ण तथा उनके अनुयायी लाल कपड़े पहने हुए थे । इस वर्णन-द्वारा कविने कसरुपी हेमन्तर वृष्णरुपी प्रीमणकी विजय दिखलाई है और यह विजय उद्भिज प्रकृतिके वास्तविक जागरणका भावात्मक या रूपकात्मक प्रदर्शन है ।

● स्वयममतीकृम् ॥ २३ ॥

[स्वय उन्हींने अमत किया है ।]

यय वीथने ही अपने पीछेके ग्रन्थोंमें अपने इस मतको अमान्य मान लिया है अतः इसका निचार करना ही अनावश्यक है ।

इन्द्रध्वजोत्सवसे नाट्यकी उत्पत्ति—

● इन्द्रध्वजोत्सवाद्वाद्योत्पत्तिरिति कश्चिन् ॥ २४ ॥

[कोई करते इन्द्रध्वज उत्सवसे नाट्य प्रभूत ।]

बहुतेसे विद्वानोंने यूनानी नाट्यकी उत्पत्तिका विवेचन करते हुए यह सिद्ध करनेकी चेष्टा की है कि मर्द मासकी पहली तिथिसे योगोंमें जा मर्द दिवसोत्सव मनानेके लिये किसी युवाका पुत्र उद्भूत करके उसे मर्दकी रानी बनाकर एक (मे पोल) मर्दका बँस गाइकर उसके चारों

और लोग नाच-गाना करते और मे पोल उत्सव मनाते हैं उसीसे नाट्यकी उत्पत्ति हुई है। इसी आधारपर एक विदेशी विद्वानने नेपाल राज्यका इन्द्रध्वज महोत्सव देखकर यह कह डाला कि जैसे नेपोल दुसरे यूनानी नाट्यकी उत्पत्ति हुई वैसे ही इन्द्रध्वज उत्सवसे भारतीय नाट्यकी उत्पत्ति हुई।

उक्त मतका खण्डन

० भ्रांतिपूर्वमिदं मतम् ॥ २५ ॥

[भ्रान्तिपूर्व है उनका यह मत ।]

नेपोल उत्सव और इन्द्रध्वज उत्सवमें न उद्देश्यका, न भावका, न क्रियाका, न रुद्धिका, न और ही किसी प्रकारका सम्बन्ध है। यदि उक्त विद्वानने इन्द्रध्वज महोत्सवकी उत्पत्तिका उद्देश्य समझनेका कष्ट किया होता तो उन्हें इतना भ्रम न होता। भाद्रपद शुक्ल द्वादशीके दिन इन्द्रको सन्तुष्ट करनेके लिये ध्वज-दानका विधान भारतीय परपरामें है। रीति यह है कि प्रजाके मङ्गलके निमित्त राजा लोग ध्वज बना-बनाकर इन्द्रके निमित्त द्वारपर गाड़ते हैं और इष्टदेवकी पूजा करते हैं और यह विश्वास है कि ऐसा करनेसे प्रभुर वर्षा होती है और खेतोंमें भरपूर धान्य होता है। बृहत्संहितामें लिखा है कि एक बार जब अमुरोंने देवताओंको बहुत सताया तो देवता लोग ब्रह्माजीके पास उसका उपाय पूछने गए। तब ब्रह्माजीने उन्हें समझाया कि आप लोग क्षीरसागर पहुँचकर नारायणकी स्तुति करें। वे आप लोगोंको एक केशु (झड़) देंगे जिसे देखते ही असुरगण भाग लगे होंगे। देवताओंने वही किया और विष्णु मगवानने प्रसन्न होकर इन्द्रको एक ध्वज दिया जिससे इन्द्रने अमुरोंको मार भगाया। एक बार चेदिराज सिधुपालने भी बाँसना खमा गाड़कर बड़ी विधिसे इन्द्रध्वज स्थापित करके पूजा की थी जिससे सन्तुष्ट होकर इन्द्रने कहा था— 'जो राजा इसी प्रकार इन्द्रध्वजकी पूजा करेगा उसके राज्यमें प्रजा बहुगी, धनधान्य बहुगा और कोई रोग न होगा।' बौद्ध, शैव और वैष्णव मतोंके प्रबल प्रचारसे ये सब उत्सव बन्दसे हो गए और सम्भवतः नेपालको छोड़कर और कहीं इस उत्सवका प्रचार नहीं है। यहाँ एक बात और भी स्मरणीय है कि हमारे यहाँ शण्डी चढ़ाने या ध्वजदानका बड़ा प्रचार है। बाँस तो घनी तीर्थपर लोग झड़ी चढ़ाते

हैं किन्तु देवीके मन्दिरोंपर विशेषतः शाकम्भरी देवीके मेलपर तो असंख्य झड़ियाँ प्रतिवर्ष चढ़ाई जाती हैं। अतः यह ध्वजदान तो केवल भौतिक सुखके लिये इष्टो प्रसन्न करनेके एक साधनके रूपमें प्रचलित है। हम ऊपर ही कह भाए हैं कि नाट्यशास्त्रमें वर्णित कथाके अनुसार सबसे पहला नाटक महेन्द्र ध्वजोत्सवके अवसरपर खेला गया था जब ब्रह्माजीने भरतसे कहा था—

महानय प्रयोगस्य समयः समुपस्थितः ॥ ५४ ॥

अथ ध्वजमहः श्रीमान् महेन्द्रस्य प्रवृत्तते ।

अभेदानीमय वेदः नाट्यस्य प्रयुज्यताम् ॥ ५५ ॥

[नाट्यवेदके प्रयोगका यह बड़ा अवस्था अवसर था गया है। श्रीमान् महेन्द्रके ध्वजका दिन है। इसीके उपलक्ष्यमें आप नाट्यवेद प्रयोग करके दिखालाएँ ।]

यदि मान लिया जाय कि नेपालका इन्द्रध्वज उत्सव इसी भारतके महेन्द्रध्वजोत्सवका अनसिद्ध रूप है तो इतना ही कहा जा सकता है कि जब यह उत्सव प्रारम्भ हुआ था उस समय इस अवसरपर नाटक भी खेले जाते होंगे। इससे अधिक इन्द्रध्वज और नाट्यका कोई संबंध नहीं है। अभिनयदर्पणकार नन्दिकेश्वरने जहाँ नाट्यके लिये उपयुक्त अनसर्गकी चर्चा की है वहाँ कहा है—

'द्रष्टव्ये नाट्यमृत्ये च पूर्वकाले विरोपतः ॥ १२ ॥

[नाट्य और नृत्य विरोप करते पूर्व या उत्सवके समय ही दिखलाने चाहिएँ ।] अतः यदि महेन्द्रध्वजोत्सवपर प्रारम्भमें नाटक किया गया हो या आजकल भी इन्द्रध्वज उत्सव पर नाटक होत हो या नृत्य आदि दिसाये जाते हों तो उससे यह निष्कर्ष नहीं निकाल लेना चाहिए कि नाट्यका जन्म ही उस उत्सवसे हुआ था। जहाँ नाट्य और नृत्यके लिये अवसरका विधान है वहाँ नृत्य (नाच) के लिये भी अवसर निर्धारित कर दिया गया है।

नृत्य राजनरेन्द्राणामभिषेके महोत्सवे ।

यात्रायां देवयात्रायां विवाहे त्रियसङ्गमे ॥

नगराणामगाराणां प्रवेशे पुनश्चमनि ।

शुभाभिनिः प्रयोक्तव्यं भाङ्गल्य सर्वं कर्मसु ॥

—अभिनयदर्पण १३।१४।

[राजाओंके अभिषेकके अवसरपर, यात्रामें, देवयात्रामें, विवाहमें, अपने त्रियसे मिलनेके समय, नगरप्रवेश या यद्-

प्रवेशके समय, पुत्रजन्मके अवसरपर तथा ऐसे ही सब कार्योंमें शुभ चाहनेवाले व्यक्तियोंको कल्याणकारी नृत्य कराने चाहिएँ ।]

इसका तात्पर्य यह है कि उत्तरवर्ष, शुभकार्योंमें तथा इसके अवसरोंपर नाटक या नृत्य कराये जायँ । इसका यह अर्थ नहीं हुआ कि इन अवसरोंसे नाटकोंकी उत्पत्ति हुई । अतः यह मत नितान्त भ्रमपूर्ण है ।

यूनानी नाट्यसे भारतीय नाट्यकी उत्पत्ति

● यवन नाट्यानुकृतिरेव भारतीय नाट्यमित्यपरः ॥ २६ ॥

[यूनानी नाट्यकी ही है अनुकृति भारत-नाट्य ।]

श्री वेवर महादयने भारतीय नाट्यकी उत्पत्तिको एक नया ही मत प्रतिपादित किया था जो योरोपियोंकी उस सङ्कुचित प्रवृत्तिमा परिचायक है जिसके धुँधले पक्षमातपूर्ण विनेत्रसे उन्हें पूर्वके देशोंका उत्कर्ष और वैभव छोटा दिखाई देने लगता है । उसी प्रवृत्तिके अनुरूप श्री वेवरने यवनी, यवनिक और शकारि शब्दोंके व्यापारपर यह सिद्ध करनेका विकल प्रयत्न किया कि जिस समय भारतवासियोंका यूनानियोंसे सम्पर्क स्थापित हुआ उसी समय हिन्दुओंने नाट्य-कला भी सीखी ।

श्री विषिडस महोदयने भी बहुत सी युक्तियोंके साथ इस मतका समर्थन किया है और श्री सिल्वन लेवी तथा डीक्टर वीथने इस मतको न मानते हुए भी इतना कहा है कि बाह्य प्रभावके बिना नाटकमें ऐसे विकासके लिये पर्याप्त सामग्री नहीं मिल सकती थी । डेनिश विद्वान श्री ई० गण्डेने इस सिद्धान्तको मानकर भारतके प्राचीन नाटकों और मिलिन्ड (मिनेण्ड) - कार्लान यूनानी प्रहसनोंका सामान्य दिशाया है जिनका इतलर्वा रूप प्याउतस् और तरेन्वर्म मिलता है ।

उक्त मतका खण्डन

● तन्मतममतम् ॥ २७ ॥

[यह मत भी है अमत चताथा ।]

डीक्टर वीथने कहा है— "यवनिक या उसका प्राकृत रूप जवनिका उस पदको कहते थे जो रगपीठ और नाट्यके बीचमें रँगा रहता था । यह विशेषण-बोधक शब्द है और इसका अर्थ है 'यूनानी' (अन्पोनियन), क्योंकि भारतवासी सर्व प्रथम इन्हींके सम्पर्कमें आए थे । किन्तु यह शब्द केवल यूनानियोंका ही बोधक नहीं है । इसके

अन्तर्गत यूनान, फ़ारस, मिस्र, सीरिया और बैक्ट्रियाके देश भी सम्मिलित थे । इस शब्दका प्रयोग विदेशी वस्त्रके अर्थमें किया जाता था और जैसा श्री सिल्वन लेवीने कहा है, उसका तात्पर्य फ़ारसके उन सुन्दर बख्शोंसे था जो उन दिनों भारतमें बराबर मँगाए जाते थे । इस शब्दका कोई भी संबंध यूनानी रगमचसे नहीं था क्योंकि यूनानी नाटकोंमें पर्दोंकी कहीं चर्चा ही नहीं है । विषिडस महोदय तो इस यवनिकामें इसीलिये यूनानी कहते हैं कि जैसे यूनानी रगशाठामें पीछेकी ओर चित्रित दृश्य होता था वैसे ही यहाँ पर्दा लगा दिया जाता था ।

"यही बात यवनोंके लिये भी है । संकृत नाटकोंमें प्रायः राजा लोग यवनियोंका अपनी परिचारिकोंके रूपमें रखते थे । अभिषेकनाकुन्तलके दुष्यन्तको भी म. द. यवने इसी रूपमें देखा है—

'एष बाणासनहस्ताभिर्यवनीभिर्वनपुष्पमाठाधारिणीभिः परिभृत इत एवागच्छति प्रिययस्यः ।

[अरे मित्र तो इधर ही चले आ रहे हैं जिनके साथ हाथमें धनुष लिए और गलेमें जङ्गली फूलोंकी माला पहने हुए बहुत सी यवनी सेविकाएँ भी चली आ रही हैं ।]

'इससे केवल यही सिद्ध होता है कि यूनानी व्यागरी धरने यहाँकी कुमारियोंका यहाँ ले आते होंगे और राजाओंके हाथ बँच देते होंगे । क्योंकि उन दिनों यूनानमें जो युद्धमें विजयी होते थे वे विजित देशकी स्त्रियों और पुरुषोंको बन्दी बनाकर लते थे और दास बनाकर बेच देते थे । सम्भवतः वे ही यूनानी बन्दिनियों भारतीय नरेशोंके अन्तःपुरकी प्रहरी तथा राजाओंकी शरीर-रक्षिकाएँ होती होंगी ।"

डीक्टर वीथके मतके अतिरिक्त भी अनेक ऐसे प्रमाण हैं जिनसे यह सिद्ध है कि यूनानी नाटकोंका भारतीय नाटकोंपर किसी प्रकारका प्रभाव नहीं पड़ा ।

पहली बात तो यह है कि यूनानी नाटकोंमें बोलस या समवेत गानका प्राधान्य था । दूसरे, अभिनेताओंका क्रम भी धीरे-धीरे एकमें वृद्धर अनेकमें पहुँचा था । तीसरे, अभिनेतागण मुक्ता मुर्गीया और पैरोंमें ऊँचे खड़ाऊँ बंधकर मचर आते थे । चौथे, उनकी रङ्ग-

शास्त्रमें पीछे भिन्न होती थी। पाँचवें, उनकी रगशाला किसी पहाड़ीनी अधिलका या उखलामें गोल ढलुआ सीढीदार बनी होती थी। छठे उनके नाटक या तो भयभीर कृपा उतर करनेवाले रासात्मक होते थे या फूहड़ गीतों या व्यङ्ग्यसे भरे हुए परिहासात्मक होते थे और सातवीं बात यह थी कि निश्चित उत्सवपर ही उनके यहाँ नाटक होते थे और वे दो दो तीन तीन दिन चलते रहते थे। इनमेंसे एक भी बात भारतीय रगशाला या नाटकसे मेल नहीं खाती। भारतीय रगशालाओंके जो तीन प्रकार हैं श्रृंखल, चतुरस्र और त्रिष्ट, इन तीनोंका रूप निस्तार यूनानी रगशाला से नहीं मिलता। फिर हमारे यहाँ अष्टरसाश्रय नाटक होते थे, यूनानमें केवल कृपा, भयानक और हास्य इन्हींका ही प्रयोग होता था।

इसके अतिरिक्त हमारे यहाँ विभिन्न प्रकारके पात्रोंके लिये विभिन्न प्रकारकी भाषाया भी विधान था जिसका यूनानी नाटकोंमें सर्वथा अभाव है। फिर मुँहपर अनेक प्रकारके वर्णादि प्रयोग करनेका विधान भी यूनानियोंके ज्ञात नहीं था और उनके नृत्य गीतका भी वह रूप नहीं था जिसका भारतीय नाट्यशास्त्रियोंने विधान किया है। पूर्वरग, नान्दी तथा प्रस्तावना का स्वरूप हमारे नाटकोंमें पाया जाता है उसका भी प्रयोग यूनानी नाटकोंमें नहीं होता था। हों 'प्रोलोग'के रूपमें प्रस्तावनाका जो विधान यहाँ मिलता है वह नाटकीय वस्तुकी सूचितामात्र है। नाट्यशास्त्रके पाँचवें अध्यायमें पूर्वरगका वर्णन करते हुए भरतजीने कहा है—

एतानि च बहिर्गोतान्यन्तर्यवनितागतैः।

प्रयाक्तुभिः प्रयाज्यानि तन्त्रीभाण्डकृतानि तु ॥

तत्र च सर्वं कुतश्चैकान्यन्यानि कुर्येत्।

विधाद्य वै यानिना नृत्यमष्टयदृतानि च ॥

[नाट्य प्रयोक्तृओंसे चाहिए कि तन्त्री तथा अन्य रात्रिक साथ गहरके गीत अर्थात् नाटकसे सम्बन्ध रखनेवाले गीत गवाए जायें। यह हो चुकनेपर पदा हटाकर मत्र वाग्राँके साथ नृत्य और पाठ्य गीत भी गवाए जायें।]

दस वर्णनसे भी यह बात स्पष्ट है कि पूर्वरगकी कुछ निया पदोंके पीछेमे होती थी और कुछ पदोंके बाहर आकर होती थी। यूनानी गीत-वाचका कुछ काम रगमचके

सामनेवाले धरेमें होता था जिसे 'औरकेटा' कहते थे किन्तु हमारे यहाँ प्रदर्शनसे सम्बन्ध रखनेवाला सत्र व्यथा रगमचपर ही होता था चाहे वह नाट्य हो या अभिनय हो। दूसरी बात यह है कि यह यानिका बीचमेंसे फटी रहती थी जिससे उसके दोनों पल्ले ऊपर उठ आ जा सकें। 'विगाथ्य वै यानिका मँ ज्जि विघटन या विलग नेका सनेत है उमका अर्थ ही है अलग अलग करना।

इस प्रकारकी यूनान या रोमकी नाट्यशालाओंमें कहीं भी यानिकाके प्रयोगका प्रमाण नहीं मिलता है। यहाँ तो मचके पीछेकी चित्रित दीवारके दोनों ओर पात्रोंके आने जानेके द्वार बने होते थे। अतः यह कहना अत्यन्त भ्रामक है कि भारतने अपनी नाट्यकला यूनानसे सीपी है या यूनानका अनुकरण किया है।

यूनानी नाटककी उत्पत्ति

१ धर्मोत्सवाद्ययननाट्योत्पत्तिः ॥२२॥

[यूनानी नाटक निकले हैं धर्मोत्सवसे प्रायः ।]

यद्यपि भारतीय नाटकी उत्पत्तिके समान ही यूनानी नाट्यकी उत्पत्तिपर भी बहुत शास्त्रार्थ हुआ है किन्तु वह सब एक प्रकारका निरर्थक शब्द टप्पर और कल्पना मात्र है। अस्तुने अपने कथ्यशास्त्रमें यूनानी नाटकोंकी उत्पत्तिके विषयमें कुछ उसका विवरण देते हुए कहा है कि प्रासद और प्रहसन दोनों पहले पहल अभिव्यक्ति मात्र थे। पहला तो स्तोत्र-रचनाओंके साथ उतरन हुआ और दूसरा उन फूहड़ गीतोंके साथ प्रादुर्भूत हुआ जो धन तक बहुतसे नगरोंमें गाए जाते हैं। अस्तुने जिन रतोनाँका सम्बन्ध प्रासदाँसे प्रतलाया है वे यूनानके 'दिबनुसम् या नासस' देवतानी उपासनामें गाए जाते थे। अतिक्रम दिबनुगीय उत्सवोंमें सुरकि देवता यज्ञसे उपासक अपना आधा शरीर बकरेके चमसे टप्पर उग्र स्तोत्र गाता करते थे। ये ही गीत 'द्रेगादा' (अन गीत) कहे जाने लगे और इन्हीं गीतोंमें पीछेके नाटक रचने अभिनेताओंका समावेश करके जो नाटक लिखे उन्हें त्रेगोदी या प्रासद कहने लगे।

यही बात यूनानी प्रहसनोंके विषयमें भी है। उनमें बहुत पीछेका यह प्रथा रही है कि उसके अभिनेता लोग इन्दिम पुत्र-जननेन्द्रिय लगाकर अभिनय करते थे। यद्यपि

यह बात साधारण शिक्षाचारके विपरीत थी किन्तु उसका सम्बन्ध धार्मिक उत्सवसे होनेके कारण पीछे इस जननेन्द्रिय-को टकनेकी भी व्यव था की गई किन्तु जिन प्रहसनोंके सम-वेत गीतोंमें पक्षियों या पशुधोंका वर्णन होता था उनमें वे वर्षोंके ल्यों बने रहे। इस प्रथाका समर्थन इस प्रकार किया जाता है कि प्रारम्भमें एक प्रजननोत्सव हुआ करता था जिसमें वृषिके उत्सादनके लिये लोग म.नव-प्रजननके प्रतीक जननेन्द्रियका वृषिम रूप बनाकर खेतमें चानों और धुमाते थे और तत्सन्धी फूहड़ गीत गाया करते थे। किन्तु, पीछे उसका फूहड़पन कुछ कुछ दूर कर दिया गया और वह प्रधानतः व्यंग्य स्वरु हो गया। यहाँ तक कि मिलिन्द (मीनेडर) के समय तक जननेन्द्रियका प्रदर्शन पूर्णतः बन्द हो गया था।

इस प्रकार देखनेसे ज्ञत होता है कि यूनानी नाटकोंका प्रारम्भ धार्मिक उत्सवोंसे हुआ और वरोंके सबसे बड़े और श्रेष्ठ नाटक 'दिअनुसत्' के उत्सवके अवसरपर ही होते रहे।

रोमके नाटकोंकी उत्पत्ति

१ प्राग्मनाट्याद्रोमनाट्योत्पत्तिः ॥ २१ ॥

[देशी नाटकसे हुआ रोम नाट्यना जन्म ।]

रुमी नाटकोंकी उत्पत्तिकी कथा और भी विचित्र है। यह कहा जाता है कि ३६० ई० पूर्व रोममें महामारीका बड़ा प्रकोप हुआ और उन लोगोंने इत्रिया (रादन नदीके उत्तरमें प्राचीन इतालवी राज्य) के लृदियोंको अनमन्त्रण दिया कि वे अकर नृत्य और अभिनयके द्वारा महामारीकी विमर्षि दूर करें। बहुतसे विद्वानोंने इस कथानी सत्यता अस्वीकार करते हुए भी यह स्वीकार किया है कि रोमके नाटकोंपर इत्रियावालोंका पूर्ण प्रभाव था। रोमका सम्बन्ध इतालवी यूनानियोंसे चौथी शताब्दीके मध्यसे बहुत पहले हो चुका था और यह बहुत सम्भव है कि वहाँकी नाट्यीय कृतियों 'फैतेनादन' पर्यसे ही प्रादुर्भूत हुई हों। एक बात और भी है कि जैसे विहारमें विदेसिया नाटक होता है वैसे ही अतेलाके आस्कन नामक नगरमें सम्भवतः यूनानी प्रभावसे ही एक ऊट्टर्याग सा देशी नाटक प्रचलित था जो पीछे रोममें 'कैतुला अतेलाना' के नामसे एक विशिष्ट रूप लेकर विकसित हुआ। लिब्रीके कथानुसार इत्रियावालोंके लृदियों तथा वेदगे विनोदसे भरे हुए फैतेनादन पर्योके मेलसे उत्पन्न नामक एक नाट्यीय रूप

विकसित हुआ जिसमें वंशके साथ वाद्यका भी सहयोग था और जिसमें अभिनयकी भी उचित शैलीका प्रयोग था। किन्तु वास्तविक बात यह है कि इस नाट्यीय विकासका विस्तृत विवरण अभी अन्धकारमें ही है। यहाँ तक कि इस उत्पन्न नाटकका अस्तित्व भी अभी सदेहास्य ही है।

चीनी नाटकोंकी उत्पत्ति

२ नृत्यगीतसंयोगाच्चोिननाट्योत्पत्तिः ॥ ३० ॥

[नृत्यगीत संयोगसे चीन नाट्यना जन्म ।]

किम्बन्ती तो यह है कि चीनी नाटक ईसासे १८ शताब्दी पूर्व ही प्रसक्त होते थे। कुछमा यह कहना है कि ५८० ई० में वारु ते नामकचीनी सम्राटने नाटकका आविष्कार किया। किन्तु अधिकांश विद्वान इसका श्रेय ७२० ई० के सम्राट युवेनत्सुयको देते हैं। त आग परिवारके (७२०—९०७ ई० तक) सम्राटोंने 'त्ताव वेनसि' नामके वीर नाटक लिखाए थे। इसके पश्चात् दुग परिवारवालोंने ही 'सिव' नामके नाटक लिखाए थे। चीनी नाटकों की उत्पत्ति नृत्य और गीतके संयोगने मानी जाती है। आठवीं शताब्दी ईस्वीमें चीनमें 'फ आग' परिवारके एक सम्राटने 'नाशपाती उद्यान' नामकी एक सगनी परिपद स्थापित की थी जिसमें पीछे नाट्यकी भी चर्चा होने लगी किन्तु वास्तविक नाट्यकला वहाँ बहुत पीछे पैयी। चीनी नाटकोंका निश्चित उद्देश्य यह है कि वे सद्गुणोंका प्रचार करें और उच्च श्रद्धोंको प्रवसा करें इसीलिये वहाँके प्रायः सभी नाटक रुद्धि-योगक हैं।

चीनी नाटकोंकी एक और भी बड़ी विशेषता है कि प्रत्येक नाटकका नायक या मुख्य पात्र वहाँ अपेन चरित्रका प्रतिनिधित्व करता है वहाँ यह नाटककारका भी प्रतिनिधित्व करता है।

जापानी नाटक

३ लोकविनोदहिताभ्याञ्जापाननाट्यारम्भः ॥ ३१ ॥

[लोक विनोद और हितकेमिस जापानी नाटक थाए ।]

जापानी नाटकोंका प्रादुर्भाव धार्मिक और समासिक कारणोंसे हुआ। प्राचीन विषयोंके लेख 'कोशिकेमें' (७१२ ई०) एक 'कगुरा' नामके देवी सङ्गीतका वर्णन दिया हुआ है। यह कगुरा सम्भवतः पररत देवताधोंके बीचमें या उनके समुल गाया जानेवाला गीत रहा होगा। अब भी शिन्तो मूर्तियोंके समुल इतके गीतोंके साथ नृत्य होता है या वे

गाए जाते हैं। जापानी नाटक प्रायः निम्न श्रेणीके लोगोंको ही आकृष्ट करते थे। उसमें काव्य शक्तिका प्रायः अभाव ही था। योंतो जापानी नाटककी कथाएँ, पौराणिक गाथाएँ और मूक क्रियाएँ भले ही जापानी रही हों किन्तु उसका वास्तविक रूप चीनसे ही आया था। कहा जाता है कि छठी शताब्दीके अन्तमें 'हादा कावत्य' नामके एक चीनीसे यह कहा गया था कि देशके विनोद और हितके लिये कुछ त्रिनोदात्मक उत्सव तैयार करो। उसने ३३ नाटक लिखे। इस प्रकार जापानी नाटकका प्रारम्भ हुआ। किन्तु जापानियाका यह करना है कि सन् ८०५ ई० में ज्वालामुखीके पटनेसे जो पृथ्वी धँसने लगी उसकी रक्षाके लिये 'सत्रासो' नामका जो नृत्य प्रचलित किया गया वही जापानी नाटकका मूल है। सन् ११०८ में 'इसोनो जेनजी' नामकी एक स्त्री ने भी नटक का एक रूप चलय जिसके कारण जापानी लोग उसे जापानी नाटककी माँ कहते हैं। उसके प्रदर्शनकी विशेषता यह थी कि वह 'गले कोमद' अर्थात् पुत्र वस्त्र धारण करके नृत्य या अभिनय करती थी। किन्तु वास्तवमें सर्व सम्प्रतिसे जापानी नाटकके प्रयोगका श्रेय 'सब वाका कोंग युरो' को दिया जाता है जिन्होंने सन् १६२४ ई० में येशीमें पहली रंगशाला स्थापित की थी।

७ अन्ये भारतभावितः ॥ ३२ ॥

[अन्य भारतसे प्रभावित ।]

मलाया जावा और सुमात्रामें जो नाटक या नाटकीय रूप मिलते हैं उन सबका आधार भारतीय कथा साहित्य है। जावामें लोक-विनोदके लिये जो कव्य रूप उदाहृत किए जाते हैं उनके दो रूप हैं। एक तो है 'पन्दुन' जो उपमावासे भरी छोटसी आख्यायिकासी होती है और दूसरा होता है 'चरित' जिसमें सम्वाद भी होता है और गीत भी। कहते हैं कि इन चरितोंसे ही जावाके उन नाटकोंकी उत्पत्ति हुई है जिनमें देवताओं और राजाओंके उदात्ततम रूपोंका वर्णन मिलता है।

८ म्लेच्छदेशेषु नाट्याभावः ॥ ३३ ॥

[म्लेच्छमें है नाट्य अभाव ।]

फारस, तुर्किस्तान, अरब आदि पश्चिमी एशियाके देशोंमें नाटकीय साहित्यका कोई चिह्न नहीं मिलता किन्तु पीछे दा प्रकारके नाटकीय रूप मिलते हैं—एक तो धार्मिक और दूसरा लोकप्रिय प्रहसन या मँडैतीके खेल। फारसमें अली और उनके परिवारकी वीरतपूर्ण मृत्यु-सन्धो कुछ

गीत और सम्वाद कहे और गाए जाते हैं जिनको ताजिया कहते हैं। ये नाटकीय रूप भी धनी मुसलमानों या राज दरबारोंमें प्रस्तुत किए जाते हैं और प्रायः इस्लामानी लोग ही लोगोंको प्रसन्न करनेके लिये या दैवी वरदान प्राप्त करनेके लिये मस्जिदके आँगनों और राजभनों या सरायाम इन्हें खेलते हैं।

उन्नीसवीं शताब्दीके प्रारम्भ तक ये ताजिये (रदन गीत) शहीदोंके सम्मानमें केवल गीत या मर्तियोंके रूपमें ही थे। किन्तु पीछे हसन और हुसेनके रहस्यमय नाटकके रूपमें ये नाटकीय दृश्यों या दृश्यचलनोंके रूपमें उपासित होने लग गए। इस नाटकके प्रारम्भमें एक रोजे सौं न मके अर्द्ध-मौलवी जैसे एक सज्जन आते हैं जो अपनेको मुहम्मद साहबका वंशज बतलाते हैं और नाटककी प्रस्तावना कहते हुए गद्य और पद्यमें अत्यन्त भङ्गु और काव्यिक रूपसे वाँगोंके गुणगान करते हुए जनताको उचेजित करते हैं और कथाका विषय बतलते हैं। दूसरे प्रकारका फारसी नाटक तमाशा कहलाता है जो प्रहसन या मँडैतीके प्रसारका होता है और जिसे तगलीद (छत्रनेत्र) कहते हैं और जिसे खानाबदोश (भ्रमणशील) नट अभिनय करने फिरते हैं। फारसका एक बड़ा प्रतिद्वन्द्वी नाटकीय प्रदर्शन कलभगुरज या पुतली नृत्य भी है जिसका नायक 'केदित' पहलवान जगवीर कहलाता है। वर्तमान फारसी नाटकपर पश्चिमी प्रभाव भी दिखाई पड़ता है जैसे फारसके प्रसिद्ध प्रहसन 'कचहरीके मनीठ' में। नाटकीय तत्पर द्विद्वन्द्वी दो धर्म ग्रन्थों—रथकी पोथी और जौबरी पोथीमें दिखाई पड़ जाता है जिसका जर्मन कवि गेटेने अपने फाउस्टमें प्रयोग किया है।

मिस्रकी सभ्यता सबसे पुरानी मानी जाती है। दार्शनिक तर्कों, धार्मिक रूढ़ियों तथा अन्य सत्कारोंका जैसा प्रमुख मिस्रमें था वैसा भारतको छोड़कर और कहीं प्राप्त नहीं होता फिर भी नाटककी भावना मिस्रमें सर्वथा एत रही है। वहाँपर जितना कुछ रहस्यात्मक विचार हुआ है उन सबका आधार मिस्रके प्रधान देवता ओसिरिस हैं जिन्हें 'हेरोदतस' ने यूनानी देवता दिअनुससका ही दूसरा रूप बताया है। मिस्रकी देहाती जनता भी हमी देवताके सम्मानमें यात्राएँ निराकाल काली थी और इन यात्राओंमें कुछ तो ऐसी थीं जिनमें दिव्यों पुरुषोंकी जननेन्द्रियके कृत्रिम रूप बनाकर हाथमें ले लकर खेनामें घूसा करती थीं।

अमेरिकाके आदिम निवासियोंमें पौलीनिशिया तथा अन्य जातियोंके नृत्योंमें नाटकके कुछ छिद्र-छुट तत्व मिल जाते हैं। सर्वप्रथम मुससिद अन्वेषक कैप्टन कुपने बताया था कि दक्षिण समुद्रके द्वीपोंमें कुछ उत्सव और प्रदर्शन होते हैं जिनमें नृत्य-गीतके साथ सवादका भी समावेश होता है।

पीरुवियावालोंका जो 'इन्का' नाटक नामका एक अकेला अवशेष मिलता है वह है 'अपूर्वालेन्ते' जिसे पीरुवी विजयके पश्चात् स्पेनी पादरियोंने वहाँनी 'क्विथुआ' भाषा में लिखा था और जिसका अनुवाद अभी रिप्लसवरीने अग्रेजी-में किया है। इसीके साथ उस भयंकर अज्ञातके नाटकीय नृत्यकी भी तुलना की जा सकती है जिसका नाम है 'रविनाल-अची' जिसमें सग्रामवी भयकरताका वर्णन अधिक है, नाटकीय चरित्र-चित्रणकी भावना कम। फ्रांस, जर्मनी, इंग्लैंड, स्पेन, रूस आदि योरोपके अन्य देशोंके नाटक बहुत इधरके हैं और उन सबका मूल यूनान और रोम ही है अतः उनपर विचार करना अनावश्यक है।

● लोकाचिन्तानाशार्थ' संगीतकथाभिनयसंयोगा-
घाटयोत्पत्तिः ॥ ३४ ॥

[संगीत-कथा-अभिनय मिलकर अग चिन्ता हरने नाट्य हुआ ।]

विभिन्न देशोंमें नाट्यकी उत्पत्ति जिन परिस्थितियोंमें हुई है उनकी मीमांसा कर चुकनेपर सिद्ध होता है कि विभिन्न देशवासियोंने अपने देशके रक्षक इष्टदेवों या महा-पुरुषोंके आदराार्थ होनेवाले उत्सवोंके अवसरोंपर नाट्य-प्रयोगका विधान किया है और उस नाट्यप्रयोगमें एकत्रित जनसमूहको प्रसन्न करनेके लिये नृत्य गीत आदिका भी प्रयोग किया गया है। कहीं-कहींपर जनताको उपदेश देनेके लिये नाट्यका आधार लिया गया है जैसे चीनमें या पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दीमें योरोपमें नैतिक नाटकों या आश्चर्यजनक नाटकों द्वारा किया जाता था। किन्तु, मूल बात यह है कि जो उत्सव किए जाते थे वे चाहे धार्मिक उत्सव हों या सामाजिक मेलें हों या समाजके रूपमें मनाए जाते हों किन्तु उनका उद्देश्य यही था कि उसके द्वारा जनसमूहका मनोरंजन हो।

मनोरंजन केवल उसी वस्तुके द्वारा हो सकता है जिसके प्रति लोगोंका स्वाभाविक आकर्षण हो और वह आकर्षण

इस प्रकार उपस्थित किया जाय कि उपस्थित जनसमूह उसको देखकर अपनी चित्तवृत्ति एकाग्र करके तन्मय हो जाय और उतने समय तक उसमें पूर्ण रूपसे लीन रहे। यह तभी सम्भव है जब विनोदकी सामग्री विभिन्न रुचिके लोगोंको समान रूपसे अनुरजन करनेवाली हो। धार्मिक कथाओंमें कुछ कम आकर्षण नहीं होता किन्तु वह आकर्षण केवल सत्सृष्टि प्रधान लोगोंके लिये होता है। इसी प्रकार यदि केवल गीत होता रहे तो वह गीतप्रिय अर्थात् रसागुणी जनताको ही प्रिय लग सकता है। इसी प्रकार मारपीट, शस्त्रपरीक्षा, भल्लयुद्ध, भैंसों या अन्य जीवोंका युद्ध और आखेट आदि रसाञ्जित और तमोवृत्तियाँके लिये ही अधिक प्रिय हो सकते हैं। इसलिये धार्मिक उत्सवोंपर अधिकसे अधिक लोगोंको समान रूपसे अनुरजन करनेवाला साधन मानव समाजने स्वयं खोजवृत्तिका परीक्षण करके दूरे निकाला और वह था नाटक—जिनमें सब वृत्तियोंके, सब अवस्थाओंके, सब व्यवसायोंके और सब प्रवृत्तियोंके लोगोंका समान रूपसे मनोरंजन हो सके और मनोरंजनके साथ-साथ सबको अपनी-अपनी रुचिके अनुसंग शिक्षा मिल सके तथा विभिन्न प्रकारके लोगोंको सुपन्थर जाने, कुपन्थसे हटने और विभिन्न परिस्थितियोंमें विशेष प्रकारका आचरण करनेका ज्ञान मिल सके। इसीलिये महाकवि कालिदासने लिखा है—

'नाट्य भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधायेक समाराधनम् ।

[विभिन्न प्रकारकी रुचि रखनेवाले लोगोंका समान रूपसे प्रसन्न करनेका साधन नाट्य ही है ।]

अब प्रश्न यह उठता है कि मनुष्य मनाविनाद चाहता क्यों है और यदि चाहता है तो वीरने एसे सार्वभौम मनोविनोदके तत्त्व हैं जो देश-मालाद्यवर्जित अंतर मानव-रुचिरा समाराधन करनेके लिये प्रस्तुत किए जा सकते हैं। मनोविनोदका अर्थ यह है कि उसकी धोर मनको विशेष प्रकारसे प्रसन्न किया जा सके। हम लोग दिनभर अपना-अपना व्यग्रसाय करते हैं। पूर्ण मनोयोगके साथ उसमें सफलता प्राप्त करनेका कार्य करते रहनेमें मन ऊन जाता है और इस एकरसतासे मनुष्यको विरक्त होने लगती है। जो यह चाहता है कि किसी प्रकार उस परिधिसे बाहर निकले। राजा लोग राज्य-व्यवस्थाकी धरतट भित्तनेके लिये मृगया करते हैं या नृत्यगीतस्य आनन्द लेते हैं। साधारण जन-

समाज भी अपने दैनिक जीविकोपाजनके व्यवसायसे हटकर मन प्रहलानेके लिये कहीं वनमें उपवनमें या नदी-तटपर अथवा मन्दिरमें धूम धानेका उपक्रम करता है किन्तु नार बार वही मृगया वही सगीत वही गायें वही वन-उपवन और वही नदीतट देखते देखते मनुष्यही उसमें रुचि नहीं रह जाती। वह नमीन वस्तु खोजता है वह कहीं प्राप्त हो। दूसरी बात यह है कि मनोविनादको धारण करनेवालेके लिये यह भी आवश्यक है कि उसमें अद्भुतता समावेदा हो। यह अद्भुत जितना ही अधिक अलौकिक और विलक्षण होगा उतना ही अधिक मनाविनाद और तन्मयता उपस्थित कर सकेगा और उतना ही अधिक उसका प्रभाव भी होगा।

यदि सामूहिक लोकका मनोविस्फेपण किया जाय तो उसकी वृत्तियों माटे रूपसे दो प्रकारकी होंगी—एक लोक सप्रहात्मक और दूसरी लाजविनाशात्मक। लाजसप्रही वृत्ति वाले लोग सबका कल्याण चाहते हैं और सबके साथ अपना कल्याण चाहते हैं और आनन्द लेना चाहते हैं। इन दोनों भेदोंसे अधिक स्पष्ट करनेके लिये हम कह सकते हैं कि सत्सत्तामें कुल लोग स्वार्थी होते हैं, कुछ परमार्थी होते हैं। स्वार्थी लोग अपने सुख और हितके लिये दूसरेको दुःख देने या दूसरेका अहित करनेमें सक्ता नहीं करते। किन्तु जा परमार्थी होते हैं वे स्वयं कष्ट उठाकर भी दूसरोंका सुख देते हैं या दूसरोंका हित करते हैं। इन्हीं वृत्तियोंके अनुसार उनके मनाविनोद भी भिन्न होते हैं। लाजसप्रही या परमार्थी व्यक्ति मनाविनोद किसीके वीरता प्रदर्शन, तेज या अन्य गुणोंके प्रकाशनसे होता है और लोकविनाशकारी या स्वार्थी वृत्तिवाला मनाविनोद किसीके पतन या किसी सन्नतके अनामानित होने अथवा कष्टमें पड़नेपर हात है। यूनानमें त्रासद और प्रहसनका प्रभाव इन्हीं दोनों वृत्तियोंके लक्षणोंका सन्तुष्ट करनेके लिये हुआ और स्वयं नाटककारोंने भी अपने त्रासदों या प्रहसनकों द्वारा अपनी इन दोनों प्रवृत्तियोंका परिचय दिया है। किन्तु हम रे देशमें नाटककारोंने यह प्रयत्न किया कि सब प्रकारको वृत्तियोंको सन्तुष्ट करते हुए भी इस प्रकार उनका मनोविनोद हो कि बिना उपदेशके ही वे स्वयं अपनी भूल सुधारकर अपना चरित्र उदात्त बनाए रहें।

किन्तु विभिन्न प्रकारकी वृत्तियोंके होते हुए भी कुछ

ऐसे सार्वभौम तत्त्व हैं जिन्से सामूहिक रूपसे लोगोंका मनोवजन होता है और उसका भी कारण वही है कि उसमें सर्वसामान्यता नहीं होती, कुछ अलौकिकता या अद्भुत तत्त्व अवश्य होता है। वे तत्त्व हैं—गीत वाद्य नृत्य, अनुकरणात्मक अभिनय तथा वेदाभूषण। सगीतके विषयमें कहा गया है—

सगीत क न मोहयेत् ।

[सगीत किसका माहित नहीं करता ।]

सुन्दर स्वरोंमें बंधा हुआ तन्त्रीय नाद जब रजक राग जनकर प्रादुर्भूत होता है उस समय पशुपक्षीतक भी उसर माहित हो जाते हैं। भागवतमें ता यहाँतक कहा गया है कि जब भगवान् श्रीकृष्ण मुरली बजाते थे तो समुद्रका जल भी एक तार तक जाता था।

नयस्तदा तदुपधार्य मुकुन्दगीतमावर्तललितमनोभगवत्वेगा।
न श्रानन्धगितमूमिसुनैरारे यद्गन्ति पद्मगुल कमलो
पहारा. १२०, पूवाब्द २२११५।

[भगवान् श्रीकृष्णकी वशील स्वर सुनकर अचेतन नदियों भी भँवरके रूपमें अपना कामोच्छ्वास प्रकट कर रही हैं। इसलिये उनका वेग रुक गया है और वे आलिंगनके लिये उठी हुई तरंगरूपी भुजाओंमें कमलके उपहार लेकर भगवत्के चरण छू रही हैं।]

इसमें चाहे केवल काव्य-कल्पनाका ही प्रयोग क्या न हो किन्तु यह देखा जाता है कि हरिण, सर्प आदि जीव सगीत सुनकर मुग्ध हो जाते हैं। प्रयागमें नैनीकी पशुशालामें यह प्रयोग किया गया था कि गायोंका दूध दूहते समय गीतयन्त्र बजाया गया। उसका परिणाम यह हुआ कि गायोंने मनमुग्ध होकर दुहाना प्रारम्भ किया और उनके दूधमें भी वृद्धि हुई। वनराजि—विश्वानके आचार्य सर जगदीशचन्द्र बसुने अपनी प्रयोगशालामें ऐसे यत्न बनाए हैं जिनसे यह भली भाँति परीक्षा की जा सकती है कि सगीत सुनकर वृक्ष भी प्रसन्न होते हैं। सगीतकी पुस्तकोंमें यह कहा गया है कि सगीतके द्वारा अनेक रोग अच्छे किए जा सकते हैं। लहराके एक सन्नने सगीत-चिकित्सा नामका एक ग्रन्थ भी लिखा है और स्वयं उसके अनुसार चिकित्सा भी करते हैं। सगीतक उपयोग का गया है।

गीत वाद्य तथा नृत्य नय-सगीतमुच्यते।

[गीत, वाद्य और नृत्य इन तीनोंके समन्वयको संगीत कहते हैं ।]

अतः संगीत एक ऐसा तरंग है जो सबको समान रूपसे मुग्ध करता है और इसके अंतर्गत गीत और नृत्य दोनोंका समावेश होता है । किन्तु गीतके लिये यह आवश्यक है कि गायक सुकृष्ट हो तभी उसका गीत सुगंधक हो सकता है ।

अब रही अनुकरणात्मक अभिनय तथा वेशभूषाकी बात । हमारी संपूर्ण शिक्षा और हमारे संपूर्ण सु कार्योंका आधार ही अनुकरण है और इस अनुकरणमें दो प्रकारके अनुकरण स्पष्ट रूपसे देखे जाते हैं । जब कोई किसी महापुरुषके आचरणके अनुसार अनुकरण करता है तब हम उसके आचरणसे प्रभावित होकर उसकी श्रेष्ठताका सम्मान करते हैं और उसके महत्त्वसे हमारे मनमें एक विशिष्ट श्रद्धा और आदरका भाव उत्पन्न होता है । इसी प्रकार कभी-कभी लोग किसी अगविहीन या विशालज्ञ मनुष्यका अनुकरण करते हैं उससे हारण उत्पन्न होता है । यह अनुकरण हाव, भाव, वाणी, गति तथा वेशभूषा सभी प्रकारसे हो सकता है और यही कारण है कि जब कभी ऐसे प्रदर्शन होते हैं तब-तब अंशुल्य जनसमुदाय उसे देखनेको उत्सुक रहता है ।

तीसरा एक और तरंग है, यह है कथा । बच्चेमें लेकर बड़ेतक सभी कथा सुनना चाहते हैं । यहाँ-तक कि बहुतसे राजा लोग अपनी राजसभामें कहानी करनेवालोंको सेवक रखते थे जो कथा कहकर उनका मनोविनोद करते थे । इन कहानियोंकी भी यह विशेषता होती थी कि उनमें अद्भुत या अलौकिक पराजय और घटनाओंका सन्निवेश होता था ।

इन सब बातोंपर विचार करनेसे हम इस निष्कर्षपर पहुँचे कि प्रत्येक व्यक्ति अपने दैनिक व्यवसायसे और घर-बाहरकी विन्ताओंसे मुक्ति पाकर कुछ समयके लिये इस प्रकारका वायुमण्डल चाहता है जिसमें वह इतना तन्मय हो जाय कि उसे अपने व्यवसायकी और घर-बाहरकी चिन्ता भी चिन्ता न रह जाय । इस उद्योगमें सफलता प्राप्त करनेके लिये उसने संगीत, अभिनय और कथा इन तीन मन्वैःनिक मनोविनोदोंकी सृष्टि की और किसी समय किसी आचार्यने इन तीनों तत्वोंको एकमें मिलाकर नाट्यकी सृष्टि कर दी ।

यदि हम इस सृष्टिके क्रमका निरूपण करें तो यह जान पड़ेगा कि मनुष्यने अपनी आदि अवस्थामें जो विनोदका साधन निकाला होगा वह केवल सात्विक अनुकरण होगा अर्थात् किसी भी हँसीका अनुकरण करना, किसीके रोनेका नाट्य करना आदि । इसके पश्चात् भांगिक अनुकरण आया होगा अर्थात् दूसरोंको देखकर उनके अनुसार उठना-बैठना, चलना-फिरना, भौंल-भौंल मटकाना, सिर हिलाना आदि । फिर वार्णिका अनुकरण हुआ होगा और इसके पश्चात् या इनके साथ-साथ ही वेशका अनुकरण भी चल पड़ा होगा । यह अनुकरण अभीतक हम लोग इसी प्रकार करते चले आए हैं । हमारे सामाजिक और व्यक्तिगत जीवनमें भी यही क्रम चलता है । अग्रे जाँके आनेके साथ हमने इसी क्रमसे अग्ने-जीवन सीखा और उनके हँसने-बोलने, चलने-फिरने, बातचीत करने, खाने-पीने और पहनने-शोदनेके ढंगको पूर्णतः धरना लिया क्योंकि वह सब हमारे लिये नया था, अद्भुत था और अपरिचित था ।

धीरे-धीरे इन्हीं भांगिक अनुकरणोंको नियमित रूपसे दुहरानेसे नृचकी उत्पत्ति हुई और हमारी तालमें बँधी हुई गति और चेष्टाओंसे नृचका रूप धारण कर लिया । दूसरोंकी भावभंगीके अनुसार अनुकरण करनेसे अर्थात् भौंल-मुँह चलाने आदिसे नृत्यकी सृष्टि हुई । इसके पश्चात् अनेक प्रकारके जीवोंकी ध्वनि सुनकर और उनकी ध्वनियोंका मेल बैठकर समस्वरोंकी सृष्टि हुई और फिर उन्हींके मेलसे अनेक प्रकारके राग और रागिनियोंकी उत्पत्ति हुई होगी । संगीतके प्रथमों कहा गया है—

मयूरचातकृष्णामकौञ्चनोकिण्डुदराः ।

गजश्च सतपट्टादादीन्कमादुन्चारयन्त्यमी ।

[मोर पट्टामें बोलता है, चातक फलमामें, बकरा गंधारमें, कौञ्च (सारस) मध्यममें, कोयल पंचममें, मँडक धैरवमें और हाथी निषादमें ।]

जब इन जीवोंकी ध्वनियोंको शारोहनमसे पहचाना गया और उनका अनुकरण करने कइसे किया गया तब सतस्वरका ग्राम बना और उन्हींके उलट-फेरसे तथा शारोह-ध्वरोहसे अनेक राग बने होंगे । इसी प्रकार गङ्गा, सींग, पड़ा, तंत, तार तथा बंसी आदिसे निकली हुई ध्वनिकी और भी अधिक व्यवस्थित करके बावाँकी

मछि हुई और फिर कण्ठसे निम्नले हुए गवनों, वायोंसे निकली हुई ध्वनियों और शारीरिक चेष्टाओं द्वारा की हुई भावभंगियोंको मिलाकर संगीत बन गया। उसीमें कथातत्त्व जोड़कर गीतके साथ वाद्य और नृत्यका प्रयोग हुआ। फिर कथाके पात्रोंके द्वारा अलग अलग पात्रानुवृत्त गीत कहलाए गए। फिर उसको अधिक प्रभावशाली बनानेके लिये उसमें सवाद भी जोड़ दिए गए और उसमें अद्भुतका समावेश करनेके लिये वेप-विन्यासमा भी समावेश कर दिया गया। इस प्रकार जो मनोविनोदका साधन उपस्थित किया गया उसीका नाम रूपक या नाटक पड़ा। जैसा कि हम पहले कह आए हैं, इन साधनोंसे केवल मनोविनोद होता

रहा होगा और इस मनोविनोदके द्वारा जहाँ उदात्त वृत्तिके लोगोंको तृप्त करनेके साधन होंगे वहीं निम्न कौटिली वृत्तिको तृप्त करनेका भी प्रयास अवश्य हुआ होगा अर्थात् महाकुरुचिपूर्ण, अश्लील और वीभत्स प्रदर्शन भी होते होंगे जैसे अब भी भौंहोंकी भइँलीमें होते हैं। इसलिये नैतिक शासकोंने पीछे उसमें यह पक्ष भी जोड़ दिया होगा कि नाटकके द्वारा उपदेश भी मिलना चाहिए और विनोद भी।

अतः हम इस निष्कर्षपर पहुँचे कि लोगोंको चिन्तामुक्त करनेके लिये, संगीत, कथा और अभिनयके संयोगसे मनोविनोद और उपदेशके उद्देश्यसे विशेष पर्वों और उत्सवोंपर प्रयोग करनेके लिये नाटककी उत्पत्ति हुई।

॥ इत्यभिनवमरतश्रीसीतारामधिरचिताभिनवनाट्यशास्त्रे रूपकरचनाखण्डे नाट्योत्पत्तिप्रकरणं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥



परिभाषा

नाटककी परिभाषा

नाट्य किसे कहते हैं ?

त्रैलोक्यास्त्य सर्वस्य नाट्य भावानुकीर्त्तनमिति नाट्यशास्त्रे [शास्त्र बताता है कि त्रैलोक्यके भावोंका अनुकीर्त्तन नाट्य ।]

नाट्यशास्त्रमें नाटककी परिभाषा और उसके स्वरूपकी व्याख्या कई प्रकारसे की गई है। देवताओंने ब्रह्माजीके पास जाकर यह कहा कि आप हमारे लिये कोई ऐसा खेल निकालिए जो देखा भी जाय और सुना भी जाय। इसलिये आप एक ऐसा पाँचवाँ वेद बना दीजिए जिसका आनन्द सब वर्णवाले ले सकें क्योंकि आपने जो चार वेद बनाए हैं वे शत्रुओंको नहीं सुनाए जा सकते। यह सुनकर ब्रह्माजीने ऋग्वेदसे पाठ्य, सामवेदसे गीत, यजुर्वेदसे अभिनय और अथर्ववेदसे रस लिए और वेदों तथा उपवेदोंसे मिलता

बुलता ऐसा नाट्यवेद बनाया जिसके साथ इतिहास भी जुड़ा हुआ था—

नाट्यसंज्ञमिम वेद सेतिहास वरोम्पहम् ॥ नाट्यशास्त्र १, १५ ॥

[यह नाट्य नामका वेद ऐसा बनाता है कि इतिहास भी इसके साथ मिला रहेगा ।] इससे पूर्व इतिहास और वेद अलग अलग थे। इतिहासकी परिभाषा यह बताई गई है—

धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वित ।

पूर्ववृत्त कथानुत्तमितिहास प्रचक्षते ॥

[धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके उपदेशोंसे युक्त भूत काटकी घटनाओंके वर्णनकी कथाओंके समूहको इतिहास कहते हैं ।] अतः वेदने अपने अपौरुषेयत्वके कारण जो

सम्मान प्राप्त किया था वह पौरुषेय इतिहासको न मिल सका। किन्तु स्वयं ब्रह्माजीने चारों वेदोंके तत्त्वके साथ इतिहासको मिलाकर पाँचवें नाट्यवेदकी सृष्टि की। वेदोंके साथ इतिहासके इस ग्रन्थिवेधनकी गाथा साहित्यके इतिहासकी बड़ी महत्त्वपूर्ण घटना है क्योंकि इस संयोगके काव्यमें एक नये युगकी सृष्टि हुई जिसने काव्यको दृश्यत्व प्रदान करके उसे सजीव भी कर दिया और नाट्यमें कर्मात्त्वकी महत्ता भी प्रतिष्ठित कर दी। नाट्यवेदकी सृष्टि करके ब्रह्मा जीने भरत मुनिसे कहा कि आप इसका प्रयोग कीजिए। भरतने महेंद्र विजयोत्सवके अवसरपर पहले पहल 'दैत्यदानव-नाशनम्' नामका नाटक खेला। उसे देखनेके लिये जो दैत्य और दानव आए थे उन्हें यह बात बहुत बुरी लगी। उन्होंने कुछ ऐसी मया रची कि नर्तकी बोली बन्द हो गई, उनके हाथ पैर रुक गए, वे पाठ भूल गए और नाचनेके लिये उनके पैर ही न उठे। इन्द्रको जब यह बात हुआ तो उन्होंने इन सब दैत्योंको पीटपीटकर उनके पलजर ढाल कर दिए और नाट्यशालाके निर्माण और उसकी रक्षाकी पूरी व्यवस्था कर दी। तब देवताओंने ब्रह्माजीसे कहा कि पहले आप शान्तिसे इन दैत्योंको समझा दें। फिर भी ये न म.में तो दाम, भेद और दण्डकी नीति काममें लाई जाय। उस समय दैत्योंको समझाते हुए ब्रह्माजीने नाट्यकी और नाट्यके उद्देश्यकी विस्तृत व्याख्या की है। नाट्यकी परिभाषा करते हुए उन्होंने कहा—

भवता दैवताना च शुभाशुभविकल्पकः ॥ ११.०२ ॥
 कर्मभावान्वय,पेशो नाट्यवेदो मया वृतः ।
 नैकान्ततोऽत्र भवता देवाना चाय भावनम् ॥ ११.०३ ॥
 श्रैलोक्यास्य सर्वत्र नाट्य भवानुत्तमम् ॥ १,१०५ ॥
 नानामावांसम्भन् नानावस्थान्तरात्मकम् ॥ १,१०८ ॥
 लोभवृत्तानुकरण नाट्यमेतन्मया वृतम् ।
 उत्तमायमम-याना नरणा कर्मसंश्रयम् ॥ १,१०९ ॥
 न तज्जान त तच्छिल्प न सा विद्या न सा कला ॥ १,११३ ॥
 न स योगो न तस्मिन् नाट्येऽस्मिन् यत्र दृश्यते ।
 सर्वशास्त्राणि शिल्पाणि कर्माणि विविधानि च ॥ १,११४ ॥
 अस्मिन्नः सर्वे समताः त-म,देवतया वृतम् ॥ १,११५ ॥
 समद्वीगानुकरण नाट्ये ह्यस्मिन् प्रतिष्ठितम् ॥ १,११६ ॥
 देवतानामृतीना च रातामथ बुद्धिभिनान्म् ।
 वृत्तानुकरण लोके नाट्यमित्यभिधीयते ॥ १,११८ ॥
 [इस नाट्यवेदमें दैत्य तथा देवता दोनोंके भेद हुए

कार्यों, भावों और चेष्टाओंका समावेश है, अकेले तुम दैत्योंका या अकेले देवताओंका ही नहीं। यह नाट्य तो पूरे तीनों लोकोंके भावोंका अनुकरण है। यह मैंने ऐसा बनाया है कि इसके द्वारा अनेक प्रकारके भाव तथा अनेक प्रकारकी अवस्थावाले संसारकी दशाका अनुकरण किया जा सकेगा। इसके द्वारा उत्तम, मध्यम और अधम सभी प्रकारके लोगोंका चरित्र दिखाया जा सकेगा। सातों द्वीपोंके निवासियों, देवताओं, ऋषियों, राजाओं और कुटुम्बियोंके किए हुए कार्योंका अनुकरण जिसके द्वारा होगा वही नाट्य कहलायगा।]

इसके अतिरिक्त वहाँ नाट्यशास्त्रमें नाट्यकी व्याख्या करते हुए यह भी कहा गया है—'अवस्थातुङ्गनिर्माद्यम्।'

[किसी भी अवस्थाके अनुकरणको नाट्य कहते हैं।]
 इसका यह अर्थ हुआ कि इस अर्थागत लोकमय विश्वके किसी भाग या अंगकी जो अवस्था कभी रही हो या हो अर्थात् इस विश्वमें जो घटनाएँ पहले हो चुकी हों या हो रही हों उन्हें ज्यों-ज्यों करके दिखाना ही नाट्य कहलाता है। इसके अंतर्गत पाँच बातोंका समावेश होता है, १—जिस स्थानपर या जिन कालमें घटना हुई हो वह स्थान या काल प्रदर्शित करना, २—उस स्थान या कालमें होनेवाली घटनाओंमें भाग लेनेवाले व्यक्तियों या जीवोंके अनुरूप वेश धारण करना, ३—उनके अनुरूप बोलना, ४—उनके समान आंगिक चेष्टाएँ करना, और ५—उनके अनुसार मानसिक भाव प्रकट करना। भारतीय नाट्यशास्त्रमें स्थानके प्रदर्शनका विवरण नहीं मिलता है अतः स्थानानुकरणके अतिरिक्त राष्ट्रीय परिभाषिक दृष्टिकोणमें अन्य चारों बातोंके अनुकरणको अलग अलग आहार्य, वाचिक, आंगिक तथा सात्त्विक अभिनय कहा गया है। इसका यह अर्थ हुआ कि नाट्यमें प्रधानतः दो कार्य होते हैं, एक तो निटली घटनाके अनुरूप लोग रूप धारण करते हैं और दूसरे उन रूपोंके अनुसार चेष्टा या अभिनय करते हैं। शरीरके साहित्य-दर्शनकारने कव्यके दृश्य और श्रव्य दो भेद बताते हुए दृश्यका वर्णन उद्योग बताया है—

दृश्य तयाभिनेय, तद्गणोपासुत्तरम् ॥

[दृश्य काव्य अभिनयके लिये लिखा जाता है और उद्योग नट लोग राम आदिना स्वरूप धारण करते हैं और

उन्हें नाटकके समय राम आदि माना जाता है इसलिये उस रचनाको रूपक भी कहते हैं ।]

आगे चलकर साहित्यदर्पणकरने अन्वयार्थोंके अनुकरणके ध्वनियको चार प्रकारका बताया है—

भवेदभिनयोऽवस्थानुकारः स चतुर्विधः ।
आगिको वाचिकश्चैवमाहार्यः सात्विकस्तथा ॥

[किसी भी अवस्थाका अभिनय चार प्रकारसे किया जाता है—आगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक। इन्हींके समन्वय से नाट्य या दृश्य काव्यकी सार्थकता होती है ।]

इन सत्र व्याख्याओंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि भरतके अनुसार तीनों कालोंमें जो व्यक्ति, घटना, वस्तु, विद्या, कला भी या है या होती सुनी गई है या होती कही गई है उन्हींका अनुकरण नाट्यके अन्तर्गत आता है ।

अभिनयदर्पणमें भी नाट्यकी व्याख्या है—
नाट्य तत्राद्यञ्चैव पूज्य पूर्वकथायुतम् ॥

[जिस नाट्य या नाटकमें कोई पुरानी कथा होती है वही पूज्य होता है ।] 'चेतिहास' शब्द भी यही सिद्ध करता है कि इसमें भूत कालका वर्णन होता है ।

आक्षेप

● कल्पितकथात्यागाक्षेपः ॥

[कल्पित कथा उपेक्षित होती यह इसपर आक्षेप ।]

तो क्या इसका तात्पर्य यह है कि भूत, वर्तमान या भविष्यकी किसी कल्पित घटनाके आधारपर नाट्य नहीं हो सकता ? पर यह भरतका उद्देश्य नहीं । क्योंकि स्वयं भरतने ही रूपकों और उपरूपकोंको जो भेद बताया है उनमें प्रकरण भाग, प्रवेशन, वीथी, नाटिका, गोष्ठी, सट्टक, नाट्यरसक, प्रस्थानक, काव्य प्रेरण, सलापक, शिल्पक, विलासिका, दुर्महिलाका, प्रकरणिका, हल्लीश तथा भाणिकाकी कथा कविकल्पित है। तब यह—

'कृतानुकरण लोके नाट्यमेतद्धविष्यति ।'

[जो किया जा चुका है उसका अनुकरण नाट्य कहलावेगा ।] कहीं तक ठीक होगा ।

आक्षेपका समाधान

● प्रसिद्धकल्पितकृतानुकरणं नाट्यम् ॥

[सत्र और कल्पना जगती अनुकृति ही है नाट्य ।]

कृत शब्दका सीधा अर्थ तो है 'जो किया जा चुका है, अर्थात् भूत कालकी घटना । किन्तु कृतियों कई प्रकारकी हैं । एक तो वह सम्पूर्ण सृष्टि ही है जो ईश्वरकी कृति है । दूसरे, हमारा समाज, नगर, ग्राम, प्रासाद, घर इत्यादि सब मानवीय कृतियाँ हैं । इससे भी ऊपर एक हमारा मानसिक जगत् है जिसमें हम नित्य न जाने कितने प्रकारकी मानसी सृष्टि करते और नष्ट करते रहते हैं । उस कृतिकी हम लोग उपेक्षा नहीं कर सकते । यह मानस या कल्पना जगत् दृश्य मान जगत्से भी अधिक प्रभावशाली और व्यापक होता है क्योंकि इस सृष्टिका आधार भी मानस व्यापार या कल्पना ही है । एकोऽहं बहुस्या प्रजायेय— [मैं एक हूँ, मैं बहुत रूपोंवाला हो जाऊँ ।] यह ब्रह्मकी कल्पना हुई और नाम-रूपात्मक सृष्टि बन गई । इसी प्रकार इस दुनियाँकी भी कल्पना है कि ईश्वरने कहा—'प्रक श हो ज य' और प्रकाश हो गया । मनुष्यकी भी सम्पूर्ण रचनाका आधार कल्पना ही है । पहले हम मनमें कल्पना करते हैं फिर उसके लिये साधन जुटाते हैं और साधन जुटानेपर कर्षण पूरा करते हैं । यदि साधन नहीं जुट पाते तो कार्य नहीं हो पाता किन्तु उस कार्यका सफल तो हा ही जाता है, उसकी मानसिक रूपरेखा तो बन ही चुकती है, अतः वह भी कृत या किया हुआ ही समझना चाहिए । जब कोई नाटक लिखता है, तब उसके मानव-चक्षुके समक्ष प्रत्येक दृश्य और प्रत्येक पात्र अपना वेद, वाणी और अभिनय लेकर साकार हो जाता है और उसी दृष्टिके सहारे वह नाटकलिल डालता है । नाटक लिखनेके पूर्व नाटकका काव्यबद्ध विषय कल्पना द्वारा कृत हो चुका है । इसलिये केवल पूर्वसंभूत वृत्त ही 'कृत' नहीं होते, कल्पना कृत वृत्त भी कृत ही होते हैं । इसी प्रकार भविष्यकी बात भी जब कवि कल्पित हो जाती है तो वह भी कृत ही होती है । कभी-कभी तो किसी सिद्ध त्रिकालचक्षु महापुरुषको ऐसी दिव्य दृष्टि मिल जाती है कि वह भविष्यकी प्रत्यक्ष रूपसे भूतमें ही देख लेता है जैसे आदिकवि वाल्मीकिने रामायणकी कथा पहलेसे ही देख ली थी । वह भी पूर्वदृष्ट होनेके कारण कृत ही हो जाती है । अतः दिव्य दृष्टिसे देखी हुई और कही हुई भविष्यकी बात भी कृत ही हो जाती है । तो भूत या वर्तमानकी घटनाएँ अथवा भूत, भविष्य, वर्तमानका कोई कविकल्पित वृत्त भी नाट्यका आधार हो सकता है ।

नाट्यकारत्वमें स्वयं ब्रह्माजीने भी नाट्यकी परिधिमें स्पष्ट करते हुए कहा है—

भविष्यतश्च लोमस्य सर्वकर्माणुदर्शनाम् ।

[भविष्यमें आनेवाले लोकके सब कर्मों का अनुकरण भी नाट्यमें दिखाया जायगा]

इसका परिणाम यह निकला कि वास्तविक घटनाओंके अतिरिक्त भूत, भविष्य, वर्तमानके सम्बन्धी कल्पनाके आधारपर रची हुई उन कथाओंका भी नाट्यमें समावेश हो सकता है जो कभी न हुई हों किन्तु जो हो सकती हों या कविके मतसे होनी चाहियें। इसका यह अर्थ हुआ कि नाट्यमें चार प्रकारकी अवस्थाओंके अनुकरणभी सम्भावना है। (१) जो हो चुकी हों, (२) जो हो रही हों, (३) जो हो सकती हों और (४) जो होनी चाहियें। अर्थात्, नाट्यकी कथा प्रसिद्ध या ऐतिहासिक भी हो सकती है और कल्पित भी।

यह भी प्रश्न है कि जब नाट्य सब अवस्थाओंका अनुकरण है तो उसमें टीका वही व्यवहार होना चाहिए जैसा अनुकरणीय अवस्थामें हुआ था। इसका तात्पर्य यह हुआ कि बातचीत, वेश विन्यास और भागिक चेष्टाएँ टीका वैसी ही होनी चाहियें जैसी अनुकरणीय अवस्थामें हुई थीं। किन्तु जब नाट्यकार रचना करने लगता है उस समय वह केवल कथा जानता है और उस कथाके आधारपर वह दृश्यों तथा पात्रोंकी बातचीतकी कल्पना करता है। उस बातचीतकी कल्पनामें वह इस बातका ध्यान रखता है कि बातचीतसे लोगोंका विनोद हो, कथाका विस्तार और स्पष्टीकरण हो, कथाके रूपके अनुसार पात्रोंका चरित्र स्पष्ट होता चले और पात्रोंकी चेष्टाओं तथा घटनाओंके क्रमसे उद्दिष्ट परिणाम उत्पन्न हो। अतः नाट्यकारको कुछ ऐसे साधन जुटाने पड़ते हैं जिनसे सब प्रकारके लोगोंका विनोद हो, कथाका स्पष्टीकरण हो और जो प्रभाव वनि उत्पन्न करना चाहता है वह प्रभाव भी उत्पन्न हो। लोक-विनोदके लिये, और संगीत तथा कथाका उचित सन्निवेश करनेके लिये वह गद्यपद्यकी काव्यभाषाका भी प्रयोग करता है।

ब्रह्माजीने नाट्यकी सृष्टि करते समय कहा था— 'हमने ऋग्वेदसे पाठ्य लिया है।' ऋग्वेद तो मूल काव्य-मय है, अतः पद्यका प्रयोग नाट्यमें प्रारम्भसे ही होने लगा था। उन्होंने नाट्यके चार अंग पहचाने ही स्थिर कर लिए थे कि नाट्यमें पाठ्य, गीत, अभिनय और रस होने ही

चाहिए और उसका उद्देश्य होना चाहिए विनोद और हितोपदेश। इसका अर्थ यह हुआ कि नाट्यमें गद्य-पद्यमय सवादके आधारपर अभिनय हो और साथमें उचित अवसरोंपर संगीतका भी प्रयोग हो।

जहाँ ब्रह्माजीने यह कहा है कि तीनों लोकोंके भावोंका अनुकरण ही नाट्य है वहाँ उद्देश्य यही है कि नाट्यमें केवल मनुष्योंके भावोंका ही अनुकरण नहीं है जैसा भररत्ने अपने काल्यशास्त्रमें माना है वरन् अन्य जीव-जन्तु भी उसमें आ जाते हैं। हमारे देशके नाट्यकारोंने इसी आधार पर मृग और कोकिलको भी पाल लिया है। अभिज्ञान-शकुन्तलके चतुर्थ अक्षमें जब शकुन्तला विदा होने लगती है तो उसका पाला हुआ दीघांगम मृग पीछेसे आकर उसका बल्कल पकड़ लेता है और शकुन्तला कहती है— [गतिभङ्ग रूपयित्वा] को गु क्लु एसां गियसणे मे सज्जह । [चलनेमें रुकावटका अभिनय करती हुई] ओं ! यह कौन मेरा आँचल पकड़कर लूँच रहा है । (पीछे घूमकर वह देखती है ।) इसपर कथ्य करने हैं— वल्ले ! कुद्राके कँठसे छिदे हुए जिसके मुपदेश अच्छा करनेके लिये तुम उत्तर दिगोत्का तेल लगया करती थी वही तेरे हाथके दिए हुए मुट्ठी भर सोंबके दानोंसे पला हुआ तेरे पुत्रके समान प्यारा हरिण तेरा मार्ग रोके खड़ा है ।

हरिण बोल नहीं सकता अतः उसके मनके भाव दिखानेके लिये कविने उसके मुँहमें शकुन्तलका आँचलभर पकड़ा दिया।

उसी दृश्यमें जब कथ्य वनदेवताओंसे भंग हुए तपो-वनके वृद्धोंको सम्नोषित करके उनमें शकुन्तलका विदा करनेकी आज्ञा देनेके लिये कहते हैं उसी समय कोपलकी क्रुक् सुनार्द पड़ती है और कथ्य कहते हैं—

अनुमतगमना शकुन्तला तदभिधिय वनवासवन्तुभिः ।
परभृतविरुत वल यथा प्रतिवचनीकृतमभिर्दिदाम् ॥
[शकुन्तलाके वनके साथी वृद्धोंने कोपलके शब्दोंमें उसे जानेकी आज्ञा दे दी है ।]

यह सभी जानते हैं कि वृष बोल नहीं सकते किन्तु नाट्यकारको यह दिखलाना अभीष्ट था कि जिन लला-वृद्धोंको शकुन्तलने भार-बहनके समान पाला था उनके हृदयमें भी शकुन्तलाके प्रति आत्मीयता थी। उस आत्मीयताका प्रकट करनेका एक मात्र साधन यही था कि यदि वृष

स्वयं नहीं बोल सकते तो अपने क्रोड़में रहनेवाले पक्षियों के द्वारा ही अपने भाव व्यक्त कर दें। उनके इस भवकों कण्ठ तत्काल समझ गए क्योंकि वे सर्वज्ञ थे। उनके विषय में स्वयं मारीच कदयने से तम धक्के करा था—

तप प्रभावात् प्रत्यक्ष सर्वमेव तनभनतः ।

[अर्थात् तपके प्रभावसे कण्ठ ऋषि सब कुछ जानते हैं ।] किन्तु डॉक्टर बलवलकरने अतिउत्तम भारतीय विनम परिपद्द द्वारा प्रकाशित कालिदास ग्रन्थावलीके तृतीय खण्ड में निसर्गकव्या शकुन्तला शीघ्रक लखभ यहाँतक लिखा है कि कण्ठके आश्रमके लतावृक्षोंने कण्ठ कोयलके द्वारा ही विदाकी स्वीकृति नहीं दी वरन् आदिसे लेकर अन्ततक शकुन्तलाकी मुख-वृद्धिमें भी वे साधक रह। शकुन्तलाकी निदाके समय उसक श्रुति गारके लिये सत्र समझी इन्टो वृक्षांन दी थी ।

लोम केनचिदिन्दुगण्डु तरुणा माङ्गल्यमाविष्कृत
निग्रयुत्तन्वराणामभोगमुलभा लभारस, केनचित् ।
अन्येभ्या वनदेवतान्तरतैरापवर्भगास्थितै
दत्तन्वामरणानि तस्मिन्सल्योद्धेदप्रतिद्विद्विभि ॥
[किंवा वृक्षने शुभ्र मांगलिक वस्त्र दिए किसीने पैरमें लगानेकी महारदी और वनदेवियाँन तो काँगला से हाड़ करनेवाले अपने हाथ बल इतक उठाकर बहुतेसे आनूपग दे डाले हैं ।]

जिस समय शकुन्तला विदा होती है उस समय नहीं हरिण दूध चरना छाड़ देते हैं वहाँलतएँ पीले पचाँक रूपमें आँव बरसाता है ।

उपगलि नदभनकनला मिशा परिशयचण्णा मोरा ।
आसरिश पण्डुपत्ता मुञ्जन्ति अस्थु विव लदाओ ॥
बलवलकरजीने यह कल्याणी की है कि भोरेको उड़ाकर वन-योत्सना लताने ही शकुन्तला और दुष्यन्तमा मिलने की परिस्थिति उत्पन्न थी थी। वे कहते हैं कि छिप हुए राजा मनन्वन्त नाने देख लिया था और उसान भौरमा उम्मानका काम निजा ।

अने तक्रमा दृढ करते हुए वे लिखते हैं—उस दिन प्रातःकाल शकुन्तलाने न जाने कितने वृक्षाँ वार लताओंको साँचा था तो केवल वन-गोतनाके थँपरेसे ही भ्रमरको क्यों निकलना चाहिए था । इन सब बातोंसे यह निश्चय है कि नाट्यशास्त्रके 'त्रैलोक्यस्थास्य सर्वस्य

नाट्य भावानुकीर्तनम्का ठीक ठीक अर्थ भारतीय नाट्यकार ही समझे । उनमें भी सबसे प्रमुख थे महाकवि कालिदास ।

रत्नवली नाटिकाके रचयिता महाकवि श्रीहरपने सारिकामा एक पात्र बनाया है और वह कोयलके समान केवल वृक्षर नहीं रह जाती वह मनुष्यकी वाणीमें नालती भी है। सागरिकाने जो जो बातें राजाके प्रति अकेलेम कर्ता वे केवल सारिकाने सुनी ही नहीं उन्हीं वह सारिकाकहती भी जाती थी और उसीके कहनेसे सागरिकाने प्रति राजाको प्रेम उत्पन्न हुआ । भवभूतिने ता अपि प्राचारोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम् । [पत्थर भी रोते हैं और वज्रका हृदय पाड दे रहे हैं] कहा है। अतः यह निश्चय है कि नाट्यशास्त्रमें नाट्यीय व्यापारके कर्ता केवल मनुष्य ही नहीं ह प्रकृतिके अन्य अङ्ग भी हैं ।

बहुतेसे लोगका यह कहना है कि भारतीय नाट्यकम केवल उदात्त पुरुषाँना या राजाआका ही चरित वर्णित होता है। मनुष्यसामाजिक प्रणी है और समाजकी स्थिरता के लिये यह आवश्यक है कि इसके सत्र कार्य लोकमगल कारी हों। लोकात्मगल-सरिताने आदर्श प्रत्येक समानके रूपगत स नाराँ भावनाआ तथा उस समाजमें उत्पन्न हुए महापुरुषाके चरितापर अवलम्बित होते हैं। महाजना यन गत, स पन्था' तथा—

यत्रदाचारित श्रेष्ठः तत्तदेवतरो जनः ।

स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवचते ॥

—वाला सिद्धान्त केवल भारतमें ही नहीं सवारके मज देवाँमें समान रूपसे पाया जाता है। यहाँतक कि ५५ प्रतिभियागादी होते हैं और रुद्धि ताड़ना चाहते हैं व भी कान् न कोई आदर्श एकर चलते हैं और जन उनके भी कुछ अनुषयी हो जते हैं ता उनका आदर्श भी रुद्धि गत हा जाता है। रुट हानेके लिये कई पाठियोंकी पररा अपेक्षित नहीं हैं। यदि किसी एक व्यक्तिके अनुसार दूसरा व्यक्ति आचरण करता है तो वह रुद्धिका ही पालन करता है। अतः आदर्शसे कोई वचकर नहीं रह सकता । और यह बात विशद रूपसे आनमलके याने पढे हुए विदेशी सध्दतिसे प्रभावित कुछ प्रगतिवादी कदृष्टाने बाल अल्पस लोग ही करते हैं। किन्तु भारतीय नाट्यशास्त्रमें ऐसा कहींकहा ही नहीं गया । उसमें तो अनेक म बाँगल

तथा अनेक अवस्थाओंमें काम करनेवाले सब प्रकारके लोगोंके कामोंके अनुकरणवा विधान है जिसमें उत्तम, मध्यम और अधम तीनों प्रकारके मनुष्योंका, देवताओंका, राजाओंका, ऋषियोंका तथा कुटुम्बियोंका यद्येत्क कि राक्षसोंका भी अनुकरण किया जा सकता है। अतः भारतीय नाट्यशास्त्रमें केवल उच्चवर्गवादी नहीं समझना चाहिए। हों, उनका यह उद्देश्य अवश्य रहा है कि उसमें चरित्र तो सबका वर्णन किया जाय किन्तु उससे सवना विनोद हो और सबको अच्छा उपदेश मिले। वह किसीके जीको दुखाने वाला, कष्ट देनेवाला, अमगलकारी अथवा लोक-विनाशकारी शिक्षा देनेवाला न हो। इसका यह अर्थ हुआ कि यद्यपि उसमें सभीका अनुकरण हो किन्तु उससे मनोविनोद, उपदेश और विश्रान्ति मिले और यह तभी सम्भव है जब दर्शकोंको उसके प्रदर्शनमें रस मिले, वे देखते-देखते तन्मय हो जायें और तन्मयता तभी हो सकती है जब अभिनय अत्यन्त स्वाभाविक हो। भवभूतिके उत्तर-रामचरितमें वर्णन आया है कि जब वाल्मीकिने रामके सम्मुख नाटक दिखवाया था तो राम इतने व्याकुल हो गए थे कि लक्ष्मणको उन्हें सावधान करते हुए कहना पड़ा कि 'आर्ये ! नाटकमिदम्। आर्ये ! आश्वस्त्य इत्ययताम्। प्रबन्धत्वापि' [आर्य ! यह नाटक है। सावधान होकर देखिए, यह ऋषिद्वारा कल्पित (नाटक) है]। इस प्रसंगमें राम उस नाटकको सत्य समझ बैठे थे, रस ले रहे थे, तन्मय हो गए थे। किन्तु काव्यशास्त्रियोंके अनुसार यह अवस्था सहृदयोंकी ही होती है। तो क्या लक्ष्मण सहृदय नहीं थे ? अवश्य सहृदय थे, किन्तु निरप पादाभिव्यदनके कारण नूपुर पहचाननेवाले जिस लक्ष्मणने सीताजीका केसूर और कुण्डल तक छिर उठाकर नहीं देखा, सेवक भाव से ही रामको देखा, उन्होंने जब रामको व्याकुल होते देखा तभी सावधान कर दिया। अन्तमें जब सीताजी, वसुन्धरा और भागीरथीके साथ चली गई उस समय लक्ष्मण भी बोल उठे थे—भगवन्वाल्मीकि ! परित्रायस्व। एष ते काव्यार्यः। [बचाइए बचाइए भगवन् वाल्मीकि ! यस बहुत हो चुका नाटक।] इससे बड़ी नाटककी सफलता क्या हो सकती थी कि राम जैसे धीर भी उसमें तन्मय हो जायें।

अतः नाटकमें इस प्रकार अभिनय होना चाहिए कि दर्शक तन्मय होकर रस लेने लगे। दर्शकोंको तन्मय करने

और रसमग्न करनेके लिये यह आवश्यक है कि अनुकरण-कला या अभिनेता अनुकरणकी कलामें प्रवीण हों और उन्हें उचित शिक्षा दी गई हो क्योंकि ज्वतक उचित शिक्षा न दी जाय तबतक तन्मय कर सकनेकी क्षमता अभिनेताओं या नटोंमें नहीं हो सकती और शिक्षा मिलनेपर भी उन्हें पूर्ण आत्मविश्वास तबतक नहीं होता जबतक विद्वान् लोग उसकी प्रशंसा नहीं करते। अभिज्ञान शाकुन्तलके प्रारम्भमें कहा भी गया है—

आपरितोपाद्भिदुपां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।
बलवदपि शिक्षितः न, मात्मन्यप्रत्यय चेतः ॥

[नाटककी सफलता तबतक पूरी नहीं समझनी चाहिए जबतक विद्वान् लोग न समुद्र हों। क्योंकि अभिनेताओंको चाहे जितना खिला-पढ़ाकर पक्का करो फिर भी उनको अपने ऊपर भरोसा नहीं होता।] इसलिये नाटकको पूर्णतः सफल और प्रभावोत्पादक बनानेके लिये यह भी उचित है कि नटोंको किसी बुशल नाट्य-प्रयोक्ताके द्वारा भली प्रकार शिक्षा दिखाई जाय।

नटोंको शिक्षा देनेका आधार वह गद्य-पद्य गीतमय नाटक है जिसमें नाटककार, सवादके अतिरिक्त स्थान, दृश्य, रंग-संचालन, व्यापार, भावप्रदर्शन तथा अन्य समस्त क्रियाओंका निर्देश करता चलता है। अतः नाटकका आधार वह काव्य है जो नाटककारने अभिनयके उद्देश्यसे लिखा हो।

अतः नाट्य उस काव्य रचनाने कहते हैं जिसमें वार्तविक या किरिपत तीनों लोगोंकी सब प्रकारकी अवस्थाओं का अनुकरण हो सके और यह अनुकरण नटों-द्वारा चारों प्रकारके अभिनयोंके साथ दर्शकोंके सम्मुख रगनीटपर किया जाय। विनोदजनक बनानेके लिये उसमें संगीतका प्रयोग हो तथा हितापदेशजनक और विश्रान्तिजनक बनानेके लिये उसका पाठ्य अर्थात् सम्वाद इतना भावपूर्ण हो कि जब अभिनेतागण उसका ठीक-ठीक अभिनय करें तो दर्शक अपनी चिन्ताओं तथा मानसिक व्याधियोंको भूलकर नाटकमें जो कुछ हो रहा हो उसीके साथ एकचित्त या समरस हो जायें। इसके अनुसार नाटककी परिभाषा यह होगी—

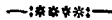
ॐ नाट्यकारकृत-प्रसिद्धकल्पित-कथाधार-प्रथित-रचनानुसारतः-रंगपीठे प्रयोक्तृशिक्षित-नटाभिनय-संवाद-संगीतादि-जन्यरसद्वारा-प्रेतकाणां विनोद-विश्रान्त्युपदेशजनकं कार्यं नाटकं रूपकं वा ॥

[किसी प्रसिद्ध या कल्पित कथाके आधारपर नाट्यकार द्वारा रचित रचनाके अनुसार नाट्य प्रयोक्ता द्वारा सिराए हुए नट जन अभिनय तथा संगीतादिके द्वारा रस उत्पन्न करके प्रेक्षकोंका विनोद करते हैं, तथा उन्हें उपदेश और मनः शान्ति प्रदान करते हैं तब उस प्रयोगको नाटक या रूपक कहते हैं ।]

इसमें साध्य है रस, साधन हैं अभिनय, संवाद तथा संग तादि, निमित्त हैं नट,साधक हैं दर्शक, आधार है कथा

और इन सबका संयोग करनेवाले हैं नाट्यकार और नाट्य प्रयोक्ता । इनमेंसे नाट्यकारतो सविधानक (कथानख), संवाद और गीत रचना करके अभिनय संवधी रंग निर्देश करता है और नाट्यप्रयोक्ता उस रचनाके आधारपर रंग पीठकी व्यवस्था करके नयोंको शिक्षा देकर, उन्हें अभिनय, संवाद और संगीत सिख कर दर्शकोंके सम्मुख प्रयोग करता है ।

॥ इत्यभिनवभरतश्रीसीतारामचिरचिन्ताभिनवनाट्यशास्त्रं रूपक-रचना खण्डे परिभाषा प्रकरणं नाम तृतीयोऽध्यायः ॥



सिद्धान्त

आदर्शवाद और यथार्थवाद

● यथार्थस्यासाधारणत्वमादर्शः ॥

[है यथार्थका असामान्य ही रूप बना आदर्श ।]

ऊपर कहा जा चुका है कि दर्शकोंका मनोविनोद करना, उन्हें उपदेश देना तथा उनके मनको विभ्रान्ति देना ही नाटक उद्देश्य है । इसलिये नाटकके विभिन्न अंगोंका विवेचन करनेसे पूर्व नाटक-रचनाके सिद्धान्तोंका विवेचन कर लेना अत्यन्त आवश्यक है । बहुतसे आचार्योंका मत है, कि नाटक आदर्शवादी होना चाहिए, अर्थात् उसमें किसी विद्विष्ट पुरुषके गुणोंका इस प्रकार अभिव्यञ्जन किया जाना चाहिए कि जीवनसी अनेक विषमताओंमेंसे होता हुआ सब परिस्थितियोंमें उसका व्यवहार असाधारण हो, किन्तु इस असाधारणतामें परहित, आत्मत्याग तथा लोक मंगलकी ही भावना निहित होनी चाहिए ।

वास्तवमें जो कुछ यथार्थ हम देखते हैं । उसीमें जब कोई असाधारण घटना हो जाती है और उस असाधारण घटनाका नायक अपने स्वार्थको छोड़कर परहितके लिये कोई अलौकिक कार्य कर बैठता है और मानव-समाज उस

कार्यके कारण उस घटनाके नायकको प्रेम आदर अज्ञा और भक्तिभी भावनासे देखने लगता है तो वह व्यक्ति आदर्श पुरुष हो जाता है, उसके कार्य आदर्श कार्य हो जाते हैं और उस व्यक्ति तथा उसके कार्यके आधारपर जो साहित्यिक रचना की जाती है वह आदर्श काव्य या आदर्शवादी कहलाने लगता है । अतः जिसे हम आदर्श या आदर्शवादी कहते हैं वह भी होता तो यथार्थ ही है किन्तु वह असाधारण, अलौकिक, असामान्य यथार्थ होता है ।

प्रत्येक रचनामें कवि चार परिस्थितियोंका वर्णन करता है १—क्या हो चुका है, २—क्या हो रहा है, ३—क्या हो सकता है, और ४—क्या होना चाहिए । इनमेंसे प्रथम और द्वितीय वास्तवमें यथार्थवादी हैं, जो केवल भूत और वर्तमान घटनाओं या व्यापारोंका लेखा उपस्थित करती हैं, किन्तु यह भूत और वर्तमानका लेखा काव्यका नहीं, इतिहासक विषय है । जो हुआ या हो रहा है वह हमारे पूर्वजोंके समाजका या हमारा प्रत्यक्ष अनुभव है, उसमें कविकी विचार करनेका, निर्णय करनेका या संदेश

देनेका अवकाश ही कहों है, और फिर जो वस्तु सचकी प्रत्यक्ष अनुभूत हो उसे लोकके सम्मुख उपस्थित करनेमें कुतूहल ही क्या है। यह साधारण अनुभवकी बात है कि कोई भी व्यक्ति किसी विशिष्ट पुरुष, स्त्री, वस्तु या स्थानको देखकर तभी आकृष्ट होता है जब वह कुतूहल-जनक हो। कुतूहल-जनक होनेके लिये कोई विलक्षणता, अलौकिकता, विशेषता, असामान्यता, असाधारणता होनी चाहिए। अतः जब साधारण लोकव्यवहारमें ही हमारे सम्पूर्ण आकर्षणका केन्द्र असाधारण होता है, तब विभिन्न रुचिके लोगोंका सामूहिक मनोविनोद करनेवाले नाट्यमें उसकी उपेक्षा कैसे की जा सकती है।

मनोविज्ञानके आचार्यों ने यह सिद्धान्त स्थिर किया है कि किसी भी वस्तुमें तन्मयता प्राप्त करनेके लिये उसके प्रति मनकी एकाग्रता आवश्यक है, मनकी एकाग्रताके लिये उस वस्तुमें रुचि अपेक्षित है, रुचिके लिये उस वस्तुमें कुछ कुतूहल होना चाहिए और कुतूहल केवल उसीमें हो सकता है जो अलौकिक या असाधारण हो। जबतक यह तन्मयता नहीं होगी तबतक उस वस्तुका वास्तविक आनन्द या रस नहीं मिल सकता, अतः रस या आनन्दका मूल असाधारणता ही है। इसी असाधारणताका दूसरा नाम आदर्श है, इस दृष्टिसे आदर्श वीर भी हो सकता है और आदर्श कायर भी हो सकता है, आदर्श विद्वान् भी हो सकता है, आदर्श मूर्ख भी हो सकता है। वीर या विद्वान्के प्रति हमारे हृदयका रति-भाव जागकर स्नेह, आदर, श्रद्धा या भक्ति बनकर प्रकट होता है, और कायर तथा मूर्ख हमारे हास्यके भावको उद्दीप्त करते हैं। रसानुभूतिके लिये दोनोंकी आवश्यकता है, किन्तु दोनों ही आदर्श होने चाहिए। जितना ही अधिक आदर्श वीर होगा, उतनी ही अधिक उसके प्रति हमारी आत्मीयता होगी, उतना ही अधिक हम उसके दुःखसुखमें सहानुभूति प्रकट कर सकेंगे, जितना ही आदर्श मूर्ख होगा उतना ही अधिक वह हमारे हास्यको शक्ति प्रदान करेगा। तात्पर्य यह हुआ कि लोकको अपनी ओर आकृष्ट करनेके लिये वाक्यमें असाधारणकी प्रतिष्ठा जरूरी ही पड़ेगी।

यथार्थवादीकी व्याख्या

● याथावश्यकं यथार्थम् ॥

[जैसा हो वैसा कह देना है यथार्थका अर्थ ।]

यथार्थवादियोंका एक यह सिध्दा धारण है कि प्राचीन ग्रन्थकारोंने केवल राजा-रानियों या सामन्तोंके ही गीन गाए हैं, जनसाधारणके प्रति उन्होंने उदासीनता दिखाई है, उनके जीवन और आचरणकी उन्होंने सदा उपेक्षा की है, उनकी व्यथा और पीड़ाको उन्होंने स्थान नहीं दिया, उनकी रुचि, वृत्ति, प्रवृत्ति और अकाशाक्त उन्होंने आदर नहीं किया। (युथार्थवादका जो आन्दोलन फ्रांसमें हुआ, वोल्टेरा और दिदरॉने प्रारम्भ किया उसमें मूल प्रवृत्ति यही थी कि जितना कुछ रुद्ध है, परम्परागत है, वह सब थोथा, निरर्थक, हानिकारक और समाजकी उन्नतिमें घातक है, उसका पालन करनेका अर्थ है केवल कुछ भोठेसे गिने-चुने लोगोंके हाथमें विशाल जन-समूहका भाग्य सौंपना अतः उसका विरोध होना चाहिए। समानताके आधारपर नई सृष्टि होनी चाहिए, नई शिक्षा होनी चाहिए, नया समाज बनना चाहिए जिनपर केवल एक विशिष्ट स्वार्थी वर्गका प्रभुत्व न हो, जिसमें सभी लोगोंका समान अधिकार और समान प्रतिनिधित्व हो। इन लोगोंने जहाँ समाजको, धनीवर्गको और सत्याधिकारियोंको चपेरा वहाँ इन्होंने धर्म-शुद्धोंकी भी भरपेट भर्त्सना की और अन्धविश्वास तथा रुढ़िके विरुद्ध विद्रोहका झंडा खड़ा कर दिया। इन्होंने पश्चात् उन्नीसवीं शताब्दीमें फ्रांसीसी उपन्यासकारोंने तथ्यवादी या निसर्गवादी दल उत्पन्न हुआ जिनमें गौनकोर वस्तु, एमील जोला, गाइते मोपासॉ, एस्कोज़े दौदै और जोरी कार्ल हिदमाका नाम उल्लेखनीय है। ये अपनेको प्रसिद्ध निसर्गवादी स्तैन्बौल, बाल्ज़क और फ्लौबेका शिष्य बताते थे। इन सबका करना है कि हमें अपने कर्णोंमें जीवनकी वास्तविकताओंका उसी शुद्धता और सटीकतासे चित्रण करना चाहिए जिस शुद्धता और सटीकतासे रूपकार अपने चित्रक यन्त्रसे रूप खींचता है और कलात्मक चित्रणका पूर्ण बहिष्कार करना चाहिए। इस निसर्गवादी श्रॉकमें इन लोगोंने ऐसी विचित्र शैली और पदावलीमें रचना प्रारंभ कर दी कि इनकी समाप्तिके पश्चात् एक लघु-प्रतिष्ठ फ्रांसीसी विद्वान्ने केवल इनकी पदावलीका अर्थ समझानेके लिये एक नये कोशका निर्माण किया।

इन लोगोंने यथार्थ, तथ्य और सत्यका पस्सा धामहर जो निसर्गवाद या सत्यवाद खड़ा किया वह अधिक दिनोंतक नहीं टिक सका। थोड़े दिनोंमें इन लोगोंकी कृतिमेंसे

यही परिणाम निम्नलिखित जाने लगा कि जो असुन्दर अमव्य विद्रोहात्मक उच्छृङ्खलतापूर्ण अस्वच्छिन्न और ध्वंसकारी हो वही निरसर्गवाद या यथाथवाद है। इन लोगोंकी प्रारम्भिक सत्यवादिता और स्पष्टवादिताने अन्तमें चलकर व्यक्ति तथा समाजका कट्ट अघिष्ट तथा अदलील आलोचन या आरोपका स्वरूप धारण कर लिया।

किसी प्राचीन सूचिकारने कहा है—

परनिन्दा परभिन्न परधनहरण पराभ्रण च।

वृत्त्यान्यतिनीचाना भूतल-विदितानि तान्यवधानि ॥

[दूसरेकी निन्दा दूसरेकी सुगली, दूसरेका अपकार करना, ये चार बुरे काम अत्यन्त नीच लोग करते हैं सारा ससार इस बातको जानता है।]

ससार इस बातको भोटे ही जानता हो किन्तु फिर भी ऐसे लोगोंकी कमी नहीं है जिन्हें दूसराकी खिल्ली उड़ानेमें आनन्द आता है, पगड़ी उछालनेमें रस मिलता है गाळी देनेमें स्वाद आता है। ऐसे लोग केवल व ही होते हैं जो स्वयं गुणहीन, अभ्यवसायहीन, आचारहीन और अकमप्य होते हैं। ये लोग दूसरेके उत्कर्षको सहन न कर सकनेके कारण उनके गुणमें अबगुण ढूँढते सद्वृत्तिमें दुर्वृत्ति खोजते हैं अपनी असमर्थता और त्रुटियोंको दूसरामें देखनेके लिये वे घोर प्रयत्नशील रहते हैं। ऐसे ही दुर्वृत्त लोग जब साहित्यमें प्रवेष्ट करते हैं तो उनकी लेखनीके समयका बौध्द जाता है, उनके मनका कल्प लेखनीकी जीमसे हलाहल बनकर वह निकलता है।

मनुष्य समाजिक प्राणी है। उसके मनमें लोकेपणावृत्ति बड़ी प्रबल होती है। वह चाहता है कि दस लाख मेरी बात सुनो, मेरी प्रशंसा करो मेरा गुण गावो मेरा नाम लो। अपनी लोकेपणाकी वृत्ति करनेके लिये वह अपनी प्रतिभा और शारीरिक शक्ति दोनोंको सन्निय करके लाकहितके लिये झाँक देता है। अपनी याग्यता समपता अथवा स्वयं, सद्व्यवहार लोकसत्ता तथा पाण्डित्यके बलपर वह लोक-सम्मान पाता है और यशस्वी बनता है। जिसमें याग्यता नहीं होती पण्डित्य नहीं होता कमप्यताका अभाव होता है किन्तु प्रतिभा हाती है वह वामान्चार प्रारम्भ कर देता है। वह दूसरोंके दोष निम्नलिखनेमें, बुराई करनेमें किए हुएको उल्टनमें, गाळी देनेमें अपनी

प्रतिभा लुप्त देते हैं और जब दस दुष्टिल जन उसकी पीठ ठोक देते हैं—वाह तुमने बड़ा अच्छा कहा बड़ा अच्छा लिखा है, तो उसे प्रोत्साहन मिल जाता है और उसे स्वयं यह विश्वास होने लगता है कि मैं नैतिक साहसना प्रदर्शन कर रहा हूँ, मैं स्पष्टवादी हूँ।

स्पष्टवाद देवीगुण है। यह सत्यका ऋतुका पर्यायवाची है और इसीलिये यह कभी अमगलकारक नहीं होता। सत्य या स्पष्टवादितामें स्वयं वण उठाकर दूसरेका कल्याण करनेकी भावना होती है। जो स्पष्टवादिता अमगलकारी होती है उसमें कहनेवाले या लिखनेवालेकी वृत्ति किसीका सुधार या हित करनेकी नहीं होती उसकी वृत्ति दूसरेका अपयश या अपमान करनेकी हानि पहुचानेकी, और अमगल करनेकी होती है। कभी कभी इस दुर्वृत्तिका प्रयोग भी किया जाता है कि दूसरेको धेनुसे बाहर करके स्वयं क्षेत्र पति बन बैठा जाय। किन्तु इस दुर्वृत्तिसे जो कुछ कहा या लिखा जाता है उसका शुद्ध अर्थ यही होता है कि स्वयं गुणहीन, सामर्थ्यहीन और कर्महीन होनेके कारण लेखक इत्यादि निन्दा करनेपर उतारू हो गया है और चाहता है कि मेरी शोषणी जले तो जले पर दूसरेकी मडैया अवश्य राख हो जाय। ऐसे लोगोंकी स्पष्टवादिता शुद्ध दाँग स्वार्थपूर्ण और शिष्याभिमानसे ओतप्रोत होती है उससे न समाजका कल्याण होता है न व्यक्तिका उलटे उससे अकल्याण होता है उन निरीह श्रोताओं और पाठकोंका बिनकी विवेचना शक्ति अपक या अर्द्धपक होती है जो किसी भी वचनको उदारतापूर्वक स्वीकार कर लेनेमें विवेकका प्रयोग नहीं करते।

आज्ञकल लोग जिसे स्पष्टवादिता करते हैं और जिसका पल्ला धामकर आपनेभी नैतिक कहनेका दम्भ करते हैं, वह उद्दण्डता या गुण्डट है। किसी कानेको काना करना स्पष्ट मल ही हो किन्तु सज्जनता नहीं है। इतना ही नहीं यह स्पष्ट दुर्जनता और नीचता है। यदि कोई देश-सेवक सन् १९४२ के आन्दोलनमें आपके सरक्षणमें छिपाया गया हो और ब्रिटिश सरकारके पुलनेपर आपने कह दिया हो—हैं मैं जानता हूँ पर बतार्जंगा नहीं तो यह स्पष्टवादिता है। इसके लिये शिवाय चाहिए, पौरुष चाहिए। आजकल बहुतेके लोग कामरेषकी नीतिसे अतद्मत हैं परन्तु इस भुये

कुछ नहीं बोलते कि कहीं सरकार पकड़ न ले। यदि इन्हीं मेंसे कोई लोकहितकी कामनासे सरकारसे भयभीत न होते हुए स्पष्ट रूपसे शीलपूर्ण भाषाओं में विरोध करे तो उसे स्पष्ट-वादी अवश्य कहा जायगा। किन्तु यदि हम किसी दुर्बलकी दुर्बलता और सज्जनकी सज्जनताका अनुचित लाभ उठाकर उसे अपशब्द कहें, उसे अपमानित करें तो यह शुद्ध नीचता है और इस प्रकारकी नीचता अशुभ अपराध है। यह न सत्य है, न तथ्य है न वयार्थ है। यह स्मरण रखना चाहिए कि जो सत्य होगा वह सदा शिव और मंगलकारी होगा, अनिष्टकारी नहीं हो सकता।

हम यह मानते हैं कि योरोपीय साहित्यमें जितना उदात्त काव्य मिलता है और हमारे देशमें भी जितना कुछ सुन्दर और श्रेष्ठ काव्य मिलता है उनमें प्रायः सभी नायक विशाळ कुल-सम्राज्य है, राजा-महाराजा हैं। किन्तु इसके साथ यह भी देखना चाहिए कि वर्णन करनेवालेने, काव्य लिखनेवालेने क्या किसी प्रकारके भयसे, लोभसे या अन्य किसी स्वार्थसे तो काव्यकी रचना नहीं की है। बहुतसे मित्रोंने कहा है कि वाग्ने जो हर्षचरित लिखा है वह राजाश्रित होनेके कारण लिखा है। किन्तु उसने तो अपने चचेरे भाईके कदनेसे हर्षचरित लिखा था। यदि यह मान भी लें कि राजाश्रित होनेके कारण उसने हर्षचरित लिखा तो कादम्बरी किन्तु राजश्रयसे लिखी ? वास्तवमें कोई भी कवि या लेखक किसीके, व्यक्तित्व, कार्य या विचारसे प्रभावित होकर उसका वर्णन करने लगता है। महाकवि कालिदासने इस धातका बड़ा अच्छा उच्चर दिया है। रघुवधके प्रारम्भमें ग्रन्थ लिखनेका कारण बताते हुए वे कहते हैं—

रघुगामन्वय वक्ष्ये तनुवाचिविभोऽपि सन् ।

तद्गुणैः कर्णमागत्य चागन्त्य प्रचोदितः ॥

[वागीश वैभव भोज्य हाते हुए भी मैं रघुशंका वर्णन कर रहा हूँ क्योंकि उनके गुणोंसे मेरे कानोंमें पहुँचकर मुझे यह डिटारद करनेको उकसाया है।] प्रायः ऐसा होता है कि ऐसे अद्भुत कार्य वे ही कर सकते हैं जिन्हें उचित अवसर प्राप्त हों और अवसर भी उन्हींको प्राप्त हो सके हैं जिनके पास साधन हैं और साधन उन्हींके पास होते हैं जो शक्तियाली, या यथावारी होते हैं। इसलिये

प्रायः सभी देशोंके कवियोंने राजकुलोंसे ही अपने काव्य-विषय लिए हैं।

किन्तु कभी-कभी साधारण धनहीन कुलवाले गुणी लोगोंके चरित्र भी काव्यके विषय बने हैं—मृच्छकटिक और दरिद्र चारुदत्त। चारुदत्त सीधा-सादा, सात्विक, गुणक ब्राह्मण ही तो है। आजकल भी महामना पंडित मदनमोहन मालवीय जैसे सात्विक महर्षिकल्प महापुरुषका जन्म साधारण विच्छहीन कुलमें ही तो हुआ। उनका चरित्र भी काव्यका विषय हो सकता है। इसके अतिरिक्त भरतने तो रूपके विभिन्न भेदोंमें ऐसे अनेक रूप और उपरूपक बताए हैं, जिनके नायक निम्न या साधारण श्रेणीके हैं। अतः यह कहना नितान्त भ्रामक है कि हमारे पूर्वज काव्यकारोंने साधारण मानवसमाजकी उपेक्षा की है। इसके अतिरिक्त सबसे महत्त्वकी बात यह है कि काव्योंके नायक भले ही उदात्त पुरुष रहे हों किन्तु काव्यके अन्तर्गत पात्रोंमें कवियोंने साधारण श्रेणीके लोगोंमेंसे श्रेष्ठ और श्रेष्ठतर पुरुषों और महिलाओंका चरित्र अंकित करनेमें कोई संकोच नहीं किया। रामायणमें निपाद और यानर, कादम्बरीमें पत्रलेखा आदि इसके ज्वलत प्रमाण हैं।

हाँ, यह बात अवश्य है कि केवल निम्न श्रेणीके गुणहीन व्यक्तिकी कल्पित विपत्ति, व्याधा और निर्भयताका चित्रण हमारे यहाँ नहीं किया गया, क्योंकि हम पहले ही कह चुके हैं कि काव्यका विषय वही बन सकता है जिसके चरित्रसे लोकनिनाद हो, उपदेश मिले, मनको शान्ति मिले। अतः जो वयार्थवाद निषेध है, केवल चित्रण-मात्रके लिये किसी उपेक्षित वर्ग या श्रेणीका चित्रण करता है वह तथ्यक निरर्थक है जबतक वह हमारे भावोंको उद्देलित करके हमारी श्रद्धासे नहीं उकसाता और यह तभी हो सकता है जब उसमें कोई गुण हो, कोई विशेषता हो क्योंकि हमारी सहानुभूति उसीनी धोर होती है जो गुणी होते हुए भी कष्टमें पड़ा हो और जब वह गुणी है तो वह हमारे आदर्शवादके भीतर समा गया है। अतः आदर्शवादका अर्थ यही है कि उसमें लोकमंगलकारी असाधारण वयार्थका चित्रण होता है।

वयार्थवादियोंने यह कहा है कि काव्यमें इस प्रकार शुद्धता और सटीकतासे वर्णन होना चाहिए जैसे रूपकार अपने चित्रकसे रूप खींच लेता है। किन्तु यह रूपक बड़ा

भ्रामक है, क्योंकि चित्रका ठीक उतरना चित्रकारके कौशल और चित्रकके नेत्रकी शक्तिपर अवलम्बित है। यदि रूपकार कुशल न हो, यः यन्त्रमें दोष हो अथवा जिसका चित्र उतारा जाता हो वही हिल जाय या ठीक कोणसे न सम वरिधत हो तो चित्र भी धुँधला, दोषपूर्ण और भद्दा उतर सकता है। यथार्थ चित्रणमें इन सभी दोषोंकी आशंका बनी रहती है किन्तु जहाँ बना-बनाया चित्र सामने रक्खा रहता है वहाँ उसके आधारपर चित्र बनानेमें रेखा, अनुपात, रंग और छाया समीका रूप सामने उपस्थित रहता है और चित्रकार सदा तुलना द्वारा अपने चित्रित चित्रका परीक्षण करके उसका सुधार करता रह सकता है। ऊपर हम बता भी चुके हैं कि किस प्रकार निरर्गवादि्यों या यथार्थ-वादि्योंका दल यथार्थ चित्रण करता-करता व्यक्त विद्वेष और व्यक्तित्वत आलोचना तक उतर गया था। इतलिये ऐसा यथार्थ-वाद केवल अनावश्यक ही नहीं, अवाञ्छनीय भी है।

नाटक सुखान्त हो या दुःखान्त

● सुखान्तमिष्टम् ॥

[चाहिए नाटक सुखान्त ।] ~

भरतने अपने नाट्यशास्त्रमें कहा है—

सुश्लिष्ट सन्धयोप च सुप्रयोग सुखाश्रयम् ।

मृदुशब्दाभिधान च कविः कुर्यात्तु नाटकम् ॥११.१२०॥

~ [कविको ऐसा नाटक रचना चाहिए कि उसकी सब सधियाँका जोड़ ठीक बैठे हो, उसे खेलनेमें सुविधा हो, उसमें सुखकी बात हो, और कोमल शब्दवाला उसका नाम हो ।]

रामचन्द्र और गुणचन्द्र द्वारा प्रणीत नाट्यदर्पणके नाटक निर्णय नामक प्रथम विवेकमें लिखा है—

उदात्ता रञ्जका भावाः स्थापनीयाः पुरः पुरः ॥१७॥

[श्रेष्ठ तथा मनोरञ्जक भाव पद-पदपर नाटकमें रखने चाहियें ।] इसका तात्पर्य यही है कि नाटकमें सुखाश्रित भाव हों। इसीलिये हमारे देशके कवियोंने अमगल तथा अनिष्टकारी भावों और वर्णनोंका सदा बहिष्करण किया है। मनुष्येण समाप्येत् [अन्त मधुर हो] की भावना इतनी प्रबल होकर हमारे सत्कारमें पड़ गई थी कि अमगलकारी परिणामकी ओर कविगण प्रवृत्त ही नहीं हुए।

। यथार्थवादि्योंकी एक यह भी बड़ी आपत्ति है कि साधारण जीवनमें प्रायः प्रत्येक मनुष्यका जीवन दुःखमय

ही दिखाई देता है अतः सत्यनिष्ठ लेखकको सत्यकी रक्षा करनेके लिये ही दुःखमय जीवनका वास्तविक रूप उपस्थित करना चाहिए। इसके अतिरिक्त स्वयं भरतने भी कहा है कि नाटकमें सदा अवस्थाओंका अनुकरण दिखाया जायगा। यह कहकर भी सुलाश्रयकी बात भरतने क्यों कही है और यह व्यवस्था क्यों दी है—

न वषः तस्य स्यात् यत्र तु नायकः ख्यातः ॥

[प्रसिद्ध नायकका वष नाटकमें नहीं कराना चाहिए ।]

इस प्रश्नपर दूसरी दृष्टिसे विचार करना चाहिए। नाटकका उद्देश्य है जन मन-रञ्जन। जन मन रञ्जन उसी कार्यसे होगा जिसमें चाहे बितनी पीड़ा, बाधा, विपत्ति आदिका वर्णन हो किन्तु उसका अन्त हर्षमय हो। हम लोग साधारण जीवनमें तो अनेक प्रकारके दुःखमय अनुभव करते ही हैं और उस दुःख-समुदायसे छुटकारा पानेके लिये, कुछ क्षण उस नरकसे निवृत्त होकर अगला मन किसी दूसरी ओर लगानेके लिये, जी बहलानेके लिये हम रंगशालाओं जाते हैं। वहाँ जाकर भी यदि हमारे भाग्यमें वही सब देखनेसे मिले तो हमारा जीवन बृहत्तर नरक बन जाय। इसलिये दुःखात्मक अन्त हमारे कवियोंने ग्राह्य नहीं किया।

(किन्तु हमारे समाजमें कुछ ऐसे भी लोग हैं जिनका मनोविनोद हत्या, मारपीट, युद्ध और कलहसे ही होता है। ऐसे लोग समाजमें भी वैसा ही व्यवहार करते रहते हैं और यदि मनोविनोदके साधनोंमें भी उन्हें उसी प्रकारकी सामग्री मिलती रहे तो उन्हें पाप करनेका उत्साह बढ़ता रहेगा और वे अपने पाप-कर्मके लिये नये-नये साधन भी निकालने लगेंगे। आजकल चलचित्रकी सृष्टिसे न जाने कितने युवक चोरी, हत्या, डाका और दुराचारेके अभिनव, अद्भुत तथा वैज्ञानिक उपायोंका सहारा लेकर समाजके लिये अभिशाप बनते चले जा रहे हैं। कहाँ तो भरतने नाटकको उपदेश तथा विश्रान्तिका साधन बताया है कहाँ वह कुमार्ग और लाकड़हारका पाठ पढ़ाने लगा गया है। अतः लोकहितकी दृष्टिसे भी दुःखान्त नाटक स्वायत्त हैं।

इसके अतिरिक्त कुछ लोग ऐसी कोमल प्रवृत्तिके होते हैं कि वे भयानक दृश्य नहीं सह सकते। किसीसे हत्या या किसीकी विरक्ति देखकर उनके धैर्यका बाँध टूट

जाता है और वे अर्घार होकर या तो रोने लगते हैं या मूर्च्छित हो जाते हैं या प्रतिनायकपर आक्रमण कर बैठते हैं। हमारा स्वयं यह अनुभव है कि भयानक नाटक देखकर कुछ सज्जन मूर्च्छित होने लगते हैं। एक अत्यन्त कथणाञ्जनक नाटकमें एक महिला ऐसा चिल्ला-चिल्लाकर रोने लगी कि नाटकका रस ही नष्ट हो गया। एक और नाटकमें एक प्रेक्षक इतने आपसे बाहर हो गए कि उन्होंने भाव देखा न ताव, शट जूता खींचकर प्रतिनायकको मार ही तो दिया क्योंकि वह नाटकमें एक बालकको बँतसे पीटनेका अभिनय कर रहा था और वह बालक भी मारकी चोटसे पीड़ित होकर चिल्लातेका बड़ा कुशल अभिनय कर रहा था। यद्यपि अब योरोपीय देशोंमें प्रायः ऐसे प्रत्येक नाटक और चित्रके साथ यह सूचना दे दी जाती है—'धर्मा और स्त्रियोंके लिये नहीं।' किन्तु ऐसे पुष्प भी कम नहीं हैं जो स्त्रियोंसे भी अधिक कोमल होते हैं। इसलिये दुःखान्त नाटक श्रेयस्कर नहीं हैं।

बहुतसे विद्वानोंने कहा है कि भासका उद्भवग नाटक त्रासद है, दुःखान्त है क्योंकि उसमें दुर्घोषधनका संहार दिखाया गया है। इसपर भी न्याय दृष्टिसे विचार कर लेना चाहिए। इस कथाका नायक क्या दुर्घोषधन है और क्या उसके बंधको देखकर लोगोंके मनमें दुःख होता है? इसका तो सीधा सा उत्तर है कि जो अन्याय, अनाचार, दुराचार या पाराचार करता है उसके उत्कर्षसे ही लोगोंको दुःख होता है, उसके विनाशसे लोग प्रसन्न होकर कहते हैं—अच्छा हुआ पाप दूर हुआ। जिस दुर्घोषधनने अपने बड़े-बूढ़ोंका कदना नहीं माना, पाठवँसे छल करके उनका राज्य ले लिया, उन्हें लाक्षाघरमें जीवित जलतेका पडयन्त्र किया, उनकी पत्नी द्रौपदीको भरी समामें लाकर अथमानित किया और उसको निर्बसन करनेकी दिवाई भी की, उस दुर्घोषधनके साथ कित्त दर्शकोंको सहानुभूति हो सकती है? अतः उसका संहार लोकमगलकारी और प्रेक्षकोंको शान्ति देनेवाला ही है। उसे हम दुःखान्त नहीं सुखान्त ही कहेंगे। दूसरा नाटक वेणोसहार भी इसी जातिका है और उसका समाधान भी इसी प्रकार किया जा सकता है। सीताकी भू-समाधिके सोमहर्षण काडको भरभूतितने प्रत्यक्ष-स्वार्थः, वाल्मीकि-द्वारा प्रयुक्त नाटक मान बनाकर उसके सुखान्तत्वमें रखा कर ही ली और हम करना कर सकते

हैं कि रामायणकी कथा जाननेवाले जिन दर्शकोंने नाटक कारका यह 'नाटकेनाटकः' वाला कौशल देखा होगा वे अवश्य उत्साह और हर्षसे उछल पड़े होंगे और उन्होंने बड़े सन्तोष और तृप्तिकी रास ली होगी।

(यह स्मरण रखना चाहिए कि दुःखान्त नाटकका सबसे बड़ा दोष यह होता है कि उसमें नायककी हत्या हो जाती है और दुर्घोषमें विजय हो जाती है।) यह विजय चाहे जितनी समाचित और स्वाम्भाविक हो किन्तु इसका सबसे बुरा प्रभाव और सत्कार दर्शकोंके मनपर यह पड़ता है कि दुष्टके हाथ सज्जन भी मारे जा सकते हैं, सत्यके भागे असत्यकी विजय होती है, अन्यायके भागे न्याय घुम्ने टेक देता है। ऐसे दृश्य देखकर लोकका आत्मविश्वास शिथिल हो जाता है, न्याय और सत्यमें श्रद्धा नहीं रहती, पशुबल और खेच्छाचारिताको ही वह वास्तविक शक्ति मान बैठता है और उसका परिणाम बही होता है जो योरोपमें हो रहा है कि अहिंसाको धर्म माननेवाली ईसाई जातियाँ आज विश्व-संहारके लिये कमर कसे बैठी हुई हैं। यह भी बड़ा नैतिक कारण है कि दुःखान्त नाटक नहीं लिखने या दिखाने चाहिए।

त्रासद या दुःखान्त नाटकका रूप बताने हुए आचार्य भरतने कहा है—'त्रासदका विषय उस मनुष्यका दृश्य है जो पूर्णतः या विशेषतः श्रेष्ठ और बुद्धिमान् न हो और जो अपनी किसी भूल या दुर्बलताके कारण विपद्ग्रस्त हो गया हो। किसी हम जैसे साधारण मनुष्यपर अकस्मात् अनागमनीय विपत्ति टटारकर और त्रास उत्पन्न करके त्रासदमें कथना उत्पन्न करनी चाहिए।'

इस मतसे भी यह स्पष्ट है भरतने किसी विशिष्ट महा-पुरुषको विपद्ग्रस्त करके या उसकी हत्या करार त्रासदकी सिद्धि नहीं करना चाहता। त्रासदके लिये वह साधारण व्यक्ति चाहता है और उसकी विपत्ति भी वह उसकी किसी भूल या दुर्बलतासे उत्पन्न करना चाहता है। साथ ही वह यह भी कहता है वह विपत्ति ऐसी हो जो उस प्रकारके व्यक्तिपर आनी नहीं चाहिए थी किन्तु उसीके कारण ध्या गई है और दर्शकोंके हृदयमें कथना उत्पन्न कर रही है। इसका तात्पर्य यही है कि वह व्यक्ति साधारणतः भला होना चाहिए जो लोगोंके सहानुभूतिका पात्र हो सके।

यही पर भरतने त्रासदका (वेणोसहार, या दूजेडीसा)

स्वरूप भी स्पष्ट समझ लेना चाहिए। अरस्तू कहता है—

“त्रासद उस व्यापार-विशेषका अनुकरण है जो गभीर हो, पूर्ण हो, एक निश्चित परिमाणका हो, प्रत्येक प्रकारके कलात्मक अलकारोंसे सजी हुई भाषासे युक्त हो और ये सब प्रकारके कलात्मक अलकार नाटकके भिन्न भिन्न भागोंमें पाए जाते हैं, जो वर्णनात्मक न होकर दृश्यात्मक हो, जो कथा और भयका प्रदर्शन करके इन मनाधिकारोंका उचित सुचार और परिष्कार कर सके।”

भयानक और कथानात्मक परिस्थितियोंका वर्णन करते हुए वह लिखता है—

“इस प्रभावको उत्पन्न करनेकी क्षमता उन लोगोंके व्यापारोंमें होती है जो या तो परस्पर भिन्न हों, या परस्पर शत्रु हों या एक दूसरेकी ओरसे उदासीन हों। यदि एक शत्रु दूसरेका वध कर डालता है तो उससे वध-कार्यके अति रिक्त न तो कार्यमें ही कोई कथोत्सादक बात होती है और न उद्देश्यमें ही। यही बात परस्पर उदासीन मनुष्योंके विषयमें भी है। किन्तु जब त्रासात्मक घटना उन लोगोंके बीच घटित होती है जो एक दूसरेके अत्यन्त निकट सम्बन्धी होते हैं—जैसे यदि एक भाई दूसरे भाईकी, भाँ अपने पुत्रकी या पुत्र अपनी मौकी हत्याका विचार करे अथवा इसी प्रकारका कोई दूसरा कार्य किया जाय—तो ये ही स्थितियाँ ऐसी हैं जिनपर कविको विशेष ध्यान देनेकी आवश्यकता है।”

इन उपयुक्त स्थितियोंको किस कौशलसे प्रयोग करना चाहिए इसकी व्याख्या करते हुए अरस्तू कहता है—

“एक स्थिति यह है कि जान-बूझकर व्यक्तियोंका परस्पर ज्ञान होनेपर भी कोई (भयानक, त्रासात्मक) कार्य करा दिया जाय जैसे इतरीपिदसने जानकर मीन्द्रियाके द्वारा अपने बच्चोंका वध कराया।”

“दूसरी स्थिति यह है कि भयानक कार्य अज्ञानमें कर दिया जाय, सबध या मित्रताका ज्ञान पीछे हो” जैसे सोहराबको घातक चोट पहुँचा देनेपर रत्नमकी ज्ञान दुःखा कि यह मेरा पुत्र है।

“तीसरी स्थिति यह है कि व्यक्तियोंको जानकर कोई कार्य करने तो चले किन्तु रुक जायें।”

“चौथी अवस्था वह है जब कोई अरिहार्थ कार्य करनेसे पहले ही किसीको उसका ज्ञान हो जाय। ये ही सब

मार्ग हो सकते हैं क्योंकि व्यापार या तो हो या न हो और वह भी या तो जानकर हो या अनजानमें हो—किन्तु इन सब मार्गोंमें सबसे बुरा यह है कि व्यक्तियोंको जानकर कार्य करनेको उद्यत हो और फिर उसे न करे। इससे अच्छा मार्ग वह है जहाँ कार्य हो जाय। इससे भी अच्छा यह है कि अज्ञानमें कार्य हो चुके और पीछे भेद खुले। किन्तु अन्तिम मार्ग सर्वश्रेष्ठ है, जैसे क्रैस्फोन्तेसुमें ज्योंही मरापी अपने पुत्रकी हत्या करनेको तैयार होती है त्योंही उसे पहचानकर वह छोड़ देती है। यूनानी इतिहासमें कुछ परिवार ऐसे हैं जिनमें त्रासदोंके विषय मिलते हैं। नाट्य कार्योंको विषय होकर उन्हीं कुलोंकी शरण लेनी पड़ी जिनके कारण इतिहासमें इस प्रकारकी हृदयद्रावी घटनाएँ मरी हुई हैं।”

इस विवरणसे स्पष्ट स्पष्ट हो जाता है कि भयानक या त्रासजनक परिणाम देखनेके पक्षमें तो अरस्तू है, किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि नाट्यमें नायकी या इष्ट पात्रकी हत्या कराई ही जाय। जिन चार प्रकारकी अवस्थाओंका वर्णन ऊपर किया गया है, उसमें इनमेंसे चौथी अवस्थाको ही श्रेष्ठतम बतलाया है, जिसमें अभिज्ञान या परिचान हो जानेके कारण भयानक परिणाम होते-होते रुक जाता है। इसका अर्थ यही होता है कि अरस्तू त्रासजनक तथा भयानक परिणामोंकी स्थिति उत्पन्न करनेके पक्षमें तो है किन्तु सदा दुःखान्त करनेके पक्षमें नहीं है। अतः यह कहना अत्यन्त भ्रामक है कि अरस्तूने नाटकका दुःखान्त करनेका समर्थन किया है। जिस एक स्थितिमें अरस्तूने अज्ञानमें होनेवाले कार्यको और पीछे उसका भेद खोलनेका समर्थन किया है, वह इसीलिये कि पीड़ित व्यक्तिके साथ दर्शकों या सामाजिकोंकी बहुत गहरी सहानुभूति हो। इसका भी कारण यही है कि जिन कव्योंसे ऐसे नाट्योंकी कथाएँ ली गई थीं वे सब यूनानियोंके संस्कारमें मरी थीं। उनके प्रति सहानुभूति राना स्वाभाविक था, किन्तु जिस आर्यजातिने अपनी सङ्कृति और सभ्यताके उपःकालसे ही “यतो धर्मस्ततो जयः” का पाठ सीखा है उन्हींने समझते हुए भी, अस्तित्व होते हुए भी ऐसी कथाओंको अपने काव्यका आधार नहीं बनाया जिनमें दैवसयोग या अन्वय किसी कारणसे इष्ट नायकका वध हो जाय, क्योंकि उन्हें भय था कि ऐसा करनेसे सहानुभूति भेडे ही उमड़े किन्तु

लोग भाग्यवादी बन जायेंगे, पौरुष करना छोड़ देंगे ।

अतः हमारे यहाँ भाग्यवादितान्त्रो विशेष प्रोत्साहन नहीं दिया गया है, उल्टे यह बताया गया है कि तरस्या और योगके द्वारा भाग्यका फल भी मिटाया जा सकता है । जहाँ तक त्रासात्मक तथा भयानक घटनाओंका सन्निवेश है उसमें तो हमारे नाटक भी पीछे नहीं हैं और वे भी अरस्तू के त्रासदशी विभिन्न स्थितियोंमेंसे किसी न-किसीमें आ ही जाते हैं जेते मालतीमाधव नाटकमें कापालिक मालतीका बध करनेको तैयार हो गया है या मृच्छकटिकमें चारुदत्तके लिये श्लुलीका विधान होता है । ये अवस्थाएँ कम त्रासजनक या भयानक नहीं हैं । इनके अतिरिक्त रूपकों और उपरूपकोंमें कई ऐसे हैं जिनमें आरम्भी वृत्तिका अर्थात् जिनमें मारकाट और युद्धका ही वर्णन होता है जैसे व्यायोग या डिमर्ग भयानक कृत्य, अभिचार, मन्त्र-तन्त्र, युद्ध आदिका वर्णन होता है, किन्तु इतना सब होनेपर भी इनका अन्त सुखाश्रित ही होता है ।

इन सब विवेचनोंसे यही सिद्ध होता है कि अरस्तू भी हमारे समान सुखका समर्थक था । किन्तु जहाँ अरस्तू चौथी प्रकारकी स्थितिको अर्थात् भयानक काण्ड होते होते घट्टा पहचानके द्वारा नाटक सुखान्त करनेको सर्वश्रेष्ठ समझता है कि वहीं वह यूनानी साहित्यके सस्कारसे प्रभावित होनेके कारण तथा इतिहासकी रक्षाका पक्षपाती होनेके कारण बलपूर्वक, अस्वाभाविक रीतिसे सुखमें समाप्ति करनेके पक्षमें नहीं था । उसका कहना है कि "प्रायः दर्शकोंकी दुर्बलताका पक्षपात करके कवि अपने नाटकोंका अन्त सुखमय करते हैं । किन्तु यह बड़ा भारी दोष है और ऐसे अन्त केवल प्रहसनोंके लिये ही उपयुक्त होने हैं ।" उन्होंने इउरीपाईदेसको सबसे त्कष्ट त्रासद त्तर कहकर उसकी प्रशंसा की है क्योंकि उसके सभी नाटकोंका अन्त दुःखमय ही हुआ है यद्यपि अन्य दृष्टियोंसे उनमें त्रुटियाँ रह गई हैं ।

यद्यपि दुःखान्त नाटक उपर कहे हुए कारणोंकी दृष्टिसे लिखे या खेले नहीं जाने चाहिये किन्तु हमारे ससारका बहुत बड़ा भाग ऐसा है जिसमें रहनेवाले लोग इतने कठोर हो गए हैं कि यदि उनके सामने भयानकसे भयानक दृश्य रख दिए जायें तो भी वे विचलित नहीं होते । अतः उनके लिये दुःखान्त नाटक रसप्रद और प्रिय हो सकते हैं । किन्तु इस प्रकारके नाटकोंमें मनुष्यकी वृत्तिको शल्यत क्रूर और

भयनक बना दिया है जिसका परिणाम यह हो रहा है कि योरोपीय समाज सब रक्तपिपासु और अनाचारी बन चला है । यदि नाटकका राष्ट्रीकरण हो तो उसमें यह ध्यान रखना चाहिए कि नाटकके प्रभावसे किसी भी प्रकार मनुष्यकी पैशाचिक प्रवृत्तियोंको प्रोत्साहन या निर्दशन न प्राप्त हो सके, उससे केवल गुणोंका ही विकास हो । अतः सब नाटक या नाटकीय प्रदर्शन सुखान्त होने ही चाहिये ।

यद्यपि यह देखनेमें आता है कि बहुतसे नाटक यदि दुःखान्त कर दिए जायें तो उनका प्रभाव बहुत अधिक बढ़ सकता है । निन्दु वेवध मलातिरेक या धावेश ही नाटककारका साध्य नहीं हो सकता, वह तो एक निश्चि उद्देश्यकी सिद्धि करना चाहता है । यदि उस उद्देश्यका सिद्धिके लिये उसे नायकका बध ही कराना पड़े तो वह सन्तोच नहीं करेगा क्योंकि उसका फलागम उसी कार्यपर अवलम्बित है । कलावादी लोगोंका कहना है कि कलाकी हत्या करके आदर्शकी रक्षा करना उचित भी नहीं है और आवश्यक भी नहीं है । उनका कहना है कि दमशानका, जर्जर रोगीका, गिद्धोंसे भौंचे जाते हुए किसी पशु-शवका या किसी हिंसक जन्तु-द्वारा किसी मनुष्यके बधका चित्र आहादकारी हो सकता है, क्योंकि हमारे आहादका कारण इन अवस्थाओंमें विचारकी मूल्य व्यञ्जनासाथि, रेखाओंका उपयुक्त प्रदर्शन, अगोंका अनुपात तथा रसोंका उचित विलास दर्शकका मन मुग्ध करता है । इसी प्रकार दुःखान्त नाटकमें भी सुन्दर ओजमयी भाषा, जोड़तीड़के उच्च, घटनाओंका कलात्मक गुम्फन यदि उचित और कलात्मक हो तो वह भी दर्शकोंको आहादित करनेको पर्याप्त है । वीर अभिमन्यु नाटकमें यद्यपि अभिमन्युकी मृत्यु हो जाती है किन्तु उसके तेजस्वी सवार, उच्च पराक्रम, उसकी वीरता तथा उसके अद्भुत वीर्यलसे दर्शक इतने प्रभावित हो जाते हैं कि कौरवोंकी नीचताका पूरा परिचय मिल जानेसे उनके प्रति घृणा और अभिमन्युके प्रति बह आदर बढ़ जाता है जो अभिमन्युके जीवित रहनेसे कभी संभव न होता ।

यह प्रश्न अवश्य विचारणीय है कि कल, आदर्शके लिये है या आदर्श कलाके लिये है । हम पहले ही स्थिर चुके हैं कि सभी देशोंमें नाटकी उत्पत्ति लोकजन और उपदेशके लिये हुई है । इसका अर्थ यह हुआ कलाको इस उद्देश्यका अनुगमन करना चाहिये । साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिये कि कलाके उपादान चाहे जितने आहादकारी हैं

किन्तु नाट्यवस्तुकी उपेक्षा नहीं होनी चाहिए, इसकी सरल परीक्षा यही है कि बहुतसे ऐसे चित्र रोल्लर रख दिए जायें जिनमें चतुर चित्रकारों द्वारा चित्रित कुछ तो भीमस चित्र हों और कुछ चित्र प्राकृतिक दृश्यों, दर्शनीय महापुरुषों और सुन्दरियोंके हों और लोगोंसे कहा जाय कि आपको जो अच्छे लगे उन्हें उठा ले जाएँ तो यह निश्चय है कि इन दूमेरे प्रकारके ही चित्रोंकी ही लोग संग्रहने करेंगे और उठा ले जायेंगे। अतः वर्णनीय विषयका सुखद होना अत्यन्त आवश्यक है। इस दृष्टिसे भी नाटकसुखान्त होना ही चाहिए।

समय, स्थान और व्यापारका एकत्व

● कालोद्देश्यव्यापारैकत्वमामान्यम् ॥

[समय-स्थान-व्यापार-एकता नहीं कभी है मान्य ।]

यूरोपके अनेक आचार्योंका मत है कि नाटकका वृत्त एक ही स्थानका हो, एक ही कालका हो, और केवल एक ही व्यापार या घटनासे सम्बद्ध हो, अर्थात् किसी नाटक में एकसे अधिक स्थानोंका प्रदर्शन न हो, एकसे अधिक कालका विवरण न हो, और उसमें एकसे अधिक व्यापार या इतिवृत्त न हो। इन नाटकीय एकताओंको फ्रांसवालोंने बहुत महत्ता प्रदान की थी। उनका यह अनुमान है कि अरस्तूने अपने काव्य-शास्त्रमें इसका निश्चित विधान किया है किन्तु अरस्तूने वास्तवमें समय और स्थानके बाह्य एकत्व को तनिक भी महत्त्व नहीं दिया है। आसद और वीर रसके कार्योंके भेद गिनाते हुए उन्होंने कहा है, कि "आसद अपने व्यापारको साधारणतः सूर्यकी केवल एक परिव्रमात्क ही (अर्थात् चौबीस घण्टे तक) परिमित रखनेका प्रयत्न करता है उससे अधिक नहीं, किन्तु महाकाव्योंमें समयका कई बन्धन नहीं।" यूनानी नाटकके प्रयोगकी दृष्टिसे यह आवश्यक ही था क्योंकि समवेतगान निरन्तर होते चलते थे और परदा कभी गिरता ही नहीं था। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि सूर्यकी एक परिव्रमात्क परिमित रखने का तात्पर्य यह है कि समवेत गानका ध्यान रखते हुए नाटक इतना बढ़ा हो कि वह अधिकसे अधिक चौबीस घण्टेमें समाप्त हो सके। यूनानी रंगशालाओंमें कई कई दिन तक लगातार नाटक होते रहते थे, और दर्शक भी अपने खाने-पीनेकी सामग्री लिए हुए वहीं बैठे रहते थे, इसलिये यदि चौबीस घण्टेमें नाटक समाप्त होनेका विधान किया गया हो तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं है किन्तु यह मान केना

अत्यन्त भ्रामक है कि अरस्तूने ऐसे नाटक लिखनेकी व्यवस्था दी जिसमें केवल चौबीस घण्टेके कार्योंका ही विवरण हो। अरस्तूने अपने काव्यशास्त्रमें जिन नाटकोंका उल्लेख किया है, उन सबमें कई कई दिन और मस तकके विवरण सन्निरित है।

नाटकमें सब घटना एक ही स्थानमें हो ऐसी व्यवस्था अरस्तूने नहीं की। न जाने प्राचीनी आलोचकोंको यह भ्रम कहाँ से उपस्थित हो गया। जहाँतक इतिवृत्त या व्यापारकी बात है, उसके विषयमें अरस्तूने स्पष्ट कह दिया है कि नाटकमें इतिवृत्त एक ही होना चाहिए। इसकी व्याख्या करते हुए अरस्तूने कहा है— "किसी इतिवृत्तमें एक नायकका वर्णन होनेसे ही मोर्द इतिवृत्त एक नहीं कहा जा सकता जैसा कि कुछ लोगोंका विचार है। इसका कारण यह है कि एक ही मनुष्यके जीवनमें अनन्त भिन्न भिन्न घटनाएँ होती हैं जिनको संकलित करके एक नहीं बनाया जा सकता। इसी प्रकार एक ही मनुष्यके द्वारा बहुतसे चरित (कार्य) हो सकते हैं जिनको संकलित करके एक सगत कार्य नहीं बन सकता।

"अतः जैसे अनुकरणात्मक कलाधर्मोंमें एक ही अनुकरणीय वस्तुके एक होनेपर भी अनुकरण एक ही होता है, वैसे ही इतिवृत्त भी एक ही व्यापारका अनुकरण होनेके कारण, एक होना चाहिए। उसके अग परस्पर ऐसे युंथ हों कि यदि उनमेंसे एक भी स्थानच्युत हो जाय या निकाल दिया जाय तो वह पूराका पूरा असम्बद्ध और असगत हो जय, क्योंकि जिस वस्तुके रहने या न रहनेसे कोई प्रत्यक्ष अंतर नहीं होता वह संपूर्ण पदार्थ का आवश्यक अंग हो नहीं सकता, इसका अर्थ यह हुआ कि नाटकमें एक नायकके पूरे जीवनकी कथा न होकर ऐसा एक व्यापार या कार्य होना चाहिए जो अपनेमें पूर्ण हो, जैसे यदि रामायणपर नाटक लिखना हो तो नाटकीय व्यापारकी दृष्टिसे उसमें सात कार्य हैं—रामका जन्म, रामका विवाह, रामवनवास, सीताहरण, सीताकी खोज वा लकादहन, रावणका वध और भरतमिलान या राज्याभिषेक। इस प्रकार रामायणके एक ही काव्यपर सात नाटक लिखे जा सकते हैं। यह है भी अत्यन्त उचित सिद्धान्त। उसारके सभी नाट्यकारोंने यह सिद्धान्त स्वीकार किया है यही इसकी औचित्यता सबने बड़ा प्रमाण है।

जहाँतक समय और स्थान एक होनेकी बात है, वह अत्यन्त अव्यावहारिक तथा अस्वभाविक है क्योंकि एक व्यापार या कार्य न जाने कितने दिनों और कितने विभिन्न स्थानोंमें पूर्ण होता है। इसे एक दिनमें, एक स्थानमें कैसे बाँटा जा सकता है। यदि हम रामविद्याहर ही नाटक लिखें तो इसमें स्वभावतः अयोध्या, विश्वामित्रका आश्रम और मिथिलापुरीका वर्णन अपरिहार्य रूपसे करना ही पड़ेगा, और यह भी असंभव है कि अयोध्यासे जाने, विश्वामित्रके आश्रममें ताड़का-मुद्राहुको मारने और मिथिलापुरीमें भनुप तोड़ने आदिका कुछ काम एक दिनमें समाप्त कर दिया जाय। इसीलिये किसी नाटककारने एक ही समयमें सब कार्य पूरा करनेका प्रतिबन्ध नहीं माना है। आजकल एक ही स्थानपर नाटकीय व्यापार दिखानेकी प्रणाली भी चल पड़ी है। स्वयं अभिनवभरतने अपने वास्तविक और देवता नाटकोंमें इसी सिद्धान्तका अनुगमन किया है। अतः यह सम्भव हो सकता है कि कोई नाटक एक ही स्थानमें पूरा कर दिया जा सके, किन्तु यह नियम नहीं बनाया जा सकता। हाँ, इतना कहा जा सकता है कि एक ही नाटकोंमें समय और स्थान एक हो सकता है और कुछ नाटकोंमें एक ही स्थानपर कई अंकोंका व्यापार हो सकता है।

कुछ आचार्योंने अंग्रेजीके डामेटिक यूनीटीजका अनुवाद 'नाटकीय सकलन' कर डाला है जिसका वास्तवमें अनुवाद होना चाहिए 'नाटकीय एकत्व'। सकलनका अर्थ है इकट्ठा करना, समेटना या जोड़ना। नाटकीय एकत्वोंसे इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। वास्तवमें यह भ्रम अंग्रेजीके 'यूनीटीज' शब्दने उत्पन्न किया है जिसका अर्थ है मेल, मिलकर एक होना, सगठन तथा इकट्ठा या केवल एकका अस्तित्व। 'डामेटिक यूनीटीज' शब्दका प्रयोग पिछले ही अर्थमें हुआ है और उसका तात्पर्य यही है कि नाटवमें एक ही स्थानपर घटनाएँ हों, एक ही कालमें हों और उसमें एक ही इतिवृत्त या व्यापार हो। अतः इसे नाटकीय सकलन न बल्कि नाटकीय एकत्व कहना ही ठीक होगा।

नाटकीय रुढ़ियाँ

● अननुकूलाः नाट्यरुढ़यः ॥

[अननुकूल है नाट्य रुढ़ियाँ]

● संस्कारके प्राचीन नाटकोंके पर्यवेक्षण करनेसे यह प्रतीत

होता है कि सभी नाटककारोंने कुछ निश्चित रुढ़ियोंका नियमित रूपसे पालन किया है। नाट्यी, पूर्वरंग प्रस्तावना, नाटक-वस्तु और नाटककारका परिचय, कुछ गिने चुने कार्योंका निषेध, सूत्रधार और नदी, भरतवाक्य आदि ऐसी बातें हैं जो समान रूपसे हमारे सभी नाटकोंमें पाई जाती हैं। जिस प्रकार हमारे यहाँ पूर्वरंग प्रस्तावना और भरतवाक्यका विधान है उसी प्रकार यूनानी नाटकोंमें पूर्वकथन (प्रोलोग) और उपसंहार (एपीलोग) का विधान था। किन्तु यहाँके उपसंहारमें वैसी खोबमगलकी कामना नहीं रहती, यी जैसी हमारे यहाँ भरतवाक्यमें। उसमें तो केवल धमयापचनाकी भावना निहित रहती थी और वह भी बड़ी लच्छेदार भाषामें जनताकी चाटुकारी भर गती थी जिसका तात्पर्य यह था कि जो कुछ अच्छा बुरा है वह हमने कर दिखाया है, आप लोग बड़े रसिक हैं, गुणज्ञ हैं, आप हमारे दोष क्षमा कीजिएगा। इस क्षमा-याचनाका तात्पर्य यही था कि रगशालासे बाहर जाकर जनता कुछ कहे नहीं, उरारं न करे।

हमारे नाट्याचार्योंने नाट्यी और पूर्वरंग प्रस्तावनाको बहुत बड़ा महत्त्व दिया है और उसे नाट्यका प्रमुख अंग माना है। नाट्याचार्य भरतने पूर्वरंगकी प्रशंसा करते हुए पंचम अध्याय कहा है—

पूर्वरंगे मया ख्यात तथा चागविकल्पनम् ॥
देवस्तुष्यति यो येन यस्य यन्मनसः प्रियम् ॥
तत्तथा पूर्वरंगु मया प्रोक्तं द्विजोचमाः ॥
सर्वदेवतपूजाहं सर्वदेवतपूजनम् ॥
धर्मं यशस्यमायुष्य पूर्वरंगप्रवर्तनम् ॥

[पूर्वरंगमें क्या करना चाहिए और उसके अंग किस प्रकार सजाने चाहिए उसे मैंने इस प्रकार वर्णन किया है। जो देवता जिस बातसे प्रसन्न होता है और जिसे जो अच्छी लगती है उस सबका मैंने, उन्हीं सूत्रधार वर्णन किया है। सब देवताओंकी पूजाके, योग्य-पूर्वरंगकी किया करके सब देवताओंकी पूजा करनेसे, धर्म, यश और आयुषी वृद्धि होती है।]

● धारदातनयने अपने भाव-सूत्रधारके-सतम-सुप्रिकार-में-रिखा है-
● पूर्व-यः पूर्व-रंग-तः विविधा-संभवो-बने-
● नाट्य-मै-आ-प्रपादन-पर-वत्-सर्वा-त्र-गन्तव्य-॥

[जो इस पूर्वरंगकी निया विधिसे करता है उसका इस कार्यक्रममें कभी अमगल नहीं होता और मृत्युसे पश्चात् वह स्वर्ग चला जाता है ।]

रसी प्रकारकी धार्मिक क्रिया यूनानमें भी हुआ करती थी क्योंकि वहाँके नाटक दिव्यपुरुषके सम्मानमें ही खेले जाते थे और नाटक प्रारम्भ करनेसे पूर्व उस देवताकी भगी प्रकारसे पूजा की जाती थी और बलि चढाई ही जाती थी, विशेषतः सुराके देवता वाक्सके लिये तो बलि चढाई ही जाती थी । इसी प्रकार प्रस्तावनामें नाटककारका परिचय देना भी बड़ी प्राचीन रूढि थी । प्रायः हमारे सभी नाटकों में नाटककारोंने तीन बातोंका परिचय दिया है—अपना, नाटककी वस्तुका और नाटक खेलनेके अवसरका । कभी कभी इस परिचयमें नाटककारने अपने कुल और गोत्रका भी परिचय दे दिया है और अवसरकी चर्चा करते हुए उन्होंने यह भी निर्देश किया है कि इस व्यक्ति या समाजकी आश से नाटक खेला गया है । इस प्रकार प्रस्तावनासे उद्भूत ही निराशाओंकी परिच्छिद्य हो जाती है और नाटकका विवेचन तथा परीक्षण करनेवालोंको बड़ी सुविधा मिल जाती है ।

प्रश्न यह है कि यह काम सूत्रधार नगिसे कराया जाय या किसी भी प्रतीत या स्थापकके द्वारा कहला दिया जाय । यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि नाटकके प्रत्येक पात्रको रंगपीठपर उपरिष्ठ होकर अपनी कला दिखाने का अवकाश मिलता है किन्तु जो सूत्रधार पात्रोंको शिक्षा देता है, विभिन्न प्रकारके अभिनय सिखाता है, उसकी कला देखनेका अवसर जनताको प्राप्त नहीं होता । दूसरी बात यह है कि सूत्रधार नाटकके अंग प्रत्यग और इसमें भेदोंसे परिचित रहता है, वही वास्तवमें नाटकका सच्चा पारसी होता है क्योंकि नाटककी अभिनेयतासे सब गुण वह परख चुकता है इसलिये उसे अधिकार भी है कि वह नाटक और नाटककारके विषयमें अपनी सम्मति दे । तीसरी बात यह है कि नाटक खेलते समय सभी लोग अपने अपने कार्यमें व्यस्त हो जाते हैं, किसीका दतना अन्तर नहीं रहता कि वह रंगपीठपर आकर प्रस्तावना करे और फिर अपनी भूमिका भी सँभाले । अतः सूत्रधार ही एक बच जाता है जिसे इसके लिये अवकाश रहता है । चौथी बात यह है कि प्रत्येक नाटकके प्रयोगसे पहले अभि

नेताओंमें तैयार होने में प्रायः निलम्ब हो जाता करता है । ऐसी परिस्थितिमें कोई एक ऐसा व्यक्ति अवश्य चाहिए जो जनताका मनोरञ्जन कर सके और समय काट सके । इसीलिये नटीका भी विधान है कि वह उतने समयमें आकर कुछ मधु-सवधी गीत गाकर या नाचकर जनताको रिश्रा सके और अभिनेताओंको तैयार होनेका अवसर दे सके । पाँचवीं मुख्य बात यह है कि नाटक देखनेवाली जनता इतनी विज्ञ नहीं होती कि वह चाहे किसी कथाका रस पकड़ सके । इसलिये ऐसी प्रस्तावना होनी ही चाहिए जिससे नाटककी कथा समझते चलनेमें सुविधा हो ।

मनोरञ्जनियोंने यह कहा है कि कोई भी शान तव-तक पढ़ा समझमें नहीं आ सकता जबतक उसका सम्बन्ध पात्र या शिक्षार्थके पूर्वसंचित ज्ञानसे सम्बद्ध न कर दिया जाय । इसी सम्बद्ध कर देनेकी क्रियाको हम प्रस्तावना कह सकते हैं । जहाँतक पूर्वरंग या दैवत पूजनका विधान है, वह तो प्रत्येक देशकी अपनी अपनी रूढि और अपने अपने विश्वासकी बात है । पारसी रगशाळाओंमें भी नाटक प्रारम्भ होनेसे पहले रगपूजा करनेकी और ईश्वर विषयक स्तुतिसे नाटक प्रारम्भ करनेकी चलन है । चीन और जापानमें भी इस प्रकारकी पूर्वरंग क्रियाओं की प्रथा है किन्तु योरापीय नाटकोंमें इन क्रियाओंका पूर्ण बहिष्कार किया गया है । वहाँ सदा नाटक प्रारम्भ हो जाते हैं और यह समझ लिया जाता है कि जनता नाटकको अन्वय ही ठीक ठीक समझती चलेगी ।

यह प्रथा ग्राह्य है या त्याज्य इस विषयमें कोई निश्चित मत नहीं दिया जा सकता क्योंकि इसका सम्बन्ध देश विदेशकी संस्कृति और परंपरासे है किन्तु जहाँतक प्रस्तावनाकी बात है वह सभी दृष्टियासे ग्राह्य है क्योंकि नाटक इसीलिये स्वैग जाता है कि जनता उसमें रस ले और रस तभी प्राप्त हो सकता है जब जनता उसकी कथा भली प्रकार समझ सके । इसलिये नाटकोंमें प्रस्तावना अनन्वय होनी ही चाहिए और यह प्रस्तावना नाट्य प्रयोगका या सूत्रधारके द्वारा ही होनी चाहिए । इसमें भी दो मत नहीं हो सकते क्योंकि नाटककार और नाटकके गुण दोष भली प्रकार समझनेके कारण वही प्रस्तावना करनेका अधिकारी भी है और उसको करनेका अन्याय भी होता है । संस्कृत नाटकोंमें जिस नाटकीय दृश्यसे प्रस्तावना समाप्त करके

नाटक प्रारम्भ किया जाता है वह भी कम नाटकीय और कुतूहलजनक नहीं होता। अभिज्ञान-शाकुन्तलमें प्रस्तावनाके अन्तमें सूत्रधार कहता है—

तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभ हृतः।

एष राजेव दुष्यन्तः सारङ्गेणातिरंहसा ॥

[तेरे गीतके रागसे मैं उसी प्रकार आह्वष्ट हो गया हूँ जैसे इस अत्यन्त वेगसे भागनेवाले हरिणके कारण राजा दुष्यन्त टिंचे चले आए हैं।]

किन्तु इस विषयमें भी हठ करना आवश्यक नहीं है। यदि नाटककी कथा इतनी सरल और सुबोध हो कि यह बिना किसी प्रस्तावनाके समझमें आ सके तब प्रस्तावना की इतनी आवश्यकता नहीं है और यह देखा भी गया है कि कभी कभी बिना प्रस्तावनावाले नाटकोंकी कथा समझनेमें दर्शकोंको कोई असुविधा नहीं हुई किन्तु यह ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि प्रस्तावनामें नाटककार या नाट्यवस्तुकी ही चर्चा हो, कथा या परिणाम आदि ऐसी बातें न बताई जायें जिससे दर्शकोंकी कुतूहल वृत्ति पहलेसे ही नृत्त हो जाय, अर्थात् यह न बताया जाय कि नाटककी कथा किस प्रकार चलवाई गई है, उसमें क्या-क्या घटनाएँ हुई हैं और उनका क्या परिणाम हुआ है।

इसी प्रकारकी रुढ़ियोंमें कुछ नाट्य-निषिद्ध बातें भी आ जाती हैं। नाट्य-शास्त्रके शीतमें ध्वन्यायमें भरत कहते हैं—

क्रोधप्रमादसोकाः शपोत्सर्गाथ विद्रवांदाहौ

अद्भुतसभ्रयदर्शनमरूपस्वल्पजानि रघुः ॥२०॥

युद्धं राज्यप्रदो मरण नगररोधन चैव।

अन्तःसहृतानि प्रवेगैः सविधेयानि ॥

[क्रोध, पागलपन, शोक, शप, परित्याग, भगदड़ या ललबली, विवाह, अद्भुत रससे सम्बन्ध रखनेवाली बातें तो प्रत्यक्ष दिखालाई जायें किन्तु युद्ध, राज्यविष्लव, मरण, नगरका घेरा आदि कार्य प्रत्यक्ष न दिखाताकर उनकी सूचना दे देनी चाहिए।]

साहित्यदर्पणके ठेके परिच्छेदमें नाट्य निषिद्ध क्रियाओंको गिनाते हुए कहा गया है—

दूराह्वान वधो युद्धं राज्यदेशादिविष्लवः।

विवाहो भोजनं शपोत्सर्गौ मृत्यु रत तथा ॥२६॥

दत्तच्छेद्य नखच्छेद्यमन्यद्वीडाकरञ्च यत्।

शयनाशयनानादि नगराद्यवरोधनम् ॥

स्नानानुलेपने चेभिर्धार्वाजितो नातिवित्तरः।

[दूरसे पुकारना, वध, युद्ध, राज्य-विष्लव, देश-विष्लव आदि, विवाह, भोजन, शप, परित्याग, मृत्यु, मैथुन, दत्त-च्छेद, नखच्छेद, शयन, चुम्बन, नगर आदिका घेरा, स्नान और अनुलेपन इत्यादि काम नाटकमें नहीं करने चाहिए।]

इन दोनोंमें सबसे बड़ा अन्तर यह प्रतीत होता है कि साहित्य-दर्पणकारने दूरसे पुकारना, विवाह, भोजन, शप, परित्याग, स्नान और अनुलेपन भी व्याज्य समझ लिया है। इन सब विवरणोंसे इतना स्पष्ट है कि तीन प्रकारके कार्य निषिद्ध बतलाए गए हैं। एक तो वे जो साधारण लोकमें भी सबके सामने नहीं किए जाते, दूसरे वे कार्य जो भयकर, घोर और लोम हर्षक होते हैं जैसे मृत्यु, तीसरे प्रकारके वे कार्य हैं जिन्हें रंगमंचपर दिखाना संभव नहीं है, जैसे युद्ध राज्यविष्लव या देश-विष्लव। इन सब निषिद्ध वस्तुओंमें यदि हम विचार करें तो जान पड़ेगा कि दूराह्वान अर्थात् दूरसे पुकारनेकी बात सभी नाटकमें होती है। विक्रमोर्वशीय नाटकमें अक्षराएँ पुकारती हैं—‘परित्रायताम्! परित्रायताम्!’ अभिज्ञान-शाकुन्तलके प्रारम्भमें आश्रमके ऋषि पुकारते हैं—‘आश्रममृगोऽय न हन्तव्यः’। इस प्रकारके सैकड़ों उदाहरण मिलते हैं। अतः भावप्रकाशनकार और दश रूपकारने जो इसके बदले दूराह्वानम् शब्द दिया है वह अधिक ठीक जान पड़ता है क्योंकि रंगमंचपर दूर तकका मार्ग दिखाना संभव नहीं है इसलिये दूराह्वानम् या दूरका मार्ग दिखानेका निषेध किया गया है।

जहाँतक लोकगीत और लोकमर्यादाकी बात है उसके अनुसार सभी देशोंमें यह यह बात मान्य है कि स्नान, मैथुन, परित्याग (मलत्याग) आदि नहीं दिखाने चाहिए किन्तु योरांके बहुतेरे देश ऐसे हैं जहाँ भोजनका दृश्य दिखाना या रंगगीठपर चुम्बन करना अनुचित नहीं समझा जाता। उसका कारण यही है कि उनके देशमें भोजन सार्वजनिक रूपसे होता है और चुम्बन सामाजिक शिष्टाचार समझा जाता है। किन्तु हमारे देशमें चुम्बन तो सार्वजनिक होता ही नहीं है वरन् भोजन भी ऐसे एकतामें करनेका विधान है जहाँ किसीसे छाय न पड़े। क्योंकि

छोमोंका विरवास है कि भोजनको भी डीठ लगती है और भोजन करनेवालेका अहित हो सकता है। महर्षि पराशरजीने कहा है—

शासनाऽयनाद् यानाद् मापणात्सहभोजनात् ।

सनामन्ति हि पापानि वैलचिन्दुरिक्ताभ्रमि ॥

[जैसे तेलझी बूँद जलमें गिरते ही फैल जाती है वैसे ही किसीके साथ बैठने सोने, पास जानें, बातचीत करने तथा साथ भोजन करनेसे एककी पापवृत्तियों दूसरेमें पहुँच जाती हैं ।] व्यासजीने भी कहा है—

अभ्येकपत्तौ नाग्नीयात् समृतः स्वजनैरपि ।

को हि जानाति किं कस्य प्रच्छन्नं पातक महत् ॥

भस्मस्तम्बजलद्वारमार्गः पक्ति च भेदयेत् ॥

[अपने बन्धुभाषवके साथ भी एक पाँतमें बैठकर भोजन नहीं करना चाहिए क्योंकि न जाने किसके शरीरमें कौन सा पाप (रोग) छिपा हुआ है। इसलिये पाप या रोगसे मुक्त रहनेके लिये भस्म, तृण अथवा जलसे घेरकर पक्तिभेद कर लेना चाहिए, तब भोजन करना चाहिए ।]

किन्तु अब यह नियम भी नहीं चलाया जा सकता। क्योंकि सहभाज तथा सर्वसाधारण भोजनालयों और जलपान यहाँमें तथा अथजठे बर्चनोंमें खाने-पीनेकी प्रथा नागरिकोंमें चल पड़ी है पर जहाँतक हो सके इसे धूर ही रखना चाहिए। नाटक प्रस्तुत करनेकी दृष्टिसे भी यह उचित नहीं है क्योंकि इसी कार्यके लिये रग-व्यवस्थापकको बड़ा प्रबन्ध करना पड़ता है। नाटककारको यह सदा ध्यान रखना चाहिए कि जिन व्ययसाध्य कार्योंको वह सूचनाके द्वारा कहला सके उन्हें रगमचपर दिखलानेका निर्देश न करे।

युद्ध और राज्य विप्लव तथा नगरावरोधके दृश्योंके लिये इतनी अधिक तैयारी करनी पड़ती है कि उन्हें रगपीठ पर उपस्थित करना अत्यन्त दुर्लभ कार्य है। पूरा नगर रँग-पीठपर लाना, लाखों नागरिक उपस्थित करना और समीचीन चेष्टाएँ दिखाना असम्भव कार्य है। इसी प्रकार युद्धका दृश्य दिखाना भी रग-व्यवस्थापककी शक्तिते बाहरका कार्य है। मात्रकल बहुतेके नाट्य-प्रयोगाकाशमें चल-चित्र और नाटकका सुन्दर समन्वय करके ऐसी व्यवस्था की है कि नागरावरोध और युद्धके दृश्य भी रगपीठपर दिता दिए जाते हैं। यदि ऐसी व्यवस्था हो सके तब ता आपछिन्न कोई बात

नहीं है किन्तु उसमें बध और मृत्यु आदि ऐसे बीमत्स काढ़ हो सकते हैं जिन्हें मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे और लोक-मगल की दृष्टिसे दिखाना उचित नहीं है।

इसका तात्पर्य यह है कि देश, समाज और कालके अनुकूल जो चेष्टा घृणित, लज्जाजनक, अश्लील और बीमत्स हो, जिन दृश्योंको रगमचपर दिखलाना सम्व न हो और जिनसे लोक-हितके बदले लोक-म हानि होता हो उन्हें रगपीठ पर नहीं दिखाना चाहिए। दशरूपककार ने अपने तृतीय प्रकाशमें इन निषिद्ध कार्योंकी गणना कराते हुए लिखा है—

दूराध्वान वध युद्ध राज्यदेशादिविप्लवम् ।

सरोध भोजन स्नान मुक्त चानुलेपनम् ।

अभ्रमरगहणादीनि प्रत्यभ्याणि न निर्दिशेत् ॥३५॥

नाधिकारिवध कपि त्याज्यमावश्यक न च ॥

[दूरका मार्ग, वध, युद्ध, राज्य या देश आदिका विप्लव, नगरका घेरा, भोजन, स्नान, मैथुन, अनुलेपन, वख उतारना आदि कार्य प्रत्यक्ष न दिखाए जायँ और प्रधान नायकका वध न दिखाया जाय। किन्तु आवश्यक कार्याका त्याग भी नहीं करना चाहिए ।]

शारदातनयने अपने भावप्रकाशनके अष्टम अधिक रमें लिखा है

दूराध्वान वध युद्ध राज्यदेशादिविप्लवम् ।

सरोध भोजन स्नान मुक्त चानुलेपनम् ॥

अभ्रमरगहणादीनि प्रत्यभ्याणि न निर्दिशेत् ।

नाधिकारिवधः क्वापि कर्त्तव्यः कश्चिन्तथा ॥

आवश्यक तु यत्कार्यं न त्याज्यं तत्तदचन ।

अधिकारि वधस्यापि क्वचित्स्याकल्पन महत् ॥

अर्वाकप्रहारात्स पुनः प्रत्युज्जीविष्यते यदि ।

[दूरका मार्ग, वध, युद्ध, राज्य देशादि-विप्लव, नगरका घेरा, भोजन, स्नान, मैथुन, अनुलेपन, वख उतारना आदि कार्य प्रत्यक्ष नहीं दिखलाना चाहिए। नाट्यकारको प्रधान नायकका वध नहीं कराना चाहिए किन्तु जो आवश्यक हो उसे कभी नहीं छोड़ना चाहिए। किसी प्रकारसे नायक पीछे जिलाया जा सके ता उसका वध कपया जा सकता है ।]

अब रह गई है वध और मृत्युकी बात। इसके विषयमें दुःखान्त नाटकोंके प्रसंगमें हम बहुतकुछ कह आए हैं किन्तु बर्चमान यारोपीय समीक्षकोंकी दृष्टिसे उसका विवेचन

कर लेना अनुचित न होगा। क्योंकि स्वयं हमारे देशमें बहुतसे आधुनिक नाटककार ऐसे हैं जो अपने नाटकोंमें पुं आधार, वध और मृत्युके सभी साधनोंके साथ नाटक प्रस्तुत करना उचित समझते हैं। बगालके प्रसिद्ध नाटककार भी द्विजेन्द्रलालराय दुःखान्त नाटकके पधराती थे। सुखान्त नाटकका विरोध करते हुए वे कहते हैं—

“मैं इस नियम की अनुमोदन नहीं करता क्योंकि वास्तविक जीवनमें प्रायः अधर्मही ही जय अधिक देखी जाती है। अगर ऐसा न होता तो क्षुद्रता, स्वार्थ, एव प्रतारणासे यह पृथ्वी छा न जाती। अन्तमें यदि धर्मकी जय अवश्य होती तो उन सब उदाहरणोंको देखकर अविकाश मनुष्य धार्मिक हो जाते और जो ऐसा होता तो धार्मिक होनेके लिये कोई प्रयत्न का पात्र न होता। मनुष्य जीवनमें प्रायः देखा जाता है कि अनेक समय धर्मको मृत्युपर्यन्त सिर झकाकर चलना पड़ता है और अधर्म शेष पर्यन्त सिर उठाए चला जाता है। ईसामसीह और मुकरासके जीवन इसके उदाहरण उदाहरण हैं।

“शास्त्रियमें अगर अधर्मकी पराजय और धर्मकी जय दिललाई जाय तो क्या इसके द्वारा दुर्नीतिकी शिक्षा नहीं दी जाती है यह कहा जा सकता है। कभी नहीं। धर्मतमी धर्म है जब वह आर्थिक लाभ हानिकी ओर लक्ष्य नहीं करता, जब वह अपने दुःख-दार्शिकी दशामें भी एक गौरवका अनुभव करता है, जब दुःख ही धर्म-गलनका पुरस्कार गिना जाता है।

“महाराणा प्रतापसिंहने जिस बलसे मृत्युपर्यन्त दुःख भोग किया था उसकी गरिमा केवल दशकों और पाठकोंका मुग्ध नहीं करती, स्वयं आत्मत्याग करनेवाला आदमी भी उस गौरव और सुखका अनुभव करता है।

“स्वर्गलभ होगा यह समझकर धार्मिक होना, भविष्यमें सम्पत्तिवाली होंगे यह सोचकर सत् होना और प्रत्युत्कार पलेकी आशासे उपकार करना धर्म नहीं है। यह स्वार्थ-सेवा है। जो शिक्षा सत्यको खण्डित या क्षुण्य करती है, वह सत्यके हाथ टकराकर चूर्ण हो जाती है। उच्चनीति-शिक्षा वही है जो सत्यसे डरती नहीं धक्क गले लगाती है। नीति शिक्षा देनी हो तो कहना होगा—देला धर्मका पुरस्कार कोरा दुःख ही होता है किन्तु उस दुःखका जो सुख है, उसके आगे सब तरहकी सम्पत्ति और सुख

पीके पड़ जाते हैं”। जो सच्चा धार्मिक है वह धर्मका कुछ भी कोई भी पुरस्कार नहीं चाहता है। वह जो धर्मको प्यार करता है सो धर्मकी पदवीको देखकर नहीं, धर्मके सौन्दर्य को देखकर।

“सत्यका अपलाप करके धर्म बलवान नहीं होता। जिस मनुष्यने धर्मका सौन्दर्य देख लिया है वह साहित्यमें धर्मकी पार्थिव अधोगति देखकर कभी धर्मसे विमुख नहीं होगा। धर्मसे वही व्यक्ति विमुख हो सकता है, जिसने धर्मको बेचने या मोल लेनेकी सामग्री समझ रखी है, जो धर्मके बदलेमें कुछ चाहता है।”

जिन तकके आधारपर द्विजेन्द्रलालरायने अपने पत्रका समर्थन किया है, वे स्वयं अशक्त हैं। भारतवर्षके धर्म-भीरु समाजका यदि उन्हें भली प्रकार अनुभव होता तो वे ऐसी बात कभी नहीं कहते। हमारे समाजमें दोषियों और पापियोंकी कमी नहीं है, किन्तु उनके केन्द्र वे नगर हैं जिनमें योरोपीय जीवन और विलासिता सत्त्विति पूर्ण रूपसे व्याप्त है, जहाँ शैक्षकपियरके दुःखान्त नाटक अनुवादोंके द्वारा हमारे नागरिक समाजको विपात कर चुके हैं और जहाँ दुःखान्त कथानकके योरोपीय चित्र हमारे नागरिकोंका मनोरंजन करते हैं। किन्तु हमारे जनसमाजकी नगरे प्रतिगत जनताका प्रतिनिधित्व करनेवाले ग्रामनिवासियोंमें राम, यग और भगवतके नायकोंने ऐसी धर्मभीरुता भर दी है कि वे उतनी क्षीनता और तस्मरतासे पापकी प्रवृत्त नहीं होते जितने नगरवासी होते हैं। जिस क्षुद्रता, स्वार्थ एव प्रतारणाकी चर्चा द्विजेन्द्रलालरायने की है वह भारतके लिये ग्राह्य नहीं हो सकती है। ईसामसीह और मुकरास जो दुष्प्रेके आखेट बने उसका भी कारण वहाँकी सत्त्विति है। हमारे यहाँ जितने भी काव्यनायक हुए हैं उन सबमें ऐसे विविध गुणोंका आरोप किया गया है कि उनके लिये दुःखात्मक अन्तका प्रश्न ही नहीं सकता। जिन महाकव्योंसे हमारे नाटकोंकी सामग्री ली गई है उन सभीमें व्यापक रूपसे वही देखा जाता है कि नायकों अनेक प्रकारके कष्ट तो उठाने पड़ते हैं किन्तु अन्तमें उसकी विजय होती ही है। धर्मकी जो व्याख्या द्विजेन्द्रलालरायने की है वह अत्यन्त उदात्त है किन्तु उसका आधार दतना जँचा है कि वहाँतक सबकी गति नहीं हो सक्ती है। व्यासजीने धर्मका स्वरूप पूछनेपर यही कहा था—

प्रमत्तार्थय लोकांना धर्म-प्रवचन कृतम् ।
 यः स्यात् प्रमत्तस्युक्तः स धर्म इति मे मतः ॥
 अहिंसायां भूतानां धर्मप्रवचन कृतम् ।
 यः स्यादहिंसया युक्तः स धर्म इति मे मतः ॥

[लाक-कल्याण और अहिंसासे युक्त आचरणको ही धर्म कहते हैं] । महापुरुषों या महाकाव्यके नायकोंने सदा यही काम किया । ये लोग इतने उदात्त चरित्रके होते थे कि उनके लिये दुःखद अन्त समन ही नहीं हो सकता है । भरतूने भी जहाँ दुःखान्त नाटकोंकी योजना की है वहाँ राक्ष रूपसे साधारण सज्जनकी किन्हीं त्रुटि या भूलसे ही दुःखद अन्त प्राप्त करनेकी बात सुझाई है, किन्तु हमारे नायक तो असाधारण हैं इसलिये वे योरापीय परिभाषाके अनुसार भी त्रासद या दुःखान्त नाटकके भीतर नहीं जाते । हम यह पहले ही कह चुके हैं कि नाटक देखनेवाली साधारण जनता पार और पुष्पके बीच बहुत भिन्न नहीं कर सकती है, इसलिये उसके समुदाय बहुत सोच-विचारकर सामग्री उपस्थित करनी चाहिए। शंखभियरके नाटकमें नृशस हत्या के जो शीघ्र दृश्य मिलते हैं, वे कभी जनताकी रुचि परिभ्रुत नहीं कर सकते । उन्हें पढ़कर और देखकर हृदय थरा उठता है, बाँप जाता है, बुद्धि भी उसका समर्थन नहीं कर पाती । शंखभियरके अथवा नाटकमें जिस निर्दयता के साथ साधी डैडीमानाकी हत्या की जाती है, वह कम लाम हर्षक नहीं है, उससे भयानक रस नहीं उत्पन्न होता है उससे शोक उत्पन्न होता है, खीस हाती है—

डैडीमोना—मुझे मारिए मत मेरे नाय ! मुझे घरसे निकाल दीजिए !

अथेलो—चुन हो दुष्टे ।

डैडीमोना—अच्छा कल मार डालिएगा, बस रात भर जीने दीजिए ।

अथेलो—नहीं नहीं, कुछ करोगी ता बस—

डैडीमोना—अच्छा आध घण्टा ।

अथेलो—नहीं, एक क्षण भी नहीं ।

डैडीमोना—मैं प्रार्थना तो कर लूँ ।

अथेलो—बस बहुत देर हो गई

(गला धाकर मार डालता है)

ऐसी अन्यायपूर्ण नीमत्स हत्या रगमचपर दिखाकर उन निर्मम, नीच, पशुप्राय मनुष्योंको प्रोत्साहन नहीं दिया जा सकता जो छोटी छोटी भूलोंपर अपनी सती साध्वी पत्नियोंकी यातना देखकर मारते पीटते हैं और उनका जीवन नरकमय किए रहते हैं । चाहिए तो यह या कि जिस समय अथेलो अपनी पत्नीका गला घोटनेको तैयार होता है, उस समय किसी नाट्य कौशल द्वारा डैडीमोनाके सतीत्वका प्रमाण मिल जाता और अथेलो पश्चात्तापसे पागल होकर द्वार द्वार घूमकर अपनी मूर्खताका उद्घोष करता । किन्तु इस हत्याका शुद्ध उद्देश्य यही है कि सतीत्वका काह महत्त्व नहीं, अन्यायका कोई प्रतिकार नहीं, सत्य और नीतिकामानो कोई समर्थक नहीं ।

यह नहीं समझना चाहिए कि इस प्रकारके दुःखान्त नाटकका सजने समर्थन ही किया है । समर्थ अग्नेज समीक्षक एटीसनने कहा है—

“रक्तगा और मय उत्पन्न करनेके सब साधनोंमें इतना असंगत और पाश्र्विक कष्ट साधन नहीं है जितना अग्नेजी रंगगीठार पारस्परिक हत्या है और जिसके कारण हमारे पड़ोसी हमसे घृणा करते और हमारा उपहास करते हैं ।

“मनुष्योंको छुरेसे अहत हाते, विषयान करते और क्रागारकी यातना सहन करते देखकर प्रसन्न हाना वाग्तममें हम रे निर्दयी रसभरका परिचायक है । त्रिदिश रगीठींर प्रायः ऐसे नाटक देखकर प्रासीसी समालोचकोंने इसे हमारी विरोधता समझकर हमें रक्तपिण्ड सिद्ध किया है । यह सचमुच कितनी भरी बात है कि हम रे दुःखान्त नाटकोंके अन्तिम दृश्य शर्मसे भरे मिलते हैं और नेत्रप्यलमें बहुतसे छुरे कणार, चक्र, विषयान आदि अनेक मृत्युके साधन दिखाई पड़ते हैं ।”

अतः लोचरजन, लोचहित, लोकमगल और लोक विभ्रातिके दृष्टिसे ऐसे ही नाटक लिखना चाहिए जिसमें वध और मृत्युके दृश्य न दिखाए गए हों ।

नाटकमें पद्य

● पद्यमग्राह्यम् सर्वत्र ॥

[पद्यप्रयोग सर्वदा अनुचित ।]

बहुतेसे आचार्योंका यह विचार है कि नाटकमें गद्य और पद्य दोनोंका प्रयोग हाना चाहिए । सङ्घत नाटक-

कारोंने भी अपने संवादोंमें गद्य और पद्य दोनोंका प्रयोग किया है, उनमें जहाँ वर्णन, भाव या रसकी अभिव्यक्ति करनी हुई है वहाँ-वहाँ पद्यका प्रयोग खुलकर किया गया है। केवल नमस्कार, आशीर्वाद, शिष्टाचार-वाक्य, आदेश, प्रस्ताव या वक्तव्य आदि गद्यमें कहे गए हैं। इस पद्यका रोग किसी-किसी नाटकमें यहाँ तक बढ़ गया है कि कहीं-कहीं "अपि च, तथा हि" आदि लगाकर निरर्थक पद्योंकी सख्या बढ़ाई गई है जिससे कभी-कभी नाटकमें नीरसता आ जाती है। पारसी रंगमंचपर जो नाटक लाए गए उनकी भी यही विशेषता थी कि उनमें बात-बातपर पद्य कहे जाते थे, यहाँतक कि इन्द्र सभा नामका नाटक तो केवल पद्यमें ही लिखा हुआ है, उसके सब संवाद पद्यमें ही होते हैं।

पद्यका प्रयोग किस नियमसे करना चाहिए इसका तो विधान नाट्य-शास्त्रमें किया नहीं गया। उसके पंचदश अध्यायक ११८ और ११९ श्लोकोंमें कहा गया है—

इति छन्दसि जातानि मयोलानि द्विजोत्तमाः ।

प्रयान्तेत्ये तु नाट्येऽस्मिन् प्रयोज्यानि निबोधत ।

[हे द्विजश्रेष्ठ ! ऊपर मैंने जो छंद बताए हैं इन्हें निश्चित रूपसे नाट्यमें प्रयोग करने चाहिए यह समझ लो]

किन्तु किस क्रमसे और कहीं-कहीं छंदोंका प्रयोग करना चाहिए इस विषयमें कुछ नहीं कहा गया है। समस्त अध्यायके अन्तमें यही कहा है—

मृदुललितपदार्थं गूढशब्दार्थहीनं ।

बुधजन सुखयोग्य बुद्धिमन्त्रचयोग्यम् ।

बहुरसकृतमार्गं सन्धिस्थानयुक्तम् ।

भवति जगति योग्यं नाटकं प्रेक्षकाणाम् ॥

[जिसमें कोमल, ललित पद और अर्थ हों गूढ शब्दार्थ न हो, विद्वानोंका सुखदेने योग्य हो, बुद्धिमान् उसे खेल सकें, बहुतेरे रसोंके लिये जिसमें अवकाशहो, सब नाट्य-सन्धियों टीससे बंधी हुई हों—इस प्रकारका जो नाटक होता है वह प्रेक्षकोंके लिये सर्वोत्तम श्रेष्ठ नाटक समझा जाता है ।]

इसमें भी यह नहीं बताया गया है कि कितना और नीमण धरा पद्यमय हो और कितना गद्यमय हो। यह सब नाट्याचार्योंने नाट्यकारपर छोड़ दिया है।

गद्य और पद्यके प्रयोगका हमें दो दृष्टियोंसे परीक्षण करना चाहिए। एक तो प्रभावकी दृष्टिसे और दूसरे स्वाभाविकताकी दृष्टिसे। जहाँतक प्रभावका प्रश्न है—यह देखा गया है कि पद्यमें कहे हुए वक्तव्य अधिक प्रभावशाली होते हैं, जनता पद्यके बन्धन या रचनासे इतनी प्रभावित होती है कि वह तत्काल पद्यको सुनकर बाह्य पर उठनी है और पद्यमें होनेसे कोई वक्तव्य जनताकी स्मृतिमें भी चिरस्थायी हो जाता है। यह शक्ति गद्यमें नहीं है। पीछे हम उपदेश और विश्रान्तिको भी नाट्यका उद्देश्य मान आए हैं। उस दृष्टिसे यह आवश्यक है कि नाट्यमें जितनी बातें कही-जायें वे इस कौशल और रीतिसे कही जायें कि उन्हें लोग स्मरण रखकर विशेष भ्रमसरपर उनका प्रयोग करके अपना और दूसरोंका कल्याण कर सकें। आज भी संस्कृत नाटकके न जाने कितने पद्य संस्कृतके पठितोंमें इतने प्रचलित हैं कि पद पदपर उनका प्रयोग किया जाता है।

जहाँतक स्वाभाविकताकी बात है, पद्यका प्रयोग होना ही नहीं चाहिए, क्योंकि यदि नाट्य अवस्थानुकुति है तो साधारण जीवनमें कहीं भी बातचीत या व्यवहारमें पद्यका प्रयोग नहीं होता। केवल कभी कभी प्रसंगानुकूल उदाहरण देते हुए या कोई बात समझते हुए किसी प्राचीन मुक्ति-कार या कविकी कोई मुक्ति कह दी जाती है। अतः इस-प्रकार यदि पद्यका प्रयोग हो तो वह न्याय्य, उचित और स्वाभाविक कहा जा सकता है किन्तु उसकी भी सीमा होनी चाहिए। हम बात-बातमें तुलसीकी चौपाई, सुरके पद या रहीमके दोहे नहीं कहते फिरते। कभी कभी विशेष प्रसंग आ पड़नेपर बहुतेरे गद्यरसक वाक्योंके बीचमें एकप पद्य कह दिया जा सकता है। अतः स्वाभाविकताकी दृष्टिसे पद्यका प्रयोग नितान्त अनुकूल है।

पद्य या गद्यके प्रयोगके संबन्धमें लोकरचिका भी ध्यान रखना चाहिए। संस्कृत नाटकोंमें पद्यकी बहुलता देखकर यह कल्पना की जाती है कि लोगोंको श्लोक बड़े प्रिय थे। यूनान और रोमके नाटकोंमें भी पद्यका ही-बोल-बाला था क्योंकि उनके यहाँ पूरा नाटक प्रायः गाकर ही खेला जाता था। किन्तु यह गद्य-युग है, स्वाभाविकताका युग है। आजकल लोग पद्यको अनुचित, असंगत, अस्वाभाविक और निरर्थक समझते हैं। इसके लिये वर्तमान

स्वाभाविक अभिनय—कला भी उत्तरदायी है। पद्यमय सवादोंके अभिनेताको अतिनाट्य या अपनाट्यका आश्रय लेना ही पड़ता या किन्तु स्वाभाविक नाट्यमें पद्यके अथवा ठीक-ठीक बैठते ही नहीं। अतः नाट्यकारके लिये सुमार्ग यही है कि सब सवाद गद्यमें ही रखे और पद्यका प्रयोग केवल वहाँ करे जहाँ कोई सिद्धान्त या कोई उपदेश कहने की आवश्यकता पड़े और वह भी इस प्रकारसे कहा जाय कि अस्वाभाविक न जान पड़े।

गीतों का प्रयोग

● अतिगीतमविधेयम् ।।

[बहुत गीत भी उचित नहीं है ।]

आजकलके नाटककार जहाँ एक ओर स्वाभाविकताकी दुहाई देते हैं वहीं दूसरी ओर लोकजनका बहाना लेकर गीतोंकी भरमार किए रहते हैं। इनमें भी कई प्रकारके गीत होते हैं। कुछ तो एक व्यक्ति द्वारा गाए जाते हैं कुछको दो व्यक्ति सवादके रूपमें गाते हैं, कुछ गीतोंकी समवेत रूपसे मिलकर गाते हैं, कुछ ऐसे हैं जिन्हें एक व्यक्ति बोलता चलता है दूसरे उसके पीछे आशुचि करते चलते हैं। इनमेंसे सवादके रूपमें गाए जानेवाले गीत अत्यन्त अस्वाभाविक होते हैं यद्यपि अधिकांश जनता उन्हेंको श्रेष्ठतर समझती है।

इन सब गीतोंके सम्बन्धमें दो सिद्धांत निश्चित रूपसे समझ लेने चाहिए—एकतो 'अतिसर्वत्रवर्जयेत्'। किसी भी वस्तुकी बहुलता उसका सौन्दर्य नष्ट कर देती है। प्रत्येक वस्तु अपने अपने स्थान और अवसरपर सुन्दर लगती है। दूसरे यह देखना चाहिए कि जिस स्थान पर गीत अधिक अर्थात्, स्वाभाविक और उपयुक्त हो—वहाँ उसका विधान करना चाहिए। नायकके वियोगमें नायिकाका और नायिकाके वियोगमें नायकका बैठे राग अलापना, परस्पर मिलनेपर दोनोंका संगीतमय वार्तालाप करना, किसी इच्छेके निधनपर गीत गाकर रोना आदि ऐसे अनुपयुक्त और अस्वाभाविक प्रसंग है जहाँ गीतका प्रयोग करनेसे जनताका मनोरञ्जन मले ही होता है किन्तु संगीत और भावप्रकलाकी हृदय ही और जाती है और ठीक प्रकारसे समुद्रप्रति होनेमें भी इसकी भावप्रकला ही है अतः

नाटककारको केवल वहाँ गीतका विधान करना चाहिए जहाँ वह नाट्य-वस्तुकी आवश्यकताके अनुकूल हो जैसे महाकवि कालिदासने मालविकाग्निमित्रमें किया है क्योंकि वहाँ मालविकाका गीत और नृत्य नाटकीय वस्तुमें उहायता देनेवाला है।

संवाद सर्वश्राव्य हो

● सर्वश्राव्याश्चसंवादाः ।

[सर्वश्राव्य सवाद सदा हो ।]

प्राचीन नाट्याचार्योंने सवाद तीन प्रकारके बताए हैं—सवश्राव्य, नियतश्राव्य और अश्राव्य। इनमेंसे जो सबसे सुननेके लिए हो अर्थात् रगमचपर उपस्थित पात्रोंके भी सुननेके लिये हो उसे सर्वश्राव्य या प्रकाशवचन कहते हैं और जो सबके लिये अश्राव्य हो उसे स्वगत करते हैं।

सर्वश्राव्य प्रकाशवचनश्राव्य स्वगत मतम् ।

[दशरूपक—६४]

इनके अतिरिक्त नियतश्राव्य दो प्रकारके बड़े गए हैं—एक जनान्तिक और दूसरा अपवारित। जनान्तिक उसे करते हैं जो त्रिपाताकाकरकी मुद्रासे रगमचपर उपस्थित अन्य लोगोंकी भाट करके दो व्यक्ति पर पर बातचीत करते हैं और अपवारित उसे कहते हैं जब उपस्थित व्यक्तियों औरसे घूमकर उसका कोई रहस्य कहा जाता हो। इनके अतिरिक्त एक आकाशमसित भी होता है जहाँ बिना दूसरे पात्रके ही एक पात्र आकाशकी ओर देखकर इस प्रकार प्रश्न और उत्तर करता है मानो वह किसीवे बात चीत कर रहा हो जैसे भण रूपकमें होता है।

आजकलके नाटककार इनको अस्वाभाविक मानते हैं। जनान्तिक, अपवारित और आकाशमसित तो प्रत्यक्ष रूपसे अस्वाभाविक हैं ही। रगमचपर उपस्थित लोगोंके सम्मुख कोई बात कही जाय उसे सारी जनता सुने और रगमचवाले लोग न सुन पावें—यह सर्वथा असंगत बात है। प्राचीन-युगमें प्रतीकात्मक अभिनय होता था। उस समय त्रिपाताकाकरकी मुद्रा स्थापित करनेसे जनता प्रहस्यमय भावोंमें आती थी। तब जो-बात कही जाती थी वह सबके लिये हमारे लिये ही थी, तब उपस्थित अन्य लोगोंके लिये

नहीं है। किन्तु आवश्यक जब उस त्रिपताकाकारका विधान ही नहीं है तब जनान्तिक और अपवारितकी कोई उपा-
देयता और आवश्यकता ही नहीं रह जाती। यही बात स्वगतकथनके विषयमें कही जा सकती है। ये स्वगत-
कथन योरोपीय रंगशालामें बड़े महात्त्वके समझे जाते थे और उनमेंसे बहुतसे स्वगत-कथन तो विश्व साहित्यकी
वामर-विभूति हैं। किन्तु स्वाभाविकताकी कसौटीपर वे भी खरे नहीं उतरते। मनुष्य कभी अपनी सोची हुई बात चिल्ला-
कर या हल्ला मचाकर नहीं करता। वह जो चिन्तन करता है उसकी क्रिया मौन होती है। यह मानसिक क्रिया भी
जनताके सम्मुख उपस्थित करनी चाहिए जिससे उसका
चरित्र जनताके समझमें आ सके। इसी विचारसे स्वगत-
कथनकी सृष्टि की गई थी, किन्तु स्वगतकथन या मानसिक
क्रियाकी अभिव्यक्ति उसके कार्यके द्वारा प्रदर्शित करनी
चाहिए, शब्दोंके द्वारा नहीं। जबतक यह मानसिक
क्रिया अभिव्यक्त नहीं होगी तभीतक कुतूहलका निर्वाह
होना रहेगा। अतः कलाकी दृष्टिसे भी कुतूहलकी रक्षा
करनेके लिये स्वगतकथनका यहिकार करना चाहिए।
वर्तमान युगके सभी विदेशी नाटककारोंने यही नीति अप-
नाई है और इस प्रकारसे नाटक लिखने प्रारम्भ किए हैं कि
सर्वश्राव्य संवादों और सर्वदृश्य क्रियाओंके द्वारा ही नाट्य-
बस्तुका प्रसार करें। अतः सवादमें स्वगतकथन, जनान्तिक,
अपवारित और आकाशमापितका प्रयोग नहीं करना
चाहिए। जो कुछ वर्णनीय हो वह सर्वश्राव्य संवादों और
व्यापारोंके द्वारा ही अभिव्यक्त कर देना चाहिए।

नाटकका परिमाण

● दशघटिकाप्रयोगावधियुक्तं नाट्यम् ॥

[दश घड़ियोंमें पूर्ण हो सके वह नाटक है श्रेष्ठ ।]

वर्तमान नाटककारके सम्मुख एक यह भी बड़ा प्रश्न है कि नाटक कितना बड़ा हो। वह युग गया जब लोग रात रात भर बैठकर आनन्दसे नाटक देख सकते थे। आजकल जीवन अधि-
क व्यस्त हो गया है, मानवीय सन्ध इतने अधिक और इतने प्रकारके हो गए हैं कि मनुष्य मनोरंजनके लिये उतना समय नहीं दे सकता। चलचित्र और बोल-
पटके आ जानेसे इतने सस्तेमें और थोड़े समयमें लोगोंका

मनोरंजन हो जाता है कि अधिक व्ययसाध्य और अधिक समयसाध्य मनोरंजनकी ओर उनकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। घर-घरमें नमोवाग्यंत्र (रेडियो) लग जानेसे घरपर ही लोगोंका मनोरंजन होने लगा है क्योंकि उससे केवल व्याख्यान या समाचार ही नहीं मिलते प्रत्युत गीत, नृत्य, काव्य, उवाद और अन्य नाटकोंका भी रस मिलता है। अतः हमारे लिये उचित है कि नाटकको भी सदा और अल्पसमयसाध्य बनाया जाय। इसके तीन उपाय हैं—नाटक अधिकसे अधिक चार घण्टेमें समाप्त कर दिया जाय और टीक अवधि तो यह है कि ढाई घण्टेमें नाटक समाप्त हो जाय। दूसरी बात यह है कि नाटकमें पात्र कम हों जिससे उनकी देश भूषा, नैराध्य-भ्रम तथा शिक्षामें कम सामग्री और समय लगे। तीसरी बात यह है कि नाटकमें बहुत कम दृश्य हों जिससे कि दृश्य-विधानमें बहुत द्रव्य न लगे। ये तीन बातें होंगी तो नाटक खेलनेवालोंसे सुविधा होगी, पात्र छोटका सरल होगा, थोड़े पात्रोंको अधिक मनोयोगसे शिक्षा दी जा सकेगी, बहुपथी लोग भी थोड़े समयवाले नाटकको अधिक सख्यामें देख सकेंगे और उसकी व्यवस्था करनेमें भी बठिनाई नहीं होगी। विशेष बात तो यह है कि चल-चित्रके समान एक दिनमें दो दो तीन तीन खेल भी दिखाए जा सकेंगे। अतः यह निर्धार्य निम्नला—

● अल्पकालिकाल्पपात्रदृश्यमयं नाट्यं श्लाघ्यम् ॥

[अल्पकालका, अल्प-पात्रका, अल्प-दृश्यका नाटक श्लाघ्य ।]

योरोंमें विशेषतः जैकोस्लोवाकियामें जो लघु नाटक आन्दोलन प्रारम्भ हुआ था अब वह आन्दोलन योरोप भरमें फैल गया है। इनका उद्देश्य यह है कि छोटे उठोआ रंगशाला हों जिन्हें देखने उपर लाया ले जाया जा सके, उनपर खेले जानेवाले नाटक छोटे हों, उनमें पात्र कम और दृश्य-विधान अत्यन्त सरल हों। जबतक हमारे देशमें भी इस प्रकारसे नाटक सरल नहीं किए जायेंगे तबतक नाट्य-कलाका उद्धार नहीं किया जा सकता। किन्तु बड़े रंगशालामें जहाँ बहुव्ययसाध्य नाट्यशालाएँ बन सकी हैं या बनो हुरें हैं वहाँके लिये उसके धनुरूप भी नाटक लिखे जा सकते हैं किन्तु समय, पात्र और दृश्यकी अल्पता प्यान रखना ही होगा।

इन सब सिद्धान्तोंकी विवेचना करनेके पश्चात् हम इस

निष्कर्षपर पहुँचे कि नाटकमें अभिनेयता होनी ही चाहिए अर्थात् वह खेलनेके योग्य हो केवल पदने की वस्तु नहीं। उसमें एक ही प्रधान कथा या इतिवृत्त होना चाहिए। उसका अन्त सुखमय होना चाहिए, उसमें ऐसे दृश्य नहीं होने चाहिए जो अश्लील या विनाशात्मक हों, उसमें सवाद गद्यात्मक हों, गीत केवल उपयुक्त स्थलपर नियोजित हों, उसे दिखाना रंग व्यवस्थापककी शक्तिके बाहर न हो,

॥ इत्यभिनवभरतश्रीलीलारामचिरचिताभिनव नाट्यशास्त्रे रूपरचनाखण्डे सिद्धान्तप्रकरणं नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥

—:११११:—

नाट्यकार

नाट्य रचनाके सिद्धान्तोंका वर्णन करनेके पश्चात् नाटकके विधाता नाट्यकारका वर्णन सबसे पहले करना सर्वथा उचित है। भरतने अपने नाट्यशास्त्रके भूमिका पात्र विकल्प नामक पैंतीसवें अध्यायमें कहा है—

यमः, अयोपदिष्टान् ताश्च भावाश्च सन्वसयुक्तान्।

भूमिविकल्पो नयति च नाट्यकारसंशितस्तरमात् ॥७७॥

[जो व्यक्ति पहले बताए हुए सात्विक भावोंको पात्रोंमें प्रतिष्ठित करता है वह नाट्यकार कहलाता है]

यह पहले ही कहा जा चुका है कि तीनों लोकोंकी सभी अवस्थाओंका अनुकरण नाट्यमें होता है अर्थात् समाजमें जो कुछ दुःख-सुख हैं उन सबको व्यग्रस्थित रूपमें प्रकट करना ही नाट्य कहलाता है। से सभी सुख और दुःख प्राणिमानके सात्विक भाव हैं। इन्हीं सात्विक भावोंको जो पात्रोंमें दलता है या आरोप करता है वही नाट्यकार कहलाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि नाट्यकारको मनुष्य के सब भावोंका ठीक ठीक ज्ञान होना चाहिए अर्थात् नाट्यकारको यह ज्ञान होना चाहिए कि किस प्रकारका कौन सा व्यक्ति किससाधारण या असाधारण परिस्थितिमें किस प्रकार बानचीत या व्यग्रहार करता था, करता है, कर सकता है या उसको करना चाहिए। इस दृष्टिसे प्रत्येक नाटककारको भूत और वर्तमान समाजोंका पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। इसका तात्पर्य यह हुआ कि उसे पुराण, इतिहास, वर्तमान कालके सामाजिक आचारोंका पूरा ज्ञान होना चाहिए। इस ज्ञानके अंतर्गत वे सब शास्त्र, शिल्प और विद्याएँ आ जाती हैं जो उन समाजोंसे सम्बद्ध हों। (अतः नाट्यकारको इतिहास, समाज और मानस शास्त्रका पूर्ण पण्डित होना चाहिए।)

उसमें पात्रों और दृश्योंकी सख्या कम हो, सवाद केवल सर्वथाव्य हो, वह थोड़े समयमें दिखाया जा सके, उसमें आदिसे अंततक वृत्तव्य व्याप्त हो और उसकी निवृत्ति सुखान्त ही हो। इन सब बातोंका ध्यान रखकर जो नाटक लिखे या खेले जायेंगे उनसे राष्ट्रका हित होगा और नाट्यकलाकी रक्षा होगी।

किन्तु नाट्यकारकी योग्यता यहीं समाप्त नहीं हो जाती, उसे भूमि विकल्प करना पड़ता है अर्थात् नाटकीय पात्रोंमें सात्विक भावोंका आरोप करना पड़ता है। इसका अर्थ यह हुआ कि नाट्यकार अपने चरित्रोंमें इस प्रकारसे सात्विक भाव भरे कि उससे नाटकके उद्देश्य और रसका निर्वाह हो सके। यह तभी संभव है जब नाटककार रगपीठकी संपूर्ण गति विधि और लोकमानस अर्थात् लोगोंकी मनोवृत्ति भली भँति पहचानता हो, जब वह समझता हो कि कौन सी घटना किस प्रकारके पात्रोंके द्वारा किस ढंगसे रगपीठपर दिखाई जाय कि जनता उस ओर आकृष्ट हो। अतः नाट्यकारको रगपीठके सब आचारोंका और विधानोंका पूरा ज्ञान होना चाहिए, साथ ही लोकवृत्ति और लोकचक्रिका भी पूरा ज्ञान होना चाहिए। रगपीठके आचार और विधानके अंतर्गत दृश्यविधान, अभिनय और संगीत आदि सभी व्यापार धा जाते हैं। जबतक नाटककारको इन छंद बातोंका ज्ञान नहीं होता तब तक वह सात्विक भावोंका आरोपण अपने पात्रोंमें कैसे कर सकता है? अतः नाटककारका लक्षण यह हुआ—

● लोकेतिहासभाषासंगीताभिनय-रंग-

व्यापारलोकवृत्तज्ञः नाट्यकारः ॥

[इतिहास और संगीत कला भाषा अभिनयका जो ज्ञान।

लोक-वृत्तिका मर्म-ग्राही नाट्यकार वह बन पाता ॥]

कवि नाटक क्यों लिखता है।

यों तो अपने मनके भावोंको व्यक्त करनेके लिये कवियोंने अनेक भाषा शैलियोंका काव्यमें निर्माण किया है किन्तु नाटकको ही कुछ लोग अपने विचारों और उद्देश्यों

की अभिव्यक्तिका साधन क्यों बनाते हैं? उसके अनेक कारण हैं। पहली बात तो यह है कि नाटकमें सर्वा कथाओं का संयोग होता है अतः उसकी ओर जनतन्त्री स्वाभाविक रुचि होती है। उसके द्वारा जो कुछ दिखलया जाता है उसका प्रत्यक्ष ज्ञान लोगोंको होता है। दूसरी बात यह है कि अधिक से अधिक लोगोंतक अपना उद्देश्य और आदर्श पहुँचानेका सरलतम साधन नाटक है। बहुतसे लोगोंके पास इतना समय नहीं है कि वे पुस्तक पढ़ सकें, बहुतसे लोगोंको इतना ज्ञान भी नहीं है कि वे पुस्तक समझ सकें, बहुत से लोगोंको इतनी समझ भी नहीं है कि पुस्तक पढ़कर उसका भाव ग्रहण कर सकें। ऐसी स्थितिमें नाटक ही एक मात्र ऐसा साधन रह जाता है जिसकी ओर अधिकसे अधिक लोग प्रवृत्त किए जा सकते हैं, जिसमें अधिकांश लोग समान रूपसे रस लेते हैं और जिसकी ओर सबकी स्वाभाविक रुचि होती है। प्रत्येक लेखक यह चाहता है कि अधिकसे अधिक लोग भेरी बात सुनें। उसकी यह लोकेयणा नाट्यके द्वारा सरलतासे तुल्य हो जाती है। इसीलिये विश्वके बड़े-बड़े साहित्यकारोंने नाटकका आश्रय लिया है।

कभी-कभी नाटक देखनेसे भी नाटक लिखनेकी प्रेरणा होती है। नाटक लिखनेके समय नाट्यकार अपने नाटकका कल्पित प्रयोग अपने मानस रंगपीठ पर करता चलता है और उसका आनन्द लेता चलता है। यह आनन्द भी उसे नाटक लिखनेकी प्रेरणा दे देता है। कभी-कभी मनुष्यकी स्वतःवृत्तियों किसीमें अधिक अद्भुतके कारण या किसीके प्रति अधिक आकर्षण या घृणके कारण उन्हें लोक-वन्दित या लोक-निन्दित होते देखनेके लिये व्याकुल रहती हैं। यही वृत्ति प्रतिभाशालि साहित्यकारको नाटक लिखनेके लिये प्रवृत्त करती है और जब उस साहित्यकारके अद्भुत या अत्यद्भुत-पात्र रंगगीठपर पहुँचकर लोक-वन्दनीय या लोक-निन्दनीय बनते हैं तब नाट्यकारको आत्म-दुष्टि प्राप्त होती है। कभी-कभी अपने मानसिक-भावोंके परिष्कारके लिये भी कवि नाटककी रचना करता है। यह जो प्रिय या अमिय अनुभव करता है उसे दूसरोंमें आरोपित करने भ्रसे उसके मानसिक भावका परिष्कार हो जाता है और उसे बड़ा सतोष मिलता है। यदि किसीके प्रति किसी समाज या वर्ग या व्यक्तिने अन्याय किया हो

और हम उस अन्यायका प्रतिष्कार न कर सकें तो हम नाटकके द्वारा वैसे पात्रोंकी सृष्टि करके नाटकमें अन्यायीको दण्ड दिलाकर मूल अन्यायीके अन्यायका प्रतिष्कार न कर सकनेके दोषका परिहार या प्रायश्चित्त कर लेते हैं।

मनुष्य अनुकरणशील प्राणी है, और मनुष्य क्या, सभी प्राणी अनुकरणशील होते हैं किन्तु अनुकरणशील होते हुए भी सामाजिक शील और विद्युच्चारसे इतने आग्रह होते हैं कि साधारणतः हम दूसरोंका अनुकरण करनेमें सकोच करते हैं, विद्युतके विरुद्ध समझते हैं। इसलिये एक ऐसा सामाजिक विनोद हमने हँद निकाला जिसमें सज्जनसे सज्जन, बुरेसे बुरे और हास्यास्पदसे हास्यास्पद व्यक्तिका अनुकरण करने और देखनेमें कोई सकोच या बाधा नहीं होती। इसलिये भी जिन्हें समाजके विशिष्ट लोगोंका अनुकरण प्रिय हुआ उन्होंने भी नाटककी ही शरण ली। बहुतसे नाटककार तो नाट्यशालाओं या नाटक-मंडलियोंसे सम्बद्ध रखनेके कारण ही नाटक लिखने लगे और ऐसे नाटककार अधिक सफल और लोकप्रिय हुए हैं क्योंकि वे लोग नाट्यके सब मर्मोंसे परिचित रहते हैं और लोकरुचिको प्रभावित करनेके हथकड़ों और बौद्धिकों मौज रहते हैं।

बहुतसे नाटककार परिस्थितिवश नाटककार हुए हैं। इनमें वे सभी हैं जो द्रव्यके लोभसे, अथवा किसी विशेष घटनाके कारण कोई दूसरा व्यापार न होनेसे इधर श्रुत गए हैं। कभी-कभी तो अपने धार्मिक या राजनीतिक भावोंको स्पष्ट प्रकट करनेमें भय खानेवाले व्यक्ति भी नाटककार बन गए हैं और ऐसी अनेक घटनाएँ हैं जब नाटककारने केवल धरने सिद्धान्तों का प्रचार करनेके लिये ही नाटककी सृष्टि की है। ये सब लोग परिस्थितिवश नाटककार बने हैं और इस प्रकारके नाटक लिखनेवाले निम्न श्रेणीके नाटककार समझे जाते हैं।

तीसरे प्रकारके वे भी नाटककार हैं जो किसी आश्रयदाता राजाकी प्रेरणासे, किसी व्यक्तिकी प्रेरणासे या किसी संस्थाकी प्रेरणासे नाटक लिखते हैं। इस प्रकारके नाटककार निवृत्त कोटिके होते हैं क्योंकि उसमें आत्म व्यक्तित्वका या व्यक्तिगत रुचिका अभाव होता है।

ये नाटककार सिद्धान्तः चार प्रकारके होते हैं—आदर्श-वादी, समानतावादी वस्तुवादी और भाग्यवादी ।

सिद्धान्तः चार प्रकारके नाटककार

● आदर्शसंभावनावस्तुभाग्यवादिनः नाट्यकाराः ॥

[आदर्श संभावना वस्तु भाग्यवादी चार प्रकारके नाट्यकार]

आदर्शवादी नाटककार

आदर्शवादी नाटककार वे हैं जो अपने प्रधान पानमें केवल गुण द्रष्टते हैं । ये भी चार प्रकारके होते हैं । एक तो वे हैं जो अपने देयत्री प्राचीन सस्कृतिके अनुरूप आदर्श नायक और आदर्श परिणाम द्रष्टते हैं और दूसरे वे हैं जो जो समय और युगधर्मके अनुसार आदर्श पानोंकी सृष्टि करते हैं । तीसरे वे हैं जो आदर्शवादमें केवल उपयोगिता द्रष्टते हैं अर्थात् जो किसी एक व्यक्तिके समूहिक पूर्ण चरित्रकी उपेक्षा करके केवल उन गुणांतक धारणा समग्र रचना चाहते हैं जो अपने समाजके लिये उपयोगी हों । चौथे वे हैं जो ऐसे आदर्श पानोंकी कल्पना करते हैं जो लोकसुख या प्राणिमानके कल्याणकी भावना रखते हैं । इनमें से चौथी प्रकारके आदर्शवादी अत्यादर्शवादी होते हैं जिनके लिये विश्वसाहित्यमें नायक द्रष्टना कठिन ही नदा अर्थमय भी होता है क्योंकि जा लग्य लक्षणमय या विरल-कल्याणवादी होते हैं वे हृदयते, सुखसे भरे ही विरल गुणत्व का राग अलापते हैं किन्तु सारी सृष्टिक कल्याण उनके द्वारा समान नहीं हो सकता क्योंकि यह सृष्टि गुण दोष मय है । इसमें धनसे धड़ा महत्ता भी कभी दोषता समर्थन नहीं कर सकता । इसका अर्थ यह हुआ कि वह दोषीका भी समर्थन नहीं कर सकता और दोषीका समर्थन न करनेका अर्थ है दोषियोंसे वैर मोल लेना । यद्यपि इसने और बुद्धसे जान नृक्षकर विनीता अहित नहीं किया किन्तु फिर भी उनके विरोधियोंकी कमी न थी । अतः, ऐसा नायक द्रष्टना असम्भव है जो समष्टि रूपसे भरे और सुरे समीक्षा मगल करता हो । इनके अतिरिक्त जो मीक्षिक विद्वान्बुधत्वका प्रचार करते हैं वे दो प्रकारके हैं, एक तो विरल और दूसरे दोगी । ये दोनों नाटकके नायकत्वके लिये अनुपयुक्त हैं ।

प्राचीन सस्कृतिके अनुसार आदर्श द्रष्टनेवाले नाटककार भी तीन प्रकारके होते हैं । एक तो वे जो केवल किसीके विशिष्ट गुण देखकर उसपर रीझ जाते हैं और केवल उस विशिष्ट गुणकी प्रतिष्ठा करनेके लिये ही नाटक या कान्यकी रचना करते हैं । दूसरे वे हैं जो अपने इस नायकके गुणकी तो प्रशंसा करते ही हैं, उसके दोषोंका भी तर्कपूर्ण समर्थन करते हैं । तीसरे वे कट्टर रुढ़िवादी हैं जिन्हें प्राचीन सस्कृति और युगकी प्रत्येक बातमें गुण, तथा नवीन सस्कृति और युगकी प्रत्येक बातमें अथगुण दिखाई देते हैं । ऐसे ऐकान्तिक आदर्शनाी नाटककी दृष्टिसे उपयुक्त नहीं होते क्योंकि नाटककारका धर्म यह है कि वह नायकमें अनेक समविषम परिस्थितियोंमेंको ले जाता हुआ उद्दिष्ट परिणाम तक पहुँचा दे ।

नवीन आदर्शोंके पक्षपाती नाटककार भी रुढ़िवादियोंके समान हठवादी होते हैं । उन्हें सब प्राचीन अर्थ अनुपयुक्त, असंगत, अव्यवहार्य, अनुचित, अविज्ञानिक, असत्य और असभ्य लगती हैं । वे प्रत्यक्षको ही प्रमाण मानते हैं, युगकी आवश्यकता पूर्ण करना ही अपना ध्येय समझते हैं, मनुष्यकी शक्तिको हीवे परमशक्ति मानते हैं । ये भी तीन प्रकारके होते हैं, एक तो वे जो अपनी प्राचीन सस्कृति, विद्या तथा कलासे पूर्ण अपरिचित होनेके कारण नवीनको ग्रहण करते हैं और प्राचीनका विरोध करते हैं । दूसरे वे हैं जो परिवर्तनको ही प्रकृतिका नियम मानते हैं और जिनका विश्वास है कि प्रत्येक स्थितिका परिवर्तन होना ही उसका विनाश है किन्तु सभवतः वे यह नहीं जानते कि जैसे लयसे उतरचित्री और जाना थिकस है वैसे ही उतरचिसे लयही और जाना भी विकास है । इनमें से पहला श्रेय है और दूसरा द्वेष है । परिवर्तनवादी इस द्वेष श्रेयके अन्तरसे समझनेका प्रयत्न नहीं करते । वे परिवर्तन मात्रको श्रेय मानते हैं, भले ही वह विनाशकी ओर ही क्यों न ले जाता हो । तीसरे नवीनतावादी वे नाटककार हैं जिन्होंने केवल नवीन युगका ही अध्ययन किया है, नवीनके ही आदर्शोंमें जिनका पालन-पोषण हुआ है और नवीनकी विशेषताओंको जिन्होंने अधिक कल्याणप्रद समझा है । ये एकपक्षीय होते हुए भी पहले दोनों प्रकारके नाटककारोंसे अच्छे होते हैं क्योंकि पहले दोनों विद्वेष और हठसे प्रेरित होकर आदर्शकी स्थापना

करते हैं किन्तु नवीन आदर्शोंकी गोदमें पला हुआ नाटककार नवीनमें सात्त्विक श्रद्धा रखता है। वह जिस पथका समर्थन करता है वह उसका अनुभूत पथ है।

उपयोगितावादी आदर्शकी सृष्टि करने वाले नाटककार अपनेको अधिक मनोवैज्ञानिक बताते हैं। वे कहते हैं कि आत्म-कल्याण भी संसारका बहुत बड़ा आदर्श है। यह स्वार्थवाद उस प्रकारका नहीं है जिसमें दूसरोंका अन्वेषण करके अपना हित साधनेकी प्रवृत्ति हो। इसके स्वमें आत्मोन्नति, महात्माकाशकी नृत्ति, यशोनिष्पत्ता, अद्भुत और असौकरिक काम करनेका सकल्य, दूसरोंसे आगे बढ़नेकी सात्त्विक चेष्टा आदि भाव सन्निहित हैं। लोक-कल्याणकी दृष्टिसे 'आत्मान सततं रक्षेत्' और आत्मोन्नति भी बहुत बड़े आदर्श माने गए हैं। दूसरेका अकल्याण किए बिना यदि कोई पैसा, धन या कीर्ति अर्जित करता है तो यह भी लोकके समझ उदात्त ही आदर्श उपरिगत करता है। यदि उस आदर्शके अनुसार सब लोग आत्मकल्याणमें जुट जायें तो समाज समृद्ध, समृद्ध तथा सदाचारी हो सकता है। इन्हीं में वे लोग भी आते हैं जो अपने स्वको बढ़ाकर उसमें अपने परिवार, दृष्टमित्र तथा सन्धियोंको भी घेर लेते हैं। इनका आत्म-कल्याण थोड़ा और विस्तृत हो जाता है। किन्तु वे दोनों ही समाजके लिये उतने हितकर नहीं हो सकते जितने वे न.यक जो दूसरोंके दुःखमें अपना कल्याण समझते हैं, दूसरों की उन्नतिमें अपनी उन्नति समझते हैं, दूसरोंकी समृद्धिमें अपनी समृद्धि समझते हैं। उपयोगिताकी आदर्श मानने-वाले नाटककार अधिकांश इस तीसरे प्रकारके नायकोंके अधिक महत्त्व देते हैं और इस प्रकारके नायक नवीन और प्राचीन दोनों आदर्शोंकी एक साथ पूर्ति भी करते हैं।

लोकसुखवादको आदर्श माननेवाले नाटककारोंके विषयमें हम पहले ही लिख आए हैं कि उनके लिये पहले तो नायक ही नहीं मिलते और यदि बलपूर्वक उसकी कल्पना भी की जाय तो वह अस्वाभाविक और अव्यवहार्य होगा। उसका चरित्र देखकर लोग आश्चर्यसे उसका आदर भले ही करें, उसपर मुग्ध भले ही हों किन्तु उसका अनुगमन नहीं कर सकते और जिसका अनुगमन कर सकते वह समाजके लिये व्यर्थ है।

संभावनावादी नाटककार

संभावनावादी नाटककारोंका यह सिद्धान्त है कि संसारमें कोई बस्य असंभव नहीं है। साधारणतः सामाजिक नियम, राजदण्ड, लोकनीति, शारीरिक निर्बलता तथा अक्षमता आदिके कारण मनुष्य बहुतेसे इच्छित कार्य नहीं कर पाता। इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि वह कुछ करना भी नहीं चाहता। अतः मनोवैज्ञानिकोंको यह कमी नहीं कहना चाहिए कि अमुक व्यक्ति अमुक अवस्थामें अमुरु ही कार्य करेगा। साधारणतः एक मलाकी सतति होनेके कारण दो भाव्योंमें प्रेम होना चाहिए और अधिभ्राता होता भी है किन्तु धन सम्पत्तिका वैय्यारा, एक भाईका दुर्व्यसनी होना, दोनोंका एक ही प्रेयसीसे प्रेम करना, दुःख, कष्ट-प्रिय पत्नियों, कानका कच्चा होना, किसी एकका अधिक उत्कर्ष आदि बहुत-सी ऐसी परिस्थितियाँ हैं जिनके कारण अत्यन्त प्रिय वस्तुओंमें धनधन हो सकती है, लड़ाई हो सकती है, यहाँतक कि गालीब और हत्या भी हो सकती है। यह प्रात संसारके सभी सवयोंके विषयमें समान रूपसे आरोपित की जा सकती है। कमी कमी अत्यन्त कायर और मुक्त व्यक्ति कोई अलौकिक और दूरदू कार्य कर बैठता है और बन्से बड़ा बलवान उसी अवस्थामें चुपचा सधमर बैठता रहा है। ऐसी अवस्थामें हम किसी कायका कोई स्वरूप नहीं निर्धारित कर सकते और जब स्वरूप निर्धारित नहीं कर सकते तब आदर्शकी कल्पना करना अनुपयुक्त और अव्यवहार्य है। उनके कथनानुसार राम ही एक पुरुष ऐसे हुए हैं जिन्होंने लोकसुखवादके भयसे भीताना परित्याग कर दिया। यह संभावनाके अन्तर्गत आता है, आदर्शवादके अन्तर्गत नहीं। क्योंकि आदर्श उन्हीं कथों को कहते हैं जो सबके लिये समान रूपसे प्राथ हों और सदा सब मनुष्य सब कालमें करके समाजकी रक्षामें योग देते हों। जैसे पिता की अज्ञा पाठन करना एक आदर्श कार्य है जो सबको करना चाहिए और जिसके न करनेमें सामाजिक व्यवस्था निश्च खल हो सकती है किन्तु लोकसुखवादके भयसे पत्नीको निकाल देना अक्षय्यकार्य तो है किन्तु आदर्श नहीं है। यदि सभी व्यक्ति लोकसुखवादके भयसे अपनी पत्नियोंको निकालने लगें तो दुष्ट लोग किसीरी पत्नीपर थोड़ा गड़ा कर उसे निकलानेके लिये लोकसुखवादकी सृष्टि कर सकते हैं। इस प्रकारका आदर्श तो दुष्टोंके हाथमें ऐसा शस्त्र पकड़ा

देता है जिससे सारा समाज थोड़े ही दिनोंमें नष्ट हो सकता है और खिचैकी दशा तो अत्यन्त दयनीय हो सकती है। अतः रामका यह कार्य समावनाके ही अन्तर्गत आता है जहाँ एक विशिष्ट पुरुष राजधर्मके निर्वाहके लिये अपनी पत्नीके सर्वाल्पपर पूर्ण विश्वास रखते हुए भी केवल लोक-रजनकी भावनासे अपनी पत्नीका परित्याग कर देता है।

समावनावादियोंका यह भी कहना है कि नाटकीयता उत्तम करनेके लिये समावना ही एक मात्र सिद्ध मार्ग है। पर्सिअर लटकाने जानेवाले किसी व्यक्तिको अक्षरमात्र कोई व्यक्ति आकर छुड़ा ले जाता है, नदीमें बूढ़ते हुए किसी व्यक्तिको सहा कोई पीछेसे पकड़ लेता है, बलते हुए भूकानमें से सहा कोई निकाल ले जाता है—ये सब कार्य स्वाभाविक, साधारणतः नहीं होते। इनका समर्थन स्वाभाविकताके अनुसार नहीं किया जा सकता। किन्तु समावना प्रत्येक बातकी हो सकती है और वही समावना इन परिस्थितियोंमें अ कर नाटकीय वस्तुमें सुन्दर उत्पन्न कर देती है और उसे सरस बना देती है।

ये समावनावादी, नाट्यमें एक ही तत्व मानते हैं और वह यह कि नाट्यमें ऐसे अलौकिक-दृश्य ही दिखलाने चाहिए जो असाधारण होते हुए भी स्वाभाविक जान पड़ें। ये लोग परिस्थितिको प्रधान मानते हैं। इनका कहना है कि संसारमें समान परिस्थितियोंका सदा समान परिणाम नहीं होता। दीवाला निकल जानेपर एक व्यापारी घाट उलटकर बैठ जाता है, दूसरा नगर छोड़कर चला जाता है और तीसरा विषपान कर देता है। अतः परिस्थिति ऐसी उत्पन्न करनी चाहिए कि उसमें पड़नेवाला कोई भी व्यक्ति चाहे जिस प्रकारका भी हो वह विवश होकर उसी मार्गका अवलम्बन करे जो नाटककारको अभीष्ट हो और जिसे देखकर प्रत्येक दर्शक भी यही कहे कि यदि मैं भी इस स्थानमें होता तो मैं भी वही करता। इसका तात्पर्य यह हुआ कि नाटककारको किसी विशिष्ट उद्देश्यकी सिद्धि करनेके लिये या कोई निर्दिष्ट परिणाम निश्चलनेके लिये इस प्रकारसे परिस्थितियों उत्पन्न करनी चाहिए कि उसमें पड़े हुए पात्र समावनाके नियमका अनुसरण करते हुए निर्दिष्ट परिणाम पर पहुँच जायें।

समावनावादी नाटककार दैवयोगमें भी विश्वास करते हैं। दैवयोग या सयोगका अर्थ यही है कि जहाँ जिस बात-

की आशंका भी न हो वहाँ वह बात हो जाय। वरसोंसे बिलुप्त हुए भाईका सहसा मिल जाना, भली प्रकार सुरक्षित दुर्गके प्रकोष्ठमें शत्रुसे सहा साक्षात्कार हो जाना, जहाँ गोलियों बरस रहीं हों वहाँसे अनाहत बचकर निकल जाना ये सब दैवयोगके उदाहरण हैं—ऐसे ऐसे अनेक परिणाम देखनेको नित्य मिलते हैं। समावनावादी नाटककार ऐसे ही उदाहरण एकत्र करते हैं। उनका विश्वास है कि जो सर्वत्र होता आया है और हो रहा है उसे छाकके समुच्च उपस्थित करने से उनके मनमें यही भावना होगी कि जो कुछ हम संसारमें देखते हैं वही सत्य है। उन्हें धर्मसे विरक्ति हो जाती है, सत्यमें उनका विश्वास नहीं होता किन्तु समावनाके अनुसार सिद्ध ही जानेवाली घटनाएँ ऐसी हैं जिनसे यह विश्वास होता है जहाँ कोई सहायक नहीं वहाँ भी सहायता पहुँच सकती है, जहाँ कोई रक्षक नहीं वहाँ भी रक्षा हो सकती है और अन्ततः यह विश्वास लोगोंके मनमें नहीं बैठाया जायगा तबतक तत्कार्यके लिये आत्म-त्याग करते और कष्ट उठानेका कोई साहस नहीं करेगा।

वस्तुवादी नाटककार

वस्तुवादी नाटककार सत्र प्रत्यक्षवादी हैं। इनका विश्वास है कि संसारमें कुछ नामकी कोई वस्तु नहीं है, संसारमें चारों ओर पाप और दुःख छाया हुआ है और लोग उसमें इतने रँग गए हैं कि वे इस दुःखको दुःख और पापको पाप नहीं समझते। अतः यदि वे दुःखको दुःखके रूपमें और पापको पापके रूपमें देखेंगे तो उन्हें दुःख और पापकी अनुभूति होगी और उससे वे विरक्त होनेकी चेष्टा करेंगे। वे वस्तुवादी नाटककार पापका प्रदर्शन करके पासे उद्धारकी कल्पना करते हैं। ये लोग असाधारणमें विश्वास नहीं करते। इनका कहना है कि असाधारण पुरुष और असाधारण परिस्थिति दोनों सम्यक् हैं किन्तु वह हमारे किस कामकी ? इतनी शताब्दियोंमें और इतने बड़े संसारमें 'राम केवल एक हुए और वे भी ऐसे हुए कि वहाँतक सबकी पहुँच नहीं है अतः जो वस्तु अप्राप्य है, उसके लिये व्यर्थ प्रयत्न क्यों किया जाय। जो वस्तु है और प्रत्यक्ष दिखाई देती है उसीमें संशोधन करके उसे क्यों न ऐसा बना दिया जाय कि सर्वसाधारणकी उसमें गति हो सके वे वस्तुवादी नाटककार भाग्यमें कम विश्वास करते हैं,

पौरुषमें अधिक। ये कर्मफलको मानते ही नहीं। इनका विश्वास है कि मनुष्य-जातिके कुछ वर्गोंने छल तथा धन्यायके साथ अपने वर्गके लिये कुछ विशेष सुविधाएँ सुरक्षित कर कर ली हैं और दूसरे लोगोंको दुःख भागनेके लिए छोड़ दिया है। यदि समाजका विधान बदल दिया जाय तो वे सब दुःख तो बुर हो सकते हैं जिन्हें लोग ईश्वरप्रदत्त या भाग्य-प्रदत्त समझते हैं। वस्तुवादी नाटककार केवल उन्हीं तथ्यों और वस्तुओंको ग्रहण करनेके पक्षमें है जिनका समर्थन तर्क और बुद्धिके द्वारा हो सके। जो बात विशान-से सिद्ध न हो, विवेकके द्वारा जिसका समर्थन न हो सके उसे वे अप्राप्य समझते हैं। उनका तर्क यह है कि दर्शक या प्रेक्षक अपने सम्मुख होनेवाली जिन घटनाओं-को देखता है वह उनमेंसे उन्हींको ग्रहण करता है जिनका वह अपनी बुद्धिद्वारा समर्थन प्राप्त करता है, अद्भुत, तथा अलौकिक घटना या वस्तुका समर्थन वह नहीं करता यद्यपि वे मानते हैं कि अद्भुत, असाधारण और अलौकिक बातें भी विश्वमें होती हैं। अतः वस्तुवादी नाटककार अपनेको अस्तिकी सीमाके पार नहीं ले जाना चाहता और वह अस्ति भी अत्यंत परिमित और संकुचित तथा साधारण लोकानुभूति तक ही परिमित है।

भाग्यवादी नाट्यकार

भाग्यवादी नाटककार वे हैं जो समझते हैं कि मनुष्य तथा ससारके प्राणी सब परवश हैं। कोई अलौकिक सत्ता विशेष अवधितकके लिये सबको ससारमें भेजती है। प्रयोजन तथा अवधि बीत जानेपर उसका संहारण हो जाता है और इसी क्रमसे सारी सृष्टि चलती है। ये लोग कर्मफलमें विश्वास करते हैं। 'जो जव करद तो तस फल चाखा' ही इनका विश्वास है, इनमें भी दो मत हैं। एक तो वे हैं जो इस जन्मके जीवनको पिछले जन्म और कर्मके संस्कारका फल मानते हैं। दूसरे ऐसे हैं जो कहते हैं कि हमारे जीवनमें भितनी क्रियाएँ होती है उतनी ही प्रतिक्रियाएँ भी होती चलती हैं। यह सब क्रिया और प्रतिक्रिया देवाधीन होती है। कोई मनुष्य स्वयं कोई क्रिया नहीं करता, कोई दैवशाक्ति क्रिया कराती है और उसकी प्रतिक्रिया मनुष्यको भोगनी पड़ती है। एक बार नारदने रावणसे पूछा था कि तुम इतने बड़े पण्डित, धर और गुणी होकर भी स्त्री-

हरण जैसे निन्दितकर्म क्यों करते ही? उसने यही उत्तर दिया था—

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः ।

केनापि देवेन हृदिस्थितेन यथा नियुक्तोस्मि तथा करोमि ।

[मैं धर्मको भली भाँति जानता हूँ किन्तु उस धर्म मेरा मन ही नहीं जाता, मैं अधर्मको भी जानता हूँ किन्तु उधरसे मेरा मन नहीं दृष्टता। मेरे हृदयमें कोई ऐसा देवता बैठा हुआ है जो जैसा कराता चलता है वैसा मैं करता चलता हूँ।]

ससारमें अधिकांश व्यक्ति ऐसे ही हैं जो भाग्यवादी है, जो समझते हैं कि हमारे हाथमें कुछ नहीं है। जो कुछ करने-धरनेवाला है सब ईश्वर है। जो लोग प्रायः जीवनमें असफल होते आए हैं वे धीरे-धीरे भाग्यवादी हो ही जाते हैं और ऐसे ही लोगोंकी संख्या ससारमें अधिक है जिन्हें सफलता कम और असफलता अधिक मिली होती है।

इन दोनों प्रकारके भाग्यवादीयोंके अतिरिक्त एक दल ऐसा भी है जो भाग्य और पौरुष दोनोंका समन्वय करता है किन्तु मूलतः वह भी भाग्यको पुरुष यंत्रे अधिक प्रबल मानता है।

इन सब प्रकारके नाटककारोंमें श्रेष्ठ नाटककार वे हैं जो किसी वादका पल्ला थामकर नहीं चलते, जिनके सम्मुख लोकविनोद, लोकविश्रान्ति और लोकोपदेश मात्र उद्देश्य होता है। जब नाटकमें सभी अवस्थाओंकी अनुकृति मान्य है तब उसे विनोद आदर्श, सिद्धान्त, भाव या वादके फेरमें नहीं डाला जा सकता। नाटकके नायककी प्रकृति, प्रवृत्ति, चेष्टा, शील और गुणके अनुसार जैसी क्रियाएँ और प्रतिक्रियाएँ स्वाभाविक रूपसे हों उसके अनुरूप घटनाओंका गुफन करना ही नाटककारका धर्म है, बलपूर्वक अपनी इच्छा या अपने संस्कार नाटकके चरित्रोंपर लादकर उनताको उसीके अनुरूप प्रवृत्त करना वाक्य या कलाके क्षेत्रकी नहीं, राजनीतिके क्षेत्रकी बात हो जाती है। कलाकार सत्यकी प्रतिष्ठा करता है, संयत्ता पोषण करता है और निष्पक्ष होकर केवल लोक-मंगलकी दृष्टिसे उस सत्यका प्रचार करता है। इस लोक-मंगलकी भावनाको पुष्ट और तृप्त करनेके लिये उसे उन सत्ताओंकी

भी उपेक्षा करनी पड़ती है जो लोक हितमें बाधा डालते हैं। पुनर्के द्वारा माताकी इत्या सम्ब हो सकती है किन्तु तर्क और युक्तिसे इस सत्यका समर्थन करके नाटकका लोगमें प्रसार नहीं किया जा सकता। यद्यपि भरतूने अपने काव्य शास्त्रमें इस प्रकारकी कथाओंका समर्थन किया है किन्तु उसका कारण यही है कि होमरके जिन महान्काव्योंसे यूनानी नाटककारोंने अपनी कथाएँ लीं उन सभीमें इस प्रकारकी घटनाएँ थीं जिनमें अनेक बार नैतिक दृष्टिसे सत्य और धर्मकी पराजय हुई है। उसका भी कारण यह है कि होमरके काव्योंके सभी वीर देवताओंकी सतति हैं और जब उनमें परस्पर युद्ध होता है तो देवता भी उनका पक्ष लेने लगते हैं। यदि ऐसी बात न होती तो ट्रायके युद्धमें अखिल्लेस् (एकीलीज) के हाथों हैक्टरकी इतनी कृपण और भीमस्त मृत्यु न होती। होमरीय काव्योंकी इन्हीं दुर्घर्ष घटनाओंने वहाँकी काव्य परंपराकी प्रासन्नक घटनाओंकी जो विभूति प्रदान की है उसीने योरोपीय नाटककारोंको धमगल सत्य प्रतिपादन करनेकी प्रेरणा दी है।

स्वभावके अनुसार नाटककार दो प्रकारके होते हैं। एक तो गभीर और दूसरे अगभीर। गभीर नाटककार समाजके गभीर महापुरुषों, गभीर घटनाओं और गभीर इतिहासोंसे अपने नाटककी सामग्री प्राप्त करते हैं अर्थात् जब कोई असाधारण महत्त्वकी बात करता है तभी वह उस नाटककारके कथाका नायक बन सकता है। क्योंकि जीवनकी गभीरता मनुष्यमें मनन और चिंतनकी शक्ति प्रदान करती है। इस मनन और चिन्तनसे विवेक उत्पन्न होता है। विवेकसे बुद्धिमें स्थिरता आती है। बुद्धिमें स्थिरता आनेसे मनुष्य उदात्तनी और प्रवृत्त होता है और उदात्त कर्म ही महापुरुषके लक्षण होते हैं। ऐसे ही नाटककार श्रेष्ठतम और सुन्दरतम नाटक लिखते हैं जिनके रचे हुए चरित्र नायक लाक्ष गिय, लोकनायक होते हैं। जो नाटककार अगभीर स्वभावके होते हैं, जिनमें व्युत्पत्ति अर्थात् बहुविषयक ज्ञानकी कमी होती है, जिनका अध्ययन परिमित होता है, जिनकी सगति निम्न कोटिके मनुष्योंसे अधिक होती है वे मनुष्यकी दुर्गलताओंकी खिल्ली उड़ाते हैं और अपने नाटकोंमें मनुष्यकी दुर्गलताओं और निम्नताओंका ही प्रदर्शन करते हैं, ऐसे ही लोग प्रहसन, व्यंग्यनाटक और निन्दात्मक एकाङ्कीकी

सृष्टि करते हैं। भरतूने गभीर और हास्यजनक काव्यके दो भेद करते हुए कहा है—

‘लेखकोंके व्यक्तिगत स्वभावके अनुसार काव्य दो दिशाओंकी ओरने चल पडा। गभीर प्रवृत्तिवाले लेखकोंने श्रेष्ठ कथों तथा श्रेष्ठ मनुष्योंके आचरणका अनुकरण काव्यके रूपमें उपरिथत किया तथा अधिक सामान्य श्रेणीके लेखकोंने निम्नतर मनुष्योंके आचरणोंका अनुकरण काव्यके रूपमें प्रस्तुत किया। इन रचयिताओंने तो व्यंग्य काव्य रचे और गभीर लेखकोंने देवताओंकी स्तुतियों बनाई तथा प्रसिद्ध पुरुषोंकी प्रशंसामें काव्य रचे।’

किन्तु इससे यह निस्कर्ष नहीं निकाल लेना चाहिए कि सभी प्रहसनकार छिछले होते हैं। क्योंकि कभी कभी यह भी देखा गया है कि जिन नाटककारोंने उदात्त-चरित्रोंवाले नाटकोंकी रचनाकी है उन्होंने ही प्रहसनोंकी भी रचना की है और एक बात तो व्यापक रूपसे देखी जा सकती है कि गभीर नाटकोंमें भी नाटककारोंने कुछ ऐसे दृश्य दिए गए हैं जिनमें दुर्गल चरित्रवालेकी दुर्गलताका भली प्रकार उदाहरण दिया गया है। वृषणकी वृषणता, भोजन-भङ्गी भोजन भङ्गी, मूर्खका बुद्धिमत्ताके समान आचरण आदि ऐसे बहुतसे विषय ऐसे हैं कि जिनका गभीर नाटककारोंने खुलकर प्रयोग किया है। अतः वास्तविक नाटक कर रही है जिनके मानव जीवनके सभी पक्षों और अंगोंका भली प्रकार अनुभव प्राप्त कर लिया हो क्योंकि तभी वह अपने नाटकोंमें उपयुक्त स्थलोंपर उनका उचित समावेश कर सकता है।

केवल मनुष्यके स्वभावका या मानव समाजका अध्ययन करना ही नाटककारके लिये पर्याप्त नहीं है। उसे जनताकी मनोवृत्तिना भी ज्ञान होना चाहिए अर्थात् उसे यह भली प्रकार ज्ञात होना चाहिए कि किस प्रकारके समाजसे जनता एकत्र होकर नाटक देख सकती है, किस स्थलपर संगीत और नृत्यका विधान होना चाहिए, किस प्रकारके दृश्यों और घटनाओंसे जनताका सुवृहल जाग सकता है और किन किन साधनोंसे जनताको रख मन्य किया जा सकता है। नाटककारको नाटक लिखते समय अपने कल्पना रंगगीठपर नाटकके प्रत्येक दृश्य, पात्र, नेपथ्य-कर्म, संगीत और अभिनयका बलित दर्शन तो करना ही चाहिए किन्तु साथ ही उसे कल्पना प्रेक्षाग्रहमें नैष्ठे हुए प्रत्येक प्रेक्षककी दृष्टि और भाव भंगीका भी सूक्ष्म निरीक्षण करते रहना

चाहिए, प्रत्येक वाक्यके लिखने साथ उसे यह सोचते चलना चाहिए कि आंगिक, वाचिक और सात्विक अग्नि-य-के साथ जब यह वाक्य दर्शकोंके कानोंमें पहुँचेगा तब उसकी कौनसी प्रतिक्रिया दर्शकोंके मुखपर व्यक्त होगी। इसका तात्पर्य यह हुआ कि नाटककारको रंगशालाकी संपूर्ण क्रियात्मक, संपूर्ण साधनोंका और संपूर्ण व्यवस्थाका पूर्ण ज्ञान होना चाहिए, साथ ही उसे जनताकी रुचिका पूरा परिचय रहना चाहिए। अधिकांश नाटककार इसीलिये असफल होते हैं कि उन्हें रंगमंचका तनिक भी ज्ञान नहीं होता। वे नाटक न लिखकर गद्य काव्य लिखते हैं और संवाद लिखकर ही समझ लेते हैं कि उन्होंने नाटक-को रचना कर डाली है। इसी दोषके कारण बहुतसे नाटक-कारोंकी रचनाएँ केवल पाठ्य-मात्र रह गई हैं, अभिनय नहीं हो सकीं। हिन्दीके एक प्रसिद्ध नाटककारकी रचनामें अनभिनेयताका दोष आ जानेके कारण उनके नाटकोंको लोगोंने नाटकीय उपन्यासात्मक गद्य-काव्य तक कह दिया है। चौमी शताब्दी ई०पू०में खैर (मौन नामक एक यूनानी नाटककार का जिसे लोगोंने पाठ्य वाचककार (रीडिंग ट्रेजीडियन) का दुर्नाम दे दिया था (उसने ऐसे नाटक लिखे थे जिनमें अभिनयका अंश कम था, साहित्य और कव्यत्वका अधिक। इस प्रकारके नाटककार अपने नाटकोंमें अभिनय-व्यापार-युक्त संवादके स्थानपर भावपूर्ण, रहस्यमय, लाक्षणिक भाषा-में दार्शनिक संवाद रखते हैं। बहुतसे लोगोंने मूल्यसे ऐसे नाटकोंको साहित्यिक नाटक कहकर उनमें एक अलग श्रेणी बना दी है किन्तु नाटकका नाटकत्व उसकी अभिनेयतापर अवलम्बित है उसकी भाषापर नहीं। (नाटककी परीक्षा उसकी भाषा देखकर नहीं निश्चित की जाती। उसमें यही विचार किया जाता है कि चारों प्रकारके अभिनयके द्वारा इससे रसकी सृष्टि होती है या नहीं। आजकल कुछ ऐसे भी नाटक लिखे गए हैं जिनमें संवाद नाम मात्रका है किन्तु अभिनयके द्वारा उनका प्रभाव बहुत बढ़ जाता है। नाट्य-शास्त्रके इकीसवें अध्यायमें कहा गया है—

यस्मात्स्वभाव संहत्य सांगोपांगतिक्रमैः।

अभिनीयते गम्यते च तस्माद् वै नाटकं स्मृतम् ॥

[क्योंकि इसमें सब अंग, उपागों और गतिश्रेणिक्रमसे व्यवस्थित करके उसका अभिनय किया जाता है और

यह भाव (दर्शकोंतक) पहुँचाया जाता है, इसीलिये यह 'नाटक' कहलाता है]

इसका अर्थ यह हुआ कि नाटककारको अपने नाटककी रचना इस प्रकारसे करनी चाहिए कि उसका अभिनय किया जा सके और उसका भाव जनतातक पहुँचाया जा सके। अबतक नाटकोंमें यह गुण नहीं होगा तबतक उसका रचयिता नाटककार नहीं कहलाया जा सकता और उस रचनाका नाम 'नाटक' नहीं हो सकता।

जहाँ मानव-स्वभाव या म.नव-चरित्रके अध्ययनकी बात आती है वहाँ स्वभावतः जनताकी भाषाका परिचय भी अतर्निहित है। किसी भी देशमें दो प्रकारकी भाषाएँ मुख्य होती हैं। एक तो वह जो सभ्य, सुमदकृत और उच्च वर्गके लोग राजकीय व्यवहार या साहित्य रचनामें प्रयोग करते हैं और दूसरी वह जो साधारण जनता विद्वत्-वर्गके बोलती है। यह दूसरे प्रकारकी प्राकृत, विकृत या आभ्रम भाषा देश भेदके अनुसार बदलती चलती है। उसमें अनेक प्रकारके उच्चारण-दोष, उच्चारण वैशिष्ट्य उत्पन्न हो जाते हैं। साधारण शिक्षाचारका एक वाक्य 'आर कहांसे आ रहे हैं?' बदलकर विकृत भाषामें 'तुम बिद्वसे आता है?' बन जाता है। देश विभेदके अनुसार म.पाओंका ज्ञान नाटककारको होना चाहिए जिससे वह आवश्यकतानुसार अपने पात्रोंके द्वारा उनका प्रयोग करा सके। भरतने अपने नाट्य-शास्त्रमें इसका बड़ा लक्ष्य चौड़ा विवरण दिया है। भाषाओंके प्रयोगके प्रसंगमें उन्होंने सरकृत, प्राकृत और अपभ्रंशोंकी गणना कराते हुए यह भी निर्देश किया है कि किस प्रकारके पात्रसे वेंसी भाषा कहलानी चाहिए। अपने नाट्य शास्त्रके अठारहवें अध्यायमें सरकृतके पाठका विवरण दे चुकनेपर उन्होंने प्राकृतके पाठका विवरण दिया है जिसमें यह बताया है कि किस देशवाले लोग अपनी भाषामें किस अक्षरका अधिक प्रयोग करते हैं और अंतमें कह दिया है—

अथ नोक्तं मया यथा लोकात् प्राह्यं दुपैतु तन्।

[मैंने सब भाषाकी विशेषताएँ नहीं बताई हैं, विद्वानों-का काम है कि सब प्रदेशोंके लोगोंकी भाषाको परीक्षा करके उनका प्रयोग करें।]

सरकृत नाटककारोंने इन नियमोंका बड़े मनोयोगसे प्रयोग किया है किन्तु अब ये नियम अधिक व्यवहारमें

नहीं लाए जा सकते। उसका कारण यह है कि स्वयं हमारे देशमें जितनी भाषाएँ बनी हैं उनकी प्रकृति इतनी भिन्न हो गई है कि उनके प्रयोगके लिये ऐसे नियम नहीं बनाए जा सकते जैसे भरतने बनाए थे। दूसरा विरोध कारण यह है कि हमारा सर्क केवल अपने देशके विभिन्न प्रान्तोंसे नहीं बरन् बाहरके देशोंसे भी घनिष्ठ हो चला है, यहाँतक कि आचार विचार, रहन सहन, वेद्यभूषा, और खान-पान तथा परस्पर विबाहका ऐसा विनिमय हो चला है कि सत्सर के इतने विभिन्न देशोंकी सङ्घटितियों और भाषाओंकी अलग अलग विशेषता प्रदर्शित करनेवाले नियमोंमें नाटककारको नहीं बाँधा जा सकता। इसलिये व्यापक रूपसे भाषाके सङ्घर्षमें चार नियम बनाए जा सकते हैं—

१—प्रत्येक देशके सम्यक् शिष्ट पान उस देशकी साहित्यिक भाषामें बातचीत करें। अर्थात् इतना ही हो कि निम्न कोटिके लोगोंसे बातचीत करते समय भाषा सरल हो जाय।

२—उसी देशके निम्न कोटिके पात्र सरलसाहित्य व्यवहृत भाषासे मिलती जुलती ऐसी भाषाका व्यवहार करें जो व्यापक रूपसे उस देशके सभी प्रान्तोंके लिये सुगोचर हो।

३—विदेशी पात्र उस भाषाको इस प्रकार विवृत करके बोलें जो दर्शकोंकी समझमें भी आ सके किन्तु जिससे उस देशके उच्चारणकी विशेषता भी प्रतीत हो जाये। जैसे 'तुम क्या कहते हो?' वाक्यको अंगरेज कहेंगा 'तुम क्या बोलते हैं?' इसके समझनेमें भी कठिनाई

॥ इत्यभिनयभरतश्रीसीतारामविरचिताभिन्नबनाट्यशास्त्रे रूपकरचनाखण्डे नाट्यकारप्रकरणं नाम षष्ठोऽध्यायः ॥

—*~*~*~*—

रूपक-रचनाके तत्त्व

प्राचीन आचार्योंने काव्यके दो भेद किए हैं—दृश्य और श्रव्य। दृश्य काव्य वह है जिसके अनुसार बहुतेरे नट चारों प्रकारके अभिनयके द्वारा उसे रंग पीठपर प्रयोग करके अर्थात् खेलकर दिखलाते हैं। परिभाषा प्रकरणमें नाटककी परिभाषा करते हुए हमने कहा है कि अभिनेता-

न होगी और अंग्रेजी उच्चारणकी विशेषता भी स्पष्ट हो जायगी।

५ सब पात्रोंकी भाषा, उनकी विद्या, उनके पद और जिससे बात करते हैं उसकी योग्यताके अनुकूल होनी चाहिए। अर्थात् दो विद्वान् परस्पर बातचीत करते हैं तो उनकी भाषा अधिक व्यवस्थित, बलकारयुक्त और भावपूर्ण हो सकती है। यदि उन्हींमेंसे एक विद्वान् अपने सेवकको पुनरुक्त कुछ आदेश देना चाहता हो तो उसे तत्काल अपनी भाषा उस सेवकके भाषा ज्ञानके स्तरतक उतार देनी चाहिए।

आजकल योरोपके नाटककार अपने नाटकोंमें अधिकतः साधारण लोक भाषाका इस प्रकार प्रयोग करते हैं कि कभी कभी वह अत्यन्त दुरुह और दुर्बोध हो जाती है। यह भी अवाञ्छनीय है। भाषा ऐसी होनी चाहिए जो पात्रकी स्वाभाविक वाणी बनी हुई भी लोगोंकी समझमें सरलतासे आ सके।

(इसका तात्पर्य यह हुआ कि नाटककारको केवल रंग-पीठकी क्रिया, समाजके आचार विचार और मनोभाव तथा इतिहास और लोक वृत्तिका ज्ञान ही अपेक्षित नहीं है उसे भाषापर भी ऐसा पूर्ण अधिकार चाहिए कि वह अपने नाटकमें पदके उपयुक्त प्रयोग होनेवाली भाषाका व्यवहार कर सके अर्थात् रंग क्रिया-नुचल, लोक वृत्ति, इतिहास तथा भाषाका पण्डित ही नाटककार हो सकता है।)

गण विधी नाटककार द्वारा रचित रचनाके आधारपर अभिनय करते हैं। उसी रचनाको 'रूपक' करते हैं क्योंकि उस रचनामें आए हुए पात्रोंका आरोप नयोंमें करके उसका प्रदर्शन किया जाता है। साहित्य-रूपणकारने इस प्रकारके काव्यको दृश्य या रूपक कहा है—

दृश्य तथाभिनेयं स्याद्रूपारोपात्तु रूपकम्

[इसका अभिनय करके दिखलाया जाता है, इसलिये इसे दृश्य कहते हैं और इसके अनुसार नटोंमें रामादि-चरित्रोंका आरोप होता है, इसलिये इसे रूपक कहते हैं।]

पीछे हम बता आए हैं कि यह रूपक या नाट्य क्या है। इसमें तीनों छोकोंके भावोंका अनुकीर्तन होता है, उत्तम, मध्यम और अधम मनुष्योंके कर्म दिखलाए जाते हैं, अनेक प्रकारके भावोंसे युक्त होता है, सवार भरके लोगों का अनुकरण होता है, सभी व्यवस्थाओंका प्रदर्शन होता है, सब घटनाओंका, कथाओंका अनुकरण करके दिखलाया जाता है, देवता, ऋषि, राजा तथा गृहस्थ सबके कृत्योंका अनुकरण नाटकमें हो सकता है। यह भी कहा जा चुका है कि संसारका कोई ऐसा विषय नहीं है जो नाट्यमें न आ सकता हो। ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला, योग, कर्म, शास्त्र, वेद, इतिहास, आख्यान, स्मृति, सदाचार आदि सभी विषयोंका समावेश नाट्यमें हो सकता है। यह कहा जा चुका है कि यह ब्रवीडनीयक है अर्थात् खेला जात है, सार्वव्यक्तिक है, सब वर्णोंके लोगोंको इसमें भाग लेनेका अर्थात् इसका आनन्द लेनेका, इसे देखने-सुननेका अधिकार है और यही एक मात्र ऐसा साधन है जिसमें विभिन्न रुचि-वाले लोग समान आनन्द प्राप्त कर सकते हैं। यह भी बताया जा चुका है कि यह संसारको उपदेश देनेवाला, सबका मनोरंजन करनेवाला, दुखी, भ्रमार्त, शोकांत और तपस्वीको विश्रान्ति देनेवाला तथा धर्म, यश, आयु और बुद्धि बढ़ानेवाला है। इसका यह अर्थ हुआ कि रूपकको खेलनेके योग्य बनाया जाय, उसमें सब विषयोंका समावेश हो और इस प्रकार उसका ग्रहण हो कि लोग विनोदके साथ-साथ उससे विश्रान्ति और उपदेश ग्रहण करें और यह सभी समझ है जब लोग तन्मय होकर उसमें रस लें। इसका तात्पर्य यह हुआ कि उसमें कोई कथा होनी चाहिए जिसमें कुछ नायकों अर्थात् चरित्रोंकी आंगिक, वाचिक, सात्विक क्रियाएँ हों, जिनके आधारपर अभिनेता-गण उन-उन चरित्रोंके अनुसार आंगिक, वाचिक, सात्विक और धार्मिक अभिनय करें, वह लोगोंके सम्मुख किसी रंगपीठपर खेलेकर दिखलाया जा सके। इसका तात्पर्य यह है कि वाचिक अभिनयके लिये संवाद हों और आंगिक, सात्विक तथा आहार्य अभिनयके लिये तथा दृश्यविधानके लिये

रंगनिर्देश हो। इस दृष्टिसे नाटकके तीन तत्व हुए, जिनके बिना नाटकका अस्तित्व संभव नहीं है।

१. कथा-जिसके अंतर्गत एक नायकके जीवनके किसी एक इतिवृत्तके संबंधकी घटनाओंका वर्णन हो।

२. संवाद—जिसके अंतर्गत कथामें आए हुए विभिन्न पात्रोंका परस्पर वार्तालाप हो और यह वार्तालाप पात्रोंके चरित्र और कथाके प्रसारमें योग्य देता हो।

३. रंग-निर्देश-जिसके अंतर्गत रंग-व्यवस्थापक तथा अभिनेताओंके लिये दिए हुए निर्देश हों।

बहुतेरे विद्वानोंने कथा-वस्तु, पात्र, कथोपकथन, दौली, देश-काल और उपदेश—ये छः तत्व माने हैं। कुछने इनमें पात्रके स्थानपर चरित्र-चित्रण और देश-काल-निकाह-र कुतूहल, पात्र-प्रतिपात अर्थात् द्वन्द्व और अभिनयशीलता—ये तीन तत्व और बढ़ा दिए हैं। किन्तु ये सब तत्व नहीं हैं। तत्व शब्दकी बड़ी छीछा-लेदरकी गई है। किसी वस्तुके तत्व कहनेका यह अभिप्राय है कि यदि उनमें से एक तत्व भी निकल जाय तो वह वस्तु निरर्थक हो जाय। तत्त्वोंसे किसी वस्तुके अस्तित्वका बोध होता है। यदि हम किसी रूपकको देखें तो रचनाकी दृष्टिसे उसमें तीन ही तत्व मिलेंगे। एक तो कथा, जिसमें किसी एक विशेष घटना-क्रममें कुछ व्यक्तियोंके चरित्र और चेष्टाओंकी स्थिति दिखलाई गई हो। घटना और पात्र ही उस कथाके आधार भूत अंग हैं। वास्तविक तत्व कथा ही है। रचनाकी दृष्टिसे दूसरा तत्व है संवाद और तीसरा तत्व है रंग-निर्देश, क्योंकि नाटकमें दो ही प्रकारसे कथाका विकास किया जाता है, एक तो संवादसे दूसरे क्रियाओंसे। ये क्रियाएँ रंग-निर्देशके द्वारा ही बताई जा सकती हैं क्योंकि नाटककार यदि निर्देश न करे तो यही न पता चले कि किसको कर आना या जाना है, क्या करना है, क्या भाव प्रदर्शित करना है, क्या चेष्टाएँ करनी हैं, एक दूसरेके प्रति क्या व्यवहार करना है। ये रंग-निर्देश उतने ही महत्त्वके हैं जितने संवाद। यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि रंग-निर्देशके विषयमें सभी देशोंके नाट्यकार्य अत्यन्त मौन रहे हैं।

यद्यौर उन नाट्योंकी भी विवेचना कर लेनी चाहिए किन्तु कुछ आचार्योंने भूलसे तत्व मान लिया है। वस्तु

और पात्र दोनों कथाके अंग हैं, या यह कहा जा सकता है कि कथा तत्पके दो अवयव हैं—वस्तु और पात्र। इन्हीं दो पर आरूढ़ होकर कथा चलती है। घटनाओंके गुणनको वस्तु कहते हैं और पात्र वे हैं जो उन घटना और क्रियाओंमें साक्षक होते हैं। अर्थात् कथाके दो कारण होते हैं—घटना और पात्र। कथा कार्य है, घटना और पात्र कारण हैं। इसलिये कथा ही मूल तत्व है। देश-काल कोई तत्व ही नहीं है। यह तो कथा वस्तु और पात्र दोनोंमें निहित है। कोई भी घटना या पात्र किसी विदेश देश या कालसे ही सम्बद्ध होंगे, कथा स्वयं उनका निरण देगी। देश और काल वस्तुके ही अंग हैं, वे कोई अलग तत्व नहीं। शैली भी कोई तत्व नहीं है, वह तो समादका साधन है। शैली और समादको अलग तत्व मानना ही बड़ा भारी भ्रम है, और उद्देश्य तो साध्य है, वह तत्प कैसे हो सकता है ?

‘तत्प’ शब्दही व्युत्पत्ति करते हुए बनाया गया है—ततोति सर्व इति तत्। तस्य भागः तत्त्वम्। समं व्याप्त होनेके, भावमें तत्प कहते हैं। रूपाकरचनामें आदिसे अन्ततक तीन ही तत्तें व्यस्त रहती हैं—कथा, सवाद और रगनिर्देश। इनमेंसे एक भी तत्प निश्चल जाय तो नाटक या रूपक व्यर्थ हो जाय। इसर एक आशयि यह भी हो सकती है कि आञ्जल कुछ नाटक ऐसे होते हैं जिनमें केवल क्रिया मान होती है, सवाद नहीं होते। इन मूलाभिनयों (पैथोमीम) में दो ही तत्प रह जाते हैं। किन्तु वे विशेष प्रकारके दृश्य निरोद हैं जो नाटकीय होते हुए भी हमारे नाटकी परिभाषामें नहीं आते। उनकी व्याख्या हम उचित स्थलपर करेंगे।

यहाँ हम तत्पोंकी विवेचना क्रम-काव्य रचनाकी दृष्टिसे कर रहे हैं। रूपक-काव्यमें सर्वप्रथम उस कथाकी आवश्यकता पड़ती है जिसके आधारपर रूपक काव्यके अन्तर्गत घटनाओं एव पात्रोंकी योजना करनी पड़ती है। जिस क्रमसे घटनाओंका गुणन किया जाता है और जो पात्र उन घटनाओंमें विभिन्न व्यापार करते हैं और नाटक को परिणामतः पहुँचाते हैं वे कथाके ही अंग हैं क्योंकि घटना और पात्रोंके सम्बन्ध ही कथा बनती है। इस कथा या तत्प वस्तुकी विवेचना करनेमें हमें यह देखना होगा कि निम्न प्रकारकी घटनाएँ नाटकके योग्य होती हैं, उन्हें किस क्रमसे रखनेसे रसकी निष्पत्ति हो सकती है और उनमें

किस प्रकारके, कौन-कौनसे पात्र, किस दृश्ये उपस्थित किए जायें कि दर्शकोंका मनोरजन हो और वे तन्मय होकर नाटकका रस ले सकें। इसी कौशलको नाट्याचार्य रचना कौशल कहते हैं।

वस्तु-रचना करते समय नाटककारको यह देखना पड़ता है कि कथाती घटनाओंको कितने भागों या अंशोंमें बाँटा जाय, कितनी बातें एव्य हों, कितनी श्राव्य हों और कितनी दृश्य अर्थात् आंगिक। चेष्टाओंके द्वारा दिखलाई जायें। इसका अर्थ यह हुआ कि श्राव्य और एव्य जितनी बातें हैं वे सब सवादके द्वारा ही दिखलाई जा सकती हैं और जितना दृश्य अर्थ है अर्थात् जो कुछ आंगिक, सात्त्विक, आहार्य तथा दृश्य अभिनयके द्वारा दिखलाना है, उसके लिये रग निर्देश करना होगा। अतः रूपाकरचनाके दो और तत्प हुए एक सवाद और दूसरे रग निर्देश। नाटककार केवल इन तीन तत्पोंके सहारे अर्थात् कथा, सवाद और रग निर्देशका आश्रय लेकर रूपक काव्यकी रचना करता है। अतः यह सिद्धान्त निकला—

● कथासंवादरगनिर्देशारमकं रूपककाव्यम् ॥

[कथा और सवाद रग निर्देश-तत्पमय रूपक काव्य]
अरस्तूने अपने काव्यशास्त्रमें नाटककी परिभाषा देकर उसके तत्पोंका भी विवेचन किया है। यह कहता है—

“नाटक उस व्यापार निरोपका अनुकरण है जो गम्भीर हो, पूर्ण हो, एक निश्चित परिमाणका हो, प्रत्येक प्रकारके कथात्मक अलंकारोंसे सजी हुई भाषासे युक्त हो और ये सब प्रकार नाटकके भिन्न भिन्न भागोंमें पाए जाते हैं, जो वर्णनात्मक न होकर दृश्यात्मक हो, जो कथा और भयका प्रदर्शन करके इन मनोविचारांक उचित सुख और परिश्रार कर सके। सुसजित भाषासे मेरा तात्पर्य उस भाषासे है जिसमें ताल, राग और छन्दका समावेश हो। भिन्न-भिन्न भागोंमें ये सब प्रसार पाए जाते हैं, कहनेसे मेरा तत्पर्य यह है कि उसका कुछ भाग केवल छन्दोमय हो और अन्य भाग गीतावृत्ति हों।

“क्योंकि नाटकमें अभिनयके द्वारा अनुकरण किया जाता है, अतः पहले तो यह आवश्यक है कि दृश्यात्मक भाग नाटकका एक अंग हो। दूसरा स्थान गीत और वर्णन शैलीका होना चाहिए क्योंकि ये दोनों ही अनुकरणके

साधन हैं। 'वर्णनशैली' से मेरा तात्पर्य केवल शब्दोंकी छंदोमय सजावटसे ही है। रहा 'गीत', यह एक ऐसा शब्द है जिसका अर्थ प्रत्येक व्यक्ति समझता है।

“त्रासद किसीके कार्यका अनुकरण है, और कार्य वे ही मनुष्य करते हैं जिनमें आचार और विचारकी कुछ विरोधताएँ अवश्य ही होती हैं। क्योंकि इन्हीं दोनों बातोंसे ही अच्छाई और बुराई भी निर्धारित होती है और ये विचार और आचार ही दो प्राकृतिक कारण हैं जिनसे कार्यकी उत्पत्ति होती है और कार्योंर ही सारी सफलता और असफलता अवलम्बित है। अतः किसी कार्यका अनुकरण ही इतिवृत्त है, क्योंकि यहाँ इतिवृत्तसे मेरा अभिप्राय घटनाओंके क्रमिक गुणनसे है। मेरे मनसे आचार वह है जिसके कारण उसके कर्तमें कुछ विशेषताओंका आरोप किया जाता हो। विचारसे मेरा तात्पर्य उनके उस भागसे अथवा उनकी उन बातोंसे है जिनके द्वारा वे किसी बातको सिद्ध करते अथवा कोई सार्वभौम सिद्धान्तका प्रतिपादन करते हैं। अतः प्रत्येक त्रासदके छः अंग होने चाहिएँ:—१, इतिवृत्त, २, आचार, ३, वर्णनशैली, ४, विचार, ५, दृश्य, और ६, गीत। इनमेंसे प्रथम दो अंग तो अनुकरणके साधन हैं, तीसरा अनुकरणका दंग है और शेष तीन अनुकरणके आधार हैं। और इनसे हमारी सजी पूर्ण हो जाती है। या हम यों कह सकते हैं कि कवियोंने इन तंत्रोंका मनुष्यमें आरोप किया है। वास्तवमें दृश्यात्मक तत्व भी रहते हैं तथा आचार, इतिवृत्त, वर्णनशैली, गीत और विचार—ये तत्व भी रहते हैं।

“किन्तु सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात घटनाओंका गुणन है। त्रासद वास्तवमें व्यक्तियोंका ही नहीं वरन् कार्य और जीवनका, सुख और दुःखका ही अनुकरण होता है। सपूर्ण मानवीय सुख और दुःख कार्यका स्वरूप धारण करते हैं। जिस अंतके लिये हम जीवन धारण किए हुए हैं वह एक विशेष प्रकारकी कार्यशीलता ही है, कोई गुण नहीं। यद्यपि आचारसे मनुष्योंके गुण निर्धारित किए जाते हैं किन्तु वे अपने कार्योंसे ही सुखी या दुखी होते हैं। अतः नाटकीय कार्य आचारका प्रदर्शन करनेकी दृष्टिसे नहीं—आता वरन् आचार ही कार्यों का सहायक बनकर आता है। अतः कार्य (घटनाएँ) और इतिवृत्त ही त्रासदके अंत या परिणाम हैं और अंत या परिणाम ही सब बातोंमें मुख्य माना जाता है।

“चाहे बिना आचारके त्रासद बन जाय किन्तु बिना कार्यके त्रासद हो नहीं सकता। हमारे अधिकतर वर्तमान कवियोंके त्रासद, आचारके प्रदर्शनमें असफल रहे हैं और साधारणतः कवियोंके विषयमें तो यह बात प्रायः सत्य ही है।

“फिर यदि हम वर्णनशैली और विचारसे सुसज्जित आचार-व्यंजक वाक्य-समूहको एकत्र गूँथ दें तो भी हम प्रायः उतना अच्छा त्रासात्मक भाव नहीं उत्पन्न कर सकते जितना उस नाटकसे कर सकते हैं जिसमें इतिवृत्त हो और कलात्मक रीतिसे घटनाएँ गुंथी हों।

“इसके अतिरिक्त त्रासदमें भावात्मक आनन्द देनेके अतिरिक्त अत्यंत आकर्षक बनाने वाले तत्व—परिवर्तन तथा अभिज्ञानके दृश्य—भी इतिवृत्तके ही अंग है।

“अतः इतिवृत्त ही त्रासदका सर्वप्रथम अंग है अर्थात् उसका आत्मा है। आचारका स्थान दूसरा है। इस प्रकार त्रासद किसी कर्षका तथा कार्योंकी दृष्टिसे कर्षकोंका अनुकरण है।

“इस क्रमसे तीसरा स्थान विचारका है, अर्थात् उपस्थित परिस्थितियोंमें क्या संभव और संगत है यह कहनेकी योग्यता। सवादोंके विषयमें तो यह है कि दृश्या संव्यय राजनीति-कला और भाषण कलासे है क्योंकि प्राचीन कवियों ने अपने पात्रोंके मुखसे राजनीतिक और नागरिक जीवनकी भाषा कहलाई है किन्तु हमारे समयके कवि आलौकिक भाषाका ही प्रयोग करते हैं।

“आचार वह है जो कलाका नैतिक उद्देश्य प्रकट करे अर्थात् यह दिखावावे कि किस प्रकारकी बातें मनुष्य अच्छी समझता या परिस्थान करता है। अतः जिन वाक्योंसे यह नहीं प्रकट होता कि कला जिसे अच्छा समझता और किसका परिस्थान करता है वे वाक्य आचार-व्यंजक नहीं होते। दूसरी बात यह है कि विचार वहाँ पाया जाता है जहाँ किसी बातका होना या न होना प्रमाणित किया जाता हो अथवा कोई सार्वभौम सत्य सिद्धान्त निर्धारित किया जाता हो इत्यादि।

“ऊपर गिनाए हुए तत्वों में चौथा स्थान वर्णनशैलीका है। इसके मेरा तात्पर्य, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, शब्दों-द्वारा भावोंकी अभिव्यक्ति है और उसका प्रयोग पद्य और गद्य दोनोंके लिये एक सा ही है।

“शेष दो तत्वोंमें से गीतकी ही त्रासदकी सब सौन्दर्य-वर्द्धक वस्तुओंमें सर्वोच्च स्थान प्राप्त है।

“वास्तवमें दृश्यमें स्वतः ही एक भागात्मक आवर्षण होता है, किन्तु त्रासदके सब अंगों में यह सबसे कम कलात्मक है, काव्य-कलासे सबसे कम सम्बन्ध रखता है। क्योंकि यह मानी हुई बात है कि अभिनय और नर्तकों बिना भी त्रासदके प्रभावका अनुभव हो सकता है। इसके अतिरिक्त दृश्यात्मक प्रभावका उत्पन्न करना कविकी अपेक्षा रग-संचालकपर अधिक अवलंबित है।”

अतः के बताए हुए तत्वों में इतिवृत्त तो वही है जिसे हमने कथा-तत्व कहा है। विचार और आचारका सम्बन्ध पात्रोंके चरित्र और व्यापारसे है। अतः वह भी कथाका ही अंग है। वर्णमशैली सवादके अन्तर्गत आ ही जाती है। दृश्य के विषयमें स्वयं अरस्तूने कहा है कि दृश्यत्मक प्रभाव उत्पन्न करना कविको अपेक्षा रग-संचालकपर अधिक अवलंबित है, फिर भी अरस्तूने उसे नाटकका तत्त्व मान लिया यह आश्चर्यकी ही बात है क्योंकि जिस बातका सम्बन्ध कविकी कृतिसे नहीं है उसे उसकृतिका तत्त्व मान लेना उसका स्वतः विरोध है। इसके अतिरिक्त दृश्य विधानका निर्देश तो कविको करना ही पड़ता है। अतः यदि हम उसे तत्त्व मान भी लें तब भी वह हमारे रग निर्देशके भीतर ही आ जाता है। रही गीतकी बात, वह यूनानी रगशास्त्रकी अपनी विषय पता थी, इसीलिये अरस्तूने उसे “त्रासदकी सबसौन्दर्य वर्द्धक वस्तुओंमें सर्वोच्च स्थान” दिया है क्योंकि यूनानी त्रासदोंका आधार ही गीत था। वहाँका संपूर्ण अभिनय गीत के आधारपर ही चलता था और नाटक भी गीतमय ही होने से किन्तु वह पण्य यूनान और रोमके नाटकोंके साथ समाप्त हो गई। आजकल केवल गीतिनाट्य (औपरा, ब्रह्मा) में ही यह प्रथा है कि एक संगीतमंडली रगपीठके एक ओर बैठकर जो गीतगाती है उसीके अनुकूल अभिनेता मृत्य करतें हैं जैसे अभिनवभरतके ‘मगवान बुद्ध’ नाटकमें है। किन्तु इस तंत्रका कोई महत्त्व नहीं रह गया क्योंकि ऐसे भी नाटक हो सकते हैं जिनमें गीत

का सर्वथा अभाव हो, जैसे अभिनवभरतके ‘अपराधी’ तथा ‘देवता’ नाटकमें। हाँ, जहाँ प्रसंगानुकूल गीतका प्रयोग वाञ्छनीय हो वहाँ अवश्य ग्राह्य है किन्तु यह तो सवादके अन्तर्गत ही समा जाता है, उसका कोई अलग अस्तित्व नहीं रह जाता।

अतः अरस्तूके बताए हुए तत्वोंका विवेचन करनेपर तीन ही प्रधान तत्व रह जाते हैं। १ कथा (इतिवृत्त, आचार और विचार), २ सवाद (वर्णम-शैली और गीत), ३ और रग निर्देश (दृश्य)।

बहुतेसे आचार्योंने दशरूपकके—

वस्तुनेतारसत्तेषा भेदको

[वस्तु, नेता अर्थात् नयक और रसके कारण उनके (रूपकों, उपरूपकों) भेद किए गए हैं।]

इस आधारपर वस्तु, नेता और रसको भूलसे नाटकका तत्त्व मान लिया है। वास्तवमें रूपकों और उपरूपकोंके भेद इसी आधारपर हैं कि उनमें या तो किसी प्रकारकी विशेष वस्तु है या कोई विशेष प्रकारका नयक है या किसी विशेष प्रकारका रस है। जैसे ‘प्रकरण’का नायक पीर शान्त होता है, ‘नाटक’की कथा-वस्तु इतिहास प्रसिद्ध होती है और ‘अकर्म’ कथन रसकी प्रधानता होती है। अतः वस्तु नेता और रसको रूपकोंका तत्त्व माननेकी शूल नहीं करनी चाहिए। रूपक रचनाका जहाँतक संबंध है वहाँ उसके सम्मुख केवल तीन ही बातें रहती हैं—एक कथा, जिसके अन्तर्गत घटनाओं और पात्रोंका सभाव्य होता है। दूसरे सवाद, जिसके अंतर्गत नाटकका सब भाग्य अंग आ जाता है और तीसरे रग निर्देश, जिसके भीतर वे सब आदेश और निर्देश आ जाते हैं जो अभिनेताओंके आंगिक, सार्विक और आहार्य अभिनय के लिये तथा रग व्यवस्थापक, प्रकाश-व्यवस्थापक, नेपथ्य विधायक तथा संगीत-व्यवस्थापककी क्रियाओंके लिये आवश्यक होते हैं। इनके अतिरिक्त नाट्यकारको और किसी वस्तुकी अपेक्षा नहीं। अतः रूपककाव्यकी रचनाका हम इन्हीं दृष्टियाँसे विवेचन करेंगे।

॥ इत्यभिनवभरतश्रीतारामचिरचिताभिनवनाट्यशास्त्रे रूपकरचनाखण्डे रूपककाव्यतत्त्वप्रकरणं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥

कथावस्तु

कथावस्तुकी रचना

दशरूपककारने प्रथम अध्यायमें लिखा है—

वस्तु च द्विधा ।

तत्राधिकारिक मुख्यमङ्गं प्राप्तञ्चिकं विदुः ॥११॥
 अधिकारः फलस्वाम्यधिकारी च तदग्र्युः ।
 तन्निर्वर्त्यमभिव्यापी वृत्त स्यादाधिकारिकम् ॥१२॥
 प्राप्तञ्चिकं परार्थस्य स्वार्थो यस्य प्रसङ्गतः ।
 सानुबन्ध पताकाख्यं प्रकरी च प्रदेशभाक् ॥१३॥
 प्रस्तुतागन्तुभावस्य वस्तुतोऽन्योक्तिः सचकम् ।
 पताकास्थानकं तुल्यसविधानविरोधणम् ॥१४॥
 प्रख्यानोत्तराद्यभिश्चल्य भेदात्त्रेधापि तद्विधा ।
 प्रख्यातमितिहासादेकत्वात् कविकल्पितम् ॥१५॥
 मिश्रं च संकरात्प्राम्यां दिव्यमर्थ्यादिभेदतः ।
 कार्यं त्रिवर्गस्तच्छुद्धमेकानेकानुबन्धि च ॥१६॥
 स्वलोपिष्टस्तु तद्वैतुर्बीजं विस्तार्यनेकधा ।
 भवान्तरार्थविच्छेदे विन्दुरच्छेदकारणम् ॥१७॥
 बीजविन्दुपताकाख्यप्रकरीकार्यलक्षणः ।
 अर्थप्रकृतयः पञ्च तु एताः परिकीर्तिताः ॥१८॥
 अवस्थाः पञ्च कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः ।
 आरम्भयज्ञप्राप्त्यास्थानियतासि फलागमाः ॥१९॥
 औत्सुक्यमात्रमारम्भः फललाभाय भूयसे ।
 प्रयत्नस्तु तदप्राप्तौ व्यापारोऽतिलरान्वितः ॥२०॥
 उपयापायचङ्कान्यां प्राप्त्याद्या प्रातिसंभवः ।
 अयापायावतः प्रातिर्नियतासिः सुनिश्चिताः ॥२१॥
 समग्रफलसपत्तिः फलयोगो यथोदितः ।
 अर्थप्रकृतयः पञ्च पञ्चावस्थासमन्विताः ॥२२॥
 यथासख्येन जायन्ते सुखाद्याः पञ्चसंघयः ।
 अन्तैरकार्थगवन्धः संधिरैकान्वयै सति ॥२३॥
 मुखप्रतिमुखे गर्भः सावधमसंगसंछतिः ।
 मुखं बीजसमुत्पत्तिर्नानार्यं स्वसभवा ॥२४॥
 अङ्गानि द्वादशैतस्य बीजाारम्भसमन्वयात् ।
 उपक्षेपः परिकरः परिन्यासो विलोमनम् ॥२५॥
 युक्तिः प्राप्तिः समाधानं विधान परिभवना ।
 उद्भेदभेदकरणान्वन्वयान्वय लक्षणम् ॥२६॥

बीजान्यास उपक्षेपः तद्वद्बहुल्यं परिक्रिया ।
 तन्निष्पत्तिः परिन्यासो गुणाख्यानं विलोमनम् ॥२७॥
 सप्रधारणमर्थाना युक्तिः प्राप्तिः सुखागमः ।
 बीजागमः समाधानं विधानं मुखदुःखकृत् ॥२८॥
 परिभवोऽद्भुतावेशः उद्भेदो गूढभेदनम् ।
 करणं प्रकृतारम्भो भेदः प्रोत्साहना मता ॥२९॥
 लक्ष्या लक्ष्यतयोद्भेदस्तस्य प्रतिमुखं भवेत् ।
 विन्दुप्रयत्नानुगमादङ्गान्यस्य त्रयोदश ॥३०॥
 विलासः परिसर्पश्च विधूत शमनमंणी ।
 नर्मद्युतिः प्रगमनं निरोधः पयुं पावनम् ॥३१॥
 वज्रं पुष्पमुपन्यासो वर्णसंहार इत्यपि ।
 रत्यर्थेहा विलासः स्याददृष्टानुसर्पणम् ॥३२॥
 परितर्पो विधूतं स्यादरतिस्तच्छमः शमः ।
 परिहासवचो नर्मं पृतिस्तज्जा द्युतिर्मता ॥३३॥
 उत्तरा वाक्प्रगमनं हितरोधो निरोधनम् ।
 पयुं पास्तिरनुनयः पुष्यं वाक्य विरोधवत् ॥३४॥
 उपन्यासस्तु सोपाय वज्रं प्रत्यक्षनिष्ठुरम् ।
 चातुर्वर्णोपगमन वर्णसंहार द्रश्यते ॥३५॥
 गर्भस्तु दृष्टनष्टस्य बीजस्यान्वेषणं मुहुः ।
 द्वादशाङ्गः पताका स्थानं वा स्यात्प्रातिसंभवः ॥३६॥
 अभूताहरणं मार्गो रूपोदाहरणे क्रमः ।
 संग्रहश्चानुमानं च तोटकविषले तथा ॥३७॥
 उद्भेदगणमापेक्षा लक्षणं च प्रणीयते ।
 अभूताहरणं छद्म मार्गस्तत्त्वार्थकीर्तनम् ॥३८॥
 रूपं वितर्कवद्वाक्यं सोल्लस्यं स्यादुदाहृतिः ।
 क्रमः सचिन्त्य मानातिर्भावज्ञानमाधारे ॥३९॥
 संग्रहः सामदानोक्तिरम्पूहो लिङ्गतोऽनुमा ।
 अधिवलमभिसंधिः सरुध तोटक वचः ॥४०॥
 तोटकस्यान्यथा भावं ब्रुवतेऽधिवल्यं वृषः ।
 सरुधवचनं यत्तु तोटकं तदुदाहृतम् ॥४१॥
 उद्भेदोऽरिक्ता भीतिः शङ्कात्रापी च संग्रमः ।
 गर्भबीजसमुद्भेदादाक्षेपः परिकीर्तितः ॥४२॥
 क्रोपेनावमृदोद्यत्र व्यसनाद्य विलोमनात् ।
 गर्भं निर्भिन्न बीजार्थः सोऽजमर्गोऽङ्गसंग्रहः ॥४३॥
 तत्रापनादसफरी विद्वद्व्ययद्यतयः ।
 द्युतिः प्रसङ्गच्छलनं व्यवसायो विरोधनम् ॥४४॥

प्ररोम्बना विचलनमादान च त्रयोदश ।
 दीपः प्रस्थाप्यादः स्यात् सफेदो रोषभपणम् ।
 विद्रवो वषट्कारादि द्रवो गुह तिरस्कृतिः ॥४५॥
 विरोधग्रामन शक्तिस्तर्जनेद्वेजने द्युतिः
 गुहकीर्तन प्रसङ्गस्थलन चावमाननम् ॥ ४६ ॥
 व्यवसायः स्वशाक्त्युक्तिः सरुधाना विरोधनम् ।
 सिद्धामन्वगतो भाविदर्शिका श्यामरोचना ॥ ४७ ॥
 विक्रयना विचलनमादान कार्यसप्रदः
 वीजवन्तो मुखाद्यथा विप्रवीणा यथायथम् ॥ ४८ ॥
 ऐकार्यमुपनीयन्ते यत्र निर्बहण हि तत् ।
 सधिविबोधे ग्रथन निर्णयः परिमाणम् ॥ ४९ ॥
 प्रसादानन्दसमयाः कृतिनापोपगूढनाः ।
 पूर्वभावोपसहारी प्रशस्तिश्च चतुर्दश ॥ ५० ॥
 सधिविज्ञोपगमन विबोधः कार्यमार्गणम् ।
 ग्रथन तदुपक्षेपोऽनुभूताख्या तु निर्णयः ॥ ५१ ॥
 परिभाषा मिथो जल्पः प्रसादः पर्युपासनम् ।
 आनन्दो वाञ्छितावाप्तिः समयो दुःखनिर्गमः ॥ ५२ ॥
 कृतिर्लब्धार्थग्रमन मानायास्तिश्च भाषणम् ।
 कार्यदृष्ट्यदसुतप्राप्ति पूर्वभावोपगूढने ॥ ५३ ॥
 वराप्तिः काव्यसहाराः प्रशस्तिः शुभभासनम् ।
 उक्ताङ्गाना चतुःषष्टिः षोढा वैषा प्रयोजनम् ॥ ५४ ॥
 इष्टार्थस्य रचना गोप्यगुप्तिः प्रकाशनम् ।
 रागः प्रयोगस्याद्वैचर्यं वृत्तान्तस्यानुपलयः ॥ ५५ ॥
 द्वेषा विभागः कर्तव्यः सर्वरयापीह वस्तुनः ।
 सूच्यमेतर्भवेत्किञ्चिद् दृश्यश्रव्यमभाषणम् ॥ ५६ ॥
 नीरवोऽनुचितस्तत्र ससूच्यो वस्तुविस्तरः ।
 दृश्यस्तु मधुरोदात्तरसमावनिर्न्तरः ॥ ५७ ॥
 अर्थोऽक्षेपैः सूच्य पञ्चभिः प्रतिपादयेत् ।
 विधम्भचूल्किनाङ्कायाङ्गावतारा - प्रवेशकैः ॥ ५८ ॥
 वृत्तिवर्तिष्यमाणाना कथायाना निदर्शकः ।
 सक्षेपार्थस्तु विधम्भो मध्यपात्रप्रयोजितः ॥ ५९ ॥
 एकाक्षेपकृतः शुद्धः सवीणो नीचमध्यमेः ।
 तद्देवानुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः ॥ ६० ॥
 प्रवेशोऽङ्गद्वयस्यान्तः शेषार्थस्योपसूचकः ।
 अन्तर्भवनिवासस्थैश्चूल्किकार्थस्य सूचना ॥ ६० ॥
 अङ्गान्तपात्रैश्चास्य छिन्नाङ्गस्य सूचना ।
 अङ्गावतारस्त्वङ्गाते पातोऽङ्गस्याविभागतः ॥ ६२ ॥

[वस्तु दो प्रकारकी होती है—(१) आधिकारिक
 और (२) प्रासंगिक । मूल कथा वस्तुको आधिकारिक
 और गौण कथा वस्तुको प्रासंगिक करते हैं । प्रासंगिक
 कथावस्तुका उद्देश्य आधिकारिक कथावस्तुकी सौन्दर्य-
 वृद्धि करना और मूल कार्य या व्यापारके विकासमें सहायता
 देना है । रूपके प्रधान फलका स्वामित्व अर्थात् उसकी
 प्राप्तिकी योग्यता "अधिकार" कहलाती है । उस फलका
 स्वामी अर्थात् उसे प्राप्त करनेवाला अधिकारी कहलाता
 है । उस अधिकारीकी कथाको आधिकारिक वस्तु कहते
 हैं । इस प्रधान वस्तुके सहायक इतिवृत्तको प्रासंगिक वस्तु
 कहते हैं, जैसे रामायणमें रामचन्द्रका चरित्र आधिकारिक
 वस्तु और सुग्रीवका चरित्र प्रासंगिक वस्तु है । प्रासंगिक
 वस्तुमें दूसरेकी धर्म सिद्धि होती है और प्रसंगके मूल-
 नायकका स्वार्थ भी सिद्ध होता है । प्रासंगिक कथावस्तुके
 दो भेद हैं—पताका और प्रकरी । जब कथावस्तु सातवध
 होती है अर्थात् बरामर चलती रहती है तब उसे पताका
 कहते हैं और जब वह थोड़े कालतक चलकर रुक जाती
 है या समाप्त हो जाती है तब उसे "प्रकरी" कहते हैं,
 जैसे शकुन्तला नाटकके छठे अङ्गमें दास और दासीकी
 बातचीत है । प्रासंगिक वस्तुमें चमत्कार पूर्ण धारावाहिकता
 लानेके लिये "पताका स्थानक" का प्रयोग किया जाता है ।

पताका-स्थानक

जहाँ प्रयोग करनेवाला पात्र कुछ और ही कार्य करना
 चाहता हो, परतु एकसे विचरणवाले अथवा एक जैसे
 गुणवाले किसी नए पदार्थ या भावके कारण कोई दूसरा
 ही कार्य हो जाय, अर्थात् जहाँ प्रस्तुत भाव कुछ हो किन्तु
 सहसा कोई नया भाव प्रकट होकर कुछ और ही कार्य
 करा डाले, वहाँ "पताका-स्थानक" होता है । सक्षेपमें
 इसका भाव यही है कि जहाँ करना कुछ हो, परतु
 अकस्मात् किसी कारणके आ जानेसे और ही कुछ करना
 पड़े, वहाँ अथवा उस कार्यको पताका-स्थानक कहते हैं ।
 सारिल्य दर्पणकारके अनुसार यह चार प्रकारका है—

१. सहसैवार्थसपत्तिगुणवस्तुपचारतः ।
२. पताकास्थानकमिदं प्रथम परिकीर्त्तितम् ॥ ४६ ॥
३. वचः सातिशयक्लिष्ट नानाबन्धसम्भावयम् ।
४. पताकास्थानकमिदं द्वितीय परिकीर्त्तितम् ॥ ४७ ॥

अयोपक्षेपकं यत्तु बीनं सविनयं भवेत् ।
दिल्लष्टप्रत्युचरोपेतं नृतीयमिदमुच्यते ॥ ४८ ॥
इधर्मोचनविन्यासः सुदिल्लष्टः काव्ययोजितः ।
प्रधानार्थान्तराद्येषी पताकास्थानकं परम् ॥ ४९ ॥

(१) जहाँ किसी प्रेमयुक्त व्यवहारसे सहसा कोई बड़ी इष्टसिद्धि हो जाय । जैसे, रत्नावली नाटिकामें वासवदत्ताका रूप धारण करके सागरिका संकेत-स्थानको गई थी । पर जब उसे यह ज्ञात हुआ कि वासवदत्ता यह जान गई, तब वह फौसी लगाकर अपने प्राण देनेको उद्यत हुई । उसी समय राजा वहाँ पहुँच गया और उस छद्मवेषधारीणी सागरिकाको वारतविक वासवदत्ता समझकर उसकी फौसी छुड़ाने लगा । उसी-समय उसकी बोली पहचानकर वह बोल उठा 'अरे, क्या यह मेरी प्रिया सागरिका है !' यहाँ राजा चला या वासवदत्ताको बचाने परन्तु उसने वास्तवमें बचाया सागरिकाको 'जो उसे बहुत प्यारी थी । यह पहले प्रकारका पताका-स्थानक है ।

(२) जहाँ अनेक चतुर वचनोंसे गुफित और भविष्य श्लेष, दुहरे अर्थवाले वाक्य हों, वहाँ दूसरे प्रकारका पताका-स्थानक होता है । जैसे बंगीसहार नाटकमें सत्रधर कहता है—

रक्तप्रसाधितमुखः क्षतविग्रहाक्ष

खस्था भवन्तु कुहराजमुताः सभृत्याः ।

[जिन्होंने भूमिको अनुरक्त और विजित कर लिया है और जिनका विग्रह (हागड़ा) क्षत (नष्ट) हो गया है, वे कौरव अपने भृत्योंके साथ स्वस्थ हों । श्लेष अर्थ यह भी होता है कि जिन्होंने (अपने) रक्तसे पृथ्वीको प्रसाधित (रजित) कर दिया है—रंग दिया है—और जिनके विग्रह (शरीर) क्षत हो गए हैं, ऐसे कौरव स्वस्थ (स्वर्गस्थ) हों ।] यहाँ श्लेषके बीजभूत अर्थ (कौरवोंके नाश) का प्रतिपादन होकर नायकका मंगल सूचित हुआ ।

(३) जो किसी दूसरे अर्थको सूचित करनेवाला, अप्रत्यक्ष अर्थवाला तथा विदोष निश्चययुक्त वचन हो

और जिसमें उत्तर भी श्लेषयुक्त हो, वह तीसरा पताका-स्थानक है । जैसे बंगीसहार नाटकमें—

(प्रविश्य सन्नान्तः)

राजा—लोलाशुकस्य पवनामुल्लितांशुकान्तम्
त्वद्दृष्टिहारि मम लोचनवाग्धरस्य ।
अप्यासितं च मुचिरं जघनस्पंदलय
पर्याप्तमेव करभोद ! ममोदगुग्मम् ॥

(धवराहयके साथ आकर)

[हे मोदी जंपाओंवाली ! वायुमें दृष्टेष्ट वस्त्रोंमें सुन्दर तथा तुम्हारी दृष्टिमें मधुर लगनेवाले वे मेरे दोनों जबे मेरी आखोंको रोक रखनेवाले, वायुसे वस्त्रहीन तुम्हारे जंघोंके बैठनेके लिये बहुत ही सुन्दर स्थल है ।]

कंचुकी—देव, मग्नम् भग्नम् । (देव ! दूट गया, दूट गया)

राजा—केन ? (किसके द्वारा)

कंचुकी—मीमेन । (मीमसे)

राजा—कस्य ? (किसका)

कंचुकी—भवतः । (आपका)

राजा—आः किं प्रलयसि !—(अरे क्या वक्ता है !)

इसमें दुर्घोषनके 'ममोदगुग्मम्' अर्थात् मेरी युगल जंपा कहनेके साथ ही कंचुकीका 'देव, भग्नम् भग्नम्' अर्थात् 'देव, दूट गई, दूट गई' करनेसे दुर्घोषनके ऊर्ध्वग-का अर्थ सूचित होता है ।

(४) जहाँ सुंदर श्लेषयुक्त या दो अर्थवाले वचनोंका प्रयोग हो और जिसमें प्रधान कल्पनी सृचना होती हो, वहाँ चौथा पताकास्थानक होता है । जैसे रत्नावली नाटिकामें राजाका यह कहना कि 'आज मैं इस लतासे अन्य कामिनीके समान देखता हूँ या देवीके मुक्तमें क्रोधसे लाल बनाऊँगा ।' यहाँ श्लेषयुक्त वाक्यों द्वारा भागे होनेवाली बातनी सृचना दी गई है, अर्थात् यह सूचित किया गया है कि राजाका सागरिकार प्रेम रोग और क्रोधसे वासवदत्ताका मुख लाल हो जायगा ।

ये चारों पताकास्थानक किसी मंत्रिमें मंगलार्थक और किसीमें अमंगलार्थक होते हैं, किन्तु होते संवसंधियोंमें

है। इस ऊपरके विवरणसे स्पष्ट है कि पताका स्थानकमें अवस्थाका विपर्यय ही इसे उपरिष्ठ करता है, परन्तु रोप तीनोंमें वचनोंका श्लेष इसका मूल कारण है।

आधिकारिक, पताका और प्रकरी नामके तीनों प्रकारके इतिवृत्तोंके तीन तीन भेद होते हैं—प्रख्यात आधिकारिक उदराय आधिकारिक, मिश्र आधिकारिक, प्रख्यात पताका, उदराय पताका, मिश्र पताका, प्रख्यात प्रकरी, उदराय प्रकरी, मिश्र प्रकरी। ये इतिवृत्त भी या तो दिव्य अर्थात् देव सनधी होते हैं या मर्त्यलोक-सनधी।

अर्थ-प्रकृति—कथावस्तुको प्रधान पलकी प्राप्ति की ओर अग्रसर करनेवाले चमत्कार युक्त अंशको 'अर्थ-प्रकृति' कहते हैं। साधारणतः यह कहा जा सकता है कि पाँच प्रकारकी अर्थ-प्रकृतियाँ कथु कथानवके तत्त्व हैं।

वस्तुकी अर्थ-प्रकृति

मानव-जीवनका उद्देश्य अर्थ, धर्म और कामकी प्राप्ति है। नाटकके अर्थमें प्रदर्शित इन उद्देश्योंकी प्राप्तिके लिये जो उपाय किए जायें, वे ही अर्थ प्रकृति हैं। इनके पाँच भेद इस प्रकार हैं—

(१) बीज—मुख्य फलका हेतु वह कथाभाग, 'बीज' कहलाता है जो क्रमशः विस्तृत होता जाता है। इसका पहले बहुत ही सूक्ष्म कथन किया जाता है, परन्तु ज्यों ज्यों व्यापार श्रृंखला आगे बढ़ती जाती है त्यों त्यों इसका भी विस्तार होता जाता है।

(२) बिंदु—जो बात निमित्त बनकर समाप्त होने-वाली अवातर कथाको आगे बढ़ाती है और प्रधान कथाको अविच्छन्न रखती है, वह 'बिंदु' कहलाती है। जैसे रत्नावली नाटिकामें अनंगपूजाके अनंतर राजाकी पूजा हो चुकनेपर कथा समाप्त होनेकी थी, पर सागरिकासे विदूषकके ये वचन—

अस्ताचलको सूर्य सिधारे।

सौंख्य समयके सभाभवनमें, नृपगण आए सारे।

शशि-सम उदय हो उठे उदयन सब आँसूँके तारे।

चाह रहा कमलोंको धृतिहर, सेवे चरण तुम्हारे ॥”

—सहस्र सुनकर और राजाकी ओर चावसे देखकर कहती

है—“क्या यही वह उदयन राजा है जिसके लिये पिताने मुझे मेजा था ? (लम्बी साँस लेकर) पराधीनतासे क्षीण होनेपर भी मेरा शरीर इसे देखकर फूला खिल गया।” इस प्रकार उसके ये वचन कथाको आगे बढ़ाते हैं।

(३) पताका—इसका लक्षण पहले लिखा जा चुका है, जैसे रामायणमें सुग्रीवकी, वेणीसदरमें भीमसेनकी और शकुतलामें विदूषककी कथा। पताका नामक कथाशके नायकका अपना कोई भिन्न फल नहीं होता। प्रधान नायकके फलको सिद्ध करनेके लिये ही उसकी समस्त चेष्टाएँ होती हैं। गर्म या विमर्श-सधिमें उसका निर्वाह कर दिया जाता है, जैसे सुग्रीवकी राज्य-प्राप्ति।

(४) प्रकरी—इसका वर्णन पहले हो चुका है। प्रसंगागत तथा एकदेशीय अर्थात् छोटे छोटे वृत्त प्रकरी कहलाते हैं, जैसे रामायणमें रावण और बटायुका संवाद। प्रकरी-नायकका भी कोई स्वतंत्र उद्देश्य नहीं होता।

(५) कार्य—जिसके लिये सब उपायोंका आरम्भ किया जाय और जिसकी सिद्धिके लिये सब सामग्री इकट्ठी की गई हो, वह कार्य है, जैसे रामायणमें रावणका वध, अथवा रत्नावली नाटिकामें उदयन और रत्नावलीका विवाह।

अवस्था—प्रत्येक रूपकमें कार्य या व्यापार-श्रृंखलाकी पाँच अवस्थाएँ होती हैं, अर्थात् (१) 'आरम्भ'—जिसमें किसी पलकी प्राप्तिके लिये औत्सुक्य होता है।

(२) 'प्रयत्न'—जिसमें उस पलकी प्राप्तिके लिये शीघ्रतासे उद्योग किया जाता है। (३) 'प्राप्त्याशा' अथवा 'प्राप्तिसम्भव'—जिसमें सफलताकी संभावना जान पड़ती है, यद्यपि साथ ही विफलताकी आशंका भी बनी रहती है।

(४) 'नियताप्ति'—जिसमें सफलताका निश्चय हो जाता है। (५) 'फलानुभव'—जिसमें सफलता प्राप्त हो जाती है और उद्देश्यकी सिद्धिके साथ ही अन्य समस्त वांछित फलोंकी प्राप्ति हो जाती है। उदाहरणके लिये रत्नावली नाटिकामें सुमारी रत्नावलीको अतःपुरमें रखनेके लिये मन्त्री यौगधरायणकी उत्कठा अथवा अभिज्ञान शाकु तन्त्रमें राजा दुष्यन्तकी शकु तलाकी देखनेकी उत्कठा, जो कार्यके आरम्भमें अवस्था है। रत्नावलीमें दर्शनका कोई दूसरा उपाय न देखकर रत्नावली द्वारा वत्सगज उदयनका चित्र लेखन और शाकुन्तल

में पुनः मिलनेका उपाय निकालनेके लिये राजा दुष्यंतकी उरधुक्ता 'प्रयत्न' अवस्थाके अन्तर्गत है। रत्नावलीमें सागरिकाका छद्म वेग-भरण और अभिरण सफलता प्राप्त करनेके उपाय है, पर साथ ही मेद खुल जानेकी आशंका भी वर्तमान है। इसी प्रकार शाकुंतलमें दुर्वासके शापकी कथा तथा उनका प्रसन्न होकर उसकी शान्तिकी अवधि बताना 'प्राप्त्यारा' अवस्था है। रत्नावलीमें राजाका यह समझ लेना कि बिना वासवदत्ताको प्रसन्न किए में सफल-मनोरथ नहीं हो सकता तथा शाकुंतलमें धीवरसे राजाका मुँदरी पाना 'नियताति' है। अन्तमें उदयनका रत्नावलीको प्राप्त करना और दुष्यंतका शकुन्तलासे मिलान हो जाना 'फलगत' है।

ये तो कार्यकी पाँच अवस्थाएँ हुईं जिनका रूपांतर होना आवश्यक है। प्रायः इस बातपर भी विचार किया जाता है कि कार्यकी किस अवस्थामें रूपका कितना अंश काममें लाया गया है। साधारणतः सुव्यवस्थित वस्तुवाले रूपक वे ही समझे जाते हैं जिनमें प्राप्त्यारा अवस्था लगभग मध्यमें आती है। पहलेका भाषा अंश आरम्भ तथा प्रयत्नमें और पिछला भाग अन्त नियताति तथा फलगतमें प्रयुक्त किया जाता है।

नाटक-रचनाकी संघियाँ

संघि—ऊपर पाँच अर्थ-प्रकृतियों और पाँच अवस्थाओंका वर्णन हो चुका है। कथात्मक पूर्वोक्त पाँच अवस्थाओंके योगसे अर्थ-प्रकृतियोंके रूपमें विस्तारी कथात्मकके पाँच अंश हो जाते हैं। एक ही प्रधान प्रयोजनके साथ उन कथाओंके मध्यवर्ती किसी एक प्रयोजनके साथ संबंध होनेकी 'संघि' कहते हैं। अतः ये पाँच प्रकारकी होती हैं—

(क) मुख-संघि—प्रारंभ नामक अवस्थाके साथ समीप होनेसे जहाँ अनेक अर्थों और रसोंके व्यञ्जक 'बीज' (अर्थ-प्रकृति) की उत्पत्ति हो वह 'मुख-संघि' है। पहले कहें या चुका है कि व्यापार-शृंखलामें 'प्रारंभ' उस अवस्थाका नाम है जिसमें फलकी प्राप्तिके लिये औत्सुक्य होता है, और 'बीज' उस अर्थ-प्रकृतिको कहते हैं जिसमें संकेत रूपसे स्वार्थ-निर्दिष्ट कथागत मुख

प्रयोजनकी सिद्धिके लिये क्रमशः विस्तृत होता है। इसी प्रकार 'मुख-संघि'में ये दोनों बातें अर्थात् प्रारंभ, अवस्था और बीज अर्थ-प्रकृतिका संयोग होकर अनेक अर्थ और रस व्यञ्जित होते हैं। अवस्थाएँ तो कार्य अर्थात् व्यापार-शृंखलाकी भिन्न भिन्न स्थितियोंकी द्योतक हैं, अर्थ-प्रकृतियाँ कथावस्तुके तत्त्वोंकी सूचक हैं, और संघियाँ नाटक-रचनाके विभागोंका निर्देशन करती हैं। तीनों बातें एक ही अर्थकी सिद्धि करती हैं, पर तीनोंके नामकरण और विभेदन तीन स्थितियोंसे किए गए हैं—

(एकमें कार्यका, दूसरेमें वस्तुका और तीसरेमें नाटक-रचनाका ध्यान रखा गया है।) रत्नावली नाटिकामें 'प्रारंभ' अवस्था कुमारी रत्नावलीको अन्तःपुरमें रखनेके लिये यौगंधरायणकी उल्लेख, 'बीज' अर्थ-प्रकृति यौगंधरायणका व्यापार और 'मुख-संघि' नाटकके आरंभसे लेकर दूसरे अङ्कके उस स्थानतक होती है जहाँ कुमारी रत्नावली राजाका चित्र अंकित करनेका निरचय करती है। इसी प्रकार अभिज्ञान-शाकुन्तलमें प्रथम अङ्कसे आरम्भ होकर दूसरे अङ्कके उस स्थानतक, जहाँ सेनारति चला जाता है, 'मुख-संघि' है। मुख-संघिके नीचे लिखे १२ अंग माने गए हैं—

(१) उपक्षेप—बीजका न्यास अर्थात् बीजके समान सूक्ष्म प्रस्तुत इतिवृत्तकी सूचनाका संक्षेपमें निर्देश, जैसे, रत्नावलीमें नेपथ्यसे यह कथन—

"द्वीप सिन्धुके मध्यसे भी दिग्गतेषु लप।
मनचाही अनुकूल विधि, क्षणमें देत मिलय ॥"

(२) परिकर—बीजकी वृद्धि अर्थात् प्रस्तुत सूक्ष्म इतिवृत्तका विषय-विस्तार, जैसे, रत्नावलीमें यौगंधरायणका कथन।

(३) परिन्यास—बीजकी निष्पत्ति या सिद्धि अर्थात् उस वर्णनीय विषयका निरचयके रूपमें प्रकट करना, जैसे, रत्नावलीमें यौगंधरायणका यह वचन—

"यद्यपि स्वामीके हित-कारण मैंने सब वह काम किया है। आदि

(४) निष्क्रमण—गुण-कथन, जैसे, रत्नावलीमें वैतालिका सागरिकाके विलोमनके लिये उदयनके गुणोंका वर्णन, यथा—

“अस्ताचलने स्य विधारे।

(५) युक्ति—प्रयोनर्मा समयकू निर्णय, जैसे, रत्नावलीमें योगधरायगना कहना—

‘मैंने भी उस कन्याको जे गौरवसे रानीको सौँपा है। यह बात अच्छी हुई। अब मुनेमें आया है कि हमारे स्वामीना कजुमी वाप्रव्य और सिंहलेश्वरका मत्री वसुभूति भी, जो राजकन्याके साथ आते थे, किसी प्रकार हनते उतराते किनारे लगे हैं। अब ये सेनापति रमण्वासे, जो कोशलपुरी जीने गया था, मिलके यहाँ आ पहुँचे हैं।’

(६) प्राप्ति—सुलका मिलना, जैसे, रत्नावलीमें सागरिकाका घर वाक्य—

“क्या यही वह उदयन राजा है जिसके लिये पिताने मुझे भेजा था ? पराधीनतासे क्षीण होनेपर भी मेरा शरीर इसे देखकर, पूल सा खिल गया।”

(७) समाधान—नीजने ऐसे रूपमें पुन. प्रदर्शित करना, जिससे वह नायक अथवा नायिकाको अभिमत प्रतीत हो, जैसे, रत्नावलीमें वासनदत्ता और सागरिकाकी प्रतीतिप्रसंग—

“वासनदत्ता—यही ता है वह लाल अचोक। तब मेरी पूजारी समझी लाना।

सागरिका—खीजिए रानीजी, यह सामग्री।

वासनदत्ता—(स्वगत) दासियोंने बड़ी भूल की है। जिसकी आँसोंसे उचाए रखनेना बहुत उन्नोग किया है सागरिका आज उसीकी दृष्टिमें पड़ा चाहती है। अच्छा, तो अब यही करूँ। (प्रकश्य) अरी सागरिका, आज सब सखियों ता भदन महोत्सवमें लगी हुई हैं। तू सारिनाको छोड़कर यहाँ क्यों आ गई ? जल्दी वहाँ जा और पूजाकी सामग्री काचनमालाको दे जा।

सागरिका—बहुत अच्छा रानीजी ! (कुछ चलकर मन ही मन) सारिका ता सुसगताकी सौँ ही दी है। अब देखना चाहिए, कामदेवकी पूजा यहाँ भी वैसी होती है। अच्छा छिपकर देखूँ।”

(८) विधान—सुल-सुलके कारण, जैसे, मालती-मधवमें माधवका यह कथन—

“जाते समय उसने अपनी सुन्दर प्रीवा घुमाकर मेरी ओर जो देखा तो उसका मुख सूर्यमुखीके समान अत्यन्त सुन्दर दिखलाई दिया। फिर उसने अपने दोनों नेत्र गढ़ाकर मेरी ओर जो देखा तो ऐसा जान पड़ा मानों कटाक्षनी कोरको सुधाके विषमें बुझाकर मेरा हृदय धायल कर दिया हो।”

(९) परिभव या परिभाषना—किसी आश्चर्यजनक दृश्यको देखकर कुतूहल-युक्त बातोंका कथन, जैसे, रत्नावलीमें सागरिकाके ये वचन—

“यह क्या ! यह तो अपूर्व कामदेव है। बापके घर तो इनका चिह्न ही देखा था, यहाँ तो साक्षात् कामदेव उपस्थित हैं। अच्छा यहाँसे इनको पुष्पाञ्जलि दूँ।”

(१०) उद्भेद—नीजके रूपमें छिपी हुई बातको खोलना जैसे, रत्नावलीमें वैतालिकके नेपथ्य कथनसे सागरिकाको यह ज्ञात होना कि कामदेवके रूपमें छिपे हुए ये ही राजा उदयन हैं।

(११) करण—उस्तुत अर्थका आरम्भ, जैसे, रत्नावलीमें सागरिकाका कथन—

“मगवान् कदर्पको मेरा प्रणाम। आपका दर्शन शुभदायक हो। जो देखने योग्य था, वह मैंने देखा। यह मेरे लिये अमोघ हो। (प्रणाम करके) बड़ा आश्चर्य है कि कामदेवका दर्शन करनेपर भी फिर दर्शननी इच्छा होती है। अच्छा जतक कोई न देखे, मैं बली जाऊँ।”

(१२) भेद—प्रोत्साहन, जैसे, वेणीसहारमें—

“श्रीपदी—नाथ ! मेरे अपमानसे अति क्रुद्ध होकर विना अपने शरीरका ध्यान रखे परात्मन न कीजिएगा, क्योंकि ऐसा कहा है कि शत्रुओंकी सेनामें बड़ी सख्यानीसे जाना चाहिए।

“श्रीम—सग्राम रूपी ऐसे समुद्रके बलके अन्दर विचरण करनेमें पाहुपुत्र बडे निपुण हैं, जिनमें एक दूसरेसे टकराकर रत्नाकर हाथियोंके पंटे चिरोंसे निकले हुए कपिर और मज्जामें मिले हुए उनके मस्तकोंके भेजे—रूपी कीचमें डूबे हुए रथोंके ऊपर पैर रखकर सेना चल रही हो, जिसमें रक्तपान किए हुए सिंघार अमगल वाणीसे बाजे बना रहे हैं, तथा कवच नाच रहे हैं।”

ये बारहों अंग हमारे आचार्योंकी सभ्य भागोपभाग करनेकी रुचिके सूचक मात्र हैं। सब अंगोंका किती नाटकमें बिकोड होना कठिन है। इसलिये यह भी कह दिया गया है कि उपवेश, परिकर, परिष्वास, युक्ति, समाधान और उद्देश्य—इन छः अंगोंका होना तो आवश्यक है। शेष छः भी रहें तो अच्छा ही है। नहीं तो इन्हींसे सुलसधिका उद्देश्य सिद्ध हो जायगा।

(ख) प्रतिमुख-सधि—मुख-सधिमें दिखलाए हुए बीजका जिसमें कुछ लक्ष्य और कुछ अलक्ष्य रीतिसे उद्देश्य हो, अर्थात् नाटकीय प्रधान फलका साधक इतिवृत्त कभी गुप्त और कभी स्पष्ट हो, उसे 'प्रतिमुख सधि' कहते हैं। जैसे रत्नावलीमें बलराम और सागरिकाके समागमके हेतु इन दोनोंके पारस्परिक प्रेमको, जो प्रथम अङ्कमें सूचित कर दिया गया था, सुसंगतता और विदूषकने जान लिया। यह तो उसका लक्ष्य होना हुआ। फिर वासवदत्ताने चित्रवाली घटनासे उसका अनुमान मात्र किया, दृश्यसे उसे कुछ अलक्ष्य भी कह सकते हैं। प्रतिमुख-सधि 'प्रयत्न' अवस्था और 'विदु' अर्थ प्रकृतिके समान कार्य-शृंखलाको अपसर करती है। प्रयत्न अवस्थामें फल-प्राप्तिके लिये शीघ्रतासे उद्योग होता है, विदु अर्थ-प्रकृतियें क्या अविचित्र रहकर आगे बढ़ती है, तथा प्रतिमुख सधिमें, मुख सधिमें दिए हुए प्रधान फलका क्रिचिन्मात्र विकास होता है। जैसे रत्नावली नाटिका-में सागरिकाका चित्र-लेखन और राजासे साक्षात्कार होना प्रयत्न और अंतग-पूजाके अवसरपर सागरिकाका उदयन को देखकर कामदेव समझना तथा फिर उसे पहचानना बीज है। इसी प्रकार प्रतिमुख सधि सागरिकाके चित्र लेखन से आरंभ होकर दूसरे अङ्कके अंततक, जहाँ वासवदत्ता राजाको सागरिकाका चित्र देखते हुए पकड़ती और उसपर पाना कोष प्रकट करती है, समाप्त होती है। इस सधिके १२ अंग माने गए हैं—

(१) विलास—आनंद देनेवाले पदार्थकी कामना, जैसे, रत्नावलीमें सागरिकाका यह कथन—
“मन पीतल धर। जिसका पाना सहज नहीं है, उसके पानेके लिये इतना आनंद क्यों करता है?—यद्यपि मय-से मेरा हाथ कौंठा है, तो भी उनका जैसे जैसे चित्र बनाकर देखूँ, क्योंकि इसके चित्रा देखनेका और उपाय नहीं है।”

(२) परिसर्प—पहले विद्यमान, पीछे खोई या दृष्ट-नष्ट वस्तुकी खोज, जैसे, रत्नावलीमें सागरिकाके वचन सुनकर बीज नष्ट हो गया था, पर चित्रके मिल जानेपर राजाका यह वचन कि “मित्र, वह कहाँ है, उसे दिखाओ, दिखाओ” उसका पुनरागमन कर देना है।

(३) विपुत—अर्थात् सुखप्रद वस्तुओंका तिरस्कार, जैसे, रत्नावलीमें सागरिकाका वचन—

“हे सखी! हटाओ इन पद्मपत्रों और भृंगाल मालाओं को। इनसे क्या होगा? व्यर्थ क्यों कष्ट उठाती हो! मैं कहती जो हूँ—

मन कुलुंभ जनसे फँसा, तनमें लज अपार।
ऐसे करके प्रेम गुच, मरना ही है सार ॥”

(४) राम—अस्तिका लोप, जैसे, रत्नावलीमें अपना चित्र देखकर राजाका विदूषकसे कहना—

“हे मित्र ! इस कामिनीने मेरा चित्र बनाया है। इसी से मेरे जीमें अपने स्वस्वका अधिक आदर हुआ है। अब भला अपनेचित्रको क्यों न देखूँगा ? देखो—

छिलनेमें इस चित्र वै, पत्र भाषकण थाय।
वे प्यारे करलल परम, रहे खेदसे छाय ॥”
इसपर छित्री हुई सागरिका रगत कहती है—

“मन, धीर धर, जचल मत हो। तेरा मनोरथ भी यशोव्रत न पहुँचा था।”

साहित्य दर्शनकारने इस अङ्कके स्थानपर “तान” अंग का उल्लेख किया है, जिसका अर्थ उपायका अद्वयन या अभाव है। इसका उदाहरण भी बही दिया गया है, जो ऊपर 'विपुत' अंगमें दिया है।

(५) नम—परिहास-वचन, जैसे, रत्नावलीमें सुसंगतता और सागरिकाकी यह बातचीत—

“सुसंगतता—सखी, त्रिषके लिये तुम आई हो, वह सामने है।

सागरिका—(अपुष्टसे) मैं त्रिषके लिये आई हूँ !
सुसंगतता—(हँसकर) वाद क्या समझ गई ! और

काहेके लिये ? चित्राटके लिये ! लती क्यों नहीं उसे !”

(६) युति या नर्मयुति—परिहाससे उत्पन्न आनंद अथवा दाप छिपनेवाला परिहास—जैसे, रत्नावलीमें सुसंगतताके यह कहनेपर कि “प्यारी सखी, तू बही

निडुर है। महाराज तेरा इतनी आदर करते हैं, तो भी तू प्रसन्न नहीं होती।" सागरिका भौं चढाकर कहती है—

"अब भी तू चुप नहीं रहती, मुसगता।"

(७) प्रथम—उत्तर प्रत्युत्तरके उत्कृष्ट वचन, जैसे, रत्नावलीमें चित्र मिलनेपर राजा और विदूषककी यह बात चित—

'विदूषक—हे मित्र, तुम बड़े भाग्यशाली हो।

राजा—मित्र, यह क्या!

विदूषक—नही है जिसकी अभी बात चल रही थी। चित्रपटमें आपका ही चित्र है। नहीं तो क मदेनके बहाने और किसका चित्र रिंच सकता था।

राजा—(हृषसे हाथ बढाकर) मित्र, दिखाओ।

विदूषक—तुम्हें न दिखाऊंगा, क्योंकि वह कामिनी भी इसमें चित्रित है। बिना पुरस्कारके ऐसा कन्यारत्न दिखाया नहीं जा सकता।

राजा—(हार उतारकर देता है और चित्रपट देखता है। फिर विरमयसे)

कमल कंगाली खेले, हित चित अधिक जनाय।

चित्रल्लिखी सी हसिनी, मनमें धँसती धाय ॥

(मुसगता और सागरिकाका प्रवेश)

मुसगता—मैना तो हाथ न आई, अब बस कदलीकुजसे चित्रपट उढा छाती हूँ।

सागरिका—सखी, ऐसा ही कर।

विदूषक—हे मित्र! इस कन्यारत्नको अवनत-मुख करके क्यों चित्रित किया है?

मुसगता—(मुनकर) सखी! बसतक बात करता है, इससे महाराज भी निश्चय नहीं हैं। अच्छा कदलीकुजसे लिपकर मुनती हूँ। देखो क्या बातें करते हैं।

राजा—मित्र, देखो।

कमल कंगाली खेले, हित चित अधिक जनाय।

चित्रल्लिखी सी हसिनी, मनमें धँसती धाय ॥

मुसगता—सखी बड़ी भाग्यवती हो। देखो तुम्हारा प्यारा तुम्हारा वर्णन करता है।

सागरिका—(लजासे) सखी, क्यों हँसी उढाती हो। इस तरह मेरी हँसी न करो।

विदूषक—(राजाको उँगली लगाकर) मुनते हो, इस कन्यारत्नका मुँह चित्रमें अवनत क्यों है?

राजा—मैना ही तो सब मुना गई है।

मुसगता—सखी! मैना थापका सब परिचय दे गई।

विदूषक—इससे आपकी आँखोंको मुख होता है या नहीं?

सागरिका—न जाने इसके मुखसे क्या निकले। सत्य, सत्य, इस समय मैं मृत्यु और जीवन दोनोंके बीचमें हूँ।

राजा—मित्र, मुख होता है, यह खूब पूजा। देखो—

अति कष्टसे इसकी जाधोंको छोड़ पढ़ी मेरी दृष्टि नितय पै जाई।

हट उससे निहारके क्षीण कयी निवलीकी तरंगोंमें जा समाई ॥

फिर धीरेही धीरेही लोंचके जा चुच तुम पै उसके की है चढाई।

अब प्यासी सी हो जल बिन्दु भरी आँखोंसे जाकर आँस लगाः ॥"

(८) निरोध—हितरोध अर्थात् हितकर वस्तुकी प्राप्तिमें रुकावट। साहित्यदर्पणमें इसके स्थानमें विरोध (= दुःख प्राप्ति) है। जैसे, रत्नावलीमें विदूषकके यह कहनेपर कि "यह दूसरी वासवदत्ता है।" राजा भ्रममें पड़कर सागरिका का हाथ छोड़देता है और कहता है—

"तुम पगली! भाग्यवता रत्नावली सी कातिवाली वह मिली थी। अभी उसे कठमें डालना ही चाहता था कि इतनेमें वह हाथसे छूट गई।"

साहित्यदर्पणमें 'विरोध'का उदाहरण चडकौशिकके अन्तर्गत राजाका यह वचन है—

"अपेकी तरह मैंने बिना विचारे धक्की हुई आगपर पैर रख दिया।"

(९) पयुं पासन—ऋद्धका अनुनय, जैसे, रत्नावलीमें वासवदत्तके कुपित होनेपर राजा उदयन कहता है—

“देवी प्रसन्न हो । कोप न करो । मेरा कुछ दोष नहीं है । तुमको मिथ्या आशंका हुई है । तुम्हारे कोपसे मैं बचता गया हूँ, उचर नहीं सूझता है ।”

(१०) पुष्प—विशेषता-पूर्ण वचन अर्थात् विरोध अनुराग उत्पन्न करनेवाला वचन, जैसे, रत्नावलीमें सागरिकाके शय्योंका स्पर्श-सुख पाकर राजा कहता है—

“यह साक्षात् लक्ष्मी है और इसकी हथेली पारिजातके नवदल हैं, नहीं तो पत्थीनेके बहाने इनमेंसे अमृत कहाँसे टपकता !”

(११) उपन्यास—गुक्ति-पूर्ण वचन, जैसे रत्नावलीमें सुसंगताका राजाके प्रति यह वचन—

“महाराज मुझपर प्रसन्न हैं, यही बहुत है । महाराज किसी तरहकी शंका न करें । मैंने ही यह खेल किया है । आभूषण सुझे नहीं चाहिए । मेरी सखी सागरिका मुझपर यह कड़कर अप्रसन्न हो गई कि तूने मेरा चित्र इस चित्रपट्टपर क्यों बनाया । आप चलेकर उसे मना दीजिए । इतना कननेसे ही मैं समझ लूँगी कि महाराज मुझपर बहुत प्रसन्न हैं ।”

(१२) वज्र—सम्मुख निष्ठुर वचन, जैसे, रत्नावलीमें वासवदत्ता चित्रपट्टकी ओर निर्देश करके कहती है ।

“भार्यपुत्र, यह दूसरी मूर्ति क्या वसंतकजीकी विद्याका फल है ?” फिर वह कहती है—“भार्यपुत्र ! इस चित्रको देखकर मेरे सिरमें पीड़ा उत्पन्न हो गई है । अच्छा आप प्रसन्न रहें, मैं जाती हूँ ।”

(१३) वर्णसंहार—चारों वर्णोंका सम्मेलन, जैसे महावीरचरितके तीसरे अंकका यह वाक्य—

“यह ऋषियोंकी शप्ता है, ये वीर युषान्वित हैं, ये मन्त्रियों सहित राजा रोमपाद हैं और ये सदा-यत्न करनेवाले महाराज जनक हैं ।”

अभिनवगुप्ताचार्यका मत है कि ‘वर्णसंहार’के ‘वर्ण’ शब्दसे नाटकके पात्र लक्षित होते हैं । अतः पात्रोंके सम्मेलन को ‘वर्णसंहार’ कहना चाहिए, न कि भिन्न भिन्न जातिके लोगोंका समागम । रत्नावलीके दूसरे अंकमें राजा, विदूषक, सागरिका, सुसंगता, वासवदत्ता और कांचनमालाका समागम ‘वर्णसंहार’ है ।

(ग) गर्भ-संधि—इसमें प्रतिमुख-संधिमें किंचित् प्रकाशित हुए बीचका बारबार आविर्भाव, तिरोभाव तथा अन्वेषण होता रहता है । इस संधिमें प्राप्याद्या अवस्था और पताका अर्थ-प्रकृति रहती है । प्राप्याद्या अवस्थाओं सफलताकी संभावनाके साथ ही साथ विफलताकी आशंका भी बनी रहती है और पताका अर्थ-प्रकृतिमें प्रधान फलका सिद्ध करनेवाला प्रासंगिक वृत्तांत रहता है । यदि इस संधिमें पताका अर्थ-प्रकृति न हो तो प्राप्याद्या अवस्था भी उत्पन्न नहीं हो सकती । रत्नावलीमें गर्भ-संधि तीसरे अंकमें होती है । इस अंककी कथा जान लेनेसे इस संधिका अभिप्राय स्पष्ट हो जायगा । कथा इस प्रकार है—

राजा उदयन सागरिकाके विरहमें अत्यंत दुखी होता है । विदूषक यह उपाय करता है कि सागरिका वासवदत्ताके वेशमें राजासे मिले । वासवदत्ताको इस बातका पता चल जाता है और वह सागरिकापर पहरा बैठा देती है और और आप ही उसके स्थानपर भा उपस्थित होती है । विदूषक उसे सागरिका समझकर राजाके पास ले जाता है और राजा भी उसे सागरिका समझकर बड़े प्रेमसे उसका स्वागत करता और प्रेमपूर्ण बातें कहता है । वासवदत्ता इन वचनोंको सुनकर मारे क्रोधके अपनेको सँभाल नहीं सकती और प्रकट होकर राजापर क्रोध प्रदर्शित करती है तथा उसी दशामें वहाँसे चली जाती है । उधर सागरिका किसी प्रकार पहरेदारोंकी आँख बचाकर निकल भगती है और वासवदत्ताका वेश धारण किए हुए अशोक वृक्षमें धोर जाती है । उसे यह जानकर बड़ी ग्लानि होती है कि वासवदत्तापर मेरा सब भेद लुप्त गया । अतएव वह पत्थी लगाकर अपने प्राण दे देना चाहती है । रानी वासवदत्ताके चले जानेपर राजा उदयनको यह आशंका होती है कि कहाँ दुखी और क्रुद्ध होकर रानी अपने प्राण न दे दे । राजा इस आशंकासे विचलित होकर रानीकी शांत करनेके लिये जाता है । मार्गमें वासवदत्ताका रूप धरे हुए सागरिकाको पत्थी लगानेका प्रयत्न करते देखकर उसे बचानेको दौड़ना है, और यहाँ ही बचाकर उससे बात करता है, उसे विदित हो जाता है कि यह वासवदत्ता नहीं, सागरिका है । उसके आनंदका ठिकाना नहीं रहता । यह उससे प्रेमालाप करता है इसी बीचमें रानी वासवदत्ताको पश्चात्ताप होता है कि

मैंने व्यर्थ राजाको कटु वचन कहे। अतएव वह राज को शात करनेके लिये आती है, पर सागरिकासे शात करते हुए देखकर क्रोध पुनः भडक उठता है। वह सागरिकाको लताओं से बाँधकर ले जाती है। राजा रानीको समझाने और शात करनेका उद्योग करता है, पर उसकी एक नहीं चलती और वह शोक-सागरकी तरफोंमें झूटता उतराता अपने शयनागार-की ओर जाता है।

अब यदि प्रात्याशा, अवस्था, पताका अर्थ प्रकृति और गर्म-सधिके लक्षणोंको लेकर इस कथापर विचार किया जाय तो सब बातें स्पष्ट हो जायेंगी। यह बात ध्यानमें रख कर इसपर विवेचन करना चाहिए कि रत्नावली नाटिकमें इस सधिके साथ पताका अर्थ प्रकृति नहीं आती, केवल पताका-स्थानरूपा धाविर्भाव होता है।

गर्म-सधिके १३ अर्थ माने गए हैं—

(१) अभूताहरण—कण्ठ वचन, जैसे, रत्नावली नाटिका के तीसरे अङ्गमें काचनमालाकी वसतकके प्रति उक्ति—

“तुम सधि विग्रहके कार्योंमें अमाल्यसे भी बढ गए !”

(२) मार्ग—सच्ची बात कहना, जैसे, रत्नावलीमें राजा और विदूषककी यह बातचीत—

“विदूषक—प्यारे मित्र ! आपकी जय हो। आप बड़े भाग्यवान् हो। आपकी अभिलाषा पूरी हुई।

राजा—(हर्षसे) मित्र ! प्यारी सागरिका अच्छी तो है ?
विदूषक—(गर्वसे) आप स्वयं देख लेंगे कि अच्छी है या नहीं।”

राज—(आनन्दसे) क्या प्यारीका दर्शन-लगभग भी होगा ?
विदूषक—(आश्चर्यसे) जो अग्नी बुद्धिसे बृहस्पति को भी हराता है, वही वसतक जब आपका मनी है तो दर्शन-आम क्यों न होगा।

राजा—(हँसकर) आश्चर्य क्या है ? आप सब कर सकते हैं। अब विस्तारसे कहिए, सुननेकी इच्छा है।

(विदूषक राजाके कानमें सुवगताकी कड़ी हुई सब बातें सुनाता है)

(३) रूप—वितर्क-युक्त वाक्य, जैसे, रत्नावलीमें राजाका यह कथन—

“जो अपनी स्त्रीके समागमना अनादर करते हैं, नई नायिकोंकोपर उन कामियोंका वैसा पशुपात होता है।

देखे तिरछी चकित सी, नैन छिपाए लेत।

कठ लगाई किन्तु वह, कुचरस लेन न देत ॥

‘जाऊँ जाऊँ’ ही कहे, किए प्रयत्न अनेक।

फिर भी प्यारी लग रही, वात कामकी टेक ॥

वसतकने क्यों देर कर दी ! कहीं रानी वासवदत्ता तो इस मेदनी नहीं जान गई !”

(४) उदाहृति या उदाहरण—उत्कर्ष-युक्त वचन, जैसे, रत्नावलीमें विदूषकका यह कथन—

“(हर्षसे) आज मेरी बात सुनकर प्रिय मित्रको जैसा हर्ष होगा, वैसा तो कौशलीका राज्य पानेसे भी न हुआ होगा। अर्थात् अब चलकर यह शुभ सवाद सुनाऊँ ।”

(५) दम—जिसकी अभिलाषा हो, उसकी प्राप्ति अथवा किसीके भावका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना, जैसे, रत्नावलीमें सागरिका की प्रतीक्षामें पैदा हुआ राजा कहता है—

“(उत्कर्षसे स्वगत) प्यारीके मिलनेका समय बहुत निकट था गया है। न जाने तब भी क्यों चित्त अधिक उत्कण्ठित होता है ।”

मिलने समय गए वहाँ, मदन-ताप अति तात।

जैसे बरगके दिवस, धूर बहुत बढ जात ॥

विदूषक—(सुनकर) अजी सागरिका ! देखो महाराज उत्कण्ठित होकर तुम्हारे ही लिये धीरे धीरे कुछ कह रहे हैं। तुम ठहरो, मैं आगे जाकर महाराजको तुम्हारा सराद सुनाता हूँ ।”

(६) सप्रह—सम दाम युक्त उक्ति, जैसे, रत्नावलीमें सागरिकाके ले जाने पर, राजाका विदूषकको साधुपद कहकर पारितोषिक देना।

(७) अनुमान—किसी चिह्न विदोषसे किसी बात का अनुमान करना, जैसे, रत्नावलीमें राजाकी उक्ति—

“राजा—जा मूर्ख ! व्यर्थ क्यों हँसी उड़ाता है ? न ही इस अनर्थका कारण है। प्यारीका मैंने दिन दिन आदर किया है, परतु आज वह दोष बन पडा जो पहले कभी नहीं हुआ था। उच प्रेमका पतन असह्य होता है। इससे निश्चय है, वह प्राण दे देगी।

विदूषक—वे मित्र ! रानीजी क्रोधमें आकर क्या करेंगी । तो मैं ऐसा समझता हूँ कि सागरिका जीना दुष्कर है ।”

(८) अधिबल—बोधा, जैसे, रत्नावलीमें सागरिकाको वासवदत्ता और सुसंगताका कांचनमाला वेश धारण करके आती हैं, और विदूषक बोखेमें पड़कर उन्हें राजाके पास ले जाना चाहता है, तब उसके पूर्व कांचनमाला कहती है—

“रानीजी ! यही चित्रशाला है । आप ठहरिए, मैं वसंतको संकेत करती हूँ ।”

(९) तोटक—भोषीका वचन, जैसे, रत्नावलीमें वासवदत्ता कहती है—

“उठो उठो धार्यपुत्र । अब भी बनावटी चाटुताका दुःख क्यों भोग रहे हो ? कांचनमाले ! इसे लतासे बाँधकर ले चल और इस दुर्विनीत छोकरीको भी आगे कर ले ।”

(१०) उद्देश—शत्रुका डर, जैसे, रत्नावलीमें सागरिकाका वचन—

“हा ! मुझ पापिनीको इच्छा-मृत्यु भी न मिली ।”

(११) संभ्रम—शंका और श्रम । जैसे रत्नावलीमें वसंतकृपा वचन—

“यह कौन है ? रानी वासवदत्ता ! (पुकारकर) मित्र ! बचाओ, बचाओ, देवी वासवदत्ता फौसी लगाकर मर रही हैं ।”

(१२) आक्षेप—गर्म-स्थित बीजका सप्त होना, जैसे, रत्नावलीमें राजाका कहना—

“मित्र ! देवीकी इयाके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं देख पड़ता । उसीसे हमारी आशा पूर्ण होगी । अतएव यहाँ ठहरनेसे क्या प्रयोजन निकलेना ? चलकर देवीको प्रसन्न करूँ ।”

साहित्यदंपणमें गर्म-स्थिके १३ अंग माने गए हैं । उसमें ‘आक्षेप’ अंग नहीं है । ‘संभ्रम’ के लिये ‘विद्रव’ शब्दका प्रयोग है और ‘प्राथना’ तथा ‘क्षिति’ ये दो अंग अधिक हैं । प्राथनासे रति, र्पण और उत्सवोंके लिये धर्म्यनामाका भाव है तथा क्षितिसे रक्षयका भेद छुल्लेनाका भाव है । जो लोग निर्वहण स्थिमें प्रवृत्ति नामक अंग नहीं मानते, वे गर्म-स्थिमें १३ अंग मानते हैं ।

(१३) अचमत्सय या विमर्श संधि—गर्म-स्थिकी अपेक्षा बीजका अधिक विस्तार होनेपर उसके फलोन्मूल होनेमें जब शय, क्रोध, विपत्ति या विलोमनके कारण विभ्र उपस्थित होते हैं, तब विमर्श या अचमत्सय संधि होती है । इसमें नियताति अवस्था और प्रकृति अर्थप्रवृत्ति होती है । रत्नावली नाटिकाके चौथे अंकमें, जहाँ अग्निके कारण गद्बद्ग मचती है वहाँतक यह संधि है । इसके १३ अंग माने गए हैं—

(१) अपवाद—दोषका फैलना, जैसे, सुसंगताका कहना—

“सुसंगता—देवी उसे उज्ज्विनी ले गई” यह बात फैलाकर आधी रातके समय न जाने वह बेचारी क्यों दृष्टा दी गई ।

विदूषक—(उद्देशसहित) देवीने बड़ा क्रूर काम किया । मित्र ! अन्यथा मत सोचना, निरन्धय ही देवीने उसे उज्ज्विनी भेजा है ।

राजा—देवी मुझपर अपसन्न हैं ।”

(२) सफेद—दोष-भरे वचन (स्तिषियानी बातें), जैसे, वंशी-संहारमें दुर्योधनका वचन—

“अरे भीम ! ब्रह्म राजा (धृतराष्ट्र) के सामने तु क्या अपने निन्दनीय कार्यकी प्रशंसा करता है । अरे मूर्ख ! मुन । बीच समामें राजाओंके सामने ‘सुप्त सुवनेश्वरकी आज्ञासे तब पशुकी और तेरे भाई इस पशु (धृतराष्ट्र) की और राजा (युधिष्ठिर) और उन दोनों (नकुल, सहदेव) की भाषां (द्वैपदी) के केव लींचे गए । उस वैश्वमें मल्ल एता तो सही, उन बेचारे राजाओंने क्या विगाड़ा या जिन्हें तूने मारा है । मुझको बिना जीते ही दवना घमट करता है !”

(३) विद्रव—यथ, बंधन आदि जैसे, रत्नावलीमें वाश्रवपत्ता वचन—

“राजमवनमें आग लगी है अति ही मारी । शिप्रा जा रही है इसकी अब हम-कलसके पारी । मरी धुएँ से भाव प्रमद-कानन-नतुरानी । राजल जलद श्यामलसे अङ्कुर टगा रही है माजी । मचते कातर हुईं पुसारेँ अथ सब नारी । हाहाकार मचा है महलोंमें अति मारी ॥”

(वद्र)—गुरुश्रुतोंका अपमान, जैसे, उत्तररामचरितमें लक्ष्मण वचन—

“मुद्रका स्त्रीके दमन करनेपर भी जिनका यश क्षण्डित है, खरसे लड़नेमें भी जो तीन पग पीछे न हटे, उठे ही रह गए, इन्द्र पुत्र बालिके वधमें भी त्रिन्होंने कौशल दिखाया, जानते हो, वे बडे हैं, वृद्ध हैं, उनके विषयमें कुठ न कहना ही टीक है।”

(५) शक्ति—विरोधका दमन, जैसे, रत्न वलीमें राजाका वचन—

“छलमें शपथ खाई, मधुर-वनार्द वात, हृषण भी प्यारी नहीं तनिक नरमार्द है। पौव भी पलोटे उसके बहुत बार दौड़ दौड़ और सखियोंने बहु मौति समझाई है ॥ इतीका अचमा मुझे जाता है बार बार, हृषण भी तनिक नहीं प्यारी पतिवार्द है। पीछे निज शौंगोंके शौंनुओंसे आप धा, मनकी सब ग्लानी प्यारी आप ही बहाई है।”

[६] वृत्ति—तर्जन और उद्बेजन (डाटना-पटकारना) जैसे, वेणीसहारमें दुर्पोषणके प्रति भीमकी उक्ति—
“धरे नरपशु ! तू अपना जन्म चद्रवधमें बताता है और अन्न भी गदा धारण करता है। दुःशासनकी रुधिर-मदिराके पानसे मत्त मुझको अपना शत्रु कहता है, अभिमान से अथा होकर भगवान् विष्णुके प्रति भी अनुचित व्यवहार करता है और इस समय मेरे टरके मारे लड़ाईसे भागकर यहाँ कीचमें छिपा पड़ा है।”

[७] प्रसंग—गुरुश्रुतोंका वीचन, जैसे रत्नावलीमें वसुमतिकका वचन—

“महामान्य सिंहलपतिने महाराजको जो रत्नावली नामकी कन्या दी उसके विषयमें एक सिद्ध पुद्गलने कहा था कि जो इस कन्याका वर होगा वही चक्रवर्ती राजा होगा। सिंहलनरेशने अपनी रत्नावली आपको देनेके लिये हमारे साथ कर दी थी।”

[८] छलन—अभमान, जैसे रत्नावलीमें राजाका वचन—
“शय ! देखिने मेरी बात तनिक भी न मानी।”

[९] व्यवसाय—अपनी शक्तिका वयन, जैसे रत्नावलीमें ऐन्द्रनालिककी उक्ति—

“चद्र सँच धरतीपर लाजें । उठा अचल आकाश चढाजें ॥ वहिए जलमें आग लगाजें । दिनमें आधी रात दिखाजें । बात अधिक क्या भला बढाजें । गुरु प्रतापसे सभी दिखाजें ।

[१०] विरोधन—कार्यमें विघ्नका शपन जैसे वेणी-सहारमें युधिष्ठिरकी यह उक्ति—

‘हम लोगोंने भीष्मरूपी महासागर पार कर लिया, द्रोणरूपी भयानक अग्नि जैसे तेरे श्वात कर दी, कर्णरूपी विषण भी मार टाला, शत्रु भी स्वर्ग चला गया। अब विजय थोड़ी ही शेष रही थी कि साहसी भीमने अपनी बातसे हम सर्गके प्राण सदायमें डाल दिए।”

[११] प्ररोधन—मावी अर्थ सिद्धिकी सूचना अर्थात् सफलताने लक्षण देखकर भविष्यका अनुमान, जैसे वेणी सहारमें—

“अब सदेहके लिये ग्यान ही कहाँ है। हे युधिष्ठिर। आपके राज्याभिकके लिये रत्न-मल्लभ भरे जायें, द्रौपदी बहुत दिनोंसे छोडे हुए धामने केश-गुणनका उत्सव करे, अत्रियोंके उच्छेदक परशुराम और मोघाप भीमके वणमें पहुँचनेपर फिर विजयमें सदेह ही क्या है !”

[१२] विचलन—वहवना या सीटना जैसे रत्नावली-में योगधरायणकी यह उक्ति—

“(खगत) रानीके मरनेकी श्ठी खर उड़ाई और रत्नावली प्राप्त की। रानी राजाको अन्य स्त्रीमें आसक्त देखकर दुःखित हुई। यत्रपि यह सब स्वामीके हितके लिये किया तथापि लज्जसे सिर नहीं उठा सकता।”

[१३] आदान—कार्यका समर्थ अर्थात् अपने अर्थका शपन जैसे रत्नावलीमें सागरिकाकी यह उक्ति—

“मेरे भाग्यसे चारों ओर आग भड़क उठी है। इसीसे आज सब दुःख दूर हो जायगा।”

(८) निर्वहण सधि—इसमें प्रधान प्रयोजनकी सिद्धिके लिये समारार हो जाता है। पूर्व-कथित चारों सधियोंमें यथार्थान वर्णित अर्थोंका और मुख्य फलकी प्राप्ति भी हो जाती है। इसमें फलागम अवस्था और कार्य अर्थात् प्रकृति आती है। रत्न वली नाटिकामें विमर्श सधिके अतसे लेकर चौथे अक्षकी समाप्ति तक यह सधि होती है। इसके १४ अंग माने गए हैं—

(१) सधि—बीजका आगमन (उद्गावन) अर्थात् छेड़ना, जैसे, रत्नावलीमें वसुभूतिका यह कहना—

“वाध्रव्य ! यह तो राजपुत्रीसी लगती है ।”

“वाध्रव्य—मुझे भी ऐसी ही जान पड़ती है ।”

(२) विबोध—कार्यका अनुसंधान या जाँच, जैसे, रत्नावलीमें—

“वसुभूति—यह कन्या कहाँसे आई ?

राजा—महारानी जानती हूँ ।

वासवदत्ता—आर्यपुत्र ! यौगंधरायणने यह कहकर कि यह सागरसे प्राप्त हुई है, मुझे इसे सौंपा था । इसीलिये इसे सागरिका कहकर पुकारा गया है ।

राजा—(स्वगत) यौगंधरायणने सौंपा था । मुझसे बिना कहे हुए उसने ऐसा क्यों किया !”

(३) ग्रथन—ग्रथका उपश्लेष, चर्चा या वार्त्ता । रत्नावलीमें यौगंधरायणकी उक्ति—

“देव ! मैंने जो यह काम आपसे बिना कहे हुए किया, इसे आप क्षमा करें ।”

(४) निर्णय—अनुमति-ग्रथन, जैसे, रत्नावलीमें यौगंधरायणका कथन—

“(हाथ जोड़कर) देव ! मुनिए । सिंहलेश्वरकी कन्या इस रत्नावलीके विषयमें एक सिद्ध पुरुषने कहा था कि जो इसे न्याहेगा, वह चक्रवर्ती राजा होगा । उस विस्वासपर मैंने यह कन्या आपके लिये माँगी । रानी वासवदत्ताके मनमें दुःख होनेके विचारसे सिंहलेश्वरने कन्या देना आवीकार किया । तब मैंने सिंहलेश्वरके पास वाध्रव्यको भेजकर यह कहलाया कि रानी वासवदत्ता आगमें जल गई हूँ ।”

(५) परिभाषण—एक दूसरेको कह सुनाना, जैसे, रत्नावलीमें—

“रत्नावली—(स्वगत) मैंने महारानीका अपराध किया है । अब मुँह दिखानेको जी नहीं चाहता ।

वासवदत्ता—(हाथ फैलाकर) आ, अरी निष्ठुर ! अब तो बंधुनेह दिखा । (राजासे) आर्यपुत्र ! मुझे अपनी निष्ठुरतापर बड़ी लज्जा आती है । आप जल्दी इसका कथन खोल दें ।

राजा—(प्रसन्न होकर) जैसी देवीकी आज्ञा ।

वासवदत्ता—(वसुभूतिसे) मत्री ! यौगंधरायणके कारण ही मैं इतने दिनोंतक रत्नावलीके लिये बुरी बनी रही हूँ ।

उन्होंने जान बूझकर भी कोई समान्तर मुझसे नहीं कहा ।”

(६) प्रसाद—सुगंधपासना अर्थात् कुल कह या करके प्रसन्न करना, जैसे रत्नावलीमें यौगंधरायणका वचन—

“महाराज ! आपसे न कहकर मैंने जो किया है, उसके लिये मुझे क्षमा करें ।”

(७) आनंद—वांछिताति या अभिलषित अर्थकी प्राप्ति, जैसे, रत्नावलीमें वासवदत्ताके प्रति राजाका वचन—

“देवी, आपके अनुग्रहका वीन न आदर करे । (रत्नावलीको प्रहण करता है ।)”

(८) समय—दुःखका निर्णय या दूर होना, जैसे रत्नावलीमें वासवदत्ताका वचन—

“बहन ! धीरज धर, चेत कर ।”

(९) कृति—लब्धाथका निश्चय अर्थात् लब्ध अर्थके द्वारा शोक आदिका शमन अथवा शोकादिसे उत्तर अस्तिप्रताका निवारण, जैसे रत्नावलीमें राजाका यह कहना—

“देवी ! आपके अनुग्रहका वीन न आदर करोगा ।

वासवदत्ता—आर्यपुत्र ! रत्नावलीके माता-पिता, बंधु-बंधव सब दूर देशमें हैं । आप ऐसा करें जिसमें यह उन्हें स्मरण करके उदास न हो ।”

(१०) भाषण—प्रतिष्ठा, मान, यश आदिकी प्राप्ति अथवा साम-दाम आदि, जैसे, रत्नावलीमें राजाकी उक्ति—

“विक्रम बाहुसे पाया सगा, भूसारकी सागरिका मैं पाई । भूमि ससागर पाई, मिली महारानी सहोदरसे हरपार । जीता है कोशल देश, फिरी चहुँ ओरको आज हमारी दुहार । आपसे योग मिली पुनि आज रही कहो कैवी तनेह कचार्द ।”

(११-१२) पूर्व भाव और उपगूहन—कार्यका दर्शन और अद्भुत वस्तुकी प्राप्ति या अनुभव, जैसे, रत्नावलीमें—

“यौगंधरायण—(हँसकर) रानीजी, आपने अपनी छोटी बहनको पहचान लिया । अब जैसा उचित समझें करें ।”

“वासवदत्ता—(मुस्कराकर) मंत्रीजी, शय ही कह दो न कि रत्नावली महाराजको दे दो ।”

(१३) काव्यसंहार—चरदान-प्राप्ति, जैसे, राजकुंता नाटकमें कव्यका वचन—

“भर्त्ता तेरा इन्द्र सम, सुत बंधत उपमान । और मला वर क्या तुझे, तू हो शची समान ।”

[१४] प्रशस्ति—आधीर्वाद, जैसे, रत्नावलीमें—

‘देवोंका पति इन्द्र कर बरसा मनभाई ॥
भूमि रहे सुन्दर धानति निशि दिन छाई ॥
विप्र करें जब होम तोष हों सन देवोंका ।
रहे प्रलय पर्यंत सदा समग सज्जनका ॥
बनलेप सम खलोंके दुर्जय भौ दुग्धह वचन ।
लोग पाप मिट जायें यत्र शेषपूर्वउनका शसन ॥”

संध्यंतर

कुछ शास्त्रकारोंका मत है कि संधियोंके अंतर्गत उप-संधियों, अंतःसंधियों या सध्यंतर भी होते हैं। इनका उद्देश्य भी व्यापार-श्रुतलाकी विधिलताको दूर रखकर उसे नम्रकर करना और चमत्कार लाना होता है। ये अंतःसंधियाँ २१ मतवाड़े गई हैं। यथा— [१] साम— अपनी अनुवृत्ति प्रकथित करनेवाला भिव नाक्य । [२] दान— अपने प्रतिनिधि स्वरूप भूषणादिका समर्पण । [३] भेद— करण वचनों द्वारा सुहृदोंमें भेद डालना । [४] दंड— अविनयको सुन या देखकर डाटना । [५] प्रत्युत्तरमति । [६] वध— दुःखना दमन । [७] गोत्रसंश्लिष्ट— नामका व्यतिक्रम । [८] वीज— स्वयत्तिके सूत्रक वचन । [९] धी— श्लोक सिद्ध न हो जानेतक चिन्ता । [१०] क्लेश । [११] साहस । [१२] माया । [१४] सद्बुद्धि— अपने कथनको छिपाना । [१५] आति । [१६] दौष । [१७] देववपारण— किसी हेतुसे कोई निश्चय । [१८] स्वप्न । [१९] लेख । [२०] मद । [२१] चिन । इनमेंसे स्वप्न, लेख और चित्र आदिका उपयोग प्रायः देखनेमें आता है।

संध्यंगों और संध्यंतरों का उद्देश्य

इस प्रकार पाँच संधियोंके ६४ अंग और २१ सध्यंतर हुए। इनका प्रयोग ६ निमित्तोंसे होता है—(१) दृश्यान्-जैसी रचना करनी हो, उसे पूरा करनेके लिये, (२) गौण्य गोपन—जिस बातको गुप्त रखना हो, उसे छिपानेके लिये, (३) प्रकाशन—जिस बातको प्रकट करना हो, उसे स्पष्ट करनेके लिये, (४) राग—सर्पोंको संचार करनेके लिये, (५) आश्चर्य प्रयोग—चमत्कार लानेके लिये, और (६) वृत्ततया अनुपस—कथानो णा निस्तार देनेके लिये जिससे उसमें खोर्गोंकी कृति बनी रहे। इन्होंने छः बातोंको

लानेके लिये इन ६४ सध्यंगोंका आवश्यकताके अनुसार प्रयोग होना चाहिए। तात्पर्य यह है कि दृश्य-काव्य रच नामें संधियों और उनके अंग रक्ष प्रकर रक्ते जायें जितसे इन छः उद्देश्योंकी सिद्धि हो।

साहित्य-दर्पणकारका कहना है कि जैसे अगहीन मनुष्य कोई काम करनेके अवसर होता है, वैसे ही अगहीन काव्य भी प्रयोगके योग्य नहीं होता। संधिके अंगोंका सपा-दन नायक या प्रतिनायकको करना चाहिए। उनके अभा धमें पताका नायक इत्ते करे। वह भी न हो तो कोई दूसरा ही करे। संधिके अंग प्रायः प्रधान पुरुषोंके द्वारा प्रयोग करनेके योग्य होते हैं। उपश्लेष, परिभ्र और परिस्थाय अंगों (मुख संधि) में बीजमूल अर्थ बहुत थोड़ा रहता है। अतएव उनका प्रयोग अग्रधान पुरुषोंके द्वारा हो सकता है। इन अंगोंका प्रयोग रसाभिव्यक्तिके निमित्त होना चाहिए, केवल शास्त्र-पद्धतिस अनुसरण करनेके लिये नहीं। जो वृत्तान्त इतिहास-प्रसिद्ध होनेपर भी रसाभिव्यक्तिके अभावशक्त या भ्रष्टकूल होते हैं, उन्हें पूर्णतः छोड़ देना या बदल देना चाहिए। मुख्य बात इतनी ही है कि प्रतिभा-यान्त कवि रसाभिव्यक्तिके लिये अंगोंका प्रयोग करे, केवल शास्त्रके नियमोंका पालन करने अथवा इतिहासानुमोदित बातोंको कहनेके लिये न करे।

उपर अर्थ प्रवृत्तियों, अवस्थाओं और संधियोंका वर्णन हो चुका। यह बात ध्यानमें रखनी चाहिए कि यद्यपि इनका प्रयोग भिन्न भिन्न विचारोंसे किया जाता है, तथापि तैनोंके पाँच पाँच भेद होते हैं और एक एक दूसरेके उदाहरण या अनुपस होते हैं। यद्यपि तत्त्वार्थ अर्थ प्रवृत्तियों, कथं व्यापारों अवस्थाओं और रूपरचनाके विभागोंसे संधियाँ संचय रखती हैं। इन बातोंका स्पष्टीकरण नीचे लिखी शरिणांसे हो जायगा—

कस्तु-तत्त्व या अर्थ प्रवृत्ति कार्य व्यापारको अवस्था संधि

(१) धीज	(२) आरभ	(३) सुख
(४) विदु	(५) प्रयत्न	(६) प्रतिदुल
(७) पताका	(८) प्रायश्चारा	(९) गर्भ
(१०) प्रक्री	(११) नियताधि	(१२) विमर्श
(१३) कार्य	(१४) पञ्चगम	(१५) निर्वर्द्धय

अंक

ऐसी बातें, जो दृश्य वस्तुके अंतर्गत आ सकती हैं, अंकोंमें दिखानी चाहियें, पर इस बातका ध्यान रखना चाहिए कि उसमें एक दिनसे अधिककी घटनाओंका समावेश न हो। यदि यह न हो सक्ता हो, तो उन्हें इस प्रकारसे संक्षिप्त करना चाहिए कि वे पाठ्यके सौष्ठवका नष्ट न कर सकें। साथ ही अंकोंको असंबद्ध न होने देना चाहिए। रचना इस प्रकार करनी चाहिए कि एक घटना दूसरी घटनासे साधारणतः निकलती हुई जान पड़े। अंकोंमें वस्तु-विन्यास सम्पू्ण रीतिसे होना चाहिए। जहाँ कहीं किसी अंक में किसी कार्यकी समाप्ति अथवा किसी फलकी प्राप्ति होती जान पड़े, वहाँ कोई बात ऐसी ब्याजानी चाहिए जो कार्य-व्यापारको अग्रसर करे। परंतु यह आवश्यक नहीं है और न ऐसा प्रायः देखनेमें ही आता है कि एक अंकके अनन्तर दूसरा अंक आ जाय और दोनोंमें जिन घटनाओंका वर्णन हो उनके बीचके समयकी घटनाओंका उल्लेख ही न हो। प्रायः दो अंकोंके बीचमें एक वर्ष तकका समय अतार्हंत रहता है। यदि इससे अधिकका समय इतिहासानुमोदित हो तो नाटककारको उसे घटाकर एक वर्ष या उससे कमका कर देना चाहिए। सामाजिकोंको इस अंतर्की सूचना देनेके लिये साक्षरोंके पाँच प्रकारके दृश्योंका विधान किया है—जिन्हें अर्थोपक्षेपक करते हैं।

अर्थोपक्षेपक

अर्थोपक्षेपकके द्वारा वे बातें भी प्रकट की जाती हैं जो सूक्ष्म वस्तुओंमें गिनी जाती हैं और जिनका अभिनय करके दिखाना शास्त्रानुमोदित नहीं है। ये पाँचों अर्थोपक्षेपक इस प्रकार हैं—

(१) विष्कम्भक—जो कथा पहले हो चुकी हो अथवा जो अभी होनेवाली हो उसकी दृश्यों में मध्यम पात्रोंके द्वारा सूचना दी जाती है या उसका संक्षिप्त वर्णन किया जाता है। यह दो प्रकारका होता है—शुद्ध और संकर। जब एक अथवा अनेक मध्यम पात्र इसना प्रयोग करते हैं तब शुद्ध कहलाता है, और जब मध्यम तथा नीच पात्रोंके द्वारा इसका प्रयोग होता है, तब यह संकर कहा जाता है। शुद्ध विष्कम्भकमें मध्यम पात्रोंका भाषण या वार्तालाप यष्टृतमें और संकीर्ण

विष्कम्भकमें मध्यम तथा नीच पात्रोंका प्राकृतमें होता है। शुद्धका उदाहरण मातृती-भाषणके पंचम अंकमें कपाल-कुटला कृत प्रयोग और सरीशका रामाभिनन्दमें धारणक और कापालिक-कृत प्रयोग है। नाटकमें केवल इसी अर्थोपक्षेपकका प्रयोग ही सकता है।

(२) प्रवेशक—इसमें भी बीती हुई या आगे होने वाली बातोंकी सूचना नीच पात्रों द्वारा दी जाती है। यह दो अंकोंके बीचमें आता है, अतएव पहले अंकमें नहीं हो सकता। जो बातें छूट जाती हैं या टोड़ दी जाती हैं, उन्हींकी सूचना इसके द्वारा दी जाती है। इसमें पात्रोंकी भाषा उत्कृष्ट नहीं होती। जैसे वेणी सटारके चौथे अंकमें दो राक्षसोंकी बातचीत है। शकुंतला नाटकमें विष्कम्भक और प्रवेशक दोनोंके उदाहरण हैं। तीसरे अंकके अरंभमें विष्कम्भकद्वारा कृष्ण श्लेषिका एक शिष्य आने आश्रममें राजा दुष्यतेके दृष्टनेकी सूचना सरसूत्रमें देता है और चौथे अंकके प्रवेशकमें मद्युए और तिराहियोंकी बातचीत है।

(३) चूलिका—नेपथ्यसे किसी रहस्यकी सूचना देना चूलिका है। जैसे महावीरचरितमें यह सूचना दी जाती है कि रामने परशुपामके शीत लिया। रमंगंव-मुषा-कर्ममें 'रत चूलिका' का भी उल्लेख है, जिसमें एक अन्कका रमगचपर स्थित एक पात्र नेत्रधर्म स्थित दूसरे पात्रसे आरभमें बात करता है, जैसे, बाल-रामायणके सातवें अंकमें।

(४) अज्ञापक—इसमें एक अंकके अंतमें उसके आगे-के अंकमें होनेवाली बातोंके आरम्भकी सूचना पात्रोंद्वारा दी जाती है। जैसे महावीरचरितके दूसरे अंकके अंतमें वसिष्ठ, विश्वामित्र और परशुमन्क आनेकी सूचना सुभष देता है और तीसरे अंकका आरभ इन्हीं तीनों पात्रोंके प्रवेशसे होता है।

(५) अज्ञावतार—इसमें एक अंककी कथा दूसरे अंकमें बराबर चलती रहती है, केवल अंकके अंतमें पात्र बाहर जाकर अगले अंकके आरम्भमें पुनः आ जाते हैं। जैसे मालविकाग्निमित्रके पहले अंकके अंत और दूसरे अंकके आरम्भमें सूत्रका प्रयोग देख पड़ता है।

अज्ञाव और अज्ञावतारमें इनना ही भेद है कि अज्ञावमें तो आगेके अंककी बातोंकी सूचना मात्र दी जाती है और अज्ञावतारमें पूर्व अंकके पात्र अगले अंकमें पुनः आकर उसी कथ-व्यापारको अग्रसर करते हैं। उदाहरण

दर्पणकारने अकावतारका ऐसा लक्षण लिखा है जो अकास्य-के लक्षणसे बहुत कुछ मिलता है। अतः उनको इन दोनों में भ्रम हो जानेकी आशंका हुई। इसीसे उन्होंने अकास्यके स्थानपर अक्षमुख नामका एक भिन्न अर्थोक्षेपक मानकर उसकी व्याख्या इस प्रकार की है—

यन स्यादाङ्क एकस्मिन्नङ्काना सूचनाखिला ।

तदङ्कमुखमित्याहुर्वाजाभख्यापक च तत् ॥

[जहाँ एक ही अक्षमें सब अक्षोंकी अविकल सूचना दी जाय और जो नीचभूत अर्थका सूचक हो उसे अक्ष मुख कहते हैं।] जैसे मालतीमाधवके पहले अक्षके आरम्भमें कामदकी और अबलोकिताने भविष्यकी सब बातों की सूचना दे दी है। इससे स्पष्ट है कि अक्षाय और अक्ष-मुखमें इतना ही भेद है कि अक्षायमें केवल आगेके अक्ष की कथा सूचित की जाती है और अक्षमुखमें संपूर्ण नाटककी। इस प्रकार इन पाँचों अर्थोक्षेपकों-द्वारा सूच्य विषयों की सूचना दी जाती है।]

सभी नाट्यशास्त्रके आचार्योंने कथानक या वस्तुके विन्यासका विवरण इसी प्रकार दिया है। किन्तु वस्तुके अधिक रिक्त और प्रासंगिक दो प्रकारका बतलाकर उन लोगों-ने मौलिक मूल की है। वास्तवमें कथावस्तु या इतिवृत्त एक ही होता है। उन्होंने आधिकारिक और प्रासङ्गिक (पताका और प्रकरी)के नामसे जो भेद किए हैं वे वास्तवमें इतिवृत्तके अङ्ग हैं, प्रकार नहीं। प्रत्येक कथानकमें कुछ मूल कथा होती है और कुछ ऐसी घटनाएँ होनी हैं जो उस कथानके पुष्ट करनेमें योग देती हैं। ये सब कथाको पुष्ट करनेवाले प्रसंग या तो नाट्यनयकके चरित्रविश्राममें योग देते हैं या कथाके प्रसारमें सहायता पहुँचाते हैं, किन्तु उन्हें इतिवृत्त या कथावस्तुका प्रकार नहीं माना जा सकता। इसी प्रकारकी भूल वहाँ भी की गई है जहाँ सवादके भेदोंको अर्थात् श्राव्य, अश्राव्य और नियतश्राव्यको भी नाटकीय वस्तुका भेद मान लिया गया—

"नःव्यधर्ममपश्यैतपुनर्वस्तु विषेऽप्यते ।

सर्वेषा नियतरस्यैव श्राव्यमश्राव्यमेव च ॥

श्राव्य, अश्राव्य और नियतश्राव्यके विषयमें हम पीछे भी कह चुके हैं और आगे सवादके प्रसङ्गमें भी विस्तारसे व्याख्या करेंगे।

भारतीय नाट्याचार्योंने अर्थप्रवृत्ति, अवस्था और सधिका व्यवस्था करके अत्यन्त सूक्ष्म विवेचनाके साथ नाट्य-वस्तुकी रचनाका ढग विस्तारसे बताया है और यह भी आदेश दिया है कि किस क्रमसे और किस कौशल से और किस प्रकारके वाक्यप्रयोगके द्वारा वस्तुका विन्यस करना चाहिए और नाट्यकथाकी रचना करनी चाहिए। इतनेसे ही सतृष्ट न होकर उन्होंने सध्यगो और सध्यन्तरे-की विस्तृत योजना बताई है जिसके अनुसार कोई भी नाटककार अपनी नाट्य कथाको सुन्दर और सुदौल बना सकता है।

अरस्तूने इतिवृत्तकी रचनामें यह विधान किया है—

"अथ हम् इतिवृत्तकी उचित बनावट अर्थात् गठनपर विचार करेंगे क्योंकि नाटकका यही प्रथम तथा सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अंग है।

"अथ हमारी परिभाषाके अनुसार प्रकृत उस कार्यका अनुकरण है जो पूर्ण हो तथा एक निश्चित परिमाणका हो क्योंकि सर्वांगपूर्ण कार्य ऐसा भी ही सकता है जिसका कुछ भी विस्तार न हो।

"सर्वाङ्गपूर्ण उसे कहते हैं जिसमें प्रारम्भ हो, मध्य हो और अन्त हो। प्रारम्भ उसे कहते हैं जो स्वतः किसी आरम्भ रूपसे किसी वस्तुका अनुगमन न करे वरन् उसके पीछे स्वभावतः ही। कोई घटना होती हो। अन्त उसको कहते हैं जो स्वभावतः किसी घटनाका अनुगमन करे चाहे वह आवश्यकताके कारण हो या नियमतः हो और उसके पीछे कुछ शेष न हो। मध्य उसे कहते हैं जो स्वभावतः किसी घटनाके पीछे आता हो और जिसके पीछे भी कोई घटना हो। अतः अच्छी प्रकारसे बना हुआ इतिवृत्त रचयिताकी स्वेच्छा मानसे ही न तो अचानक आरम्भ होना चाहिए और न समाप्त ही, वरन् उसे इन उपर्युक्त सिद्धान्तोंका अनुकरण करना चाहिए।

"फिर एक सुन्दर पदार्थमें चाहे वह जीवधारी हो अथवा कई भागोंकी बनी हुई सर्वाङ्गसुन्दर वस्तु हो, यही आवश्यक नहीं है कि उसके विभिन्न भागोंकी एक क्रमिक सजावट हो, वरन् उसका एक निश्चित परिमाण भी होना चाहिए क्योंकि सुन्दरता भी परिमाण और क्रमपर अवलम्बित है। अतः एक अत्यन्त सूक्ष्म जाननरका द्वारा सुन्दर नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसका स्वरूप अल्प

होता है और वह इतना शीघ्र दिखाई पड़ जाता है कि विभिन्न अंगोंका समीक्षण नहीं किया जा सकता। फिर एक अत्यन्त बड़े आकारका पदार्थ भी सुन्दर नहीं हो सकता, क्योंकि नेत्र उसे पूर्ण रूपसे एक साथ नहीं देख सकते और दूरानेके लिये पूर्णता और सर्वाङ्गताका भाव नष्ट हो जाता है जैसे किसी मीलों लम्बे जानवरको देखा हो। अतः जैसे जानवरों और अन्य वस्तुओंके लिये एक ऐसे निश्चित परिमाणकी आवश्यकता है जो आँखोंके द्वारा पूर्ण रूपसे ग्राह्य हो सके वैसे ही वस्तुमें भी एक ऐसा निश्चित परिमाण अपेक्षित है जो कि सरलतासे स्मरण रखना जा सके। नाटकीय प्रतियोगिता और दर्शकोंकी दृष्टिसे परिमाणकी क्या सीमा हो इसका वाचकलसे कोई सम्बन्ध नहीं है क्योंकि यदि ही त्रासदर्शकी एक साथ प्रतियोगिता करनेका विधान हो तो इस प्रयोगका नियन्त्रण जल-पड़विसे ही किया जाता है, जैसा कि हमें पता लगा है, पहले हुआ करता था। किन्तु स्वतः नाटककी प्रकृतिके ही अनुसार यदि हम निश्चित करें तो परिमाणकी दृष्टिसे बड़ी इतिवृत्त अधिक सुन्दर होगा जो पूराका पूरा भली प्रकार समझमें आ सके। मोटे तौरसे यदि इस विषयको समझावें तो हम कह सकते हैं कि उचित परिमाण वहैतिक परिमित है जहाँतक सम्भावना और आवश्यकताके नियमके अनुसार घटनाओंके क्रममें दुर्भाग्यका सौभाग्यमें अथा-सौभाग्यका दुर्भाग्यमें परिवर्तन आ जाय।

“किसी इतिवृत्तमें एक नायकका वर्णन होनेसे कोई इतिवृत्त एक नहीं कहा जा सकता जैसा कि कुछ लोगोंका विचार है। इसका कारण यह है कि एक ही मनुष्यके जीवनमें अनन्त विभिन्न घटनाएँ होती हैं जिनको संकलित करके एक नहीं बनाया जा सकता। इसी प्रकार एक ही मनुष्यके द्वारा बहुतसे चरित हो सकते हैं जिनको संकलित करके एक संगत कार्य नहीं बन सकता। इसीलिये प्रत्यक्षतः भिन्न कवियोंने हेराक्लेइद्, येसेइद्, अथवा उसी प्रकारके काव्य बनाए हैं उन्होंने भूल की है क्योंकि हेराक्लेइड एकही मनुष्य था अतः उन्होंने अनुमान कर लिया कि हेराक्लेइडकी जीवन-कथा भी एक ही वस्तु होगी। किन्तु जान पड़ता है कि सर्वश्रेष्ठ गुणी हेमेरस् (होमर) ने चाहे कलाके कारण अथवा प्राकृतिक प्रतिभासे इस बातको समझ लिया था,। अदृष्टियाँकी रचना करनेमें उसने वीर अदस्त्यके जीवनकी सभी घटनाओंको सम्मिलित नहीं किया

जैसे पर्वतसम्पर उसका चोट खाना तथा यूनानी सेनाको एकत्र देखकर उसका बनावटी पागलपन इत्यादि, क्योंकि इन घटनाओंमें परस्पर आवश्यक या संभव कोई संघ नहीं था। किन्तु उसने अदृष्टियाँ तथा इल्लिथाद् दोनोंको केवल एक ही कार्यके चारों ओर केंद्रित रक्खा और ऐसी ही घटनाओंका समावेश किया है जो एक ही कार्यसे संबद्ध हो।

“अतः जैसे अन्य अनुकरणात्मक कलाओंमें एक ही अनुकरणीय वस्तुओंके एक ही होनेपर अनुकरण भी एक ही होता है वैसे ही इतिवृत्त भी एक व्यापारका अनुकरण होनेके कारण एक ही पूर्ण कार्यका अनुकरण होना चाहिए। उसके अंग परस्पर ऐसे सुँये हों कि यदि उनमेंसे एक भी स्थान-व्युत् हो जाय या निकाल दिया जाय तो वह पूराका पूरा असम्बद्ध और असंगत हो जाय क्योंकि जिस वस्तुके रहने या न रहनेसे कोई प्रत्यक्ष अन्तर नहीं होता वह सपूर्ण पदार्थका आवश्यक अंग हो ही नहीं सकता।

“ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे स्पष्ट है कि कविका यह काम नहीं है कि वह वास्तविक घटनाओंका वर्णन करे वरन् उन घटनाओंका वर्णन करे जो सम्भवतः हुई होतीं अथवा सम्भावना और आवश्यकताके नियमके अनुसार जो संभाव्य हों।

किन्तु त्रासदकार तो अभीतक वास्तविक नाम ही रखते हैं वह इसलिये कि जो कुछ सम्भव है वह विश्वसनीय भी है। जो कुछ अवतक नहीं हुआ उसके लिये हमें एक-दम निश्चय नहीं होता कि यह सम्भव है। किन्तु जो कुछ हो चुका है वह तो प्रत्यक्ष सम्भव है नहीं तो वह हो नहीं सकता था। फिर भी अवतक कुछ ऐसे त्रासद हैं जिनमें कुछ एक या दो तो प्रसिद्ध नाम हैं, शेष सब कल्पित हैं। कुछ में तो एक भी प्रसिद्ध नाम नहीं है—जैसे अगमोनके अथेथस् नामक अ सदमें जहाँ घटनाएँ और नाम सभी कल्पित हैं फिर भी उनमें कुछ कम आनन्द नहीं मिलता। अतः कविको त्रासदके शत तथा निश्चित विषयोंतक ही सदा परिमित नहीं रहना चाहिए। सब पूछा जाय तो ऐसा बघन हास्यास्पद होगा क्योंकि जो विषय ज्ञात भी हैं उन्हें यद्यपि बहुत ही कम लोग जानते हैं फिर भी उनसे सब लोगोंको समान आनन्द मिलता है।

“वापारण इतिवृत्तों और व्यापारोंमें प्रार्थगिक इतिवृत्त सबसे बुरे होते हैं। प्रार्थगिक इतिवृत्त, मैं उसे कहता हूँ

जिसमें सभावना और आवश्यकताके भ्रमके बिना ही कथानक और व्यापार एक दूसरेके पीछे आते हैं। इस दोषके कारण जोड़े कर्त्रियाँकी पोल खुल जाती है। क्योंकि उनमें कुञ्चलताका अभाव रहता है और श्रेष्ठ कवि नगोंको प्रसन्न करनेके लिये ही ऐसी रचनाएँ करते हैं क्योंकि जन वे प्रतियोगिताओंके लिये अभिनयात्मक नाटक लिखते हैं तो वे इतिवृत्तको उसकी परिधिसे बाहर लाँच ले जाते हैं और उन्हें विवश हानर प्रायः स्वाभाविक भ्रमको तोड़ देना पड़ता है।

पर नासद केवल पूर्ण व्यापारका अनुकरण ही नहीं है। वह ऐसी घटनाओंका भी अनुकरण है जो भय और वरुणा का संचार करें। ऐसा प्रभाव सर्वश्रेष्ठ रीतिसे तभी उत्पन्न किया जा सकता है जब हमारे समुदाय ऐसी घटनाएँ हों जो केवल आकस्मिक ही नहीं बरन् एक दूसरेके सर्वांकित परिणाम स्वरूप हों। इस प्रकार उनमें स्वतः तथा दैवयोग से उत्पन्न घटनाओंकी अपेक्षा बहुत अधिक नासात्मक आश्चर्य होगा, क्योंकि घटना सयोग तभी आवश्यक होता है जब उनमें किसी विलक्षणताका समावेश हो। हम यहाँ आरगोस नगरमें स्थापित मितुसरी मूर्तिना उदाहरण दे सकते हैं जो अपने हत्यारेके ऊपर उस समय गिरी और उसे मार डाला जब वह एक उत्सव देख रहा था। ऐसी घटनाएँ केवल दैवयोगके कारण होती नहीं जान पड़ती। अतः इन सिद्धान्तोंके आधारपर चर्चे हुए इतिवृत्त अत्यन्त ही श्रेष्ठ होते हैं।

इतिवृत्त दो प्रकारके होते हैं—साधारण और गूढ। क्योंकि इतिवृत्त द्वारा जिन व्यापारोंका अनुकरण किया जाता है उनमें भी प्रत्यक्ष वे ही दो भेद दिखाई पड़ते हैं। जो व्यापार पूर्व-स्थित सिद्धान्तके अनुकूल पूर्ण एक और सज्ज होय उस समय साधारण कहलाता है जब उसमें परिवर्तन और अभिज्ञानके बिना ही निर्वहण (फल लाभ) हो जाता हो।

गूढ व्यापार वह है जिसमें परिवर्तन या अभिज्ञान अथवा दोनोंके सयोगसे निर्वहण होता हो। परिवर्तन और अभिज्ञान अपना दोनों ही इतिवृत्तके भीतर ढँचिये इस प्रकार प्रकट हों कि जो कुछ अगे जाने वाला है वह धीरे धीरे कार्यका आवश्यक अथवा सम्भाव्य परिणाम हो। क्योंकि इसमें बड़ा अन्तर पड़ जाता है कि कोई घटना

अमुक घटनाके फलस्वरूप हुई है अथवा केवल उसके पीछे हुई है।

व्यापारकी परिस्थितियाँसे जिस परिणामकी आशाकी जाती हो उससे उपयुक्त सभ्यता तथा आवश्यकताके नियमसे अनुसार यदि व्यापार नितान्त विपरीत दिशामें चलने लगे तो उस दिशाको स्थितिपरिवर्तन (परिपताया) कहते हैं। उदाहरणार्थ ऐदीपउस नँ ऐदीपउसको प्रसन्न करनेके लिये तथा उसकी माताके विषयमें उसकी शक्का दूर करने दूत आता है, किन्तु अब वह उसकी उत्तरचिन्ता रहस्य प्रसन्न करता है तो उसका प्रभाव उसकी इच्छाके विरुद्ध विपरीत पड़ता है। 'छूठउस त्रासदमँ ट कउस वधके लिये ले जाया जाता है और दनउस उसका वध करनेके लिये उससे साथ जाता है किन्तु घटनाओंका ऐसा विचित्र परिणाम होता है कि दनउस मारा जाता है और ट कउस मच जाता है।

अभिज्ञान जैसा कि शब्दसे ही स्पष्ट है अज्ञातसे ज्ञात में परिवर्तित होनेको कहते हैं और वह उन पुरुषोंके बीच प्रेम या घृणा उत्पन्न करता है जिनको कवि अच्छे या बुरे भाग्यवाला मानना चाहता है। सर्वोत्कृष्ट अभिज्ञान स्थिति परिवर्तनके साथ ही घणित होता है जैसा कि ऐदीपउसमें है। इसके और भी गूढतसे रूप होते हैं। अत्यन्त निम्न श्रेणीकी निर्जाँव व तुएँ भी इस प्रकारसे अभिज्ञानका आधार हो सकती है। फिर हम यह बात पहचान या खोजकर निकल सकते हैं कि अमुक मनुष्यने वह कार्य किया है या नहीं किन्तु जिस अभिज्ञान इतिवृत्त और कथसे अत्यन्त निकट संपर्क है वह जैसा कि हम कह चुके हैं मनुष्योंका ही अभिज्ञान होता है। यह अभिज्ञान इतिवृत्तसे मिलकर या तो वरुणा उत्पन्न करेगा या भय, और हमारी परिभाषाके अनुसार ऐसा प्रभाव उत्पन्न करने वाले कर्त्रियोंकी ही नासद प्रदर्शित करता है। ज्ञात यह है कि ऐसी स्थितियोंपर ही अच्छे बुरे भाग्यके फल अवलंबित रहते हैं। क्योंकि अभिज्ञान पुरुषोंके बीच होता है अतः यह हो सकता है कि केवल एक ही व्यक्ति दूसरेके द्वारा पहचाना जावे जब कि दूसरा पट्टेसे ज्ञात व्यक्ति हो—अथवा यही आवश्यक हो कि पहचान दानाँ ओसे हो। इसी प्रकार इफ़ीगेनियाने पन मेजकर ही थोरस्तेस्को अपना परिचय दिया किन्तु थोरस्तेस्को इफ़ीगेनियासे

परिचित करानेके लिये एक दूसरे व्यापारकी आवश्यकता रह जाती है ।

“तो इतिवृत्तके दो अंग स्थिति-परिवर्तन और अभि-ज्ञान आकरिभक्ततापर अवलंबित हैं । एक तीसरा भाग है, दुःखरामक दृश्य । विनाशकारी अथवा दुःख जनक कार्य ही दुःखरामक दृश्य है, जैसे रंगमंचपर हत्या, शारीरिक पीड़ा, चोट लगना तथा अन्य ऐसी ही बात ।

“हम देख चुके हैं कि निर्दोष त्रासदकी रचना साधारण दायर न होकर गूट होनी चाहिए । उसमें ऐसे कर्णों का अनुकूलण होना चाहिए जिनसे कर्णा और भयका संचार हो, क्योंकि यही त्रासात्मक अनुभूतिका एक विशिष्ट लक्षण है । इससे यह स्पष्ट प्रकट होता है कि प्रथम तो जो भय-परिवर्तन प्रदर्शित किया गया हो वह कोई ऐसा दृश्य न हो जिसमें किसी भले मनुष्यको सुखकी अवस्थासे दुःखकी अवस्थामें ला दिया गया हो, क्योंकि इससे न वर्णा ही उत्पन्न होती है और न भय ही । इससे तो हमारे हृदयमें केवल एक धक्का सा लग जाता है । ऐसा भी दृश्य नहीं दिखाना चाहिए जिसमें किसी बुरे मनुष्यका दुःखकी अवस्थासे सुखकी अवस्थामें पहुँचना दिखाया जाय, क्योंकि इससे बढकर त्रासदके स्वरूपके विरुद्ध और हो ही क्या सकता है, क्योंकि इसमें एक भी त्रासत्माक गुण नहीं है । इससे न तो नैतिक भावनाकी वृद्धि ही होती है और न कर्णा और भयकी उत्पत्ति ही । फिर अत्यंत दुष्ट मनुष्यका पतन भी नहीं दिखाना चाहिए । इस प्रकारके इतिवृत्तसे नैतिक भावनाकी वृद्धि तो अवश्य होगी, किन्तु इससे न तो कर्णाका संचार होगा न भयका ही, क्योंकि कर्णा यहाँ उत्पन्न होती है जहाँ किसी ऐसे मनुष्यपर विपत्ति का आय जिसपर नहीं आनी चाहिए । भय वहाँ उत्पन्न होता है जहाँ किसी हमारे जैसे मनुष्यपर विपत्ति का जाय । इसलिये ऐसी घटना न तो कर्णाजनक होगी और न भयावह ही । तो इन दोनों छोरोंका मध्यवर्ती चरित्र ही रीर रह जाता है और वह ऐसे आदमीका जो कोई विशिष्ट और विवेकी न हो और उसपर दुर्व्यसन अथवा चरित्रहीनताके कारण विपत्ति न आई हो वरन् किसी भूल या दुर्वलताके कारण आई हो । वह ऐसा

होना चाहिए जो अत्यंत प्रविद्ध और सुखी हो,—अर्थात् ऐदिपउस, शुएरेत्स् अथवा अन्य ऐसी ही श्रेणियोंके प्रसिद्ध मनुष्य हों ।

“अतः एक सुनिर्मित इतिवृत्तका फल इन्द्ररा होना चाहिए, दुष्ट नही, जैसा कि कुछ लोगोंने मत है । भाग्य-परिवर्तन बुरेसे अच्छेमें न होकर उल्टा अच्छेसे बुरेमें होना चाहिए । वह दुर्व्यसन (दुर्गुण) का परिणाम न होकर किसी भूल अथवा मानसिक दुर्वलताका परिणाम होकर प्रकट होना चाहिए और उसी प्रकारके चरित्रमें हो जिस प्रकारका हम वर्णन कर चुके हैं अथवा बुरेकी अपेक्षा अच्छे मनुष्यमें हो । रंग मंचके प्रयोग हमारे मतका समर्थन करते हैं । पहले तो कवि लोग, जो कहानी सम्मूल्य आई, उसीका वर्णन कर डालते थे । परन्तु अब सर्वश्रेष्ठ त्रासद कुछ गिनी सुनी कथाओंके आधारपर ही बनते हैं जैसे अन्कमैशन, ऐदिपउस, ओरेरेत्स्, मेलिआगेर, शुएरेत्स्, तेदीकऱस—किन्तु ही कुछ भयानक कार्य किए हों या अधिक कष्ट झेले हों । तो कलाके नियमोंके अनुसार त्रासदकी बनावट ऐसी होनी ही चाहिए । अतः वे लोग भूल करते हैं जो इउरीपाददेसको इसलिये उदा करते हैं कि उनसे इस सिद्धान्तका अपने दुःगातक नाटकोंमें अनुसरण किया है । जैसा कि हम कह आए हैं, यही उचित अत है । इसका सबसे बढकर प्रमाण तो यह है कि रंगमंचपर और नाट्य प्रतियोगितामें यदि वे नाटक भली प्रकार खेले जायें तो इनका प्रभाव सबसे अधिक त्रासात्मक होगा । इउरिपिदेसूने चारे अपने विषयके साधारण प्रतिपादनमें भले ही भूल की हो पर सत्र कवियोंमें वही अधिक त्रासात्मक समझा जाता है ।

“दूसरी श्रेणीमें उस प्रकारके त्रासद आते हैं जिनमें शत्रुभियाके समान इतिवृत्तका दुष्टरा भागा चमत्ता है और उनमें अच्छे-बुरे दोनोंके लिये उल्टा ही अत होता है । ऐसे नाटकोंको लोग सर्व-प्रथम स्थान देते हैं । यह दर्शकोंकी दुर्वलताके कारण ही सर्वश्रेष्ठ कहा जाता है । क्योंकि कवि जो कुछ लिखता है उसमें दर्शकोंकी रुचिका ध्यान रखता है । उनसे जो ध्यान प्राप्त होता है वह वास्तविक त्रासात्मक आनंद नहीं होता । वह तो प्रहसनमें

ही अच्छा लगता है, जहाँ नाटकमें ओरस्तेस् और एगिस्थउसके समान परस्पर परम शत्रु अतमें मित्र होकर रगमचसे बिदा होते हैं, जहाँ न तो कोई मरता है और न मारा ही जाता है।

“हृदयात्मक साधनोंसे भय और कष्टनाकी उत्पत्ति की जा सकती है, किन्तु वे नाटककी आतंरिक रचनासे भी उत्पन्न हो सकते हैं, और यही अच्छा विधान भी है। इस प्रकारकी रचनासे यह स्पष्ट व्यक्त हो जाता है कि इसका रचयिता कोई उत्कृष्ट कवि है। इतिवृत्तकी रचना ऐसी होनी चाहिए कि बिना आँखकी सहायताके वर्णित घटना सुनते ही हृदय मथये वॉप उठे, अथवा कष्टमसे प्रेरित हो जाय। ऐदिपउसकी कथा सुनकर हमारे मनमें यही भाव आ जाना चाहिए। किन्तु केवल हृदयके द्वारा यह प्रभाव उत्पन्न करनेकी रीति कम कलात्मक है और बाह्य सहायतापर अवलम्बित है। जो लोग हृदयात्मक साधनोंके द्वारा भयावह भावकी अपेक्षा अद्भुतका भाव उत्पन्न करते हैं वे त्रास-नाटकका अभिप्राय नहीं जानते। क्योंकि हमें त्रास-नाटकसे हर प्रकारके आनन्दकी नहीं वरन् तदनुभूत आनन्दकी ही आशा रखनी चाहिए। क्योंकि कवि-प्रदक्ष आनन्द तो कवि अनुकरणजन्य कष्टना और भयसे उत्पन्न होता है। अतः यह स्पष्ट है कि घटनाओंपर इस गुणकी छाप डालना अत्यावश्यक है।

“अब हमें निश्चय करना है कि ऐसी कौन-सी परिस्थितियाँ हैं जो हमें भयानक या कष्टनाजनक जान पड़ती हैं।

“इस प्रभावको उत्पन्न करनेकी क्षमता उन लोगोंके व्यापारों में होती है जो या तो परस्पर मित्र हों, या परस्पर शत्रु हों या एक दूसरेकी ओरसे उदासीन हों। यदि एक शत्रु दूसरेका वध कर डालता है, तो उससे वध कार्यके अतिरिक्त न तो कार्यमें ही कोई कष्टगोरगदक बात होती है और न उद्वेगमें ही। यही बात एक दूसरेके प्रति उदासीन शत्रुओंके विषयमें भी है। किन्तु जब त्रासात्मक घटना उन लोगोंके बीच घटित होती है जो एक दूसरेके अत्यन्त निकट सम्बन्धी होते हैं—जैसे यदि एक भाई दूसरे भाईकी, माँ अपने पुत्रकी, पुत्र अपनी माँकी हत्याका विचार करे अथवा इसी प्रकारका कोई दूसरा कार्य किया जाय—तो ये ही स्थितियाँ ऐसी हैं जिनपर कविको विशेष ध्यान देनेकी आवश्यकता है। उसे चाहिए कि वह प्राप्त कथाके दौंचेको नष्ट न करे जैसे, नडुवै-

म्लेखाकी हत्या ओरस्तेसके हाथों और एरीकुलेकी अल्पमै-अनके हाथों हुई—किन्तु उसे कुछ अपनी नवीनता भी दिखानी चाहिए और रूढ़ सामग्रीका चतुराईसे उपयोग करना चाहिए। चतुराईसे उपयोग करनेके अर्थकी हम स्पष्ट व्याख्या कर देते हैं।

“प्राचीनतर कथियाँकी प्रणालीके अनुसार कोई कार्य जान-बूझकर तथा व्यक्तियोंका ज्ञान होनेपर भी किया जा सकता है जैसे एडरीपाइदेसने मीद्रियाके द्वारा अपने बच्चोंका वध कराया। दूसरी स्थिति यह है कि भयानक कार्य अज्ञानमें किया जाय और सम्बन्ध या मित्रताका ज्ञान पीछे हो। सफ-कलेसका ऐदिपउस इसका उदाहरण है। यहाँ वस्तुतः यह घटना वास्तविक नाटकके बाहर है, किन्तु ऐसे भी अवसर पड़ते हैं जहाँ कि यह नाटकके कार्यके भीतर आ जाती है। ए-टु-दमस का अल्पमैअन या ‘आहत ऊलसेस्’ में तेलीगोनुस इसके उदाहरण दिए जा सकते हैं। फिर एक तीसरी अवस्था भी है कि व्यक्तियोंको जानकर कोई कार्य करने तो चले किन्तु रुक जायें। चौथी अवस्था यह है जब अज्ञानवश कोई अपरिहार्य कार्य करनेसे पहले ही किसीको उसका ज्ञान हो जाय। ये सभी मार्ग हो सकते हैं। क्योंकि व्यापार य-तो करना चाहिए या नहीं करना चाहिए,—और वह जान-कर हो अथवा अज्ञानमें हो। किन्तु इन सब मार्गोंमें व्यक्तियोंको जानकर कार्य करनेको उचित होना और फिर न करना सबसे बुरा है। यह बिना त्रासात्मक हुए ही हृदयको धक्का पहुँचाता है क्योंकि इसके परिणाममें कोई दुर्घटना नहीं होती। अतः काव्यमें यह या तो होती ही नहीं या बहुत कम पाई जाती है। फिर भी अतिगोनीमें एक उदाहरण है जहाँ श्रीभोनको हैमोन मारनेकी धमकी देता है। इसके बाद इससे अच्छा मार्ग वह है जहाँ कार्य हो जाय। इससे अच्छा यह है कि कार्य अज्ञानमें हो और बादमें भेद जाना जाय। तब हमारे हृदयको धक्का देनेवाली कोई बात नहीं रह जाती वरन् प्रकट होनेसे सामकारिक प्रभाव उत्पन्न होता है। अतिस मार्ग सर्वश्रेष्ठ है, जैसे क्रेस्कान्तेसमें ज्याँहीमरोपी अपने पुत्रकी हत्या करनेको तैयार होती है, क्योंकि उसे पहचानकर उसे छोड़ देती है। इसी प्रकार हाफेगनियामें बहन अपने भाईको ठीक समयपर पहचान जाती है। फिर देहीमें भी पुत्र अपनी माताका परित्याग करनेके ठीक समयपर ही

पहचान जाता है। यही कारण है कि कुछ ही परिवार ऐसे हैं, जैसा कि ऊपर दिखाया जा चुका है, जिनमें त्रासदाँके विषय मिलते हैं। यह कलाके कारण नहीं बल्कि संयोगसे ही ऐसे विषयोंकी खोज करनेमें प्रवृत्त हुए। अतः उन्हें विषय होकर उन्हीं कुलोंकी राग लेनी पड़ी जिनके इतिहासमें इस प्रकारकी हृदयद्रावी घटनाएँ भरी हुई हैं।”

दशरूपककार तथा साहित्यदर्पणकारने बखुके दो भेद करके अर्धप्रकृति, सन्धि, अवस्था आदि अनेक विस्तृत विधानोंकी योजना की और इन सबके बहुतसे भेद करके साधारण नाट्यकारके लिये बड़ी समस्या खड़ी कर दी। नाटकके इन सब अंगोंके विषयमें जो उदाहरण दिए गए हैं वे सब विभिन्न नाटकोंसे फुटकर लिए गए हैं। यह विषयन किताब आचर्यने नहीं दिया है कि सङ्कतके किसी नाटककारने प्रत्येक सन्धिके विभिन्न भेदोंको नियमित रूपसे अपने नाटकमें प्रयोग किया है। जहाँतक पाँच अर्ध-प्रकृति-पाँचोंकी बात है, वे तो बहुत मनोवैज्ञानिक और वैज्ञानिक प्रतीत होती हैं, क्योंकि प्रत्येक नाटकमें बीज, विन्दु, पताका, प्रकटी और कार्य पाँचों तत्त्व नाटकके प्रयोजनोंकी सिद्धिके लिये उल्लिखित होंगे ही। इसी प्रकार अरम्भ, प्रत्यक्ष, प्राप्त्याशा, नियतासि और फलागम भी नाटकमें होने ही चाहिए। किन्तु इन नाट्याचार्योंके यह आदेश सर्वमान्य नहीं हो सकता कि सब अर्ध-प्रकृतियों अलग अलग अंकोंमें प्रकट होकर विस्तार पावें। यही बात अवस्थाओंके विषयमें भी है। प्रत्येक नाटकमें आरम्भ तो होगा ही, किन्तु उसके पदचाव केवल प्रथम सबके लिये स्वीकृत हो सकता है बहुतसे कुशल नाटककार प्राप्त्याशा और निषतासिके नाटकीय कुतूहलके लिये बाधक समझते हैं और उनका यह विश्वास है कि नाटकीय वस्तु इस दृश्यसे चलनी चाहिए कि अंततक नियतासि और प्राप्त्याशाका संकेत भी न मिले। स्वयं कालिदासने अपने अभिज्ञानशाकुन्तलमें इस कौशलका प्रयोग किया है। वहाँ अंगूठी मिलनेपर जिस प्राप्त्याशा का आभास मिलता है वह शकुन्तलाके धनधान्य होनेका स्मरण होते ही उभ हो जाता है और व्यवस्थित नियतासिके बिना ही अचानक भगवान मारीच कश्यपके आश्रममें सहसा फलागम हो जाता है। इसी नाटकीय कौशलने कालिदासके दस नाटकको मंदारके सब

नाटकपर मूर्धाभिहित किया है। यदि नाटककार किसी भी क्रमके बन्धनमें बंध जाता है, तब उसकी कलाके विकासके लिये पर्याप्त अवसर नहीं मिलता। वह केवल बंधे बंधाएँ ढाँचोंमें सामग्री मात्र भर देता है। इस प्रकारके रुढ़िवाला नाटककारोंने वह यश नहीं पाया जो स्वाभाविक गतिसे कथावस्तुका विस्तार करनेवाले नाटककारोंने पाया है। यही बात विभिन्न सन्धिके विषयमें है। मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्श और निर्वहण सन्धिकोंमें नाटकको बाँधना केवल एक नियमित रुढ़िका पालन मात्र करना है। कोई भी ऐसा नाटककार नहीं है जिसने नियमित रूपसे प्रत्येक सन्धिके सभी अंगोंका अवश्य ही प्रयोग किया हो यहाँतक कि बहुतसे रूपकों और उपरूपकोंमें बहुत सी सन्धिकोंका विधान ही नहीं है। केवल नाटक ही एक ऐसा रूपक है जिसमें सन्धिकों और पाँचों अर्ध-प्रकृतियोंके प्रयोगकी व्यवस्था है। 'भाग' में केवल मुख और निर्वहण केवल दो ही सन्धिकों होती हैं। डिममें भी निमर्श सन्धि होती ही नहीं। वीरममें भी केवल मुख और निर्वहण सन्धिकों होती हैं। इस प्रकार व्यापक रूपसे सन्धिकोंका नियम बहुत ग्राह्य नहीं प्रतीत होता। उसके दो कारण हैं—पहला कारण तो यह है कि कथावस्तुकी प्रकृति स्वयं अपने विस्तारका मार्ग अपने आप बनाती है। उसे किसी भी नियममें बाँध देना कलाकी दृष्टिसे उचित नहीं। दूसरी बात यह है कि नाटककारको यह स्वतंत्रता अवश्य होनी चाहिए कि वह किस रीतिसे निश्चित परिणामतक कथावस्तुको पहुँचावे।

अरस्तूने अपने काव्यशास्त्रमें यह सब शकला न रखकर कुछ मोटी मोटी बातें रख दी हैं जिसका सर यह है कि नाटकमें एक पूर्ण इतिवृत्त होना चाहिए और वह निश्चित परिमाणका होना चाहिए। दूसरी बात उसने यह कही है कि उन्हीं वास्तविक घटनाओंका वर्णन होना चाहिए जो सम्भाव्य हों और आवश्यक हों। उसने दो प्रकारके इतिवृत्त माने हैं—साधारण और गूढ़। जिस कार्यमें स्थितिपरिवर्तन और अभिज्ञानके बिना ही फलागम हो जाता हो उसे वह साधारण मानता है और जिसमें परिवर्तन या अभिज्ञान अथवा दोनोंके समागमसे फलागम होता हो उसे वह गूढ़ मानता है। इतिवृत्तके

ये दोनों अंग—स्विति परिवर्तन और अभिज्ञान—आक
रिमन्तारण अवलम्बित हैं अर्थात् किसी अद्भुत कारणसे
इनकी सृष्टि होनी चाहिए ।

भरतने अपने नाट्यशास्त्रमें कहा है—

सर्वेषां कव्यानां नानारसभावयुक्तियुक्तानाम् ।

निर्वहणे कर्तव्यो नित्यं हि रसोद्भुतस्तन्वैः ॥

[अनेक प्रकारके रस, भाव और युक्तियोंसे समुत्
सर्व कव्योंके अन्तमें काव्यजोंका काम है कि अद्भुत रसका
प्रयोग करें ।]

इससे भी यह सिद्ध होता है कि नाटककारको
नाट्यीय कौतूहल उत्पन्न करके अद्भुत दृशसे फलाम
कराना चाहिए । भरतने भी यद्यपि अपने नाट्यशास्त्रके
सप्तमं निरव्य नामक श्कनीसर्वे अध्यायमें अन्त्या, सधि
और अर्थप्रवृत्तियोंका वैसा ही लम्बा चौड़ा निवरण
दिया है जैसा ऊपर हम दशरूपकारके शब्दोंमें दे
आए हैं किन्तु दशरूप विधानमें उन्होंने नाटक रचनाके
सम्बन्धमें यही कहा है कि नाटकनी कथा अङ्गोंमें बँट
देनी चाहिए । अङ्गी व्याख्या करते हुए वे करते हैं—

‘अङ्क इति रुडिशब्दो भावैस्त्व रसैः प्ररोहयत्यर्थान् ।

नानाविधानं युक्तं यस्मात्समाद्भवंदङ्क ॥१४॥

[अङ्क रुद्र शब्द है । इसका अर्थ यह है कि भावों
और रसोंके द्वारा जो कथाओंको ऊपर चढाया हो और
अनेक प्रकारके विधानोंसे युक्त हो उसे अङ्क कहते हैं ।]

जहाँतक अङ्गोंमें बँटनेकी बात है वहाँतक यह प्रथा
प्रायः सभी देशके नाटककारोंने स्वीकार की है । क्योंकि
एक ही कथा बहुत दिनों, महीनों या वर्षोंतक चर
सकती है अतः एक-एक समयकी कथा एक-एक अङ्गमें
रखनी जानी चाहिए । इस विषयमें भरतने कहा है—

रात्रा दिवसोस्तान् धनयाममुहूर्तलक्षणोपेतान् ।

त्रिभजेत्सर्वमशेषं पृथक्पृथक् काव्यमङ्केषु ॥२७॥

दिवसावसानार्थं यथाङ्के भोषयन्ते सर्वम् ।

अङ्कच्छेदं कृत्वा प्रवेशवन्तद् विधातव्यम् ॥

अङ्कच्छेदं युयान्मासकृतं वर्षसन्निचतं वापि ।

तत्सर्वं कर्तव्यं वर्षादूर्ध्वं न तु कदाचित् ॥

[कथ, वस्तु या कव्यकी घटनाओंके धन, प्रहर,
मुहूर्त आदि लक्षणोंसे युक्त दिनोंके अनुसार सब कव्यको

भली भाँति अलग अलग अङ्गोंमें बँट देना चाहिए ।
दिन समाप्त होनेतक पूरा काम यदि अङ्गमें न आ
सकता हो तो अक समाप्त करके दोप काम प्रवेशकके
द्वारा कहला देना चाहिए । एक महीने या एक वर्षके
कामपर अक तोड़ना चाहिए और वह सब काम एक
एक अङ्गमें समाप्त कर देना चाहिए । किन्तु एक वर्षके
ऊपरका काम कभी नहीं भरना चाहिए ।]

नाट्य-लक्षण रत्नसोशकारने लिखा है—

‘एकदिवसप्रवृत्तः कार्योऽङ्के सप्रयोगमधिष्ठय ।

आख्याने यद्गन्तुं वक्तव्यं तदेकदिवसमाप्तम्याङ्के
नर्तव्यम् । अन्यं तु वासराद्भूतोऽङ्क इति । अपरं च
एकरात्रिहतमेकाशरकृतमङ्के वक्तव्यम् । यत् तु कार्य-
वशात् कालभूयत् तदरिमन्कं प्रवेशकेन वक्तव्यम् ।
न तु वर्षादितानन्तम् । यदुच्यते—वर्षादूर्ध्वं न
कदाचिदिति ।

तदेतद्बहुकालप्रणयम् नाङ्के विधेयमिति ।”

[एक दिनका काम ही एक अङ्गमें दिखाना चाहिए ।
कथामें जो बातें दिखानी हैं उनमेंसे एक-एक दिनकी
कथा एक-एक अङ्गमें दिखानी चाहिए । एक आचार्य कहते
हैं कि अङ्गमें आवे दिनकी कथा दिखानी चाहिए ।
दूसरे आचार्यका कहना है कि एक रात दिनकी घटना
एक अङ्गमें कही जा सकती है । जहाँ आवश्यकतावश
अधिक कालकी कहलानी हो तो प्रवेशकके द्वारा कहलानी
चाहिए । किन्तु एक वर्षके ऊपरकी घटना नहीं होनी
चाहिए । अर्थात् बहुत दिनोंकी बात अङ्गमें नहीं
जानी चाहिए ।]

अङ्गोंके निर्माणसा यह सिद्धान्त इस युगमें स्वीकार्य
नहीं हो सकता । भ्रमभूतिने अपने महावीरचरितके
पौनर्व अङ्गमें शशरी प्रसंग, दनुकी मुक्ति, बालिवध
इत्यादि अनेक घटनाएँ एक साथ दिखाई हैं यद्यपि
इन घटनाओंके होनेमें बहुत दिन लगे हैं । दूसरी बात
यह है कि सरहृत्के नाट्यमें ‘परिणामति’ या ‘सर्वे
परिणामति’ का निर्देश देकर नाटककार काल-परिवर्तन
और स्थान-परिवर्तनका निर्देश एक साथ कर देता था ।
योरूपके नाटकका नि अङ्गोंका निर्माण इस सिद्धान्तपर
किया कि किसी भी कथा-वस्तुमें कुछ निरिचः गति होती

है। वह गति जहाँ तक एक धारामें चलती है वहाँ तकका अथ एक अंशमें मान लिया जाता है और जहाँसे वह बदलती है वहाँसे दूसरा अंश मान लिया जाता है। संस्कृत नाटकोंमें जहाँ एक अंशमें कई दृश्योंका विधान कर देते हैं वहाँ योरोपीय नाट्यकार अंशगत स्थानके अनुसार एक एक अंशके उतने ही दृश्य बना लेते हैं। इस दृश्य विधानसे बड़ी सुविधा होती है। और यह सुविधा, दर्शक और रंगव्यवस्थापक दोनोंको होती है क्योंकि दृश्योंके अलग-अलग होनेसे उनका आधार और उनकी कथा समझनेमें सुविधा होती है। संस्कृत नाटकोंमें दृश्योंका विधान इसलिये नहीं था कि वहाँ बीचसे फटी हुई एक यगनिका टेंगी रहती थी उसीको हटाकर पात्र प्रवेश करते थे। पात्रोंका प्रवेश भी बड़े द्रुत दरसे होता था:— 'ततः प्रविशति आसनरथो राजा विदूषकश्च'। इसका यह अर्थ नहीं है कि यगनिका हटी और राजा तथा विदूषक आसनपर बैठे दिखाई दिए वरन् जैसा आजकल रामलीलामें होता है, विमानपर राजा और विदूषकको बिठाकर रंग-पीठपर रखा जाता था और उसे स्थापित कर देनेके पश्चात् सवाद प्रारम्भ होता था। दूसरी बात यह थी कि सम्पूर्ण अभिनय प्रतीकात्मक होता था। प्रत्येक भाव, वस्तु, दृश्य सभीको अभिनयके द्वारा व्यक्त किया जाता था। भरतने अपने नाट्यशास्त्रके विनाभिनय प्रकरणमें उसका विस्तृत विवरण दिया है।

अंशमें क्या हो

● एक कालानुसरत कथात्मकोऽङ्कः ॥

[एक कालकी कथा निरन्तर एक अंशमें ग्राह्य ।]

आजकल हमारा अभिनय प्रतीकात्मक न होकर स्वाभाविक और वास्तविक हो गया है। प्रत्येक वस्तु और दृश्य रंगपीठपर उपस्थित किया जाता है इसलिये अंशके विधानमें भी यह परिवर्तन होना चाहिए कि एक एक अंशमें नाटकीय कार्यकी एक पूरी गति हो और वह गति जितनी बैठकों या स्थितियोंमें पूर्ण हुई हो उतने ही दृश्योंमें दिखाई जाय। प्रयोगकी सुविधाके अनुसार दृश्योंका क्रम ऐसा हो कि रंग-व्यवस्थापक उनकी व्यवस्था कर सके अर्थात् यदि एक दृश्य गहरा हो जिसमें बहुत सजावट हो, पात्र आकर बैठते, लेठते या सोते हों अथवा उसमें दृश्यात्मक

वस्तु ऐसी लगी हों जिनके हटाए बिना अगला दृश्य पूरा न बन सकता हो तो ऐसे दृश्योंके पश्चात् नियमनः ऐसा सर्कीय दृश्य रखना चाहिए जिसमें खड़े खड़े नाटकीय व्यापार हो जाय या पात्र भूमिपर बैठकर अभिनय करें अथवा पात्र बैठने आदिके आसन साथ ले आचें और साथ स्वयं ले जावें। यद्यपि जापानके 'चक्रिल रंगमंच' (रिबोव्लिंग स्टेज) और योरोपके सर्वांगी रंगपीठ (थिएटर या ग्लाडिंग स्टेज) पर लगातार गहरे दृश्य भी दिखाए जा सकते हैं किन्तु साधारण नाटककारको किसी विदोय रंगपीठके अनुकूल नाटक नहीं लिखने चाहिए। अतः अंशमें दृश्योंकी योजना इस प्रकार होनी चाहिए कि एक गहरे दृश्यके पश्चात् एक सर्कीय दृश्य अवश्य ही हो और यह सर्कीय दृश्य इतनी देर तक चलना चाहिए कि रंग व्यवस्थापक अगले गहरे दृश्यकी पूरी सजावट और व्यवस्था कर सके। कभी-कभी नाटककारकी इस भूलसे नाटक खेलनेवालोंको बलपूर्वक बाहरसे कोई प्रहारा या गीत लाकर रखना पड़ता है और कथाके प्रवाहमें बाधा पड़ जाती है।

दृश्यका परिमाण

● शब्दघटिकाप्रमाणं दृश्यम् ।

[एक दृश्य हो आध घड़ीका ।]

एक दृश्य कितना बड़ा हो इसके विषयमें कोई नियम नहीं बनाया जा सकता किन्तु कुछ नाटकीय सिद्धान्त उसका परिमाण निर्णय करनेमें सहायक हो सकते हैं। एक ही दृश्यको बहुत देर तक देखते रहनेसे दर्शक ऊब जाते हैं अतः दृश्यको मोटे धोके समयमें बदलते रहना चाहिए जिसकी अवधि आधी घड़ी या १२ मिनटसे अधिक नहीं होनी चाहिए। इस आधी घड़ीके दृश्योंमें भी किन्हीं दो पात्रोंकी ही बातें न भरती हों। उतमें भी मिनट-मिनटपर भाव, भाव, प्रवृत्ति इत्यादिका परिवर्तन होता रहना चाहिए, जैसे पात्रोंका उठना, चलना, क्रोध करना, किसीका किसीको भेजना कुछ वस्तुओंको उठाना या रखना आदि। बगली, मराठी और तामिल रंगमंचोंपर यह नई प्रथा निकली है कि पात्र अकारण ही पीटागनोंके रहते हुए भी चलते-फिरते रहते हैं। किन्तु यह अरबन्त अत्यावधिक और अनुचित है। पात्रोंकी

जितनी भी गति हो सब स्वाभाविक और आवश्यक हो । अतः नाटककारका यह धर्म है कि वह वाचिक अभिनयके साथ साथ आदिक और सार्विक अभिनयके लिये बीच-बीचमें अवसर देता रहे । जहाँतक सम्भव हो एक अङ्गमें तीन या चार दृश्यसे अधिक न हों । अभिनवमन्तने अपने ध्यानता, वात्सीकि, मंगल प्रभात, दत्तमुद्रा, पुष्पमित्र, अगुलिमल तथा वसंत नाटकोंमें इसी नियमका पालन किया है और प्रयोग द्वारा यह सिद्ध हुआ है कि इस प्रकारके दृश्य विभाजनसे रंग व्यनस्यापकको भी सुविधा होती है और दृश्य व्यवस्थापकको भी ।

नाटककारको दृश्य विभाजन करते समय यह भी ध्यान रखना चाहिए कि गहरे दृश्यमें जिन वस्तुओंकी सजावटका विधान किया गया हो वे अदल बदलकर अगले गहरे दृश्यमें काम न आ सकें । जैसे यदि एक दृश्यमें दो चौकियों, दो पीठासन लगे हुए हैं तो तीसरा गहरा दृश्य इस प्रकारका हो कि दोनों पीठासनोंको जाड़कर शिलपट्ट बन या जा सके और चौकियोंको शिलातला या शैयाके रूपमें परिवर्तित किया जा सके । उसे यह सोच लेना चाहिए कि बीचमें जो सजीर्ण दृश्य लिया गया है उसमें जो समय लगता है उससे कम समयमें पीछेके दृश्यकी वस्तुओंको हटाने और नये दृश्यकी वस्तुओंके लगाने और उसके पानोंको वैद्यनेका पर्याप्त अवसर मिले । इस प्रकारके दृश्य-विधानसे समुक्त नाटक, खेलनेवालोंके लिये अधिक सुविधाजनक होते हैं । प्रायः अधिक वस्तुओंसे सजाए जानेवाले दृश्य नाटकके प्रारम्भमें या अङ्गोंके प्रारम्भमें रखे जाने चाहिए, क्योंकि नाटकके प्रारम्भमें तथा अङ्गोंके बीचमें रंग व्यवस्थापकको पर्याप्त समय मिल जाता है ।

अङ्गोंकी संख्या

● कथाविभागसंख्यका श्रद्धाः ॥

[जितने कथाविभाग हों, उतने ही हों अङ्क ।]

नाटकमें कितने अङ्क होने चाहिए—इस विषयमें भी हमारे यहाँके नाट्याचार्यों ने सीमा बंध दी है । नाटकमें पाँचसे दसतक, भागमें एक, समवकारमें तीन, और द्वाहमूममें चार अङ्गोंका विधान है आदि । किन्तु अङ्गोंकी संख्या बौधी नहीं जा सकती । जहाँतक समर हो नाटकका आख्या तीन धाराओंमें बाँटकर तीन अङ्गोंमें रख देता

चाहिए, क्योंकि बहुत बार अङ्गोंका व्यवधान तथा यानिकाका गिरना दर्शकोंको बहुत खलता है । आजकल प्रायः नाटककार तीन अङ्गके नाटक लिख रहे हैं किन्तु जैसा हम ऊपर कह आए हैं अङ्गोंकी संख्या निर्धारित नहीं की जा सकती । जितने सुविधाजनक भागोंमें नाट्य कथा विभाजित की जा सके उतने ही अङ्क होने चाहिये, किन्तु प्रयत्न यह करना चाहिए कि पाँचसे अधिक अङ्क न हो और कुछ नाटक दृष्टिसे चार घंटे तकके भीतर समाप्त हो जाय ।

इतिवृत्तके भेद—

● पुराणैतिहासानुभूतिकल्पनाप्रतीकप्रत्यक्षातु सारिण इतिवृत्ताः ॥

[इं पुराण, इतिहास, अनुभूति, कवि कलना, प्रतीक । और ज्ञान प्रत्यक्ष जहाँतक वृत्त धार अलीक ।]

ऊपर हम भारतीय नाट्याचार्यों ने बगए हुए भेदोंका विरोध करते हुए यह कहा है कि उन्होंने जो इतिवृत्त या वस्तुके भेद बताए हैं वे वास्तवमें उसके भेद नहीं, अंग हैं । तब यह प्रश्न है कि इतिवृत्तके भेद किए किस प्रकार जायें ।

विषयके अनुसार रूपके छः भेद किए जा सकते हैं (१) पौराणिक, (२) ऐतिहासिक (३) आनुभूतिक (४) कल्पित (५) प्रतीकात्मक और (६) वास्तविक ।

पौराणिक इतिवृत्त वे हैं जो किसी देशके प्राचीन पौराणिक ग्रन्थोंमें दी हुई कथाओंके आधारपर बना लिए गए हों । इन कथाओंका कोई ऐतिहासिक या प्रामाणिक विवरण नहीं प्राप्त होता । इनके चरित्र प्रायः लोक सङ्घटिके मान्य पुष्प होते हैं जैसे—रामायण, महाभारत, नलदमयन्ती, अभिमानसाकुन्तल आदिमें ।

ऐतिहासिक इतिवृत्त वे हैं जिनकी कथा प्रामाणिक घटनाओंपर आश्रित होती है और जिनके चरित्र नायकोंके सम्बन्धमें, उनके आचार-विचारके सम्बन्धमें सब प्रकारके प्रमाण उपलब्ध होते हैं जैसे चन्द्रगुप्त, समुद्रगुप्त अशोक, भगवान बुद्ध आदिमें ।

आनुभूतिक वे हैं जिनकी कथाएँ अनुभूति द्वारा हमारे समाजमें चली आ रही हैं और जिनका वास्तविक प्रमाण उपलब्ध नहीं है जैसे शकारि विन्मादिरथमें ।

काल्पनिक इतिवृत्त वे हैं जिनकी कथा कवि स्वयं कल्पित करता है। प्रायः आशकालके अधिकांश नाटक कल्पित ही होते हैं।

प्रतीकारमक इतिवृत्त वे होते हैं जिनमें गावात्मक जगतके अनेक भावरूपोंकी व्यक्तित्व प्रदान कर दिया जाता है जैसे प्रबोधचन्द्रोदयमें, अथवा ससरकी बड़ बन्तुओंको चेतनत्व प्रदान किया जाता है जैसे सुमित्रानन्दनपतकी ज्योत्स्नामें। अतः वास्तविक नाटक वे हैं जिनमें कुछ व्यक्ति स्वयं अपने नामसे अपने ही चरित स्वयं अभिनय करके रंगमंचपर प्रदर्शित करते हैं। यद्यपि इस प्रकारके नाटक कम हैं किन्तु ऐहें प्रयोग अमरीका, स्विटजरलैंड और नार्वेमें किए गए हैं। इस प्रकारका प्रयोग काशीमें महाराज भवालके द्वारा भी बंगलामें हुआ था। महाराज भवाल प्रसिद्ध भवाल सन्यासी अभियोगवाले थे।

कल्पित नाटकोंके अन्तर्गत वैज्ञानिक, सामाजिक, धार्मिक, पारिवारिक सभी प्रकारके नाटक आ सकते हैं।

इतिवृत्त और कथावस्तुमें भेद

● कथावस्तुवित्वृत्तयोर्विभेदः ॥

[कथावस्तु इतिवृत्तमें, बहुत बड़ा है भेद ।]

विषयोंके अनुसार इतिवृत्तका भेद कर देनेपर यह भी बतना आवश्यक है कि कथा (इतिवृत्त) तथा कथावस्तुकी एक नहीं समझना चाहिए। इतिवृत्त या कथा किसी नाटकके लिये आधार मात्र है, उसमें जितने पात्र होते हैं या जिस क्रमसे घटनाएँ होती हैं, उतने पात्र या उतनी घटनाएँ नाटकके लिये पर्याप्त नहीं होती। यदि हम अभिज्ञानशाकुन्तलके इतिवृत्तमें लें तो वह केवल इतना ही होगा —

'राजा दुष्यन्त मृगया खेलते हुए कन्वके आश्रममें पहुँचे। वहाँ शकुन्तलाको देखकर उसपर मुग्ध होकर उससे गान्धर्व विवाह कर लिया। जब कन्वको यह शाव हुआ कि शकुन्तलाका गान्धर्व विवाह हो चुका है तब शकुन्तला पतिके पास भेज दी गई। वहाँ लोक-निन्द्याके भयसे दुष्यन्तने उसे स्वीकार नहीं किया। किन्तु फिर कुछ परिस्थितियोंके द्वारा उनका मिलन हो गया।'

इतना तो इतिवृत्त है। महाकवि कालिदासने इसकी कथावस्तु सात अंकोंमें इस प्रकार सजाई है—

प्रथम अङ्क—दुष्यन्त रथपर चढ़े आते हैं और आश्रमके दरिणपर बाण चलानेको मन्त्र द्योते हैं। तपस्वी लोग आकर रोक्ते हैं और कन्वके आश्रममें आतिथ्य ग्रहण करनेकी प्रार्थना करते हैं। वह रथको आश्रमके बाहर छोड़कर साधारण राजपुरुषके वेगमें आश्रममें प्रवेश करता है। लताओंके पीछेसे वह श्रुति कन्याओंकी रंगेलियों देखता है और शकुन्तलापर मुग्ध हो जाता है। वनज्योत्स्नाकी जड़में पानी देते समय एक भैंसा उड़कर शकुन्तलके मुँहपर मँडराने लगता है। वह रथाके लिये चिह्नती है। अक्सर पाकर दुष्यन्त आ पहुँचता है। आदर सहारणी तैयारी होने लगती है। शकुन्तलाका परिचय दिया जाता है। दुष्यन्तको सताव होता है। अनुपमा और प्रियम्बदाके व्यङ्ग्ये न्याकुल रोकर शकुन्तला जाने लगती है किन्तु डालीमें साड़ी उलझनेके बहाने क्षण भर रुक जाती है और इसी बीच तपोगनमें हल्ला होता है कि हाथी दौड़ा चला आ रहा है। दुष्यन्त एक ओर और तपस्वि-कन्याएँ दूसरी ओर चली जाती हैं।

दूसरे अंक्रमें राजा क्रम पीड़ासे व्याकुल हैं। मृगया बन्द हो चुकी है। विदूषकसे राजा अपने मनवाी बात कहता है। इतनेमें राजधानीसे समाचार आता है कि माताजीने बुलाया है। राजा स्वयं जाना नहीं चाहता, विदूषकको भेज देता है और इस डरसे कि कहीं यह विदूषक सब भण्डा न फोड़ दे, चलते-चलते उसे समझा देता है कि मैंने जो कुछ तुमसे कहा वह परिहास मात्र था, उसे सच न समझ बैठना।

तीसरे अंक्रमें शकुन्तला व्याकुल है, उसकी सखियों उसकी परिचर्या कर रही हैं। इसी बीच दुष्यन्त भी वहाँ पहुँच जाता है। सखियों बहानेसे हट जाती हैं और शकुन्तला तथा दुष्यन्तका प्रेम मिलन होता है। इसी बीच उसकी पीड़ाकी बात सुनकर शान्तिव्रत लिए गौतमी आ पहुँचती है। दुष्यन्त छिप जाता है और शकुन्तला गौतमीके साथ चली जाती है।

चतुर्थ अंक्रमें प्रियम्बदा और अनुपमा शकुन्तलाकी दशापर चिन्तित हैं कि दुष्यन्तने चलते समय तो अँगूठी पहनाई थी और कहा था कि अँगूठीके जितने अक्षर हैं मैं उतने दिनोंमें बुला दूँगा किन्तु यह सुन नहीं

रहा है। शकुन्तला जैसी चिन्ता ही कर रही थी कि दुर्वासा भा पहुँचे और उसे शाप दे बैठे। फिर भी उसे शापका शान न हुआ और सरियोने भी दुर्वासाके पैर पड़कर उनसे यह कहला लिया कि कोई भी अभिज्ञान दिखानेपर राजा पहचान जायगा। सखियोने यह समझकर शापही कथा शकुन्तलासे न कही कि अगूठी उसके पास है ही, अतः शापकी कथा जताना व्यर्थ है। बड़ी तैयारीके साथ अत्यन्त कठण परिस्थितिमें शकुन्तलाकी निरादर होती है।

पाँचवें अक्षमें शकुन्तला दुष्यन्तकी राजसभामें पहुँचती है, दुष्यन्त उसे पहचानता ही नहीं है। शकुन्तला पुरानी घटना सुनाती है फिर भी दुष्यन्त चुप है। तब वह अंगूठी दिखानेको तैयार होती है किन्तु अंगूठीना पता नहीं। शकुन्तलाके माथी उसे छोड़कर चल देते हैं, वह भी उनके पीछे हो लेती है। द्वारतक जाते जाते कोई ज्योति उसे उड़ा ले जाता है।

छठे अक्षमें मद्रुएके हाथसे अंगूठी मिलती है। वह पकड़कर राजसभामें ले जाया जाता है। अंगूठी पहचानकर राजा शोकमग्न हो जाते हैं। सब उत्सव बन्द हो जाते हैं, चारों ओर शोक छा जाता है। इसी बीच दन्द्रका सरथि मातलि अहम्य रूपसे आकर मादव्यका गला पकड़ लेता है। राजा शोक छोड़कर क्षीणमें बाण चढ़ाते हैं, मातलि प्रकट हो जाता है और दुर्जयके विरुद्ध लड़नेके लिये दुष्यन्तको इन्द्रका निमन्त्रण देकर उसे ले जाता है।

सातवें अक्षमें दुष्यन्त जीतकर लौट रहे हैं और मारीच कश्यपके आश्रममें पहुँचते हैं। वहाँ सिद्धके बन्धुके साथ खेचते हुए भरतको देखकर उन्हें उत्सुकता होती है। उसके पिताभ जो परिचय मिलता है वह दुष्यन्तपर ही घटता है और बड़े कुतूहलपूर्ण कौशलसे दुष्यन्त और शकुन्तलाका मिलन होता है।

इतिवृत्त और कथावस्तु

ऊपर इतिवृत्त या कथा भी दे दी गई है और उसके आधारपर कथावस्तुके निर्माणका विवरण भी दे दिया

गया है अतः इतिवृत्त या कथा उस घटनाक्रमको कहते हैं जिसमें किसी नायकके जीवनका एक चरित पूर्ण आ जाय। किन्तु अर्को और दृश्योंके अनुसार घटनाओंकी ऐसी सजावटको कथावस्तु कहते हैं जिसमें नाटकीय कुतूहल धादिसे अन्ततक बना रहे और साथ ही घटनाओंमें आकर्षक, कुतूहलजनक तथा रसमय बनाने के लिये स्थित घटनाओं और पात्रोंका समावेश किया जा सके। कथामें व्यक्ति, स्थान, घटना और परिणाम, चार बातें रहती हैं किन्तु कथावस्तुमें इन सब वस्तुओंके रहते हुए भी व्यक्ति अधिक य कम हो सकते हैं, स्थानमें परिवर्तन हो सकता है, घटनाएँ अधिक, कम या परिवर्तित हो सकती हैं और परिणाम भी बदला जा सकता है। कथामें यदि नायक रौन और कायर हो तो नाटककार इस कौशलसे कथावस्तुकी रचना कर सकता है कि उसकी स्त्रैणात पर भ्रष्टा हो, उसकी कायरता आवश्यक और अनिवार्य प्रतीत हो। इसका यह अर्थ हुआ कि कथावस्तुकी रचना ही कौशलकी बात है। यह रचना-कौशल कई बातोंपर अवलम्बित है नायक या नायिकाके प्रति विरोध भावना, कथाका विषय, प्रदर्शन करनेका ढंग, रंगगीठ, भवसर, नाटकका विस्तार, जनताकी रुचि और नाटककारके अपने सिद्धान्त—ये सब बातें मिलकर कथावस्तुका सौँचा बनानेमें योग्य देती हैं। कथावस्तुके निर्माणके सम्बन्धमें अस्तुका मत हम ऊपर दे आए हैं किन्तु उनसे हमारा काम नहीं चल सकता। वैज्ञानिक सधनोंने हमारे रंगगीठोंको अधिक सम्पन्न कर दिया है इसलिए नाटककारको भी अधिक सुनिपाएँ मिल गई हैं। किन्तु इन सबके होते हुए भी हमें कथावस्तुके निर्माणमें कुछ विरोध रीतियोंका निर्वाह करना ही पड़ेगा—

वस्तु रचनाकी रीतियाँ

● वस्तुरचना रीतयः पञ्च ॥

[पाँच ही हैं वस्तु रचना-रीतियाँ ।]

आमतक विद्वद्वेमें जितने भी नाटक निर्माण किए गये हैं उनसे यही निष्कर्ष निकलता है कि सबसे पाँच रीतियोंमेंसे किसी न किसी रीतिसे नाटक बनाए हैं—

१—नायक-केन्द्र रीति—जिसमें नायकको केन्द्र बनाकर सारी कथा उसीपर अवलम्बित की गई हो। इसमें इस क्रमसे

घटनाओंका गुम्फन किया जाता है कि प्रत्येक भावी घटना नायक या नायिकाके किसी कार्य, विचार या कथनके परिणामस्वरूप प्रकट होती चल्ती है और प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे नायक या नायिकाका महत्त्व उस घटनामें दर्शाकेंगे प्रतीत होता चल्ता है। इस प्रकारके नाटक प्रायः पौराणिक और ऐतिहासिक कथाओंको लेकर लिखे जाते हैं क्योंकि उन सबमें व्यापक रूपसे व्यक्तिका महत्त्व अधिक होता है घटनाका कम, व्यक्तिके चरित्रसे घटनाका विकास होता है, व.जा. चक्रसे व्यक्तिके चरित्रका विकास नहीं। उत्तर-रामचरित, उरुम्गा, विक्रमोर्वशीय इसके उदाहरण हैं। इन सब नाटकोंकी कथावस्तु नायक केंद्रीरितिसे ग्रथित की गई है।

२—घटना चक्रीति—इस रीतिमें घटनाओंका क्रम और घटनाओंके प्रकार इस प्रकार जोड़े जाते हैं कि उन घटनाओंके चक्रमें पड़े हुए व्यक्ति घटना-प्रवाहसे उलसकर, उसमें बहकर, उसके विरुद्ध तैरकर अपने व्यक्तित्व और चरित्रकी अभिव्यक्ति करते हैं। ऐसे नाटक नाटकीय दृष्टिसे सबसे अच्छे समझे जाते हैं। यूनानी ज्ञासदकारोंने भी ध्यापक रूपसे यह बात मानी है कि भाग्यके विरुद्ध किरीका कोई वधा नहीं चल्ता। वह अच्छेसे-अच्छे व्यक्तिको विपत्तियोंमें डाल सकता है। किन्तु नीतिका इसका विरोध करते हुए कहते हैं कि यदि विगचि न आवे और कष्ट न हो या मनुष्यको अपनी नैतिक सीमा लौंघनेका अवसर न मिले तो वह अपने चरित्रका विकास कैसे दिखा सकता है। कालिदासने कहा है—

विकारदेती सति विक्रियन्ते येषा न चेत्वाति त एव धीराः।

[विकारके कारणोंके होते हुए भी किनके मनमें विकार नहीं होता वे ही धीर होते हैं।]
 अतः घटना-चक्रीतिसे कभी हुई कथावस्तुमें चरित्रोंकी तुलनात्मक अभिव्यक्तिके लिये भी अवसर रहता है और कुतूहलकी सृष्टि करनेके लिये भी पर्याप्त क्षेत्र मिल सकता है। अभिमानशाकुन्तल इसी प्रणालीपर बना हुआ है। ऐसी कथावस्तुओंमें घटनाओंका कम इस प्रकार बोधा जाता है कि चल्ती हुई धारामें ऐसी स्वामाधिक तथा अपरिहार्य बाधाएँ पड़ें जिनसे कथावस्तुका प्रवाह फिर अर्धोका तर्हों पहुँच काय और इस अद्भुत ढंगसे निर्वहण या फलागम हो

कि उसकी कल्पना भी दर्शन न कर सकते हों। घटनाचक्रीतिसे वस्तु निर्माण करनेवाले नाटककार अमभावित और कुत्रिम घटनाओंका समावेश अधिक करते हैं इसीलिये उनके नाटकोंकी षोड छुल जाती है और उनकी अस्वाम्यविकृता अमयादित तथा अमव्य होकर दर्शकोंको दुःख कर देती है। घटनाचक्रीतिसे कथावस्तु-रचनाके तीन उपाय हैं। एक तो यह कि घटनाओंमें विरोधी व्यक्तियों और विरोधी परिस्थितियोंका समावेश कर लिया जाय जैसे यदि कोई एक व्यक्ति कोई व्यवसाय करना चाहता है तो उसका साहसी प्रसिद्ध ठग या भ्रूयं रख दिया जाय, उसके परिवारमें कोई ऐसे इष्यांज व्यक्ति खड़े कर दिए जाय जो आर्थिक बाधा उपस्थित करें तथा अन्य सद्-व्यवसायियोंकी ओरसे भी विरोध उत्पन्न करा दिया जाय। इस प्रकारकी बाधाएँ स्वामाधिक बाधाएँ होती हैं। दूसरा यह प्रकार है कि घटनाओंमें देवयोगका समिश्रण कर दिया जाय, जैसे व्यवसायके लिये जाते हुए गाड़ी उलटना, पुल टूट जाना, औंधी-गानी आदि। तीसरा उपाय यह है कि नायकके स्वभावमें कुछ दोष आरोपित कर दिए जाय जैसे वह सज्जन होते हुए भी अभिमानी हो, उदार होते हुए भी किसी विरोध वर्ग या दलसे इष्यां करता हो।

३—सीखरी रीति है मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति-रीति। यह रीति केवल उन्हीं कथावस्तुओंके प्रथममें काय आती है जहाँ व्यक्तियोंकी मानसिक भावनाओंमें द्वन्द्व या पात-प्रतिपात हो। यह प्रायः उन व्यक्तियोंसे सम्बद्ध कथाओं में प्रयुक्त की जाती है जिसके सब पात्र परस्पर निकट सम्बन्धी हों और फिर भी द्वन्द्व उपस्थित हो-गया हो जैसे रामायणमें ही रामके वनवासकी कथा इसी प्रकारकी है। कैदोपाने मथराके बहकानेसे भरतके लिये राज्य और रामके लिये वनवास मोंगा था। दशरथ भी भरतको राज्य देनेमें सकोच नहीं करते थे किन्तु रामको वनवास देना उन्हें दुःख प्रतीत हो रहा था। कौशल्याकी अपने पुत्रके वियोग-का दुःख था किन्तु पिता और माताकी आशाना उल्लापन कराके वे उन्हें अयोध्यामें रखनेका ठौर न थीं। भरत भी जब लौटकर आए तब उनके मनमें भी इसी बातका दुःख था कि छोटा यही समझते होंगे कि इसमें भरतका हाथ है।

ऐसी कथा—वस्तुओंकी रचनामें नाटककारों बहुत समझ वृद्धकर चलना चाहिए क्योंकि एक छोटा सा भी कार्य, छोटा सा भी वचन या विचार नायक या नायिकाके चरित्र को समाप्त कर सकता है। इसी वनवासकी घटनामें यदि राम स्वभाविकताके नाते कहीं यह कह बैठे कि क्यों वन जाऊँ, मैंने क्या अपराध किया है, या भरत लौटकर चुप होकर बैठ रहूँ अथवा दशरथके ही मुँहसे यह निकल जाय कि मैं रामको वनवास क्यों दूँ तो पूरी कथावस्तु एक क्षणमें बाह्यरी भीतके समान दह ज यगी। मनोवैज्ञानिक अभि व्यक्तिकी रीतिपर रची जानेवाली कथावस्तुमें नाटककारको तीन बातोंका ध्यान रखना चाहिए। पहला तो यह कि प्रत्येक कार्य पात्रोंके गुण, शील, पद, मर्यादा और रुचिसे प्रतिकूल न हो। दूसरी बात यह है कि सरका व्यवहार और सम्वाद अत्यन्त स्वाभाविक परिस्थितिके अनुकूल हो। तीसरी बात यह है कि प्रत्येक घटनाका पूर्णपर सम्बन्ध अत्यन्त क्रमिक, सगत और पूर्वत्र घटनाका स्वाभाविक तथा अपरिहार्य परिणाम हो।

४—कुतूहल निर्वाह रीति—यह रीति प्रायः आजकलके सभी नाटककारोंने, विशेषतः चलचित्रवालोंने अपनाई है। सस्ता भावावेश उत्पन्न करनेके लिये इस प्रकारकी कथावस्तु बड़ी सफल होती है। इन कथानुसारोंमें, सम्भन असम्भव तथा अप्रत्याशित घटनाओंका एक ढाँचा खड़ा करके इस प्रकारका क्रम बंध लिया जाता है कि आदिसे अन्ततक कुतूहल बना रहता है। किन्तु वह प्रायः सभी अद्भुत होता है। एक नायिकाको कोई प्रतिनायक आकर नायकके कपसे उठा ले जाता है, उसे बसमें करनेके अनेक प्रयत्न करता है, असफल होनेपर उसे यातनाएँ देता है। इसी बीच वह किनी बीमालसे निकल भागती है किन्तु किसी और दुष्टके हाथ पड़ जाती है। वहाँसे भी उचकर निकलती है तो वन या मधुभूमिमें निकल जाती है, वहाँ भी वह प्रतिनायकके पन्देमें जा पड़ती है और फिर अज्ञानक एक नदी पार करते हुए पुलपर नायकसे भेंट होती है। नायक-प्रतिनायकका द्वन्द्व होता है और दोनों लड़ते लड़ते नदीमें गिरने तकनी अस्थ में पहुँच जाते हैं। दर्शकोंका कुतूहल और उनकी उत्सुकता चरम सीमातक पहुँच जाती है। नायिकाका वन्दन उस कुतूहलको और भी आवेशमय बना देता है और फिर अज्ञानक प्रतिनायक नदीमें गिर पड़ता है, नायक नायिकाका

मिलन होता है दर्शक सतोषको साँप लेते हैं। ऐसी कथा वस्तु दर्शकोंकी दृष्टिसे चाहे जितनी भी आकर्षक हो, कलाकी दृष्टिसे एकदम रेष है क्योंकि बहुतसी कथावस्तु, विषय और अव्यस्तविक परिस्थितियोंको नीचे ऊपर गोंजकर इकट्ठा करना एक बात है और स्वाभाविक गतिसे घटनाओंके क्रमना सुसगत निर्वाह करना दूसरी बात है।

५—दृश्यानुकूल रीति। इस रीतिमें नाटककार दृश्यके अनुसार घटनाओंका क्रम बाँधता है। यह रीति प्रायः ऐसी वस्तुओंकी रचनामें कम आती है जहाँ एक ही दृश्यपर पूरा नाटक दिखावनेकी योजना हो। आजकल योरपमें तथा भारतमें ऐसे नाटक बहुतसे लिखे गए हैं जो समूचे एक ही दृश्यपर दिख ए जाते हैं। स्वयं अभिनव भरतने बाल्मीकि और देवता नाटकोंकी कथा-रतु इसी रीतिपर रची है। इसमें नाटककारको इस कौशलसे कथावस्तु रचनी पड़ती है कि नाटककी विभिन्न घटनाएँ एक ही स्थानपर दिखाई जा सकें। यह रीति बहुत कठिन है और बहुत बड़े कुशल कलाकार ही इसे संभाल सकते हैं, सधारण नाटककार तो इसे संशतक नहीं कर सकते। इस रीतिसे एकात्री नाटक लिखना तो सरल है किन्तु कई अर्थोंवाली कथावस्तुको इस रीतिसे रचना दुःसाध्य है। सुधी कमलिनी मेहतने 'उर्मिला' नामका नाटक इसी रीतिपर लिखा है। उसकी विशेषता यह है कि एक ही दृश्यपर पूरी रामायणकी कथा व्यक्त की जाती है और एक भी पुरुष पात्र उसमें नहीं आता। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी नाटक हैं जो दृश्य विधानके ही अनुकूल लिखे जाते हैं। उनमें विशेषता यही है कि नाटककारको सारी क्रिया उसी दृश्यपर दिखानेकी योजना करनी पड़ती है। इस प्रकारकी वस्तु-रचनामें दो बातोंका ध्यान रखना चाहिए—एक तो यह कि थोड़ी थोड़ी देरके पश्चात् नाटकीय ध्यापारमें परिवर्तन होता रहे, क्योंकि यदि ध्यापार-परिवर्तन नहीं होगा तो दर्शक ऊब जायेंगे और नाटक नीरस हो जायगा। दूसरी बात यह है कि कोई भी घटना असम्भन तथा बलपूर्वक लाई हुई नहीं प्रतीत होनी चाहिए। इसी रीतिके अन्तर्गत वे सब नाटक भी आते हैं जो विशेष प्रकारके रगमचोंके अनुकूल लिखे जाते हैं। अतः यह निष्कर्ष निकल्य—

● घटनाचक्ररीतिग्राह्य ॥

[उनमें घटनाचक्ररीति ही सबसे सुन्दर श्राव्य ।]

नाट्य-स्वातन्त्र्य—

● मर्यादित हि नाट्यकार-स्वातन्त्र्यम् ।

[है मर्यादित नाट्यकार स्वातन्त्र्य ।]

कवि या नाट्यकारको काल्पनिक कथा • वस्तुकी रचनामें तो पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है किन्तु ऐतिहासिक और पौराणिक कथाओंमें उसे कुछ बन्धनके साथ चलना पड़ता है। बहुतसे नाटककारोंने इन विषयमें बड़ी उच्छृङ्खलता और स्वच्छन्दतासे काम लिया है। जहाँतक नाट्यकारकी स्वतन्त्रताका प्रश्न है, इतना ही अधिकार दिया जा सकता है कि वह नायकके चरित्रके विकासके लिये स्वतन्त्र तथा सम्भावित घटनाओं और पात्रों की कल्पना करे अथवा इतिहासमें जिन बातोंका केवल संकेत है उनके लिये पात्रों और घटनाओं की योजना कर ले। जैसे, शिवाजीने किसी मुसलिम महिलाको मुक्त करके उसके पतिके पास भेज दिया था। ऐसी स्थितिमें उस महिलाके बन्दिनी बननेकी परिस्थिति और मुक्त होनेकी बातचीत कथित की जा सकती है। किन्तु नाटककारको यह अधिकार नहीं कि वह शिवाजीकी मनः स्थितिको तीव्रतम व्यक्त करनेके लिये यह दिखावे कि शिवाजी जब औरंगजेबके दरबारमें पहुँचे तो औरङ्गजेब उसके मारे झुककर उनके पैरों पड़ गया और धरधर हाँपने लगा या शिवाजी जब मिठाईकी टोकरीमें छिपकर निकले तो औरङ्गजेबके पुत्रको भी पकड़ते लाए। तदर्थ यह है कि नाटककारको यहाँ अधिकार है कि ऐतिहासिक या पौराणिक नाटकके वृत्त और चरित्रका निर्वाह करते हुए उनके गुणोंका उत्कर्ष दिखलावे। लक्ष्मणको मेघनादके उरसे भागते हुए दिखाना, सीताके विवोगमें रामका डाढ़ मार कर रोने या पद्मिनीका आत्मसमर्पण करनेकी बात सोचना आदि दिखाना नाटककारके अधिकारके बाहरकी बात है। हाँ, यह सम्भव है कि, यदि इतिहासकारने किसी घटना, चरित्र या व्यक्तिके सम्बन्धमें अशुद्ध वा भ्रमालक निर्णय दिया हो तो उसे समयाय उलटने और सत्यकी स्थापना करनेका नाटककारको पूर्ण अधिकार है, जैसा

अग्निवमरतने अपने पुत्रामित्र और रजिया नाटकमें किया है।

नाट्यवस्तुकी धाराएँ

● प्रवाहमेदेन कथावस्तुमेदाः ॥

[है प्रवाहके मेदसे कथावस्तुमें भेद ।]

कथावस्तुकी एक और दृष्टिसे भीमांश की जा सकती है और वह है कथावस्तुके भीतर चलनेवाली कथाधाराओंकी दृष्टिसे। कुछ नाटकमें एक ही नायक कुछ घटनाओंका केन्द्र बनकर नाटकके फलागमका केन्द्र होता है। ऐसे नाटक एकधारा नाटक कहलाते हैं और उनकी कथावस्तु एकधारा कथावस्तु होती है। कभी कभी एक ही फलकी प्रातिके लिये दो या दोसे अधिक व्यक्ति प्रयत्नशील रहते हैं, दोनोंमें द्वन्द्व होता है और अन्तमें इष्ट नायकको सफलता प्राप्त होती है। ऐसे नाटकमें कथावस्तु एकधारा कथावस्तुके अन्तर्गत आती है।

कभी-कभी एक ही नाटकके अन्तर्गत कई नायक अलग अलग प्रकारकी फल-प्रातिके लिये अलग अलग चेष्टा करते हैं किन्तु उनके पारस्परिक सम्बन्धमें किसी प्रकारका व्याघात या विरोध नहीं होता। ऐसी कथावस्तु अनेक धारावस्तु कही जाती है। नवभूतिका मालतीमाधव नाटक इसी श्रेणीका है, जिसमें एक धारा उज्जैनके मन्त्री की कन्या मालती और एक दूसरे राज्यके मन्त्रीके पुत्र माधवके परस्पर प्रेम कथाकी चलती है, दूसरी धारा माधवके मित्र मकरन्द और राजाके प्रियदासकी बहिन मदन्यतिकके बीच प्रेम-कथाकी चलती है और अन्तमें दोनों प्रेमियोंकी धननी अपनी प्रेमिकाएँ प्राप्त हो जाती हैं। इसी प्रकार लेक्सियरके 'पेज यू लाइक इट,' (जो तुम चाहो) नाटक में भी इसी प्रकारसे दो प्रेम-कथानियाँ चलती हैं एक और्लैण्डो और राजकिडनी तथा दूसरी जेक्स और ऑट्टो की। इसके धातिरिक्त कभी-कभी ऐसी भी कथा वस्तुएँ हो सकती हैं जिनमें प्रायः फल कुछ और हो और प्राप्त कुछ और ही हो जाय। एक नाटकमें यही दिखाना गया है कि एक व्यक्ति प्रयत्न करना था कि थमुक कन्यासे मेरा विवाह हो। प्रयत्नके लिये जाने हुए सहसा वह एक नगरमें टिकनेकी बाध्य हो जाना है और जिस

भवनमें वह टिकता है उसके स्वामीकी पुत्रीसे उसका प्रेम-
 व्यापार चलने लगता है। साथ ही कुछ राजनीतिक
 परिस्थितियाँ ऐसी आ जाती हैं कि वह नगर छोड़कर जानहीं
 सकता और उसी कन्यासे विवाह कर लेता है। ठीक
 यही घटना उस दूसरी कन्याके साथ भी होती है। वह भी
 पहले तो कुछ दिनोंतक अपने पहले प्रेमीकी प्रतीक्षा करती
 है किन्तु सहसा अपनी माता और भाईकी मृत्यु हो जानेसे
 एक हितचिन्तक पड़ोसीसे विवाह कर लेती है। ऐसे
 नाटकोंकी कथावस्तु भी अनेक धाराएँ तुके ही अन्तर्गत
 आती हैं।

एक और भी प्रकारकी कथावस्तु होती है जिसमें दो
 या दो से अधिक कथा-धाराएँ अलग अलग चलती हैं
 किन्तु अन्तमें सब आकर इस प्रकार मिल जाती हैं जैसे
 बहूत-सी नदियाँ एक समगमर मिलकर एक धारा हो जाती
 है। इस प्रकारका एक नाटक है 'लो फो सान', जिसमें
 पाँच देश प्रमी अलग अलग अपने देशको आक्रमणकारियोंसे
 बचानेके लिये अलग अलग प्रयास करते हैं और एक
 दूसरेकी गतिविधि तथा चेष्टासे अपरचित रहते हैं किन्तु
 'लो फो सान' पर्वतकी एक गुफामें वे सब हाकर छिपने
 के लिये आते हैं किन्तु एक दूसरेसे परिचय प्राप्त करके शत्रु-
 पर सम्मिलित धावा करते हैं और उनकी विजय होती है।
 ऐसे नाटकोंकी कथावस्तु अनेक धारा समग कथावस्तु कही
 जाती है। इसी प्रकारके अन्तर्गत वे सब नाटक भी हैं जिनमें
 किसी एक कार्यकी सिद्धिके लिये कई व्यक्ति प्रयत्न करते हैं,
 उनमें से कुछ तो ईर्ष्यावश कार्य सिद्धिमें बाधक होते हैं
 और कुछ साधक होते हैं, किन्तु बाधक लोग भी जब देखते
 हैं कि बाधा सफल नहीं हो सकती तब वे भी साधक बन
 जाते हैं। ऐसी सब कथावस्तुएँ अनेक धारा समगके अन्तर्गत
 आ जाती हैं जैसे किसी समगपर नदियाँ भी मिलती हैं
 और नाले भी।

गम्भीर और हास्यात्मक कथा वस्तु ।

● अमान्या गंभीरहास्यमेवै ।।

[हास्य और गम्भीर अमान्य ।]

अरस्तुने कथावस्तुके या काव्यके दो भेद किए हैं—
 गम्भीर और हास्यात्मक और उन्हीं दो भेदोंसे क्रमशः

चासद और प्रहसनका विकास हुआ मना है। दोनोंमें विशेष
 अन्तर यही था कि गम्भीरमें श्रेष्ठ कार्यों तथा श्रेष्ठ मनुष्यों-
 का वर्णन किया गया और हास्यजनकमें निम्नतर मनुष्यों
 के आचरणोंका प्रदर्शन कराया गया। कथावस्तुको इस
 प्रकारके भेदोंमें नहीं बाँधा जा सकता क्योंकि गम्भीर कथा-
 वस्तुमें भी हास्य तथा व्यंग्यके प्रसंग अत्यन्त सुन्दरताके
 साथ लाए जा सकते हैं। इसी प्रकार हास्य तथा व्यंग्य कथा-
 वस्तुओंमें भी गम्भीर बातोंका समावेश किया जा सकता है।
 कथावस्तुमें कहीं गम्भीरता लाई जाय और कहीं हास्य
 उत्पन्न किया जाय यह सब नाटककारके कथा-निर्वाह पर
 अवलम्बित है। अतः ऐसा कोई भेद नहीं बन या जा सकता।

विशिष्ट कथावस्तु

● वस्तु चित्रम् ॥

[कुछ विचित्र भी कथावस्तु हैं ।]

बहुतसी कथावस्तुएँ ऐसी होती हैं जिसमें नाटकके प्रयोग
 का ध्यान रक्खा जाता है। जैसे गीति-नाट्यके लिये जो नाटक
 लिखा जायगा उसकी कथावस्तुमें सवादात्मक पद्य बहुत
 कम होंगे, गीतोंकी अधिकता होगी, अभिनायकके अल्प
 अधिक संख्यामें होंगे और नृत्यके लिये विशेष अवसरों
 का विधान होगा। इसी प्रकार छाया-नाटकों, मूकाभिनयों
 तथा श्रव्य-नाटकों (रेडियो-पिचर) आदिके लिये उनकी
 प्रवृत्तिके अनुसार कथावस्तुकी रचना करनी होगी। कुछ
 नाटकोंमें कोई विशेष प्रभाव दिखानेके लिये भी कथावस्तु-
 की रचना की जाती है। कभी ऐसी भी चित्र-कथा-वस्तुएँ
 हो सकती हैं जिनमेंसे किसीमें नायक या नायिका ही न
 हो, किसीमें संवाद ही न हों और यदि हों भी तो अत्यन्त
 सूक्ष्म। कुछ ऐसी भी हो सकते हैं जिनमें कथाका आधार
 ही न हो जैसे एक नाटक है—'सड़कपर पन्द्रह मिनट'।
 इसमें एक सड़कपर पन्द्रह मिनट खड़े व्यक्तिके क्या क्या
 देखा-इसीका चित्रण है। इसमें न तो कोई उद्देश्य है,
 न नायक है, न नायिका है, न रस है न सुन्दर। किन्तु
 अवस्थावृत्तित्नाट्यके अनुसार वह नाट्य अवश्य है।
 कभी कभी ऐसी भी कथा-वस्तु हो सकती है जिसमें पूरी
 कथा तो दिखा दी गई हो किन्तु परिणाम दर्शकोंकी
 कल्पनापर छोड़ दिया गया है। यद्यपि इस प्रकारकी कथा-
 वस्तु दर्शकोंके मनमें खीझ उत्पन्न कर देती है परन्तु फिर

भी नाटककार इसीमें अपना कौशल समझता है। धात्र कलके बहुतसे समस्या नाटक इसी प्रकारकी कथावस्तुपर रचे जाते हैं जहाँ पारिवारिक तथा सामाजिक विषमताओंके कुछ चित्र नग्न रूपमें इस प्रकार उपस्थित कर देते हैं कि उनका समाधान करना नाटककार स्वयं समस्या समझता है और उसे इस प्रकार प्रस्तुत करता है कि जनता उसका समाधान ठीक उसी प्रकार अपने मनमें करे जैसा नाटककार अपने मनमें चाहता है।

कथा-वस्तुकी गति ।

● ऊर्ध्वाधोसमगतयः ॥

[ऊँच, नीच समगति बनी तीन वस्तुकी चाल ।]

नायकके गुण-दोषके अनुसार कथावस्तु तीन गतिसे चलती है—ऊर्ध्वगति, अधोगति और समगति। जहाँ कथावस्तु नायकके गुणोंकी योजना करती है वहाँ कथावस्तु की ऊर्ध्व गति होती है। जहाँसे नायकके दोषोंकी योजना होने लगती है वहाँसे कथावस्तुकी अधोगति होने लगती है और जब नायक सर्वसाधारण मानवका सा व्यवहार करने लगता है वहाँ कथा-वस्तुकी गति सम होती है। भरतने दो प्रकारके इतिवृत्त माने हैं—साधारण और गूढ़। जिसमें बिना किसी परिवर्तन या अभिज्ञानके ही निर्वहण या फललाभ हो वह साधारण है और जिसमें परिवर्तन

या अभिज्ञान अथवा दोनोंके योगसे फललाभ होता हो उसे गूढ़ कहते हैं। इसे ही सरल भाषामें यह कहा जा सकता है कि जहाँ किसी नायक या किसी घटनाको बिना किसी बाधाके सीधे ऊपर उठाते हुए फल-लाभतक पहुँचा दिया हो या गिराते-गिराते असफलतातक पहुँचा दिया हो वे नाटक साधारणया निम्न कोटिके होते हैं। गूढ़ नाटक वे होते हैं जिनमें नायकके चरित्रका अर्थात् उसके गुण-दोषोंका उतार-चढ़ान होता रहे और फिर गुणोंकी समष्टिसे उसका अभ्युत्थान हो अथवा घटनाओंका क्रम इस प्रकारसे गूँथा जाय कि अनेक सम-विषम परिस्थितियोंके बीच डूबते-उतराते, लड़ते-झगड़ते, सफल-असफल होते इष्ट परिणामकी प्राप्ति हो। इस क्रमसे कथावस्तु तीन प्रकारकी होगी—उत्तम, मध्यम और अधम। उत्तम कथावस्तु वह है जिसमें सम-परिस्थिति से नायक या घटना-चक्रका सम-विषम-वाधित विकसित हो और आद्यन्त कुतूहलका निर्वाह करते हुए अन्तमें सहसा किसी स्वाभाविक संयोगसे इष्ट परिणाम प्राप्त हो। मध्यम कथावस्तु वह है जिसमें कथावस्तुकी ऊर्ध्वगति हो, अधोगति हो और समपर आकर उसकी समाप्ति हो जाय। अधम कथावस्तु वह है जो केवल ऊर्ध्व गतिवाली हो या केवल अधोगतिवाली हो। इसे रेखा-चित्रके रूपमें इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—

१—उत्तम

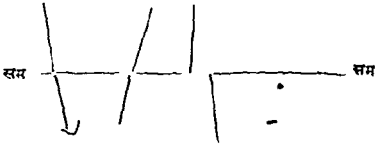
परिणाम



२—मध्यम



३—अधम



ऊपर दिए हुए कथावस्तुके विभिन्न प्रकारोंकी भीमासा कर चुकनेपर हम इस निष्कर्षपर पहुँचे कि कथा-वस्तुका निर्माण करते समय नाटककारको घटनाओंकी एमता और विषमताओंका इस प्रकार गुफन करना चाहिए कि स्वाभाविकता नष्ट न होते हुए घटनानम नितान्त अपरिहार्य और आवश्यक जन पडें। इसके लिये तीन सिद्धान्त बताए गए हैं—एक तो यह कि उसमें अन्तर्द्रष्ट और बाह्य द्रष्ट दोनोंका समुचित समावेश हो अर्थात् नाटकीय पात्रोंकी मानसिक क्रियामें भी द्रष्ट हो और घटनाक्रममें भी द्रष्ट हो। दैवी और आसुी सम्पत्ति अनादि कालसे चला आता हुआ द्रष्ट इस द्रष्टका आधार है। सदृष्टि और अशदृष्टि, गुण और अवगुण दोनोंका

सामान्य कलह इस द्रष्टका आधार हो सकता है— लोभ, मोह, मद, मत्सर, अहंकार, द्वेष आदि विकार मनुष्यके सत्व-गुणसे मदा युद्ध करते आए हैं और क्योंकि प्रकृति त्रिगुणरिमका है इसलिये सार्विक पुण्यमें भी कभी-कभी रज और तमका आविर्भाव हो सकता है। इस रज और तमके आविर्भावसे अनेक क्लेश और दुःख उत्पन्न हो सकते हैं। इसी सिद्धान्तके आधारपर अनेक प्रकारके द्रष्टोंकी रचना की जा सकती है और नाटकीय वस्तुको गूढ़ और उपगूढ़जनक बनाया जा सकता है।

इन सबसे ऊपर दूसरी बात यह है कि नाटककारको कथावस्तुकी रचना करनेके पूर्व यह भली प्रकार विचार कर लेना चाहिए कि उसका नायक कैसा है, नायिका कैसी है, कथा विषय किस प्रकारका है, उसको उपस्थित

करनेका नाटकीय-रूप क्या होगा (अर्थात् वह एकांकी नाटक है, गीत-नाट्य है, छाया-नाट्य है या अन्य प्रकारका नाटक है), किस प्रकारके रंगमंचपर उपस्थित करना है, किस अवसरपर नाटक खेलना है, उसका उद्देश्य क्या है और किस प्रकारकी जनताके सम्मुख खेलना है। तीसरे जो नाटककार विशेष रंगशाला, अवसर या किसी विशेष वर्गके लिये नाटक नहीं लिखते हैं उन्हें इस बातका ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि विभिन्न रुचिकी जनता अथक रुचिके अनुसार रचे हुए सविधानरस रस लेगी या नहीं। इस रस लेनेके सम्बन्धमें एक बात हम ऊपर बता आए हैं कि नाटकमें अन्त-द्रन्द और बाह्य द्रन्द दोनों होने चाहिए। किन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं है। जबतक उसमें अद्भुतके तत्त्वका सम्मिश्रण नहीं होगा, एक धारामें बहती हुई घटना सहसा किसी बाधाके उपस्थित होते हुए किसी दूसरी धारामें न मुड़ सकेगी तबतक लोक विनोद संभव नहीं हो सकता।

नाटकीय प्रभाव

● आलोकवाचदृश्यप्रभावयोगः नव्यैः ॥

[दृश्य, प्रकाश वाद्यसे लाते नव-प्रभाव नवलोक]

आजकलके नाट्य प्रयोक्ताओंने जनताके प्रभावित करनेके कुछ रंग-प्रभावोंका आयोजन किया है। ये रंग-प्रभाव तीन प्रकारके हैं—एक आलोक-प्रभाव, अर्थात् ऋतु, काल, प्रदेश, रस, भाव, तथा बेलाके अनुकूल रंगीन प्रकाश रंगपीठपर देना। कभी कभी अधिक प्रभावशाली बनानेके लिये एक ही दृश्यमें कई प्रकारके रंगीन प्रकाशका विधान किया जाता है। दूसरा वाद्य-प्रभाव या नेपथ्य वाद्य है जिसमें परिस्थितिके अनुकूल पीछेसे ऐसे वाद्य बजाना जिससे उस नाट्य-परिस्थितिका प्रभाव और भी गहृतम हो जाय। तीसरा दृश्य प्रभाव, जिसमें ऐसा दृश्य विधान किया जाय कि उसमें नाटकीय व्यापार अधिक वास्तविक और कुतूहल-पूर्ण हो जायें। इनके अतिरिक्त दो और प्रकारके प्रभाव बताए गए हैं एक तो वेद्य-प्रभाव और दूसरा वर्ण-प्रभाव जिस अर्थमें मेकअप कहते हैं किन्तु ये दोनों आहार्य अभिनयके अन्तर्गत आ जाते हैं। ऊपर बताए हुए अन्य तीन प्रभाव भी नाट्यकारकी सीमाके बाहर हैं क्योंकि उनका सम्बन्ध प्रकाश-व्यवस्थापक, संगीत-व्यवस्थापक और

रंग-व्यवस्थापकसे है और यह नाट्य-प्रयोक्तके ऊपर अवलम्बित है कि वह इन तीनों व्यवस्थापकोंसे प्रकाश, वाद्य और दृश्यकी योजना किस प्रकार करावे।

पताकास्थानकका प्रयोग

● पताकास्थानकमयुक्तम् ।

[नहीं पताकास्थानक ठीक ।]

नाटकीय वस्तुमें पताका-स्थानकके द्वारा नाटकीय प्रभाव उत्पन्न करना बहुत पुराना और बारी उपाय है जिसका प्रयोग संस्कृतके नाटककारोंने किया है। आजकल नाटकीय प्रभाव उत्पन्न करनेके बहुतेरे कौशल चल निकले हैं किन्तु वे सभी ऐसे हैं जिनमें कथाका चमत्कार बढ जाता है और कुतूहलमें बाधा भी नहीं होती किन्तु पताका-स्थानकसे तत्काल ज्ञात हो जाता है कि आगे क्या होने-वाला है। उत्तररामचरितमें जैसे ही राम कहते हैं—

“यदि परममहास्तु विरहः—

१-३८

त्यो ही प्रतीहारी आकर कहता है—

देव ! उभट्टिदो ।,

इस पताका-स्थानकसे तत्काल यह ध्वनि निकलती है कि राम और सीताका अर्था वियोग होनेवाला है। सब कुतूहल निवृत्त हो जाता है और दर्शक आगे आनेवाली दुर्घटनाके लिये पहलेसे तैयार हो बैठते हैं। पताकास्थानक रसमें बाधक होता है साथक नहीं, अतः विभावन व्यापारकी दृष्टि और नाटकीय कुतूहल रक्षणकी दृष्टिसे पताका-स्थानकका प्रयोग अवाञ्छनीय है।

अयोपक्षेपक

भारतीय वस्तु रचना-विधानमें एक और विधान है जिसपर विचार कर लेना चाहिए। हम ऊपर कह आए हैं कि भारतीय नाट्याचार्योंने यह कहा है कि जो वस्तु नीरस और अनुचित हो उसकी सृजना भर दे दी जाय और जो मधुर और उदात्त रस तथा भाव से निरन्तर भरी हुई वस्तु हो वही दिखाई जाय। जहाँतक नीरस और अनुचितको न दिखानेका विधान है उसमें तो किसीको आशंक हो ही नहीं सकती निम्न पाँच अयोपक्षेपकोंके द्वारा कथा पचित करनेका

जो विधान है वह विचारणीय है। नीच और मध्यम पात्रोंके द्वारा आगे पीछेकी कथा कहलानेके लिये रंगपीठ पर या रंगपीठके पीछेसे वस्तुकी सूचना देना वर्तमान नाट्याचारके अत्यन्त विरुद्ध और अस्वाभाविक है। आजकल सभी नाटककार सभी सूच्य बातें अपने नाटकोंके दृश्य भागोंमें नाटकके पात्रोंके द्वारा ही प्रसन्नानुसार कहला देते हैं। इसलिये विश्वम्भक, चूलिका, अकास्य, अकावतार और प्रवेशकवी कोई आनन्दयक्ता नहीं है अतः—

● **अप्राकृतवाद्योपक्षेपकानां निषेध ॥**

[अयोपक्षेपक है मिथ्या, इसीलिये है किया निषेध ।]

जहाँतक अर्थ-प्रकृति और अवस्थाका प्रश्न है वे स्वाभाविक और ग्राह्य होते हुए भी अपरिहार्य नहीं हैं जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं किन्तु अर्थिक अर्थोंका बन्धन नाटककारकी प्रतिभा और कलाकी बाधित करनेवाला कठोर बन्धन है। नाटककारको उससे मुक्ति मिलनी ही चाहिए और यह उसपर छोड़ देना चाहिए कि उसे क्या ग्राह्य है और क्या स्वाभ्युक्त ।

कथावस्तु-रचनाके उपाय

● **दृश्यव्यापारक्रमाभ्यां संविधानकप्रथमम् ॥**

[दृश्यक्रम घटनाक्रमसे ही होती कथावस्तुकी रचना ।]

कथावस्तु या सविधानक किस प्रकार बनाना चाहिए उसके लिये दो उपाय बताए गए हैं—एक है दृश्य क्रम सविधानक, दूसरा है घटना क्रम

सविधानक। दृश्यक्रम-सविधानकमें जिन दृश्यों या स्थानों पर घटना दिखानी हो उन्हें क्रमसे लिख लिया जाय और फिर उन स्थानोंमें प्रयुक्त किए जानेवाले पाठ और घटनाएँ जिस क्रमसे जानी हैं उस क्रमसे भर दी जायें। दूसरेमें जितनी मुख्य घटनाएँ जिस क्रमसे जानी हैं उन्हें क्रमसे भलग भलग लिख लिया जाय और फिर उन घटनाओंको अधिक शक्तिशाली और प्रभावोद्गदक बनानेके लिये जिन पात्रोंकी कल्पना करनी हो या जो पात्र जाने हैं उनका क्रमिक उल्लेख कर दिया जाय, जो नई घटनाएँ भरनी हैं उनका निवरण दे दिया जाय और यदि किसी पात्रसे कोई विशेष बात कहलानी हो वह भी भर दी जाय। पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकोंके लिये घटनाक्रम-सविधानक बनाना चाहिए। अन्य सब प्रकारके नाटकोंके लिये दृश्यक्रम-सविधानक ही ठीक है। दोनों प्रकारके सविधानकोंका निर्माण करते समय सब पात्रोंके आने और जाने तथा विशेष क्रिया करनेका विवरण होना चाहिए और कथाका कितना भाग किस एक अंक और दृश्यमें किसे क्रमसे दिखाया जायगा इसका भी ध्यान होना चाहिए। सविधानककी रचनाके सम्बन्धमें इससे अधिक और कुछ शतव्य नहीं है। जितना कुछ ऊपर बताया जा चुका है उससे यह निष्कर्ष निकला कि सविधानकके तीन तत्त्व होते हैं—पात्र, स्थान, और व्यापार। अतः इसी क्रमसे हम सविधानकके इन तत्त्वोंकी मीमासा करेंगे।

॥ **इत्यभिनवमरतश्रीसीतारामविरचितेऽभिनवनाट्यशास्त्रे रूपक-रचनाखण्डे संविधानकरचनाप्रकरणं नामाष्टमोऽध्यायः ॥**



पात्र-योजना

पात्रकी व्याख्या

● नाट्यकारेण अभिनयार्थमायोजिताः पात्राः ॥

[नाट्यकार-द्वारा अभिनयके हित आयेजित पात्र कहते हैं।]

यह पीछे कहा जा चुका है कि नाट्यकार अपना वाक्य इस प्रकार रचता है कि उसके आधारपर नाट्य-प्रयोक्ता अपने अभिनेताओंको वैसा वैसा रूप धारण कराकर उनसे याचिक, भागिक, सारिक तथा आहार्य अभिनय कराते हैं। नाटकमें वार्णित जिन चरित्रोंके रूप धारण करके या जिनकी भूमिका ग्रहण करके अभिनेता अभिनय करते हैं उन्हें पात्र कहते हैं। अतः पात्रके अन्तर्गत वे सब मनुष्य, पशु-पक्षी, मानवित भाव अथवा जड़ पदार्थ आ जाते हैं जो नाटकका व्यापार या कार्य करते हैं।

भरतने अपने नाट्य-शास्त्रके चौबीसवें अध्यायमें प्रवृत्ति-विचार करते हुए पुरुषों और स्त्रियोंके स्वभावकी मीमांसा की है किन्तु उन्होंने केवल देवों और मनुष्यों तक ही अपने पात्रोंको परिमित रक्खा है। नाटककी परिभाषाके प्रकरणमें हम यह ज्ञान कह आए हैं कि अभिनेता वे सब हैं जो नाटकीय अर्थको दर्शकोंके पहुँचानेमें योग्य देते हैं। इसी प्रमगमें हम यह भी बता चुके हैं कि यदुत्तरे नाटक-कारोंने अन्य जीवोंको, भावोंको तथा जड़ पदार्थोंको भी पात्रके रूपमें प्रकट किया है। अभिज्ञानशाकुन्तलमें मृग प्रमर, लता, वन, वन-देवता और कौकिल वीर उन्हीं प्रकार नाटकीय व्यापारमें योग्य देते हैं जैसे मानव पात्र। रत्नसखी में सारिका और बलरामायणमें पुच्छलकूपण भी नाटकीय व्यापारमें अन्य पात्रोंके समान योग्य देती हैं। आश्वला बहुतेसे नाटकमें अमीकी चानर (वैवृन्), वनमानुष, कुत्ता, शुक तथा अन्य पशु-पक्षी भी इस प्रकार सिद्धित किए जाते हैं कि वे नाटकके व्यापारमें समक्षदार्थसे सिद्धित जैसा व्यापार करें और शुक तो मिलाए हुए शब्दतक बोलता है। अमी संतकानेश्वर नामक

चलचित्रके निर्माताओंने जैसे वेदपाठतक कराया है। इसी प्रकार प्रबोधचन्द्रोदयमें विवेक, मति, मतीव, श्रद्धा, शान्ति, वरुणा आदि भाव मानवीय स्वरूप लेकर आते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ वैज्ञानिक प्रयोगोंमें चित्र-कौशलके द्वारा कटे हुए सिर बोलते हैं, कटे हुए हाथ काम करते हैं, मनुष्यकी लठरी चलती फिरती और प्रेमलीला करती है, वहाँतक कि मनुष्यकी खोपड़ी मनुष्यके स्वरमें बोलती भी है। यद्यपि इस प्रकारके व्यापार यन्त्रचालित ही हांतों हैं किन्तु अभिनयमें उनका योग तो होता ही है। फिर अभिनेताओंको भी तो शिक्षा दी ही जाती है। अन्तर केवल इतना ही होता है कि मानव अभिनेता सारिक अभिनय भी कर सकते हैं, पशु-पक्षी और जड़ पदार्थ सारिक अभिनय नहीं कर सकते। अतः यह निष्कर्ष निकला कि पशु-पक्षी, मनुष्य, जड़-प्रकृति सभी अभिनय व्यापारके लिये पात्र हो सकते हैं। साथ ही कभी कभी दिव्य या अलौकिक शक्तियोंका भी पात्र रूपमें प्रयोग होता है जैसे देवता, भूत, प्रेत, राक्षस, विषय, देवदूत आदि। इस दृष्टिसे हम अपने पात्रोंको पाँच श्रेणियोंमें विभाजित कर सकते हैं—एक अलौकिक, दूसरे मानव, तीसरे पशु-पक्षी, चौथे जड़ पदार्थ, पाँचवें भय। इनमेंसे आवश्यकताके अनुसार पशु-पाशुपतोंको शिक्षा देकर तथा जड़ पदार्थोंको यन्त्र कौशलसे अभिनयके योग्य बनाया जा सकता है। अलौकिक चरित्रों तथा भावोंको मानव रूपमें अंकित किया जाता है, अतः उनका विवेचन मानवोंके साथ ही हो जायगा। तो प्रधान रूपसे मनुष्य ही ऐसे हैं जिनकी प्रवृत्तिसे विवेचन करना आवश्यक है।

भरतके अनुसार तीन प्रकृतिके मनुष्य

● पुरुषाणामथस्त्रीणामुत्तमाधममध्यमा-
प्रकृतिरिति भरतः ॥

[उत्तम मध्यम अधम प्रकृतिके नरनारी हैं, भरत बताते हैं।]

भक्त ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि प्रकृतीना तु लक्षणम् ।
 समासतस्तु प्रकृतिस्त्रिविधा परिकीर्तिता ॥१॥
 पुरुषाणामयस्त्रीणामुत्तमाधममप्यमा ।
 त्रितेन्द्रिया ज्ञानयती नानाशिल्पविचक्षणान् ॥२॥
 दक्षिणाऽथ भगालक्षा दीनाना परिसान्त्विनी ।
 नानाशास्त्रार्थसम्भवा गाम्भीर्बोदार्थशालिनी ॥३॥
 धैर्यं त्यागगुणोपेता ज्ञेया प्रकृतिरुत्तमा ।
 लोकोपचारचतुरा शिल्पशास्त्रविद्यारदा ॥४॥
 विशानमाधुर्ययुवा मध्यमा प्रकृतिः स्मृता ।
 रुधा वचसि दुःशीलाः कुसुखाः स्वस्वद्विधाः ॥५॥
 क्रोधना धातकाश्चैव मित्रानारिचवपातकाः ।
 विद्युना उद्धता वाक्यैरङ्गतास्तयालसाः ॥६॥
 मान्या मानविदोपज्ञाः स्त्रीलोलाः कलहप्रियाः ।
 सूचकाः पापकर्माणाः परद्रव्यापहारिणः ॥७॥
 एभिर्दोषैस्तु सम्भवा भ्रजन्ति ह्यधमा नराः ।
 एवञ्च शीलतो नृणा प्रकृतिस्त्रिविधाः स्त्रियः ॥८॥
 स्त्रीणां पुनस्तु प्रकृतिं व्याख्यास्याम्यनुपूर्वशः ।
 मृदुभावा त्यक्तपला स्मितभाविन्यनिष्ठुरा ॥९॥
 गुणाना वचने दग्धा सलजा विनयाश्रिता ।
 रूपाभिजनमाधुर्यां गुणैः स्वभाविनी स्मृता ॥१०॥
 गाम्भीर्धैर्यसम्भवा सा ज्ञेया प्रमदोत्तमा ।
 नास्तुक्तं प्रेरिष्यतिरैरिरेव वृता गुणैः ॥११॥
 श्लयोदधानुविद्धा च मध्यमा प्रकृतिः स्मृता ।
 अधमा प्रकृतिर्यां तु पुरुषाणा प्रकीर्तिता ॥१२॥
 विज्ञेया सैव नारीणां मध्यमाना समासतः ।
 नपुंसकस्तु विज्ञेयः सकीर्णोऽधम एव च ॥१३॥
 चेत्यादेरपि विज्ञेया सकीर्णा प्रकृतिर्द्विजाः ।
 विदूषकः शकारश्च ये चान्येव्येवमादयः ।
 सकीर्णा नाटकं ज्ञेयास्ते तज्ज्ञैर्नाटके बुधैः ॥१४॥
 एता ज्ञेयाः प्रकृतयः पुरुषस्त्रीनपुंसकाः ।
 आसा तु सम्प्रवक्ष्यामि विधानं शीलसंश्रयम् ॥१५॥
 तत्र चत्वार एव स्फुर्णपकाः परिकीर्तिताः ।
 मध्यमोत्तमाया प्रकृतौ नानालक्षणलक्षिताः ॥१६॥
 धीरोद्धता धीरलक्षिता धीरोदाचास्तथैव च ।
 धीरप्रशान्तकाश्चैव नायकाः परिकीर्तिताः ॥१७॥
 देवा धीरोद्धता ज्ञेया लक्षितास्तु नृपाः स्मृताः ।
 सेनापतिरमात्यश्च धीरोदाचौ प्रकीर्तिता ॥१८॥

धीरप्रशान्ता विज्ञेया ब्राह्मणा वणिजस्तथा ।
 एतेषां च पुनर्ज्ञेयाश्चत्वारश्च विदूषकाः ॥१९॥
 लिङ्गी द्विजा राजकीवी शिष्यश्चेति यथाक्रमम् ।
 देवप्रितिमृतामात्यब्राह्मणानां प्ररोजयेत् ॥२०॥
 विप्रलम्भे मुहृद्दासी सङ्कपालापेक्षाला ।
 व्यसने प्राप्तदुःखा वा युज्यते भूमिपेन सा ॥२१॥
 तथा पुरुषवाहुल्यप्रधानो नायकः स्मृतः ।
 तनानेकस्य भवतो व्यसनाभ्युदयौ पुनः ॥२२॥
 प्रकृतौ यस्य तौ स्यातां स भवेत्तत्र नायकः ।
 एते तु नायका ज्ञेया नानाप्रकृतिलक्षणाः ॥२३॥
 धीरा च लक्षिता च स्यात् उदाचा निभृता तथा ।
 दिव्याना जातयतैस्तैर्गुणैर्युक्ता भवन्ति हि ॥२४॥
 उदाचनिभृता चैव भरत्येव कुलाङ्गना ।
 लक्षिता चाप्युदाचा च गणिका शिल्पकारिका ॥२५॥
 प्रकृतीना तु सर्वाणामुपचारो द्विधा स्मृतः ।
 बाह्यश्चान्मन्तरश्चैव तयोर्वक्ष्यामि लक्षणम् ॥२६॥
 तत्र राजोपचारस्तु यो भवत्यान्तरस्तु सः ।
 ततो बाह्योपचारस्तु यः स बाह्यक उच्यते ॥२७॥
 तत्र राजोपचार तमन्तःपुरसमाश्रयम् ।
 स्त्रीविभागं प्रवक्ष्यामि अन्तःपुरसमाश्रयम् ॥२८॥
 महादेवस्तथा देव्यः स्वामिन्यः स्थापिता अपि ।
 भोगिन्यः शिल्पकारिण्यो नाटकीयाश्च नर्तिकाः ॥२९॥
 अनुचारिकाश्च विज्ञेयास्तथा च परिचारिकाः ।
 तथा सञ्चारिकाश्चैव तथा प्रेषणचारिकाः ॥३०॥
 महत्सर्वः प्रतीहार्यः कुमार्यः स्थविरा अपि ।
 आनुक्तिश्चाश्च नृपतेरयमन्तःपुरो जनः ॥३१॥
 तत्र मूर्धाभिपिक्ता या कुलशीलसामन्विता ।
 गुणैर्युक्ता वयःस्था च मध्यस्थाऽक्रोधना तथा ॥३२॥
 मुक्तेभ्यो नृपशीलज्ञा मुखदुःखतदा समम् ।
 शान्तिस्वस्थयने भर्तुः सततं मङ्गलैरिणी ॥३३॥
 शान्ता पतियुता धीरा अन्तःपुरहिते रता ।
 एभिर्गुणैस्तु समृक्ता महादेव्य उदाहृताः ॥३४॥
 एभिरेव गुणैर्युक्ता सत्सङ्करैस्तु वर्जिताः ।
 गर्वितास्त्वपि सौभाग्यात् प्रीतिस्समोगततराः ॥३५॥
 शुचिनिस्त्वोज्ज्वलाकाराः प्रतिपक्ष्याम्यस्युक्तिकाः ।
 वयोरुपगुणादयान्तु यास्ता देव्यः प्रकीर्तिताः ॥३६॥
 सेनापतेरमात्यानां भृत्यानामथवा पुनः ।

भवेयुस्तनय स्तारु प्रीतिवग्मानवर्धिनाः ॥३७॥
 शीलरूपगुणैर्परु सम्भ्रा नृपत्रलभाः ।
 स्वगुणैर्लब्धमाहात्म्याः स्वाभिन्ध इति ताः स्मृताः ॥३८॥
 रूपवैभवनशालिन्यः कर्कशा विप्रमान्विताः ।
 अतिसम्भोगकुक्षलाः प्रतिपश्यान्पृथिव्याः ॥३९॥
 दक्षा मनुश्च चित्तज्ञा लेख्यालेख्यविचक्षणाः ।
 शयनासनभोगरा मधुरादचतुरास्तथा ॥४०॥
 दक्षः सौम्याः स्फुटाः इल्लगानिभूताः शिल्पकारिकाः ।
 स्वरतालयतिहादच तयाऽऽचायौगैविकाः ॥४१॥
 चतुरा नाट्यकुक्षलाभ्राह्मणोहविचक्षणाः ।
 रूपवैभवनसम्भ्रा नाटकीनाश्च नर्तिकाः ॥४२॥
 हेलाभावविशेषजः सत्वेनाभिनयेन च ।
 मायुषेण च सम्भ्रा हानोद्यकुक्षलास्तथा ॥४३॥
 भङ्गव्यङ्गसम्पदाभ्रतुष्यष्टि - कलाश्विताः ।
 चतुराः प्रशयोपेतास्त्रिदोषैश्च विवर्जिताः ॥४४॥
 सभाः प्रागल्भ्ययुक्ताश्च त्यकालस्या जितभ्रमाः ।
 नानाशिल्पप्रयोगमा नृत्तगीतविचक्षणा ॥४५॥
 अर्षरुःगुणौदर्यसौमाय्यर्षवीर्यसम्भ्रा ।
 पैशालमधुरा सिन्धवा न च विकला चित्रकर्म कुक्षला च ४६
 समागतसु नारीषु रूपवैभवनकान्तिभिः ।
 न हृदये गुणैश्चुल्या यथाः सा नर्तकी स्मृता ॥४७॥
 सर्वावस्थोपचारेषु या न मुञ्चति पार्थिवम् ।
 विज्ञेया दक्षिणा दद्या शय्यपाठी तथाच्युता ॥४८॥
 रस व्यञ्जनधरिणी सवदिनी गणयोक्त्री दया ।
 तथाभरणयोक्त्री च भाला - सयोजिका तथा ॥४९॥
 एवाविधा भवेयुर्वाता श्लेषः परिचारिकाः ।
 नानाकथ्याविचारिण्यनभोपवनसञ्चराः ॥५०॥
 देवतायतनक्रीडाः प्रसादपरिचारिकाः ।
 यामक्रियस्तथा चैव यदचैव लक्षणाः स्त्रियः ॥५१॥
 सञ्चारिकास्तु विज्ञेया नाट्यशैभोगवारिताः ।
 प्रेशणीः कामसयुक्तैर्युक्ता गुह्यसमुत्थितैः ।
 प्रेशणीया नृपैर्यास्तु ता श्रेयाः परिचारिकाः ॥५२॥
 सर्वान्तःपुररक्षास्तु स्तुतिस्वस्त्यन्ते च याः ।
 या वृद्धिमभिनन्दन्ति मरुचर्यास्तु ताः स्मृताः ॥५३॥
 पूर्वरत्नयामिकाः पूर्वराशामभुञ्जिताः ।
 सर्वत्रिचरितहाश्च ता वृद्धा इति सतिताः ॥५४॥
 भाण्डागोप्यभिरुताः सायुषा विवृतास्तथा ।

फलमूलीपपीनाञ्च तथा चैवाश्वीनीयाः ॥५५॥
 गन्धामरणमात्यानाम् वस्त्राणां चैव चिन्तकाः ।
 बद्धाश्रयास्तथा युक्ता विज्ञेया युक्तिकाः स्मृताः ॥५६॥
 इत्यन्तःपुरचारिण्यः स्त्रियः प्रोक्ता समासतः ।
 विशेषण विनोपेण तासां वक्ष्यामि वो द्विजाः ॥५७॥
 या नियुक्ताः नियोगेषु प्रयोगेषु न चोद्भयाः ।
 न चोद्भ्रान्ता न ह्युन्धा च नातिनिष्ठुरमानसाः ॥५८॥
 शान्ताः क्षान्ताः प्रसन्नाश्च जितक्रोधाः जितेन्द्रियाः ।
 अक्लामाश्चापि पूज्याश्च स्त्रीदोषैश्च विवर्जिताः ॥५९॥
 अनुरक्ताश्च भक्ताश्च नानापार्वसमुत्थिताः ।
 ता नियोगेषु योक्तव्या सर्वदोषविवर्जिताः ॥६०॥
 या सा नष्टु सक्ता नाम नृतीया मङ्गलिः स्मृता ।
 सायन्तःपुरसंचारे योक्तव्या पार्थिववेदमनि ॥६१॥
 वारकाः कञ्चुकीयाश्च तथा वर्षवरः पुनः ।
 औषध्यापिनिष्ठुष्ठाः स्त्रीणां प्रेषणकर्माणि ॥६२॥
 रक्षणं च कुमारीणां बालिकानाञ्च योजयेत् ।
 अन्तःपुराधिकारो हि राजभायार्नुवर्तनम् ॥६३॥
 सर्वैश्चान्तवयोगश्च नाट्यागारे निवेशयेत् ।
 यनितास्वस्त्यस्तथा ये ये क्लीबा स्त्रीसम्भवनाः ॥६४॥
 आत्या न भाषिणश्चैव ते वै वर्षवराः स्मृताः ।
 ब्राह्मणाः कुक्षला वृद्धाः कलादोषविवर्जिताः ॥६५॥
 प्रयोगेषु देवीनां नियोक्तव्या नृपैः सदा ।
 एतदद्यादद्यविष प्रोक्तमन्तःपुर मया ॥६६॥
 अतः परं प्रवक्ष्यामि ब्राह्मणरूपसञ्चरम् ।
 राजा सेनायतिरचैव पुरोधा मन्त्रिणस्तथा ॥६७॥
 सत्विवाः प्राड्विवाकारुत्तु सुसाश्चरत्तथा ।
 एते चान्ये च बहवो मान्या श्रेया नृग्य तु ॥६८॥
 विशेषमेव वक्ष्यामि लक्षणाणि निबोधत ।
 बलवान् बुद्धिसम्पन्नः सत्ववर्ती जितेन्द्रियः ॥६९॥
 दक्षः प्रगल्भो मतिमान् विद्वान्तो मतिमान् शुचिः ।
 दीपदर्शी महोत्साहः कृतज्ञः प्रियवाक् पटुः ॥७०॥
 लोचगलगतपरः कर्ममार्गविशारदः ।
 उथितभ्राप्रमत्तश्च वृद्धः स्मृत्यर्थशान्तिवित् ॥७१॥
 परदोषेऽङ्गिताभिरः शूरः रक्षासमन्वितः ।
 ऊहानां हविचारी च नानाशिल्पप्रवर्तकः ॥७२॥
 नीतिशास्त्रे च कुशलो गुणैर्यभिर्बलवन् ।
 बुद्धिमान्नीतिवग्मो विक्रान्तः स्वान् प्रियवदः ॥७३॥

अर्थशास्त्रे च कुशलो ह्यनुरक्तः प्रजासु च ।
 यो धार्मिकस्त्वामात्याः कर्तव्या भूमिषु, सदा ॥७४॥
 व्यपहरायतंराजा बुद्धिमन्ता बहुश्रुताः ।
 मध्यस्था धार्मिकधियः कार्याकार्यविचक्षणः ॥७५॥
 धान्ता दान्ता जितक्रोधाः सर्वत्र समदर्शिनः ।
 इहमाः प्राड्विग्राहश्च स्थाप्या धर्मपरैरुपैः ॥७६॥
 उत्थिताश्चाप्रमत्ताश्च त्यक्त्वाल्पा जितश्रमाः ।
 रिनयः शान्ताविनीताश्च मध्यस्था निपुणास्तथा ॥७७॥
 नयज्ञा निनयश्चाश्च ऊहापोहविशारदाः ।
 सर्वशास्त्राभ्यसम्पन्नः कामायविद्वृत्तास्तथा ॥७८॥
 बृहस्पतिमतादेतान् गुणाश्चाप्यभिलक्षयेत् ।
 विज्ञेय चावधार्य च समाविस्तारकस्त्वन्मम ॥७९॥

[अत्र मैं मनुष्य-स्वभाव-का लक्षण ब्रवाता हूँ । सक्षेप में पुरुषों और स्त्रियोंका स्वभाव उच्चम, मध्यम और अधम तीन प्रकारका कहा गया है । जो उच्चम प्रकृतिके पुरुष होते हैं वे भित्तिरिप्य अर्थात् सदाचार्य, ज्ञानवान, अनेक शास्त्रोंमें कुशल, सबको प्रसन्न करनेवाले, भगल्ल (एश्यां नील), दीनोंको डाटस बंधानेवाले, अनेक शास्त्रोंका मर्म जाननेवाले, गम्भीर, उदार, धीर, और त्यागी होते हैं । मध्यम प्रकृतिवाले पुरुष लोकव्यवहारमें चतुर, शिवा शास्त्रमें प्रवीण, विश्वानुक्त अर्थात् मनुष्य पदचानकर व्यवहार करने वाले और मधुर व्यवहार करनेवाले होते हैं । इनके अतिरिक्त सत्रसे रुखा बोलने वाले, दूसरोंसे बुरा व्यवहार करनेवाले, दुष्ट, मन्दबुद्धि, क्रोधी, हिंसक, मित्रघाती, अनेक बौद्धाओंसे प्राण लेनेवाले, चवाई (सुगली पानेवाले) घमडी, उद्वेग, कृतघ्न, आलसी, मान्यका अपमान करनेमें प्रवीण, स्त्रियोंके पीछे चिन्नेवाले, झगड़ालू, दूसरोंका दोष ढूँढनेवाले, पापी, तथा दूसरोंका धन हरनेवाले पुरुष अधम प्रकृतिके होते हैं । इस प्रकार आचरणकी दृष्टिके पुरुषोंके समान ही स्त्रियोंकी भी प्रकृति तीन प्रकारकी होती है ।

अत्र हम स्त्रियोंके स्वभावकी भीमाहा करते हैं—मृदु व्यवहार करनेवाली, शान्त, सदा प्रसन्न रहनेवाली, कामल्लक्षमवकी, सदा सत्रसा भली बात करनेवाली, लज्जागीट, मन्त्रासे मयी हुई, सबको प्रिय लगनेवाले रूप और मानुर्य वाली, सार्वभारिक गुणोंवाली, गम्भीर और धैर्यसे युक्त स्त्री उच्चम प्रकृतिकी कहलाती है । जिस स्त्रीमें बहुत

अच्छे गुण न हों किन्तु अवगुण भी न हों और कोई नाई छोटे मोटे दोष भी हों पर मध्यम प्रकृतिवाली कहलाती है । अधम प्रकृतिवाली स्त्री वह है जिसमें अधम पुरुषोंके लक्षण पाए जायें । जो मिश्र और अधम ही उसे नपुंसक समझना चाहिए । चेरी आदिकों की मिश्र स्वभावना ही समझना चाहिए अर्थात् जो कमी स्थिर हों, कमी अस्थिर हों । इसके अतिरिक्त द्विज, विदूषक और शस्त्र आदि पात्रोंको मिश्र प्रकृतिवाल ही समझना चाहिए । इस प्रकार नाट्यमंगल लिंग नाटकके पात्रोंको समझते हैं । पुरुष, स्त्री और नपुंसकोंकी इतनी प्रकृति जाननी चाहिए । अत्र मैं इनका स्वभावपर अल्पभिन्न रूप बताऊँगा ।

(चार प्रकारके नायक ब्रताए गए हैं तो मध्य और उच्चम प्रकृतिमें अनेक लक्षणसे युक्त होते हैं । ये नायक धीरोद्धत, धीरललित, धीरोदात्त और धीर प्रशान्त बने जाते हैं । देवता धीरोदात्त होते हैं । राजा धीरललित होते हैं । सेनापति और अमात्य धीरोदात्त तथा ब्राह्मण और वैश्य धीर-प्रशान्त होते हैं । इन चारोंके चार प्रकारके विदूषक होते हैं । देवताओंके विदूषक लिङ्गी (सन्धी या धर्मलक्ष्मी), राजाओंके विदूषक ब्राह्मण, सेनापति और अमात्यके राजजीवी अर्थात् राजपुरुष और ब्राह्मण वैश्य नायकोंके विदूषक उनके शिष्य होते हैं) ।

नियोगमें राजा नायकके साथ कोई ऐसी प्रिय दासी रखनी चाहिए जो सुन्दर कथा और बातचीत करनेमें चतुर हो और राजाके साथ ऐसी दासी होनी चाहिए जो स्वयं विभक्ति पङ्क्तिपर दुःख भोग चुकी हो अर्थात् ऐसी हो जो दुःखमें डाटस रूँधा सके । ब्रह्मते पुरुषोंका जो अग्रणी हो उसे नायक करते हैं उनमें भी जो नायक विभक्ति और अभ्युदयमें सुरक्षा अनुभव करता हो और दोनों अन्वेषार्थोंमें जो अपनी श्रेष्ठता बनाए रखता हो वही नायक कहा जा सकता है । ये अनेक स्वभाव और लक्षणोंसे नायक जानने चाहिए । दिव्योत्पत्ति जातियों धीर, ललित, उदात्त और निमत्त होती हैं और इनमें अपनी अपनी जातिके गुण होते हैं । उदात्त और निभूत जातिवाली स्त्रियाँ बुलाङ्गना होती हैं और ललित तथा उदात्त प्रकृतिवाली गणिका तथा शिल्पकारिका होती हैं । इन सबकी प्रकृतिका प्रयोग दो प्रकारका होता है । इनमेंसे राजोपचारको अन्वय

उपचार कहते हैं और बाहरी उपचारको बाह्यक कहते हैं। रनिवाससे सम्बन्ध रखनेवाला राजोपचार कहलाता है इसलिये मैं रनिवासकी स्त्रियोंका विवरण देता हूँ।

राजाके अन्तःपुरमें निम्नलिखित प्रकारकी स्त्रियाँ होती हैं—महादेवी, देवी, स्वामिनी, आश्रिता, रखेली, शिव-कारिणी, नाटकीया (नाटक करनेवाली), नाचनेवाली, अंगरक्षिका, सेविका, राजारानी अथवा प्रेमी-प्रेयसीके बीच सन्धि करानेवाली, सन्देशवाहिका, प्रधानसेविका, द्वाररक्षिका, कुमारी, वृद्धा और मन्थना देनेवाली धातुकिका।

(रानियोंमें सबसे प्रधान, बड़े कुल और शीलवाली, सब गुणोंसे युक्त, अक्षय्यमें सबसे बड़ी, राजा रानियोंके बीचका झगड़ा निपटानेवाली, क्रोध न करनेवाली, रूपाँ हीन, राजाके स्वभावको पहचाननेवाली, समृद्धिमें शान्त रहनेवाली, सदा अपने पतिका कल्याण चाहनेवाली, शान्त, सदा पतिके साथ रहनेवाली, धीर और रनिवासके हितमें लगी हुई पटरानीको महादेवी कहते हैं।) इन गुणोंसे युक्त किन्तु अन्धे सक्कारोंसे हीन, धरने सौभाग्यर इतरानेवाली, सदा प्रेम और सम्भोगमें लीन, नित्य बनी-ठनी रहनेवाली अपनी सौतोंसे जलनेवाली, वय और रूपके गुणोंसे युक्त रात्रियों देवी कहलाती हैं।

(सेनापति, अमात्य या अन्य राज्यसेवकोंकी जो कन्या बड़े प्रेम और सम्मानसे पाली जाती हैं, जो अपने शील-स्वभाव, रूप और गुणके कारण राजाकी प्रिया बन जाती हैं और अपने गुणोंसे ऊँचा पद प्राप्त कर लेती हैं वे स्वामिनी कहलाती हैं। (रूप-यौवनसे भरी हुई, झगडाव, एँठमें रहनेवाली, सम्भोगमें अत्यन्त चतुर, सौलिय टाह रखनेवाली, अपने पतिका चित्त भली भाँति समझनेवाली, पत्र लिखने और चित्र बनानेमें चतुर, शय्या आसन और भोजनके विषयमें सब कुछ जाननेवाली, मधुर, चतुर, सीधे स्वभावकी, मुँहफट, चिकनी-चुम्की बात बानेवाली तथा अपने मनकी बात किसीको न बतानेवाली धिक्कारिका होती है। (स्व, ताल और यतिकी जाननेवाली, सर्गाता-चार्यकी सेवा करनेवाली, नाट्यमें कुशल, भन्दे-बुरेतर ठीक विचार करनेवाली और रूप-यौवनसे सम्पन्न नर्तकियों ही नाटकीया कहलाती हैं।) हाव-भावमें कुशल, माधुर्यभरे साहित्यक अभिनयसे सम्पन्न, बाजा बजानेमें कुशल, सगीत-चित्राके अंग प्रत्यंग जाननेवाली, चौखटों कर्मभोंमें निष्णात

सबसे आदरका व्यवहार करनेवाली, वात-पित्त-कफके रोगोंसे हीन, सबसे समान व्यवहार करनेवाली, चतुराई बात करनेवाली, आलसहीन, थकावट न माननेवाली, अनेक प्रकारके शिल्पोंका प्रयोग जाननेवाली, दृढ और गीतमें चतुर, रूप गुण, उदारता, सौभाग्य, धैर्य और सह्यकता भाषा अंश रखनेवाली, सौन्दर्यके कारण मधुर दिखाई देनेवाली, कोमल, शान्त, चित्तकर्ममें चतुर, धार्द हुई अन्य नारियोंमें रूप यौवन और कान्तिमें विशेषके समान कोई न हो वह नर्तकी कहलाती है। जो सब प्रकारकी अवस्थाओंमें राजाकी सेवा करती रहती हो, सदा सबको प्रसन्न करनेवाली हो, चतुर हो, शय्या ठीक रखती हो, कर्मा भूल न करती हो, खाने-पीनेकी वस्तुएँ लाकर रखती हो, पैर दबाती हो, सुगन्धित पदार्थ शरीरमें मलती हो, आभरण पहनाती हो, फूल मालासे सजाती हो, तथा इस प्रकारकी सेवा करती हो उसे परिचारिका समझना चाहिए। राजभवनके अनेक कर्मोंमें तथा उपवनमें इषर-उषर जानेवाली, मन्दिर, खेल और भवनमें सेवा करनेवाली, समयनी सूचना देनेवाली, भोगके अधिकासे हीन स्त्रियों सञ्चारिका कहलाती हैं। कामसे पीडित होकर गुप्त प्रयोग छिड़ जानेपर राजा रोग सहायताके लिये जिन स्त्रियोंकी सहायता लेते हैं उन्हें परिचारिका कहते हैं। जो सारे अन्तःपुरकी रक्षा करती हैं, सुनि और मगलके कार्योंमें जो योग देती हैं, जो सदा रनिवासकी वृद्धिनी कामना करती हैं वे महचरी कहलाती हैं। जो स्त्रियाँ पहलेसे सभाकी नीति जानती हैं, सबसे पहले राजा जिसमें पूजा करते हैं, जो सबकी कथा जानती हो वह वृद्धा कृषी जाती है। मण्डारकी समझाल करनेवाली, शम्भु लेकर चलनेवाली, पिकलाग, फल-मूल-आपत्ति और अन्नकी परीक्षा करनेवाली, र.प. आभरणमाला, वस्त्र इत्यादिकी समझाल करनेवाली तथा इस प्रकारके वृद्धते नाम जिनरर हों वे आयुक्तिका कहलाती हैं। इस प्रकार संक्षेपमें मैंने अन्तःपुरकी स्त्रियोंका वर्णन किया है।

अब मैं विस्तारसे इनकी विवेचनाएँ बतता हूँ। अधिनार पदपर तथा विसी विवेचन कर्ममें उन्हीं स्त्रियोंकी नियुक्त करना चाहिए जो उद्भूत अर्थात् उद्भूत चरित्रकी हों, उद्भूत अर्थात् धरवाई हुई न हो, लोभी न हो निष्ठुर न हो, तथा शान्त, क्षमाशील, प्रसन्न, क्रोध-रहित, सदाचारिणी, द.अ.प.दि. पू.न. स्त्रियोंके दोषोंसे

मुक्त, स्वामीमें अनुराग रखती हो, भक्त हो, अनेक प्रकारकी कुटिलताओंसे परे हो, ऐसी सर्वदोष-रहित स्त्रीको अधिकारपद देना चाहिए। नपुसक नामकी जो तीसरे प्रकारकी प्रकृति बताई गई है उससे राजाओंके अन्तःपुरका काम लेना चाहिए। कारका, कञ्चुकी (अन्तःपुरकी दासी), नपुसक, औरस्थापिका तथा निर्गुण्डा स्त्रियोंके इष्ट-उपर सदेव भेजने तथा कुमारियों और बालिकाओंकी रक्षामें लगाना चाहिए। अन्तःपुरकी सम्हालका काम, रानियोंकी दहल बजानेका काम और नाट्यागारका काम ऐसी स्त्रीको सौंसा चाहिए जो सब बातें ठीकसे जानती हो। जिनमें स्त्रियोंके अत्यन्त अल्प लक्षण हों और स्त्री स्वभाववाले नपुसक हो, जन्मसे ही गुणे हों उन्हें वर्षपर कहते हैं। देवियोंके कामके लिये राजाको चाहिए कि ऐसे ब्राह्मणोंको नियुक्त करें जो बुद्धाल हों, वृद्ध हों और जिनमें कलाके दोष न हों। इस प्रकार अन्तःपुरके थडारह प्रकारके जनोका मैंने वर्णन किया है। अब इसके पश्चात् मैं बाहरके पुरुषोंका वर्णन करता हूँ।

राजा, सेनापति, पुरोहित, मंत्री, सचिव, प्राङ्गणिक (निर्गायक), कुमारभूत-आदि ऐसे बहुतसे राजसेवक होते हैं जिनका राजा आदर करते हैं। इनके लक्षण बताता हूँ—

(बलवान्, बुद्धिमान्, सत्यवादी, जितेन्द्रिय, चतुर, वागी, समझदार, दूरकी बात सांचनेवाला, पराक्रमी, पवित्र, दूरदर्शी, उत्साही, वृत्तन, प्रियभाषी, कुशल, लोकापालनका त्रत लेनेवाला, प्रत्येक कामका उपाय जाननेवाला, जागरूक, सावधान, शूद्र, स्मृति और अर्थशास्त्रमें निपुण, आकारमाने ही दूसरोंका दोष पहचाननेवाला, वीर, रक्षाके साधन रखनेवाला, भले बुरेका विचार करनेवाला, अनेक प्रकारके शिल्प चलानेवाला तथा नीतिशास्त्रमें कुशल पुरुष ही राजा होता है।

बुद्धिमान्, नीति सम्पन्न पराक्रमी, प्रियभाषी, अर्थ-शास्त्रमें कुशल, प्रजाका हित चाहनेवाला और धार्मिक पुरुष ही अमात्य या मन्त्री बनाना चाहिए। व्यवहार और अग्रेके अर्थालोकाचार और अर्थशास्त्रके सब तत्वोंको जाननेवाले, बुद्धिमान्, बहुश्रुत, निष्पक्ष, धार्मिक बुद्धियाले, कार्य और अकार्यका भेद जाननेवाले, क्षमाशील,

जितेन्द्रिय, नोषहीन, सबको समान दृष्टि देखनेवाले लोगोंको निर्गायकके पदपर रखना चाहिए। जागरूक, सावधान, निरालस, कमी न यकनेवाले, कोमल हृदयवाले, क्षमाशील, विनीत, निष्पक्ष, चतुर, नीति और विनय जाननेवाले, उचित अनुचितका विचार करनेवाले, सब शस्त्रोंका अर्थ जाननेवाले, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर आदि विकारोंसे हीन लोगोंको वृहस्पतिके मतसे समामें नियुक्त करना चाहिए।]

इसमें भरतने उस प्रकार पात्रोंका विचार नहीं किया जैसे पीछेके आचार्योंने नायक नायिका भेदके रूपमें विस्तारसे विवेचन किया है। भरतने तो विशेष रूपसे राजाओंके अन्तःपुर तथा समामें काम भानेवाले व्यक्तियोंके गुणोंका लेखा भर दे दिया है और वह भी उतना स्पष्ट और विस्तृत नहीं है कि उसके मिलोकके पुर्यों और स्त्रियोंकी प्रकृति का ज्ञान हो सके। भरतने जब "त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्य भावानुकीर्तनम्" कहा है तब उन्हें विस्तारसे विभिन्न मानव सम, जोंमें काम करनेवाले व्यक्तियोंका विवरण देना चाहिए था किन्तु भरत ऐसा न कर सके। पीछेके आचार्योंने इस कमीका अनुभन किया और विस्तारके साथ स्त्रियों और पुरुषोंके स्वभाव, वय और अवस्थाके अनुसार उनके अनेक भेद किए और नायक नायिका भेद हमारे काव्यशास्त्रका एक मुख्य अंग बन गया। भरतने अपने नाट्यशास्त्रमें जिनने पक्षरके पात्रोंका वर्णन किया है उनको विस्तारके साथ शारदातनयने अपने भावप्रकाशनके दृश्य अधिकारमें समझाया है इनमें से कुछ तो भरतने समझा दिए हैं कुछ की व्याख्या शारदातनयने इस प्रकार की है—

यह तो नायक और प्रेक्षक-परिवाताका स्वभाव है

● इयं तु नेत्रप्रेक्षकपरिचारप्रकृतिरिति शारदातनयः ॥

[निता दर्शक-परिवारोंकी ही यह प्रकृति शारदासुभ मत।]

नानाशीलस्य लोकस्य भावान् भासयतीह यः।

भूमिकास्ताः प्रविरयात, शैल्य इति कथ्यते ॥

भाषावर्णो रकणैर्नाना प्रकृतिसम्भवम् ।

वेष वयः कर्मा चेष्टा विभ्रदमरत उच्यते ॥

शतीतं छोकृच्छान्तं रसभावसमन्वितम् ।
 स्वभाववन्नाटयति यतस्तमाद्भूतः स्मृतः ॥
 सङ्गम् काव्यनिश्चिनवस्तुनेनूकभारसाम् ।
 नान्दीस्लोकेन नान्द्यन्ते सूत्रधार इति स्मृतः ॥
 आद्यत्रयन् गुणान्नेतुः कवेरपि च वस्तुनः ।
 रङ्गप्रपापनमौढः सूत्रधार द्रहोच्यते ॥
 भरतेनाभिनीतं यद्भाव नानारावाश्रयम् ।
 परिष्करोति षड्वर्षस्यः स भवेत्तारिफाः ॥
 चतुरातोयविद्राग्मी प्रियवागीततालवित् ।
 उपचयं प्रयोक्तुः यः स सूत्रधृग्वितीरितः ॥
 उच्चैश्चला रूपवन्तश्च दृशोवकरषक्रियाः ।
 मेधाशिनो विधानज्ञा एव स्व कर्मणि पण्डिताः ॥
 सूत्रधारहिता दक्षा यथोद्देशप्रयोगिनः ।
 एभिरेव गुणैर्बुक्ता नटा नाट्ये भवन्ति हि ॥
 भूमिक्वभिरनेकाभिः कर्मवागङ्गचेष्टितैः ।
 यथाप्रकृतिसन्धानकुशलस्ते कुशीलवाः ॥
 चतुरातोयभेदशास्त्रकलासु विद्यारदाः ।
 कर्णाभिनयशास्त्र सर्वभाषाविचक्षणः ॥
 नटानुयोजनी वृत्त्येव नटस्य रुहिणी नटी ।
 विदूषकोऽपि सर्वत्र विनोदेष्टुं पशुच्यते ॥
 विद्वद्भ्यः कामसाचित्यकरणेनोपयुज्यते ।
 तदात्वप्रतिमो नर्मचतुर्भेद प्रयोगवित् ॥
 वेदविन्नर्मवेदी यो नैतुः स्यात्स विदूषकः ।
 खलतिः पिङ्गलाश्रय हास्यानूकविभूषितः ॥
 पिङ्गकेशो हरिश्मभ्रुर्नर्चकश्च विदूषकः ।
 वैश्यावचारबुखलो मधुरो दक्षिणः कविः ॥
 प्रतिगच्छिपरो यामी चतुरश्च विदो मतः ।
 माल्यभूषोच्चलः कुण्डलनिमित्त प्रसीदति ॥
 विदुः प्राकृतवादी च प्रायो बहुविकारवान् ।
 एते नाट्यप्रयोक्तारो राज्ञा भुः सुखनोगिनाम् ॥
 प्रथमं तस्य राज्ञानं प्रवृत्तिं च विधा रियताम् ।
 महिषीं च महादेवीं देवीं च सहभोगिनीम् ।
 आश्रिता नाट्यीयाश्च कामुकां शिष्टयकारिकाम् ।
 विशाया चान्तःपुरिकाः पश्चात् परिचारिकाः ॥
 श्यायागली उत्रयागली तथा चाभरधारिणीम् ।
 शवाहिका गल्पयोजनी माल्याभरणयोजिके ॥
 एता विशाया ततश्चादियाचदनुचारिकाः ।

नाना कथाभविद्याभ्यः तथोपवनभूमिकाः ॥
 देशतायजनक्रीडाहर्म्य-प्रासाद-मालिकाः ।
 एता विशाया भूमानां विद्यास्वञ्चारिका अपि ॥
 वीटिकाशायिनी वेत्रधारिणीरसिधारिणीः ।
 आङ्घ्रिकाः प्रेक्षणिक्कारतथा यामिनिक्कारिणि ॥
 एता सञ्चारिका राशस्तैता ह्यनुचारिकाः ।
 अत्रियुक्ताश्चरन्त्येताः सर्ववस्थासु भूयन्तः ॥
 महत्तयः प्रतीहार्यो वृद्धा आयुक्तिका अपि ।
 कञ्चुकीया वर्षवराः किराताः कुञ्जवामनः ॥
 औपस्थापिकनिमुण्डा अभयागाराश्च मूकिनः ।
 एते ह्यन्तःपुरचरास्तेषा लक्षणमुच्यन्ते ॥
 अभिगम्यगुणोपेतो नेता वा प्रेक्षकोऽपि वा ।
 विजिगीषुर्महोदात्तः सम्पक्सङ्गीतवेदिता ॥
 मूर्धाभिषिक्ता महिषी तुल्यशालकुलाश्रिता ।
 धनमिश्रा सपत्नीया सहधर्मचरी भवेत् ॥
 अन्तःपुरहिता साध्वी शान्ति-वक्ष्ययनेयुता ।
 अनीर्था पतिशीलज्ञा महादेवी पतिवता ॥
 एभिर्गुणैर्युक्ता विञ्चिच्छस्त्यत्कार्यजिता ।
 गर्विता रतिसम्भोगतत्परा च समस्तरा ॥
 रूपयौवनसम्पन्ना राज्ञा देवोति कथ्यन्ते ।
 नित्य प्रसाधनवती शीलरूपगुणान्विता ॥
 स्वय प्रवृत्तसुरता प्रवृत्ते भोगवर्त्मनि ।
 सपत्नीनामसहना भोगिनीति निगद्यते ॥
 भोगोपस्कारसक्त्र्नी नृपतेःशब्दवर्तिनी ।
 गतेष्वर्था भोगकुदाला दयालुञ्चाश्रिता भवेत् ।
 नृपतेर्गतवस्तुनि गायिनी रतिमन्दिरे ।
 स्वाभिष्टङ्कारचेष्टाभिः पत्युर्गन्मयवर्धिनी ॥
 मुखयागेन हृत्यन्ती नाटकीयेति कथ्यते ।
 निषीदन्त निषीदन्ती गच्छन्तमनुयायिनी ॥
 भुञ्जानमनुभुञ्जाना शयानमनुयायिनी ।
 सा कामुनेति विज्ञेया देशकालनवेक्षिणी ॥
 वासाङ्गरागाभरणमाल्यमाल्यविधायिनी ।
 विचित्रमुरतनीटा पशुवैचित्र्यदायिनी ॥
 शयनासनशिल्पज्ञा सा भवञ्छिल्पकारिका ।
 आसा स्वभविमालोच्य यथाभाव प्रयोगयेत् ॥
 राज्ञो महिष्यास्त्वञ्च सर्वान्तर्याणु सर्वदा ।
 स्वाधिकारैर्यथायोगं पठन्ते परिचारिकाः ॥

धामा शील ग्यभावञ्च यथाभाव प्रयोजयेत् ।
 सञ्चारिकाणां कर्माणि तत्र तत्र प्रयोजयेत् ॥
 सञ्चारिका यथा योष्यतरतया स्फुरनुचारिकाः ।
 कामोपभोग - सम्भोगगुह्यागुह्यसमर्पणे ॥
 या राज्ञा विनियुज्यन्ते ताः स्युः प्रेक्षिकाः स्त्रियः ।
 प्रीत्यान्तःपुरिका नित्यमासीः स्वस्थयनादिभिः ॥
 पृच्छन्त्यः जुशल देवीस्ता महत्तय ईरिताः ।
 सा नियोज्याः 'सदा' राजा सर्वांगःपुररक्षणे ॥
 याः पञ्चमाब्दादधिका दशमाब्दावरा स्त्रियः ।
 कुमार्यस्ताः कुमारीणां प्रतीहार्य इति स्मृताः ॥
 प्रत्यन्तःपुरिक तास्तु मुखदुःखसमन्विताः ।
 निवेदयन्ति वृत्तान्त कुमार्यसह सर्वदा ॥
 अजातरतिस्सम्भोगा निभृता लज्जयात्विताः ।
 अन्तःपुरविद् रिण्यः कुमार्यः कुलजाः स्मृताः ॥
 ता लालनीया नृपतरवरोषवधुर्जनैः ।
 पूर्वराज नयशाश्च तैः श्रमेणैव मानिताः ॥
 पूर्वराजोपचारता यास्ता वृद्धा इतीरिता ।
 कथयन्त्यः कथाश्रित्वा वाक्यैः प्रहसनैरपि ॥
 विनोदयन्ति ता राज्ञः स्त्रियोऽन्तःपुरवर्तिनीः ।
 फल्गुलौपथीमाल्योगाभरणशवासाम् ॥
 भाण्डायुषासनानां स्युःश्रावायुक्तिकाः स्मृताः ।
 ताश्चान्तःपुरचारिण्यो नियोज्यास्तेषु कर्मसु ॥
 धकामा ब्राह्मणार्थचैव कञ्चुकोष्णीपवेत्रिणः ।
 हानविज्ञानसमन्ना कञ्चुवीयाः स्मृता बुधैः ॥
 नलासत्त्वा स्त्रीस्वभावा क्लीबा निष्कामिनः स्वतः ।
 ज्ञात्वा वा वामनिर्मुक्तास्तेषु वर्षवराः स्मृताः ॥
 वन्यमूलफलाहाराः पल्लीपर्यतवासिनः ।
 चित्रस्त्रीकाः सुभाषाज्ञाश्रितुकाः कर्कशाङ्गकाः ॥
 ते किराता बलाहाज वार वार नियोजिताः ।
 कञ्चुवीया नृपान्याशवर्तिनोऽन्तःपुराश्रयाः ।
 भवनान्तरकृत्तेषु नियोज्याः प्रेष्यकर्माणि ।
 साहाय्ये कामचारस्य राज्ञः प्रच्छन्नकामिनः ॥
 वारज्यःपासकथने स्त्रीणां वर्षवराः स्मृताः ।
 राजाचरोपभोग्यानां भाण्डाभरणवाससाम् ।
 सद्योऽन्तःपुरदण्डेषु किराता योजिता नृपैः ।
 परिहासविनोदेषु स्त्रीणां स्युः कुञ्जवामनाः ॥
 अपिद्धकणः क्लीषश्च ह्यसौ विषट्दन्तनः ।

तुन्दिलोऽप्यन्तरचर औपस्थापिक उच्यते ॥
 अशतकर्मा निष्कोशा निमुण्डा इति च स्मृताः ।
 बधूपस्थापने राज्ञामौपस्थापिक उच्यते ॥
 प्रस्थापने बधूनां स निमुण्डो योज्यते नृपैः ।
 पु स्त्री लिङ्गत्रिलोकाङ्गाः स्वस्वसमश्च स्तनाम्बिकाः ॥
 अन्ध्यागारा इति श्रेया अन्ध्यागाराधिकारिणः ।
 नियोगकारका राज्ञा सर्वांगेभ्यः सर्वदा ॥
 मूकाः कुहकलीलाभिः सर्वत्र परिहासकाः ।
 तेषां भाष परिज्ञाय तथैवाभिनयेन्नटः ॥
 राजा सेनापतिरचैव युवराजः पुरोहितः ।
 प्रादिनका प्राद्विवाकास्त व्यायुक्ताः सचिवास्तथा ॥
 एते सभासदः कार्यं प्रादिनकाः प्रागुदाहृताः ।
 नानाभावनविशेषज्ञा नानाशिल्पविचक्षणः ॥
 शयने व्यासने वापि लेख्येऽलङ्कारशोभने ।
 परिहासोद्दिग्गज्ञाने चतुरातोऽनवेदने ॥
 नृचे गीते च कुशला नानाभावविचक्षणः ।
 मनरिबनो मानधना ऊहापोहविद्यारदाः ॥
 अर्थेषु स्त्रीषु सुशलाश्च सदस्याः कथिता बुधैः ।
 वैतालिका वन्दिनश्च नान्दीमङ्गलाटकाः ॥
 सताश्च मागधारचैव सदस्याः स्युः कदाचन ।
 तत्प्रहरकयोर्ग्यैरागैःतत्कालवाचिभिः श्लोकैः ॥
 सरभसनेन विताल गायन वैतालिको भवति ।
 धकन वाऽपरवकन वा नेपथ्ये गात्रमर्हति ॥
 वन्यमानेश्वरक्षमाप - बशानीर्गुणततैः ।
 वन्यभूहृद्गुणोत्कर्षश्रावका वन्दिनः स्मृताः ॥
 धासी, पुरस्तु तैर्वर्तिमङ्गलाप्रकाशकैः ।
 मङ्गलानि प्रशसन्तो नान्दीमङ्गलाटकाः ॥
 नन्दनीयानि वाक्यनि मङ्गलानि च भूषताम् ।
 पटन्ति भोगार्थोनीति नान्दीमङ्गलाटकाः ॥
 मुखस्वापविदो राज्ञा सुप्रभातप्रदासकाः ।
 स्मृताः सनयोत्थाना कर्मणा बोधका, स्मृताः ॥
 राज्ञः पुरजनन्यापि मङ्गलाचारशानिनः ।
 मान्यैर्मागधिकागीतैर्मागधा इत्युदीरिताः ॥
 एन सपरिवारस्य नेतृदत्र प्रेक्षकस्य च ॥
 रत्नभावमवगम्यैव नाट्येनाभिनयेन्नटः ॥
 [जो व्यक्ति अनेक स्वभाववाले सकारके भावोंको
 वैसा वैसा रूप धारण करके प्रवाशित करते हैं, जो

लोग भाषा, वर्ण आदि सामग्रियोंसे अनेक प्रकारकी प्रकृतियोंके वेप, अवस्था, कर्म तथा चेष्टा करके दिखाते हैं, उन्हें भरत करते हैं। जो लोग रस और भावसे युक्त भूतकानकी कथा रसामयिक रूपसे अभिनीत करते हैं, वे नट कहलते हैं। अर्थात् जो वर्तमान कालके लोगोंके जैसा रूपक बनाकर मान प्रदर्शित करे वह शैल्य (नकल उतारनेवाला) कहलाता है। माघमें कहा भी है—

अभ्योपगतिं छलनापरोऽपरामवाप्य शैल्य इवैव भूमिकाम् ॥ १७.६८ ॥

(जो भूतकालके समाजका रङ्गमञ्चपर अभिनय करते हैं, वे पार्श्वोंवाली तीनोंमें क्लृप्त वेप अदि धारण किए हो केवल दूसरोंके भवोंका अनुकरण करता है, भरत केवल दूसरोंके वेप, अवस्था, कर्म तथा चेष्टाओंका अनुकरण भाषा, वर्ण तथा अन्य सामग्रियोंके साथ करता है और नट किसी प्राचीन कथाने पार्श्वोंका रस-मात्रयुक्त अभिनय करता है।

सूत्रधारको इसलिये सूत्रधार करते हैं कि वह नान्दी-पाठके पत्रात् तन्वयमें प्रस्तुत वस्तु, नेतृओंके चरित और रसोंको इकट्ठा करके एक टरेमें ढिरो देता है अर्थात् सक्षेपमें कह देता है। यों सूत्रधार उसीको कथा गया है, जो रङ्गीटकी सब कलाओंमें चतुर हो और नेता, कवि तथा वस्तुका संक्षेपमें परिचय दे सके। जो व्यक्ति भरतके द्वारा अभिनय किए हुए अनेक रसों पर आधिन भावोंका परिष्कार करता चलता है और सदा भरतके पक्ष रहता है, वह पारिपरिषक कहलाता है। (जो व्यक्ति चारों पाय बनानेमें कुशल हो, पका हो, मधुरभाषी हो, गीत तथा ताल जानता हो और समझ बूझकर सबका प्रयोग करना हो, उसे सूत्रधार करते हैं)। जो तेजस्वी, रूपवन्, राजाओंके लिये सब साधन जुटानेमें समर्थ, मेघवी, सब वस्तुओंकी ठीक ठीक समझनेवाले, रङ्गशालाका सब विधान जाननेवाले, अपने-अपने काममें कुशल, सूत्रधारकी मदायता करनेवाले, चतुर, यथोचित कार्य करनेवाले लोग होते हैं, वे नाट्यमें नट या अभिनेता बन सकते हैं। अनेक प्रकारकी भूमिकाओंमें त्रिया, वाणी और आङ्गिक चेष्टाओंसे नाटकके पात्रकी ठीक-ठीक

प्रकृतिका अभिनय करनेमें जो कुशल होते हैं, वे कुशीलव कहलाते हैं। चारों प्रकारके वायोंका भेद जाननेवाली और वागकृत्योंमें प्रवीण, वरण और अभिनय जाननेवाली, सब भाषाओंकी पण्डिता, सब कामोंमें नटकी शाला माननेवाली, नटकी पत्नीको नट्टी कहते हैं। विदूषक भी सर्वत्र विनोदमें काम आता है और प्रेम व्यापारमें मन्त्रणा देनेवाला व्यक्ति विट कहलाता है। शनकरके वानुकूल आचरण करनेकी प्रतिभावाला, चारों प्रकारके नर्म, (नर्म रिक्ञ्ज, नर्म-स्तोड, नर्मगर्भ और नर्म अर्थात् मनोविनोदके भेद और प्रयोग) जाननेवाला, वेद जाननेवाला और नायकके मनोविनोदके साधन पहचाननेवाला ही विदूषक होता है। (गञ्जा, पीली ओंलौवाला, हास्य स्वभाववाला, पल्लि बाटवाला, भूरा दाढ़ीवाला और नाचनेवाला विदूषक होता है)। वेद से व्यवहार करनेमें कुशल, मधुरभाषी, सबकी प्रसन्न रखनेवाला, सबका कथा माननेवाला, बात बनानेमें कुशल और चतुर व्यक्ति विट कहलाता है। जो माला और धामयुगसे सज, हुयों, अक्षरण मूढ़ और प्रसन्न होनेवाला, नटवट हो और प्राकृतमें बोलता हो, वह विट कहलाता है। ये सब नाट्य करनेवाले लोग राजाओंके मुख भोगनेमें सहायक होते हैं।

राजाओंकी प्रकृति तीन प्रकारकी जाननी चाहिए—एकमें तो महिषी (पटरानी) महादेवी, देवी, सहभोगिनी, आधिता, नाटकीया, कमुला, शिल्पकारिका, अन्तःपुरिका, परिचारिका, यथा-पाली, छत्रशाली, चामर-धारिणी, सजादि (येर दयनेवाली), गन्धदोक्ती (सुगन्धित पदार्थ लकर देनेवाली) माला और धामयुग सजानेवाली, अनुचारिका, अनेक कथाओं (विभागों) की रक्षिका, उपवन (रनिवासके बाग) की रक्षिका, मन्दिर, यज्ञ, नीडागार, रनिराय और भवनकी रक्षा करनेवाली सेविकाएँ होती हैं। इनके अतिरिक्त दूसरीमें बीड़ा देनेवाली (पान देनेवाली) चौबदारिन, अस्थिधारिणी, अहायिका (लोगोंका तुला सुगन्धर लानेवाली), प्रेक्षिका (देखना करनेवाली), यामिनिनी (रातकी पहरेदारिन) ये सब राजाकी संचारिकाएँ और परिचारिकाएँ होती हैं। ये सदा राजाके साथ रहती हैं। इनके अतिरिक्त तीसरीमें महत्तरी, प्रतीहार,

वृद्धा, आयुक्तिका कान्तुकीया, वपंधरा, किराता, कुञ्जा वामना (बीनी), धोपत्यारिकी, जिम्पुष्ठा, अन्त्यागागा और मूडी (गूगी) हैं जो अन्तःपुरमें रहती हैं। इनके लक्षण बताते हैं—

(समान शील और कुलवाली, सोलोंको कुछ न समझने वाली, राजाके सथ धर्माचरण करनेवाली रानी महिषी या पट्टरानी कहलाती है। रनिवासका हित चाहनेवाली, साध्वी, शांत और मद्गलकारक उपायोंसे सबका कुशल मनानेवाली, ईर्ष्या न करनेवाली, पतिका स्वभाव पहचाननेवाली पतिव्रता रानी महादेवी कहलाती है। जिन रानियोंमें कुछ-कुछ वे गुण भी हैं ऐसी अच्छे स्कारोंसे रहित, अग्निमाली, विषय भोगमें लीन, ईर्ष्याउ तथा रूप-यौवनसे सम्पन्न रानीको देवी कहते हैं। नित्य बन ठनकर रहनेवाली अच्छे स्वभाव, रूप और गुणसे युक्त, भोगमें प्रवृत्त किए जानेपर स्वयं मैथुन करनेवाली और जिससे सौते जाए करती हैं, उसे भोगिनी कहते हैं। भोगकी कामग्री इच्छा करेवाली, राजाकी इच्छाके अनुसार काम करनेवाली, ईर्ष्याहीना, भोगमें कुशल और दयालु रानी अश्रिता कहलाती है। राजाके रति मन्दिर (रमणमन्दिर) में गीत गानेवाली, अपनी सुन्दर शृङ्गार चेष्टाओंसे पतिकी काम वासनाओंको बढ़ानेवाली, स्वयं अपने गीतके साथ नाचनेवाली स्त्री नाटकीया कहलाती है। राजाके वैठनेपर बैठनेवाली, चलनेपर पीछे चलनेवाली, भोजन करनेपर भोजन करनेवाली, सोनेपर सोनेवाली और देस तथा कालका ध्यान रखनेवाली कामुञ्जा कहलाती है। गन्ध, अङ्गराग, आभूषण, माला तथा अनेक प्रकारकी फारी गरीको वस्तु बनानेवाली, विचित्र प्रकारकी काम केलियोंसे पतिको चकित करनेवाली, चित्तर और पीठेकी सजावटकी कला जाननेवाली दिव्यकारिका कहलाती है। इनका स्वभाव समझकर आवश्यकतानुसार प्रयोग किया जाय। राजाकी पट्टरानियों सब स्थानोंपर सब अवस्थाओंमें सदा अपने अधिकारसे जैसी आवश्यकता हो वैसी परिचारिकाएँ रख लेती हैं। इनके शील और स्वभावका यथामात्र प्रयोग करना चाहिए। सचारािकोंके काम भी यथास्थान निर्दिष्ट कर देने चाहिए और जिस प्रकार सचारािकोंको काममें लगाया जाय, वैसे ही अनुचारिकाओंको भी काममें

लगाना चाहिए। क मचेष्टा, वस्तुओंका भोग, सभोग तथा प्रकटनीय और अप्रकटनीय बातोंके समर्थनके लिये राजा लोग जिन स्त्रियोंको नियुक्त करते हैं, उन्हें प्रेशयिका कहते हैं। प्रसन्न मनसे अन्तःपुरमें रहनेवाली जो स्त्रियों आसी-वांद और मद्गलकामनाके द्वारा सबका कुशल मद्गल पूछती हैं, उन्हें सद्बहरी कहते हैं। राजाको चाहिए कि अपने पूरे रनिवासकी रक्षाके लिये ऐसी स्त्रियोंको नियुक्त करें। जो राँच वर्षसे बड़ी और दस वर्षसे कम कुमारियों राजकुमारियोंकी रक्षाके लिये नियुक्त की जाती हैं, वे प्रतीहारी कहलाती हैं। जो कुमारियों निरन्तर अन्तःपुरमें रहनेवाली और अन्तःपुरके सुल-दुःखमें समान भाग लेने वाली, कुमारियोंको सब बात बतानेवाली, कुमारियोंके साथ रहनेवाली, रति और सभोगके अनुभवसे हीन, एका न्तमें रहनेवाली और अन्तःपुरमें रहनेवाली होती हैं वे कुलजा कहलाती हैं। रानियोंको चाहिए कि इनका टीकसे दालन पालन करें। जो पिछले राजाओंकी नीति जानने वाली हैं, जिनकी भव रानियोंक मगसे आदर करती हैं, पिछले राजाके सब आचार विचारको जाननेवाली हों वे देवियों वृद्धा कहलाती हैं। वे वृद्धाएँ अन्तःपुरमें रहकर अनेक प्रकारकी कथाओं और प्रदृशनोंसे राजाओंका विनोद करती हैं। फल, मूठ, औषधि, माला गन्ध, आभूषण, वस्त्र, वाद्ययन्त्र, शस्त्र और आसनोंका प्रस्थ करनेवाली धायुक्तिका कहलाती हैं। इन अन्तःपुरमें रहनेवालीयोंकी यथा-योग्य काममें लगाना चाहिए। जो ब्राह्मण कामनाहीन हैं, और ज्ञान विज्ञान सम्पन्न हैं, कन्बुक (अङ्गराज), उष्णीप (पाड़ी) तथा ब्रत हाथमें धारण करते हैं वे कन्बुकी कहलाते हैं। अन्तराश्रितवाला, स्त्री स्वभाववाला, नपु सक, इच्छाहीन तथा जन्म और स्वभावसे कामवासना हीन व्यक्ति वर्षपर कहलाता है। बड़ली मूल फल खाने-वाले, गौंय पहारमें रहनेवाले, विचित्र स्त्रियोंवाले, मन्वी प्रकार भया जाननेवाले, लम्बी टोडीवाले लोग किरात कहलाते हैं और इनको राजा लोग बलपूर्वक बारबार नियुक्त करते हैं। कन्बुकीय लोग अन्तःपुरमें राजाके पास रहते हैं। किसीको भेजने सुलनेके काम तथा भवनके भीनरी कामोंमें वे लगाए जाते हैं। (गुप्त प्रेम करनेवाले राजाओंकी प्रेम लीलाओं महायता करनेवाले तथा रति वासकी स्त्रियोंकी नित्य कथा बतानेवाले वर्षपर कहलाते हैं।

रानियोंके उपयोगमें बानेवाले पात्र, शाभूषण, और वस्त्रोंकी रखवालीके लिये तथा अन्तःपुरके लोगोंकी दण्ड देनेके लिये किरातोंकी नियुक्त करना चाहिए। स्त्रियोंको हँसाने और उनका मन बरखानेके लिये कुचों और काने रखने चाहिए। बहरा, नपु सक, झौना, बटे दाँतोंवाला, मोटा बपकि जो रनिवासमें काम करता हो वह औपस्थायिक कहलाता है। जिन्हें काम काँडाका ज्ञान न हो, लिङ्ग हीन हों, वे निर्मुण्ड कहलाते हैं। राजाके पास रानियोंकी खानेका काम औपस्थायिकका है और लंडाकर पहुँचानेका काम निर्मुण्डका। जिनके पुरुष या स्त्रियोंके चिह्न विलुप्त हों, छोटीसी दाढा और छोटे छोटे स्तन हों, वे अम्ब्यागार कहलाते हैं और भीतरी भवनीकी देर भाळ करते हैं। इन्हें राजा लौग सदा सब काममें टा सक्ते हैं। अनेक प्रकारके षोडशक दिसाकर सदा हँगनेवाले मूक या गूंगे कहलाते हैं। इनका भाव ममसकर इनके समान ही नटोंकी अभिनय करना चाहिए। राजा, सेनापति, सुवराज, पुरोहित, प्राश्निक, प्राट्टिवाक, भायुक्त और सचिव इतने समासद होने चाहिए। प्राश्निकोंका वर्णन हम पहले कर चुके हैं। **गुणोद्भव** वे ही हो सक्ते हैं जो अनेक प्रकारके भावोंको जानते हों, अनेक शिष्टोंके ज्ञाता हों, शय्या, आसन, चित्र, और अलङ्कार सजानेकी कला जानते हों, परिहासका मर्म-समझते हों, वाद्य वजानेमें नतुर हों, नृत्त और गीतमें कुशल हों, अनेक प्रकारके भाव पहचानते हों, मनस्वी हों, मानी हों, भेद श्रेयका विचार कर सक्ते हों तथा पैसे रुपये और जिद्धोंके विषयमें सच्चे और पवित्र हों। कभी कभी वैतालिक, बन्दी, नान्दी-मङ्गल-पाठक, मूढ और मागधी भी सदास्य होने हैं। प्रहर प्रहरके अनुकूल रागानों तथा उम समयके वर्णनसे युक्त स्त्रियोंमें ऊँच स्वरसे ठीक तालमें गानेवाला वैतालिक कहलाता है और यह नैपथ्यमें ही स्वयं भी गाता है और दूसरोंसे भी गवाता है। जो वर्तमान बन्दीनीय स्वामी और राजाके वधा, पराक्रम और गुणकी स्तुतियोंके साथ पुराने बन्दीनीय राजाओंके गुणोंकी विशेषता मनाता है, वह बन्दी कहलाता है। आधीवाँदसे युक्त तथा माङ्गलिक भावोंको प्रशंसित करनेवालों वाक्यांशों जो सब मङ्गलकारक देवों या वस्तुओंकी प्रशंसा करता है, वह नान्दी मङ्गल-पाठक कहलाता है। राजाओंको प्रसन्न करनेवाले और मङ्गलसे पूर्ण

आनन्दार्थक वाक्य जो पढ़ता है, वह नान्दी-मङ्गल-पाठक कहलाता है। राजाओंके सुखकी भद्रिका गान रखनेवाले, मुप्रभातकी प्रशंसा करनेवाले और स्नानादि कर्मोंकी सूचना देनेवाले लोग सूत कहलाते हैं। सुन्दर मागधी गीतोंसे राजा और पुरस्केनका मङ्गलगान करनेवाले **मागधी** कहलाते हैं। इस प्रकार जायक और प्रेक्षकके परिवारका स्वभाव समझकर ही नटको नाटकको अभिनय करना चाहिए।]

शारदातनयने भी उपयुक्त विवरणमें शैक्ष, भक्त, नट, सूत्रधार, परिपालिक, कुशोच्च, विदूषक, अन्तःपुरिका, परिचारिका, अनुचारिका, सचारिका, अन्तःपुरचर, राजा, महिषी, महादेवी, देवी, भागिनी, आश्रयिता, नाट्यीया, कामुका, शिवरकारिका, प्रेक्षयिका, महसरी, प्रतीहारी, कुमारी, वृद्धा, आयुक्तिका, वाञ्छुनीय, वपवर, किरात, औपस्थायिक, निर्मुण्ड, अम्ब्यागार, मूक, समासद, सदास्य, वैतालिक, बन्दी, नान्दिमङ्गल-पाठक, सूत तथा मागधीके विस्तारसे विवेचना की है। किन्तु उससे पूर्व उक्तने लिखा है--

“सङ्गीतशास्त्र सर्वत्र राज्ञा विश्रान्ति-सौरभरम् ।
तस्मादिदं विनोदार्यं राजामेव पुरा कृतम् ॥
विश्रामाय महिभारविश्रान्तानां सुखप्रदम् ।
अस्य सङ्गीतशास्त्रस्य प्रयोक्तृणां च लक्षणम् ॥
स्वरूपं कर्म चैतेषां यथावत् प्रतिपाद्यते ॥”

[सङ्गीतशास्त्र सदा राजाओंको ही शान्ति और सुख देनेवाला होता है। इसलिये प्राचीनकालमें यह राजाओंके लिये बनाया गया था। राज्यके भारसे यके हुए, राजाओंको विश्राम और सुख देनेके लिये हम सङ्गीतशास्त्रके प्रयोक्ताओंके लक्षण और स्वरूप यथा-विधि वर्णन किए जाते हैं।

इसके पश्चात् नटसे लेकर अन्तःपुरचरों तकका वर्णन देख कर फिर शारदा तनयने कहा है :—

“चतुर्गामिनि वर्णानां राजा सङ्गीतमहृतिः ।
तत्र विधा स्यत् प्रहृतिकसमाधममथ्यमा ॥
स्त्रीणां तथा स्वादेनेना शीलं भावन्वितोपतः ।
गात्वा ततस्ताःप्रहृतिः सुखेनाभिनयेनटः ॥

[चारों वर्गोंमें केवल राजकी ही सङ्गीत-शोभा देता है और ये राजा तीन प्रहृतिमें

क्षेपत हैं—उत्तम, मध्यम और अधम और इन राजाओं की आगे बताई हुई जो त्रिविध हैं, उनके शील, भाव और प्रकृतिको मञ्जी गौंति जानकर नट्यों सुव्रते अभिनय करना चाहिए।

इस वक्तव्यके पश्चात् शारदातनयने राजा और राज-परिवारके लक्षण जताये हैं। इस वक्तव्यके स्पष्ट है कि भरतने अपने नाट्यशास्त्रमें जिन्हें नाट्यके पात्रोंके उपयुक्त लोक प्रकृतिके अनुसार विभाजित करके रक्खा है, वे शारदातनयके अनुसार नट और प्रेक्षक मात्र हैं। भरतने राज परिवारका वर्णन नाट्यपात्रके रूपमें दिया है और शारदातनयने प्रेक्षकके रूपमें। इससे प्रतीत होता है कि जो नाट्यशास्त्रकी प्रतियों हमें प्राप्त है, उनमें बड़ा भ्रम है। इस दृष्टिके शारदातनय अधिक प्रामाणिक है, क्योंकि उसने अपने समय तकके प्रचलित सभी धाचाओंके मतांका अध्ययन किया था और इस प्रसङ्गका भी जिस विस्तार और स्पष्टतासे शारदातनयने विवरण दिया है, वह नाट्यशास्त्रमें प्राप्त नहीं है। भरतने रसप्रकरणमें भी विमर्शका विचार करते हुए नायक नायिकाओंका विचार नहीं किया, किन्तु पीछेके सभी धाचाधेने आठम्वन प्रभावकी चर्चा करते हुए नायक नायिकाओंका विस्तृत विवरण दिया है। नाट्यदर्पणकारने नायकका रक्षण देते हुए प्रारम्भमें ही नेताओंके ग्रूप अर्थात् धीरोद्धत, धीरोदात्त, धीरललित और धीरशान्त नेताओंकी व्याख्या की है।

‘उद्धतोदात्त ललित शान्त धीरविरोधनः ।
वर्णा स्वभावब्रह्मरो नेतृणा मध्यमात्तमः ॥
देवा धीरोद्धता धीरोदात्तः वैनेद्यमन्त्रिणः ।
धीरशान्ता वणिगविप्रा राजानस्तु चतुर्भिधा ॥
‘धीरोद्धतश्चलन्चण्डो दर्श दम्भी विकल्पनः ।
धीरोदात्तोऽतिगम्भीरो न्यर्था सन्त्री धर्मो स्थिः ॥
शृङ्गारी धीरललितः कलासक्तः सुखी मृदुः ।
धीरशान्तोऽनहङ्कारः कृपादर्शनयो नयो ॥’

[मध्यम और उत्तम नेता (नायक) स्वभावके अनुसार चार प्रकारके बणाय गए हैं—धीरोद्धत, धीरोदात्त, धीरललित और शान्त। देवता धीरोद्धत होते हैं, सेनापति और मन्त्री लोग धीरोदात्त होते हैं, वैश्य और ब्राह्मण धीरशान्त होते हैं और गजा लोग चतुर्भि प्रकारके होते हैं।]

नञ्जराजयशोक्षणके रचयिता अभिनव कालिदासने उक्त ग्रन्थके नाटक प्रकरणमें विभिन्न रसोंके लिये अलग-अलग नायकोंकी कल्पना की है और उनके लक्षण बताए हैं। इस प्रकारसे विभिन्न रसोंके लिये अलग अलग नायकोंका निर्धारण इसी ग्रन्थमें मिलता है। वह लिखता है—

‘शिरातुरागः मुभगः कलाभिरा विलासवान् ।
चतुरः कर्मतन्नेषु शृङ्गाररसनायकः ॥
नेता वीररञ्च विक्राश्रस्तेजोगाम्भीरमानवान् ।
सतत युद्धसज्जता वीरनायक उच्यते ॥
चान्दन्वववान् पुरोभागी हर्षानुभावविवर्धनः ।
परिहासभिराक्षयो वार्गाद्या हास्यनायकः ॥
चिन्तादेवश्रमपन्नो जट्टचिञ्चोऽप्रतापवान् ।
निर्मृगः प्रातनिर्देशो योऽवी कथननायकः ॥
दर्शमर्षाश्रितः सर्वदुर्वारो गर्गदुर्वहः ।
चलचिञ्चो महोत्साह बन्धते रौद्रनायकः ॥
अव्यक्तचिञ्चो धीरो मादशाहलरान्वितः ।
श्वेदनेपथुसयुक्तः स्वादभयानकनायकः ॥
ललाविलो मदान्मचो वीमत्सरसनायकः ।
चित्तेन्द्रियो चित्तप्रोषः सयुक्तः शाल्लिकारिभिः ॥
सदानन्दः सत्यवदी धीरोऽवी शान्तनायकः ।
एषु च द्विविधौ प्रोक्तौ नायकप्रतिनायकौ ॥
विचिञ्चदूनगुणो दुःखी प्रियस्तरस्रोपनायकः ।
व्यमनी पायकृद्द्वेष्यो नेता रगतप्रतिनायकः ॥

[जो व्यक्ति प्रेममें दृढ़, सुन्दर, कलाओंका शता, विलसयुक्त और धाम कलाओंमें चतुर हो वह शृङ्गार रसके नाटकका नायक होता है। जो वीर, पराक्रमी, तेजस्वी, गम्भीर, मानवी और सदा युद्धके लिये तैयार रहे वह वीर रसके नाटकका नायक होता है। जो व्यक्ति चञ्चल, स्वयं दोष निकालनेवाला, रस उदानेवाला, निन्दा करनेवाला, हँसानेकी क्रियामें चतुर और शान्त जनाना जानता हो वह हास्य रसका नायक होता है। जो सदा चिन्तित रहता हो, दीन, शान्त, अकर्मण्य, खिन्न, भूला हुआ और दुखी हो वह कथन रसके नाटकका नायक होता है। हर्ष और क्रोधसे युक्त, कितानी न माननेवाला अभिमानमें नुर, चञ्चल चिञ्च वाला और अप्रिय उदाहवाला व्यक्ति रौद्र रसका

नाटकका नायक होता है । जिसके मुँहसे ठीक शब्द न निकलते हैं, बहुत ही हीन-सुद्रावाला हो, किंवदंत्य विगूढ़, दुखी, हृदयविक्रिया, पत्नीने पत्नीने होनेवाला तथा सदा कौतुके रहनेवाला भयानक रसका नायक होता है । मदिरा और मांससे जिसरा शरीर बना हो, जिसके मुखर भय और पचराहृदके भाव हैं, मुँहसे लार टपकती हो और मदमें चूर्ण हो, वह भी-त्स रसका नायक होता है । जो जितेन्द्रिय, नोपहीन, सत्त्विक गुणोंसे युक्त, सदा प्रसन्न रहनेवाला, परम सत्वशील और धीर हो वह शान्त रसका नायक होता है । ये भी दो प्रकारके होते हैं, एक नायक और दूसरा प्रतिनायक । जो नायकसे कुछ कम गुणवाला, नायकके दुःखमें दुखी और नायकका प्रिय होता है वह उपनायक होता है जैसे रामायणमें सुग्रीव, लक्ष्मण आदि । जो सब प्रकारके व्यवहारोंमें लित, पापी और द्वेषके योग्य हो वह प्रति-नायक कहा जाता है, जैसे रावण आदि ।]

नायक-नायिका भेद

● रुद्रस्तु नायक-नायिकाभेदः ॥

[रुद्र नायक-नायिकाभेदः ॥]

इसके अतिरिक्त सभी लक्षण ग्रन्थोंमें आचार्यों ने प्रायः विभावकी व्याख्या करते हुए नायक नायिकाओंके अनेक विभेद किए हैं और उनके गुणोंका भी विस्तारसे विवरण दिया है । दशरूपककारने जिस प्रकार पात्रोंकी योजना की है प्रायः वही और सब आचार्योंने मानी है । उसने ये सब गुण और यह विवरण नाटकीय पात्रोंके विषयमें दिया है, साहित्यदर्पणकारके समान विभावके आलम्बन पत्रके विवरणमें नहीं, यद्यपि साहित्य दर्पणकारने भी बातें वही कही हैं जो धनञ्जयने अपने दशरूपकमें । धनञ्जय कहता है—

नेता विनीतो भयुरत्तमाग्नी दक्षः प्रियवदः ।
 रथलोकः शुचिः धार्मि रूढवशः स्थिरो युवा ॥१॥
 बुद्ध सुसाहस्युतिप्रशाम्लामानसमन्वितः ।
 सरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचतुर्भुष धार्मिकः ॥२॥
 भेदैश्रयुषां ललितशान्तोदाचोद्धतैरयम् ।
 निश्चिन्तो धीरललितः कर्मगतः सुग्री मृदुः ॥३॥

सामान्यगुणयुक्तस्तु धीरदान्तो द्विजादिकः ।
 महासत्त्वोत्तिग्म्भीरः धर्मावानविकल्पिनः ॥४॥
 स्थिरो निगूढाङ्कारो धीरोदाचो दृढमतः ।
 दर्पमात्सर्यभूयिष्ठो मायाच्छत्रपरायणः ॥५॥
 धीरोद्धतस्त्वहंकारी च्लश्चण्डो विकल्पिनः ।
 स दक्षिणः स्रोतो धृष्टो पूर्वा प्रत्यन्यया हृत् ॥६॥
 दक्षिणोऽस्या सहृदयः गूढविप्रियतृच्छटः ।
 व्यकाङ्क्षनैकतो धृष्टोऽनुकूलस्वेकनायिकः ॥७॥
 पतकानायकस्त्वन्यः पीटमदो विचक्षणः ।
 तस्मैनानुचरो भक्तः किञ्चिद्दूनश्च तद्गुणैः ॥८॥
 एकविधो विद्वान्मो हास्यकृच्च विदूषकः ।
 लब्धो धीरोद्धतः स्तब्धः पापहृदयसनीरिपुः ॥९॥
 शोभा विलासो माधुर्यं गाग्भीर्यं स्वैर्यतेजसी ।
 ललितोदाचोभिरप्रथी सत्त्वजाः धीरुषा गुणाः ॥१०॥
 नीचे घृणाधिके रक्षा शोभाया शौर्यदधते ।
 गतिः स्वैर्भा दृष्टिश्च तिलासे सरितत वचः ॥११॥
 श्लक्ष्णो विकारो माधुर्यं सश्रोम सुमरत्यपि ।
 गाग्भीर्यं यद्यभावेन विकारो नोपलक्षते ॥१२॥
 व्यवस,यादचलन स्थिर्यं विच्युल्लादपि ।
 अधिक्षेपात्प्रहस्य तज्जः प्रणात्येषेषपि ॥१३॥
 शृङ्ग राकारच्छाल्य सत्त्व ललित मृदु ।
 त्रियोक्त्या जीवितार्दानमोदार्यं सद्गुणप्रदः ॥१४॥
 स्वान्या साधारणस्तीति तद्गुणा नायिका विधा ।
 मुग्धा मध्या प्रसम्भेति स्त्रिया शीलाजवादिभ्युक् ॥१५॥
 मुग्धा नववयःतमा रती यामा मृदुः क्रुधि ।
 मध्योद्यवीयानानङ्गा मोहात्तन्मुत्तथमा ॥१६॥
 धीरा सौत्रासत्रनोक्त्या मध्यः साधु इतागदम् ।
 खेदयेदयित श्रीरादधीरा परयाजन्म ॥१७॥
 यौवनान्या ग्मरोन्मत्ता प्रसम्भा दयित,ङ्गके ।
 विद्वीयमानेवान्दादृतात्स्मैऽन्यजेतना ॥१८॥
 सावहित्यादरोदास्तं रती धरितरा क्रुधा ।
 सत्त्वयं ताडयेन्मध्या मध्याधीरं न परैत् ॥१९॥
 द्वेषा ज्येष्ठा कनिष्ठ चैत्यमुग्धा द्वादशोदितः ।
 अन्यस्त्रां कन्यकोटा च नान्योदाद्विरमे कश्चित् ॥२०॥
 कन्यायुरागमिच्छातः कुर्मदङ्गप्रक्षिप्तधयम् ।
 साधारण्यी गणिना कथाप्रागत्स्वधीर्युक् ॥२१॥
 छत्रकाममुक्तीप्राज्ञानात् ॥२२॥

रक्तैव रज्ज्वेदाव्यासिःस्थान्माना विरासयैव ॥२२॥
 रक्तैव स्वप्रहसने नैषा दिव्यनृपाथये ।
 धासामप्रहवस्याः स्युः स्वार्थानपतिक्कादिक्काः ॥२३॥
 धासत्रायत्तरमणा ह्युः स्वार्थानभृत्का ।
 मुदा वसकसञ्जः श्व मण्डयत्येव्यति प्रिये ॥२४॥
 चिरयत्यव्यलीके तु विरहोऽर्पिष्ठतोभमनाः ।
 शतेऽन्यासङ्गविकृते खण्डितेऽर्पि कथायिता ॥२५॥
 कलहान्तरितामर्पिष्ठभूतेऽनुसर्थाऽर्पिबु ॥
 विप्रख्योक्तसमयमप्राप्तेऽति निर्मानिता ॥२६॥
 दूरवेद्यान्तरस्य तु कार्यतः प्रोषितप्रिया ।
 कामातांभिसरेऽमान्त कारयेद्वाभिभारिका ॥२७॥
 चिन्तानिःश्वाशयेदाधु नैवर्ण्यगलान्यमृणोः ।
 युक्ताः पटन्या द्वे चार्थे मीटोऽन्यस्य प्रहर्षितैः ॥२८॥
 दूयो दासी सखी कारुर्पादेऽर्पि प्रतिविक्रिका ।
 छिन्निकी सिस्विनी स्वच भेदुमित्रगुणान्विताः ॥२९॥
 योगे सख्यत्राः श्लोणःसख्यकाराणु विद्यतिः ।
 भयो ह्यर्थे हेला च नय तर शरारजाः ॥३०॥
 शोभा कान्तिः दीप्तिः माधुर्य च प्रगल्भता ।
 आदार्य धर्ममित्येते सत भाग्य अयनजाः ॥३१॥
 लीलानिष्ठे विच्छिन्तिर्भ्रमः क्लिबिच्छिन्तम् ।
 मोहापित कुट्टमित विन्धोको उल्लित तथा ॥३२॥
 विद्वत चेति विज्ञेया ददा भागाः स्वभाजनाः ।
 निर्निकारात्काल्पत्वाद्मानस्तनायविक्रिया ॥३३॥
 हेवाकस्यतु शृङ्गारो हावाऽर्पिभृत्कारुण्य ।
 स एव हेला मुख्यतःशृङ्गारसमुचिका ॥३४॥
 रूपोपमोगादर्थ्यः शोभाज्ञाना विभूषणम् ।
 मन्मथामापितच्छायायै वै कान्तिरितिसृष्टा ॥३५॥
 अनुलक्षणं माधुर्यं दीप्तिः कान्तेऽनु विस्तरः ।
 निःसाऽनसत्व प्रागत्यमौदार्यं प्रथयः सदा ॥३६॥
 चापलाविरता धैर्यं चिद्वृत्तिरविकल्पना ।
 प्रियानुकरणं लीला मधुराङ्गविकृतिर्वैः ॥३७॥
 तत्तालिको विरोपस्तु रितापाऽङ्गनियारिपु ।
 भावप्रचनान्यापि विच्छिन्तिः कान्तिगोपयन् ॥३८॥
 विभ्रमन्तरया कृते गुणस्थानविपर्ययः ॥
 मंधानु हर्षं भीलादेः मकरः क्लिबिच्छिन्तम् ॥३९॥
 मोहापित तु तद्द्वारभावनेश कथादिपु ।
 कान्तान्तः कुट्टमित कुषेत् केशापरमदे ॥४०॥

गर्वाभिमानादिष्टेऽपि विन्धोकोऽ नादरक्रिया ।
 मुमुमादाङ्ग विन्यासो मसुणो ललित भवेत् ॥४१॥
 प्रातःकालं ब्रू यद्याद्रीदृया विद्वत हि तत् ।
 मन्त्री इव बोधय वापि सखा तस्याप्यन्तन्ते ॥४२॥
 मन्त्रिणा ललितः शेषा मन्त्रिरायसमिद्वयः ।
 श्रुत्विकु पुरोहितां धर्मै तपस्विप्रसव्यादिनः ॥४३॥
 मुहुरमुमाराटविका दण्डे शमन्तसैनिका ।
 अन्तःपुरे वपंवरः किराता मुखामनाः ॥४४॥
 ग्लेश्वाभीरमकृष्णाः स्व स्वकथोप योगिनः ।
 ज्येष्ठमन्त्राधमनेन सर्वेषा च निरूपता ॥४५॥
 तारतम्याप्योक्ताना मुगाना ज्ञात्तयादिता ।
 एष नाथ्यो विधातव्या नायकः सपरिच्छदः ॥४६॥

ऊपर धनत्रयने जिस प्रकार पाप योजनापर विचार किया है उसी प्रकार बहुतसे आचार्योंने विचार किया है और यह विचार इस सीमातक बढ़ गया कि बहुतसे आचार्योंने नायक नायिकाके भेद करते करते उनकी सख्या कई सहस्रतक पहुँचा दी है फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि आचार्योंको इससे मनमुष्टि हो गई क्योंकि प्रत्येक युग और युगकी परिस्थितियोंके अनुसार कुछ कुछ और भिन्नोँकी मानसिक गति, रुचि, वृत्ति और प्रवृत्तिमें अन्तर होता रहता है और तदनुसार भेद प्रभेद भी धरते रहते हैं। आज याता यातकी सुविधा, तार, बेलारके तार आदि साधनके कारण नायिकाओंकी विरहीरूढ़ता नगण्य हो गई है किन्तु फिर भी कुछ बातों एसी देसकालानुसंगच्छिन है कि वे सदा रही हैं, गदा रहेंगी।

ऊपर धनत्रयक दशरूपके जो उद्धरण दिए गए हैं उसकी व्याख्या हम अन्य आचार्योंके मतके अनुरूप निवृत्तिके माप दे रहे हैं—

[रूपके प्रधान पापको नायक रहते हैं, क्योंकि वह नाटकीय कथाकी शृंखलाको अग्रसर करता हुआ अंत तक ले जाता है। उसे (१) विनीत, (२) मधुर (३) त्वगी (४) दय, (५) प्रियवद, (६) सुचि, (७) रत्नलोक, (८) वामी, (९) रुद्रवग, (१०) स्थिर, (११) युवा, (१२) बुद्धिमान्, (१३) प्रज्ञावान्, (१४) स्मृति-शैल, (१५) उत्साही, (१६) कलाजान (१७)

शास्त्रबद्ध, (१८) आत्मसम्मान, (१९) दूर, (२०) दृढ़, (२१) तेजस्वी और (२२) धार्मिक होना चाहिए । इस प्रकार भारतीय नायक शास्त्रके अनुसार उसे सब उच्च गुणोंका आधार होना चाहिए, परन्तु प्रत्येक गुण उचित सीमाके अंदर हो ।

विनीतता

नायकमें विनीतता हो अर्थात् वह नम्र हो, किन्तु उसकी नम्रता ऐसी न हो कि दूसरे उसको पददलित करते रहें । भारतीय नायक-शास्त्रके नायककी नम्रता दौर्बल्य का नहीं बरन् उच्च सङ्कति और शीलका लक्षण है । इसीलिये नम्रताके साथ साथ आत्मसम्मान और तेजस्विता आदि गुणोंका भी विधान है ।

मधुरता

देखने ही सुन्दर लगना मधुरताका गुण है । त्यागी वह है जो सत्सर्गके लिये अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दे । अपनी लज्जा दे डालनेवाले कर्ण, माव दे डालने वाले शिबि, हृदयों तक दे डालनेवाले दधीचि और प्राण तक दे डालनेवाले जीमूतवाहन इनके विख्यात उदाहरण हैं ।

प्रियवद्—जो सदा प्रिय बोलनेवाला हो ।

प्रियमात्रिका यह अर्थ नहीं कि चाहे जैसा अवसर हो, नायक मीठी ही वाणी बोलता रहे । तात्पर्य इतना ही है कि वह बिना कारण कटु वाक्य न करे । पर अहाँ तक सम्मन हो, नायक कटु वाक्योंको भी मधुरताके साथ करे ।

शुचि—जिसका मन पवित्र हो और कामादि विकारों से दूषित न हो ।

रक्तलोक—लोक प्रिय, जिसपर जनताका अनुराग हो ।

वाग्मी—कसी सुकियुक्त चुभती हुई बातको प्रिय रूपमें बोलनेवाला वाग्मी कहलाता है ।

रुद्रवंश—उच्च कुटुम्ब उत्पन्न । नायक नीचकुलका न होना चाहिए । वह या तो ब्राह्मण कुलोत्पन्न हो या राजकुलोत्पन्न । जैसे मालतीभूषणमें या वीरचरितमें राम । इस विषयके अनुसार कोई साधारण व्यक्ति किसी रूपका नायक नहीं हो सकता । यही कारण है कि भारतीय रूपमें नायक कोई राजवंशी या ब्राह्मण-कुलमें भी मंत्री अथवा मंत्रीका पुत्र ही देखा जाता है ।

स्थिर—मन, वचन और कर्मसे अपनी बातपर टट्टा रहनेवाला ।

युवा—यवान ।

बुद्धिमान्—बुद्धिसे युक्त ।

प्रज्ञावान्—वियेकके साथ कार्य करनेवाला ।

स्मृति-संपन्न—जो कुछ सीखे या देखे उसे अच्छी तरह स्मरण रख सके । प्रज्ञा द्वारा किसी वस्तुका ज्ञान ग्रहण किया जाता है और स्मृतिसे वह बहुत कालतक धारण किया जाता है । इसीसे उसे धारणा शक्ति भी कहते हैं ।

उत्साह—किसी कार्यके करने और उसे पूरा निभा देनेकी प्रसन्नता, पूर्ण तथा अपनी शक्तिमें विश्वास युक्त उत्कट इच्छाको उत्साह कहते हैं ।

कलापान्—कला जन्नेवाला । प्राचीन कालमें उच्च कुलके बालकोंको पाठशाळाओंमें सब कलाएँ सिखाई जाती थीं । कलाओंका ज्ञान उच्च सङ्कृतिका उपादान समझा जाता था ।

शास्त्रबन्धु—शास्त्रकी दृष्टि से देखनेवाला, शास्त्रों के अनुसार चलनेवाला । उदाहरणके लिये रामचन्द्र, जो ताड़का द्वारा विश्वामित्रका यज्ञ भंग किए जानेपर बाण ताने हुए भी स्त्री जानकर उसपर नहीं छोड़ते, और आततायियोंको बिना स्त्री-पुरुषके विचारके मार डालनेकी आज्ञाशास्त्र विश्वामित्रके मुँहसे पानेपर ही उसे मारते हैं ।

आत्मसम्मान—अपना अयमान न सह सकना आत्म-सम्मानकी वृत्ति कहलाती है ।

शूर—वीरताके साथ साथ जिसमें उपकार-बुद्धि और सौजन्य हो वह शूर कहा जाता है ।

दृढ़—अध्वजवासी—उंगे, अरयहृदिचंद्र नाटकमें हरिश्चन्द्र—

चन्द्र त्रै मरुज त्रै, त्रै जगत व्यूहार ।

वै दृढ़ त्रय हरिचंद्र को, त्रै न सत्य विचार ॥

तेजस्विता—प्रतापान् तथा विक्रमशाली पुरुषकी जिस आत्माने लोग अनयास ही उनके सम्मने शुक जाते हैं वही तेजस्विता कहलाती है ।

धार्मिक—धर्ममें पवृत्ति रखनेवाला ।

स्वभाव-भेद से नायक चार प्रकार के होते हैं—शात, ललित, उदात्त और उद्धत। धीगताम्य नुग चारों प्रकार के नायकों में होना चाहिए। भारतीय विचार-पद्धतिके अनुसार मनुष्यका स्वभाव दृढ होना चाहिए। अतएव नायकका स्थान वही पा सकता है जो अपने आपको बचामें रख सकता हो। अधीरता स्त्री सुलभ गुण है, नायकके लिये वह उचित नहीं है। साहित्य सार में तीन ही प्रकारके नायक माने गए हैं। उद्धत नायककी उसमें स्थान नहीं दिया गया है।

(१) धीरशांत—नायकमें नायकोचित सामान्य गुण होते हैं। धनत्रयके अनुसार वह द्विजादिकमेंसे ही होता है। धनिकने 'द्विजादिक' की व्यख्या 'विप्र बणिग्गचिवादि' की है। क्षत्रिय राजा या राजकुमारको छोड़कर जेप सबको द्विजादिकमें गिनना चाहिए। ललित नायकके उपयुक्त निरिच्छन्तता आदि गुण सम्पन्न होनेपर भी विप्रादि धीरशांत ही गिने जायेंगे, ललित नहीं। यह धनिककी सम्मति है। सम्प्रतः लालित्यके लिये राजस गुणकी प्रधानता अपेक्षित है, जिसका ब्राह्मणादिमें अभाव माना गया है। सात्विक वृत्ति प्रधान होनेके कारण वे शान्त ही माने जाते हैं। मालती माधवमें माधव और मृच्छकण्डिकमें चान्दन्त धीरशांत नायक हैं।

(२) धीरललित नायक निश्चिन्त, कल्याणक, सुखी और मृदुल स्वभावका होता है। यह प्रायः राजा हुआ करता है जो अपने राजकार्यका भार दूसरोंपर सौंपन नवीन प्रेममें लित हो जाता है।

(३) धीरोदात्त नायक शोक क्रोध आदि मनो वेगोंसे विचलित नहीं होता। इसीलिये उसे महासत्त्व कहा जाता है। वह धर्मानु, अति गम्भीर, स्थिर और दृढजन होता है। अपनी प्रशंसा वह अपने आप नहीं करता, वह गर्व करता है परन्तु उसका गर्व धिनयसे ढका होता है, जिस कामको उठाता है उसे निमाकर छोड़ता है। इनमेंसे स्थिरता, दृढता आदि गुण सामान्यतः प्रत्येक प्रकारके नायकमें बताए गए हैं परन्तु इनकी पराकृष्ट धीरोदात्त नायकमें ही देखा पड़ती है। इन उच्च वृत्तियोंके उत्कर्षका ही नाम धीरोदात्त है। धात्रियों ने जीमूतनाहन, राम, बुद्ध, युधिष्ठिर आदिकी उदात्त नायकोंमें गिनती की है।

अधिकेके लिये शृणुए हुए रामको बनवास दिया

गया, परन्तु उनके सुचर इन्से कुछ भी विकार न आया। जीमूतनाहनने पिताकी सेवा करनेके सुखके सामने राज्य वैभवको कुछ समझकर ठुकरा दिया। बुद्धने जीवोंके प्रति दयाके कारण राज्य त्याग करके भिक्षु होना स्वीकार कर लिया और अन्तमे कृष्णा धर्मके समने प्राण भी त्याग दिए। इन उदाहरणोंमें शातता ही प्रधानता दिखाई देती है। परन्तु यहाँ शातता साधन नहीं है, साधन मान है, अतएव स्वभावत्र नहीं है। स्वभावसे शान्त, सामान्य नायकमें इन गुणोंका होना उन्हें शान्त नायककी ही कोटिमें ला सकता है। राम आदिमें यह शातता, कृष्णा, विरक्ति और अरभने सुखी अपना केवल कर्तव्य धर्मनी पूर्विका साधन होकर आई हैं अतएव उदात्तताके उदाहरण हैं।

(४) धीरोद्धत नायक द्वेषी मयावी, लली, प्रचंड, चपड, असहनशील, अहंकारी, दूर और स्वयंजमी प्रशंसा करनेवाला होता है। मन्त्रबलसे कुछका कुछ कर दिखाना मया करता है। उद्धत नायकको अपने बल और वैभवसा दर्प रहता है। रावण धीरोद्धत नायकका अच्छा उदाहरण है।

उद्धत नायक बहुत कम मिलने हैं। रायणसे सम्भवतः किसी नाटककारने भी अपने नाटकका नायक नहीं बनाया है किन्तु मेघनादवच काव्यमें मेघनाद नायक बनाया गया है। साहित्यकारमें ता उद्धत नायक माना ही नहीं गया है। हाँ, गौण पात्रोंमें उद्धतताके लक्षण मिलते हैं। वीर चरित्रमें परशुरामने उद्धतता दिखाई है।

नाटकका नायक, आदिसे अन्ततक, इन चार प्रकारोंमेंसे एक प्रकारका होना चाहिए। अन्यथा नाटकीन शृंखलाकी एकताभी रक्षा असम्भव है। हाँ, गौण पात्रमें स्वभावका परिवर्तन दिखाया जा सकता है। कहीं वह ललित, कहीं शान्त, कहीं उदात्त और कहीं उद्धत हो सकता है।

इन चार प्रकारोंके भी चार चार भेद होते हैं—अनुकूल, दक्षिण, शङ्क और घृष्ट। अनुकूल नायक एक ही नायिकमें अनुरक्त रहता है। वह एक पत्नी मत होता है जैसे, उत्तर रामचरितमें राम।

शेष तीन भेदोंका आधार पूर्व नायिकाके प्रति नायककी चित्तवृत्ति है।

दक्षिण नायकनी एन्से अधिक नायिकाएँ अपना पतिनी होती हैं। नवीन प्रेममें अनुरक्त होनेपर भी वह

वह अपने पुराने प्रेमको कम नहीं करता। पहली नायिकासे उसका सदैव व्यवहार रहता है और अपनी सब प्रेमिकाओंमें वह समान प्रेम रखता है।

शठ नायक दिखानेके लिये एक ही पत्नीमें अनुरक्तता दिखाता है, परन्तु छिपेछिपे और नायिकाओंसे भी प्रेम करता है। वह अपने नवीन प्रेमको छिपावैका प्रयत्न करता रहता है।

धृष्ट नायक खुले विप्रियाचरण करता है। अन्य प्रेमिकाके साथ भी गई रतिके दंत-नल-श्रुतादि चिह्नोंको दिखाते हुए वह लजित नहीं होता। ज्येष्ठा नायिका पर उसका पूर्ववत् प्रेम नहीं रहता।

ये चारों भेद एक ही नायकही उचरोचर वर्धमान अवस्थाओंके भी हो सकते हैं। नायक अबतक एक ही पत्नीमें अनुरक्त रहता है तबतक वह अनुकूल रहता है। अन्य किसीके प्रेमसाधमें पड़ जानेपर पहले वह नवीन प्रेमको छिपाने का प्रयत्न करता है और अपनी ज्येष्ठा नायिकासे पूर्ववत् प्रेमोचरण करता है। यहाँतक वह दक्षिण रहा, पर नवीन प्रेमके प्रकट हो जानेपर उसकी शास्त्र अवस्था हो जाती है। यदि वह कुटिल, नीच दृष्टि वाला और निर्लज्ज हुआ या भागे चलकर ऐसा हो गया तो वह अपने विप्रियाचरणके चिह्नोंको छिपाता भी नहीं है तथा निर्लज्ज होकर ज्येष्ठा नायिकाका जी दुखाता है, जिससे पूर्वा नायिका खडिता भी कहलाती है। यह नायककी धृष्टता हुई। परन्तु सहृदय नायक पूर्वा नायिकाके साथ सहायगुप्ति रखता है, उसके सपत्नीचात दुःखको समझता है और, उससे पूर्ववत् प्रेम रखता है। रत्नावली नाटिका का नायक वासराज उदयन पहले अनुकूल नायक था, क्योंकि उसका प्रेम वासवदत्तामें हो केन्द्रीभूत था। फिर जब वह सागरिकाके प्रेमसाधमें फँसता है और उसके साथ विवाह कर लेता है तब वह ज्येष्ठा वासवदत्तापर भी कनिष्ठा सागरिकाके ही समान प्रेम रखनेके कारण दक्षिण नायक हो जाता है। विवाहके पूर्व जबतक उसका प्रेम स्वयं वासवदत्तापर प्रकट नहीं हुआ तबतक उदयनने उसे छिपाया जिसके कारण उसने समय तकके लिये उसे शठ नायक मानना चाहिए। परन्तु पनिकके अनुसार यह शास्त्र नहीं है, क्योंकि उदयनने वासवदत्ताकी प्रसन्नताका सदैव ध्यान रखा। इसी प्रकार वासवदत्तासे सागरिकाके प्रति

अपने मुखसे अपना प्रेम प्रकट करनेके कारण वह धृष्ट भी नहीं कहा जा सकता। कारण वही बतलाया गया है जो ऊपर शठताके विषय दिया गया है—अर्थात् नवीन प्रेम पुराने प्रेमका विरोधी होकर नहीं आया है। नाटिकाके अन्ततक उदयनने दाक्षिण्य नहीं छोड़ा।

चार प्रकारके नायकोंके चार चार भेद होनेसे नायकके सोलह भेद होते हैं। नाय्याचार्य भरतने उनके उच्च, मध्यम और अधम तीन तीन भेद और माने हैं। इस प्रकार नायकके अड़तालीस भेद हुए।

इन अड़तालीसके भी दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य तीन तीन भेद और माने जाते हैं। दिव्य देवता, मनुष्य अदिव्य और मनुष्यना रूप धारण किए देवता-दिव्यादिव्य होता है। इस प्रकार-नायकके कुल मिलाकर एक ही बीसवालीस भेद होते हैं।

नायकके सहायक

नायकके कई सहायक होते हैं। पीठमर्द सबसे मुख्य सहायक होता है। यह उसका अंतरंग मित्र और प्राप्तिक वस्तुका पताका-नायक होता है। अधिकारी नायकके सब गुण उसमें होते हैं पर न्यून मात्रामें। उसे कार्यकुशल (विचक्षण), अनुचारी और भक्त होना चाहिए। भालती-माधवमें मकरद इसका अच्छा उदाहरण है। कथा-वस्तुके अनुसार सुग्रीव भी पीठमर्द कहा जा सकता है। नायकके दोष सहायक व्यनसायी होते हैं। व्यवसायके अनुसार उनके विभाग साहित्यदर्पणमें इस प्रकार किए गए हैं—

शङ्करोऽस्य सहाया विचेष्टविदूषकाद्याः स्युः ।

भक्तानमनुनिपुणः कुपितवधूसानभङ्गनाः सुदाभाः ।

समोहादीनसद्विद्विस्त धृतः बलैकदेशशः ॥

वेद्योपचारकुशलौ वाग्मीमपुरोऽप बहुमतो गोव्रथाम् ।

कुसुमसन्तापमिषः कर्मवपुर्वैपमपायैः ।

हास्यकरः क्लेशरतिर्विदूषकः स्यात्सर्वकर्मज्ञः ॥

मन्त्री स्यादर्पणां चिन्तया तद्वद्वरोधे ।

यामनशष्पक्रियतमरेच्छामीराः शकारकुन्नाद्याः ।

मदमूर्ताभिमानो दुष्कुलतैश्चर्वसयुक्तः ॥

सोऽपमनूदाभ्रता रासः स्यात्सः शकार इत्युक्तः ॥

दंडे सुहृत्कुमाटाविकराः सामन्तवैनिकाशाश्च ।

श्रुतिगुणोपचयः सुवर्षसिद्धस्वाप्तप्राप्तया धर्म ॥

(१) शृ गार सहाय, (२) अर्धचिन्ता-सहाय, (३) धर्म सहाय, (४) दंड सहाय, (५) अतःपुर सहाय और (६) सनाद सहाय अथवा दूत ।

शृ गार सहायमें (१) विट, (२) चेट, (३) विदूषक, (४) मालाकार (५) रजक, (६) तमोली और (७) गंधी आदि होते हैं ।

विट अधिकारी नायकका निजी सेवक होता है। यह अपने स्वामीका बड़ा भक्त होता है और उसे प्रसन्न रखनेके लिये उपयोगी नृत्य, गीत, वाद्य आदि कलाओंका थोड़ा-बहुत ज्ञान रखता है। यह धूर्त होता है और समोग विषयोंमें अज्ञान समझा जाता है, पर वेशोपचारमें निपुण और वाचाल होता है। नागानन्दमें शेखरक विट है। चेट दासकी कहते हैं।

विदूषक भी नायकका मित्र होता है। इसका काम लोगोंको हँसाना है। नायकके साथ हँसी मजाककी इसे बहुत स्वतन्त्रता होती है। इसकी चेष्टा, बोलचाल, आचार व्यवहार सब ऐसा होता है जिसे देखते ही हँसी भा जाय। कहीं कहीं यह भी लिखा है कि इसे बौना, गंजा और लाल ओंखों तथा लंबे दाँतोंवाला होना चाहिए। लालची और भुखड़ तो यह सदा ही दिखाया जाता है। सगढ़ा लगानेमें भी यह चतुर होता है, परन्तु नायकका इस पर बड़ा विश्वास होता है और विट तथा चेटकी अपेक्षा उसके अधिक काम आता है। असलमें यह बुद्धिमान् द्राक्षण होता है और मनोरंजनके लिये नियुक्त होनेके कारण इसे ये सब विद्वत व्यापार करने पड़ते हैं। जैसे, रत्नावलीमें वसन्तक और शाकुन्तलमें मादव्य ।

माली, धोबी, तमोली और गन्धी के व्यापार उनके नामसे ही प्रकट हैं ।

अर्धचिन्ता-सहाय—नाटकके नायक विशेषतः राजा हुआ करते हैं, जिन्हें अपनी अर्थ व्यवस्थाके लिये मन्त्री और कौषाभ्यभार निर्भर रहना पड़ता है, परन्तु धीर ललित नायक अर्धचिदिके लिये सलाहकारोंपर अवलम्बित नहीं रहता और धीर शान्त नायकको घनकी विशेष चिन्ता ही नहीं होती ।

दण्ड-सहाय दुष्टोंके दमनमें सहायक होते हैं। ये मुहद् (मित्र), कुमार, आदिक (सीमारक्षक), सामन्त और वैनिक आदि होते हैं ।

दण्ड सहाय और अर्धचिन्ता-सहाय राज्य व्यवस्थाके लिये नियुक्त होते हैं ।

ऋत्विग् (यज्ञ करनेवाले), पुरोहित (उल्लुग्), तपस्वी और ऋषवादी (आत्मशानी) योग धर्म सहाय होते हैं ।

अन्तःपुर सहाय—वर्षकर (हिंजडे), किरात (जगली), मूक (रंगे), बीने, म्लेच्छ, ग्वाले और शकार आदि होते हैं। राजाकी उपपत्नीके भाईको शकार करते हैं। यह मूर्ख, धमण्डी, ऐश्वर्यशाली और नीच कुलका होता है। मूच्छकटिक नाटकमें शकारका उपयोग हुआ है ।

दूत किसी कार्यकी सिद्धिके लिये या सन्देश लेकर भेजे जाते हैं। साहित्यदर्पणकारने इनके तीन भेद बताए हैं—निःसुधार्थ, मितार्थ, सन्देशहारक ।

निःसुधार्थो मितार्थश्च तथा सन्देशहारकः ।
कार्यप्रेथस्त्रिधादूतो दूत्यध्यापि तथाविधः ॥
उभयोर्भावसुवीच स्वयं वरति चोत्तरम् ।
सुश्लिष्टं कुरुते कर्त्तुं निःसुधार्थस्तु स स्मृतः ॥
मितार्थभाषी कार्यस्य सिद्धिकारी मितार्थकः ।
यावद्भाषितसन्देशहारः सन्देशहारकः ॥

निःसुधार्थ उसे कहते हैं जो भेजनेवालेके और जिसके पास भेजा जाय उसके मनोभावोंकी समझ जाय और आप ही उत्तरका प्रत्युत्तर दे सके तथा उत्तम प्रकारसे कार्यकी सिद्धि करे। मितार्थ थोड़ा ही बोलता है, पर कार्य सिद्धि कर देता है। सन्देशहारक उतनी ही बात कहता है, जितनी उम्रसे बड़ी जाती है। पीठमर्द और धर्मसहाय उत्तम, विट और विदूषक मध्यम और चेट, शकार आदि अधम सहायक समझे जाते हैं। दूत अपनी कार्य कुशलताकी मायाके अनुसार तीनोंमें आ सकता है। प्रतिनायक वह धीरोद्दत है जो लोभी, कठोर, पारी, ब्यसनी और शत्रु होता है ।

नायकके सात्त्विक गुण

नायकमें (१) शोभा, (२) विलास, (३) माधुर्य, (४) गंभीर्य, (५) स्थिरता, (६) तेज, (७) साहित्य और (८) औदार्य, ये आठ सात्त्विक और पौष्ट्येय गुण होते हैं ।

(१) शोभामें दो बातें आती हैं—नीचके प्रति घृणा और अधिकके प्रति स्वर्षा ।

नीचताके प्रति घृणा—शोभाका यह उपादान प्राचीन सदर्प रुद्रवंशताके भावोंका अवलोकन है। यह घृणा केवल दूषणसे जुगुप्सा ही नहीं कराती, बल्कि दया भी दिखाती है। इस घृणा का आधार ही दया है। धनिकने दयारूपक-धी अपनी टीकामें इसका यह उदाहरण दिया है—

उचाल ताडकोरगतदर्शनोप्यप्रवर्गितः ।

- नियुक्तस्तत्प्रमाथस्य स्वैगेन विचित्रित्सति ॥

[भयकर ताडकाका रूप देख कर जो डरा नहीं वह उसे स्त्री समझकर मारनेमें सनोच कर रहा है।]

—महावीर-चरित

परंतु यदि ध्यान देकर देखा जाय तो यह विचित्रित्वा नीचके प्रति नहीं परन्तु नीच कर्मके प्रति है। राम ताड़कासे घृणा नहीं करते बल्कि उसका प्रमथन करने, उसको मारनेसे घृणा करते हैं, क्योंकि ताड़का स्त्री है और स्त्रीपर आयुध छोड़ना धीरोंके अयोग्य है। स्त्री अत्रल मानी जाती थीर 'उचाल' तथा 'उदात्त'-कारिणी होनेपर भी वह स्त्री ही है। परन्तु समनता रुद्रवंशताको नीचतामें ही भिन्नती है। पर माधारण अर्थमें घृणा कभी शोभाका कारण नहीं हो सकती।

अधिकके प्रति स्वर्धा—बड़े हुएसे बढ़नेकी इच्छा। इसी गुणके कारण महान् व्यक्तियोंसे बंध बड़े काम होते हैं।

शोभा दो प्रकारकी होती है—शौर्यशोभा और दक्ष-शोभा। पहलीमें धीरताकी प्रशानता रहती है और दूसरीमें शिष्याप्रिया तथा वीर्यशोभा।

(२) विलास—यह गुण नायककी चाल ढालको शानदार बनाता है। गर्विली वैश्व युक्त चाल, और दृष्टि तथा हँसते हुए बातें करना—ये तीन बातें विलासमें आती हैं।

(३) माधुर्य वह गुण है जिसके द्वारा बड़े भारी विकारके लिये कारण होते हुए भी थोड़ा सा मधुर ही विकार होता है।

(४) गाम्भीर्यके कारण बड़ी उद्देगजनक अवस्थामें भी कोई विकार उत्पन्न नहीं होता। माधुर्यमें थोड़ा सा मधुर विकार होता है, गाम्भीर्यमें विकार होता ही नहीं।

(५) स्थिरता—विशेष उपस्थित होनेपर भी अपने कार्यपर, अचल उठे रहना स्थिरताका गुण है।

(६) तेज—प्रणोकी भी उपेक्षा करके दूसरोंके अपमान-सूचक वचन या ध्यापारको न सह सकना तेज कहलाता है।

(७) साहित्य—प्रेममें आकृति और चेष, श्री स्वाभाविक मधुरताको लाक्षणिक कहते हैं।

(८) औदार्य—प्रिय वचनके सहित प्राणोंतकका दान कर देने तथा गुणगानोंका उपकार करनेके लिये तैयार रहना औदार्य गुण कहा जाता है।

नायिका

(नायककी प्रिया या पत्नीको नायिका कहते हैं। आधुनिक (पारचात्य) नाट्यशास्त्रमें यह आवश्यक नहीं कि नायककी प्रिया या पत्नी ही नायिका हो। स्त्रियोंमेंसे जिसका नाटकीय कथा-प्रवाहमें प्रधान भाग हो वही पाश्चात्यके अनुसार नायिका होती है चाहे वह नायककी प्रिया हो या कोई और। परन्तु भारतीय नाट्यशास्त्रमें नायककी प्रिया ही नायिका कहलाती है। नायकके सामान्य गुण नायिकामें भी होने चाहिये। नाट्यशास्त्रमें भरतने अपने नाट्यशास्त्रमें नायिकाओंके चार भेद गिनाए हैं—दिव्या, वृत्तिली, कुल-नी और गणिका। परन्तु आगे चलकर ये भेद उतने मान्य नहीं हुए। अन्य शास्त्रकोंने इस विषयका विवेचन और ही प्रकारसे किया है। सर्वमान्य विवेचन नायिकाके स्वकीया, परकीया और सामान्या इन तीन भेदोंसे आरम्भ होता है। धनजनने भी अपने दयारूपकमें इसीका अनुसरण किया है। स्वकीया अपनी और परकीया पराई होती है, तथा सामान्या किसीकी स्त्री नहीं होती। सामान्याका दूसरा नाम गणिका या वेद्या भी है।

स्वकीया नायिकामें शील, आर्जव भादि गुण होते हैं। वह स्वकीया पतिव्रता, चरित्रवती, लज्जवती तथा पतिकी सेवामें रत होती है।

स्वकीयाके भी तीन भेद होते हैं—मुग्धा, मग्धा और प्रगल्भा।

(मुग्धा नायिका वह है जिसमें नरें तद्वगारं धार रही हो, धर्मार्थ जो आर्ष-अर्षी बाल्यावस्थासे मौक्यावस्थामें

पदार्पण कर रही हो और पहले ही पहल कामेच्छाका अनुभव कर रही हो । वह रतिसे डरती है, क्रोधमें भी मृदु होती है तथा बड़ी सरलतासे प्रसन्न की जा सकती है ।

(मध्या नायिका 'बनानीकी सब कामनाओंसे भरी हुई और मोह (मून्ठा) की अवस्थातक रतिमें समर्थ होती है ।' (धनजय) । उसमें कुछ-कुछ प्रगल्भता आ जाती है और लग्ना कुछ कम हो जाती है, जैसे—

कामवती—

केलि भवनभी देहरी, खरी बाल छवि नील ।—]

काम-कलित हिय कौल है, लाज-कलित दग-नील ॥

[मतिराम]

पूर्ण यौवनवती—

चन्द्र वैशे भाग माल, भृङ्गुटी कमान-येषी,

मैन वैशे पैने सर नैनन विद्यासु है ।

नासिका सरोज गधवाहसे सुगन्ध-वाह,

दारपासे दसन, वैशे बीजुरी सौं हासु है ॥

भाई ऐसी श्रीवा भुज, पान सी उदर अघ,

पकज सौं पौष गति हस ऐसी पासु है ।

देखी है गुपाल एक गोयिका में देवता सी,

सोने सौं जरीर सब सौंघि वैसी पासु है ॥

[कैशवदास]

(प्रगल्भा नायिका यौवनमें अन्ध, रतिमें उन्मत्त, काम कलाओंमें निपुण, नायकमें सदा रत होती है और सुरतारभमें ही जानन्दमें लीन होकर अचेतन हो जाती है ।)

मध्या और प्रगल्भाके धीरा पीराधीरा और अधीरा ये तीन-तीन भेद और होते हैं ।

मध्या धीरा सहास वनोक्तिसे, मध्या धीरा धीरा श्लेषुभाके सहित वनोक्तिसे और मध्या अधीरा काप-पूयक कट्ट वचनोंसे अपने अपराधी पतिके हृदयमें उसके अपराधके लिये खेद उत्पन्न कराती है ।

(प्रगल्भा धीरा अपने क्रोधको छिपाकर बाहरसे बातोंमें बड़ा आदर सत्कार दिखाती है, पर सुरतमें उदासीन रहती है) प्रगल्भा धीरा धीरा मध्या अधीराकी भाँति कट्ट और व्यर्थ वचनोंसे नायकको खिन्न कराती है और प्रगल्भा

अधीरा क्रुद्ध होकर उसके तर्जन और ताड़न करती है, सिद्धकती है और धारीक वण्ड भी दे डालती है ।

इस प्रकार मध्या और प्रगल्भाके छः छः भेद हुए । इन छः छः भेदोंके मी ज्येष्ठा और कनिष्ठा दो दो भेद और होते हैं । (जिसपर पतिका अधिक प्रेम हो वह ज्येष्ठा और जिसपर कम प्रेम हो वह कनिष्ठा कहलाती है) । इस प्रकार इन दोनोंके बारह बारह भेद होते हैं । मध्या एकरूप रहती है, इससे उसके वीर भेद नहीं होते ।

परकीया

परकीया नायिका दो प्रकारकी होती है—एक ऊदा और दूसरी अन्दा । ऊदा उसे कहते हैं जिसका विवाह हो गया हो । अन्दा वह है, जिसका विवाह न हुआ हो, जो कुम्भारि ही हो । प्रधान रसमें ऊदाका वर्णन नहीं होना चाहिए, किन्तु अन्दा अर्थात् कन्याके अनुरागका उपयोग अगी (प्रधान) और अग (अप्रधान) दोनों रसोंमें हो सकता है ।

गायिका

(सामान्या नायिका गणिका होती है । वह कलाओंमें निपुण, सहेली तथा धूर्त होती है । वह केवल धरसे प्रेम करती है और प्रच्छन्न कामुक, आसानीसे धन कमानेवाले, मूर्ख, पांडुरोगी, नपुंसक आदिका जबतक उनके पास धन रहता है तबतक ऐसा मनोरजन करती है मानो सच्चमुक्त उनसे प्रेम करती हो । जब उनकी सगति नष्ट हो जाती है तब उनका निरादर करके उन्हें घरसे निकलवा देती है । परन्तु गणिकाके हृदयमें भी सच्चा प्रेम हो सकता है । तब वह वास्तवमें गणिका नहीं रह जाती, जैसे, मृच्छकटिकमें वसन्तसेनाका चाणदचपर सच्चा प्रेम हो जाता है । वसन्तसेना वास्तवमें केवल गणिकाकी पुत्री है, यह वेदयाका व्यवसाय नहीं करती । केवल सच्चे प्रेमके लिये ही रूपकोंमें वेदयाका आयोजन होना चाहिए । हौं, प्रहसनमें विना प्रेमके भी उसपर नायकका अनुराग दिलाया जा सकता है)

मध्या और प्रगल्भाके बारह भेद ऊपर दिलाए जा चुके हैं । इनमें मध्याका एक, परकीयाके दो और सामान्याका एक भेद मिलाकर सब सोलह भेद होते हैं ।

इनके अतिरिक्त नायिकाके व्यवहार और दशा-भेदके अनुसार नीचे लिखे आठ भेद और होते हैं—

(१) स्वाधीनपतिका, (२) वासकसजा, (३) विरहोत्कण्ठिता, (४) खंडिता, (५) कलहांतरिता, (६) विप्रलब्धा (७) प्रोषितप्रिया और (८) अमिषारिका ।

(१) स्वाधीनपतिका नायिका वह होती है जिसका पति उसके वशमें हो । वह प्रसन्न रहती है क्योंकि उसका पति निरन्तर उसके पास रहता है और उसकी सेवा करता है ।

(२) वासकसजा नायिका वह होती है जो वल्ल, शू गारादिसे सज भूषण प्रसन्नतापूर्वक अपने पतिके आगमनकी प्रतीक्षा करती है ।

(३) विरहोत्कण्ठिता नायिका वह है जिसका पति निरिच्छत समयके भीतर बिना अपने अपराधके न आ सके और जो इसी कारणसे खिन्न हो ।

(४) खंडिता नायिका—पतिके शरीरपर अन्य स्त्री-द्वारा किए हुए, संभोग-चिह्नोंके देखकर जो ईर्ष्यासे जल उठे उस नायिकाको खंडिता कहते हैं । खंडिता नायिकाका नायक धृष्ट कहलाता है या यों कहना चाहिए, कि नायकके धृष्ट होनेसे नायिका खंडिता होती है ।

(५) कलहांतरिता नायिका पहले तो प्रार्थना करने वाले प्रियतमका निरादर कर देती है परंतु फिर अपने इस कृत्यपर पछताती है ।

(६) विप्रलब्धा नायिका वह है जिसका प्रियतम मिलनेका सकेव स्थान नियत करके भी उससे मिलने न आवे और इस प्रकार जो अपना अमान समझे । विप्रलब्धाका अर्थ है 'ठगी हुई' ।

(७) प्रोषितप्रिया नायिका वह कहलाती है जिसका पति किसी कामसे परदेश गया हो । भूत, भावी और वर्तमान तीन प्रकार की प्रोषित-प्रिया नायिकाएँ होती हैं । भूत प्रोषितप्रिया वह है जिसका पति विदेश गया हुआ हो । इसे प्रोषितभतिका कहते हैं । भावी प्रोषितप्रिया वह है जिसका पति परदेश जानेवाला हो । इसे प्रवत्स्यवतिका कहते हैं । वर्तमान प्रोषितप्रिया वह है जिसका पति अभी विदेश जा रहा हो । इसे प्रवस्यवतिका कहते हैं ।

(८) अमिषारिका नायिका वह है जो कामार्च होकर, स्वयं संकेत स्थानपर जाय अथवा प्रियतमके अपने पास

बुलावे । यदि कुलकामिनी अभिसरण करेगी तो भूषणके शब्द बन्द करके दवे पाँव घूँघट काढ़कर जायगी । वेश्या विचित्र और उज्ज्वल वेश धारण करके नूपुर और कंकण इनकारती जायगी । दासी नगमें अटपटी बातें करती हुई, त्रिलससे प्रफुल्लनयन और बहकी चालसे अभिसरण करेगी । अभिसरण-स्थान प्रायः खेत, बगीचा, झील मन्दिर, दूतीका घर, निर्जन स्थान, जंगल, श्मशान या नदी-तट हुआ करते हैं ।

स्वाधीनपतिका और वासकसजाकी विशेषता क्रीडा, उज्ज्वलता और र्भूषण हैं और शेष छः प्रकारकी नायिकाओंकी चिन्ता, निःवास, स्वेद, अश्रु-विवर्णता, म्लानि तथा भूषणों का अभाव है ।

नायिकाकी ये आठों अवस्थाएँ एक दूसरीसे भिन्न होती हैं । उनमें आपसमें कोई अन्तर्भाव नहीं होता । समय समयपर एक ही नायिकाकी प्रत्येक अवस्था हो सकती है, परंतु दो अवस्थाएँ एक साथ नहीं आ सकतीं । स्वाधीनपतिका वासवसजा नहीं है, क्योंकि वासकसजाका पति उसके पास नहीं रहता । जिसका पति घर आनेवाला हो (वासकसजा), उसे यदि स्वाधीनपतिका मानें तो प्रोषितप्रियाको भी स्वाधीनपतिका मानना पड़ेगा, जिसकी अशंसतता स्पष्ट है । प्रियके समीप होनेसे वह विरहोत्कण्ठिता, कलहांतरिता या विप्रलब्धा नहीं है । अपने पतिका वह कोई भी अपराध नहीं जानती, इससे खंडिता नहीं है । मोगेच्छा और रतिमें प्रवृत्त होनेके कारण वह प्रोषितप्रिया भी नहीं है । स्वयं पतिके पास जाने अथवा पतिको अपने पास बुलानेकी उसे आवश्यकता नहीं होती, इससे वह अमिषारिका भी नहीं है । इसी प्रकार विरहोत्कण्ठिता भी धैर्यसे भिन्न है । पतिके आनेकी अवधि बीत जानेके कारण वह वासकसजा नहीं है । विप्रलब्धाका पति आनेकी प्रतिक्षा करके भी धोखा देनेके विचारसे नहीं आता इसलिए वह विरहोत्कण्ठिता और वासकसजासे भिन्न है । कलहांतरिताको अपने पतिका अपराध ज्ञात रहता है, पर वह खंडितासे भिन्न है, क्योंकि उसका प्रिय धनुनय करता है जिसे स्वीकार न करके वह पश्चात्ताप करती है । इस प्रकार धनिके अर-स्थाओंके अनुसार इस विभाषणी सगति दिए जाई हैं ।

परकीयाकी, चाहे वह ऊदा हो या अनुदा, इन आठ अवस्थाओंमें से केवल तीन अवस्थाएँ हो सकती हैं । संकेत-

स्थानको चलनेसे पहले वह विरहोत्कण्ठिता होती है। विदूषक, दूती आदिके साथ सकेत-स्थानपर जानेसे वह अभिचारिका होती है और कदाचित् यदि उसका प्रिय सकेत स्थानपर न आया तो वह विप्रलब्धा हो जाती है। प्रिय पौंच अवस्थाएँ परकीया नहीं हो सकती। मालवि कामिमित्रियों रानीके सामने राजाकी पवरशता देखकर मालविकाने कहा—

“देवीके सामने आपकी धीरता देख ली गई।”

इसपर राजाने उत्तर दिया—

‘हे दाक्षिण्य तुल्यत प्यारी | नायकके प्रतिपालन योग्य |
इसीलिये ये प्राण हमारे बंधे तुम्हारी आदामें ॥”

[मालविकामिमिन]

यहाँ मालविका रूडिता नहीं है, क्योंकि राजासा रानीके प्रति पहलेके समान प्रेम और आदर उसके दाक्षिण्यसा लक्षण है। रानीके प्रति अपना प्रेम खींसार करनेके साथसाथ वह मालविकाके अनुनय करता है, जिससे उसके ‘विमानिवा’ होनेका अवसर नहीं रह जाता।

स्वकीयाके प्रति उसके पतिके प्रेमको परकीया रूडित करती है। वास्तवमें परकीयाके सबसे स्वकीया रूडिता होती है, स्वकीयाके सबसे परकीया नहीं। इसी प्रकार प्रियके विदेश में होनेपर भी परकीया प्रीणितपतिका नहीं होती। मिलनके पूर्व देसका व्यरथान परकीया और नायकके बीच सदा रहता है। इस कारण वह मिलनके लिये उल्लूक विरहोत्कण्ठिता मान हो सकती है।

नायिकाकी दूतियाँ

दासी, सली, धोविन, परका काम काज करनेवली, नौरादरियो, पड़ोविन, मिथुनी, थिलिनी (चित्रादि बना-नेनली) नायिकाकी दूतियाँ होती हैं। कभी-कभी नायिका स्वयं भी धाग्री दूती बन जाती है। ऐसी अवस्थामें वह स्वयंदूती कहलाती है। नायकके सहायकोंमें जो गुण होते हैं वे इनके लिये भी आवश्यक हैं। इनमें कला-कौशल, उसाह, स्वाभिमक्ति, चित्तजता (दूरेका अभिप्राय समझनेकी शक्ति), तीव्र स्मरण शक्ति, मजुरमाहिता, नर्म-विज्ञानका ज्ञान, वाग्मिता आदि गुण होने चाहिएँ।

नायिकाओंके अलंकार

सौन्दर्य बढ़ानेवाले स्वभाविक उपादान अलंकार कहलते हैं। अलंकारोंका अर्थ आभूषण नहीं है। वे प्राकृतिक हावभाव होते हैं। अलंकार स्त्री और पुरुष दोनोंमें हो सकते हैं। ऐसे अलंकार जो स्त्रीपुरुषोंमें समान होते हैं अंग और अवलज कहलाते हैं। स्वभावज अलंकार स्त्रियोंकी ही विशिष्टता प्रकट करते हैं। भाव, हाव और हेला ये तीन अंगज, शोभा कांति, मधुर्य, दीप्ति, प्रगल्भता, बौदार्य और धैर्य ये सात अवलज और लीला, विद्यास, विशिष्टि, विभ्रम, किलबिचिव, मोहायित, बुद्धमित, विव्कोक, ललित और विहृत ये दस स्वभावज अलंकार होते हैं। विश्वनाथने साहित्य दर्पणमें आठ स्वभावज अलंकार और बताए हैं। वे हैं—तान, सुष्यता, विक्षेप, मद, कुदहल, हसित, चकित और केलि।

.....मदः ॥

तपन मौष्यविक्षेपश्च कुदहलम् ।

इहित चवित केलिः..... ॥

—३,१,१२

अंगज अलंकार—(१) भाव—जमसे अधिकारी विसरों विचारका उपपन्न होना भाव कहलाता है।

(२) हाव उत तीव्र रति वितारको कहते हैं, जो अपनी तीव्रताके कारण शरीरके बाहरी अंगोंकी विलक्षण विकृति-के द्वारा ललित होने लगता है, जिससे आँखोंमें, भौंवर और चाल ढालमें एक प्रकारका अनोपामन आ जाता है। साहित्य-दर्पणके अनुसार इसकी परिभाषा इस प्रकार है—भ्रुकुटी तथा नेत्रादिके विलक्षण व्यापारोंका भव-प्रकाशक ‘भाव’ ही हाव कहलाता है, अर्थात् भाव ही तीव्रता पाकर हाव होता है।

भ्रूनेत्रादिविकारस्तु समोगेच्छाप्रकाशकः ।
भावे एवात्यसलदयविकारो हाव उच्यते ॥

—३,१४

(३) हेरा—काम वासनाके अत्यंत स्पष्ट रूपमें ललित होनेसे हेला कहते हैं। भाव ही बढ़कर हेला हो जाता है।

अयनज अलंकार—(१) शोभा—रूप, भांग (रति) और तवगादसे अमसा जो सौंदर्य लिल उठता है उसे शोभा कहते हैं,

(२) कांति—सामान्यसे बड़ी हुई शोभाको वांति कहते हैं।

(३) दीप्ति—अत्यंत विशाल प्रामेय्य कांति ही दीप्ति कहलाती है।

(४) माधुर्य—इस गुणमें उम्रता नहीं होती। इसके कारण नायिका, प्रत्येक अवस्थामें, रमणीय लगती है। विपरीत परिस्थितियोंमें भी उसकी रमणीयता कम नहीं होती। माधुर्यमें तीव्रता नहीं होती। तीव्र गुणोंका काम आकर्षण है। शोभा, कांति, दीप्ति आदिसे जो आकर्षण होता है उसमें प्रतिघात होकर अपकर्ष न अने देना माधुर्यका काम है।

(५) प्रगल्भता—मनके लोभसे उत्पन्न अंग सजीव का अथवा चित्तके भावका अभाव होना प्रगल्भताका गुण है। रतिके समय नायिकाकी अभिभयताकी भी प्रगल्भता कहते हैं।

(६) औदार्य—एव अवस्थाओंमें विनय युक्त व्यवहार करना औदार्य कहलाता है।

(७) धैर्य—आत्मश्लाघासे विहीन मनकी अचञ्चल वृत्तिको धैर्य कहते हैं।

स्वभावज अलंकार

(१) लीला—नायिकाके द्वारा प्रियके प्रेम सभाषण वेग-भूया तथा चेष्टाका अनुकरण इसके अंतर्गत है। अर्वाचीन आचार्योंने इसके तीन भेद बतलाए हैं—स्वगता, सती-गता और स्वप्रियगता लीला। लीलाकी जो परिभाषा दी गई है वही स्वगताकी है। जब नायिका सबीखे नायकका अनुकरण करावे तो सतीगता लीला होती है और जब वह नायकसे नायिकाका रूप धारण करावे और चेष्टा करावे तथा स्वयं नायकका रूप धारण करे और उसकी चेष्टाओंका अनुकरण करे तब स्वप्रियगता लीला होती है।

(२) विलास—प्रियके दर्शन-मात्रसे वाङ्मति, नेत्रों तथा चेष्टाओंमें जो विशेषता आ जाती है अथवा जो परि-वर्तन होता है उसे विलास कहते हैं।

(३) विकल्बुत्ति—यह अल्प धेरा-रचना है जो काविकी बनावे।

(४) विभ्रम—किसी विशेष अवसरपर, उदात्तलीके कारण, भूषण आदिको औरकी और जगह पहन लेना तथा भ्रंतिपूर्ण आचरण करना।

(५) क्लिक्कंचित—प्रियके समर्प आदिसे उत्पन्न वह अवस्था जिसमें मुसकुराहट, हँसी, क्रोध, मय और भ्रमका मिश्रण होता है।

(६) मोट्टापित्त—प्रेममें तन्मय होकर प्रियतम-संबन्धी कथान्यासां सुनना। अर्वाचीन आचार्योंके अनुसार मोट्टापित्तमें कामिनी कान मुञ्जलाने आदिकी चेष्टाएँ करती है जिससे लोगोंको पता न लगे कि वह उस (प्रिय संबंधी) वार्त्ताका ध्यानपूर्वक अनुसरण कर रही है।

(७) कुट्टमित—अधर, केश, स्वन-आदिके धुनेसे आनन्द होनेपर भी रोकनेके लिये झटमूट ही हाथ धरना या सिर हिलाना और मोक्ष प्रकट करना।

(८) विध्वोक—गर्वके कारण प्रिय वस्तुके प्रति अनादर प्रकट करना। यह अनादर केवल दिग्गाने भरके लिये होता है, परन्तु अन्तःकरणसे कामिनी उसका सम्मान करती है।

(९) ललित—धरने कोमल श्रंगारों से युक्तमारताके साथ सजाना।

(१०) विह्वल—अनुकूल और उचित अवसर पाने पर भी शीङ्गके कारण न कह सकना।

सहित्यदर्पणकारने धाट और गिना दिए हैं।

(११) मद्—सौभाग्य, यौवन आदिके धर्मउठे उत्पन्न मनोविचार।

(१२) तपन—प्रियममके वियोगमें कामोद्देगसे उत्पन्न चेष्टाएँ।

(१३) मुग्धता—जनी बड़ी बातों भी प्रियममसे अनजान होकर पूछना।

(१४) विक्षेप—बल्लभ (प्रिय) के समीप भूषणोंकी अपूर्ण रचना अथवा अकारण ही रहस्यमयी दृष्टिसे शर-उधर देखना एवं प्रियसे धारिसे कोई रहस्यकी बात करना।

(१५) कुन्हुल—रमणीय वस्तुको देखनेके लिये चञ्चल हो उठना।

(१६) हसित—बौवनोद्गमने-उत्पन्न वृथा हास ।

(१७) चकित—प्रियतमके सामने, बिना कारण डरना या घबराना ।

(१८) कैलि—विहारके समय कान्तके साथ काम शीड़ा ।

अनुराग-चेष्टाएँ

साहित्य दर्पणकारने नायिकाधोकी अनुराग चेष्टाधोका भी वर्णन किया है । मुग्धाकी अनुराग चेष्टाएँ वे दस प्रकार बताते हैं—

दृष्ट्वा दर्शयति नीटा सम्भ्रुण नैव पश्यति ।

प्रच्छन्न वा ध्रमन्त वातिनात्न पश्यति प्रियम् ॥

बहुधा च चञ्चलमपि मन्दमन्दमधोमुखी ।

सगद्गदस्वर किञ्चिदप्रिय प्रायेण भाषते ॥

अन्यैः प्रवर्तिता शम्बल्लाषयाना च तत्कथाम् ।

शृणोत्यन्यत्र दत्ताशी प्रिये बालानुरागिणी ॥

(“पतिको देखकर लज्जा दिखलाती है । सम्भ्रुण कभी नहीं देखती । छिपे हुए, अथवा दूर खड़े हुए प्रियको देखती है । बहुत बार पूछनेपर वह नीचे मुख करके गद्गद स्वरसे मन्द मन्द कुछ प्रिय बातें बोलती है । अपने प्रियकी कथा दूसरोंसे कही जानेपर उसे ध्यानसे सुनती है ।”)

इसके अनन्तर प्रत्येक नायिकाकी अनुराग-चेष्टाधोका वे दस प्रकार बताते हैं—

चिराय सखिचे स्थान प्रियस्य बहु मन्यते ।

विलोचन पथ चास्य न गच्छत्यनलङ्घता ॥

कापि कुन्तलसम्पानसयमव्यपदेशत ।

बाहुमूल स्तनौ नाभियङ्गज ददर्शितकुण्डम् ॥

आच्छादयति वागायैः प्रियस्य परिचारकान् ।

निवसित्यस्य भिन्नेषु बहुमान करोति च ॥

सखी मन्थे गुणान्स्ते स्वघन प्रददाति च ।

मुग्धे स्वपिति दुःखेऽस्य दुःख धत्ते मुखे सुखम् ॥

रिपता दृष्टियथे शम्बल्लप्रिये पश्यति दूरतः ।

आभाषते परिजन समुल स्मरविश्रियम् ॥

यत्किञ्चिदपि सर्वाक्ष्य कुरुते हसित मुधा ।

कर्णकण्ठयन तद्गल्कवरीमोक्षसयमौ ॥

जृम्भते स्फोटयत्यङ्ग बालमारिदल्प्य चुम्बति ।

भाले तथा वयस्याया रचयेच्छिखत्रियाम् ॥

अङ्गुष्ठाग्रेण लिखति सकटाक्ष निरीक्षते ॥

दशति स्वाधर चापि द्रुते प्रियमधोमुखी ।

न मुञ्चति च त देश नायको यत्र हस्यते ॥

आगच्छति यह तस्य कार्यं व्याजेन केनचित् ।

दत्त किमपि कान्तेन पृत्वङ्गे मुटुरीक्षते ॥

नित्य दृष्ट्यति तत्रांगे वियोगे मलिना वृथा ।

मन्यते बहु तच्छील तदप्रिय मन्यते प्रियम् ।

प्रार्थयत्यहामृत्यानि मुग्धा न परिवर्तते ॥

विकारान्तरिखकानस्य समुप्री नाधिगच्छति ।

मापते स्रुत स्निग्धामनुरक्ता नितम्बिनी ॥

एतेष्वधिकलज्जानि चेष्टितानि नवलिखाः ।

मन्थत्रीडानि मन्थ्यायाः स समानव्यापिण्यु ॥

अन्यलिखा प्रगल्भायास्तथा स्तुर्वारयोपितः ।

लेपा प्रस्थापनैः किञ्चिद्विधैर्दुःकुम्भयिते ॥

“वह प्रियके समीप रहनेकी इच्छा करनेवाली होती है तथा प्रियके सम्मुख बिना अलंकार धारण किए नहीं जाती । केश अथवा साड़ीको ठीक करनेके बहानेसे बाहुमूल, स्तन तथा नाभि दिखलाती है । मीठी वाणीसे प्रियके सेवकोंको वशमें रखती है । उसके (प्रियतमके) मित्रोंका विश्वास करती है और उनका मान करती है । उसकी सखियोंसे उसके गुणका वर्णन करती है तथा अपना घन आदि देती है । उसके सोनेके बाद सोती है । उसके दुःखमें दुःख और सुखमें सुख समझती है । प्रियके दृष्टिपथमें खड़ी हुई उसे दूरसे देखती है और मदन खसत होकर कुटुम्बियोंसे बातें करती है । कोई बखु देखकर हँसने लगती है, कान खुजलाने लगती है या केश खोलने - भँपने लगती है, जँभाई लेती है, अँगड़ाती है, अपने बालकको हृदयसे लगाकर चुबन करती है अथवा अपनी सखियोंके मस्तकपर तिलक लगाती है । पाँवके अँगुठेसे पृथ्वी खोदती है, कटाक्षसे देखती है, अपने अधर चमाती है तथा नीचे मुख करके मधुर भाषण करती है । जहाँसे नायक दिखलाई देता हो उस स्थानको नहीं छोड़ती और किसी न किसी कामके बहानेसे उसके घरपर पहुँच जाती है । अपने हात की दी हुई बखुको शरीरपर धारण करके बारब र देखती

है और उस वस्तुके संयोगसे प्रसन्न होती है तथा उसके विभोगमें दुखी होती है। उसके झीलको बहुत मानती है और उसकी प्यारी वस्तुसे प्यार करती है। प्रियसे अल्प मूल्य (जुवादि) ही चाहती है और सोते समय प्रियकी ओर पीठ करके नहीं सोती। उसके सम्मुख स्तम्भ, स्वेद, रोमांच आदि सात्विक विकारोंका अनुभव करती है। सत्व और मधुर भाषण करती है। इन इगितों (चेष्टाओं) में नई जियों अधिक लज्जा करती हैं, मध्या कुछ कम लज्जा करती हैं तथा परकीया, प्रगल्भा और गणिका तनिक भी लज्जा नहीं करती।]

हरिऔधजीका रसकलस

धनजय और साहित्यदर्पणकारके इस विवरणके अतिरिक्त लक्षण ग्रन्थोंमें जहाँ नायक-नायिकाका विवरण भाया है वह सब शृङ्गार रसके आलम्बन विभावके रूपमें भाया है और वह सब प्रायः वैसा ही है जैसा धनजयने ऊपर दिया है। इनमें अच्छे और बुरे सभी प्रकारके पुरुषों और अच्छी बुरी सभी स्त्रियोंका उल्लेख किया गया है।

हरिऔधजीने अपने रसकलसमें पद्मिनी, त्रिषिणी, शशिनी और हस्तिनी नामसे नायिकाओंके चार भेद किए हैं। प्रकृति-सम्बन्धी भेद करते हुए उच्चमाके उन्होंने आठ भेद बताए हैं—पति-प्रेमिका, परिवार-प्रेमिका, जाति-प्रेमिका, देश-प्रेमिका, जन्म-भूमि-प्रेमिका, निजतानुगामिनी, लोक-सेविका और धर्मप्रेमिका। मध्यमाके भी उन्होंने दो भेद किए हैं—व्यङ्ग्यविदग्धा और मर्मपीडिता। नोप रसिभोग्यन्धी और स्वभाव-सम्बन्धी भेद वे ही हैं जो अन्य आचार्यों ने दिए हैं। इस बीसवीं शताब्दीमें भी उन्होंने सलाके भेदोंमें पीठमर्द, विट और चेटकी कल्पना की है। इस प्रकार कल्पनाशील आचार्योंको सदा यह स्वतन्त्रता रही है कि वे सर्वदा अपनी विवेचनाके अनुसार मनुष्योंके भेद करें।

अन्तर्मुख और बहिर्मुख

● अन्तर्मुख बहिर्मुख त्रमेदेन मानवद्विधेति यूगः॥
[अन्तर्मुख और बहिर्मुख मानव दो प्रकार भी यूग हैं।]

यूगने मनुष्योंकी उस आवेगात्मक लालसाके

अनुसार दो भेद किए हैं जो मनुष्योंके सब क्रियाओंमें प्रेरित करती हैं—अन्तर्मुख और बहिर्मुख। अन्तर्मुखी व्यक्ति किसी भी पदार्थको देखकर उसपर विचार करता है और मनमें यह सोचता रहता है कि मैं इसकी ओरसे अपनी प्रवृत्ति कैसे हटाऊँ। इसमें सब पदार्थोंकी भावपूर्ण-शक्ति निरन्तर अक्षय रहती रहती है। जो बहिर्मुख होते हैं वे किसी भी पदार्थको देखकर उसकी ओर प्रवृत्त हुए रहते हैं, उससे कोई निश्चित सम्बन्ध स्थापित करते हैं और निरन्तर उस पदार्थ की ओर प्रवृत्त होनेमें प्रयत्नशील होते हैं। बहिर्मुखी व्यक्ति अपने पास-पड़ोस तथा सम्पर्कमें आनेवाले व्यक्तियों और वस्तुओंसे समीपतम सम्बन्ध रखते हैं और अन्तर्मुखी व्यक्ति अपने और वास्तविक जगतके बीच एक अन्तरपट डाले रहता है। इस दृष्टिसे हम बहिर्मुखको लोकानुरक्त कह सकते हैं और अन्तर्मुखको विरक्त या उदासीन। अन्तर्मुखी व्यक्तिको देख कर बहिर्मुखी यही समझता है कि यह विरक्त, उदासीन और स्वप्नातुर व्यक्ति व्यर्थ है, इसका जन्म निरर्थक है। यह धोबीका कुत्ता न घरका है न घाटका और अन्तर्मुखी व्यक्ति इस बहिर्मुखीको निरर्थक, नीरस और नासमझ व्यक्ति मानता है जो भौतिक बातोंके अतिरिक्त न कुछ जानता है न जान सकता है। यूगने केवल इन्हीं दो भेदोंके सीमा नहीं बाँपी है। यह कहता है कि ये दो वृत्तियों तो केवल मनुष्योंकी चेतन प्रवृत्तियोंकी द्योतिका हैं। इनकी अचेतन प्रवृत्तियाँ इनकी चेतन वृत्तियोंकी ठीक विरोधिनी हैं। उसने फिर मनोवैज्ञानिक क्रियाओंके आधारपर अवलम्बित होनेवाले कुछ दूसरे भेद बताए हैं। ये मनोवैज्ञानिक क्रियाएँ चार हैं—विचारात्मक, अनुभवात्मक आवेगात्मक और अन्तःप्रेरणात्मक। इस दृष्टिसे अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी व्यक्तियोंकी चार-चार प्रवृत्तियाँ हूँ—बहिर्मुखी विचारात्मक प्रकृति, बहिर्मुखी अनुभवात्मक प्रकृति, बहिर्मुखी आवेगात्मक प्रकृति और अन्तःप्रेरणात्मक प्रकृति, अन्तर्मुखी विचारात्मक प्रकृति, अन्तर्मुखी अनुभवात्मक प्रकृति, अन्तर्मुखी आवेगात्मक प्रकृति और अन्तर्मुखी अन्तःप्रेरणात्मक प्रकृति।

इनमेंसे जो बहिर्मुखी विचारात्मक प्रकृतिवाले

होते हैं वे नीतिवादी या आचारवादी होते हैं। वे नीति या सदाचरणसे कभी उससे मस नहीं होते।

बहिर्मुखी अनुभवात्मक प्रकृतिवाले यह मानते हैं कि जिससे हमें सुख मिले, शान्ति मिले, सहारा मिले वही ठीक है, वही अच्छा है, शेष सब बुरे और अशुभ हैं।

बहिर्मुखी आविगात्मक प्रकृतिवाले 'परान्त दुर्लभ लोके' 'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्' तथा 'खाओ पिओ भानन्द करो' का सिद्धान्त मानते हैं, भोग विलासमें उनका मन रगता है, सुन्दर भोजन और सुन्दरीसे उनकी मनस्युति होती है।

बहिर्मुखी अन्तःप्रेरणात्मक प्रकृतिवाले लोग भावी सम्भावनाओंके लिये अपनी अन्तःप्रेरणाओंका प्रयोग करते हैं। वे उस प्रकारके होते हैं जो कहते हैं— मेरा मन कह रहा है कि ऐसा होगा ही। यह प्रकृति क्षियोंमें विशेष रूपसे होती है और इसका प्रयोग वे इन बातोंका निर्णय करनेमें भी करती हैं कि किस व्यक्तिसे मिलना चाहिए, कैसे कपड़े पहननेसे अधिक प्रभाव पड़ेगा और कैसे व्यक्तिसे प्रेम करना चाहिए। पुरुषोंमें व्यापारी, ठेकेदार, सट्टेवाले और राजनीतिज्ञ इसी प्रकृतिके होते हैं।

जो अन्तर्मुखी विचारात्मक प्रकृतिके होते हैं वे अपने विचारोंसे प्रभावित होकर मन ही मन मनन करते रहते हैं। दार्शनिक पुरुष इसी प्रकृतिके होते हैं। ऐसे राजनीतिक व्यक्ति भी इसी श्रेणीमें आते हैं जो अपने किसी दार्शनिक विद्वान्तके प्रयोगके लिये जारी बाति या देशको दौंचपर लगा देते हैं। इस प्रकृतिके लोग प्रायः वेदने करके पहनते हैं, सदा चिन्तनशील रहते हैं, सदा कुछ न कुछ मूले रहते हैं और दूसरोंसे जुलकर नहीं मिलते।

अन्तर्मुखी अनुभवात्मक प्रकृतिवाले दुन्ने होते हैं अर्थात् अपने मनकी बात किसीको जानने नहीं देते। ये मौन रहते हैं, दूसरोंके साथ सहानुभूति दिखाते हैं, आत्म विज्ञापनसे दूर रहते हैं और अपनी प्रकृतिको बहुत ही समन्वयात्मक रखते हैं। स्त्रियों प्रायः इसी स्वभावकी होती हैं। इनकी यह प्रकृति होती है कि बाहर तो वे अपने मनोवैर्गोंकी नहीं दिखातीं किन्तु

भीतर ही भीतर इनके हृदयमें मनोवैर्गोंकी भीषण ज्वाला जलती रहती है, विशेषतः ईर्ष्या की।

अन्तर्मुखी आविगात्मक प्रकृतिवाला व्यक्ति प्रायः या इष्ट वस्तुके साथ अपने आविर्गोंका ठीक अनुपात नहीं संभाल पाता। वह उसके लिये ऐसी विचित्र विचित्र पौराणिक कल्पना करता है जहाँ मनुष्य, पशु प्रकृति, नदी, पहाड़ सब ऐसे बन पड़ते हैं मानो उनका कुछ अद्य उदार देवताका हो और कुछ अद्य अनुदार राक्षसका। ऐसे लोग प्रायः कलाकार होते हैं। कवि, चित्रकार मूर्तिकार, सर्गात्मक आदि इसी श्रेणीमें आते हैं और अपने मनकी सस्तीके अनुसार बाहरी सस रसे अपना व्यवहार रखते हैं।

अन्तर्मुखी अन्तःप्रेरणात्मक प्रकृतिके लोग सदा आदर्शवादी विचारोंमें मग्न रहते हैं। भविष्यवक्ता, पैगम्बर तथा इस प्रकारकी रहस्यमयी आध्यात्मिक प्रकृतिवाले सभी इस श्रेणीके अन्दर आते हैं जो सदा रहस्यमय बातोंमें मग्न रहते हैं। ऐसे सनकी भी इसी श्रेणीमें आते हैं जो दिन-रात लम्बी चौड़ी भूमिका बाँधा करते हैं और कल्पनाके पुल बनाते रहते हैं। वे कलाकार और कवि भी इसी श्रेणीके हैं जो ऐसे विचित्र रहस्यात्मक दृश्यों और काल्पोंकी कल्पना करते हैं जो न तो कभी खोजे जा सकते और न लिखे जा सकते हैं। ऐसी प्रकृतिके अन्तर्गत ये लोग भी आते हैं—अनादृत्य प्रतिभाशील व्यक्ति, पपभ्रष्ट महापुरुष, सरल बुद्धिमान तथा वे लोक हितकारी व्यक्ति जो सदा उपेक्षित विषयोंका पक्ष ले कर निरर्थक चिच्छाते रहते हैं।

यूरोपीय आचार्यों के बतए हुए अन्य भेद

१ अन्येऽपि भेदाः ।

[और भी हैं भेद ॥]

विलियम जेम्सने मनुष्योंकी दो प्रकृति बताई है कठोर और कोमल। शिल्लेरने कहा है कि मनुष्य दो प्रकारके होते हैं। एक आदर्शवादी दूसरे यथार्थवादी। अथर्व वेच पन्नों जौडनेने दो प्रकारके व्यक्ति बतए हैं। एक अधिक आविगात्मक और दूसरे कम आविगात्मक। क्रोड्मैने चार प्रकारके मनुष्य बतए हैं, एक दुर्बल

प्रकृति, दूसरे सबल प्रकृति, तीसरे मस्त प्रकृति और चौथे निरर्थक प्रकृति। दुर्बल प्रकृतिके लोग दुबले पतले लम्बे तथा चौंचदार नाकवाले होते हैं। सबल प्रकृति वाले भरे मुखके, लम्बे चौंचे और तगडे होते हैं। मस्त प्रकृतिके लोग पचकोणी मुखवाले सदा प्रसन्न-चित्त और सबसे मित्रताका भाव रखते हैं। निरर्थक व्यक्ति स-न किसी न किसी रोगसे ग्रस्त रहते हैं, न वे किसी अवस्थामें सतुष्ट रहते हैं न उनसे कोई सतुष्ट रहना है।

अरस्तूका मत

इस सम्बन्धमें सबसे विचित्र बात यह है कि योरोपीय नाट्यशास्त्रके आचार्य अरस्तूने केवल मोटे रूपमें अच्छे और बुरे दो प्रकारके मनुष्य बताते हुए यह कह दिया है—
‘क्योंकि अनुरणके विषय मनुष्यके चरित्र ही हैं और ये मनुष्य या तो उच्च श्रेणीके होंगे या नीच श्रेणीके क्योंकि नैतिक चरित्रसे मुख्यतः इन्हीं दोनोंका ज्ञान होता है। अच्छाई और बुराई ही नैतिक भेद बतानेवाले विशिष्ट चिह्न हैं, अतः यह फल निकला कि या तो मनुष्योंका चित्रण हम उनके वास्तविक जीवनकी अपेक्षा कुछ अधिक अच्छा करें या कुछ अधिक बुरा या ठीक वैसा ही जैसे वे हैं।’

उच्च और अपराधी प्रकृति

वर्चमान नाट्याचार्योंने रगशाला तथा चल-चित्र दोनोंकी दृष्टिसे दो प्रकृतिके मनुष्य बताए हैं—एक उच्च प्रकृतिके, जिनमें आत्म त्यागी, वीर, साहसी, दानी, दयालु, सिद्धान्तवादी, मस्त, परोपकारी, लोक-सेवक, आस्थावादी, सदाचारी और धर्मभीक या ईश्वर-भीरुकी गणना की गई है, दूसरे अपराधी प्रकृतिके, जिनमें अकारण दूसरोंको तग करने या कष्ट देनेवाले, चुगली रानेवाले, अभिमानी, कामी, क्रोधी, अनुरक्त, उदासीन, कायर और हत्यारोंकी गणना की गई है। इन दो प्रकृतियोंका अलग-अलग वर्णन करते हुए उन्होंने यह भी कहा है कि बहुतसी ऐसी परिस्थितियाँ होती हैं जिनमें साधारण मनुष्य भी अपराधकारण कार्य करनेको तैयार हो जाता है। ये परिस्थितियाँ निम्न-लिखित प्रकारकी हो सकती हैं।

१—भयहृद्द हानि (धन, जप या प्रतिष्ठाकी)

२—क्रोध (अपनेपर या अपने इष्टपर संकट आने तथा कोई अपत्याशित घटना घटनेपर)।

योरोपीय जीवन का ध्यान करके ही उन्होंने इस प्रकारका वर्गीकरण किया है किन्तु उसे व्यापक रूपसे या सार्वभौम रूपसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। यदि गुण-वगुणमयी है। कोई भी व्यक्ति एकदम अच्छा या एकदम बुरा नहीं हो सकता। जैसा गोस्वामी तुलसीदासने कहा है—

सगुन छीर अवगुन बल ताता।

मिलइ रचइ परपच विघाता ॥

सारी यदि गुण और अवगुणके मेलसे बनी है। खलिया विप है किन्तु परिमित मात्रामें स्वास्थ्यके लिये बड़ा गुणकारी है। इसी प्रकार मधु और घी दोनों शक्ति-वर्षक और लाभप्रद हैं किन्तु समान परिमाणमें मिला देनेपर विष हो जाते हैं। यही बात मनुष्यके विषयमें है। बहुतसे मनुष्य संस्कारतः मृदुभाषी और क्षोमल स्वभावके होते हैं किन्तु कभी-कभी वे अत्यधिक कठोर भी हो जाते हैं। कोई व्यक्ति किसी समय किसीसे अच्छा व्यवहार करता है और किसी दूसरे समय कठोर बन जाता है। अतः किसी व्यक्तिका मूल्य आकरिमक प्रसंगमें उसके व्यवहारसे नहीं आँका जा सकता क्योंकि जैसा हम ऊपर कह चुके हैं कि साधारण मनुष्य परिस्थितियोंका दास होता है। ऐसे मनुष्य जोड़े हैं जो परिस्थितियोंका स्वामित्व करते हैं और अपने गुण, चरित्र, तथा स्वभावसे परिस्थितियोंको बदल देते हैं किन्तु ऐसे व्यक्ति लोकोत्तर होते हैं जिनके लिये भगवान् श्रोत्रयाने कहा है—

यद्यद्विभूतिमस्तत्र श्रीमदूर्जितमेव वा।

तत्तदेवावगन्तव्य ममतेजोऽद्यगम्भरः ॥

[संसारमें जो भी विभूतिमान्, श्रीमान् और तेजयुक्त दिखाएँ उन्हें उन सबको मेरा अवतार समझना चाहिए।]

इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान रखना चाहिए कि प्रायः मानव चरित्रके आलोचन किसीका आचरण देखकर अपने-अपने सामाजिक मान-दण्डसे उसको नैतिकताकी परीक्षा करने लगते हैं। नीति और अनैति दोनों सापेक्ष हैं। एक ही कार्य एक स्थानपर नीति है और दूसरे स्थानपर अनैति। यदि हम किसीको यहाँ चुनो दें तो वह कार्य अनैतिक होगा किन्तु यदि कोई आधुनिक वैद्य किसी

रोगीका पेट चीरकर शल्यकर्म करता है तो वह अनैतिक नहीं होता। यदि कोई व्यक्ति किसी भालक या लीको निर्दयतासे पीट रहा हो और उसपर कुछ होकर यदि हम उस व्यक्तिपर हाथ चला दें तो यह अनैतिक कार्य न होगा क्योंकि हमने अपनीतिको रोकनेके लिये यह कार्य किया है। यद्यपि दुष्टमें मनुष्य फल नहीं लगाता ईश्वर ही लगाता है किन्तु यह बहाना लेकर हम किसीके उपवनसे फल तोड़कर नहीं खा सकते। अतः कोई भी कार्य स्वतः अच्छा या बुरा नहीं होता। प्रत्येक कार्यकी नैतिकता उसके कर्ताके उद्देश्यपर अवलम्बित होती है। जब कर्ताका उद्देश्य सख्त या प्रत्यक्ष होता है तब उसके चरित्रका निर्धारण करनेमें कोई कठिनाई नहीं होती किन्तु जब कर्ता अपने उद्देश्यको गुप्त रखे रहता है तब उसकी नैतिकतामें भ्रम हो जाना अधिक सम्भव हो जाता है और ऐसी अनेक घटनाएँ होती हैं जहाँ कोई साधु पुरुष दूसरेका दोष अपने सिरपर ले लेता है और दूसरेकी रक्षाके लिये अपना सर्वस्व बर्हावक किमान, यश, प्रतिष्ठा, धन और प्राणतक गवाँ बैठता है। लोग समझते हैं कि वह दुष्ट और दौंगी या किन्तु अन्ततक किसीको यह बात नहीं होजा कि वह परम उत्कृष्ट भोगीका महापुरुष था। इस प्रकारका चरित्र नाटकके लिये अत्यन्त अनुपादेय होता है और जिन लोगोंने ऐसे चरित्र अपने नाटकमें लिखे हैं उन सबने किसी न किसी प्रकारसे मेद खोलकर उसका महत्त्व परमावधिपर स्थापित करनेकी चेष्टा भी की है। यदि वे ऐसा न करते तो दर्शक भी उस नाटकके प्रति घृणा लेकर जाते और वह काव्य या नाटक असत्य हो जाता। किन्तु काव्य तो सत्यका प्रस्थापक होता है और कविको किसी-न-किसी प्रकार उस सत्यकी स्थापना करनी ही पड़ती है। यही सत्य-स्थापन ही काव्य सत्य कहलाता है जिसपर विद्वानोंने बहुत शास्त्रार्थ किया है। इस सबका तात्पर्य यह हुआ कि मनुष्यके चरित्रकी परीक्षा उसके आचरणके उद्देश्यपर अवलम्बित है। इसीलिये हमें मनुष्योंका बर्गीकरण करते समय उनके आचरणोंका विचार न करके उनके उद्देश्योंपर विचार करना चाहिए।

कुलपरंपरा और संगतिका संस्कार

आजकल मनोवैज्ञानिकों और मनोविश्लेषण शास्त्रियोंने मनुष्योंका बर्गीकरण दूसरे दगते किया है। मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी कुलपरंपरासे

कुल संस्कार ग्रहण करता है। इनमेंसे कुछ शारीरिक संस्कार होते हैं कुछ मानसिक। पिता या माताके समान चलने, बैठने, हँसने या बात करनेका ढंग बहुतसे बालकोंमें प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है। यह शारीरिक संस्कार है किन्तु इसके अतिरिक्त रूपां करना, दूसरेकी उन्नति देखकर कुदना, चिन्तित रहना ये सब मानसिक संस्कार हैं। ये दोनों प्रकारके संस्कार बालकोंमें जन्मजात भा जाते हैं किन्तु कुछ संस्कार ऐसे हैं जो सगके द्वारा मनुष्य अपना लेता है। चातुर्चातिका शिष्टाचार, विनय आदि अन्धे गुण और बीड़ी सिगरेट पीना, चोरी करना, दूसरेको हाँसि पड्डुँचाना आदि अवगुण सब सगतिसे ही सीसे जाते हैं। इस जन या वातावरणके अनुसार बहुतसे कुलपरंपराके संस्कार छूट भी सकते हैं और बढ़ भी सकते हैं। मनुष्यके चरित्रपर दोनोंका प्रभाव पर्याप्त रूपमें पड़ता है। इस विषयमें बहुतसे अपवाद भी होते हैं। अन्धे कुलमें उत्पन्न होनेवाले बहुतसे लोग समाजके शत्रु सिद्ध हुए हैं और बुरे कुलमें उत्पन्न होनेवाले बहुतसे महापुरुष भी हुए हैं। इसी प्रकार कुसगमें रहनेपर भी बहुतसे लोग भले बने रह सके हैं जिनके लिये रहीमने कहा है—

जो रहीम उत्तम प्रकृति का करि सकत कुसग।

चदन विष व्यापत नहाँ नगटे रस्त भुजग ॥

किन्तु ऐसे भी कम उदाहरण नहीं हैं कि सज्जन पुरुष कुसगमें पढ़कर विगड़ जाता है—

काजरकी कोठरीमें कैसाहू सयानो बाय,

एक रेत काजरकी लागिरे पै लागिरे।

और ऐसे भी उदाहरण उपलब्ध हैं जहाँ सज्जनोंकी सगतिमें रहकर दुष्टोंने अपनी दुष्टता नहीं छोड़ी है। और कुछ नहीं तो इतना ही हुआ कि चौर चोरीसे गया किन्तु हेराफेरीसे नहीं गया। तात्पर्य यह हुआ कि वातावरण या सगतिकी तथा कुल और सहायिक प्रभाव अवश्य पड़ता है किन्तु कुछ ऐसे अपवाद अवश्य हो जाते हैं जिनमें न कुल प्रभावित कर सका है न सगति। फिर भी मनोवैज्ञानिकोंका यही कहना है कि मनुष्यका चरित्र कुल-सहायकों और सगतिसे ही बनता है। मनोविश्लेषण-शास्त्रियोंका यह कहना है कि बालकजन्ममें प्रत्येक मनुष्यकी कुछ इच्छाएँ होती हैं। उन इच्छाओंकी पूर्ति होती रही तो मनुष्य भला बन जाता है। क्योंकि इच्छा या वासना-

के पूर्ण न होनेसे ही मनुष्य अपराध या अनीति करनेको बाध्य होता है और जब इच्छाएँ या वासनाएँ पूरी होती हैं तभी वह मला होता है क्योंकि उस समय अपराधकी आवश्यकता ही नहीं होती। बालक देवगुण्य है उसमें सब वासनाएँ सत् होती हैं यहाँतक कि जो कामवासना होती है वह भी सत् होती है। उसकी पूर्ति होनेसे भी मनुष्य सत बनता है, किन्तु यदि वह वासना तृप्त नहीं होती या दबा दी जाती है तो भाग चलकर दबी हुई भावनाएँ रोग या अनीतिका रूप ग्रहण कर लेती हैं और ऐसे लोग भयकर नरपिशाच या भयकर रोगी हो जाते हैं।

अभ्यास, आचरण और इच्छाशक्ति

मनुष्यके चरित्र-विकासका क्रम बताते हुए मनो-वैज्ञानिक कहते हैं कि व्यक्ति जैसा बारबार करता है वह उसका अभ्यास हो जाता है, और जैसे जैसे अभ्यास बनते चलते हैं उतनीसे अनुसार मनुष्यका चरित्र भी बनता है। ये अभ्यास ही हमारे नैतिक जीवनके आधार हैं। अच्छे अभ्याससे अच्छा चरित्र बनता है और बुरे अभ्याससे बुरा। एक जैसी विभिन्न परिस्थितियोंमें मनुष्यकी मानसिक और आंगिक प्रतिक्रियाका नियमित रूप ही चरित्र कहलाता है। यह प्रतिक्रिया मनुष्यके अभ्यस्त विचारोंसे सम्बद्ध होती है। एक प्रकारकी विभिन्न परिस्थितियोंमें जब मनुष्य एकसा ही आचरण करता है तब वह उसका चरित्र समझा जाता है। एक लेखकने इसे बहुत सुन्दरताके साथ समझाया है। वह कहता है कि प्रायः किसी भी सुन्दरीको देखकर प्रत्येक व्यक्तिका मन उधकी ओर आकृष्ट होता है और वह यह चाहता है कि यह मुझे प्राप्त हो जाय, किन्तु सामाजिक दण्ड, लोक-निन्दा, राजनियम आदिके भयसे वह स्वयं प्रयत्न-शील नहीं होता, किन्तु यदि वह स्त्री स्वयं प्रयत्न-शील हो तो उसे ग्रहण करनेमें वह सजोच भी नहीं करता। ऐसे व्यक्तिका कोई चरित्र नहीं होता। किन्तु जो मनुष्य एकान्तमें स्वयं आत्मसमर्पण करनेवाली सुन्दरीको भी मारता या बहन कहर सम्बोधित करता है, उस व्यक्तिके चरित्र है। यह चरित्र उसकी इच्छाशक्तिकी साधनाका परिणाम है। अर्थात् जब मनुष्य अपने कार्योंकी सब गति स्वयं अपनी

इच्छासे नियुक्त करता है, किसी भी प्रेरणा या दबके भयसे गतिशील नहीं होता तो उसकी यही गतिकी निर्णायिका शक्ति ही इच्छा-शक्ति कहलाती है। यह इच्छा-शक्ति जितनी प्रबल और दृढ़ होगी उतना ही चरित्र भी विशिष्ट होता चला जायगा और ऐसे व्यक्ति या तो परम दुष्ट ही होंगे या परम साधु ही। इसके विपरीत यह इच्छा-शक्ति जितनी ही पराबलम्बी और दुर्बल होगी, मनुष्यमें उतनी ही चारित्रिक हीनता होगी और वह सदा दुर्लभ, अव्यवस्थित, परमुखापेशी होगा। किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि एक विषयमें या एक प्रसंगमें किसी मनुष्यकी इच्छाशक्तिकी दृढ़तासे चरित्र नहीं भौंका जा सकता। अधिकसे अधिक परिस्थितियोंमें जो व्यक्ति अपनी इच्छा-शक्ति स्वाधीन रखता है, उतनीसे उसका चरित्र पहचाना जा सकता है। अतः मनुष्यके चरित्रकी पहचानका साधन दुर्द उसकी इच्छाशक्ति।

स्थिर चित्तवाले और अस्थिर चित्तवाले

दौड़ने मनुष्योंको दो भाशोंमें विभक्त किया है—स्थिर चित्तवाले और अस्थिर चित्तवाले। उसका कहना है कि स्थिर चित्तवाले लोग जिस समाज या वर्गमें रहते हैं उससे सम्बन्ध रखनेवाले प्रत्येक विषयमें उनका स्थिर मत होता है। वह अपना मत झटसे नहीं बदल देता और न उनपर तर्क करना जानता है। अस्थिर चित्तवाले सदा मत बदलते रहते हैं और अनुभवके अनुसार अपनी मनो-वृत्ति और प्रवृत्ति भी बदलते रहते हैं।

कल्पनाशील और संस्कारशील

आस्थावाल्दने मानवताको दो भागोंमें विभक्त किया है—कल्पनाशील (रोमेण्टिक ट्राइप) और संस्कारशील (क्लैसिकल ट्राइप)। कल्पनाशील प्रकृतिवाले व्यक्तिके विचार बड़े वेगसे चलते हैं, वह बहुधन्वी होता है। संस्कारशील व्यक्ति धीरे धीरे सोचता है और एक ही कार्यमें प्रवृत्त रहता है। कल्पनाशील प्रकृतिके व्यक्तिका बहुत अधिक व्यक्तिगत प्रभाव पड़ता है और वह अपने धोताओं या शिक्षाओंकी बड़ी शीनतसे वशमें कर लेता है और निरन्तर सोचप्रियता साधनेमें लगा रहता है। संस्कारशील प्रकृतिके मनुष्य अधिक एकान्तप्रिय होता है और लोकप्रियताकी चिन्ता नहीं करता।

सप्त मत्तों के दोष

● मताप्यमतानि ॥

[सभी अमत हैं ऊपरके मत ।]

ऊपर जितने प्रकारसे मानव चरित्रके भेद किए गये हैं, वे प्रायः सभी भ्रामक हैं । नाट्यशास्त्र, भावप्रकाशन, और दशरूपककारने मानव प्रकृतिमें या तो उनका विवरण दिया है जो संगीत और नाट्यमें सहायक होते हैं, जैसे नट, भरत, कुशीलव आदि या फिर नाटकमें प्रयुक्त जानेवाले राजसी नायकोंके परिजनोंका विस्तृत परिचय दिया है । भरतने ऊपर चौबीसवें अध्यायमें तीन प्रकारकी लोकाप्रकृति बताई है—उत्तम, मध्यम, अधम और उनके गुणों तथा अवशुभांका जा नियरण दिया है वह भी ठीक ही है । किन्तु जब भावप्रकाशने उसके पीछेके अशक्त तुलना की जाती है तो ज्ञान पड़न है कि ये संगीतके प्रयाकाओंसे तथा प्रेक्षकोंसे अधिक सम्बद्ध हैं । शरदातनयने ता शरद ही कर दिया है कि राजा और राजपरिजनको प्रकृतां समझकर ही इन प्रयोकाओंमें तदनुकूल संगीतकी योजना करनी चाहिए । नच शास्त्रमें भी यह प्रसङ्ग वाच्य प्रकरणके पश्चात् ही लक्ष्य गया है । इसलिये भी शरदातनयका ही विचार ठीक प्रतीत होता है । अन्य लक्षण ग्रन्थोंमें, जहाँ अनेक प्रकारके नायक नायिकाओंका वर्णन है उन सबका सम्बन्ध शृङ्गार रखे है और वह इतना पुराना हो गया है कि उसके अनुषार अब नायक या नायिकाओंके भेद नहीं किए जा सकने । हम ऊपर ही विवेचन कर चुके हैं कि इस युगमें नायक और नायिकाओंकी बहुतसी समस्याएँ मुलभ गई हैं । रातको देरसे छोटे हुए या दूसरे दिन प्रातःकाल आए हुए आजकलके किसी नायकके आँठपर न तो किसी नायिकाकी आँखका कानल ही मिलता है न उसके गलेके हारकी साट ही पड़ी दिखाई पड़ती है । यह सब बातें व्यवहारगत हो गई हैं इसलिये खडिता नायिका अब खडिता रह ही नहीं पाई है । इसी प्रकार इस विज्ञानीके युगमें कृष्णा और शुक्लागिसारिकाएँ भी व्यर्थ हो गई हैं । बड़े परिजनवाले वे राजा भी अब नहीं रहे जिनके यहाँ चार-पाँच प्रकारकी रानियाँ, विदूषक, विट और चेट हों । इस युगमें न तो उनकी आवश्यकता है न उनका प्रयोजन । हाँ प्राचीन नाटकके अध्ययनके लिये उनका विधान अवश्य सार्थक हो सकता है ।

यूरोपीय मनोवैज्ञानिकोंने तो और भी अन्वाधुन्य वर्गीकरण किया है । एक ओर वे कहते हैं कि मनुष्यकी इच्छाशक्ति हो उसके चरित्रकी चोतिका है । दूसरी ओर वे कुल संस्कार और सगतिका प्रभाव भी मानते हैं । साथ ही वे यह भी कहते हैं कि मनुष्य परिस्थितियोंका दास है । ये तीनों बातें परस्पर विरोधिनी हैं । यू गने अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी प्रकृतिके नामसे जो दो भेद किए हैं वे और भी अधिक भ्रामक हैं । वे भेद केवल अन्तर्-स्वरूप स्थिर प्रकृतिवालोंके लिये तो प्राह्य हो सकते हैं किन्तु साधारण मानव-समाजके लिये उसका आरोप हम नहीं कर सकते । एक व्यक्ति न्यायाधीशके आसनपर बैठकर सदा अन्तर्मुखी रहता है किन्तु वही अपनी मित्र मंडलीमें बैठकर बहिर्मुखी हो जाता है । सवृत्तके ग्य वी कवि जयदेव बहुत बड़े तार्किक भी थे । उनसे किसी ऐसे ही व्यक्तिने पूछ दिया—

कविता तर्कयोः कथं समवायः ।

[कविता और तर्क इन दोनोंका गठबन्धन कैसे हुआ ।]
इमपर जयदेवने जो उत्तर दिया वह यूगवादियोंके लिये सर्वश्रेष्ठ उत्तर है । उसने कहा—

येया कोमलकाव्यक्रीडालकलालीलवतीमारती ।
तेषा कर्कशतर्ककरुचनोद्गारेऽपि किं हीयते ॥
येः कान्ताकुचमण्डले कररहाः सानन्दमारोपिता-
स्तैः किं मचक्रतीन्द्रकुम्भशिखरे नारोगीयाधराः ॥

[जिनकी कोमल काव्यकलासे सरस्वती लीलामयी बन जाती है, वे यदि कठार तर्कके टेढ़े वचन कहें तो उनका विगड़ता क्या है । जिन लोगोंने कान्ताके कुच मण्डलपर आनन्दके साथ उँगलियाँ फेरी हैं उन्होंने क्या बड़े-बड़े मतवाले हाथियोंके मस्तकरपर वाण नहीं चलाए हैं ।]

इसकी ध्वनि यही है कि सभी प्रकार मनुष्योंमें सभी प्रकारकी प्रवृत्तियाँ होती हैं, कुछ थोड़ी कुछ अधिक । इनमें कोई कोई अन्तर्-स्वरूप होते हैं जा या तो महापुरुष ही होते हैं या पराकाष्ठतक पहुँचे हुए नरपिशाच ही । अतः उपर्युक्त कोई भी भेद प्राह्य नहीं माने जा सकते ।

हमारे यहाँ सायुदिक-शास्त्रों तथा काम शास्त्रों पुरव और स्त्रीके बहुतसे भेद किए गये हैं और लक्षण बताये गए हैं । स्वयं मनु भगवानने भी लिखा है—

दिया कृत्वात्मनो देहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत् ।
अर्द्धेन नारी तस्या स विराजमसृजतरुः ॥

[विधातने अपनी देहके दो विभाग करके आधेसे पुरुषकी सृष्टि की और आधेसे स्त्रीकी सृष्टि की ।] और इस प्रकार यह पुरुष स्त्रीमय सृष्टि आरम्भ हो गई ।

शशमृगघृपाश्वमेदेन चतुर्धा कामतन्त्रे ।

[शश, मृग, वृष, हय कामशास्त्रमें चार भेद नरके बतलाए ।]

कामशास्त्रियोंने पुरुषोंके चार भाग किए । रतिमन्त्रोंमें बताया गया है कि पुरुष चार जातिके होते हैं— शश, मृग, वृष और अश्व । जो लोग कोमल वाणीवाले सुशील, कोमलाङ्ग, उच्चम केशवाले, सर्वगुण-सम्पन्न और सत्यवादी होते हैं वे शश जातिके होते हैं । जो लोग मधुर बोलनेवाले बड़ी बड़ी आँखोंवाले, अत्यन्त भीरु, चपल मतिवाले, सुदेह और शीघ्रपामी होते हैं वे मृगजातिके पुरुष होते हैं । जो लोग बहुगुण-सम्पन्न, अनेक बन्धु-बान्धवोंवाले, शीघ्रवासे काम करनेवाले, छुके हुए अर्गों-वाले, सुन्दर देहवाले और सत्यवादी होते हैं वे वृष जातिके होते हैं । जो लोग पतली कमर और पतले उदरवाले होते हैं, जिनके गले और ओठ मोटे तथा दाँत, नाक, कान बड़े होते हैं, वे अश्व जातिके पुरुष होते हैं ।

रसमन्त्रोंमें पुरुषोंका लक्षण बताते हुए सच्चे पुरुषका लक्षण लिखा है—

पात्रे त्यागी गुणे रागी, भोगी परिजनैः सह ।

शास्त्रे बोद्धा रणे बोद्धा पुरुषः पञ्चलक्षणम् ॥

[जो सत्पात्रको दान देते हैं, गुणासे प्रेम करते हैं, परिजनोंके साथ मिलकर सुख भोग करते हैं, भली प्रकार शास्त्र जानते हैं और युद्धक्षेत्रमें पराक्रम दिखाते हैं, वे पुरुष कहलाते हैं ।]

सामुद्रिक शास्त्रमें विस्तारसे पुरुषके श्रम और अश्रम लक्षणोंका विवरण दिया है जिसमें यह बताया गया है कि किस प्रकारके अंगवाला व्यक्ति किस भाग्यका होता है । बृहत्संहिताके अष्टमस्कन्धमें अध्यायमें विस्तारसे अनेक प्रकारके पुरुषोंका वर्णन देकर उनका भाग्य निर्णय किया है । उहाँमें परिमाणके अनुसार भी उच्चम, मध्यम और अधम तीन प्रकारके मनुष्य बताये हैं । जो अपने हाथकी

उँगलीसे १०८ अंगुल ऊँचा होता है वह उत्तम, ९६ अंगुलतक मध्यम और ८४ अंगुलतकका अधम माना जाता है । ये सब पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश देवता, नर, राक्षस, पिशाच और पशु पक्षी स्वभावके होते हैं । सुन्दर पुरुषके समान गन्धयुक्त, सम्भोग-निपुण, सुन्दर, विश्वासयुक्त तथा स्थिर चित्तवाले पृथ्वी स्वभावके होते हैं । अत्यन्त जल पीनेवाले, स्त्री-लोड्डप और रसभोगीका जल स्वभाव होता है । अत्यन्त चञ्चल, तीक्ष्ण (बात बातमें तिन्ना जानेवाले), भस्कर, धुपाधुर लोग तेज प्रकृतिके होते हैं । खुले और क्रोधी वायु प्रकृतिके तथा निपुण, खुले मुखवाले, दूसरोंकी बोली पढ़वानेवाले लोग आकाश प्रकृतिके होते हैं । त्यागी, मृदु क्रोध हीन और स्नेही लोग देव प्रकृतिके होते हैं । गीत प्रिय, आभूषण प्रिय तथा निरन्तर सद्बस्तुओंका विभाजन करनेमें चतुर लोग नर प्रकृतिके होते हैं । अत्यन्त क्रोधी, दुष्ट और पापात्मा राक्षस प्रकृतिके होते हैं । चपल, गन्दे, बहुत बकवादी और स्वार्थी लोग पिशाच प्रकृतिके होते हैं । जो पुरुष शार्दूल [गेंडा] इस मतवाले हाथी, साँड़ या मारकी तरह चलेते हैं वे अच्छे पुरुष होते हैं । बृहत्संहितामें जो यह भेद दिया गया है वह अन्य भेदोंसे स्पष्ट और व्यापक जन पड़ता है । बृहत्संहिताकारने विभिन्न पदार्थोंक अनुसार मनुष्योंका स्वभाव विभाजन किया है । यह स्वभाव विभाजन एक प्रकारसे पूर्ण और विस्तृत है तथा सभार भरके जिनने मानव-स्वभाव सम्भव हो सकते हैं सब इसमें आ सकते हैं । फिर भी यह विभ.जन इतना स्पष्ट नहीं है कि नाटकीय पात्रोंके शील निर्दयनके लिए इसे कसौटी मान ली जाय ।

जिस प्रकारसे पुरुषोंका श्रेणीविभाजन किया गया है उसी प्रकार स्त्रियोंका भी श्रेणीविभाजन हुआ है । ब्रह्मवैवर्त पुराणमें उत्तम, मध्यमा और अधमा तीन प्रकारकी स्त्रियाँ बताई गई हैं । इन्हेंको क्रमशः सध्वी, भोग्या और कुलटा भी कहते हैं । जो स्त्री प्रागजन्त होनेपर भी परपुरुषके साथ सवर्ग नहीं करती, पतिके साथ ही देवता, द्विज और अतिथिओंकी पूजा करती है, व्रत, उपवासादि नियमोंका पालन करती है वह उत्तमा स्त्री कहलाती है । जो स्त्री बहोंके दरसे परपुरुष सवर्ग

नहीं करती और स्वामीकी कम सेवा करती है वह मध्यमा कहलाती है और जो अत्यन्त निकृष्ट, बुरे वशमें उत्पन्न हुई, सगढ़ाद, कर्कशा, गाली देनेवाली, प्रतिदिन पतिके साथ कलह करनेवाली और सदा परपुरुषके साथ रहती है, वह अधमा है।

● पद्मिनीचित्रिणीशंखिनीहस्तिनीमेदेनारि मेदा-रतिमंजयांम् ॥

[पद्मिनी चित्रिणि शंखिनी हस्तिनी चार नरिवा नामशास्त्रमें वा ।]

रतिमन्जरीमें चार प्रकारकी स्त्रियाँ बताई गई हैं— पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी और हस्तिनी। किन्तु ये मेद केवल रतिनीड़ासे ही सन्बन्ध रखते हैं। अवस्थाके अनुसार इनका मेद करते हुए बताया गया है कि ये चारों प्रकारकी स्त्रियाँ बला, तदृणी, प्रौढा और वृद्धा चार प्रकारकी होती हैं। सोलह वर्षतककी स्त्रीको बाला, तीस वर्षतक तदृणी, पचास वर्षतक प्रौढा और उसके ऊपरकी वृद्धा कहलाती है। सामुद्रिक शास्त्रमें भी स्त्रियाँके विभिन्न अगोंके अनुसार उनका भाग्य निर्णय किया गया है किन्तु वह विवेचन हमारे काम नहीं आ सकता। गरुड पुराणमें भी नारियाँके शुभाशुभ लक्षण इसी प्रकारसे दिए हैं किन्तु नाटकीय पात्रोंकी दृष्टिसे नारियाँका जो वर्गीकरण होना चाहिए वह इनमेंसे किसीमें भी प्राप्य नहीं है।

मनुष्य, पशु-पक्षी तथा जड़ पदार्थ

● सवुध्यबुद्धिजडमेदेन पात्रस्त्रियेत्यजिनव भरतः ॥

[अभिनवभरत बता रहे, मेद सवुद्धि, अबुद्धि, जड़]
आगतक जितने नाटक लिखे जा चुके हैं या लिखे जा रहे हैं उन सभमें आनेवाले पात्रोंको हम तीन भागोंमें बाँट सकते हैं—सवुद्धि, अबुद्धि और जड़। सब चेतन प्राणियोंमें मनुष्य ही केवल ऐसा जीव है, जिसमें अन्धे-बुरे, हानि लाभ, कर्तव्याकर्तव्य इत्यादिका विचार करने और निर्णय करनेकी बुद्धि होती है। जिस नीतिकारने यह कहा है—

आश्वारनिद्रामयमैद्युनञ्च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम् ।

धर्मो हि तेषामधिको विदोषो धर्मेण हीना पशुभिः समानाः ॥

[भोजन, नींद, भय और मैद्युन ये चारों सद्व-प्रवृत्तियों सब प्राणियोंमें समान रूपसे पाई जाती है किन्तु मनुष्यमें धर्मकी भावना अधिक होती है अर्थात् उसमें कर्तव्याकर्तव्यकी बुद्धि अधिक होती है जो अन्य प्राणियोंमें नहीं होती। जिनमें यह धर्मबुद्धि न हो उन्हें पशु ही समझना चाहिए।]

उसने मनुष्य और पशुमें सवुद्धिताका अबुद्धिता ही मेद किया है और यह ठीक भी है। इस दृष्टिसे दिव्य और मानव समाजके पात्र सवुद्धि श्रेणीमें पशु-पक्षी आदि अबुद्धि श्रेणीमें आए।

● अबुद्ध्यस्तियग्योनयः ॥

[हैं अबुद्धि सब ही पशु-पक्षी ।]

हम प्रारम्भमें ही बता आए हैं कि प्राचीन नाटककारोंने अपने नाटकोंमें पशुओं और पक्षियोंको नाटकीय पात्रोंके रूपमें व्यक्त किया है। कालिदासने अभिज्ञानश्याकुन्तलमें भ्रमर, मृग और सिंह शावकको नाटकीय पात्र बनाया है। भीष्ममें रत्नावलीमें सारिकाको पात्र बनाया है। अरेस्तोफनेसने अपने प्रहसनोंमें चौपाये, बरे और मेढकोंको अपने प्रहसनोंका पात्र बनाया है और इन सब पात्रोंने नाटकीय कथा-वस्तुके प्रसारमें उसी प्रकार योग दिया है जैसा मानव पात्र देते हैं अतः वे सब पशु पक्षी भी पात्र ही हैं जो मनुष्योंके समान नाटकीय कथको पुष्ट करते और उसका विस्तार करते हैं। आजकलके सभी देशोंके बहुतसे नाटकोंमें कुत्ता, बिल्ली, तांता, मोर, बन्दर, बनमानुष, रीछ, हाथी आदि बहुतसे जीवोंका प्रयोग किया गया है। ये सब जीव शिक्षित नदों की भाँति व्यवस्थित रूपसे आगिक अभिनय और चेष्टा करते हैं और यदि अभिनेताका अर्थ यह है कि वह प्रेक्षकों-तक नाटकका अर्थ पहुँचाते हैं तो ये भी निम्नपूर्वक अभिनेता ही हैं। अन्तर इतना ही है कि ये अबुद्धि होते हैं और सात्विक अभिनय नहीं कर सकते। कुल ऐसे पशु-पक्षी भी हैं जो वाचिक अभिनयतक भी कर सकते हैं और कुछ नहीं कर सकते। इनमें तोता, मैना, और बन-मानुष, ऐसे जीव हैं जो मनुष्यके समान बोल भी सकते हैं किन्तु हाथी, घोड़ा, बैल, गाय, इत्यादि मनुष्यके समान

नाटकीय कथाको पुष्ट करते और उसका विस्तार करते हैं। आजकलके सभी देशोंके बहुतसे नाटकोंमें कुत्ता, बिल्ली, तोता, मोर, बन्दर, बनमानुस, रीछ, हाथी आदि बहुतसे जीवोंका प्रयोग किया गया है। जैसे एक चित्र नाटकमें भैरवेके द्वारा वेद पाठ कर या गया है। किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि जबतक ये पशु पक्षी मनुष्योंके समान न बोलें तबतक उनकी वाणी वाचिक अभिनय नहीं हो सकती। उनकी सामाजिक वाणी भी वाचिक अभिनय बन सकती है। जैसे अभिज्ञान शाकुन्तल में जब कण्वने वनदेवताओंसे पूछा कि तुम लोग शाकुन्तल को विदा दो उस समय कोयल कूकी और कण्वने कहा कोयलकी कूकके द्वारा वनदेवताओंने शाकुन्तलको आशा देदी है। इसी प्रकार 'महाकवि कालिदास' नाटकमें कालिदासकी मूर्खता सिद्ध करनेके लिए एक ऊँट बल्लाने लगा था उसपर कालिदासने उट्ट उट्ट कहकर अपनी मूर्खता प्रगट की और यह घटना उस नाटकीय कथा-वस्तु की मुख्य घटना है। इस कथामें ऊँट उसी प्रकार आचरण करता है जैसे अन्य कोई प्रतिनायक। यहाँ केवल वाचिक अभिनयसे ही कथामें परिवर्तन आ जाता है। इसलिए कथाके प्रस्तावमें सहायता देनेवाले पशु-पक्षी भी नाटकके पात्र ही समझे जाने चाहिए। इससे यह निष्कर्ष निकला—

● यागङ्गक्रियाशीला अयुद्धयः ॥

[वाणी, अंग क्रिया कर सकते सब अत्रुद्धि पशु-पक्षीकी।]

मनुष्य तथा पशु-पक्षीके अतिरिक्त आज कल प्रायः वैज्ञानिक और रहस्यात्मक नाटकोंमें जड़ पदार्थ भी मनुष्योंके समान आचरण करके कथा प्रस्तावमें योग देते हैं जैसे खोपड़ीका हँसना और बोलना, मेढका आशा-नुसार चलते हुए आना। अभिनव भरत रचित विज्ञानका दम्भ नाटकमें लोहेके बने हुए मनुष्यका आशानुसार कार्य करना, गीत गाना और समाचार पत्र बॉक्जना यह प्रयोग भी नया नहीं है। राजदेखरने अपने बाल रामायण नाटकमें दो पुत्रलियों बनाई हैं तो सीता और उनकी बहनके समान चलती बोलती हैं और वे इतनी सुन्दर निर्मित हैं कि रावणको भी भ्रम हो जाता है। भूत प्रेत आदि भी नाटकीय दृष्टिसे चेतन ही प्राणी है और नाटकोंमें प्रायः उनका लचीले रूपमें प्रयोग किया

गया है जैसे शेक्सपियरने अपने 'मिड समर नाट्य' दृम, तथा 'हेमलेट'में किया है किन्तु बहुतसे नाटकोंमें रंग कौशल के द्वारा मनुष्यकी ठठरी भी चलती फिरती और बोलती दिखाई गई है। अभिज्ञान शाकुन्तलकारने बाकटर वेलवेलकरके कथानानुसार वनस्थीरलाताको भी एक पात्र बना दिया है जो शाकुन्तला और दुष्यन्तके मित्र्यमें सहायता करती है किन्तु दृश्य पीठ और जड़ पात्रमें अत्यन्त स्पष्ट रूपसे अन्तर समझ देना चाहिए। दृश्य पीठ या दृश्य वस्तुओंके अन्तर्गत वे सब वस्तुएँ हैं जो केवल दृश्य विधानमें सहायक हों जो रङ्ग मञ्चपर लगे हुए या जड़ी हुई हैं। जिनका उद्देश्य केवल दृश्य विधान को सहायता देना होता है। किन्तु जो वस्तुएँ अभिनय और नाटकीय व्यापारमें सक्रिय योग देती हैं और स्वतः नाटकीय पात्र बनकर कथावस्तुके प्रसारमें योग देती हैं वे सब पात्र हैं शेष सब दृश्य पीठ या दृश्य विधानके ही अन्तर्गत हैं। इसका अर्थ यह हुआ—

● नाट्यक्रिया कर्तारः जडा अणि पात्राः ॥

[नाट्यक्रिया जो जड़ करते हैं वे सब भी पात्र हैं।]

ऊपर यह विवेचन किया जा चुका है कि नाटकमें तीन प्रकारके पात्र होते हैं अत्रुद्धि मानव, अत्रुद्धि पशु पक्षी और किया प्रधान जड़ वस्तुएँ। इनमें भी अत्रुद्धि अर्थात् पशु पक्षियोंके विषयमें पीछे कह आए हैं कि वे विज्ञान-अनुसार चेष्टाएँ कर सकते हैं और कुछ अपनी वाणीसे और कुछ सिलसिलेपर मनुष्यकी वाणीसे बोल सकते हैं किन्तु इनके विषयमें यह सिद्धान्त भी स्मरण रखना चाहिए।

● प्रायेण पशुपक्षिप्रयोगः रङ्गानुपयुक्तः ॥

[रंगपीठपर पशुपक्षी सब नहीं उचित है लाना।]

रङ्गमञ्चपर पशु पक्षियोंको नहीं लाना चाहिए।

क्योंकि पहले तो सब पशु पक्षियोंका रङ्गमञ्चपर लाना अवगम्य है। हाथी, घोड़े, बैल, सिंह आदि निदास जीव रङ्गमञ्चपर आ नहीं सकते और यदि वे सुन्दरी रङ्ग-शालमें लाए भी जायें तो मङ्ककर उपद्रव भी कर सकते हैं और यदि न भी मङ्कके तो वे स्वयं इस प्रकार लोगोंके सुन्दर ही सामग्री बन जायेंगे कि अच्छे नाटकोंमें रख मङ्क हो जायगा। अतः पशु-पक्षियोंको रङ्गमञ्चपर जड़तक हो

नहीं लाना चाहिए। बकरी, कुत्ते, बिल्ली बानर इत्यादि प्रायः रङ्गपीठपर लाए जाते हैं किन्तु रंगपीठपर आकर वे ऐसी चेष्टाएँ करने लगते हैं कि मनुष्यका अभिनय उसके सामने स्थूल हो जाता है। परन्तु बहुत सी ऐसी कथाएँ हैं जिनमें इन जीवोंके बिना कथा ही चल नहीं सकती इसलिए उपर्युक्त नियमका यह अन्वय बनाया गया—

● लघुपालितजीवानामपवादाऽल्प-योगे ॥

[अल्पकालके छोटे पालित जीव सदा अपवाद ।]

इसका अर्थ यह हुआ कि केवल वे ही जीव रङ्ग पीठपर लाये जायें जो छोटे हों, पालतू हों और उनका कार्य केवल थोड़े समयके लिये हो। वे भी केवल उतनी ही देरके लिये रङ्गपीठपर रखे जायें जितनी देर उनका काम रहे, नाटककारका यह धर्म है कि वह रङ्गपीठपर लाये जानेवाले जीवोंके लिये अधिक देर तक ठहरनेका विधान न करे। क्योंकि जब भली प्रकार सिखाये गये मनुष्य अभिनेता भी रंगपीठपर आकर अनेक प्रकारकी भूलें कर सकते हैं तब पशु-पक्षियोंके लिए तो यह भूल अधिक स्वाभाविक है। इस सम्बन्धमें प्रत्येक नाटककारको यही समझ रखना चाहिए कि यथासंभव रंगपीठपर किसी प्रकारके पशु पक्षी लानेका विधान ही न किया जाय और यदि उनका लाना अनिवार्य ही हो तो थोड़ी ही देरके लिये केवल ऐसे पालतू और छोटे पशु पक्षी ही लाये जायें जो इतने अच्छे ढंगसे शिक्षित हों कि रङ्गपीठपर आकर न तो भड़कें और न कोई कुचेष्टा ही करें।

जड़पात्रोंके विषयमें कुछ विशेष कथनीय नहीं हैं बह तो रङ्गव्यवस्थापकके कौशलरत्न निर्भर है। नाटककार को केवल यह ध्यान रखना चाहिए कि वह जड़ पदार्थोंकी ऐसी चेष्टाएँ न निर्धारित करें जो असम्भव हों या जिन्हें दिखाना दुःसाध्य या असम्भव हो। जैसे किसी घरके पूरे भागका ऊपर उड़ने लगना जैसा 'आख्य उपन्यासमें' दिया गया है। या दरारपर बैठकर आकाशमें विहार करना आदि। किन्तु यदि चलचित्रके योगसे यह भी सम्भव हो तो इसका विधान भी किया जा सकता है।

अबुद्धि और जड़ पात्रोंके लिए इतना विवरण पर्याप्त होगा अतः अब हम आगे मानव पात्रोंके भेदोप-भेदोंका विभिन्न दृष्टियोंसे वर्गीकरण करेंगे जिनके अन्तर्गत दिव्य पात्र भी आ जाते हैं।

● लौकिकालौकिकमानससृष्टि प्रतिनिधयः मानवपात्राः ॥

[मर्त्य अलौकिक मायजगतके प्रतिनिधिः वनते मानव पात्र ॥]

इस अध्यायके प्रारम्भमें हम बता चुके हैं कि नाटकोंमें देवता अष्टरा, यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, पिशाच राक्षस, भूत प्रेत आदि अलौकिक चरित्रोंका, स्त्री-पुरुष नपुंसकात्मक मानव जातिके चरित्रोंका और वरुणा, दया, अहंकार, क्षमा, शान्ति आदि मानसचरित्रोंका प्रयोग मनुष्योंके समान ही किया जाता है अतः इन सबकी विवेचना मानवचरित्रके अन्तर्गत ही की जायगी, क्योंकि नाटककारोंने इनकी क्रियाओं और मानसिक व्यापारोंका निरूपण मानवीय आचरणों और विचारोंके अनुसार ही किया है। जहाँतक अलौकिक चरित्रोंकी रूढिगत विशेषताओंके वर्णन हैं उसका ध्यान नाटककारको अवश्य रखना चाहिए जैसे देवताओंके विषयमें कहा गया है कि उनकी पलकों नहीं लगती, वे भूमिको नहीं छूते, उनकी छाया नहीं पड़ती आदि। इन रूढिगत विशेषताओंके अतिरिक्त शेष आचरण मानवतुल्य ही होता है। मानसो सृष्टिके क्रमगा, दया क्षमा, अहंकार, क्रोध आदि भाव तो मनुष्य रूपमें ही अते हैं अतः उनका सब कुछ विधान मनुष्यके समान ही करना चाहिए।

● पुंस्त्रीनपुंसकभेदेन मानवलिखा ॥

[नारी पुरुष नपुंसक ये हैं तीन मानवभेद ।]

सृष्टि भरके सब मनुष्योंकी छानबीन करनेपर लिङ्ग भेदके मानव तीन प्रकारके प्राप्त होते हैं—पुरुष, स्त्री और नपुंसक। पुरुष और स्त्री अत्यन्त प्रत्यक्ष भेद हैं जिनके संयोगसे मानव सृष्टि उत्पन्न होती है। नपुंसक वे हैं जिनमें न तो पुरुषत्व है न तो स्त्रीत्व है। ये भी दो प्रकारके होते हैं पुनपुंसक और स्त्रीनपुंसक। जिनके शरीरमें पुरुषत्वके अधिक लक्षण होते हुए भी पुरुषेन्द्रियकी हीनता होती है वे पुनपुंसक और जिनके शरीरमें स्त्रीके अधिक लक्षण होते हुए भी स्त्रीत्व न हो वे स्त्री नपुंसक कहलाती हैं। इन तीनोंके आचार, विचार और व्यवहार में अन्तर होता है। देवताओंमें नपुंसक नहीं होते और न अलौकिक वर्गमें ही होते हैं—

● गौररूपपापदुरक्तवर्ण भेदेन चतुर्धा । ●

[चार रगके मानव हांते हैं गौरे, काले, पीले, लाल,]
मानव जातिके सब वर्गोंका अध्ययन करके हम इस परिणामपर पहुँचे हैं कि ससारमें चार रगके मनुष्य हैं। गौरे, काले, पीले, और लाल। चीन, जापान, बर्मा, ब्याम आदिके लोग पीले। दक्षिण भारत, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड और अमेरिकाके अदिम निवासी काले। उत्तरी भारत (पंजाब, काश्मीर) फारस, कान्फेशिया और यूनानके लोग गौरे तथा योरपीय देशोंके लोग कुछ गौरे तथा कुछ लाल होते हैं किन्तु यह भेद नाटकीय प्रयोजन में अधिक साधक नहीं होता। इसका विचार वर्णविकृतियोंमें किया जायगा।

● कृशस्थूलनातिकृशस्थूलदेहभेदेन चतुर्धा ॥

[अति दुबले, अति मोटे कुछ हैं कुछ साधारण बृश मोटे हैं ।]

हमारे चारों ओर जितने प्रकारके मनुष्य दिखाई पड़ते हैं सत्र शरीर भेदसे चार प्रकारके हैं पतले, मोटे, न बहुत पतले, न बहुत मोटे। साधारणतः नाटकीय पात्र वे ही हो सकते हैं और होते हैं जो न बहुत पतले हों न अधिक मोटे अर्थात् छरहरें और दुबरे शरीरके लोग ही नाटकीय पात्र कल्पित किए जाते हैं किन्तु कभी कभी विशेष पात्र या हास्य जनक नाटकियोंके लिए पात्र सुननेमें अति स्थूल और अति कृशकी भी योजना कर ली जाती है।

● धामनदीर्घनातिवामनदीर्घभेदेन

शरीरमानश्चतुर्धा ॥

[नाटे, लम्बे, साधारण दोनोंही इस प्रकार हैं चार ।]
इसीके साथ एक और भी भेद दृष्टिगोचर होता है और वह है बहुत लम्बे, बहुत नाटे, न बहुत लम्बे न बहुत नाटे। आज कलके नाटककार रस निर्देशमें इसका भी विधान करते हैं कि अमुक व्यक्ति लम्बा है या नाटा है या अमुक परिणामका। क्योंकि कुछ देश ऐसे हैं जहाँ प्रायः लोग नाटे ही होते हैं जैसे ब्रह्मा देशवासी और कुछ ऐसे देश हैं जहाँके लोग लम्बे ही होते हैं जैसे पंजाब और हरियानेके लोग। इसलिए नाटककारको साधारण पात्रोंकी छोटाई बड़ाईका भी देश भेदके अनुसार निर्देशकर देना चाहिए। हाँ, जहाँ किसी विशेष आधार प्रकारका पात्र ही नाटककारको अभीष्ट हो वहाँकी बात ही दूसरी है।

● सुकुरिषुपाकृतयश्च ●

[सुन्दर विकृत कुरूप बतारक आकृतियों कुल तीन बनाई ।]

इन मनुष्योंमें भी तीन प्रकारकी आकृतियोंके लोग पाये जाते हैं कुछ सुरुप कुछ कुरूप और कुछ विरूप। सुरुप आकृति उसकी कहलाती है जिसके अङ्ग मानुपात हों। कुरूप उसे कहते हैं जिसके कुछ या सब अङ्ग अननुपात हों। बड़े दाँत, मोटा ब्रोड, चिपटी नाक, लटकी भौंहें निकला हुआ पेट, बहुत उठी हुई नाक, ठोटीका अभाव, दबे चपटे कान आदि जिसके हों वह कुरूप होता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि सुरुपता और कुरूपता रङ्गपर अवतरित नहीं है। गौर वर्ण वाला व्यक्ति भी कुरूप हो सकता है और कृष्ण वर्ण वाला भी सुरुप हो सकता है। विरूप व्यक्ति उसे कहते हैं जो किसी रोगके कारण या जन्मसे ही विकृत, जग या हीनाङ्ग हो जैसे काना बूँचा, लँगड़ा, लूटा, बानना, छागुर ये सब विरूप हैं। इनमेंसे सुरुप पात्र ही नाटकके नायक या उसके सखा बनाने चाहिए। कुरूपको प्रतिनायक या भयानक तथा वीरमत्त रसज्ञ नायक बनाना चाहिए और विरूपका प्रयोग केवल हास्य रसमें होना चाहिए। कभी कभी विकलाङ्ग या हीनाङ्ग वरुणा जनक नाटकोंमें वरुणके भालम्बन बन सकते हैं किन्तु ऐसे व्यक्तियोंको देखकर जो दया या सहानुभूति होती है उसमें केवल भाव मात्र होता है उससे रस नहीं होता अतः इसी निमित्त इनका प्रयोग करना चाहिए। कुरूप या विरूप पात्रोंका प्रयोग करनेमें नाटककारकी बहुत कौशलसे काम लेना चाहिए क्योंकि योंही सी भी चूक होने पर, वाणी या क्रियाकी तमिक्त ही त्रुटि हो जानेपर रसभङ्गकी आशंका बनी रहती है उसका कारण यह है कि मूर्त और विकलाङ्ग सदासे हास्यके आलम्बन रहे हैं। कनि लँगड़े या लूटेको लोग काना लँगड़ा या लूटा कहकर चिदाते हैं। उनके साथ सदानुभूति नहीं करते अर्थात् उनकी कुरूपता या विरूपताके कारण कोई उनसे सदानुभूति नहीं करता। हाँ यदि वे विगति प्रस्त हों तो उनके साथ सदानुभूति हो सकती है। पर यह सदानुभूति तो सभी विगतिप्रस्तोंके साथ होती है चाहे वे विगलाङ्ग हों या पूर्णाङ्ग अतः नाटककार का यह कर्तव्य है कि कुरूपको यथासम्भव मयानक या

बीभत्समें प्रयोग करे और विरूपको जहाँतक सम्भव हो लोड दे और यदि हास्यके अतिरिक्त अन्य रसमें उनका प्रयोग करना ही हो तो ऐसे कौशलसे काम ले कि उन्हें देखकर दर्शक हँस न पड़े। गूंगे, बहारे और मन्दबुद्धि भी हास्य रसके उचित पात्र बन सकते हैं।

१ सरोगनीरोगाश्च देहिनः ॥

[सभी लोग हैं विद्वयमें रोगी या नीरोग ।]

सब प्रकारके मनुष्योंकी दो और अवस्थाएँ होती हैं। ये हैं—सरोगिता और नीरोगिता। प्रत्येक मनुष्य "शरीर व्याधिमन्दिरमूत्रे" अनुसार कभी न कभी रोग हो ही जाता है यह रोग भी दो प्रकारके होते हैं—एक तो शरीर दोषसे अर्थात् वात विच और कफके विकारसे या बाहरके आघातसे। यह आघात देवी भी हो सकता है जैसे दू लगने, सर्दी खाने प्रह वाधाके कारण अथवा ईंट पत्थर आदिसे चोट लगनेके कारण नये शिद्धान्तके अनुसार यह समझे हैं कि रोग तीन प्रकारसे होते हैं एक अत्यन्तरिक जा आहार निहारके व्यतिरिक्त अथवा जलवायुके विकारसे उत्पन्न होते हैं जैसे सरदी, उष्ण, मन्दाग्नि, शिर पीडा आदि आना, तथा राजरोगादि। दूसरे वे हैं जो दूतसे उत्पन्न होते हैं जिसमें सब प्रकारकी महाम रियाँ आती हैं और तीसरे हैं वाद्य जो शरीरके बाहरी वस्तुओंके सम्पर्कमें आनेपर विकार उत्पन्न करते हैं। रेरे कुचलना, पेडसे गिरना, घोड़ेकी लातसे याचल होना आदि। ये रोग भी क्रियाके शरीरमें सदा बने रहते हैं और किसीके शरीरमें कभी कभी उत्पन्न होते हैं सरोगिता और नीरोगिताके कारण भी मनुष्यके स्वभावमें अन्तर ही जाता है इसीलिए हमने यह भेद भी स्वीकार कर लिया है।

२ सत्त्वरजतममेदेन प्रकृतिस्लिधा ॥

[सत्त्व, रज, तम भेदसे मानव प्रकृति है तीन रंगी ।]

भगवान श्री कृष्णने प्राणद्वीगतमें कहा है—

सत्त्व रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः
निवृत्तमहाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥
तत्र सत्त्व निर्मलत्वात् प्रसाद्यकमनामयम् ।
सुखसगेन वन्पाति ज्ञानसगेन चानध ॥
रजोपागत्मक विद्धि तृष्णा सगसमुद्रवम् ।
वसिन्धाति कीन्तैय कर्मसगेनदेहिनम् ॥

तमस्त्वज्ञानज विद्धि मोहन सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादात्सत्यनिद्रामित्स्निवन्धाति भारत ॥
सत्त्वे सुख सज्यति रजः कर्माणि भारत ।
ज्ञानमाहृत्य तु तमः प्रयादे सज्यत्युत ॥
सत्त्वात्सजायते ज्ञान रजसो लोभ एव च
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥

अ० १४

[हे अर्जुन सत्त्व रज और तम ए तीन गुण प्रकृति या मायासे उत्पन्न होते हैं या अचिन्ताशी आत्माको बाँधते हैं। इन तीन गुणोंसे सत्त्वगुण निर्मल प्रकाशक और दुःख रहित होता है इसलिये वह आत्माको सुख और ज्ञानसे बाँधता है। अर्थात् वस्तुकी इच्छारूपी तृष्णा और प्राप्त वस्तुके संरक्षणकी इच्छारूपी सगसे रजोगुणकी उत्पत्ति होती है जो रागात्मक होता है। यह रजोगुण आत्माको कर्म-संगसे बाँधता है और तमोगुण अज्ञानसे उत्पन्न होता है यह सब जीवोंको मोहित करने वाला होता है यह आत्माको प्रमाद आलस्य और निद्रासे बाँधता है। सत्त्वगुण जीवात्माको सुखमें लगाता है, रजोगुण काममें लगाता है और तमोगुण ज्ञानको ढक कर प्रमादमें लगाता है। सत्त्वे प्रकाशरूप स्पष्ट ज्ञान उत्पन्न होता है रजोगुणसे अर्थात् वस्तुकी इच्छा उत्पन्न होती है जिससे लोभ होता है और तमोगुणसे प्रमाद और मोह उत्पन्न होता है जिनसे इनका उत्पादक अज्ञान भी बढ़ता है।]

इस क्रमके अनुसार सृष्टिमें उत्पन्न होनेवाले समस्त प्राणी तीन प्रकारके होते हैं। जिनमें सत्त्व गुण अधिक होता है वह सत्त्व प्रकृतिके जिनमें रजोगुण अधिक होता है वे रजःप्रकृतिके और जिनमें तमोगुण अधिक होता है वह तमःप्रकृतिके होते हैं। यों तो शरीर प्रकृति ही त्रिगुणात्मिका है किन्तु प्रत्येक प्राणीमें तीनों गुण विशिष्ट परिमाणमें रहते हैं इनमेंसे जो अधिक सत्त्व गुणवाले होते हैं वे अधिक सज्जन और लोक हितकारी होते हैं जो सदा अपने ही सुखकी सामग्री जुटाते और विलासमें लीन रहते हैं उनमें रजोगुण अधिक होता है और जो सबको पीडा देते हैं, बंध पहुँचाते हैं और दूसरोंके अधिकता ही चिन्तन करते हैं उनमें तमोगुण

अधिक होता है इन तीनों प्रकृतिवाले लोगोंकी पहचान बड़ी सरलतासे हो सकती है और नाथ्य शास्त्रमें जो उत्तम, मध्यम और अधम तीन प्रकारकी प्रकृति बताई गई है उनका आधार भी यही है।

स्वभाव कैसे बनता है

● प्राग्जन्मसंस्कारात्स्वभावः ॥

[पिछले जन्मजन्य संस्कारोंसे बनता मानव स्वभाव है।]

संसारके सभी प्राणी पिछले जन्मके स्वप्नार लेकर उदरान होते हैं। जिसने जिस प्रकारका कर्म पिछले जन्ममें किया है, उसका अच्छा या बुरा फल भोगने के लिए लेना ही पड़ता है। और उसी कर्मके फल भोगने में मनुष्य सुख भी भोगता है और दुःख भी। किन्तु सब प्राणियोंमें मनुष्य ही ऐसा है जो यदि चाहे तो ज्ञानागिसे अपने सब कर्म संस्कार जला सकता है। अर्थात् जब वह सुख दुःख निन्दा स्थिति, मानापमान, सुभाशुभ, शीतोष्ण इत्यादि द्वन्द्व भावोंसे ऊपर उठकर द्वन्द्वातीत होंकर समबुद्धि या स्थितप्रज्ञ हो जाता है तभी वह कर्म बन्धनसे मुक्त हो जाता है। यह ज्ञानप्राप्ति गुरु कृपा और सत्यगति दोनोंसे होती है। कुछ ऐसे भी लोग हैं जो सब प्रकृति होते हुए भी दैव सयोगसे कुसगति में पड़ जाते हैं और दुर्जनोंके प्रभावमें आ जाते हैं वे धीरे धीरे दुर्जन हो जाते हैं। इससे परिणाम निकला—

● संगत्या संस्कारमार्जनं परिष्कारे विकारे वा ॥

[संगति संस्कार बदलते, भले बुरे दोनों हो जाते।]

विदेशी दार्शनिकोंने कर्मवादको नहीं माना है। फिर भी वे कुल परम्पराका प्रभाव मानते हैं और यद् प्रभाव सांस्कारिक न मानकर प्राणिशास्त्रीय या शारीरिक मानते हैं किन्तु यह सिद्धान्त भ्रमात्मक सिद्ध हो चुका है। यह प्रत्यक्ष देखनेमें आता है कि महापुरुषोंके पुत्र प्रायः निकम्मे होते हैं। एक ही पिता के कई पुत्र विभिन्न स्वभाव प्रकृति और चरित्रके होते हैं। रही बाहरी आचारकी बात, वह सामाजिक है व्यक्तिसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं। इस बाहरी आचारसे मनुष्यके चरित्रकी परीक्षा नहीं की जा सकती। अतः यह निश्चय है कि एक ही माताके विभिन्न पुत्रोंका विभिन्न चरित्र वाला होना निश्चि दूसरी शक्तिका फल है। वह शक्ति प्रत्यक्षतः नहीं देखा गयी जा सकती।

अतः उसका कोई अमूर्त कारण है। और वह अमूर्त कारण तभी जाना जा सकता है जब हम कर्मवादके सिद्धान्तको स्वीकार करें। क्योंकि कर्मवादके ही द्वारा एक ही परिवार में विभिन्न प्रकारके प्रकृति वाले लोगोंके चरित्रका समझने में कोई कठिनाई न होगी। यदि हम पौराणिक महापुरुषों को छोड़ भी दे तो इस युगमें भी अनेक जातिस्मर वालक उत्पन्न हुए हैं और होते हैं जिन्हें अपने पिछले जन्म की बातें स्मरण होती हैं इसके अतिरिक्त ऐसे अनेक विशिष्ट प्रतिभाशील लोग हुए हैं जिन्होंने अत्यन्त अल्प अवसरोंमें अभूत पूर्व प्रतिभाका चमत्कार दिखाया है। यह पिछले जन्मका ही संस्कार हो सकता है इस जन्मका नहीं।

यूरोपीय आचार्योंने स्वभावज्ञ एक और कतौरी बताई है कि मनुष्य जैसी संगतिमें रहता है उसे वैसा ही समझना चाहिए। इस प्रकार हमारे सगति प्रभावके सिद्धान्तको उन्होंने भी स्वीकार किया है। इसलिए मनुष्य के स्वभावका विचार करते समय हमें दोनों बातोंका विचार करना होगा एक तो उसकी प्रकृति, जो सात्विकी राजसी या तामसी होगी दूसरी उसकी सगति, जो अच्छी या बुरी हो सकती है। सत्यगतिसे मनुष्यके भावोंका परिष्कार होता है उसकी बुद्धि विवेकशील हो जाती है उसका हृदय सवेदनशील हो जाता है और उसका मन सर्वज्ञोंकी ओर प्रवृत्त होता है। इसके विपरीत कुसंगति से मनुष्यके भावोंमें विकार आता है, बुद्धि अविवेकवती हो जाती है हृदय कठोर हो जाता है और उसका मन दुष्कर्मोंकी ओर प्रवृत्त होता है।

दो प्रकारके स्वभाव—

अच्छे और बुरे

● सदसत्स्वभावौ ॥

[अच्छे बुरे स्वभाव हैं।]

मोटे रूपसे लोग मानव स्वभावको दो प्रकारका मानते हैं अच्छा या बुरा। अस्तुने भी यही दो भेद स्वीकार किए हैं और साधारण लोकदृष्टिसे यह अच्छाई या बुराई सापेक्ष होती है। कौन एक व्यक्ति किसी एक बिंदु पर कर्मसे किसी व्यक्ति या वर्गके लिए अच्छा हो सकता और उसी कर्मके कारण दूसरेके लिए बुरा हो सकता

है अतः अन्धे और बुरेका भेद मनुष्यके कर्मपर निर्भर है और वह भी परस्परब्रह्मयोगपर ही अवलम्बित है अतः यह आचरणपर अवलम्बित अन्धे या बुरेका भेद तो ब्राह्म नहीं होना चाहिए किन्तु वास्तविक स्वभाव अर्थात् मानसिक प्रवृत्तिये पुष्ट स्वभाव भी सत्ता, रज और तम गुणके कारण तथा सत्प्रगति और कुस्रगतिके कारण सर्वजनीन दृष्टिये अर्थात् जिस वर्ग या समाजका व्यक्ति उस व्यक्ति या समाजके हित और अहितकी दृष्टिये अन्धता या बुरा नहीं वरन् सार्वभौम दृष्टिये उसकी अन्धता या बुराई निर्धारित की जा सकती है। क्योंकि सृष्टि भरमें दो व्यापक नैतिक सिद्धान्त हैं जिनका विवेचन हम पीछे कह चुके हैं वे हैं (१) परहित करनेवाला अन्धता मनुष्य और (२) दूसरेका अहित करनेवाला बुरा मनुष्य। इसका निष्कर्ष यह निकला—

● परहितकाः साधयः परहितका असाधवयश्च ॥

[परहित करनेवाला अन्धता, पर पीडा दाता है दुष्ट]

किन्तु इन अन्धे और बुरे साधु और असाधु, सत और असत् प्राणियोंमें भी उत्तम और मध्यम दो प्रकारके प्राणी होते हैं। ये दोनों काल,तुल्यता या वर्तमान परिभाषके अनुसार असत्सत्वादी होते हैं, जो अक्सर देख कर तदनुसार अन्धता काम करें और उससे अपना हित होता समझें वह उत्तम और जो अपने हितके लिए दूसरोंका अपकार करे वह अधम कालानुवर्ती कहलाता है जो लोग दुर्बल या कायर प्रवृत्तिके होते हैं उनका मूल मंत्र है 'जैसी बड़े नया पीठ तन तैसी दीजे। उनकी अपनी इच्छा शक्ति या निर्मायिका शक्ति कुटित होती है ये अपने मनसे न तो कोई बात सोच सकते हैं और न कोई नया काम ही कर सकते हैं। नमय और दूसरोंकी इच्छा ही देकर रखकर ये किसी काममें प्रवृत्त होते हैं ऐसे लोग समाजमें चण्ड चतुर सा व्यवहार कुशल कहलाते हैं किन्तु स्वभावकी दृष्टिये ये शिथिल, अव्यवस्थित और अनिश्चित्य होते हैं।

स्वभावपर अवस्थाका प्रभाव

● शिशुवालकुमारकिशोरयुवातिशुवाप्रौढाति प्रौढदृष्टातिवृद्धभेदेन मानवावस्था दशधा ॥

[शिशु, बाल, कुमार, किशोर युवातिशुवा, प्रौढाति प्रौढ, वृद्धातिवृद्ध भेदेसे मानवकी दस ह्रदं अवस्था।]

मनुष्यका वास्तविक स्वभाव उसकी परिपक्व अवस्था में बनता है अर्थात् बालकनके संस्कार धीरे धीरे अभ्यस्त होते होते उसके स्वभावका रूप धारणकर लेते हैं। मनो-वैज्ञानिकोंने परिम पाके अनुसार इसे पाँच कक्ष करते हैं कि जब एकही प्रकारकी क्रिया की सदा एक ही मानसिक स्नायविक प्रतिक्रिया होने लगती है और वे प्रतिक्रियाएँ धरना एक पथ निश्चित करलेती हैं तो वे ही मनुष्यके स्वभाव और आचरणको प्रभावित करके मनुष्यको बदल देती हैं वैसे ही मनुष्यकी अवस्थाके अनुसार भी उसके स्वभावमें परिवर्तन होते रहते हैं इस दृष्टिये मनुष्यकी दस अवस्थाएँ होती हैं शिशु, बाल, कुमार, किशोर, युवा, अतिशुवा, प्रौढ, अतिप्रौढ, वृद्ध और अतिवृद्ध। यद्यपि प्राचीन ग्रन्थकारोंने अवस्था चतुष्टयमें वचन, लजकन जवानी और बुढापा—ये ही चार अवस्थाएँ मानी हैं किन्तु स्मृतियोंमें पाँच वर्ष तक कौमार, दश वर्षतक पौगड, पन्द्रह वर्षतक किशोर उसके बाद यौवन तथा सत्तरके पश्चात् वृद्धावस्था मानी है कुछ आचार्योंके मतसे सोलह वर्षतक बाल्यावस्था, सोलहसे सत्तरतक तरुणावस्था संस्करणे नन्वे तक वृद्धावस्था उसके बाद वर्ष ४० अवस्था मानी है। आयुर्वेदके मतसे पन्द्रहतक बाल्यावस्था पन्द्रहसे तीसतक कौमार अवस्था तीससे पचास तक युवावस्था और उसके पश्चात् वृद्धावस्था होती है किन्तु जिस दृष्टिये हम अवस्थाके विभाजन कर रहे हैं अर्थात् स्वभाव और आचरण उसमें हमें दूसरे ही प्रकारसे अवस्था विभाजन करना ही पड़ेगा। साधारणतः तीनवर्षका बालक अबोध अवस्थामें रहता है उसका खाना-पीना सब दूसरोंपर अवलम्बित रहता है। उसकी अपनी कोई इच्छायें नहीं होती उसे जैसा खिलाया जाता है वह वैसाही करता है। हस्य जोड़ो, वृद्धो, नाचो आदि आदेशोंपर वह वैसाही निर्लज्ज आचरण करता है उसे यह ज्ञान नहीं होता कि हाथ क्यों जोड़ना चाहिए, क्यों नाचना वृद्धना चाहिए। यह अयोधाय-या शिशुअवस्था कहलाती है। तीससे पाँच वर्षकी अवस्थामें सहसा शिशु अन्धे बुरे, प्रिय अप्रिय आदिका विचार करने लगता है और उसमें इच्छायें आने लगती हैं वह भेदमें जाने लगता है, विदोष प्रकारके खेल मिलाने चाहने लगता है, कुञ्जकुञ्ज उसकी वचि बन चलती है और उसका वृत्तल भी जानने लगता है।

पौंचे आठवर्ष तक कुमारावस्था होती है जिसमें बालक अपनी बाल प्रवृत्तियोंको पिता, माता और परिवारके लोगोंके साथ सुधारता और समझलता चलता है। इस अवस्थामें वह माता पिता गुण तथा बड़े लोगोंका गुणवत् समझने लगता है और भय, आदर, विरक्ति आदि भावोंको पुष्ट करता चलता है। उसकी पहचान बढ़ जाती है। वह समझने लगता है कि कब किस परिस्थितिमें पिता माता या गुरुसे क्या कहना और लेना चाहिए। मेग-तेराका भाव भी इसी अवस्थामें पनपता है और अपनी वस्तु दूसरेके पास न जाने देने और दूसरेकी छेलेनेकी भावना इसी अवस्थामें जागती है। इसीमें अहंकार भी बढ़ने लगता है। यह अवस्था कुमार अवस्था कहलाती है। आठवें पन्द्रह तककी अवस्था किशोर अवस्था कहलाती है इस अवस्थामें ही कुमारके सब अन्व्यस्त बनते हैं, उसको रचि, प्रवृत्ति और प्रवृत्ति दृढ़ता ग्रहण करती है। इसीमें मावी प्रवृत्तियोंकी भी प्रेरणा होती है यह अवस्था समन्वितकालकी होती है। इसमें जैसी शिक्षा या संगीत मिलती है मनुष्य वैसाही बन जाता है। इसी अवस्थाको मनोवैज्ञानिक लोग निर्माण अवस्था कहते हैं इसीमें मनुष्यका चरित्र निर्माण होता है। पन्द्रह वर्षसे तीसवर्षकी अवस्था तक युवावस्था होती है इस अवस्थामें मनुष्यकी दो वृत्तियों विशेष रूपसे व्यक्त होती हैं। एक तो आत्मशुद्धि तथा आत्मप्रदर्शनकी और दूसरी किसीके प्रति आकृष्ट होकर उसे अपनीनेकी यह दूसरी प्रवृत्ति दो प्रकारकी होती है। एक समाज भावनासे प्रेरित होकर मित्र या साथी बनानेकी और दूसरी काम भावनासे प्रेरित होकर अपना प्रेम-पात्र बनानेकी इन दोनों चेष्टाओंमें प्रायः युवक इतनी उच्छ्रद्धालता और उत्कृष्ट वाचनसे काम करते हैं कि कभी-कभी समाजके बन्धनोंको भी लौंघ जाते हैं—किसी पुराने सृष्टिकारने कहा है—

“शुभाभितेयु गीतेयु, युवतीनां च लीलया ।

यस्य न द्रवित चिच्च स योगी अथवा पशु।” ॥

[किसीकी सुन्दर, उक्ति तथा गीत पर और युवतियों के हाव भाव पर जो रीसकर लड़न बना वह या तो योगी है या पशु]

इसीके धरमें स्वर मिलाकर विहारिने यदा है—

इक भी जै, बहलै परै बूझै बदै हमार
किते न अथगुन जग करत जै वै चढ़ती बार

(नदी और अवरथा, यह दोनों जब चढ़ती है तब कितने उपद्रव नहीं करती क्योंकि उनसे कोई तो भीग जाते हैं कोई रत्नदर्लमें फरते हैं और बहुत से तो डूब जाते या वह जाते हैं ।)

एक उर्दू सृष्टिकार ने भी कहा है—

बवानी आदमी की मायसे इल्जाम होनी है
निगाहें नेक भी इस उधमें बदनाम होती है ।

(मनुष्यकी युवावस्थापर आरोप लगाये ही जाते हैं क्योंकि इसमें सीधा सादा ध्यक भी दुर्नाम पा जाता है)

यही अवस्था शृङ्खलपूर्ण नाटकोंके लिए सबसे अधिक प्रयोग में लई गई है। 'मनुष्य क्या नहीं कर सकता' इस उक्तिकी सिद्धि इसी अवस्थामें होती है—साहस, दुःसाहस आवेश, त्याग, लगन-दृढ़ता श्रुता, सधर्म आदि सब शोच मयी प्रवृत्तियों और भावनाएँ इसी अवस्थामें उद्बुद्ध और पोषित होती हैं और इसी अवस्थामें युवक अपनी लोकेपणा और विचेपणा भी पूर्ण करना चाहता है। वह चाहता कि मेरा पश हो और मेरे पास धन हो वह न मालूम कितने बचनानेके प्रसाद ठठठाता है तल्लीन होकर चिन्तन करता है। सपनोंके सहारे उन कल्पनाओंको पूरा करनेकी चेष्टा करता है और यदि वह असफलता पाता है तो आवेशमें आकर आत्मघात तक पर लेता है। किंतु इनमें जो साहसी होते हैं वे असफलतासे घबराते नहीं डरते नहीं आग बढते चलते और सफलता मिलने तक परिस्थितियों से सधर्म करते चलते हैं

इसके पश्चात् आती है अतियुवावस्था जो तीससे पचासतक चलती है। इस अवस्थामें मनुष्य गम्भीर होने लगता है। सामाजिक पद गृहस्थीका उच्चदायित्व आदि अनेक प्रकारके पारिवारिक और सामाजिक बन्धनोंमें फँसकर अपने दायित्वका चिन्तन करता है और न चाहते हुए भी उसे गम्भीरताका आडम्बर धारणकर लेना पड़ता है। इस अवस्थामें वह प्रायः पशोपार्जन और धनोपार्जनमें लगता है और इन दोनों प्रकारके उपायोंमें वह इतना मग्न रहता है कि नीति अनैतिकता भी प्रायः विचार नहीं करता। पचास वर्षके

पदचात् प्रायः उसकी प्रायश्चित्त अवस्था प्रारम्भ हो जाती है जो पैंसठ वर्षतक चलती है । इसे प्रौढावस्था कहते हैं । इस अवस्थामें मनुष्य कुछ अधिक धार्मिक हो जाता है उसमें उदारता सौहार्द आदि गुण बढ़ जाते हैं उसका स्वभाव सुख भोगमल और उपदेशप्रिय हो जाता है । अर्थात् वह सबको उपदेश देने लगता है । इसके पदचात् पैंसठसे पचहत्तर तक अतिप्रौढ अवस्था होती है । इसमें मनुष्यका स्वभाव चिदचिदा हो जाता है । उसे अपने चारों ओर अनीति और अनियम ही दिखाई देने लगता है । वह समझता है कि लोग मेरा आदर नहीं करते हैं और मेरी आवश्यकता नहीं समझते वह खीझने और वृद्धने लगता है और इसीमें पचहत्तर वर्षके पदचात् वह वृद्ध हो जाता है उसकी इन्द्रियों क्षिणिल होने लगती हैं वही उसकी वृद्धावस्था है । वृद्धावस्थामें संसृति तथा विशेष रूपसे अपनी अवस्थाके लोभासे सगति करनेकी विशेष अवस्था होती है । बालक और युवक उसकी युवावस्था की कथा सुनें उसका आदर करें और उसके पास उठें-बैठें तो उसे बड़ी प्रसन्नता होती है । यह वृद्धावस्था नव्वे वर्षतक होती है उसके पदचात् नव्वेसे ही वर्षतक मनुष्य बच्चेके समान परावलम्बी हो जाता है । दूसरे लोग उसे चलाते उठाते बैठते हैं । उस समय वह केवल निर्वाणकी कामना करता है शेषसपियरने अपने 'ऐबयूलाइक इट, नाटकमें जेक्सके मुँहसे इसका बड़ा मव्य चित्रण कराया है ।

“सारा विश्व ही रङ्गपीठ है और पुरुष और स्त्रियों अभिनेता भर है वे प्रवेश करते हैं और निष्क्रमण करते हैं और एक ही मनुष्य अपने समयमें कई भूमिकाएँ ग्रहण करता है । इसकी साज अवस्थायें हैं उसके नाटकके अंक होते हैं । सर्वप्रथम शिशु होता है जो अपने धायनी गोदमें रोता और मचलता है उसके पदचात् कुमार आता है अपना सुन्दर प्रभातमय चमकीले मुखसे पुस्तकोंका वस्ता दबाये दुःखी मनसे धीरे धीरे अनिच्छा पूर्वक अपनी पाठशालाको जाता है इसके पदचात् प्रेमी जो भट्टीके समान निश्वास लेता दुःखा अपनी प्रेमिकाकी भोंहोंपर कविता रचता है उसके पदचात् योद्धा अनेक प्रकारके प्रणसे पूर्ण बढी हुई दादी वाला गौरवके लिए अग्रुक क्षणदा करनेके लिए समुद्यत और तोपके मुँह

पर खडे होकर भी क्षणिक प्रतिष्ठाकी कामना करना । उसके पदचात् न्याय मूर्ति गोल पेट वाद्य गम्भीर बाँझ और एक निश्चित प्रकारकी दाढी बढ़ाए अनेक प्रकारकी सृष्टियों और उदाहरण उपस्थित करनेवाला छठी अवस्था में दुबला पतला मनुष्य पतनमें प्रविष्ट होकर चण्डल पहनकर आँसोंपर उपनेत्र चढाकर और अपने साथ एक शोला लड़ाका और अपनी जवानीका गोबा भली प्रकार सुरक्षित करके ले चलता है और यह इतना ही सवार उस दुबले पतलेके लिए बहुत बड़ा जान पड़ने लगता है उसका पौरुष भरा स्वर फिर बच्चेके समान तुच्छलाने लगता है और उसके स्वरमें बर्षा और शीटी बोलने लगती है और सनेसे अन्तमें वह दशा आ जाती है जब यह घटना भरा इतिहास समाप्त होने लगता है । दूसरा बचपन आने लगता है जीवन उपेक्षित होने लगता है और मनुष्य बिना दौत बिना खोल बिना स्वाद और बिना वस्तुका हो जाता है ।

पुरुष और स्त्रीकी प्रकृतिमें भेद

● पुनारिप्रकृतिभेदः ॥

[पुरुष नारिनी प्रकृति भिन्न है ।]

बहुतेसे आचार्योंमें पुरुष स्त्रीकी प्रकृतिमें विशेष भेद बताया है किन्तु ये सब भेद विभिन्न देशोंके सामाजिक नियमों और आचार्योंर अवलम्बित हैं मुसलिम देशोंमें स्त्री साधारण सामग्रीकी भांति दी और ली जा सकती है । योरोपियन महिलाएँ अधिक स्वतन्त्र और मनस्विनी होती हैं । चीन जापान आदि पूर्वाय देशोंमें स्त्रियोंपर कड़ा नियन्त्रण है और हमारे यहाँ तो उसके लिये नियम ही बना दिया गया है—

पिता रक्षित कौमार, भतां रक्षित यौवने ॥

सुतः रक्षित वार्द्धक्ये न स्त्री रवातन्त्यमर्हति ।

[कुमारी अवस्थामें पिता, युवावस्थामें पति और बुढापेमें पुत्रोंके द्वारा रक्षा पाने वाली स्त्री कभी अपनेपर नहीं छोड़ी जा सकती ।]

यह सब विशिष्ट परिस्थितियों है इसलिए इन सब बातोंका विचार परिस्थिति प्रभावित स्वभावके अनुसार करना चाहिए । वास्तवमें साधारणतः पुरुष कठोर और नारी कोमल होती है किन्तु यह सब सत् रत्न, और समके साम्य तथा वैसम्पयर अवलम्बित हैं अनेक पुरुष स्त्रियों से भी अधिक कोमल होते हैं और अनेक स्त्रियाँ पुरुषों

भी कठोर होती हैं। परिस्थितियों और अवस्थाके अनुसार उनका चरित्राङ्कन करना चाहिए।

अवस्थाके अनुसार पुरुषोंके भेद

ऊपर अवस्थाओंके अनुसार जो पुरुषोंके भेद किए गए हैं। वह इसलिए कि विभिन्न अवस्थाओंमें मानसिक वृत्ति और अवस्थाओंमें बड़ा अन्तर पड़ता रहता है। मनोवैज्ञानिकोंने केवल पन्द्रह वर्षतकके बालकोंकी बुद्धिके अनुसार श्रेणियाँ बनाई हैं और यह भेद केवल उनकी योग्यता और बुद्धिके सम्बन्धमें ही है चरित्र या स्वभावके लिए नहीं। इसलिए अवस्थाके अनुसार हम पुरुष स्वभावका विवेचन कर देना आवश्यक समझते हैं।

शिशु अवस्थामें बालककी विशेष प्रवृत्ति भोजनकी ओर होती है और इसके पश्चात् रंगीन वस्तु बाध, खेल तथासे आदिर्षी ओर रुचि होने लगती है साथही माता पितासे स्नेह करते हुए वह उनके बताए हुए और दिखाए हुए शब्दों और आचरणोंका अनुकरण करता है। वह दादा, बाबा, मामा कहना सीखता है कदनेसे हाँप जोड़ता है और हँसता, बोलता, नाचता, कूदता है। नाटककारके लिए यह अवस्था अत्यन्त अनावश्यक है। वह केवल दिखाने भरके लिए या किसी प्रसङ्गमें बच्चेके उपस्थित करनेके लिए ही उसकी योजना करता है। अधिकांश नाट्य प्रयोगका ऐसे स्थानोंपर वास्तविक बच्चेके बदले गदापरचा या कपड़ेके बने हुए गुठ्टीसे काम चला लेते हैं क्योंकि वास्तविक बच्चेवै यह भय बना रहता है कि कहीं वह बीचमें रोकर सब रस नष्ट न करदे। इसलिए जहाँतक सम्भव है नाटककारको रंगपीठर शिशु उपस्थित करनेका आयोजन नहीं करना चाहिए।

बालक अवस्थामें बच्चेका मन खेलमें अनुकरण करनेमें अधिक लगता है। वह सभी दृष्टता है और स्वच्छन्द होकर अनेक प्रकारकी क्रीडाएँ करता है और उन क्रीडाओंमें अपने पिताके न्यवसायका अनुकरण भी करता है। जैसे किसी वैद्यका पुत्र महीची दुकान सजाकर बँचने मोल लेनेका खेल करता है। इस अवस्थामें रुचि बढ़ने लगती है अपनेसे सम्बन्ध रखने वाली प्रत्येक वस्तुमें अच्छे और बुरेका म्यान

होने लगता है। उसकी जिज्ञासा वृत्ति बढ़ने लगती है। किन्तु भोलापन भी बना रहता है। इस भोलेपनका विशेष चित्रण अभिनव भरतके वसन्त नाट्यमें प्राप्त होता है। जहाँ बालक अपने चचासे कहता है "ईश्वरने तुम्हारा भाग्य फोड़दिया है तुम ईश्वरको पकड़ लोओ मैं उसकी कुन्दी करूँगा" ऐसे कथन स्थलोंमें इस प्रकारका भोलापन अत्यन्त प्रकारसे प्रभावशाली होता है। कभी कभी बालोचित कीड़ाका दृश्य दिखानेकेलिये भी टनबालकों की योजना की जा सकती है। इस अवस्थामें बालकोंको अपने पराये का ज्ञान होने लगता है और यद्यपि उसमें शारिरिक असमर्थता होती है किन्तु अपनी किसी वस्तु का अपने किसी सम्बन्धीके विरुद्ध होनेवाले आचरणपर उसका मानसिक विद्रोह अवश्य होने लगता है। जिसे वह कम से कम अपने साथियोंको स्पष्ट करही देता है। यही बाल हठकी भी अवस्था है। अपनेमनकी वस्तु मर्गाना अपने मनके अनुसार दूसरे काम कराना ही इस हठका उद्देश्य होता है और हठ पूरा न होने पर वह अनयान और रोने दोनों प्रयोग करता है। नाटककारको यथासम्भव कथन, भयानक, शृङ्गार, अद्भुत तथा वीभलरसोंके लिए बालक पात्रोंकी आयोजना नहीं करना चाहिए। वीरताके लिए यदि इनका प्रयोग किया जाय तो सर्वश्रेष्ठ दो और यदि हास्यके लिए प्रयुक्त हों तो अधिक उपयुक्त हो। कभी कभी राजनीतिक नाट्योंमें ऐसे बालकोंका प्रयोग किया गया है जिसमें बालकोंको यातनाएँ दी जाती हैं उन्हें पीटा जाता है और बाँधकर लटका दिया जाता है किन्तु ये सब प्रयोग अमानवीय हैं। ऐसी स्थिति उत्पन्न करनेवाले नाटककार सस्ती भावुकताको उच्चित करते हैं किन्तु उरमें फलाका अत्यन्त धमाव रहता है। फिर बालक अभिनेता एकत्र करने और शिक्षा देनेमें बड़ी अनुविधा और कठिनाई होती है इसलिए जहाँतक सम्भव हो नाट्यमें उनकी योजना नहीं करनी चाहिए।

बालक अवस्थाके पश्चात् आती है कुमार अवस्था जिसमें बालकका मन रचनात्मक अधिक हो जाता है वह नई नई वस्तुओंको तोड़-फोड़कर अपने मनके अनुसार उन्हें सजाना चाहता है इसीलिये टेंसका मन प्रायः नेल-कूदमें अधिक लगता है पढ़ने लिखनेमें कम। और पढ़ने-लिखनेमें भी वह निजी प्रकारका बन्धन नहीं चाहता जिस

विपयकी ओर उसकी रुचि होती उसी ओर वह प्रवृत्त होता है उसका मित्रमण्डल बढ़ने लगता है साथ मिलकर धूमने नटखटपन करने फूल फल चुगाने पेड़ पहाड़पर चढ़ने तथा जानवरोंसे छेड़छाड़ करनेमें उसे विशेष आनन्द मिलता है इसी अवस्थामें मिश्रितता और भय दोनोंका प्रदर्शन होता चलता है। घरसे बाहर अपनी वृत्तिमें वह स्वतन्त्र और मिश्रित रहता है किन्तु अपनेसे बड़े अभिभावकोंकी डौंट फटकार और दूसरा क्या कहेगा इस प्रकार सामाजिक भय उसके मनमें बढ़ने लगता है। इनमें जो दुर्ललित होते हैं वे प्रायः बड़ोंका अपमान करने और कहना न माननेमें भी सकोच नहीं करते हैं और यही दुर्ललित बालक आगे चलकर देश उमान परिवारके लिए बड़े भयानक हो जाते हैं। ऐसे दुर्ललित बालक अत्यन्त बोलने चोरी करने और दूसरोंको तग करनेमें विशेष दक्षिण होते हैं। उनके उर्पर मरिस्तक सदा ऐसेही उरगत सोचते रहते हैं जिनसे दूसरोंको कष्ट होते हैं उनसे उनकी मानसिक व्यथाका रस लें। इसी अवस्थामें अनेक प्रकारके व्यसन भी लग जाते हैं मिठाई, चाट, सिगरेट, चित्र, मेला आदिके व्यसन इसी अवस्थासे प्रारम्भ होने लगते हैं। इसी अवस्थामें जो बालक अधिक दम्भू होते हैं वे पिसुनी या चुगुलखोर हो जाते हैं और जिन्हें माता पिता लाड़ प्यारसे घिरपर चढा लेते हैं वे अभिमानी और उद्वण्ड हो जाते हैं। घरका वातावरण और बाहरकी सगति जैसी होती है वैसाही आचरण और स्वभाव बनने लगता है। नाटक कारके लिए मनुष्यकी यही अवस्था पाठयोजनाकी प्रारम्भिक अवस्था है। सभी प्रकारके रसोंमें इस प्रकारके पाठोंकी योजना सफलतापूर्वक की जा सकती है।

किशोर अवस्थामें पहुँचकर बालकमें कुछ विचारशीलता और विवेक आजाता है वह अपना दायित्व समझने लगता है हित और अहित भला और बुरा कर्तव्य अकर्तव्य सबकी पहिचान उसे होने लगती है। जिन किशोर बालकोंपर कम नियन्त्रण रहता है या रहता ही नहीं वे व्यसनी लोभी चोर कलह करनेवाले अभिमानी उद्वण्ड हठी और कुटिल हो जाते हैं। किन्तु जिनपर भली प्रकार नियन्त्रण होता है और जिन्हें सगति भी अच्छी मिल जाती है वे समाजके सेवा उपदेशक अध्यापक वास्तविक नेता तथा विभिन्न कार्योंके व्यवस्थापक बन जाते

हैं। किशोर अवस्था वास्तवमें तुमार और यौवनके बीच की अवस्था है इस संक्रमण कालमें दो लालसायें बड़ी प्रबल हो जाती हैं एक तां लोकमें प्रसिद्ध होनेकी और दूसरी कामवासना की। इनके लिए यदि पूरे समयकी शिक्षा नहीं दी जाती और सगति भी कुटिल होती है तो वह व्यक्ति समाजके लिए भयानक हो जाता किन्तु उचित शिक्षा और उचित सगति मिलनेपर वही व्यक्ति सद्गृहस्थ और स्नेही पति हो जाता है। जो अत्यन्त पीड़ित रहते हैं जिनकी लालसायें कुचल दी जाती हैं जिनके स्वप्नित मार्गोंमें निरन्तर बाधाएँ आगे रहती हैं वे साहसहीन आठवीं दम्भू सब बातोंमें दूसरोंके कथनानुसार चलनेवाले दैन्यपूर्ण और कायर होते हैं। न उनका कोई अपना मत होता है न इच्छा होती है वे सदा परावलम्बी होते हैं। यद्यत्कि कभी कभी त्वय अपनेसे सम्बन्ध रखनेवाले साधारण कार्योंके लिए भी वे दूसरोंसे सम्मति लेनेका प्रयत्न करते हैं ऐसे ही लोग रूढ़िालक अन्धविश्वासी सबको सदा प्रसन्न रखनेकी चेष्टा रखनेवाले और चाटुकार होते हैं। अपने साधियों और अपनेसे छोटीको भी वे अपना विश्वास पात्र बनाकर उनसे सम्मति लेने और उनकी सम्मतिके अनुसार कार्य करनेमें अपना अहो भाग्य समझते हैं। ऐसे लोग प्रायः चिन्तित उदास और सुस्त रहते हैं जिन्हें देखकर यह प्रतीत होता है मानो सम्पूर्ण गृहस्थी और राज्यका भार इन्हींपर आपड़ा हो वे बहुत ही कल्पनाशील और चिन्तनशील होते हैं। इनके अतिरिक्त किशोर अवस्थामें ही बालक इतने अधिक-स्मूर्तशील गतिशील और प्रत्येक कार्यको बड़ी लगन और उत्साहसे करने वाले होते हैं। वे भी अत्यन्त मननशील और कल्पनाशील होते हैं किन्तु वे लोग अपना कल्पना को मूर्तमान करनेके लिए आकाश पाताउ पक़ कर देते हैं व्यक्ति और साधनका समूह करते हैं और अपने बलसे तथा साहससे ही अपनाकार्य पूर्ण करलेते हैं। ऐसे ही लोग भागे चलकर महापुरुष होते हैं। इसी अवस्थामें जिन्हे वनने सबरने और कपड़ा लच्छा पहनने तथा अलंकार का व्यसन हो जाता है वे भोग चलकर छैले हो जाते हैं। इनमें से अधिकांश कलाप्रिय सगीतप्रिय और गौन्द्यप्रिय होते हैं और जो धनी हो जाते हैं वे ही विगडे हुए रईस बन जाते हैं। नाटककार ऐसे पाठोंके साथ जुल

संस्कार, सगति और परिस्थितिका सम्मिश्रण करके अद्भुत चरित्रोंका स्रजन कर सकता है।

बालक, कुमार, और किशोर तीनों अवस्थाओंमें यद्यपि अन्तर बहुत थोड़ा-थोड़ा है किन्तु इन्हीं थोड़ेसे वर्षोंमें वृत्तियों और प्रवृत्तियाँ इतनी जटिल बहुमुखी और निश्चित हो जाती हैं कि आगेके सम्पूर्ण जीवनका अध्ययन उसी समय कर लिया जा सकता है "हो-हार विरवानके होत चीकने पात" की उक्ति इसी लिये हुई है। किन्तु कुछ ऐसी आकस्मिक परिस्थितियाँ आ जाती हैं कि मनुष्यको विषय होकर अपनी वृत्ति और प्रवृत्ति बदलनी ही पड़ती है। सहसा अपने मुख्य आश्रयदाताका अन्त हो जाना किसी कारणवश जैसे व्यापारनष्ट होने आग लगने चोरी या डकैती होने राजनीतिक उथलपुथल होने अथवा आजकल केपमें (बैंक) दीवालिया हो जानेपर जब सहसा दरिद्रता आ जाती है उस समय बड़ेसे बड़े अकर्मण्य और आलसी लोगोंको भी कर्म होते देखा गया है। अतः नाटककारको अपने पात्रोंकी मानसिक स्थितियों सहसा स्वतः परिवर्तन न दिखाकर किसी ऐसे कारणकी योजना करनी चाहिए जिसमें वह पात्रके स्वभावके विपरीत या अनुकूल न जान पड़े और न अस्वभाविक हो प्रतीत हो।

संसार भरके तरह तरह के लोग दिखाई देते हैं। एक अनुरक्त जो जखारकी सम्पूर्ण मायामें मनसे या विषय होकर योग दे रहे हैं। दूसरे विरक्त जो संसारको माया समझकर उसके सम्पूर्ण सुख दुःखसे अलग हो गये हैं। तीसरे वे हैं जो उदासीन वृत्तिसे संसारमें रहते हैं। इनमें कुछ तो स्वभावतः और जानबूझकर उदासीन हैं और कुछ ऐसे हैं जो जड़बुद्धि, अकर्मण्य और आलसी होनेके कारण उदासीन बने रहते हैं। इन तीनों प्रवृत्तियाँ लगे पुरुषोंमेंसे उदासीनका प्रयोग नाटकमें नहीं होता। कभी कभी जड़बुद्धि अकर्मण्य या आश्रयियोंका चरित्र हास्यके लिए निरूपितकर दिया जाता है। विरक्त भी दो प्रकारके होते हैं। एकवो वे हैं जो वास्तवमें सुदृष्टान प्राप्तकर लेनेके कारण मोह, मायसे ऊपर उठ गये हैं। दूसरे वे हैं जो विरक्तिका छोट करके हैं और इस वहाने लोगोंकी भद्रा और भक्तिके भाजन बनते हैं। छल प्रयत्नके नाटकमें इस प्रकारके पात्र बड़े उपयोग होते हैं। किन्तु अश्रितोंका नाटकमें सामान्य दिन पार्श्वसे प्राप्त होता है जो निरन्तरी

मोह मायामें पूर्णतः मनसे अथवा विषय होकर अनुरक्त हुए हैं। ये अनुरक्त भी दो प्रकारके हैं। एक लोक सप्रही दूसरे स्वार्थी। स्वार्थियोंमें विषयी, लोभी, प्रतिस्पर्धी, ईर्ष्यालु अभिमानी, क्रोधी, मूढ़ और महत्वाकांक्षी होते हैं। लोक सप्रहीके अन्तर्गत साहसी परमाधी, लोचसेवक आदि वे सब प्रकारके पुरुष आते हैं उसे अपने मित्रों, बन्धुओं, देशवासियोंके लिये अथवा सामूहिक रूपसे मित्र, बन्धु, जाति, राष्ट्र तथा धर्मके लिये सबकुछ त्याग करनेको तैयार है। ये तीन प्रकारके होते हैं। एकतो वे हैं जो अपना हित करते हुए दूसरोंका हित करते हैं। दूसरे ऐसे हैं जो अपना अहित करके भी दूसरोंका हित करते हैं और तीसरे ऐसे हैं जो केवल परहित ही करते हैं अपने हितका चिन्तन ही नहीं करते। ऐसे ही लोग समाजमें आदर्शकी प्रतिष्ठा करते हैं। सभी महापुरुष इसी श्रेणीके होते हैं। इनमेंसे जो अपना अहित करके भी दूसरोंका हित करे वह सर्वश्रेष्ठ हैं। जैसे एक अश्रेष्ठनाटकमें एक महिलाके पुत्रको किसी दुष्टने अनजानमें गोलीमारदी और फिर वह पुलिसके हाथसे बचनेके लिए उसी महिलाके घरमें शरण लेने चला गया। उसे यह ज्ञात नहीं था कि यह मृतककी ही माता है। उस महिलाने उस हत्यारेको अपने घरमें छिपा लिया पुलिसमाले दृढ़ते हुए वहा जा पहुँचे तो उसे ज्ञात हुआ कि मेरे ही पुत्रकी हत्या हुई है और मैंने ही उस हत्यारे को शरण दी है। किन्तु उसने अपने मनोवेगको रोककर अपनी व्यथा छिपाकर उस हत्यारेके प्राणोंकी रक्षा करली। यद्यपि नैतिकदृष्टिसे हत्यारेकी रक्षा करना उचित नहीं है किन्तु यहाँर उस महिलाने जानबूझकर स्वयं अपने पुत्रके हत्याकारीकी रक्षा की। अर्थात् उसने अपने पुत्रके निधनको मूढ़कर अपने अहित करनेमाले उस हत्यारेको बर्गमा वध वचा लिया। यही उसके चरित्रकी महत्ता है।

दूसरी श्रेणीके लोकसप्रही वे हैं जो केवल दूसरोंका हित करते हैं। एने लोग प्रायः वे होते हैं जिनके कोई धाने पीछे नहीं होता है। वे सभीको अपना बन्धु मान लेते हैं। और परहित ही उनकी वृत्ति हो जाती है। किन्तु अपना सबको बन्धु माननेके कारण इनका परहित भी एक प्रकारसे स्वहित या स्वबन्धुहित ही हो जाता है। तीसरी श्रेणीके लोकसप्रही वे हैं जो अपना हित करने हुए दूसरोंका हित करते रहते हैं किन्तु जब अपने हितमें बाधा पड़ती

हे तो वे पर हित छोड़ देते हैं और स्वहित चिन्तन करते हैं।

साहसी लोग भी दो प्रकारके होते हैं। एक मुसाहरी और दूसरे दुस्साहसी। मुसाहरी वे हैं जो दूसरेके हित के लिए अपने काम सफलता के लिए देते हैं और दुस्साहसी वे हैं जो अपनी प्रतिष्ठा, यश या स्वार्थ साधनके लिए अपने सामर्थ्यसे बाहरका दुःसाध्य काम कर बैठते हैं। हिमालयपर चढ़नेवाले, उत्तर दक्षिण प्रवृत्ति कोजने वाले समुद्रतटसे मोती उतारने वाले नये नये भयानक अन्वेषण करनेवाले, वेग या गतिका परिमाण स्थिर करनेवाले, विमान चालक या मोटर चालक सन दुःसाहसी होते हैं और जलते हुए परमसे प्रकाश निकाल लाना, दूरते हुए को बचानेके लिए बूढ़ पढ़ना आदि मुसाहरीके कार्य हैं।

इसके अनन्तर अनुरक्त स्वार्थियोंकी भी सीमासा कर लेनी चाहिए। विपरी स्वार्थी दो प्रकारके होते हैं एक शान्त दूसरे प्रचण्ड। शान्त वे हैं जो विपरी तो होते हैं किन्तु उसके लिए प्रयत्नशील नहीं होते। उन्हें विलास भी सामग्री मिल जाय तो उसे उपभोग करनेमें वे किसी प्रकारका संकोच नहीं करेगे किन्तु यदि न मिले तो उसके लिए प्रयत्न भी नहीं करेगे। प्रचण्ड विपरी वे हैं जो प्रयत्न करके विलासकी सामग्री एकत्रित करते हैं और उनका उपभोग करते हैं। ये भी दो प्रकारके होते हैं। एक तो वे जो विलासकी सामग्री केवल दूसरोंपर शान्त जमानेके लिये अपनी महत्त्वाकी धाक बैधानेके लिए अपना प्रदर्शन न प्रचारके लिये सामग्री एकत्र करते हैं। प्रशंसाके भूले हैं और हृदयके बड़े धनी होते हैं। इसीके गुणपर शीघ्रकर उसे बहुत कुछ देडालना केवल अपनी शान्ति रक्षणके लिए सर्वश्रेष्ठ छुटा डालना अपने मित्र या शरणगतके लिये सब कुछ करनेको उपाय होना इनका स्वभाव होता है। ये लोग अत्यन्त उदार, निकटवादी बातके धनी और स्वधवादी होते हैं शरण भरोसा भिया जा सकता है और ऐसे लोग मित्रताका निर्वाह भी करते हैं। ये लोग केवल श्रेष्ठ लोछा होते हैं।

दूसरी प्रशंसा करके कोई भी इनसे चाहिए जो ले सकता है। दूसरी प्रकारके प्रचण्ड विपरी वे हैं जो प्रयत्न करके विलास सामग्री एकत्र करते हैं किन्तु स्वयं अकेले उसका उपभोग करना चाहते हैं। दूसरेका वैभव

देखकर इन्हें ईर्ष्या होती है। वे अत्यन्त व्यक्तिविके साथ विपरीमें लिप्त रहते हैं किसीका उपदेश नहीं सुनते और प्रायः इस वृत्तिके होते हैं कि मेरा धन ही मैं उपभोग करता हूँ तुम बीचमें क्या बोलते हो। इन्हें चाडुकारिता अच्छी नहीं लगती। यश भी इनको प्रिय नहीं है। ये एकान्तमें अविज्ञात रूपसे वासनाकी साधना अच्छा समझते हैं। ऐसे लोग किसीके मित्र नहीं होते और यदि मित्र बने भी तो वे मित्रताका निर्वाह नहीं कर सकते। ये लोग बड़े अविद्वस्त होते हैं। किसी भी बातमें इनका विश्वास नहीं किया जा सकता, इनपर अवलम्बित नहीं रखा जा सकता। यह अपने स्वार्थके लिये बड़े बड़ा पाप करने या करानेमें संकोच नहीं कर सकते। बड़े बड़े सम्बन्धी और मित्रको मार्गसे हटानेके लिये छुद्रतम उपायों और साधनोंका आश्रय ले सकता है। अत्याचार करने बचन भग करने और असत्य बोलनेमें उसे किसी प्रकारकी शक्ती नहीं होती और अपने भोगकी सामग्री, अपने गुणन, परिजनके यहाँसे प्राप्त करनेमें वह हिचकिचा नहीं सकता। यह समाजका सबसे बड़ा शत्रु होता है।

अनुरक्त लोभीका सबसे बड़ा दोष यही है कि वह धन प्राप्त करनेके लिये भी उपायको अवैध और अनैतिक नहीं मानता और इस द्रव्य प्राप्तिके लिए वह अपना घर कुटुम्ब छोड़कर विदेशमें रह सकता है, अपने कुटुम्बियोंका निधन देख सकता है, अपमान भी सह सकता है और किसी भी प्रकारके दुष्टाचरणके लिये तैयार हो सकता है। यहाँ तक कि अपनी पत्नी और बच्चा भी उसको दे सकता है जिससे कुछ द्रव्य प्राप्तिकी सम्भवा हो। इसका सिद्धान्त है "चमड़ी जाय पर दमड़ी न जाय।"

वह अपने ऊपर व्यय नहीं करता। उसे धनसमृद्धमें ही सुख मिलता है। द्रव्य देखकर और गिनकर उसे आनन्द मिलता है। ऐसे रूपण और लोभी पात्र या तो हास्य रसके आलम्बन हो सकते हैं अथवा प्रतिनायकके रूपमें नाटकमें लाए जा सकते हैं। उनके हृदयमें दया और करुणा नहीं होती ये भी समाजके लिए निरर्थक वस्तु हैं।

अनुरक्त प्रतिस्पर्धी वे हैं जो दूसरेकी उन्नति देखकर स्वयं भी उसी प्रकार उन्नति करनेकी चेष्टा करते हैं। यह

प्रतिस्पर्धा की भावना तबतक स्वस्थ कहलाती है जबतक उसमें दूसरेका अहित करनेकी भावना न हो। वे प्रतिस्पर्धी बड़े परिभमी प्रयत्नशील, विनम्र, अण्ववसायी और आंशकारी होते हैं। अपनी प्रतिस्पर्धी पूरी करनेके लिये वे बड़ेसे बड़ा कष्ट उठानेको तैयार रहते हैं। और प्रतिस्पर्धी पूरी हो जानेपर विना आत्म विज्ञापन किए आत्मसतोपकी रास लेते हैं। उनकी मानसिक तृप्ति तभी हो जाती है जब वे अपनेको अपने प्रतिस्पर्धीके समान समझ लेते हैं। प्रायः प्रतिस्पर्धीकी भावना विद्वानों, कलाकारों और शिल्पियोंमें ही होती है। मैं अमुक पण्डितके समान शास्त्रार्थ करने लूँ, अमुक चित्रकारके समान चित्र खींचने लूँ, अमुक संगीतरुके समान गाने लूँ और अमुक शिल्पीके समान हाथीदाँतकी मूर्तियाँ बनाने लूँ। बस इतनी ही उनकी टालसा होती है और विचित्र बात तो यह है कि कभी कभी ये लोग अपने प्रतिस्पर्धीके पास पहुँचकर उससे गुणग्रहण करते हैं और अपनी प्रतिस्पर्धीकी भावना दूत करते हैं। इनकी दृष्टि शुद्ध साम्यिक हांती है। केवल स्पर्धाका थोड़ा सा रजोगुण उसे स्वार्थ करता रहता है और उसीके कारण वह निरन्तर प्रयत्नशील रहता है। यह प्रतिस्पर्धीकी भावना प्रायः समान-कुल-शील-व्यसनवालोंमें होती है और आत्महीनताकी भावनासे प्रेरित होनेके कारण इसकी उत्पत्ति होती है। हम और ये एकही कुलके एक ही अवस्थाके हैं, एक ही सामर्थ्यके हैं फिर भी इसकी इतनी प्रशंसा होती है मैं भी ऐसा प्रयत्न करूँगा कि मेरा भी इसीके समान यश या नाम हो। यही भावना प्रतिस्पर्धीको प्रोत्साहित करती रहती है।

अतुरत ईर्ष्यालु प्रतिस्पर्धीका ठीक उलटा होता है। वह दूसरेको उन्नति देखकर क्रुद्धता है और यह प्रयत्न करता है कि किसी प्रकार इसको नीचा धरताया जाय और इसके लिए वह प्रयत्न करता रहता है। ईर्ष्यालु व्यक्तियों तमोगुणकी प्रधानता रहती है। उसे अपनी असमर्थताके कारण यह निश्चय हो जाता है कि मैं अपने प्रतिस्पर्धीके समान विद्या, धन, यश, लोकप्रियता नहीं प्राप्त कर सकता। तब वह अनेक अर्थ व अनैतिक उपायोंसे अपने प्रतिस्पर्धीकी हानि पहुँचानेमें लग जाता है। वह प्रतिस्पर्धीकी निन्दा करता है और अनायास गुणोंको भी दोष रूपमें दिखानेका

प्रयत्न करता है। ये ईर्ष्यालु तीन प्रकारके होते हैं। पर निन्दक, विद्वानी, मन धी मन जलनेवाला तथा अपनी हानि करके भी दूसरोंकी हानि करनेवाला होता है और ये सब भी दो-दो प्रकारके होते हैं। एक तो वे जो किसी विशिष्ट व्यक्तिसे ही ईर्ष्या करते हैं और दूसरे वे जो समान रूपसे सभी उन्नत पुरुषोंसे जलते रहते हैं। व्यक्तिगत ईर्ष्या कर्नेवाले लोग अपने प्रतिस्पर्धीके चरित्रमें सर्वप्रथम दोष लगाते हैं। फिर उसके यशके कारणमें दोषका आरोप करते हैं। जैसे अमुक कविने अमुककी पुस्तक चुराकर प्रकाशित करा दी है उसको क्या आता जाता है। जिन क्षेत्रोंसे प्रतिस्पर्धीको यश मिलता है उन क्षेत्रोंमें अपनी धोखेसे द्रव्य देकर या सहायता पहुँचाकर दूसरे प्रतिस्पर्धी खटेकर देते हैं। ये सब अशुद्धि वाले तथा नीच प्रकृतिके होते हैं। कुछ ऐसे हैं जो मन ही मन तो जलते हैं किन्तु प्रत्यक्ष रूपसे न तो विरोध करते हैं न तो उनमें विरोध करनेका साहस ही होता है। किन्तु नीच प्रकृतिवाले ईर्ष्यालु अपने प्रतिस्पर्धीमें दोषका आरोप करनेके लिए बेशी रियति उत्सन्न कर सकते हैं। जैसी एक नाटकमें एक ईर्ष्यालु व्यक्तिने अपने विपक्षीको चरित्रहीन सिद्ध करनेके लिये एक वेश्याको पुरस्कार देकर उसके पास भेज दिया और फिर कुछ लोगोंको एकत्र करके यह लोकप्रवाद खड़ाकर देता है कि इसका वेश्यासे सम्बन्ध है। यह ईर्ष्या भी प्रायः समान कुलशीलव्यसनवालोंमें होती है। दायाद सम्बन्धवालोंमें इस प्रकारकी ईर्ष्या प्रायः दृष्टिगोचर होती है और जो सम्बन्ध या विशेष गुणयुक्त सम्बन्धी होते हैं वे अपने किसी न किसी आचरणसे उस ईर्ष्याको भङ्गकरते रहते हैं। जैसे विवाह आदिमें बहुत धूमधाम दिखाना, सामाजिक कार्योंमें अधिक भाग लेना, राजकीयपद ग्रहण करना। एकसा व्यापार, ध्ववसाय करनेवालोंमें भी इसी प्रकारकी ईर्ष्या होती है। जैसे गवैये, चित्रकार, एक ही कस्तुरी व्यापार करनेवाले व्यापारी, एक ही विषय पढ़ानेवाले अध्यापक आदि इसी प्रकारकी ईर्ष्या करते हैं। एक क्षेत्रमें काम करनेवाले लोग भी प्रायः इसी प्रकारकी ईर्ष्या करते हैं। जैसे राजनीतिक नेता अपना एक ही कार्यालयमें काम करनेवाले अनेक व्यक्ति जिनकी आर्थिक

या सामाजिक उन्नति परस्पर सघर्षपर ही अवलम्बित हो। तात्पर्य यह है कि ईर्ष्याके लिए समान वृत्ति होनी चाहिए। चाहे वह राजनीतिक हो, सामाजिक हो, पारिवारिक हो, आर्थिक हो या व्यावसायिक हो।

अनुरक्त अभिमानी पुरुष तीन प्रकारके होते हैं। एक तो वे जो अपने सामने किसीको कुछ नही समझते। ये आत्मसर्वश्री लोग प्रायः ऐसे ही लोग होते हैं जिनमें शरीर, धन या सैन्यमा अधिक बल हो। यदि इन्हें कोई दैवीशक्ति तपस्या या दैवप्रसाद द्वारा प्राप्त हो जाय तो इनका अभिमान बहुमुखी हो जाता है और अपनेको शक्तिमान तथा सर्वनिपन्ता समझने लगते हैं। इन्हींमें कुछ ऐसे होते हैं जिन्हें किसी एक ही गुणमा बल होता है। जैसे रूपाका बल, धनका बल, शरीरका बल, जातिबल, लिंगबल, विद्याबल तथा इषी प्रभारका कोई एक बल होता है। इनकी प्रवृत्ति एसी होती है कि ये कभी किसी बातमें न तो दूसरेसे सम्मति लेते हैं न दूसरे की सम्मति मिलनेपर उसका आदर करते हैं। उल्टे सम्मति देनेपर उसका विरोध करते हैं और अपमान करते हैं अपने किसी भी विरोधीको किसी प्रकारसे सतानेमें इन्हें सकोच नहीं होता किन्तु अपने पक्षके लोगोका जमकर समर्थन करते हैं और उनका सन प्रकारसे पोषण करते हैं। ये प्रायः यागविवादी होते हैं और किसी भी प्रकार दूसरेसे परास्त नहीं होना चाहते। ये लोग प्रायः अपने सुखसे अपने परात्मका वर्णन करते हैं और यह चाहते हैं कि दूसरे भी हमारी बातका समर्थन करें। ये लोग दूसरोंसे इधो भी करते हैं। दूसरेही उन्नति देखकर चिड़ते हैं। अपने दोष सदा छिपानेमा प्रयत्न करते हैं और यदि किसी दूसरेको अपने दोष ज्ञात हो गए हों तो उनका विनाश करनेके लिए अथवा साम, दाम, दण्ड, भेद नीतिसे उनका मुह चन्द करने या उनको अपने पक्षमें कानेका प्रयत्न करते हैं। ये बड़े हठी और आनके पक्के होते हैं। प्राण-सङ्ग्रहमें पद जानेपर भी किसीकी अधीनता नहीं स्वीकार करते न किसीके आगे दैन्य दिखाते और न किसीके आगे हाथ फैलाते। प्रायः ऐसे लोग अपनी शक्तिके कारण लोक रुचि तथा लोकमतके विरुद्ध खड़े रहनेमें ही अपना गौरव समझते हैं। ऐसे लोगोका अन्त प्रायः बड़ा

करण होता है और उनका पतन भी सहसा अकस्मात हो जाता है।

दूसरे प्रकारके अनुरक्त अभिमानी हैं। जो अमन्यव्य अपनेको सर्वश्रेष्ठ समझते हैं। जिसके मनमें यह अन्त समा गई है कि ससारमें कोई भी मुझसे अधिक चतुर व बुद्धिमान नहीं है। इन्हें किसीका कोई गुण पूर्यी आँसो नहीं सुरावा। ये अमन्यव्य रहते हैं। दूसरोंका अपमान करते तथा दूसरोंका दोष दिखानेमें ही उनका सन समय जाता रहता है। ये प्रायः लोकद्वारा उपेक्षित होते हैं और इसीलिये ये लोकसे भी रुष्ट रहते हैं। यह किसीसे सन्तुष्ट नहीं रहते और सदा चिन्तित और उदासमुद्रामें रहते हैं। मानो विश्वभरकी सन आपत्तियाँ दूर करनेका भार इन्हींपर था पड़ा हो। प्रौढावस्थामें ये चिड़चिड़े हो जाते हैं और अपने आरुपास रहने-बाले लोगोपर तिहाया करते हैं। दिन रात सन प्रकारके लोमोकी आलोचना करना ही उनका अभ्यास हो जाता है। ऐसे लोग बालकके चिदानेकी अन्धी सामग्री बन जाते हैं। हास्य रसके लिये इनका सुन्दर प्रयोग किया जा सकता है। ऐसे लोग न किसीका हित कर सने हैं न अहित ही।

तीसरे प्रकारके अनुरक्त अभिमानी वे हैं जो केवल आत्मप्रशंसा करते हैं। ये दूसरोंकी प्रशंसा भी सुन लेते हैं और विरोध नहीं करते। किन्तु सदा यह चाहते रहते हैं सन लोग दूसरोंकी प्रशंसाके साथ मेरी भी प्रशंसा करें। शन्य वक्तियोंके साथ, नेताओंके साथ, लेखकोंके साथ, योद्धाओंके साथ, व्यापारियोंके साथ या सुन्दर पुस्तकोंके साथ मेरी भी गिनती हो। यह उनकी इच्छा रहती है और इस इच्छाकी पूर्तिके लिये वे धन भी व्यय कर सकते हैं और परिश्रम भी कर सकते हैं। वास्तवमें ये उस प्रकारके अभिमानी नहीं हैं जैसे द्वितीय श्रेणीके। ये यद्यपि दूसरोंको बुरा नहीं कहते किन्तु अपनेको किसीसे कम भी नहीं मानते। इन्हींमें एक श्रेणी मूर्ख अभिमानियोंकी होती है जो बिना किसी गुणके ही पैसके भरसे सस्ते प्रशंसा पाना चाहते हैं। ऐसे लोगोकी व्याख्या हम अलग करेंगे।

एक चौथे प्रकारके भी अनुरक्त अभिमानी होते हैं। जो अपनी धीरति, अपने यश, अपनी विद्या, अपने कुछ

आदिके विरुद्ध कोई अपमान जनक बात न सुन सकते हैं न सह सकते हैं। ये बड़े उत्प्रेक्ष्य कोटिके अभिमानी हैं। समाज तथा जातिके नेतृत्वके लिए ऐसे लोग अधिक लाभदायक सिद्ध होते हैं। इनमें भी दो प्रकारके होते हैं। एक तो वे जो विना किसी गुणके ही अपने आत्मसम्मानके पीछे पागल रहते हैं। मैं वसिष्ठके वक्ता हूँ मैं रामके वक्ता हूँ हमारे दादा पदलवान ये आदि कहनेवाले लोग हैं। किन्तु वास्तविक आत्मसम्माननी या आत्मभिमानी वे हैं जो मन, वचन और क्रमसे शुद्ध होते हैं। जिनमें चरित्रबल और आत्मबल होता है और जो अपने आत्मभिमानीके कारण बड़ीसे बड़ी शक्तिये भी सत्यका पक्ष लेकर लोहा लेनेमें भय नहीं करते ये लोग निर्भीक सन्चरित्र, लोकप्रिय तथा आत्मत्यागी होते हैं। दूसरेकी विपत्ति दूर करनेके लिए सर्वस्व त्याग करनेको प्रस्तुत रहते हैं। ये लोग प्रायः अपने परिवारसे कम सम्बन्ध रखते हैं और प्रायः ऐसी समस्याओंको लेकर खड़े होते हैं जो सब ओरसे उपेक्षित की जा चुकी हो। वास्तवमें ये धारमाभिमानी प्रवृत्तितः लोकसप्रदी ही होते हैं किन्तु लोकसप्रदीमें जो विनय और मुनीलता होती है उनका इनमें अभाव होता है। ये लोग किसी भी प्रकारके उपचारका विचार किए बिना कुछ भी कह सकते हैं और इसीलिए ये कुछ उद्वेग और झुंझफट होते हैं। ऐसे लोग जहाँ एक ओर समाजका कल्याण करते हैं वहाँ कुछ लोगोंसे टण्डा भी मोल ले लेते हैं। सब प्रकारके नाटकके लिए ऐसे पात्र बहुत उपयुक्त होते हैं।

अनुरक्त क्रोधी भी तीन प्रकारके होते हैं। एक अकारणक्रोधी दूसरे आवेशक्रोधी और तीसरे चिड़चिड़े। अकारण क्रोधी वे होते हैं जो क्रोधके लिये अवसर ढूँढा करते हैं। उनकी प्रकृति ही ऐसी बन जाती है कि वे अपने या पराओंके ऐसे दोषोंकी तालिका बनायें जिनपर क्रोध करनेके अतिरिक्त दूसरा उपाय ही न हो। इस श्रेणीमें वे लोग आते हैं जो अपनी पुस्तक तनिक्सी हटाकर रखनेमें तकिया टेढ़ा कर देनेमें गिलास उलटकर न रखनेमें यहाँ तक कि कोई एक बार पानी पीकर थोड़ी देर बाद पानी मोंगे तो महाभारत छड़ा कर दे सकते हैं मेरी खाट यहाँ क्यों बिछाई मेरी वस्तु क्यों छुई, मेरे प्रकोष्ठमें क्यों धुबे यहाँ तक कि ऐसे भी अकारण

क्रोधी हुए हैं जिन्होंने सामने किसीको मूछ मरोड़ते देखकर उसका शिर उतार लिया। ऐसे अकारण क्रोधी लोग नाटकीय कथा प्रवाहमें बाधा उपरिधत करनेमें बहुत उपयुक्त होते हैं। दुर्वासा ऋषिकी गणना इसी कोटिमें की जाती है।

आवेशक्रोधी वे होते हैं जो अपने किसी इष्ट कार्य या इष्ट वस्तुके प्रति दूसरोंके द्वारा पहुँचाये जानेवाले व्याघातको सहन नहीं कर सकते। यदि किसीने उनकी पुस्तक फाड़ दी तो वे आवेशशून्य क्रोधमें आकर उसकी आश्रयकृतासे अधिक मरम्मत करेंगे। यदि किसीने उनके पुत्रको पीट दिया तो वह भी इनके आवेशशमय क्रोधका भाजन बन सकता है। ऐसे लोग प्रायः कुछ निश्चित वस्तुओं या व्यक्तियोंके प्रति आसक्त रहते हैं और जहाँ उस व्यक्ति या वस्तुको किसीने छेड़ा कि ये आगवधला हुए। ये आवेशक्रोधी जब क्रोधमें आते हैं तो बर्तने लगते हैं मुह लाल हो जाता है चिल्ला-चिल्लाकर बकने लगते हैं। किन्तु ये सब गरजनेवाले होते हैं। केवल गाली दे सकते हैं और चिल्ला सकते हैं। इनके साथ विचित्र बात यह होती है कि यदि इनका कोई प्रतिरोध कर दे तो टण्डे हो जाते हैं। तभी तक सिंह बने रहते हैं जबतक कोई बोलता नहीं है। जहाँ क्रोध बोलता है भागी बिल्ली बनकर धरमें धुस जाते हैं।

चिड़चिड़े स्वभाववाले वे होते हैं। जो सबसे असन्तुष्ट रहते हैं और किसीका कुछ बिगाड़नेकी क्षमता न होनेके कारण मन ही मन कुड़कुड़ाया करते हैं और अपना चिड़चिड़ापन तथा अमन्तोष निरन्तर व्यक्त करते रहते हैं। प्रायः दुर्गल, रोगी और वृद्ध ही चिड़चिड़े होते हैं। किन्तु कभी कभी घर या बाहरके दुष्ट बन्धु भी किसी दुर्गल, विनलाभ, हीनाह या रोगी या वृद्धको चिड़चिड़ा बना सकते हैं। चिड़चिड़ा होना अभ्यासपर अवलम्बित है यदि ऐसे लोगोंकी अनुकूल वातावरण दिया जाय तो इनका चिड़चिड़ापन दूर किया जा सकता है। स्वयं, दादा नाना बड़े बूढ़े बाने लण्डे, मोटे भोजनमद आदि इसी श्रेणीके होते हैं और तनिक सा भी विरोध होनेपर उन्हें चिड़चिड़ा बननेमें देर नहीं लगती।

जो लोग युद्धमें शयुक्ते प्रति या अन्यायीके प्रति क्रोध दिखाते हैं वे सार्विक क्रोधी होते हैं। उनकी गणना लोक समग्रियोंमें होती है। अतः उन्हें क्रोधी-समझनेकी शूल नहीं करनी चाहिये।

अनुरक्तमूढ तीन प्रकारके होते हैं एक तो वे जो सदा भोले-भाले रहते हैं। जिनमें तनिक भी व्यवहार बुझालता नहीं होती। जिन्हें कोई भी भूख बन कर उनसे रूपया पैसा ँटकर अपना काम निकाल सकता है। ये स्वभावतः बड़े मज्जन होते हैं और स्वभावतः किसीका आहित नहीं चाहते हैं। सन्तोष ही इनका धन होता है। जो मिल जाय जितना मिल जाय उसीमें सन्तुष्ट रहते हैं। इनमें जीवनकी कोई भी आकांक्षा नहीं रहती और ये ससारकी घटनाओंसे तनिक भी सम्पर्क नहीं रखते हैं। अपने छोटेसे ससारमें रूपमण्डलके समान अपनेमें ही परिमित रहते हैं। ऐसे लोग प्रायः ससारकी प्रवृत्तनावाँके आखेट बनते हैं और सदा लोकोपेक्षित जीवन व्यतीत करते हैं। दुष्ट और धूर्त लोग ऐसे लोगोंके सीपेगनका अनुचित लाभ उठाते रहते हैं और कभी-कभी उन्हें विपश्चिमें भी टाल देते हैं। अरस्तूके अनुसार 'त्रासद' नाटकके लिये अधिक उपयुक्त होते हैं।

दूसरे अनुरक्तमूढ वे हैं जिन्हें धर्मभीरु कहा जा सकता है। ऐसे लोग अन्धविश्वासी देवी देवताओंकी मनोनी माननेवाले किसीको हानि न पहुँचानेवाले और सच्चे होते हैं। इनके मनमें स्वर्ग और नरकका भय बना रहता है। ये जान, वृक्षकर ऐसा कोई भी काम नहीं करते जो उनकी धार्मिक रुढिके विपरीत हो। ऐसे लोगोंको दौंगी और पाखण्डी लोग निरन्तर उगते रहते हैं और ये जानवृक्षकर भी उनके जेनेमें डुप नहीं मानते। इनका उद्देश्य होता है रगा जाना अच्छा है ठगना अच्छा नहीं। ऐसे लोग दुष्टा प्रवृत्तियों और पाखण्डियोंके हाथमें पड़कर प्रायः कष्ट पाते रहते हैं किन्तु फिर भी उनमें अपनी आत्मा नहीं छोड़ते।

तीसरे प्रकारके अनुरक्त मूढ वे हैं जो बुद्धि हीनताके कारण अथवा मानसिक विकारके कारण लोक निन्दा या लोकापमन सहन करते रहते हैं। ये लोग सदा दूसरोंके छकेत पर काम करते हैं। सबकी झिड़की सहते हैं। आत्मसम्मान इनके पास होता ही नहीं। इतनी

आत्महीनता इनके मनमें समा जाती है कि वे स्वयं धपनेको मूर्ख, निरर्थक और अकुशल समझते रहते हैं। इन्हें जैसा बतल दिया जाय जैसा समझा दिया जाय उसमें भी व्यतिमम कर देते हैं। जैसे किसीको दो पा देकर कहा जाय कि एक राजाको देना वूसरा राजकुमारको देना वह उनको उलटकर राजाका पत्र राजकुमार और राजकुमारका पत्र राजको दे देता है और फलस्वरूप वही निकट समस्थायो उपस्थित हो जाती हैं।

अनुरक्तमूढोंमें एक श्रेणी उन लोगोंकी भी है जिनके विषयमें हम पीछे अभिमानिके प्रकरणमें कह आए हैं। ये प्रायः अपने वैभवेसे सबको प्रभावित करना चाहते हैं और उसके लिये कुछ ऐसे प्रयत्नक चाटुकार तथा विश्वासक लोगोंको आश्रय देते रहते हैं जो इन लोगोंके प्रचारमें निरन्तर योग देते रहते हैं। ऐसे लोग मनमें तो बड़े अभिमानी होते हैं किन्तु उस अभिमानका प्रदर्शन प्रबे दैन्यके साथ करते हैं। जैसे सुन्दर घोड़ा-गाड़ी या मोटर मोल लेकर उसे दूसरोंके उपयोगके लिये सदा देनेकी तैयार रहना और यह कहना कि यह सब आपका ही है। ऐसे लोग वास्तविक मूढ नहीं होते किन्तु मूढताका रूपक करते हैं। ये लोग मनसे लोकसेवाकी भावना न रखते हुए भी केवल अपने ऐश्वर्य प्रदर्शनके लिये या लोकप्रियता सिद्ध करनेके लिये तथा आत्मप्रचारके लिये लोक सेवक बन जाते हैं। समाजके धूर्त और चतुर लोग इनसे बहुत लाभ उठाते हैं और अन्तमें ऐसे लोगोंका भण्डा भी फोड़ देते हैं। ये लोग प्रायः बड़े मिष्टभाषी विनयी सबकी भूषेवाकी तत्पर और उदारताका ढोंग करनेवाले होते हैं। ये किसीकी बातको सुरा नहीं मानते हैं और किसी बातपर अपनी सम्मति नहीं देते। ऐसे ही लोग सबको सन्तुष्ट करनेके फेरमें पड़कर सदा ठहुरसुहाती करते रहते हैं। इनपर किसी प्रकारका विद्वान नहीं किया जा सकता क्योंकि इनका कोई पक्ष नहीं होता। जिसका प्रबल पक्ष समझते हैं उसीका पक्ष ले लेते हैं।

नार्थवीय इन्द्र और इतुहल उतमन करनेके लिये ऐसे व्यक्ति नहुत कामके होते हैं। क्योंकि ऐसे लोगोंके

प्रतिकूल आचरणसे नाटकीय कथामें सुन्दर प्रतिघात और द्रन्द उदमन किए जा सकते हैं।

महत्वाकांशी पुत्र वे होते हैं। जो साधारण मनुष्य-की क्रियाओं या इच्छाओंसे आगे बढ़ना चाहते हैं। ये भी तीन प्रकारके होते हैं। एक तो स्रष्टा महत्वाकांशी, दूसरे कर्ता महत्वाकांशी और तीसरे भोक्ता महत्वाकांशी। स्रष्टा महत्वाकांशी वे हैं। जो ज्ञान-विज्ञानकी नई-नई वस्तुओं या प्रयोगोंका सर्जन करते हैं। दर्शन, ज्योतिष, साहित्य, आयुर्वेद अथवा अन्य किसी शास्त्रमें नया सिद्धान्त निकालना नई रचना करना ही इनका उद्देश्य है। इन्होंने साय-साय वे भी स्रष्टा महत्वाकांशी हैं जो नये अस्त्र-शस्त्र नई औपधि नई-नई प्रयोगशील वस्तुओं का आविष्कार करते हैं। ये स्रष्टा महत्वाकांशी मानव जीवनके सहायक भी होते हैं और विनाशक भी। जो मानव जीवनके लिए खरब साहित्य, स्वास्थ्यकर या हितकर वस्तुओंका आविष्कार करता है वह सहायक स्रष्टा कहलाता है और जो अहितकर साहित्य अथवा विनाशकारी वस्तुओंका आविष्कार करता है वह विनाशक कहा जाता है। इनमें कुछ स्रष्टा तो ऐसे हैं जो जानबूझकर हितकर या अहितकर साहित्य या पदार्थों की सृष्टि करते हैं किन्तु कुछ ऐसे भी होते हैं जो स्वयं अहित नहीं करना चाहते किन्तु प्रयोग करनेवालोंके हाथमें उनका आविष्कार विनाशकर होता है।

कर्ता महत्वाकांशी वे होते हैं जो कोई आचरण या क्रिया करके दिखलाते हैं। लोकहितके लिये पत्नीका परित्याग राज्यका परित्याग शरीरका त्याग अथवा ऐसे स्थानपर पहुँचना जहाँ कोई न पहुँचा हो ऐसी क्रिया करना जो किसीने न की हो। ये सब काम कर्ता महत्वाकांशियोंके होते हैं। दिग्विजयी राजा लोग, दुर्गम पर्वतोंपर चढ़नेवाले साहसी, अकेले बहुतेरे लोगोंसे युद्ध करनेवाले शूर, अपने कौशले सबको परास्त करनेवाले कूटनीतिज्ञ सब इन्हीं श्रेणियोंमें आते हैं।

भोक्ता महत्वाकांशी वे हैं। जो निरन्तर यह चाहते रहते हैं कि सुन्दरतम स्त्री, सुन्दरतम दृश्य, मधुरतम वागी या संगीत परम स्वादिष्ट विविध भोजन, परम तृप्तिकर सुगन्धि द्रव्य, सर्वश्रेष्ठ यत्न, सर्वाधिक भव्य भवन आदि गंधारमें जितना कुछ भोग्य है वह सब मैं

निरन्तर पाता रहूँ और वह उसके लिये निरन्तर प्रयत्न ही करता रहता है।

ये तीनों प्रकारके महत्वाकांशी अतिधारावती होते हैं। अपनी महत्वाकांशा तृप्त करनेके लिये इन्हें बड़ा कष्ट उठाना पड़ता है बड़ी आतनाएँ सहनी पड़ती हैं और फिर भी उनको पूरी सफलता प्रायः नहीं प्राप्त होती। ये भी दो प्रकारके होते हैं। एक तो वे जिन्हें राजकीय वा व्यक्तिगत सहायता प्राप्त हो जाती है। इनकी अज्ञानता भी कम होती है और अशुविचारों भी अपेक्षाकृत कम होती हैं। बहुतसे भोक्ता महत्वाकांशी अपने पैतृक धन या कहीं औरसे प्राप्त किए जानेवाले धनपर आँखें गाढ़कर अपनी महत्वाकांशा तृप्त करनेकी बात सोचते हैं। निरन्तर चाहते रहते हैं कि हमारे बड़े समाप्त हों तो हमें अपने मनकी आकांक्षा तृप्त करनेका अवसर मिले। ये अग्रम कोटिके महत्वाकांशी होते हैं। मध्यम कोटिके वे हैं जो दूसरोंकी सहायतापर अवलम्बित रहते हैं और उत्कृष्ट कोटिके वे होते हैं जो अपने धनपर चुपचाप कष्ट उठाकर परिश्रमके साथ महत्त्व प्राप्त करते हैं।

दुहरे चरित्रके लोग

यों तो प्रायः सब प्रकारके और सब श्रेणियोंके लोग दुहरे चरित्रके होते हैं। अर्थात् उनका घरेलू आचरण कुछ दूसरी प्रकारका होता है बाहरना कुछ दूसरा होता है। यहाँतक कि एक ही व्यक्ति बाहर समाजमें मद्यमानका विरोध करता है स्त्रीके सम्मान करनेकी दुहाई देता है दया और उदारताके गुण बखानता है किन्तु भीतर परम मदिरा पीता है स्त्रीको पीटता है और दूसरोंका धन अपहण करनेना नित्य प्रयत्न करता है। इस प्रकारकी विविधता समाज धर्म और राष्ट्रकी सेवा करनेवाले अधिकांश व्यक्तियोंमें होता है। इसी दृष्टिको अनुभव करते हुए कहा है—

“असली भवति सलज्जा धारं नीरं च शीलं भवति दम्भी भवति चिचेनी प्रियवक्ता भवति धूर्तजनः।”

[कुलशा स्त्री बहुत सज्जा दिखती है। सारापानी बहुत दण्डा होता है। पाण्डवी बहुत ज्ञान साहसिकता है और बहुत चिक्की सुगदी बातें करनेवाला धूर्त होता है।]

इन सब प्रकारके दुहरे आचरणवाले लोग दम्भीकी श्रेणीमें ही आते हैं । किन्तु यह दम्भ दो प्रकार होता है । एक तो हमारे सामाजिक जीवनके लिये अपरिहार्य था हो गया है जिनमें हम अपने इष्ट मित्र वन्धु, बान्धव, शुभजन आदिमें से किसीके प्रति श्रद्धा न रखते हुए भी शिक्षाचारवश, भयवश या परिस्थितिवश श्रद्धा दिखानेको विवश होते हैं । इस प्रकारका दम्भ वास्तविक दम्भ नहीं है वह लोकाचारका भ्रम बनकर शुद्ध बन गया है । इससे निरीकी हानि नहीं होती पर लाभ भी नहीं होता । किन्तु दूसरे प्रकारका दम्भ कुटिलतापनके साथ होता है । उसमें दम्भीकी वृत्ति दूसरेको धोखा देकर ठगकर अपना किसी न किसी प्रकारसे स्वार्थ साधनेकी रहती है । ऐसे व्यक्ति बड़े स्तुतिमान चतुर वाग्मी सदा सहायताको तत्पर सेवा भावसे युक्त दैन्ययुद्धाधारण किए हुए बहुत उपदेश देनेवाले और ज्ञान वपारनेवाले होते हैं । उनकी दृष्टि बड़ी तीक्ष्ण और चञ्चल होती है । वे कभी किसी कामकी नहीं नहीं करते । उन्हींके लिये कहा गया है—

“मनस्यन्वद् वचस्यन्वद् कर्मण्यन्वद् दुहात्मनाम्”

[जो कहते कुछ हैं सोचते कुछ हैं और करते कुछ हैं वे दुहात्मा होने हैं ।]

नाटकीय व्यापारमें प्रतिनायकके सहायक-इस चरित्र वाले रखे जा सकते हैं । वर्तमान सामाजिक नाटकोंमें सज्जन नायकोंकी गतिमें बाधा देनेके लिये ऐसे नायकों कि योजना प्रायः की जाती है । क्योंकि अपने दुहरे चरित्रके कारण ये लोग रहस्यका उद्घाटन होनेतक नाटकीय कथाका झूतहल बनाए रख सकते हैं और सब समाजमें तथा सब वर्गों में इस प्रकार दुहरे आचरणवाले लोग निरन्तर मिलते रहते हैं । इनमें जो अधिक प्रभावशाली होते हैं उन्हें लोग-बहुर कहते हैं और जो साधारण श्रेणीके होते हैं उन्हें लोग धूर्त वाइयों और पाखण्डी कहते हैं । राजनीतिमें जब इस प्रकारके लोग पहुँचते हैं तो उन्हें वृत्तीतिह बह दिया जाता है किन्तु वे सब धूर्त या दम्भी श्रेणीके ही किन्तु सामाजिक पदका ही अन्तर रह जाता है ।

विशिष्ट प्रकृतिक लोग

मानव समाजमें कुछ विशिष्ट प्रकृतिक लोग भी होते हैं इनमें कुछ तो अपने विशिष्ट स्वभावके कारण, व्यवसायके कारण या विशिष्ट परिस्थितिके कारण किसी विशेष प्रकारका आचरण करते हैं । इनमें पहली श्रेणी है विन्ता युक्त या मग्न लोगोंकी । ये लोग सदा सब दशाओंमें प्रसन्न रहते हैं और यद्यपि इनकी मानसिक स्थिति स्थितप्रज्ञवालोंकी ही होती है किन्तु ये विरक्त नहीं होते । जहाँ पड़ रहे वहाँ सो गये जो मिला खा गए जो समझमें आया किया । मान-अपमान राग-द्वेषसे दूर अपने फक्कड़पनमें मग्न रहते हैं । ऐसे लोग परिवारके लिये निकम्मे किन्तु समाजके लिये बड़े उत्साह वर्धक होते हैं । ऐसे लोग अत्यन्त शीघ्र लोकप्रिय हो जाते हैं और प्रायः दूसरोंके सारे ही अपना जीवन निर्वाह करते हैं । ये लोग स्वाभिमानी भी होते हैं और यदि इनके स्वाभिमानको कहीं भी ठेस लगी है तो ये अपने बड़ेसे बड़े द्विष्ट मित्र सहायक सम्बन्धीकी भी अवहेलना कर सकते हैं ।

नाटकीय व्यापारकी दृष्टिसे ऐसे अस्थिर चरित्रवाले लोग अद्भुत रसमें बहुत सहायक होते हैं । इनका रोप और तोप कभी समझा या जाना नहीं जा सकता । ये सब अव्यवस्थित चित्त हैं । जिनके लिये कहा गया है—

“क्षणे रुधः क्षणे दुःखः कष्टतुष्टः क्षणे क्षणे”

“अव्यवस्थितचित्तानां प्रसादोऽपि भयकरः”

[जो लोग क्षण भरमें प्रसन्न होते हैं क्षण भरमें रुठते हैं उन लोगोंकी क्या भी भयकर ही होती है ।]

दूसरे प्रकारके विशिष्ट लोग वे हैं जो व्यवसाय वैशिष्ट्यके कारण विशेष प्रकारका आचरण करते हैं । कवि, कलाकार, वैज्ञानिक और दार्शनिक ये सब इसी श्रेणीके हैं । खाना पीना भूलकर केवल काव्यचिन्तन कलाचिन्तन दर्शन या विज्ञानकी चिन्तनमें सदा भूले रहते हैं । इन सब लोगोंकी वृत्ति एकमुखी हो जाती है । इसलिये अपने विषयके अतिरिक्त शेष सब विषयोंकी धोरसे उदासीन रहते हैं । ये प्रायः भूले हुएसे मंदिरके समान आचरण करते हैं जिससे कब क्या कहा था कौनसी

बहुत कहाँ रकपी थी इसका उन्हें तनिक भी स्मरण नहीं रहता। उनकी सम्पूर्ण मानसिक वृत्तियाँ वास्तविक जगतसे उठकर काल्पनिक जगतमें लीन हो जाती हैं। ये लोग व्यवहारमें भी अच्युते रूपसे उदासीन ठण्डे रहते हैं। बहुत अधिक मिलना-जुलना बात करना तथा आना-जाना इन्हें अच्छा नहीं लगता। पारिवारिक धर्मके निर्वाहमें भी लोग बहुत शिथिल अपेक्ष और उदासीन रहते हैं। समाजको इनसे शारीरिक या व्यक्तिगत कोई लाभ नहीं होता उनकी वृत्ति या विचारोंसे समाज प्रभावित होता उरता है। बहुतसे नाटककारोंने ऐसे चरित्रोंका प्रयोग हास्य या व्यंग्य नाटकोंके लिये किया है किन्तु यह अत्यन्त अनुचित है। गम्भीर प्रासदोंके लिये तथा करुण रसके लिए ऐसे पात्र अधिक उपयुक्त हो सकते हैं। इनमें भी कुछ तो बड़े व्यवहार कुशल होते हैं किन्तु वे सब अनुरक्तलोभी ईर्ष्यालुभिमानी महत्वाकांक्षी या मूढ़ चरित्रोंके अन्तर्गत आ जाते हैं।

एक और भी विशिष्ट प्रकारके लोग होते हैं जो मानसिक पारिवारिक सामाजिक व राजनीतिक परिस्थितिके कारण विशिष्ट प्रकारका स्वभाव बनानेके लिए विवश हो जाते हैं। पागल घरमें उपेक्षित समाजसे वहीष्टृत तथा देशसे निर्वासित व्यक्ति अपनी एकाग्रता और विचरता के कारण अपनी सम्पूर्ण वासनाएँ इच्छाएँ प्रवृत्तियाँ सब कुछ समाप्तकर या त्यागकर ऐसा ऐकान्तिक जीवन व्यतीत करते हैं जिससे मनमें तीव्र आवेग विद्रोह तथा विनाश की भावना बल पकड़ती हैं। उसका मस्तिष्क इस वेगसे चिन्ता-बन्ध बनाता रहता है कि उसके कार्यका कोई निश्चय नहीं रहता वह किसी भी समय कुछ भी कर सकता है। शरीरका उसे मोह नहीं रहता विवेक हल हो जाता है और अन्तः प्रेरणा केवल आवेगके आधीन हो जाती है और इस अवस्थामें वह आत्मविनाशसे लेकर सर्व विनाश तक कोई भी कार्य कर सकता है ऐसे लोग प्रायः ज्ञान्त्व और चिन्तित दिखाई देते हैं। मनकी बात किसीपर प्रकट नहीं करते जीवनके साधारण कार्योंमें अर्थात्स्नान, भोजन, शयन आदिमें भी बड़े अनियमित रहते हैं। सारे समय बरते हैं और उनकी मुद्रा इतनी भयंकर हो जाती है कि उनके पास कोई सरलतासे बात नहीं है। खीसत बौद्ध-छाहट चिद्धिदान और छद्मच्छाहट उनके व्यवहारमें

सदा दिखाई देती। वे सदा उन्मत्त रहने हैं और कभी कभी उनकी दशा विशिष्टता सी हो जाती है। हत्याकारी प्राणदण्ड पाये हुए अपराधी तथा उच्चार्गके दण्ड पाये हुए अपराधी भी प्रायः इसी प्रकृतिके होने हैं। ये स्वतः अपने लिए तथा समाजके लिए बड़े भयानक होते हैं। ये लोग चलने बैठने हाथ चलाते या उगली नचाते रहते हैं। इनकी सब क्रियाएँ सदा चञ्चल और अस्थिर होती हैं किन्तु सहानुभूति मिलनेपर ये लोग अपने मनकी बात प्रकट करनेमें भी संकोच नहीं करते। आज कलके मनो-वैज्ञानिकोंने इस प्रकारके लोगोंके लिए कुछ विशेष प्रकारके यन्त्र और परीक्षणोंका निर्माण किया है और मनोविश्लेषण शास्त्रियोंने उनकी मानसिक चिकित्साका भी आणविकन किया है। इसमें कुछ सफलता भी प्राप्त हुई है।

ऊपर जितने प्रकारकी मानव प्रकृतिका वर्णन हुआ है वे साधारणतः हमारे मानव समाजमें व्यापक रूपसे दिखाई पड़ती हैं किन्तु इनके अनिर्दिष्ट भाँ सैकड़ों प्रकार की प्रकृति वाले पुरुष सम्भाव्य हैं। जिनमें कई प्रकृतिके लोकोक्त समिश्रण है और जो जहाँ जैसी स्थिति देखते हैं वहाँ वैसी प्रकृति बदल लेते हैं जिसमें अच्छे और बुरे दोनों स्वभावोंका ऐसा विचित्र समिश्रण होता है कि उनके बहुतसे कार्योंमें उनकी वास्तविक प्रकृतिसे भिन्न ही प्रकृति दिखाई पड़ती है। एक नाटककारने अपने नाटकमें एक अत्यन्त दुश्चरित्र और दुष्ट व्यक्तिने अपनी कपाका नाटक बनाया है और इस प्रकार घटनाओंका समावेश किया है कि उस व्यक्तिने सब कार्य सज्जनोंके समान किए हैं। वह स्वयं प्रत्येक सरकार्य कर लेनेपर आश्चर्य करता है कि यह शुभ कार्य मैंने कर कैसे लिया और दूसरोंको भी इस बातपर आश्चर्य हुआ कि यह व्यक्ति सत्कार्यको और कैसे प्रवृत्त हुआ। बहुत बार ऐसा देखा जाता है कि जिस व्यक्तिसे किसी विशेष प्रकारके आचरणकी आशा नहीं की जा सकती वह व्यक्ति वैसा आचरणकर देता है कभी तो वह परिस्थितिवश वैसा करता है किन्तु कभी कभी धारणा ही मनकी मौजवर भी और कभी कभी केवल दिलमाड़के लिये अहमकुर्तूहलके लिये यह सरकार्य कर बैठता है। एसोंकी कोई श्रेणी नहीं है और न उनके कोई विशेष चिह्न होने हैं किन्तु नाटककारके लिए ऐसे पात्र बड़े उपयुक्त होते हैं। अनुसरणके लिये ऐसे पात्र

अधिक काममें लाए जा सकते हैं वास्तवमें मनुष्य ऐसा विचित्र प्राणी है कि उसकी झीलका प्रवृत्तिका उसकी रचिवा और प्रवृत्तिका ठीक ठीक भेद पाना बड़ा कठिन है यहाँ तक कि वह स्वयं अपनी प्रवृत्ति ठीक ठीक नहीं पहचान सकता। यहाँ तक कि कभी वह स्वयं अपने विषय में कहने लगता है तो वह आत्मवचनना करता है और अपने विषयकी बहुतसी बातें छिपाए रखता है। साधारणतः सभी मनुष्योंकी यह प्रवृत्ति होती है कि वे अपनी दुर्बलता छिपानेका प्रयत्न करते हैं या प्रकट होजाने पर उसका किसी न किसी प्रकार समर्थन करते हैं। इनमेंसे जो दुर्बल और कायर होते हैं वे अपनी भूल स्वीकारकर लेते हैं और उसके लिये क्षमा माँगते तथा प्रायश्चित्त करते हैं। जो बलवान् शक्तिशाली तथा निर्भय होते हैं वे अपनी बातपर अड़े रहते हैं और अपनी दुर्बलता तथा कायरता स्वीकार नहीं करते।

अतः नाटकमें पात्रोंकी योजना करने वाले नाटककार को अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टिके साथ अपने चारों ओर विचरने वाले पुरुषोंके बचनों और आचरणोंका मूली प्रकार निरीक्षण और परीक्षण करते रहना चाहिए और उसके अनुसार अपने पात्र और पात्रोंकी प्रकृति निर्धारित करनी चाहिए।

तरुणावस्थाके पश्चात् जो अति तरुणावस्था आती है उनमें जो अविवाहित होते हैं वे तो तरुणवत् ही आचरण करते हैं किन्तु जो गृहस्थ होते हैं वे प्रायः अपनी पारिवारिक चिन्तामें ही मग्न होते हैं। स्त्री या सन्ततिका अस्तित्व होना गृहस्थीके व्ययभारकी चिन्ता बच्चोंके विवाहकी चिन्ता तथा इस प्रकारकी अनेक मानसिक चिन्ताओंसे व्याप्त रहता है। किन्तु जिनके माता पिता जीवित रहते हैं वे कुछ चिन्ता मुक्त और मस्त रहते हैं किन्तु दो प्रवृत्तियों विशेष रूपसे बलवती होती हैं एक तो धन उपार्जन करनेकी। दूसरी यश उपार्जन करनेकी। इनमें से धनोपार्जनकी वृत्तिके कारण अनेक प्रकारके धन्योपार्जनक, यत्न करता है और जिनसे द्रव्य पानेकी आशा होती है उनकी अधिक चाटु प्रती प्रशंसा या हित कामना करता है। यशकी कामनाके लिए वह सभा समितियोंसे अधिक सम्बन्ध स्थापित करता है और दिखावटी रूपमें दो यथासम्भव लाकड़केका स्वाग रचता है।

इन्हींमें कुछ ऐसे मनस्वी होते हैं। जो अत्यन्त सचाई और निष्कण्टाके साथ धनोपार्जन करते हैं किसीकी भी चाटु कारिता नहीं करते और किसीकी निष्करण प्रशंसा नहीं करते और स्वभाविक यश अर्जित करते हैं। दूसरोंके कहने या प्रशंसा करनेसे प्रसन्न नहीं होते और निन्दाकी चिन्ता नहीं करते। ये लोग स्वतन्त्र रूपसे अपनी याग्यता और समर्थताके सहारे व्यवसाय या लाभकारके क्षेत्रमें निरन्तर बढ़ते रहते हैं। इसी अवस्थामें महत्वाकांक्षा भी बढ़ने लगती है और लियेके पास जितने अधिक साधन होते हैं वह उन सबका प्रयोग इस महत्वाकांक्षाकी वृत्तिके लिये करता है। राजकीय पद पानेके लिये कुवाँ धर्मशाला विद्यालय आदि स्थापित करनेके लिए अथवा अन्य किसी लोकोपकारी सध्यामें सहयोग देने के लिये इसी अवस्थामें अधिक प्रेरणा मिलती है। जो तरुण अवस्थामें उद्विग्न होते हैं उनकी उद्विग्नता भी इस अवस्थामें कम हो जाती है और जो कुटिल ईर्ष्यालु अभिमानी विषयी और क्रोधी होते हैं उनमें भी कुछ सुधार होने लगता है और वे अधिक समन्वयवादी बन जाते हैं। इनके अतिरिक्त जो मस्त विरक्त ढोंगी दुःसाहसी होते हैं उनकी ये प्रवृत्तियाँ और अधिक बढ़ जाती हैं। नाटककारको पश्चात्ताप प्रायश्चित्त और कर्णोंके सम्मुख अपने उदाहरण देकर शिक्षा देनेवाले पात्रोंके लिये तथा कर्ण, भयानक, रोद्र, वीर और अद्भुत रसोंके लिये इन पात्रोंका प्रयोग किया जा सकता है। क्योंकि इनकी सम्पूर्ण मानवीय भावनाएँ एक चुकती हैं और किसी भी रसका स्थिर निर्वाह करसकते हैं जो वीर होगा वह अद्भुत वीरता दिला सकेगा। जो कर्णशील होगा वह अधिक कर्णका आलम्बन बन सकता है। जो सदा कायर व भीस रहा है वह भयानकका आलम्बन बन सकता है और जिसने सदा साहसके अद्भुतकार्य किए हैं वह अद्भुतत्वका दिव्य पोषण कर सकता है और जो सदा अपनी कुटिल मौहूर्तिसे सदा सबको तर्जना देता आया है वह रोद्रमें बड़ी सरलतासे खराया जा सकता है।

प्रौढ अवस्थामें वृत्तियों शिथिल होने लगती है पुराने वृत्तियोंपर पश्चात्तापसे भावना जागने लगती है धर्ममें तथा सन्त समागममें बंधे बढने लगते हैं नवीन समाज से चिढ़ उठने होने लगती है और प्रौढ व्यक्ति निरन्तर

सबको उपदेश देता ही रहता है और अपने आदेशकी पुष्टि अपने जीवनके उदाहरणोंसे करने लगता है। नवीन समाजसे उसकी विरक्ति होने लगती है और वह खोखला अधिक है और बात बातमें घर छोड़कर चले जानेकी धमकी देता है। अपमान और अनाशाकारितको वह असह्य समझता है और त्रिष सभारकी उसने सृष्टिकी है उसीमें वह अपनेको अनुपयुक्त और धनावश्यक समझने लगता है। नाटककारके लिये ऐसे पात्र भी बड़े कामके होते हैं। इनका प्रयोग नवीन और प्राचीनका वैपश्य दिखानेके लिये रुढ़ि और सुधारका द्रष्ट प्रदर्शित करनेके लिये मली प्रकार किया जा सकता है।

अतिप्रौढ़ पुरुषमें भी धार्मिक प्रवृत्ति अधिक बढ़ने लगती है। युवकोंके आचरणपर उसका धनावश्यक वाक्षेप होने लगता है और वह अपने समयवर्षोंसे प्रीति बढ़ाने लगता है। इनका स्वभाव या तो चिड़चिड़ा हो जाता है या ये विरक्त हो जाते हैं चिड़चिड़े पात्रोंके प्रयोग नाटककारोंने हास्य रसमें और विरक्तोंका कथन रसमें किया है। कर्मीकामी केवल उत्साह प्रदर्शनके लिये इन अतिप्रौढ़ोंमें भी वीरताकी भावना भरी है किन्तु वहाँ उनकी वीरता केवल बालोंतक ही रहती है इसलिए वह भावभाव बनकर रह जाता है रस तक नहीं पहुँचता। राजपूत इतिहासपर नाटक लिखनेवाले नाटककारोंने उत्साहपूर्ण प्रेरणा देनेके लिये ऐसे पात्रोंकी कल्पनाकी है।

बृद्ध अवस्थावाले लोग अत्यन्त वात्सल्यपूर्ण और उपदेशद होते हैं अपने वचनन और यौवनकी कथा सुनानेको अत्यन्त व्यग्र रहते हैं उनकी प्रवृत्ति बहुत धार्मिक हो जाती है। ये नाटककारके बहुत कामके नहीं होते। यद्यपि इस अवस्थाके राजा महापुरुष या किसी सुशील व्यक्तिको किसी संकटमें डालकर और उनकी बुद्धि विगाड़कर कथन रसके परिपाकमें उनका सुन्दर प्रयोग किया है क्योंकि ऐसीके प्रति हमारी सहायभूति अधिक प्रबल होकर प्रवाहित होती है।

इसके पश्चात् अन्तिम अतिबृद्ध अवस्था वह है जिसके लिये कहा गया है—

“अगं गलितं पलितं मुण्डं दशनविहीनं जातं धूमम्”

किन्तु इसके आगे जो कहा गया है—‘तदपि न मुञ्चन्त्याशा पिण्डम्’ यह बात नहीं है इस अतिबृद्धावस्थामें बृद्धोंको एक मात्र अभिलाषा रहती है कि अब भगवान उठा लेता तो अच्छा है जिन्होंने जीवनमें सुख देखा उनकी भी यही अभिलाषा रहती है और जिन्होंने दुःख देखा उनकी तो यह अभिलाषा तीव्रतर हो जाती है। इस दूसरे प्रकारके ही अतिबृद्धोंका प्रयोग नाटककार अपने उन नाटकोंमें करते आए हैं जहाँ दुष्ट अतृप्त पापी और दुरात्मा पुत्र पौत्र अपने अतिबृद्ध पिता या पितामहको यातना देते हैं और उनका अपमान करते हैं। कथनरसके लिये ये बहुत अच्छे आलम्बन होते हैं और इनके साथ पुरुषोंकी प्रवृत्तिका वर्णन समान हो जाता है।

स्त्रियोंकी प्रकृति

सदा समाजमें गृहणी करनेके कारण अथवा बहुवधु देशोंमें उपेक्षित रहनेके कारण स्त्रियोंकी प्रकृतिमें उतने अधिक प्रकार प्राप्त नहीं होते जितने पुरुषोंके चरित्रमें होते हैं। स्त्रियाँ प्रायः चार प्रकारकी होती हैं। सुशीला, कर्तव्या, प्रमत्ता और दुहरे स्वभाववाली। ये भेद भी युवतियों और प्रौढ़ाओंके ही होते हैं अन्य सब अवस्थाओंमें उनकी वृत्ति अलग-अलग होती है और वह प्रायः पुरुषोंके ही समान वृत्तिकी चलती है। रसमञ्जरी वालोंने अवस्थाके अनुसार चार प्रकारकी स्त्रियाँ मानी हैं—

“आपोडशाद्भवेद्बाला तरुणी विद्यमता पञ्चपञ्चाशत् यावत् प्रौढा वृद्धा ततः पम् ॥

[सोलह वर्षतक कन्या बाला कहलाती है तीस तक तरुणी कहलाती है पचनन वर्ष तक प्रौढा और उसके बाद वृद्धा कहलाती है]

किन्तु यदि बचके अनुसार छोटे-छोटे परिमाण बने तो स्त्रियोंके निम्नलिखित भेद हो सकते हैं। शिशु-बाला, कुमारी, किशोरी, युवती, प्रौढ़ा और वृद्धा।

शिशु अवस्थामें बालिकाको अपनी कुछ भी प्रेरणा नहीं होती साधारण शिशुके समान भूत माता-पितासे स्नेह रंगीन पदार्थ और वाक्यके लिये उत्तुक्ता और अपरिचितवसे सद्बोध, यथ इतने ही भान दिखाने पड़ते हैं।

यह अवस्था तीन वर्ष तक की है। इसमें कुछ कुछ अनुकरण वृत्ति आने लगती है किसीके सिखानेके अनुसार बोलना हँसना, नाचना नृत्य आदि इस अवस्थामें दिखाई पड़ जाता है। किन्तु प्रायः बच्चे ऐसे होते हैं जो माता पिता द्वारा उपेक्षित रहते हैं। क्योंकि घरमें अधिकार माता पिता दरिद्र और अपने अपने व्यवसाय में लान रहते हैं उनके शिक्षण शान्त, सुख और मूँग रहते हैं। शिक्षणकी साधारण चपलताका भी उनमें अभाव रहता है। किन्तु जहाँ माता पिता की ओरसे तनिक भी स्नेह और लालन पालन बालकको प्राप्त होता है तो उसके अगामें चपलता आ जाती है और यह चपलता बालककी अपेक्षा बालिकाओंमें अधिक होती है।

शिशु अवस्थाके पश्चात् दूसरी अवस्था है बालिकाकी जिसमें वह गुदिया खेलने लगता है उनको शरीरमें बड़ी स्फूर्ति बड़ी चपलता आ जाती है और वह सुन्दर श्रम करने लगता है अर्थात् पूछ पची वस्त्र आभूषण इत्यादिसे अधिक स्नेह करने लगती है। घरके कामोंमें उसका मन लगता है और उसे साथ खेलनेके लिए सहिष्णुकी आवश्यकता पड़ जाती है। जिससे वह हँसती बालती है और जिससे वह झगड़ा भी कर लेती है और मानमनौबल भी कर लेती है। इसी अवस्थामें कन्याओंकी जीभ चगेरी हा जाती है भेले तमासेसे अधिक स्नेह बढता है विशाह वरात देखनेकी इच्छा बढती है ये उसके खेलने खानेके दिन होते हैं इस अवस्थामें भोलापन अधिक होता है और उस भोलेपनके साथमें मेरा वी भावना भी प्रबल होने लगती है। मेरे पिता ऐसे हैं मेरा घर ऐसा है मेरे पास इतने वस्त्र या आभूषण हैं ऐसे आत्म प्रदर्शनके भाव जाग्रत होने लगते हैं यह अभिमान नहीं हाता किन्तु दूसरेके आगे अपनेको छोटा न दिखानेकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है नाटककार इस अवस्था तककी बालिकाओंको अपने नाटकोंमें नहीं लाते और यदि लाते भी हैं तो निचित्र विनोद अथवा विपत्ति उत्पन्न करनेके लिये ही लाते हैं। जैसे कोई व्यक्ति घरमें बैठा हुआ किसी आगन्तुक से नहीं मिलना चाहता है और कहता देता है जाकर कह दा धावूजी घरमें नहीं है तो वह बाहर जाकर कह देती है "कि बावूजीने कहलया है कि वह घरमें नहीं है" रूसी नाटककारोंने प्रायः राजनैतिक पद्यन्यायिक मण्डाफोडूम बालिकाओंके भोलेपनका

प्रयोग किया। जैसे एक कन्या गुप्तचरोंके पूछने पर मोलेपन के साथ कह दिया। 'पिताजोको कोई नहीं पकड़ सकता वे अम्मासे कह रहे थे कि मैं' कल पीछोबाद चला जाऊँगा वहा मुझे कोई नहीं पा सकता' इसी संकेत पर वह व्यक्ति पकड़ा गया। हमारे यहा के नाटककारोंमें इतनी छोटी अवस्थाके पात्रोंके प्रयोगके सुन्दर उदाहरणोंमें कालिदास द्वारा अभित भरतवाला दृश्य है। जहा वह सिद्ध शावकके मुँह खालकर कहता है कि मुखविगमस्य यादवके दन्तान् गणविन्याम'।

इस प्रकारके पात्रोंके लिए अभिनेता हूदने और उन्हें शिक्षित करनेमें बड़ी कठिनाई होती है। शिशुओं का प्रयोग तो कभी कभी नाटकोंमें कर लिया जा सकता है क्योंकि वहाँ तो उनके प्रदर्शन भरका महत्व है किन्तु इस अवस्थाके बालकोंके अभिनयकी भी अपेक्षा होती है योरोपमें कुछ ऐसे उच्च अभिनेता प्रसिद्धि अवश्य प्राप्त कर चुके हैं हमारे देशमें भी रंगरीठ और चलचित्रोंमें भी अच्छा काम करनेवाले कुछ अभिनेता हैं किन्तु उनकी सख्या अल्पत अल्प है। यद्यपि बहुतेसे बच्चोंके विद्यालयोंमें बच्चोंके द्वारा नाटक कराए जाते हैं किन्तु उनमें अभि यकी भावना होनेसे संसदा नहीं आता श्वत, जहाँतक सम्मान है नाटककारोंकी तीसरे भाठ वर्षतक की पालिकाओंका पात्र नहीं बनाना चाहिए किन्तु यदि विनाद और बच्चोंके खेलसे सम्बन्ध रखनेवाले दृश्य दिखाने हो तो उनकी योजना हो सकती है। कभीकभी बालकोंकी स्वाभाविक प्रवृत्तिके अनुसार गम्भीर कथन दृश्योंमें भी एनी व लिखकोंकी योजनाएँ हो सकती हैं जैसी अभिनय भरतने अपने "बसन्त" नाटकमें किया है।

आठसे बारहवर्षकी अवस्थाकी कन्या कुमारी कहल्यती है इस अवस्थामें चंचलता और शृङ्गारप्रियता बढने लगती है और उसके हृदयमें अपने समानवयके सुन्दर अथवा सुखी बालकोंके प्रति मानसिक आकर्षक भी होने लगता है जिसमें वासना तो नहीं हाती किन्तु व्यग्रता अवश्य होती है और यह आकर्षण कितना एकके प्रति न हाकर अनेकके प्रति होता है। इसी अवस्थासे स्त्रियोंके हृदयमें अपने मनकी बात छिपानेका रोग हो जाता है और दूसरेकी बात सुनकर तत्काल दूतरसे कह सुनानेकी उत्कण्ठा भी उत्पन्न हो जाती है। यह अपनी स्त्रियोंसे

गाढ़ स्नेह स्थापित करने लग जाती है और सबके आचरणके विषयमें बहुत ध्यानसे सुनने और समझने लगती है।

इसके पश्चात् तेरहवें वर्षमें पैर रखते-रखते किशोरावस्था आ जाती है और यह किशोरी कुछ अधिक चञ्चल हो जाती है मले तमासेमें रुचि बढ़ जाती है एकान्त प्रिय हो जाती है और इसी अवस्थामें प्रायः मनकी वृत्ति किसी एककी ओर आकृष्ट होने लगती है हमारे देशमें जो इस अवस्थामें विवाहका विधान है यह इसीलिए अनुकूल है कि एक जोर वृत्ति लग जानेसे उसके पतित होनेकी अशका कम रह जाती है। किशोर अवस्थाकी कन्या अधिक हँसमुख, प्रगल्भ, क्रियाशील और स्नेहपूर्ण व्यवहार करने लगती है और अपने आचरणसे दूसरोंको आकृष्ट करनेका प्रयत्न करती रहती है और इसके तीन वर्ष पश्चात् हम अर्थात् पन्द्रह वर्षकी अवस्थामें ही वह युवती हो जाती है और यह अवस्था तीस वर्षतक चलती है। इस अवस्थावाली स्त्रियाँ अत्यन्त शृङ्गारप्रिय, विठासिनी, मतिनी, अपने सौभाग्यपर इतरानेवाली, दूसरेके सौभाग्यसे ईर्ष्या करनेवाली, साहसी और वाक्चतुरही जाती हैं। उनकी वृत्ति यही होती है कि यदि अपने पास धन न हो तो अपने पतिके गुणके कारण अपनेको बढ़ा हुआ समझती हैं यहाँ तक की कभी कभी अपने रूपतकका हर्ष गर्व होता है। असत्य बोलनेमें अपने मनकी बात छिपानेमें, दूसरेके ध्वगुणमें तिलको तड़ बनावेमें इन्हें बड़ा आनन्द मिलता है। इसी अवस्थामें अलङ्कार प्रियता या शृंगार प्रियता बढ़ जाती है दूसरेका पक्ष या आभूषण देखकर वैसा ही पक्ष या आभूषण धारण करनेकी इच्छा होती है और न मिलनेपर रुटना रोना पीटना अनशन आदि सब उपाय करने लगती है। अपने समुदायमें आपने पीयरका और पीयरमें अपने स्वसुपालका अपमान नहीं सहन कर सकती अपने रूप यौवन और वषके विषय वे कुछ नहीं सुनना चाहती। किसीके मुँहसे अपने बर्षोंकी बुराई सुनकर वे आग बबूला हो जाती हैं और अपने निर्गुण तथा अनुन्दर बर्षोंकी भी अतिवर्णना और बृहत्तिते कम नहीं समझती।

कुल सक्कार और परिस्थितियोंके कारण इस अवस्था में स्त्रियों चार प्रकारकी हो जाती हैं। सुशीला कर्कशा, प्रमत्ता और दुहरे चरित्र वाली। जिसका संकेत हम ऊपर दे चुके हैं। सुशीला युवती पतिभक्ता, गोली, सबका हित और सबकी सेवा करनेवाली रहस्यीका सम्भाल करने वाली शान्त और सुशील होती है यह कभी लड़ाई नहीं मोल लेती और यदि लड़ाई भी होने लगे तो मौन रहती। सुशील स्त्री सब प्रकारका अपमान कष्ट और अनुविधा सहकर भी दूतरीके मुखका चिन्तन करती रहती है। वह न तौ किसीपर दोषारोपण करती है न किसीकी निन्दा करती है और ऐसा प्रसङ्ग छिड़ जानेपर या तो प्रसङ्ग बदल देती है या उठकर चली जाती है यह सदा अपने सब सम्बन्धियोंका कुशल मनाती है और उनके लिये सब प्रकारकी दैवी और मानवी साधना करती है किन्तु परिवारमें ऐसी स्त्रियोंको ही विशेष कष्ट भोगना पड़ता है और वे अपने सम्बन्धियोंके कुचक्रका आवेष्ट बनकर अत्यन्त दयनीय जीवन व्यतीत करती हैं किन्तु ऐसी ही स्त्रियाँ यदि सौभाग्यवती हों तो उनके पुत्र पौत्र आदि उनका सम्मान भी करने हैं। प्रायः नाटककारोंके लिये ऐसी स्त्रियाँ निकम्मी होती हैं। जिसके जीवनमें सघर्ष न हो मावोंका जमघट न हो आवेष्ट, आवेग और उद्वेग न हो प्रतीक्षा, आधा और विराधा के झोंकेंमें जिसका जीवन श्लथ न हो सफलता और असफलताके श्लेषर चटी हुई जो जीवनकी पैंगे न भरती हो अल्लास और विषादकी धूपछाँह जिसे स्वर्ग न करती हो उसे नाटककार भी दर्श नहीं करते। प्रायः ऐसी सुशीला स्त्रियोंको सामाजिक दुरुस्तीतिके चक्रमें डालकर कष्ट रसका आछमन बनाया है और उनकी सरलता तथा सीधेनको दुर्बलता मानकर और विषम परिस्थितियों उलझ करके उन्हें सुपथसे कुपथकी ओर जानेको विषय किया है इस दृष्टिसे ये सुशील नारियाँ दो प्रकारकी हो गईं। एक तो वे जिन्होंने प्रायः सफट आने पर भी तथा प्रबल अत्याचार होनेपर भी अपने सर्तार को नहीं छोड़ा अपनी आनर बची रहीं। ऐसी नारियाँ सभी आदर्शवादी नाटककारोंकी श्रद्धा भाजन बनी रहीं किन्तु एक दूसरे प्रकारकी भी नारियाँ, हुई हैं जिन्होंने यथा शक्ति अपने चरित्र तथा संवेत्तरी रक्षा की किन्तु

अपने पति, सन्तति आदिकी रक्षाके बदले अनिच्छासे सतीत्व दे डाल। परिस्थितियाँ ऐसी स्त्रियोंके लिये कभी कभी इतनी प्रबल ही जाती हैं कि उनके लिये दूसरा मार्ग नहीं रहता। एक नाटकमें ऐसी ही एक परिस्थिति है जहाँ एक अत्यन्त सुशील महिला अपने पुत्रके साथ बन्दी बन ली गई है बन्दी करनेवाला कहता है—

“यदि तुम मुझसे विवाह नहीं करोगी तो मैं तुम्हारे प्राण ले लूँगा और तुम्हारे पुत्रके भी। वह अत्यन्त दृढ़ होकर विरोध करती है और अपने प्रतपर डगी रहती है किन्तु जब उसके सामने दो बधिक उसके पुत्रको लाते हैं और तब लोहसे उसका शरीर दागना प्रारम्भ करते हैं और वह पीनासे व्याकुल होकर छटपटाकर चिल्लाता है तब उसकी माँ साहस छोड़ देती है और वह उठती है “छोड़ दो इसे मैं तुमसे विवाह कर लूँगी” ऐसी स्त्रियाँ भी सुशीला ही होती हैं किन्तु उनके साथ सदाव्यभिचारी ही होती है श्रद्धा नहीं होती। नाटककार ऐसी स्त्रियोंको प्रायः अपनी पात्र योजनामें विशेष स्थान देते हैं और वे ऐसी स्त्रियोंको कष्ट दिलाकर और दुर्बलता का परिचय दिलाकर किसी प्रकारसे उनके सतीत्वकी रक्षा करनेके लिये कुछ घटनाओंकी योजना करते हैं। इसी प्रकारकी स्त्रियोंमें वे भी हैं जो अनाय हो जानेके कारण किसी एककी उदारता या सज्जनतासे प्रभावित होकर उसकी हो जाती हैं ये सब स्वभावसे सुशील होती हैं केवल परिस्थिति उनके विरुद्ध होती है।

कर्कशा स्त्रियों वे हैं जिन्हें लड़ाई-झगड़ा करनेमें रस मिलता है। ये अत्यन्त असहनशील होती हैं इनकी क्षणिकपर कोई खयम नहीं होता किसीको कुछ भी कह देनेमें इन्हें सकोच नहीं होता ये समझती है कि सारा ससार उनकी भाग्यपर इर्ष्या करता है। अपनी बस्तु छू जानेपर अपने पतिको कुछ कह दिये जानेपर अपने पुत्रका व्यपमान हो जानेपर ये स्वयं मोर्चा लेने चल देती हैं। ये बड़ी छिद्रान्वेषिणी होती हैं और निरन्तर सब परिवारोंके दोष ढूँढनेकी उषेडबुनमें लगी रहती हैं। दूसरेका उत्कर्ष या सौभाग्य ये सहन नहीं कर सकती किन्तु दूसरेका अपकर्ष देखकर अत्यन्त हर्षित होती हैं इनकी कलहप्रियता घर और बाहर दोनों स्थानोंपर दिखाई पड़ती है। छोटी-छोटी बातोंपर ये बड़बुद्धती

रहती हैं—“कोई हमारी मुच नहीं लेता, हम घर भरके लिये प्राण देती हैं, हम क्या कोई नौकरानी है खानेके लिये सब हैं काम करनेके लिये कोई नहीं, हम न रहेंगे तो देखें कैसे किसीको भोजन मिलेगा” आदि-आदि निरर्थक बातें बकती रहती हैं। अपने पति पुत्र पुत्री साथ, ननद, जेठानी, देवरानी, पड़ोसी, पड़ोसिन सबसे दिन रात झगड़ती रहती हैं। ये प्रायः आचरणकी अच्छी होती है क्योंकि जिसमें आचरणका दोष रहता है वह सदा दूसरोंके धामे मुह खोलनेमें लज्जाता है किन्तु इनमेंसे जो कुलटा हो जाती हैं वे पूर्णतः निर्लज्ज हो जाती हैं और जब कोई उन्हें दौकता है तो कह देती है—“तो तुम्हें क्या ? मैं करती हूँ मेरा मन, तुम्हें अच्छा लगे तू भी कर।” प्रायः नाटककारोंने ऐसी कर्कशा स्त्रियोंको हास्य रसके लिये ही चुना है। यद्यपि इनमेंसे सच्चरित्रा कर्कशा स्त्रियाँ रौद्र रसके लिये भी अधिक उपयुक्त हो सकती हैं। इन्हीं कर्कशा स्त्रियोंमें जो स्त्री अधिक इर्ष्यालु हो जाती है और जिसमें अधिक महत्वा-कांक्षा तथा आत्मसम्मानकी भयना बढ जाती है। वह अपने प्रतिपक्षी या विरोधीकी हत्या करनेमें भी नहीं चूकती और प्रतिपक्षीके अधिक प्रबल होनेपर तथा बदला न ले सक्नेपर वह आत्महत्या भी कर सकती हैं ऐसी स्त्री कुल और समाज दोनोंके लिये भयकर होती है पुरुष नाटककारोंने प्रायः अपने सभी त्रासदोंमें इसी प्रकारकी डाइन स्त्रियोंकी योजनाकी है। शोकसपीयरकी “लेडी मैकब्यथे इसी” प्रकारकी है। क्योंकि ऐसी स्त्रियोंमें जब विरोध भावना जगती है तो वे स्वयं इतनी भयकर हो जाती हैं कि अपनेसे सम्बद्ध लोगोंसे भी बड़ेसे बड़ा पाप कर सकती हैं। जापानी और चीनी नाटककार भारतवासियोंके समान ही नाटकमें ऐसी स्त्रियोंकी योजना करनेके विरोधी हैं। उनका समाज भी ऐसा है कि स्त्रीको इस सीमातक पहुँचनेकी न तो सामाजिक सुविधा है और न तो संस्कार ही है।

तीसरे प्रकारकी युवती प्रमत्ता होती है। धनी पिता या पति राजपदपर प्रतिष्ठित पिता या पतिवाली स्त्रियों प्रायः प्रमत्त होती हैं। इनके अतिरिक्त किसी विशेष रूप गुणवाली स्त्रियों भी प्रमत्त हो जाती हैं। उनकी प्रमत्तताका आधार अपने पिता या पतिके धन पद या

सलका होता है अथवा अपने रूप और गुणका। इन प्रमत्तचर्चोंका सबसे प्रधान लक्षण यह होता है कि दूसरोंका अपमान करनेमें, नीचा दिखानेमें और अपने वैभवका आतंक बमानेमें इन्हें बड़ा रस मिलता है। ये अत्यन्त विलासिनी हैं। अपने वैभवका प्रदर्शन करनेके लिये ये निरन्तर अपने सम्बन्धियों या सगिनियोंको बुलाती रहती हैं, उत्सव करती रहती हैं और दूसरोंके यहाँ भी बड़ी तड़क-भड़कके साथ आती-जाती हैं। अपनी प्रशंसा सुनकर प्रसन्न होती हैं, उनकी किसी वस्तुकी यदि तुलना कर दी जाय तो वे रुष्ट हो जाती हैं। दूसरोंका अपमान और निन्दा सुनकर इन्हें मन ही मन बड़ी प्रसन्नता होती है। इस अभिमानके साथ ऐसा मिथ्या आत्मगौरव भी लगा रहता है जिसमें यह वृत्ति होती है कि हम किसीके आगे हाथ न फैलाएँ, किसीकी सहायता न लें, किसीकी सेवा न करें और यह मिथ्या आत्माभिमान आत्म-प्रयत्ननाकी उस सीमातक पहुँच जाता है कि जहाँ उनके वैभवमें किसी प्रकार कमी पड़ी कि उन्हें अपना प्राण देनेके अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग नहीं रह जाता। नाटककारोंने ऐसी प्रमत्ता किर्योंकी योजना प्रायः उन नाटकोंके लिये की है जिसमें उन्होंने अभिमानका पतन दिखाया है।

इन तीनोंके अतिरिक्त अधिकांश सभी किर्यों दुहरे चरित्रवाली होती हैं। एक सक्ति जो कही गई है—

“स्त्रियश्चरित्रं पुरुषस्य भाग्यं

देवो न जानाति कुतो मनुष्यः।”

[स्त्रीका चरित्र और पुरुषका भाग्य देव भी नहीं जान सकता है फिर मनुष्य कैसे पहचाने।]

अधिकारा किर्यों गूढ़ोद्भूत होती हैं। अर्थात् उनका स्वभाव पहचानना बड़ा कठिन होता है वे जो कहती हैं उसकी सत्यतामें सन्देह ही विश्वास नहीं किया जा सकता। इसीलिये चागकयने कहा है—

“विश्वासे नैव कर्तव्यः स्त्रीषु राजकुलेषु च।”

[किर्यों तथा राजपुरुषोंका कभी विश्वास नहीं करना चाहिए।]

प्रायः किर्यों जितना बाहर आचरण दिखलाती हैं वह उनके मानसिक निर्गमका फल नहीं होता। वे अपने आचरणमें सदा सब कुछ टिपानेकी चेष्टा करती

हैं और मन ही मन ऐसे सकल्प-विकल्प करती रहती हैं कि उनका ठीक-ठीक परिजान करना सम्भव नहीं रहता। पुरुषोंमें ऐसे बहुत कम होते हैं जो आकार-गुण हों, किन्तु किर्योंमें प्रायः उन्हींकी सख्या अधिक मिलेगी जो निरन्तर अपने मनकी बात छिपानेका प्रयत्न करती रहती हैं। किन्तु इसीके साथ-साथ उनमें यह भी प्रवृत्ति होती है कि वे दूसरोंकी बात अपने मनमें नहीं रखतीं। चाहे सुधिछिपाने कुन्तीको शान दिया हो या न दिया हो किन्तु स्त्रीकी प्रकृति ही ऐसी होती है कि वह सुनी हुई बात पचा नहीं सकती। नाटककारकी दृष्टिसे ऐसी दुहरे चरित्रवाली किर्यों बड़ी उपयोगी होती हैं। क्योंकि नाटकीय कुतूहल उत्पन्न करनेके लिये ऐसे पात्रोंसे बड़ी सहायता मिलती है।

मौदा किर्यों तीसरे चालीसनी अवस्थाकी होती हैं। इनमें केवल तीन गुण रहते हैं। एक तो ये बड़ी ईर्ष्यालु हो जाती हैं, सुवर्तियोंका साज शृङ्गार देखकर इन्हें बड़ी घीस होती है। दूसरे ये निरन्तर दूसरोंका दोष ढूँढ़नेमें लगी रहती हैं और तीसरे अपने बच्चोंके प्रति इनकी ममता अधिक बढ़ जाती है और दूसरोंके बच्चोंसे डाह करने लग जाती हैं।

इसके अनन्तर स्त्रीकेवल वृद्धा रह जाती है। वह पूजा-पाठ अधिक करती है या अधिक धार्मिक और ईश्वर-भीरु हो जाती है, और धीरे धीरे उसका बालव्य स्नेह अपने परिवारसे बढ़कर फैलने लगता है। वह अपनी समयासकाओंसे अधिक मेल जोल रखती है और उसकी गोष्टीमें बैठकर या तो अपने पुराने जीवनकी बातें करती है, या जीवनसे निराशा प्रकट करती है अथवा नये युगकी कड़ी आलोचना करती है। यह आलोचना अवस्थाके साथ साथ बढ़कर अतन्तोषका रूप धारण कर लेती है और फिर वह चिढ़चिढ़ी हो जाती है। किन्तु अपने नाती और पोतोंके प्रति उसकी ममता गहरी हो जाती है और यह चाहने लगती है कि इनका भी मुख में देख लूँ तो धञ्ज। और इसी बढ़ती हुई मृग्यमें वह समाप्त हो जाती है। वृद्धा किर्योंका प्रयोग नाटकीय व्यांगरके लिये बहुत कम किया गया है। किन्तु कुछ राजनीतिक नाटकोंमें वृद्धा माताओंके वीरतापूर्ण स्वभाव और अपने पुत्रोंका बलिदान करनेकी उद्युक्ता दित्ताकर उनका अत्यन्त गौरवमय

चित्रण किया गया है। वीरतापूर्ण नाटकमें ऐसी वृद्धाओंको अवश्य स्थान दिया जा सकता है जो अपने पुत्रके मस्तनपर टीका लगाकर रणमें भेज दें अथवा देश और धर्मके लिये बलिदान होनेवाले पुत्रोंपर उल्लास प्रकट करें। बहुतसे नाटककारोंने चिड़चिड़ी वृद्धाओंको प्रहसनोद्दी नापना बनाया है किन्तु यह उचित नहीं है।

वर्तमान युगमें नारीमें विशिष्ट जागृति हुई है। वह सभी क्षेत्रोंमें पुरुषोंसे होड़ करने लगी है। राजनीतिक, सामाजिक और व्यावसायिक क्षेत्रों में भी उसने अपनी महत्वाकांक्षा और साहस पुरुषोंके समान ही व्यक्त किया है। अतः इस दृष्टि वाली नारियोंको ठीक वैसा ही समझना चाहिए जैसे महत्वाकांक्षी और साहसी पुरुष होते हैं।

इनके अतिरिक्त सौत, विधवा अपुत्रा, पुँश्रली, अपमानिता, ताड़िता, पीड़िता तथा कामार्चा स्त्रियोना स्वभाव कुछ रखा व्यक्ततापुत्र और उदास होता है। वे किसी भी समय कुछ भी कर सकती हैं। सौत अपनी सौतको सब प्रकार से नीचा दिखाने तथा हानि पहुँचानेका प्रयत्न करती है, उसके फँदेसे अपने पतिको ढुङ्गानेके लिये तन, यन, जादू, टोना आदिक भी आश्रय लेती है और अनेक प्रकारके षडयंत्रों और कुटिल उपायोंसे उसे पतिके विरुद्ध सिद्ध करने और पति द्वारा परित्यक्त करानेका उपाय करती है और इस प्रयत्नमें असफल होनेपर अपने पतिकी हत्या या आत्महत्या तक करनेमें नहीं चूकती।

विधवा सदा सौभाग्यवती स्त्रियोंका सुप्त देखकर मन ही मन बुढ़ा करती है और मन ही मन यह मागती रहती है कि ये भी मेरी गति प्राप्त करें। इनमें जो पुश्रली होती हैं उन्हें यह हँस्यो नहीं होती। वे उल्टे अधिक मृदुभाषिणी और सहानुभूतिमय हो जाती हैं।

पुँश्रली स्त्री समाजके लिये बड़ी भयङ्कर होती है। वह जिसका समागम चाहती है उसे प्राप्त करनेके लिये वह नये हथकड़े, नौचल और छलका आश्रय लेती है। वह हँसकर सबसे बोलती है और सदा सनकी सहायता करने को सबझ रहती है। यदि वह शक्तिशालिनी हुई तो जिससे काम निकल जाता है उसे समाप्त कर डालती है और जो इसकी इच्छाना विरोध करे उसका विनाश करा डालती है। अपमानिता, ताड़िता, और पीड़िता प्रायः अपनी प्राणहानि अधिक करती हैं किन्तु यदि शक्तिशालिनी

हुई तो अपमानकारी, ताड़नकर्ता और प्रपीड़कको ध्वस्त कर सकती हैं।

अपुत्रा नारी पुत्रोत्पत्तिके लिये, दूसरेका पुत्र मारने तथा अन्य यन्त्र, मन्त्र, तन जादू टोना भी करती है और पुत्र वती से जलती भी है।

कामार्ता अन्धी होती है। वह विवेक, लज्जा, मानापमान, लोकनिन्दा सबको विलोपित देकर अपना हित साधनेमें लगी रहती है और यथेच्छ विहार करती है।

किन्तु उच्चकुल और सस्कारमें पली हुई सौत, विधवा, कापुत्रा, अपमानिता, पीड़िता और कामार्ता ऐसी भी होती हैं जो स्थिर होकर अपनेको यशमें रखती हैं और किसीका अहित नहीं करती।

७ स्त्रीपुंभावहीना नपुंसकाः ।

[नहीं नपुंसकमें मिले नारी नरके भाव ।]

नपुंसक व्यक्ति स्त्री और पुरुष दोनोंके भावोंसे हीन होते हैं। बर्हातक काम-सम्बन्धी भावोंका प्रश्न है वे उसके विरक्त और उदासीन होते हैं। शेष सब बातें उनमें पुरुषों और स्त्रियोंके समान होती हैं। अर्थात् सर्वसाधारणके समान उनमें भी अन्य भावनाएँ पाई जाती हैं। प्राचीन संस्कृत नाटककारोंने वर्षवरो और पण्डोंका प्रयोग राज-रिवाजमें किया है किन्तु आज कलके नाटककार नपुंसकोंका प्रयोग नाटकमें नहीं करते।

८ बुद्धिभेदेन सतथा लोक इति मनोवैज्ञानिकाः ।

वर्तमान मनोवैज्ञानिकोंने मानव समाजकी बुद्धिका परीक्षण करके उनके सत भेद अँके हैं। वे परीक्षण तीनसे पन्द्रह वर्षतकके बालकोंके लिये निर्धारित किए गए हैं। जो बालक जिस वर्षवाली परीक्षामें उचीर्ण हो जाता है उसकी बुद्धि उस वर्षकी अवस्थावाली समझी जाती है। यदि एक आठ वर्षका बालक आठ वर्षके लिये निर्धारित परीक्षामें सफल हो गया तो उसकी बुद्धि आठ वर्षके बच्चेकी है और इस दशामें उसकी बुद्धिलिङ्ग १०० मान ली गई है। यदि वही बालक नौ या दश वर्षकी अवस्थावाली परीक्षामें सफल हो तो उसकी शारीरिक अवस्था आठ वर्षकी होते हुए भी मानसिक या बौद्धिक अवस्था दश वर्षकी समझी जायगी।

बौद्धिक अवस्थाको वास्तविक अवस्थासे गारा देकर ठोसे गुणा किया जाय तो बुद्धिलब्धि प्राप्त हो सकती है। इसमें जैसे वास्तविक अवस्थासे अधिक बौद्धिक अवस्थाके बालक होने हैं वैसे ही कमसे-कम बौद्धिक अवस्थाके भी महत्त्व बालकोंकी परीक्षा लेकर और बुद्धिफल जानकर मनोवैज्ञानिकोंने बालकोंको सात श्रेणियोंमें बाँटा है—

- १— बुद्धिफल १५० से ऊपर देवबुद्धि
- २— " १४० " " प्रायः देवबुद्धि
- ३— बुद्धिफल १२० से १४० अत्यन्त उच्चबुद्धि
- ४— बुद्धिफल ११० से १२० उच्चबुद्धि
- ५— बुद्धिफल ९० से ११० साधारण बुद्धि
- ६— " ८० से ९० स्थूलबुद्धि
- ७— " ७० से ८० मन्द बुद्धिकी सीमापर
- ८— " ७० से नीचे मिश्रित मन्दबुद्धि

● अनुचितमिथ्याभिनयभरतः ॥

[अभिनय भरत बताते अनुचित ।]

मनोवैज्ञानिकोंने जो उपर्युक्त भेद बताया है उस प्रकारसे यदि भेद किए जायें तो सैकड़ों उपभेद हो सकते हैं। बुद्धि विशिष्ट-प्रवृत्तियुक्त होती है। एक व्यक्तिकी बुद्धि गणितमें लगती है, काव्यमें नहीं। वह गणितका प्रदम शीघ्रतासे पूर्ण कर सकता है। इसी प्रकार एक काव्य प्रेमी कविता सुन और रच सकता है किन्तु गणितके नामसे ही उसे जुड़ी जाती है। इसी प्रकार विभिन्न प्रवृत्तिके बालक भिन्न भिन्न गुणोंमें दक्ष होते हैं और उनमें बुद्धिमान माने जाते हैं। एक बालकका मन पढ़नेमें नहीं लगता किन्तु यन्त्र-क्रियामें वह बड़े मनोयोगसे काम करता है। इसका अर्थ यह है कि उसमें बुद्धि है किन्तु वह यन्त्र प्रवृत्तियुक्त है। आजकल अतिनी बुद्धिभाषक परीक्षाएँ हुई हैं उनमें प्रत्येक बालककी प्रवृत्तिका प्यान रखकर परीक्षा नहीं ली जाती।

इस दृष्टिसे यदि हम अपने चारों ओरके समाजका परीक्षण करें तो शत होगा कि बुद्धिके अनुसार तीन प्रकारके लोग हैं स्वाधीन-बुद्धि, परप्रत्ययनेय बुद्धि, और जड़। स्वाधीन-बुद्धि वह है जो अपनी बुद्धिके कार्यमें स्वतंत्र रूपसे विचार करता है और परिणाम निश्चलता है। दूसरेका कहा हुआ न ऑल मूँदकर स्वीकार करता न किसीसे सम्मति लेता है। परप्रत्ययनेय बुद्धिके वाले वे हैं जो सब बातोंमें

दूसरोंकी सम्मतिसे काम करते हैं और दूसरोंकी धारणाके अनुसार अपनी धारणा बनाते हैं। जड़बुद्धि वे हैं जो न स्वयं कोई बात समझनेका प्रयत्न करते न दूसरोंके समझाने से ही समझते हैं। अतः यह निष्कर्ष निकला—

● स्वाधीनपरप्रत्ययनेय जड़बुद्धिमेदेन लोकाखिया

[स्वाधीन और जड़, पराधीन
हैं बुद्धिमेदसे लोक तीन ।]

वर्ग-स्वभाव

विभिन्न देशों, जातियों, वर्गों और वृत्तियोंके अनुसार भी मनुष्योंके स्वभाव बनते हैं। अपने देशमें ब्राह्मण क्षमाशील, धनिय उत्साही और क्रोधी, वैश्य दबधू और छोभी तथा शूद्र दीन और भीष होते हैं। देशके अनुसार अंग्रेज वणिक्वृत्तिका, स्पेनी मस्त, फ्रासीसी विलासी, जर्मन साहसी, यहूदी अर्थपिशाच, जापानी अभावसंधी, चीनी आलसी, इतालवी धर्मभीष, यूनानी विनोदप्रिय और निर्द्वन्द्व, अमेरिकावाले विलासी और धनलालुता मुलमलान दितक और धर्मन्ध होते हैं। वर्गोंके अनुसार राजसी या भूमिनि वर्गवाले अधिक अभिमानी मनस्वी और आत्माभिमानी होते हैं। मध्यम वर्गके लोग अभावसंधी और ठकुरमुहाती करनेवाले होते हैं। हीन श्रेणीके लोग दीन और मस्त होते हैं। वृत्तिके अनुसार देवा जाय तो भयानक त्यागी और सरल होते हैं, वहील और डाकटर लोभा होते हैं, बीमा कर्मनीके दलाल और नाई धूर्त हाने हैं, व्यापारी कार्टी और मिथ्यावादी होते हैं, स्वर्गकार प्रत्येक और चोर होता है। इस प्रकार कुछ देश, जाति और वृत्तिके अनुसार भी स्वभाव बनता है और कभी-कभी कुछ स्वभाव भी बन करता है। जैसा हमने कहा था—

व्युत्पन्न कर सहज सुभाऊ । मन कुरय नग धर, हेन काऊ ॥
अतः

● देश-जाति-कुल-वर्ग-वृत्त्यनुकूलता स्वभावे ॥
[है स्वभावमें देश-जाति कुल वर्ग-वृत्तिसा बीन ।]

लोकावेशके अनुसार स्वभाव

● क्वचित्लोकावेशानुसारोऽपि ॥

[कभी-कभी सामूहिक होता है स्वभाव जनताका ।]

कर्म-कर्म किसी नगर, देश, राष्ट्र या वर्गपर सामूहिक विपत्ति आती है या सामूहिक रूपसे उनके मान अपमानका प्रश्न होता है, उस समय उनके व्यक्तिगत स्वभाव बदलकर लोकावेशके रूपमें परिणत हो जाते हैं। भारतके सभी जाति, वर्ग और प्रवृत्तियोंके लोग समझते थे कि अमेरॉने हमपर अत्याचार किया है अतः उन्हें चले जाना चाहिए। इस निमित्त जितने आन्दोलन हुए उनमें लोकावेश स्वभाव ही काम कर रहा था, क्योंकि प्रत्येक व्यक्तिनी व्यक्तिगत भावनासे अलग जाति भावना, देश भावना, राष्ट्र-भावना, कुल भावना और परिवार भावना भी प्रधान रही है। इस भावनाको जब ठेस लगती है तब उस श्रेणीके सब लोगोंको ठेस लगती है और उसके निराकरणके लिये एक सामूहिक स्वभाव बन जाता है। यह स्वभाव व्यक्तिसे ऊपर उठकर समष्टिमें व्याप्त हो जाता है और तभी वह लोकावेश भाव कहलाता है। रोमस्थितपरने अपने कुछ नाटकमें और वर्तमान कालके अनेक नाटककारोंने इस लोक मनोविज्ञानका आश्रय लेकर लोकावेशके दृश्य प्रायः उपस्थित किए हैं।

मनुष्य-स्वभावके अध्ययनके लिये इतना पर्याप्त होगा और नाटकीय पात्रोंमें चरित्रका आरोपण करते समय इन सब बातोंका समष्टि रूपसे ध्यान रखना होगा।

यूरोपीय नाट्यचार्योंके कुछ सिद्धान्त

नाटकमें पात्रोंका चरित्रारोपण करते समय नाटक-कारको जिन बहुतसी बातोंका ध्यान रखना चाहिए। उनके विषयमें यूरोपीय नाट्यचार्योंके चार मत हैं—

(१) दुष्टको मर्यादक चित्रित करो और सज्जनको देवमुत्पत्य।

(२) रंग गालातो चित्रक (पोयंका केमरा) का विम्ब-ग्राही काचफलक है, जो सामने पड़नेवाले समस्त पदार्थको ग्रहण करके दिखाता है।

(३) सुन्दरका चित्रण करो असुन्दर स्वयं उल्ट हो जयगा।

(४) दोष दिताओ, उन्हें देखकर मनुष्य स्वयं अपना मुधार कर लेगा।

इन चारों सिद्धान्तोंके आधारपर हम अपने विचार सिद्धान्त प्रकरणमें विस्तारसे बता आए हैं फिर भी यहाँ

इसपर कुछ कहना आवश्यक ही है। जहाँतक पहले और तीसरे सिद्धान्तका सम्बन्ध है, ये दोनों स्वीकार किए जा सकते हैं और इनमें किसीको आपत्ति भी न होगी, क्योंकि दुष्टमें श्रेष्ठताका आरोप करना और सज्जनमें दुष्टताका आरोप करना नीति और समाज दोनोंसे विरुद्ध है। यही बात तीसरे सिद्धान्तके विषयमें भी है। यदि हम सुन्दरको सुन्दरतम रूपमें अत्यन्त प्रभावशाली रीतिसे उपस्थित करें तो उसके प्रभावसे ही असुन्दर उल्ट हो जायगा, यह एक साधारण-सी बात है कि सुन्दर तथा उदात्तकी ओर मनुष्यका स्वाभाविक आकर्षण होता है और उससे ऊपर उठनेकी प्रेरणा मिलती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे भी निरन्तर सुन्दर वस्तुको देखते देखते सौन्दर्यबोध इतना प्रबल हो जाता है कि असुन्दरकी कल्पना ही असम्भव हो जाती है। दृष्टर और चौथा सिद्धान्त यथार्थवादियोंका है। इसके विषयमें हम सिद्धान्त प्रकरणमें बहुत कुछ कह चुके हैं।

पात्र चुनने और उनके चित्रित करनेके सम्बन्धमें इनसे मिलते-जुलते तीन और सिद्धान्त हैं। ये तीनों प्रणालियाँ हो सकती हैं, और 'होनी चाहिए' के नामसे पुकारी जाती हैं। यह 'देवाद' यथार्थवाद है, 'हो सकता है', देववाद है और 'होना चाहिए,' आदर्श-वाद है। इन तीनोंकी व्याख्या हो चुकी है और हम कह चुके हैं कि नाटककारोंको वादोंके पचघंसे ऊपर उठ कर इस दृष्टिसे पात्रोंमें चरित्रारोपण करना चाहिए कि इनके द्वारा दर्शकोंका मनोविनोद हो और उन्हें शान्ति मिले। पीछे हम यह भी कह आए हैं कि नाटकमें कम पात्र रखे जायँ और उनके चरित्रोंका विकास अधिकतम उनके कार्योंके द्वारा, कुछ संवादोंके द्वारा और कुछ विभिन्न पात्रोंके सम्बन्धसे प्रकट होता हो। इस प्रकार पात्रोंकी योजना वरनेपर नाटकमें रस आ सकता है।

बहुतसे नाटककार नाट्य-मण्डलियोंसे सम्बन्धरखनेके कारण कुछ विशिष्ट पात्रोंके दृष्टिमें रत्नर पात्र योजना करते हैं और ऐसे नाटककार सफल भी हुए हैं क्योंकि विद्यमान व्यक्तियोंके अनुसार पात्र-योजना करनेसे सचसे बढ़ा लाभ यह होता है कि काव्यका दृश्यत्व सिद्ध हो जाता है तथा अभिनेताओंको स्वाभाविक अभिनयके द्वारा रस उत्पन्न करनेमें बड़ी ही सरलता होती है।

स्वयं अभिनवभरतने अपने सभी नाटक अभिनव-रंगशालाके प्रतिष्ठित और विद्वान अभिनेताओं तथा विदुषी अभिनेत्रियोंको ध्यानमें रखकर लिखे हैं और वे नाटक बड़ी ही सफलतासे रंगपीठपर अभिनीत हो चुके हैं। नाटककारको एक और भी व्यावहारिक बातकी ओर विशेष ध्यान रखना चाहिए कि नाटकमें सब पात्रोंकी कुछ न कुछ विशेषता और महत्ता होनी चाहिए और सबके लिये इतना अवसर होना चाहिए कि सब पात्र आङ्गिक, वाचिक और सार्विक अभिनयके द्वारा अपनी अभिनय-कुशलताका परिचय दे सकें, नहीं तो फल यह होता है कि नाटकमें भूमिकाका वितरण करते समय सब अभिनेता छोटी या सारहीन भूमिका ग्रहण करनेमें नाक-भौं सिकोड़ते हैं। जो नाटककार अपने नाटकमें चार सिपाही, बीस चौबदार और दस सेकक सेविकाएँ रखते हैं उन्हें यह भली भाँति समझ रखना चाहिए कि वे नाट्य-प्रयोक्तृके लिए बड़ा घबेड़ा खड़ा कर रहे हैं। नाटककारको नियमितः यह विद्वान्त पालन करना चाहिए-

● नाटकके उभावश्यकवहुपात्रायां प्रयोगोः निषिद्धः ॥

[नाटकमें बहुपात्र निरयंके रखना बड़ा निषिद्ध ।]
इसका अर्थ यह है कि पात्र थोड़े हों, उनके कुल, वर्ग, देश, वृत्ति, देह, लिंग, मानसिक स्थिति, स्वास्थ्य, परिस्थिति, सगति, कुलपरम्परा, संस्कार आदिकी भावनाका योग देकर उनकी सृष्टि की जाय और यह ध्यान रखा जाय कि इन सब परिस्थितियोंमें पले हुए पात्र नाट्यीय परिस्थितियोंमें पड़कर अपने उपयुक्त वातावरणके प्रभावके कारण स्वभावोचित गतिसे कार्य करते हुए नाट्यीय व्यापारमें योग देकर नाट्यकारके उद्दिष्ट फलगतके सिद्ध करें। इसी दृष्टिसे उपस्थित किए हुए पात्र अधिक स्वाभाविक और सरल प्रतीत होंगे।

इस विवरणके साथ पात्रोंकी योजनाका विवरण समाप्त होता है।

इत्यभिनवभरतश्रीसीतारामविरचितेऽभिनवनाट्यशास्त्रे रूपक-रचनाखण्डे पात्र योजना प्रकरणं नाम नवमोऽध्यायः ।

स्थान-योजना

स्थान-निर्देशका महत्त्व

● नाट्ये स्थानवैशिष्ट्यम् ॥

[स्थानका वैशिष्ट्य भी है नाटकमें ।]

नाटकमें कोई घटना कहाँ दिखाई जाय इसका भी बड़ा महत्त्व होता है। जिस स्थानमें कोई दृश्यपाठ न हो, किसी प्रकारका आकर्षण न हो, अभिनय करनेवाले अभिनेताओंके आश्रय या व्यापारके लिये दृश्य विज्ञानकी योजना न हो, सर्व-विदित या सर्व-साधारण, पूर्व-परिज्ञात स्थान हो वह नाट्यीय व्यापारको उदात्त, लोकप्रिय, रुचिकर और आकर्षक बनानेमें असफल होता है। वही स्थान अधिक नाट्यानुकूल हो सकता है जो नया हो, जिसका प्रयोग पहले न हुआ हो, जिसे किसीने पहले न देखा-सुना हो या पूर्व-

ज्ञात होनेपर भी जिसमें कोई नया चमत्कार हो, नई सजावट या बनावट हो, जिसके त्रिविध मार्गोंको नाट्यीय व्यापारके लिये अभिनेता प्रयोग कर सकते हों।

पुराने समृद्ध नाट्योंमें स्थान निर्देश भी पात्रों द्वारा ही हो जाता था। उसके लिये रङ्गाभ्युक्तों कुछ नहीं करना पड़ता था। पात्र स्वयं अपने अभिनयके और वात-कीर्तने उचकड़ा सकने कर देते थे। अभिज्ञान-शाकुन्तलमें दुष्यन्त कण्वके धात्रममें पहुँचनेकी सूचना निम्नलिखित श्लोकके द्वारा दे देता है—

नीगराः सुशरभंशोऽयमुत्पन्नशरभमयः,
प्रतिगन्धाः क्वचिदिद्गुदीकभ्रमिदः स्वल्पत एवोरलाः ॥
विश्वसोपगमादभिन्नगतयः शब्दं सद्गन्ते मृगा-
स्तोपापारपरमात्सव वक्तव्यसिद्धानिष्पन्दरेखाङ्किनाः ॥

[वहाँ तो वृक्षोंके तले, सुगोंके घोंसलोंके गिरे हुए तिनोके दाने बिसरे पड़े हैं, कहीं इधर उधर पड़े हुए चिकने पत्थर बता रहे हैं कि इनपर हिंगोरके फल बूटे गए हैं, कहीं निडर खड़े हुए मृग इस विद्यालये रथका शब्द सुन रहे हैं कि आश्वमेध कांडे हमें छेड़ नहीं सकता और कहीं नदी तालबोंपर आने जानेकी राहोंमें मुनियाँके बल्बलोंके टपके हुए जलकी रेखाएँ घनी हुई हैं ।]

प्रत्येक दृश्यके साथ स्थान निर्देशकी प्रथा योरोपीय नाट्यकारोंने चलाई है और ध्रुव दृश्य विधानके युगमें स्थान निर्देश आवश्यक भी हो गया है, क्योंकि उसके अनुसार रगपीठपर दृश्य पीठ सजनेकी लम्बी चौड़ी व्यवस्था होने लगी है । इतना सज होनेपर भी यदि हम विद्युत्भरके सभी प्रात नाटकोंके दृश्योंकी तालिका बनावें तो केवल निम्नलिखित स्थानोंमें नाट्यीय व्यापार करानेकी योजना नाटककारोंने की है—

जंगल, उपवन, उद्यान, नदीतट, पहाड़ी, चन्द्ररा, पहाड़ी वा जंगली पथ, निर्झर, मधुभूमि, खेत, घासका मैदान, समुद्रतट, झील, ताल, कूप या चार्गके पास, भ्रमरके भीतर किसी प्रकोष्ठमें वा बाहर राज भवन वा राजसभा वा रनिवासका कोई कक्ष, शौचघड़ी, सार्वजनिक आँगन, भोजनालय, जलान घर, शूतशाला, मदिरालय, वेदयालय, सड़क, बैंटक, कारागार, यन्त्रालय, सार्वजनिक स्थान (भवन वा मैदान), जलतल, आमोदवृक्ष, स्नानागार, चित्रशाला, नाट्यशाला, यातनायक, अश्व, युद्ध क्षेत्र, अभिनयालय, अतिथिशाला, युद्ध सिंघर, सुदौड़ या रथ-दौड़के मैदान, मलशाला, निधालय, रेखगाड़ीके अड्डे, चिकित्सालय (नागरिक तथा सैनिक), सभीतालय, व्यापारपीठ, हाट, बूकान, काल्पनिक नरक, काल्पनिक स्वर्ग ।

यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि इतने बड़े सगरमें नाटककारोंने केवल इतने ही इने गिने स्थल मिले । इसीसे ऊबकर कुछ नये नाटककारोंने निम्नलिखित स्थान और बटाए— हलदलके मैदान, गन्दे नालोंके ढके हुए भाग, अपाहित्र घर, विसानोंके छाँपड़े और बाड़े, भ्रमर दूरोंके गन्दे सुदल्ले और घर, भित्तिरिथोंके कोष्ठ, मोचीकी मढ़ैया आदि अर्थात् निम्नवर्गके प्रयोगमें आनेवाले स्थान ।

इतना होने पर भी यह सूची अधूरी और सङ्कुचित जान पड़ती है । न जाने कितने प्रकारके भूभाग, जट भाग

और नम भाग तथा काल्पनिक स्थान हैं और हो सकते हैं जिनकी ओर नाटककारोंका ध्यान अभी तक नहीं गया है । वचमान नाटककारोंका यह धर्म है कि यदि वे अपने नाटकका क्षेत्र विस्तृत करना चाहें और उन्हें अधिक आकर्षक बनाना चाहें तो प्रकृति और मानव बुद्धि द्वारा सजित अधिनिमित्त प्रकारके स्थानोंमेंसे नये, अद्भुत, आकर्षक, अज्ञात और सुन्दर स्थानोंकी योजना करें । क्योंकि इस प्रकारकी स्थान गोकुलके व्यापार, शोकभ्रम और पात्र योजनामें भी नवीनता तथा सरसता आवेगी और जो लोग पुराने दमके दृश्य और व्यापार देखते देखते ऊन गए हैं या खीझ उठे हैं उनका भी मनस्तोष होगा ।

निम्नलिखित स्थान विभिन्न प्रकारके नाट्यीय व्यापारोंके लिये अवश्य प्राह्य हो सकते हैं ।

पञ्जालमुखी पर्वत ऐतिहासिक स्थल (जैसेबर्नडं शीने अपने सीज एंडकिलथोपैट्रामों रिपन्कवका प्रयोग किया है ।) जलमग्न प्रदेश जिनमें लोग लकड़ीके घरोंपर रहते हैं, शहनौकाएँ, तेलकी खानें, हिमाच्छादित प्रदेश, चायके बाग ।

वास्तविक और काल्पनिक स्थान

● वास्तविककाल्पनिकस्थाने ॥

[स्थान वास्तविक काल्पनिक ।]

जैसे कथावल्लु वास्तविक और काल्पनिक होती है तदनुसार स्थान भी वास्तविक और काल्पनिक होते हैं । वास्तविक स्थानके अन्तर्गत पृथ्वी और आकाशके सम्बद्ध सभी प्रत्यक्ष स्थान आ जाते हैं । काल्पनिकके अन्तर्गत वे सत्र स्थान आ जाते हैं जो द्रव्य रूपसे कल्पित होते हैं । इन दोनों प्रकारके स्थानों की विवेचना करनेके पूर्व यह जान लेना चाहिए सब स्थान नाट्यीय व्यापारके लिये उपयुक्त नहीं होते । इसके लिए कुछ गिने जुने स्थान हैं जो रंग मंचपर उपस्थित किए जा सकते हैं । प्राचीन समय में स्थानों की व्यञ्जना अभिनयके ऊपर हो जाती थी । भरतने नाट्यशास्त्रके उन्नीसवें अध्यायके चित्राभिनयके अन्तर्गत पिस्तीर्ष जलाशय, आकाश, पर्वत, छापर आदि स्थानोंके अभिनयका भी विधान दे दिया है । दोग्यरीयरके युगतक एक गचोके टुकड़े पर लिखकर टँग दिया जाता था । किन्तु आजकल ऐसा प्रतीकाभिनय नहीं होता ।

आजका नाटककार बला और विज्ञानका आश्रय लेकर प्रत्यक्ष दृश्योंका विधान करता है। अतः उसी स्थानका निर्देश नाटककारको करना चाहिए जो साधारणतः रंगमंच-पर दिखाना सम्भव हो सके। कभी कभी चलचित्रके योगसे बलाशय, पर्वत और अन्य भूभाग तथा जल भाग भी रंगमंचपर रजत पटके द्वारा दिखानेकी योजना की जाती है। अतः ऐसे स्थान दृश्योंकी योजना उन्हीं नाटकोंमें होनी चाहिए जो विशेष रंगशालाके लिये लिखे गये हैं। साधारण नाटकोंमें जटिल व्यवसाय्य तथा दुस्साध्य नहीं होना चाहिए। यदि पर्वत, सागर, मनुभूमि आदि स्थानोंका कथासे सम्बन्ध हो और तत्सम्बन्धी विवरण देना भी आवश्यक हो तो उसे पात्रों द्वारा कहला देना चाहिए, उसके लिए दृश्य विधानका पचड़ा नहीं खड़ा करना चाहिए। यही बात कार्यात्मिक स्थानोंके विषयमें है। कविको ऐसे काल्पनिक स्थानोंका विधान नहीं करना चाहिए जो सर्वसाधारण रंग-व्यवस्थापकके लिये कठिन हो।

७ आकाशोऽपि व्यापारः ॥

[नभमें भी संभव व्यापार ।]

प्रत्यक्ष अनुभवके आधारपर वास्तविक स्थान पृथ्वीके ही भा सकते हैं किन्तु आजकल विमानकी सुविधा होनेसे बहुतेरे नाटकीय व्यापार आकाश स्थानमें भी हो सकते हैं और वह भी इस प्रकार कि विमानका अन्तर्भूत भाग रंगमंच पर उपस्थित किया जाय और रंगमंचको इस प्रकार व्यवस्थित किया जाय कि दर्शक यही समझें कि हम उड़ते हुए विमानका भीतरी भाग देख रहे हैं। पृथ्वी-ध्वनि और गनगनाहट उत्तरत्र करके यह प्रभाव उत्तरत्र किया जा सकता है। कुछ नाटकोंमें ऐसे दृश्य अवश्य आए हैं जहाँ आकाशमें और पृथ्वीपर एक साथ व्यापार होते हैं। जैसे नखबधमें कसके हाथसे छूटकर माया आकाशमें स्थित होकर बोलती है, उपा-अनिचद्धमें चित्रलेखा अनिचद्धको दृष्ट्या सहित उड़ा लाती है या कृष्णार्जुन युद्धमें चित्ररथ गन्धर्व अपनी पत्नीके साथ विमान बिहार कर रहा है और वहाँसे जो पीक शूकना है वह गालनगुनिकी अञ्जलिमें गिर पड़ती है। ये सब दृश्य साधारण रंगशालाओंमें भी सरल यन्त्रिक कौशलसे दिखाए जा चुके हैं। किन्तु इस स्थानोंके परिमाणकी सीमा रंगमंचके परिमाणसे अधिक न होनी चाहिए। अतः विशेष दृश्य भूमिपरके ही दिखाये जाने

चाहिए। इसलिये भूमिके स्थानोंका विवेचन कर लेना आवश्यक है। भूमिके दो भाग हैं—एक स्थल और दूसरा जल।

८ निम्नोत्ततसमभूमयः ॥

[नीची ऊँची सम है पृथ्वी ।]

स्थलके भी तीन रूप हैं—उन्नत, सम, निम्न। उन्नत भागमें मिट्टी या रेतके टीले, पहाड़ी, पहाड़, पठार आदि सम्मिलित हैं और ये उन्नत भाग भी घास या वृक्षोंके कारण हरे, सूखी चट्टानोंके काला पथरीले और हिमके कारण हिमालय हो सकते हैं। इनमें भी चौरस भूमि, घाटी, ढाल, निर्झर, गुफा, ताल और पहाड़ी पथ हो सकते हैं। सम-भूमि दो प्रकारकी होती है—एक उपजाऊ और दूसरी ऊँजड़। उपजाऊ भूमिमें वन, उपवन, घासके मैदान, तथा खेत आदि होते हैं। ऊँजड़ भूमि रेत, कंकड़, पत्थर, रेह आदि ऐसे पदार्थोंसे ढकी होती है जो भूमिकी उरगादिका शक्तिमें बाधक होते हैं। ये सब पृथ्वीके प्राकृत स्थल है। किन्तु मनुष्यने अपनी बुद्धि कौशलसे भूमिपर प्राकृतिक सामग्रीसे अनेक प्रकारके स्थान बनाये हैं। धीमद्भागवतमें कथा आई है कि किस प्रकार पृथुने पृथ्वीको दुहर अपनी धनुषकी कोरसे पर्वतोंके शिखरों और टीलोंको चूर-चूर करके सारे पृथ्वी मड़लको समतल कर दिया और प्रजागणके रहनेके लिये, गाँव, पुर, पत्तन, दुर्ग, घोष, क्षत्र, शिविर आकर, खेत, खर्वट इत्यादि बरितयाँ बना दीं जिनमें लोग सुखपूर्वक रह सकें, क्योंकि सबसे पहले पुर, गाँव आदि कुछ न थे। इस घटनाका वर्णन करते हुए श्रीमद्भागवतमें भैरवजी कहते हैं—

चूर्णयन्त्वधनुषकोट्या गिरिरुद्रान् च राजराट् ।
भूमण्डलमिदं वैभ्यः प्रायश्चक्रे सम विभुः ॥
अधार्मिन् भगवान् वैभ्यः प्रजाना वृत्तिरः मितः ।
निशाठगन् कल्पनाचक्रे तत्र तत्र यथाहितः ॥
प्रामान् पुरीः पत्तनानि दुर्गाणि विविधानि च ।
घोषान् ब्रजान् सद्यशिविरानाकरान् खेटखर्वटान् ॥
प्रागुद्योहिद् नैषैया पुरप्रामादिकल्पना ।
यथामुत्र वसन्तिस्म तत्र तनुदुतोमयाः ॥

४०, २८, २९, ३२.

इन सब ग्राम, पत्तन, नगरादिमें मनुष्योंने अपने निवास स्थान बनाए, उन स्थानोंमें उसने पाठ छाटा,

गोशाला, मण्डारगार, गन्ध पुष्पालय, जलागार, कोठार (लकड़ी कोयले आदिके लिये) अन्नशाला, अतिथिशाला चित्रशाला, गोष्ठीशाला, शयनशाला, पानशाला, दूत शाला, नृत्यशाला संगीतशाला और न जाने ऐसी ऐसी कितनी शालाओंका निर्माणकर डालीं। मनुष्यकी इन व्यक्तिगत आवश्यकता तथा विलासके अतिरिक्त कुछ लोकशालायें भी बननीं जैसे देवालय, चौपाल, पंचपर, समा-मवन विलासभवन, नाट्यशाला आदि। राजाओंके यहाँ उनकी आवश्यकताके अनुसार, दुर्ग कारागार प्रकार अन्तःपुर, यज्ञशाला, समाभवन, प्रमदवन, ग्रीष्मभवन, उद्यान, फूलवारी अरबशाला, गजशाला, सैन्य-शिबिर आदि न जाने कितने स्थान बने इसी प्रकार व्यापारके लिये भी हाट, पणि, गोदाम तथा विभिन्न व्यवसायके अनुरूप कोठियाँ बननीं और जैसे जैसे व्यवसायोंकी वृद्धि होने लगी वैसे ही स्थानोंकी वृद्धि हुई। बड़े बड़े नगरोंमें एक खण्डसे लेकर १४० खण्डतकके मकान बन गये हैं और इन सब प्रकार के भवनोंमें व्यवसायिक कार्यालय पुस्तकालय, गोदाम आदि स्थापित हैं उन सब प्रकारके व्यावसायिक स्थानोंकी प्रवृत्ति भी निरन्तर होती है। पहले एक नाईकी कुछ विभूति उसके झेलमें धा जाती थी किन्तु इस विशाल नगरोंकी नापित शालाओंमें अनेक प्रकारके उच्च शिराधार सहित पीठयन, मनुष्याधार शीशे, गन्धद्रव्य, साबुन, तेल, विजलीका पखा और न जाने कितने प्रकारकी सामग्रियों वहाँ सुसजित रहती हैं। इसी भाँति मुद्रणालय, जलपानगृह, भोजनालय, यन्त्र शालाएँ आदि न जाने कितनी व्यवसायिक शालायें हैं। यूरोप, अमेरिका और जापानके नाटककारोंने ऐसे स्थानोंकी योजना की है। इनके अतिरिक्त बहुतेके और भी स्थल हैं जैसे सार्वजनिक गोष्ठीगृह (क्लब) जहाँ अनेक प्रकारके खेल और भोजनादिका प्रबन्ध होता है। रेलका स्टेशन, होटल आदि भी उपयोगमें आते हैं। प्रायः योरोपिय नाटकके दृश्य बैठकोंमें ही होते हैं। इन्हनके ग्यारह नाटककें कथियालिस दृश्योंमेंसे उन्तालिस दृश्य केवल बैठकोंमें ही हैं। कभी कभी पहाड़ी मार्ग, जंगल, समुद्रतट इत्यादिका प्रयोग किया गया है किन्तु उसका परिमाण रंगमञ्चसे अधिक नहीं है। कुछ बुद्धिवादी नाटककोंमें प्रस्तुत दृश्य विधानके साथ साथ उसके पीछेका दृश्य दिखानेका भी विधान कुछ नाटककारोंने किया है। किन्तु यह अकाण्ड काण्ड साधारण क्या असाधारण रंग

व्यवस्थापकोंके लिए भी असम्भव है। हबनने अपने 'लोकदानु' (ऐन ऐनिमी चौफ़ेदी पीपुल) नामक नाटक में सम्पादकीय कार्यालयके पीछे मुद्रण-भवन दृश्य दिखानेका विधान देकर सरल दृश्यको भी कठिन बना दिया है। यहाँ तक कि यह भी दे दिया है कि मुद्रण भवनमें अक्षर जोड़नेवाले अक्षर जोड़ रहे हैं। इस प्रकार मुद्रणशाला रंगमञ्चपर लाना असम्भव कार्य है। क्योंकि रंगपीठका यह एक साधारण सिद्धान्त है कि दृश्य-पीठके रूपमें जो वस्तु रंगमञ्चपर लाकर रखी जाय वह सरलतासे बरी उठाई जा सके। इन सभी प्रकारके दृश्योंके विधानमें दो बातें स्मरण रखनी चाहिये। एक ऐसे दृश्यका निर्देश हो जो रंगमञ्चके परिमाणसे बड़ा नहीं। दूसरे दृश्यमें प्रस्तुतकी जानेवाली वस्तुएँ ऐसी हैं। जो सरलतासे रखी या हटाई जा सकें।

भूमिके उन्नत और समस्थलोंके अतिरिक्त निम्नस्थल भी होते हैं जिनमें घाटी, खड़ी नदियोंको कलार, खड्ड, प्राकृतिक गढ़ आदि आते हैं। इनके अतिरिक्त मनुष्यने कृत्रिम रूपसे अथर्वूप, तथा खानोंका आविष्कार किया है। प्रायः सभी देशोंमें अपराधियोंको दंड देनेके लिए अथर्वूप भी बनवाये जाते थे जो या तो पर्वतोंके बीच होते थे या कृत्रिम रूपसे दूपके समान होते थे। खानके लिये तो निश्चित रूपसे तान चार सौ हाथ नीचे तककी खुदाई होती है और उनमें पुरुष और स्त्री काम करते हैं। एक नाटककारने अपने नाटकमें खानको ही अपने नाटकका स्थान बनाया है। इसी प्रकार साइबेरियाकी अथर्वूपमें स्त्री निरपेक्ष शासकोंके कठोर यातना गृहके रूपमें काम लाई जाती थी। स्थलके ये उन्नत, सम और निम्न नामक तीनों भाग नाटकके दृश्य विधानमें धा सकते हैं और उनकी प्रवृत्तिके अनुसार वहाँ नाटकीय व्यापारकी सृष्टिकी जा सकती है। इनके अतिरिक्त सड़क, पुल, बाँध, धर्मशाला, रेललाइन, रेल, मोटर या अन्य यानोंके अट्टे, लोक, उपवन, चौक आदि अनेक परिमाण, आकार, रूप तथा विवरण बनाए जा चुके हैं या बनाए जा रहे हैं। मरुभूमिमें मरुद्यान, हालैडमें बाँध।

पृथ्वीसे सम्बन्ध रखनेवाला दूसरा भाग है जलका। इन जलस्थानोंके अन्तर्गत छोटी सी पुष्करिणी नदी, नद, झील, तालाब, सरोवर और समुद्र, सभी धा जाते हैं। इन

प्राकृतिक जलस्थानोंके अतिरिक्त मनुष्यने भी इन्हींकी देखा-देखी ताल, सरोवर, झरने, राजवाड़े, नहर और कृत्रिम नदियों, कूप, बापी, तडागादि जलाशय अपनी आवश्यकता तथा बिलासादिके लिये बनवाया है। प्राचीन संस्कृत-साहित्यमें गृह-वापियोंके जल-विहारका बड़ा विस्तृत वर्णन दिया गया है। इन जलस्थानोंमेंसे समुद्र, नदी-नदका तट तथा सरोवर रंगमंच पर भी दिखाये जा सकने हैं। योरोपमें ऐसी बहुत से नाट्यशालायें हैं जिनमें यत्रके द्वारा रंगमंचका काण्ट-पीठ टट जाता है और वहाँ सुन्दर तालाब दिखाई देने लगता है और एक नाटकमें तो समुद्र तटके किनारे दुर्ग और समुद्रमें कूदता तैरता व्यक्तिभी दिखाई दिया है। इस सम्बन्धमें नाटककारको यही स्मरण रखना चाहिए कि जो भी दृश्य दिखाया जाय वह रंगमंचके परिमाणसे बाहर न हो और उसे दिग्गजनेमें अनुविधान हो। नाटककारको दृश्य-विधानकी दृष्टिसे रंग व्यवस्थापकका सहायक होना चाहिए, उसका ट्रोही नहीं। अर्थात् उसे रंग-व्यवस्थापककी सुविधा और दृश्यकी सम्भावनाका ध्यान रखकर स्थान निर्देश करना चाहिए।

काल्पनिक स्थानोंके निर्देशमें भी इन्हीं उपयुक्त सिद्धान्तोंका ध्यान रखना चाहिए और इनके अन्दर जैसे भी दृश्य हों उनका विधान किया जा सकता है। इसमें ध्यान रखनेकी बात यही है कि प्रत्येक देशकी संस्कृतिके अनुसार स्वर्ग, नरक, पाताल, देवी-देवताओं, राक्षसों, जिनों आदिके स्थानोंका विभिन्न प्रकारका विशिष्ट वर्णन है। उन देशोंके सम्बद्ध नाटकोंमें उनके पुराणमें धार्मिक विवरणोंकी अनुकूलता रखनी चाहिए।

जैसे मनुष्यके चरित्र और स्वभावपर परिस्थितियों और संगतिका प्रभाव पड़ता है वैसे ही स्थानका भी प्रभाव पड़ता है। पर्वतपर रहनेवालोंकी प्रकृति और मैदानपर रहनेवालोंकी प्रकृतिमें बड़ा अन्तर होता है। पर्वतवासी अधिक परिश्रमी और फुर्तिलि होते हैं। समस्थलवासी निरुद्यमी और आलसी होते हैं। इसी प्रकार समुद्रतटपर रहनेवाले लोग साहसी, वनप्रान्तरमें रहनेवाले लोग अधिक निर्भय, मरुभूमिमें रहनेवाले लोग अक्रमण्य ठडे प्रदेशोंमें रहनेवाले लोग अधिक कर्मठ और उष्ण प्रदेशोंमें रहनेवाले अधिक मुस्त होते हैं। स्थानके ही प्रभावसे मनुष्यके व्यवहार, उसके खान-पान, रहन-सहन, पशु-धन इत्यादिकी परीक्षा

होती है। जैसे दुंडुभमें रहनेवाले एस्सीमो लोग खाल्से मट्टे बक्रके मकानमें रहते हैं, जिना पहिएकी कुच्चों या चारह सिहोंसे खिची जानेवाली स्लेजगाड़ीपर चढ़कर आवेष्ट करते और बारहसिहोंके खालका वस्त्र पहनते हैं। केवल परिवारिक भायनाके अतिरिक्त और कोई भावना उनमें नहीं होती है। इसी प्रकार अफ्रीकाके जगलमें रहनेवाला व्यक्ति वन्य आहार बिहारके अतिरिक्त और कुछ नहीं करता। समुद्र तटपर रहनेवाली जातियाँ अधिक व्यापारिक होती हैं। धरके मैदानोंमें रहनेवाले लोग गाय, बकरी, भेड़ आदि चराकर पेट पालते हैं। अपने ही देशमें पंजाबी, ब्रगाली और मद्रालीके आचार विचार, रहन-सहन वेश भूषा, खान-पान सबमें बड़ा भेद है। अतः नाटकीय चरित्रोंके विकासमें स्थानका उतना ही महत्त्व है जितना पात्रता या सवादका और नाटककारकी इसीसे बड़ी भारी परीक्षा भी हो जाती है कि वह विभिन्न जातियों और वर्गोंके आचार-विचार आदिसे परिचित है या नहीं और वह अपने नाटकोंमें निर्दिष्ट स्थानोंके अनुसार पत्रोंके आचार विचार इत्यादिका ठीक-ठीक चित्रण कर सकता है या नहीं। तिब्बतके दृश्यमें जब दो मित्र मिलते हैं तो वे परस्पर हाथ नहीं जोड़ते, वे अपने बायें हाथमें अपनी टोपी ले लेते हैं, और दायें हाथसे वान पकड़कर अपनी जीभ निराल लेते हैं यही उनका दण्ड-प्रणाम है। अतः नाटककारको स्थानका और स्थानसे सम्बद्ध आचारके अनुसार अपने पात्र, सवाद, स्वभाव और दृश्यकी योजना करनी चाहिए।

साहित्य शास्त्रके आचार्योंने उदीपन विभायके अन्तर्गत जहाँ सखा, सखी, दूती, शत्रु और पवनका निर्देश किया है वहाँ वन-उपवन नदीतट, चाँदनी, कुत्र अदि स्थानोंका भी उल्लेख किया है किन्तु वह स्थान विचार भी माल्य नहीं क्योंकि आजकल शृङ्गारके लिए अर्थात् रतिके लिए इतने स्थान हो गए हैं कि उनकी गूँची नहीं बचाई जा सकती। सार्वजनिक, राज भोजनालय (हॉटल) पुस्तकालय, विनोदगोष्ठी, वेल्माहीके विभ्रामाटय तथा टन्वे, विमानतर्कमें प्रेम-सहाय होने लग गये हैं और कारागारमें सुइदीइके मैदानमें, नव्यचित्र निर्माणशालाओंमें भी प्रेमाचार होनेलगे हैं। एक नाटककारने एक मरणोन्मुख व्यक्तिः हाय एक सुनतीके विवाहका दृश्य उतरिपत पूर दिया है और सबसे विचित्र घटना वह है कि विवाह और सुभन

तक भी टेलीफोन पर होने लगे हैं। अतः नाटककारको समय, युग, व्यक्ति, समाज और परिस्थितिका ध्यान रखकर स्थानोंका विधान करना चाहिए। केवल रुढ़िके अनुसार उद्दीपनात्मक स्थानोंके विधानकी आवश्यकता नहीं। पहले समयमें वीरता युद्धमें दिखाई जाती थी किन्तु भारतने अपना स्वातन्त्र्य युद्ध इस प्रकार चलाया कि मरना, पिटना, गोली खाना, पाँसी पढ़ना मोटरोंके नीचे पिसजाना तथा अन्य ऐसे दमनकारी अत्याचारोंका आखेट बनना वीरताका अंग समझा गया और यह सब वीरतायें युद्धक्षेत्रमें नहीं वरन् सड़कों, हाटों, न्यायालयोंके सामने या कारागारोंमें दिखाई गई थीं।

स्थानोंके साथ ही ऋतु या जलवायुकी बात आ जाती है। बहुतेके नाटककारोंने वेलाका निर्देश दिया है। जैसे प्रातःकाल, अपराह्न, संध्या, रात्रि इत्यादि। यहाँ तक तो ठीक है। इसके साथ साथ वर्षा होना, बादल धिरना, हवा सास, बिजली कड़कना आदि दृश्य दिखाने जा सकते हैं। किन्तु जब नाटककार यह भी कहने लगता है—‘गर्मकि दिन हैं, छद्, चल् रही है या बाइकी रात है’ तो यह निर्देश निरर्थक और नाट्यकारकी सीमाके बाहर है। दोकसपिपरके किंगलियर नाटकमें औंधीसे किंगलियरका सवाद है। दोकसपिपरके विचारके युगमें औंधी दिखानेकी व्यव था थी। अतः जब किंगलियरके वषडे न उड़ते हों तो उसका औंधीका सवाद

हास्ययुक्त ही प्रतीत होता है। इवीलिये जान्नन जैसे विद्वानने उसकी बड़ी खिल्ली उड़ाई है। इस वैशानिक युगमें औंधी पानी दिखानेका प्रवन्ध तो हो सकता है किन्तु गर्मी और पाइका रगनिदेश दर्शकोंको किस प्रकार कराया जा सकता है; यह तो केवल पात्रोंके संवादमें कहलाया जा सकता है। जैसे यदि जाँके ऋतुका दृश्य उपस्थित करना है तो तत्सम्बन्धी दृश्यमें पात्रोंसे कहला दिया जाय कि कितना भयकर जाड़ा है और फिर दात फटवाने, थरथराने, बरब खींच-खींचकर ओढ़ने तथा दोनों मुट्टियों आदि बौध्दर दर्शकोंको यह समझाया जा सकता है कि यह दृश्य आटेका है। इसी प्रकार अन्य ऋतुओंके बारेमें होना चाहिए। उसे केवल ऐसा रग निर्देश नहीं देना चाहिए जो प्रदर्शन समिनेता और रगव्यवस्थापक या किसी भी व्यवस्थापककी सामर्थ्यके बाहर हो।

इस विवेचनसे यह निश्चय हा गया कि—

● देशनालपानसर्वकारानुसारेण स्थानयोजना ।।

[देश, काल, लस्कार, पानके योग्यस्थानका आयोजन हो]

नाटकीय स्थानोंका निर्देश करते हुए रगके परिमाण, स्थान प्रदर्शनकी सम्भावना तथा प्रदर्शनीय समाजके युग, संस्कृति पान, और देशके अनुसार स्थान निर्देश किया जाय।

इत्यमिनवमरत श्रीसीतारामधिरचितेऽमिनवनाट्यशास्त्रे रूपक-रचनापट्टे स्थानयोजनाप्रकरणे नाम दशमोऽध्यायः ।।

व्यापार-योजना

व्यापारकी व्याख्या

● चेष्टितं व्यापारः ॥

[चेष्टा व्यापार है ।]

व्यापारस्तु-प्रकरणमें हम ब्रता आये हैं कि नाटक-रचनामें पान स्थान और व्यापारकी आवश्यकता पड़ती है। और जबतक व्यापार या कार्य न हो तबतक पान या स्थानका कोई महत्व नहीं। निरुपेक्ष पान और निर्जनस्थान ब्यादे कितने सुन्दर या भव्य होवें नाटकके लिये व्यर्थ हैं वरतक कि वे किसी घटनाके अंग न बनें। इन घटनाओंमें मनुष्यकी स्वा

भाविक गति, उसकी मानसिक क्रियाके अनुरूप चेष्टायें, दैवी-घटनायें, आकस्मिक घटनायें, सभी नाटकीय व्यापारके अन्तर्गत आ सकती हैं। इनमें कुछ तो व्यक्तिगत होती हैं किन्हीं करने या न करनेका अधिकार किसी व्यक्तिको होता है—जैसे चोरी करना, हत्या करना, वहाँ जाना, किसीसे प्रेम करना आदि। कुछ सामूहिक होती हैं—जैसे आमरण करना, मिलकर व्यापार करना, ब्रह्मपन करना आदि। कुछ दैवी होती हैं—जैसे बिजली गिरना, आग लगना, घर या वृक्षका गिरना बाढ़ जाना, नाव उलटना, बाँय टूटना इत्यादि। कुछ क्रियायें

सामाजिक होती हैं जो सामाजिक नियमोंके पालन करने या करानेके लिये हो जाती हैं। जैसे, किसी वसामाजिक कार्य करनेपर जाति-बहिष्कार या देशद्रोह करनेपर देश-निषेधासन आदि। कभी-कभी किसी विशेष सिद्धान्त-रक्षा या आदर्शकी स्थापनाके लिये भी कोई व्यापार करना पड़ता है, जैसे—रामका वनवास। कुछ ऐसी भी घटनायें हैं जो मनुष्यकी इच्छापूर्ण न होनेपर उसके मानसिक-विचारके फलस्वरूप होती हैं, जैसे—व्यापार नष्ट होनेपर या किसी कामके सफल न होनेपर पगल होना, हत्याकर लेना। ये तो बड़ी-बड़ी घटनायें हैं और ये घटनायें या तो नाटककी पूर्ण घटनायें हो सकती हैं या अर्ध-घटनायें हो सकती हैं किन्तु एक घटनाके अन्तर्गत बहुत सी छोटी-छोटी घटनायें होती हैं और उन उपघटनाओंकी भी अङ्गीभूत अन्य उपाङ्ग घटनायें होती हैं। यदि हम सीना-हरणकी ही घटना लेंगे तो उसमें प्रधान नाटक-घटना यह है।

“शूर्पणखाने रामसे विवाहका प्रस्ताव किया। अस्वीकार करनेपर अब उसने अपना विकटवेश दिखाया तो रामके सकेतपर लक्ष्मणने उसके नाक-कान काट लिए। उसने रावणके पास जाकर पुकार की और रावणने मारीचकी सहायतासे सीताका हरण किया” इस प्रधान नाटक—घटनाको यदि अक घटनाओंमें बाँटना हो तो इसके, शुद्ध रूपसे, तीन-घटना-अङ्क बनाए जा सकते हैं—प्रथम अङ्कमें शूर्पणखाकी रामके पास जानेसे लेकर लक्ष्मण द्वारा नाक कान काटने तककी घटना आनी चाहिए। दूसरे अङ्कमें शूर्पणखाकी पुकारसे लेकर मारीच और रावणके मिलन और पड़यन्त्र तककी घटना आनी चाहिए। तीसरे अङ्कमें मारीचके स्वर्णमृग वननेसे लेकर सीताके अन्वहरण तककी घटना आनी चाहिए।

इन तीनों अङ्क-घटनाओंमें अनेक उप-घटनाओंका समावेश होना है। प्रथम अङ्कमें निम्नलिखित उपघटनायें सहायक घटनायें होती हैं—रामको देखकर शूर्पणखाका मुन्दरीका रूपधारण, रामके पास जाकर प्रेमकी बात करना, रामका लक्ष्मणके पास भेजना, लक्ष्मणका उसे फिर रामके पास भेजना, रामका फिर उसे लक्ष्मणके पास भेजना। इस व्यवहारसे रुठ होकर शूर्पणखाका राक्षसीवेष धारण करना, जानकीका मयभीत होना, रामका लक्ष्मणको सकेत करना और लक्ष्मणका नाक-कान काटना।

इन उपर्युक्त उपघटनाओंके अन्तर्गत भी अनेक क्रियायें हो सकती हैं, जैसे, शूर्पणखाका रामके पास वेश धारणकर जानेकी उपघटनाके अन्तर्गत निम्नकार्य हो सकते हैं—कुछ विरोधवाचिक या जादूकी क्रियासे अपना वेश बदलना, विरोध हाव-भावके साथ, मुस्तकानके साथ, रामके पास जाकर खड़ा होना, बात करना, शिष्टाचार दिखाना, परिचय पूछना, लक्ष्मणके पास उठी भावसे जाना, दो-तीन बार आने-जानेसे से खीझना, बंध होना, प्रलाप करना, रामका विरोध करनेसे सकेत करना और लक्ष्मणका तलवार निकालना, कौशलसे नाक-कान काट लेना, शूर्पणखाका दीप-पूर्ण वचन कहना।

इसका यह तार्क्य है कि नाटककी एक मुख्य घटना होती है उसकी विशिष्ट अक घटनायें और अक घटनाओंमें अनेक उपघटनायें और उन उपघटनाओंमें अनेक क्रियायें होती हैं। ये सब नाटकीय व्यापारके अन्तर्गत आती हैं।

७ कथा-सहाय्य-विरोधात्मक-व्यापाराः।

[नाटकीय व्यापार सदाहै कथा-सहायक या बाधक।]

नाटकीय व्यापारकी घटनायें या तो नाटकीय कथके प्रवाहमें सहायक होती हैं या उसका विरोध करती हैं। सहायक घटनाओंके अन्तर्गत वे सब कार्य या व्यापार आते हैं जो नाटककारके उद्दिष्ट फलागमनी और कथा प्रवाहको ले चलनेमें सहायक होते हैं। ये व्यापार या कार्य तीन प्रकारसे प्रयुक्त होते हैं। या तो नायकके अपने वीर्य-बुद्धिसे, चेष्टासे, गुणसे या स्वभावसे सहायता करते हैं। शयरा नायकके मित्र, सहयोगी, सहायभूति करनेवाले, नायकमें रुचि रखनेवाले अथवा परोक्ष रूपसे नायकका हित चिन्तन करनेवाले या नायिककी ओरसे चेष्टा करनेवाली परिस्थितियोंकी ओरसे व्यापार होते हैं, जिनसे नाटकीय कथके प्रवाहमें सहायता मिलती चलती है। कभी यह सहायता दैवयोगसे भी प्राप्त होती है। उसमें नायक अपना नायकके अन्य सहायकोंकी सहायता न तो आवश्यकहोती है न तां उसका कोई महत्त्व होता है। दैवयोगसे मिलनेवाली सहायता दो प्रकारकी होती है, एक तां बह जिनमें केवल आश्रितिकत्व भरी होती है और बह पीछे ऐसी जान पड़ने लगती है मानो बह अत्यन्त स्वाभाविक हो।

दूसरी ऐसी होती है जिसमें सचमुच किञ्च दैवी-शक्ति या भग्यद्य हो विशेष विधान हो। ऐसी घट-

नाओंमें निरन्तर यही विश्वास होता है कि यह अतम्मभ वात थी। किसी प्रकारसे भी उसकी सम्भावना नहीं हो सकती थी, उससे आश्चर्य उत्पन्न होता है। यदि हम अभिज्ञान शाबुन्तलकी सहायक घटनाका समीक्षण करें तो ज्ञात होगा कि दुष्यन्तका शाबुन्तलकी रक्षाके लिये पहुँचना उसका रूप और तेज, उसका मधुर व्यवहार आदि गुण, चेष्टा और कौशल शाबुन्तलको मोहित करनेके लिये सहायक सिद्ध हुए। अनुसूया और प्रियवदाकी चेष्टाएँ और विदूषकके व्यापार भी इस-फलागममें सहायक सिद्ध हुए। मातलिका दण्डके पाससे सन्देश लेकर आना और दानव-निवयसे लौटकर भारीच करवपकी ओरसे लौटना आदि घटनायें ऐसी प्रतीत होती हैं कि दैवसंयोग होते हुए भी उनमें कोई विलक्षणता या आश्चर्यजनक बात नहीं प्रतीत होती और वहाँ शाबुन्तलसे मिलनकी तथा दुर्वासके शापसे मतिप्रद होनेकी घटनायें स्वाभाविक ही और अपरिहार्य ही जान पड़ती हैं। किसीके साथ मछलीके पेटसे अँगूठी प्राप्त होना ऐसा दैवयोग है जिसे मुनवर आश्चर्य ही होता है। यह शुद्ध रूपसे भाव्यकी बात है कि वही मछली उस मनुष्यसे पकड़ी जिसके पेटमें अँगूठी थी। अतः नाटकीय व्यापारमें तीनों प्रकारकी सहायता उपस्थित होती है।

जिस प्रकार नाटकीय व्यापारमें कुछ घटनायें सहायता देती हैं उसी प्रकार नाटकीय कथाके प्रवाहमें कुछ घटनायें बाधा भी उत्पन्न करती हैं। ये घटनायें भी तीन प्रकारकी होती हैं। एक तो वे हैं जो नायककी, नायकके मित्रों और सहायकोंकी, नायिककी, अथवा नायिकके सम्बन्धियों और सहायकोंकी भूलसे, अवगुणसे, मूर्खतासे या अविचारसे हो जाती हैं। दूसरे प्रकारकी घटनाएँ वे हैं जो प्रतिनायकके अथवा उद्यम सार्थियोंकी चेष्टा या कुचर्चोंसे अथवा किसी बाहरी व्यक्तिके रागसे उत्पन्न होती हैं। कुछ ऐसी होती हैं जिनमें दैवता हाथ होता है, जिनमें कुछ सम्भाव्य जान पड़ती है और कुछ आकस्मिक। अभिज्ञान शाबुन्तलमें ही दुष्यन्तका माधव्यसे कहना—

“परिहासविजलित सखे ! परमाथेन न गृह्यता वचः”

अने चल्कर इतना धातक हुआ कि जब शाबुन्तलका प्रत्याख्यान किया गया तब विदूषकको भी शाबुन्तलके प्रेमकी कथा स्मरण न हुई। इसी प्रकार दुर्वासके शापसे शाबुन्तल और दुष्यन्तके मिलनकी सारी सम्भावना तत्काल

उप्त हो जाती है। यह दूसरे प्रकारका विरोध है जो बाहरी व्यक्तिके कारण हुआ। इसी प्रकार दैवयोगकी घटनाओंमें दुर्वासका आगमन और अँगूठीका उँगुलीसे निकल जाना ऐसी दैवी घटनायें हैं जो सम्भाव्य तो प्रतीत होती हैं किन्तु हुई दैवयोगसे ही और मानुसकी द्वारा शाबुन्तलका हरण कर लिया जाना ऐसी आकस्मिक दैवी बाधा है जिसपर सहाय विश्वास नहीं होता और जो अकरमात् हो जाती है।

● स्वपरदैवायस' कार्यम् ॥

[अपने पर या दैवयोग पर अवलम्बित सब काम ।]

समारम्भकी जितनी भी क्रियायें या चेष्टायें हैं उन सबका विश्लेषण करके हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि सन घटनायें या तो मनुष्यकी अपनी बुद्धि, सामर्थ्य, चेष्टा और गुणके फलस्वरूप होती हैं या उन घटनाओंमें दूसरे सहायकों या विरोधियोंका हाथ होता है। अथवा वे घटनायें होती हैं जिनमें मनुष्यका कोई हाथ नहीं होता। जो केवल संयोगसे अथवा दैवयोगसे होती हैं और जिनके आगे मनुष्यकी सब शक्ति और बुद्धि निरर्थक और असहाय जान पड़ने लगती हैं। इन घटनाओंके सम्बन्धमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि कभी-कभी अत्यन्त नैतिक और धार्मिक व्यक्ति भी अनैतिक और पापपूर्ण कार्य करनेको विवश हो जाते हैं। कभी-कभी भ्रमवश यह ऐसा काम कर बैठता है जिससे पीछे उसे पश्चात्ताप होता है। कभी-कभी मनुष्यके उन प्रयत्नोंका फल एकदम उल्टा हो जाता है और ऐसा विपन्न परिणाम निकलता है जिसकी कोई कभी कल्पना भी नहीं कर सकता है।

इन घटनाओंमें जहाँतक दैवता हाथ है वह तीन प्रकारका है। या तो फलकी प्राप्ति करनेवाला नायक ही बीचमें समाप्त हो जाता है अथवा उसका फलागम ही असम्भव हो जाता है अथवा कुछ ऐसी परिस्थितियाँ खड़ी हो जाती हैं कि मनुष्यको विवश होकर अपने इष्टफलके विपरीत आचरण करना पड़ता है।

मनुष्यकी अपनी क्रियायें भी तीन प्रकारकी होती हैं जिनसे इष्टफलकी प्राप्ति भी होती है और उसमें बाधा भी पड़ सकती है। मनुष्य या तो कुछ कहता है या कुछ स्वयं करता है या औरोंको कुछ करनेके लिये प्रेरित करता है। यदि यह वाणी, यह क्रिया और यह प्रेरणा सत्य हुई और

उसमें कोई दैवी बाधा न हुई तो निश्चय ही फलही प्राप्ति होती है। इसके विपरीत यदि इस बागी, कार्य या प्रेरणामें कुछ भूल हुई अथवा अशुद्धचिन्ता योग हुआ तो निश्चय ही फलप्राप्तिमें बाधा होगी। हाँ, यदि दैवयोग सहायक हो जाय तो दूसरी बात है। पुराण नाटककारको इन दोनों प्रकारकी वृत्तियोंका मेल करके घटनाओंका गुम्फन करना चाहिए और जहाँ तक सम्भव हो दैवयोगका प्रयोग नहीं करना चाहिए। क्योंकि दैवयोगके प्रभावसे तो कोई भी सम्भव कार्य असम्भव किया जा सकता है और असम्भव कार्य सम्भव। नाटकीय कौशलकी दृष्टिसे केवल उन्हीं घटनाओंका समावेश नाटकमें करना चाहिए जो उस विशिष्ट परिस्थितिमें स्वाभाविक और अपरिहार्य जान पड़ें। ये घटनायें जितनी अधिक स्वाभाविक होंगी और दैवयोगसे रहित होंगी उतनी ही अधिक नाटककारका कौशल समझा जायगा। यदि कालिदासके समान कीर्ति दैवयोगको भी अपरिहार्य और सम्भाव्य रूपसे उपस्थित कर सकें तो वह भी नाटकीय सुतूल उत्पन्न करनेमें सफल हो सकता है। किन्तु फिर भी दैवयोगका प्रवेश नाटककारके कौशलमें सदा हीनता ही उत्पन्न करता है।

नाटककारको यह स्मरण रखना चाहिए कि उसे थोड़ी थोड़ी देरके पश्चात् नये पात्रों, उपघटनाओं, चेष्टाओं तथा भाषावेगोंका इस प्रकार विधान करते रहना चाहिए कि नाटकमें नीरसता न आने पाए। यद्यपि सवाद भी नाटकका मुख्य अंग है किन्तु दृश्यकाव्य होनेके कारण उसमें व्यापार या पात्रों का अधिक प्रदर्शन होना चाहिए, सवादका कम। यह कार्य या चेष्टायें निम्नलिखित प्रकारकी हो सकती हैं। बैठे बैठे या लेटे लेटे उठ खड़े होना, स्थान बदलना, लिपना, पुस्तक बाँचना, साँदीपर चढ़ना या उतरना, खिड़की खोलकर बाहर झाँकना, पात्रोंका भीतर आना और जाना, विमोक्ष प्रकारसे सिंहासनों पर बैठना, पीठोंपर हाथ टेककर खड़े होना, पहराटूट, भय, आशंका और मनोविकारके कारण सहसा उद्विग्न होकर उन्मत्त चेष्टा करना, चिन्त बनाना, वाय बनाना, हर्ष या उन्मादसे नाचने लगना, मुँह बनाना, बख पहनना, अन्न-राख चुमाना, मद्यपान-सा धाचरण करना आदि अनेक ऐसी चेष्टायें हैं किन्हीं अन्ध-व्यापारमें डालकर नाटककी गति वेगयुक्त बनाई जा सकती है। किन्तु पात्रोंमें इन क्रियाओंका भावेश करते

समय पात्रके पदका अवश्य ध्यान रखना चाहिए। एक साधारण श्रेणीका व्यक्ति सहसा सम्पत्ति पाकर हर्षसे नाच सकता है किन्तु कोई विद्वान् गम्भीर पुरुष या राजाके लिये उस प्रकारका धाचरण अस्वाभाविक हो जायगा। इसी प्रकार गम्भीर, प्रौढ, वृद्ध तथा उच्चपदस्थ लोगोंकी क्रिया-धर्मोंमें हर्ष अधिक होता है, गति मी होती है किन्तु अदा-वयस्क, युवक तथा निम्नश्रेणीके पात्रोंकी गति वेगवती होती है और उनमें सपमका अभ्यास होता है। इन्हीं चेष्टाओंके अनुसार ही भाव-प्रदर्शनका भी विधान होना चाहिए। गम्भीर और उच्चपदस्थ व्यक्ति जहाँ मुस्कुराते हैं वहाँ उद्धत और अभिमानी पुरुष खूबी कुटिल हँसी हँसता है। अर्धखोलप व्यक्ति उसी स्थान पर दाँत दिखाकर दैन्य मुद्रा साधता है और युवा तथा अत्यवयस्क उत्सीरर टटाकर हँसते हैं। नाटककारको उपघटनाओंकी चेष्टाओंके साथ साथ मानसिक भावोंके प्रदर्शनका भी विधान करना चाहिए, जिनके अन्तर्गत मुस्कराना, कण्ठ फँडना, अनु-राग भरे नेत्रोंसे देखना, आँखसे उकेते करना, नयने फुलाना, ओठ चबाना, दाँत पीसना, पैर पटकना, नाक भाँदें सिको-डना, सीसना, आश्चर्यसे बाँलें फाड़कर देरना, खिसियाना, लजाना, मुँह फेरना, छेड़-छाड़ करना, सिसकियाँ भरना, ओंख बहाना, डरना, धराना, हनुथाना, धिन्धी चँथना, रोना, चिल्लाना, गाली देना, हाँप मटकाना आदि सब मानसिक भावोंके अनुरूप अनुभावोंका प्रदर्शन था जाता है। नाटककारका धर्म है कि उपयुक्त सभी चेष्टाएँ आंगिक, वाचिक तथा सार्विक अनुभावोंका रह रहकर इस प्रकार प्रयोग करे कि दर्शक एक क्षणके लिये भी नीरसताका अनु-भूत न करें। क्योंकि ये ही नाटककार सदा असफल होते आए हैं जिन्होंने नाटकको नेत्रल सम्पद समझ लिया है। वस्तुमें सन्वाद तो इन घटनाओंके सहायक होकर ही आए हैं और जैसा हम पहले कइ आए हैं कि सन्वादके बिना नाटकका अस्तित्व सम्भव है। किन्तु घटनाओं या वा नाटकीय व्यापारोंके बिना नाटक बढापी सम्भव नहीं।

० इष्टप्राप्तिःस्वाप्तया ॥

[इष्ट प्राप्ति व्यापार एक है सफल रहे या असफल]
नाटकीय व्यापार सुदृश्यसे तीन प्रकारके होते हैं। एक तो वे जिनमें एक या कई मनुष्य किसी इष्ट व्यक्ति, वस्तु या पद प्राप्त करनेका प्रयत्न करते हैं और उस प्रयत्नमें

सफलता या असफलता उन्हें मिलती है। ये प्रयत्न दो प्रकारसे होते हैं। एक तो सदुपायोंका आश्रय लेकर और दूसरे दुःस्वभाषायाँ। सदुपायोंमें सर्वप्रधान सहायक अपना चरकारपूर्ण मन होता है। जिसकी मूल प्रेरणा ही मनुष्योंका कार्यमें प्रवृत्त करती है। किसीके लिए वाञ्छितसमने खिला है-

‘प्रमाणमन्तः करणप्रवृत्तयः ।’

सदुपायोंमें दूसरे सहायक मित्र, सम्बन्धी आदि इष्ट जन होते हैं। तीसरा सहायक दैवयोग होता है और इन सबसे अधिक सहायक हैं अपने सदुत्पन्न, अपनी बुद्धि और धारणा कौशल। जहाँ कहीं इष्टमन्त्रि, इष्टवस्तु या इष्टपदार्थ प्राप्तियों सफलता हुई है वहाँ केवल उपर्युक्त चार प्रकारके साधन उपयोगमें लाए गए हैं।

इन प्रयत्नोंमें जो बाधाएँ पड़ती हैं वे भी चार प्रकारकी होती हैं। सबसे पहला बाधक तो हमारा द्वन्द्वारमक मन ही है। सुदृष्टेयमें दोनों सेनाओंके उपरिभूत हो जानेपर अर्जुनके मनमें व्यामोह हुआ—

‘नच श्रेयोनुपदशामि हत्वा स्वजनमाहवे ।’

[मैं अपने बन्धुओंका युद्धमें मारकर किसी प्रकारकी मलाई नहीं देख रहा हूँ ।]

अतः इस कार्यमें सर्वप्रथम बाधा प्रायः अपने मनकी होती है। यह मानविक वधा दो प्रकारके लोगोंके द्वारा प्रवृत्त होती है। जो या तो अत्यन्त धार्मिक हों, या अत्यन्त कादर या अध्वरिथत चिन्त हों।

दूसरे प्रकारकी बाधा वह है जो अपने मित्र, सम्बन्धी, इष्टजन या शत्रुओंके द्वारा दित करनेकी सद्भावना या अहित करनेकी दुर्भावनासे प्रेरित हो। नारदजी अपने विचारके लिये उत्सुक हुए थे और भगवानसे उनका रूप मँगवा था। उस समय उन्हें हीने हितकी कामनासे उनके विवाहमें बाधा डाली। अहित, कामनासे बाधा डालनेके उदाहरण तो प्रत्यक्ष जीवनमें ही अनेक मिलते हैं। जहाँ किसीके प्रेम, व्यापार तथा यद्यमें अनेक स्वजन ही प्रतिस्पर्धी शत्रु या बाधक बनकर खड़े होते हैं।

तीसरे प्रकारकी बाधा है दैवबाधा जिसपर मनुष्यका कोई वश नहीं। जिस प्रकार दैवसंयोग इस कार्यके लिये अनुकूल हो जाता है वैसे ही वह प्रतिकूल भी हो जाता

है। यह दैवयोग या तो स्वसम्बन्धी होता है जैसे—किसी विशेष रोगसे पीड़ित होना, कहीं चोरे छा जाने, अग भग होना, सहसा व्यापार नष्ट होनेसे दरिद्र हो जाना, अपने किसी इष्टजनके वियोगसे अनाथ और निराश्रित हो जाना या उन्मत्त हो जाना आदि घटनाएँ स्वसम्बन्धी हैं, अथवा कभी-कभी इष्टजन सम्बन्धी ऐसी दैवी घटनाएँ हो जाती हैं कि वे भी इष्टकार्यमें बाधक हो जाती हैं, जैसे—इष्ट व्यक्तिका निधन अथवा विपत्तिमें पड़ना या देश परिवर्तन तथा इस प्रकारकी अन्य घटनाएँ सब इष्टजन सम्बन्धी होती हैं। नगर ग्राम सम्बन्धी घटनाएँ भी इस कार्यकी सफलतामें बाधक हो सकती हैं। जैसे शत्रुका आक्रमण, अग्निकण्ड, नदीकी बाढ़, साम्प्रदायिक या वरों झगडे, महामारी, भूकम्प, आँधी, प्रलय, वर्षा आदि। ग्राम या नगर सम्बन्धी घटनाएँ भी इस फलमें बाधक होती हैं। इसी प्रकार राष्ट्र-सम्बन्धी घटनाएँ भी, जैसे। शत्रुपर आक्रमण, युद्ध, खण्ड प्रलय तथा अन्य ऐसी सामूहिक विपत्तियाँ और परिस्थितियों भी बाधक हो जाती हैं। जैसे अभी हिन्दुस्तान और पाकिस्तानके घटवारेपर करोड़ों परिवारोंकी घन, जन, गृह, और मानविक निश्चिन्तताकी अपार हानि हुई है।

● आदर्शसृष्टिः ।

[सृष्टि हो आदर्शकी ।]

दूसरे प्रकारके नाटकीय व्यापार वे हैं जिनमें दृढ चरित्र वाले व्यक्ति किसी विशेष आदर्शकी स्थापनाके लिये आत्म त्याग, सर्वस्व त्याग, इष्ट-वियोग, प्रवास, शारीरिक असुविधा, यातना तथा कष्ट सहते हैं।

● परपीडात्मकत्वम् ।

[औरोंको पीडा देना जिनके मुख्य विचार ।]

तीसरे प्रकारके नाटकीय व्यापार वे हैं जिनमें दृढ चरित्रवाला इष्ट पुरुष नियमित रूपसे दूसरोंको पीडा देता यादिलाता हो, दूसरोंका जन, घन, अपहरण करता या कराता हो अथवा अपने हठसे और दुर्बुद्धिसे ऐसी परिस्थिति जानबूझकर या अनजाने उपस्थित करता हो जिससे वैयक्तिक या सामूहिक रूपसे लोगोंके कष्ट प्राप्त होता हो। इन नाटकीय व्यापारोंमें प्रायः एक व्यक्ति ही प्रधान होता है और वह इतना समर्थ और चतुःशाली होता है कि

उसका विरोध करनेके लिये उतने ही शक्तिशाली पुरुषों की अपेक्षा होती है। इस प्रकारकी घटनाओंमें दैवयोगका विरोध उपयोग करनेसे ही कषाकी स्वाभाविकता बनी रह सकती है अथवा प्रतिस्पर्धीनी योजना करनेमें अत्याभाधिक होने तथा असत्य हो जानेकी अधिक सम्भावना रहती है। प्रायः दूसरे और तीसरे प्रकारके नाटकीय व्यापार एक साथ ही प्रसक्त किये जाते हैं जिनमें एक ओर कोई सत्य निष्ठ दृढ़ पुरुष लोक कल्याण के लिये सर्वस्व त्याग करनेकी निश्च प्रदर्शित करता है और दूसरी ओर कोई दृढ़ बुद्ध सक्ता अकल्याण और अमङ्गल करनेके लिये ही कटिबद्ध रहता है। विद्यमरके प्रायः सभी नाटककारोंने इस द्वन्द्वमें घटनाओंका मयोजन देवी आचार देकर इस प्रकार किया है कि दुष्टका पतन होता है और सज्जनकी विजय होती है।

● स्वेष्टग्रामराष्ट्रविश्वसंबन्धाश्रिता व्यापाराः ॥

[स्वय, इष्ट, या ग्राम, राष्ट्र सत्र, विश्व समाश्रित है व्यापार]

उपयुक्त घटनाओंका विवेचन करके हम इस परिणाम पर पहुँचे कि सत्कारमें जितना भी व्यापार होता है या जितनी भी घटनाएँ होती हैं वे सब चार सम्बन्धों पर आश्रित होती हैं। स्वसम्बन्ध, इष्टजन सम्बन्ध, नगरग्राम सम्बन्ध और राष्ट्र सम्बन्ध। यदि हम अपने सम्बन्धको विश्व वस्तुत्व और लोकमङ्गलकी सीमा तक खींच ले चहें तो एक सम्बन्ध और बढ़ जायगा 'विश्व सम्बन्ध'।

स्वसम्बन्धी घटनाएँ कुछ हितकर होती हैं कुछ अहित कर होती हैं। हितकर घटनाएँ वे होती हैं जो हमारी पुत्रपणा, विचैपणा और लोकैपणाको प्राप्त करती हैं। पुत्रैपणाको वृत्त करनेवाली घटनाओंमें मुख्य तीन बातें आती हैं। सुन्दरी, सौम्य, पतिव्रता, इष्ट कन्यासे विवाह। दूसरा पुत्रप्राप्ति और तीसरा पुत्र सुख अर्थात् पुत्रकी विद्या, गुण और यशसे मानसिक वृष्टि। इस सम्बन्धमें विवाद, पुत्र प्राप्ति तथा पुत्र-सुखमें भी चारों प्रकारकी सहायता मिलती है। अपने रूप और गुणकी, अपने मित्रों और सम्बन्धिधर्मोंकी, दैवयोगकी अथवा मन्त्र तन्त्र, औषध-प्रयोगसे इसमें बाधा भी या तो अपने मित्र, सम्बन्धी या शत्रु देते हैं या अपनी कोई वृष्टि या दुःखसे होती है अथवा दैवयोग बाधक होता है। मित्र सम्बन्धी या शत्रुकी धोरसे

पड़नेवाली बाधा या तो व्यक्तिगत होती है या समाजको उक्साकर कराई जाती है। अथवा मन्त्र तन्त्र औषधके बलसे उपरिचय की जाती है।

विचैपणाकी वृत्ति यातो अपने गुणके कारण होती है। जैसे—विद्या प्राप्त करके, वीरतासे, दूसरोंकी रक्षा करनेका पुरस्कार पाकर सौजन्यसे अथवा शारीरिक सौन्दर्यके कारण।

दूसरा उपाय है व्यापारके द्वारा धन अर्पण करना। यह भी दो प्रकारसे हो सकता है। सच्चाईके साथ और बेई-मानीके साथ। यद्यपि सत्कारमें बहुतेसे बेईमानीसे द्रव्यार्जन करनेवाले लोग भी सुखी पाए जाते हैं किन्तु व्यापार सिलाने वाले और लोकमङ्गलकी कामना करनेवाले नाटककारका यह कर्तव्य है कि वह बेईमानीसे द्रव्योपार्जन करनेवाले लोगोंका अन्त इतना बुरा दिखावे कि व्यापारी लोग अथ-मसे पैसा कमाना अपने सर्वनाशकी सूचना समझें। इस सद्व्यापारमें भी अनेक प्रकारकी बाधाएँ उपरिचय हो सकती हैं और वे बाधाएँ कुछ तो अपने स्वभाव और भूलोंसे और कुछ मानवी तथा देवी कारणोंसे हो सकती हैं। विचैपणाकी वृत्तिमा तीसरा धरण दैवयोग भी हो सकता है। सहसा भूमि र्दोदनेसे धन मिल जाना रिकय-भाग प्राप्त होना। कहींसे सहसा पुरस्कार अथवा भाग्यशेख (लौट्टी) आदिसे प्राप्त होना, ससुरालसे प्राप्त होना आदि हैं। ये सब या तो दैवयोगसे ही घटित होने हैं या कुछ ऐसे भी हीन उपाय हैं जिनसे यह विचैपणा वृत्त की जा सकती है और वे हैं चोगी, डास, किसी दीनका भाग हरण करना, छुट्टी हुई भूमि या धन हड़र कर लेना, घरोर निगल जाना, किसीने मारकर उसकी धन सम्पत्तिका स्वामी बन बैठना आदि। नाटककारको इस प्रकारके दुष्टकृतोंसे धन उपार्जन करनेकी समस्त वृत्तियोंमा अन्त इतना मयानक दिखाना चाहिए कि जो दसक इस वृत्तिके हों वे भी इस अन्तको देखकर ब्राहि ब्राहि कर उठें। इन परिणामोंके प्रदर्शनके लिये कुछ ऐसे विधान बताए गए हैं जैसे आत्महत्या करना, किसी अत्यन्त निष्ठुर प्रकारसे निष्ठुर व्यक्तिके द्वारा उसकी हत्या होना, पुत्र वीर आदि सन्तुष्टय होना, मयानक स्वप्न दिखाने पड़ना, परमें भाग लगना, किसी ऐसे अत्यन्त बीमल्ल रोगसे ग्रहित होना जिसमें उसे अत्यन्त पीड़ित और जर्जर होकर जीवन विनाना पड़े।

लोकैपणावृत्तियोंकी वृत्तिके लिए भी दो उपाय हैं। एक

तो अपने गुणोंसे यश प्राप्त करना और दूसरे औरोंकी निन्दा करके तथा कुचक्र द्वारा दूसरेको नीचा दिखाकर यश और पद प्राप्त करना होता है। अपने गुणोंसे जो यश प्राप्त करता है उसके अतिरिक्त अपने सम्बन्धियों तथा दैवयोगके द्वारा भी यश प्राप्त हो जाता है इसलिए मनुष्यको लोकैपणाकी तृप्तिके लिये विद्वान्, साहसी, तेजस्वी नीति कुशल, लोकहितकारी, उदार और सज्जन होना चाहिए। जो यश दूसरेकी हानि करके, निन्दा करके या उपकार करके अर्जित किया जाता है वह स्थायी नहीं होता। कभी-कभी दैव योगसे भी यश प्राप्त हो जाता है। जैसे सहसा किसी देशमें पहुँचकर दूसरोंके द्वारा राजा या नेता चुना जाना, और कभी कभी तो ऐसा होता है कि अनिच्छा रहते हुए भी सयोगवश दूसरोंके देखा देखी या लोकनिन्दाके भयसे कोई कार्य ऐसा हो जाता है जिससे सहसा ख्याति हो जाती है। कभी कभी अपने घरवालोंसे चिदकर मनुष्य लोकहितके लिये अपना सर्वस्व देकर ऐसी संस्थाएँ स्थापित कर देता है जिससे उसकी कीर्ति चिरस्थायी हो जाती है। कभी कभी सनकमें भी ऐसे कार्य हो जाते हैं जिनसे बिना परिश्रम किये यश प्राप्त हो जाता है। नाटककारको ऐसी घटनायें अधिक काममें नहीं लानी चाहिए। उसे केवल उन घटनाओंपर विशेष ध्यान देना चाहिए जो स्वयं अपने उसके गुण-अवगुण या कार्यके स्वाभाविक परिणाम स्वरूप उपरिगत हुई हैं। कुछ योरोपीय प्रहसनकारों और व्यङ्ग लेखकोंने लोकैपणाकी तृप्तिमें आकस्मिक और दैवी घटनाओंका समावेश अवश्य किया है और दूसरे प्रहसनों तथा व्यङ्ग्य-नाटकोंका प्रभाव भी पढ़ा है।

स्वसम्बन्धी अहितकर घटनाओंमें शरीरकी हानि, यशकी हानि और धनकी या सम्पत्तिकी हानि ही प्रधान है। शरीरकी हानि या यातना, विष, पतली, आत्महत्या, जलमें डूबना, आगमें जलमरना, जँचे स्थानसे नीचे गिरना, दुष्टों द्वारा अथवा राजपुरुषोंद्वारा अनेक प्रकारकी दुःशस यातना सहना, रोगग्रस्त होना किसी दीवाल या मकानके नीचे दब जाना, किसी जानवरसे काटे, मारे या दबाए जाना, वृक्षसे गिरना तथा द्रुच प्रकारके अन्य उपादानोंसे शारीरिक और मानसिक कष्ट प्राप्त करना है। यह सब शारीरिक हानि इष्ट व्यक्ति, यश अथवा धनकी हानिसे, अप्राप्तिये अथवा कोई भात न सहन करनेसे होती है। कभी कभी अपने किसी

इष्टके विपरीत आचरण देखकर मनुष्य प्राण त्यागकर देता है और कभी म्वय अपनी भूरुता अथवा भूल या भ्रमसे भी शरीरकी हानि कर देता है। यश और धनकी हानिके लिये भी प्रायः अपने इष्ट, मित्र या शत्रु सहायक होते हैं या दैवीयोग ही विपरीत हो जाता है। कभी कभी अपने पुत्र और पुत्रियोंके दुराचारसे ऊबकर भी लोग मृत्युकी शरण लेते हैं। ये सब घटनायें स्वसम्बन्धी होती हैं।

इष्टजन सम्बन्धी घटनाएँ भी तीन प्रकारकी होती हैं एक तो इष्टप्राप्ति, दूसरे उस वियोग और तीसरे इसके कारण सुख दुःख। अपने किसी प्रिय को प्राप्त करना इष्टप्राप्ति कहलाता है, उससे विद्युद्घना इष्ट वियोग कहलाता है। इष्ट प्राप्तिके लिये नाटककारको ऐसी घटनाओंका सयोग करना चाहिए जिसमें नायकके व्यक्तिगत गुण, उसके मित्रों और सम्बन्धियोंका सहयोग तथा दैवयोगकी सहायताका हाथ हो और इष्ट वियोगमें नाटकके दुर्गुण उसकी भूलें, दूसरोंकी प्रेरणा या कुचक्रका समावेश किया जाय। कभी-कभी इष्टवियोगका लक्ष्य उदात्त हो जाता है। जहाँ कोई व्यक्ति किसी दूसरेके हितके लिये जान बूझकर अपने पुत्र, स्त्रीका अन्य किसी निकटतम सम्बन्धीको त्याग या बलिदान करे। इष्टवियोगमें दैवयोगका भी प्रयोग करना नाटकको अधिक आकर्षित कर देता है। कभी-कभी इष्ट-प्रार्थिके लिये प्रयत्न, छल, मिथ्याचार मन्त्र, तन्त्र, अभिचार-प्रयोग तथा अन्य अनुचित उपायोंपर भी अवलम्बित किया जाता है। जहाँतक परंपर स्नेही व्यक्तियोंके लिये ऐसे उपायोंका व्यवहार किया जाय वहाँ तक तो ठीक है किन्तु जहाँ एक व्यक्ति किसी दूसरेको उसकी इच्छाके विरुद्ध उसे प्राप्त करनेके लिये छल, बल, कौशल आदिका प्रयोग करे तो वे सब अनुचित प्रयोग हैं और उनका प्रयोग केवल प्रतिनायकों द्वारा ही कराना चाहिए।

तीसरे नगर-श्राम-सम्बन्धी घटनाओंमें शत्रुका आक्रमण अभिनकाण्ड, जलप्रलय, साम्प्रदायिक या वर्गीय सर्ष सामूहिक आन्दोलन, महाभारी, भूरुच, प्रमज्जन आदि हैं। अनिष्टकारी घटनाओंके विपरीत सार्वजनिक सभाएँ, उत्सव, पर्व, मेले, चुनाव आदिमें हानेवाली घटनाओंका भी प्रयोग नाटकीय व्यवहारके निर्वाहार्थ किया जा सकता है।

राष्ट्रसम्बन्धी घटनाओंमें शत्रुका आक्रमण खण्ड प्रलय, भूकम्प, चुनाव, दुर्भिक्ष सामूहिक आन्दोलन आदि घट

नाट्योके संयोगसे नाटकीय व्यापारमें सहायता या बाधा उत्पन्न की जा सकती है ।

विश्व-सम्बन्धी घटनाएँ तीन प्रकारकी हो सकती हैं । एक तो पारस्परिक राजनीतिक व्यवहारसे सम्बद्ध, जिनके कारण अन्य देशोंसे समयपर सहायता प्राप्त हो सकती है या विरोध हो सकता है । दूसरे सांस्कृतिक सम्बन्ध, जिनके कारण विभिन्न राष्ट्रोंमें पारस्परिक एकता स्थापित हो सकती है और तीसरे व्यवसाय-सम्बन्ध, जिनके कारण एकसे दूसरे देशमें आवश्यक वस्तुओंका लेना-भेजना बन्द

होनेसे व्यापक कष्ट हो सकता है और चलाए रखनेसे आर्थिक समृद्धि हो सकती है ।

इन पाँचों सम्बन्धीवाली घटनाएँ मूलतः दैवयोग, व्यक्तिगत आचरण और व्यक्तियों तथा समाजोंसे सम्बन्ध रखनेवाले व्यक्तियोंके आचरणोंपर अवलम्बित हैं । अतः पात्रोंके कर्म, शील, कुल, बौशल, भाव आदिके अनुसार दैवयोगका समिन्धण करते हुए नाटकीय व्यापारकी घटनाओंका गुणन करना नाटककारका धर्म है ।

हृदयमिनवभरत-श्रीसोतारामविरचितेऽभिनवनाट्यशास्त्रे रूपकरचनावलएडे व्यापारयोजनाप्रकरणं नामैकदशोऽध्यायः ॥

संवाद-योजना

भाषा-तत्त्व

भाषाकी आवश्यकता

■ भाषाभिव्यञ्जनाय वाग्व्यापारः ॥

[भाष प्रकट करनेको भाषा ।]

पात्र-योजनाके प्रकरणमें हम बता आए हैं कि पात्रोंके कुल, वर्ग, देश, वृत्ति, देह, लिङ्ग, मानसिक स्थिति, स्वास्थ्य, परिस्थिति, संगति, कुल, संस्कार आदिकी भावनाका योग देकर पात्रोंकी सृष्टि की जाय और यह भी ध्यान रखना जाय कि इन सब परिस्थितियोंमें पले हुए पात्र नाटकीय परिस्थितियोंमें पञ्चक उपयुक्त अवस्थाओंके प्रभावके कारण स्वभावोचित गतिसे कार्य करते हुए नाटकीय व्यापारमें योग देकर नाट्यकारके उद्दिष्ट फलको सिद्ध करें । किन्तु यह अभिसन्धान केवल पात्र-योजनाके लिये ही नहीं, भाषा-योजनाके लिये भी आवश्यक है ।

नाटक चाहे सवादात्मक हो, मूकभिनय हो, चलचित्रके लिये लिखा गया हो, अथ नाटक (रेडियो-प्ले) अथवा भीति नाट्य हो, सभीमें भाषाकी आवश्यकता अवश्य पड़ती हो है क्योंकि उसीपर नाटकीय व्यापार आश्रित होते हैं । नाटककी अधिकार-सफलता भी भाषा: उसकी संवाद-योजनापर ही अवलम्बित होती है । बहुतसे नाटक कलाकी दृष्टिसे बहुत उच्च कोटिके न होते हुए भी संवादके चलन

सफल हो जाते हैं । अतः संवाद-योजनाके सम्बन्धमें विस्तृत विचार करना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है ।

■ भाषासंक्रमणसामर्थ्य संवाद ॥

[भाषासंक्रमणकी समर्थता आवश्यक संवादमें ।]

वाचिक अभिनयका आधार संवाद है और वह किसी भाषा-द्वारा ही होता है । भाषामें सार्थक या निरर्थक ध्वनियाँ होती हैं, उनके मेलसे शब्द बनते हैं और शब्दोंसे वाक्य । इन्हीं वाक्योंसे शब्दकी योजना, प्रयोग, उनके स्थान, रचना और कहनेकी शैलीके अनुसार श्रोता या सम्बोध्यपर उनका प्रभाव पड़ता है और वह सम्बोध्य व्यक्ति अपने स्वभाव, पद और सामर्थ्यके अनुसार उसकी शाब्दिक, मानसिक या कायिक प्रतिक्रिया करता है । इस शाब्दिक क्रिया और प्रतिक्रियाको संवाद कहते हैं ।

किन्तु इसके अतिरिक्त नाटककार कुछ निर्देश भी देता है । वह भी भाषाके द्वारा ही व्यक्त होता है । अतः संवाद और रंगनिर्देशके लिये ही दर्शक भाषापर विचार किया जा रहा है ।

इस विश्व रंगमंचके पात्रोंकी भाषाएँ अग्रलिखित हैं । उनकी गणना करना या उनके विषयमें संक्षिप्त परिचय भी देना हमारा उद्देश्य नहीं है ।

हमारा कथन इतना ही है कि सत्सुरमें जितनी भी मनुष्य जातियाँ हैं वे सब अपने मनके भाव भाषाके ही द्वारा व्यक्त करते हैं। इन सभी संस्कृत और असंस्कृत, सम्य और असम्य, ग्राम्य और अग्राम्य, प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध, वन्य और नागरिक भाषाओंमें अपनी अपनी कुछ विशेष परिगणित ध्वनियाँ होती हैं। उन ध्वनियोंके मेलसे वे ऐसे सार्थक शब्द या वाक्य बनाते हैं जिनसे नाम और क्रियाका बोधक होता है और जिनके विशेष क्रमबद्ध मेलसे लोग अपने इष्ट भाव दूसरोंपर प्रकट करते हैं और अपना व्यवहार चलाते हैं। शिष्ट, समुन्नत और सुसंस्कृत जातियोंके अपनी भाषाके ध्वनियोंको विशेष रूपसे बंधकर शब्दोंके अनेक रूप और प्रयोजन स्थिर किए, शब्दोंकी शक्ति बढाई, उनके प्रयोगोंमें नवीनता भरी और इस प्रकारके जितने अधिक व्यवस्थित प्रयास जिन भाषावालोंने किए वे भाषाएँ उतनी ही अधिक स्थिर, शुद्ध और सुव्याप्त हो गईं और इस सम्पूर्ण प्रयत्नका उद्देश्य यही हुआ कि हम अपनी बात अधिकसे अधिक स्पष्टता और विशदतासे दूसरेपर व्यक्त करने लगे। यह व्यक्त करना तीन प्रकारसे होता है—एक तो लिखकर, दूसरे व्याख्यानके द्वारा जन-समूहको सम्बोधित करके, तीसरे वार्त्तालाप या परस्पर बातचीत द्वारा। इनमेंसे लिखना और व्याख्यान देना अलग कला है। उसका विवेचन लेखन कला और व्याख्यान कलाके अन्तर्गत ही हो सकता है किन्तु नाटकमें सवादका ही प्रयोजन होता है क्योंकि नाटकके पात्र सवादके द्वारा ही अपने मनके भाव दूसरोंपर व्यक्त करते हैं और उसीसे पात्रोंके चरित्र तथा नाटककी कथाका विकास और प्रसार होता है। इस सवादमें शब्द होते हैं और वाक्य।

ध्वनि

* व्यक्ताव्यक्ता ध्वनी ॥

[व्यक्त और अव्यक्त ध्वनिद्वय ।]

मनुष्योंने जिन सब ध्वनियोंके अर्थ स्थिर कर लिये हैं और जो वाणीके द्वारा व्यक्त किए जा सकते हैं, उन्हें व्यक्त ध्वनि कहते हैं। इसके अतिरिक्त जितनी ध्वनियाँ वर्षणके द्वारा नहीं लिखी या व्यक्त की जा सकती हैं उन्हें अव्यक्त कहते हैं। मनुष्यके सुनमें कइसे श्रोष्ठक वायु जब विभिन्न

स्थानोंके सम्पर्कमें आता है और उससे जो वर्षण या सार्थक ध्वनियाँ निकलती हैं वे व्यक्त ध्वनियाँ कहलाती हैं और भिन्न-भिन्न पदार्थोंके परस्पर आघातसे जो ध्वनि सुनाई पड़ती है वह अव्यक्त ध्वनि है। ये व्यक्त और अव्यक्त ध्वनियाँ दो प्रकारकी होती हैं श्रुतिमयुर और श्रुतिकटोर। जो व्यक्त या अव्यक्त ध्वनि कानोंको मयुर लगे उन्हें श्रुति मयुर कहते हैं और जो कानको कटोर प्रतीत हो उन्हें श्रुतिकटोर कहते हैं। इनमेंसे अव्यक्त ध्वनियोंका केवल वर्षण कर दिया जाता है जैसे गाय रँगापी है, बादल गन गड़ाता है, घटा टनटनाता है, बिजली कड़कती है, वायु सनसनाता है आदि। किन्तु व्यक्त ध्वनियों या वर्षणोंका भावोंमें नियमित विचार होता है।

* ध्वन्युच्चारणमें वर्षण ॥

[ध्वनिअक्षरमय वर्षण दिविव हैं ।]

वर्षण दो प्रकारके होते हैं, ध्वन्यात्मक तथा अक्षरात्मक। तन्नाचायोंने कहा है कि प्राणियोंके मूलाधारमें (गुदा और लिङ्गके बीच दो अणुलका वह ग्यान जिसे विशेष कहते हैं, जो इच्छात्मक, ज्ञानात्मक और क्रियात्मक होता है और जहाँ करीबों सूँोंके समान प्रकाशसे युक्त स्वयं लिंग निरा जमान है सोंपने समान कुण्डली मारे हुए एक नाड़ी है जो सब वर्षणों मिलकर मन्मथ जगत्को प्रकाशित करती है, जो शब्द और अर्थमें परिवर्तन लाती है और जो उदात्त, अनुदात्त आदि स्वर समाहारको व्यक्त करनेवाली है। यह कुण्डली इस क्रमसे वर्षणमाला उत्पन्न करती है कि कुण्डलीसे शक्ति, शक्तिसे ध्यान, ध्वनिसे नाद, नादसे निरोधिका, निरोधिकासे अर्थेन्द्र, अर्थेन्द्रसे विन्दु, विन्दुसे अन्व्य वयालीस वर्षणोंकी वर्षणमाला उत्पन्न होती है। चित्शक्ति जब सत्तसे संयुक्त होती है तब वह शब्द, पद और वाक्ययुत हो जाती है। यह चित्शक्ति जब सत्त्वसे युक्त अवस्थामें आकाशम पहुँचकर रजोगुणसे मिलती है उस समय उत्पन्न होनेवाली ध्वनि ही शब्द कहलाती है। जब ध्वनि अक्षर अवस्थामें तमोगुणसे मिलती है तब वह पद और वाक्यका रूप धारण करती है।

अलंकारकौस्तुभ और पदार्थादर्श आदि ग्रन्थोंमें वर्षणके चार भेद बताए गए हैं—परा, पर्यन्ती, मध्यमा और दैहरी। जब मूलाधारसे पहले पहल नाद रूपमें वर्षणकी उत्पत्ति होती

है तब उसे परा कहते हैं। जब वह वर्षा नाद रूपमें मूलाधारसे उठकर धीरे-धीरे हृदयमें पहुँचता है तब वह पर्यन्ती कहलाता है और इसके पश्चात् जब हृदयसे उठकर वह मनसे बुद्धि और संवत्स्यके साथ मिलता है तब उसे मध्यमा कहते हैं। इसके पश्चात् जब वह बुद्धिसे उठकर कंठमें पहुँच कर मुखसे प्रकट होता है तब वह वैखरी कहलाता है।

वाक्यपदीय ब्रह्मकांडमें 'पर्यन्त्या मध्यमायाश्च' नामक चारिकाकी भावप्रदीप टीकामें पंडित श्री सूर्यनागयण शुक्लजीने लिखा है कि पर्यन्ती, मध्यमा और वैखरी तीन ही प्रकारकी वाणी होती है और ये तीनों स्थूला, सूक्ष्मा और परा भेदसे तीन तीन प्रकारकी हैं। इस प्रकार वाणीके नौ भेद हैं। वर्षाके विभागसे रहित केवल स्वरयुक्त सगीतरूपी वाणी ही स्थूला पर्यन्ती है। वही जब जिह्वासा-रूपिणी हो जाती है तब सूक्ष्मा पर्यन्ती कहलाती है। वही जिह्वासासे हीन संविद् अर्थात् बुद्धिरूपा या चिद्रूपा परा पर्यन्ती कहलाती है। चमकेंसे मढ़े हुए मृदंग आदिमें हाथकी बोटसे उत्पन्न हुई ध्वनि स्थूला मध्यमा कहलाती है। ध्वनिरूपी वाणी ही स्थूला मध्यमा कहलाती है, वही विवाद्यिया अर्थात् विचारकी इच्छाको प्रेरित करनेवाली सूक्ष्मा मध्यमा है और वही जब उस प्रकारकी इच्छासे रहित निष्पाथिका हो जाती है तब परा-मध्यमा कहलाती है। इसी प्रकार परस्पर मिलनक्षयवासे अलग-अलग वर्षाके रूपमें प्रकट होनेवाली वाणी स्थूला वैखरी कहलाती है। बोलनेकी इच्छाका रूप धारण करनेवाली सूक्ष्मा वैखरी कहलाती है और बोलनेकी इच्छासे रहित केवल ज्ञानरूपा या बुद्धिरूपा परा-वैखरी कहलाती है। पर्यन्ती ही सूक्ष्म होकर परा कहलाती है।

वैदिक साहित्यमें वाक् या वाणीके दो भेद किए गए हैं—निरक्ता और अनिरक्ता। निरक्ता वह जो प्रकट सुनाई पड़े और व्यक्त हो; अनिरक्ता वह है जो अप्रकट और अश्रव्य हो। वैखरी वाणी निरक्ता होती है, मध्यमा कभी निरक्ता होती है कभी अनिरक्ता होती है और पर्यन्ती तथा परा वाणी केवल अनिरक्ता होती है। वैखरी वर्षा भी दो प्रकारकी होती है—व्याकृता तथा अव्याकृता। जिन ध्वनियोंको मनुष्यने सार्थक बनाकर अपने व्यवहारके लिये बोलचालका साधन बनाया है और जिसे वे किसी विशेष निबन्धके साथ प्रयोग करते हैं उसे व्याकृता कहते हैं। शेष सब ध्वनियाँ अव्याकृता हैं, जैसे पशु-पक्षियोंकी बोलियाँ, बरबेंको

तोतली बौली आदि। सभी काव्योंमें केवल व्याकृता वाणीका ही प्रयोग होता है किन्तु नाटक या रूपक एक ऐसा काव्य है जिसमें अव्याकृता वाणीका भी प्रयोग किया गया है और किया जा सकता है जैसे अमिताभ शाकुन्तलमें कौकिलका कुञ्ज आदि।

संसारमें अनेक देशोंके मनुष्य अनेक प्रकारकी बोलियाँ बोलते हैं जो परस्पर विभिन्न देशवासी समझ नहीं सकते। इसलिये जो ध्वनि एक देशके लिये व्याकृता है वही दूसरेके लिये अव्याकृता हो सकती है। किन्तु कभी-कभी ऐसा भी देखा गया है कि दूसरे देशवाले एक देशकी भाषाका प्रयोग करते हुए अक्षरों और शब्दोंका भ्रष्ट उच्चारण करते हैं, जैसे—'किधर जाता है' वाक्यको एक अंग्रेज बोलता है 'किङ्ग जाटा हाए'। यद्यपि किङ्ग, जाटा, हाएकें व्युत्पत्ति हमारे व्याकरणसे नहीं हो सकती किन्तु फिर भी हम उसका अर्थ अंग्रेजोंके सम्पर्कके कारण और उनके उच्चारण-दोषसे परिचित होनेके कारण जान लेते हैं। इसी आधारपर शिष्ट भाषाके अनेक अपभ्रष्ट और देशी स्वरूप बन जाते हैं और वे भी व्याकृताके ही अन्तर्गत आ जाते हैं।

संसारकी सभी सभ्य-जातियाँ अपनी-अपनी भाषाकी वर्णमाला या ध्वनिमाला स्थिर कर ली है जिनके द्वारा वे अपने-अपने मनके भाव उस भाषाके समझनेवाले लोगोंपर व्यक्त कर लेते हैं। ये सभी ध्वनियाँ कठसे ओठ तकके बीच मुखके भीतरी स्थानोंसे उच्चरित होती हैं। सभी सभ्य भाषा-भाषियोंने इन ध्वनियोंके लेख-प्रतीक या लिपि-बिंदु बना लिए हैं। इनमेंसे कुछने नौ ध्वनियोंके प्रतिनिधि बिंदु बनाए हैं और मिलवालोंने तो वर्षोंके विचरूप ही बना लिए थे। उनके ब्यासी (८९) चित्र-वर्णोंमें मनुष्य या उनकी प्रति-कृतियोंके, सत्रह अक्ष, यन्, माने और पात्र आदिके, तीन सामुद्रिक जीवोंक, सत्रह पशु पक्षियोंके, आठ वृक्षोंके, छः ग्रही नक्षत्रोंके, एक भौगोलिक, आठ ध्वनिमित्मूलक चित्रोंके और बारह दूसरे प्रकारके बिंदु थे। संस्कृतमें पचास, तन्व-शास्त्रमें ५१, अंग्रेजोंमें २६, फ्रान्सीसीमें २३, अरबीमें २८, फारसीमें ३१, तुर्कीमें ३३, हिंदूमें, २२, रूसीमें २३, यूनानीमें २४, लैटिनमें २२, डचमें २६, स्पेनीमें २७, इतालवीमें २०, जावानीमें २०२ और ब्रह्ममें १९ वर्षा हैं। चीन देशकी वर्णनाशा शब्दलिपिका है और ऐसे शब्दोंकी संख्या प्रायः अस्सी सड़त है। इनके अतिरिक्त और भी बिननो भाषाएँ बोलती

जाती हैं उनमें कोई बहुत विकारके साथ वे ही ध्वनियों हैं जो सस्कृत वर्णमालामें हैं। किन्तु उन ध्वनियोंका अलग अलग कोई अर्थ नहीं है और यदि है भा तो एक दो का जैसे अक्षरोंमें ए और आईका अर्थ क्रमशः 'एक' और 'दो' है। किन्तु सस्कृतमें प्रत्येक वर्ण सार्थक है जैसा कि नीचेकी सरणीमें स्पष्ट हो जायगा। सत्सारीकी शेष भाषाएँ विभिन्न ध्वनियोंको मिलाकर शब्दका निर्माण करती हैं किन्तु सस्कृतकी पूर्ण वर्णमाला ही शब्दमाला है। सस्कृतका यही वर्ण समाम्नाय देवनागरी वर्णमाला कहलाता है। इतको विशेषता यह है कि इसके अक्षरोंके नाम और उच्चारण दोनों एक हैं। सत्सारीकी अन्य लिपियोंमें अक्षरोंके नाम कुछ और उनका उच्चारण कुछ होता है यहाँ तक कि कभी कभी उनमें एक ध्वनिके लिये तीन तीन अक्षर या एक अक्षरसे कई कई ध्वनियोंका काम निकाला जाता है।

नीचे हम सस्कृत वर्णमालाकी पूरी सरणी देकर यह स्पष्ट करते हैं, कि सस्कृत वर्ण-समाम्नायका प्रत्येक वर्ण सार्थक है—

- अ = विष्णु
 आ = महादेव
 इ = कामदेव
 ई = कन्दर्प, लक्ष्मी।
 उ = शिव, ब्रह्मा।
 ऊ = चन्द्रमा।
 ऋ = अदिति।
 ॠ = अदिति।
 लृ = देवी प्रकृति, पृथ्वी, पर्वत।
 लृ = देवी, नारी प्रकृति, माता, शिव, देवोंकी माता।
 ए = विष्णु।
 ऐ = शिव।
 ओ = ब्रह्मा।
 औ = अनन, शेषनाग और पृथ्वी।
 क = ब्रह्मा, विष्णु, कामदेव, अग्नि, वायु, वाम, सूर्य, आत्मा, चतुर पुत्रव, राजा, गौड या जीव, मन, शरीर, मोर, समय, धन, सत्यचि, ध्वनि, प्रकाश, ज्योति, शिर, जल, आनन्द, बाल।
 ख = आकाश, स्वर्ग, शान्तिद्वय, ज्ञान, र्थ या

आनन्द, श्रद्धा, विन्दु, नगर, खेत, कार्य, शुभप्रकृतता, ब्रह्म, सूर्य।

ग = जो जानेबाला हो, गणेश, गन्धर्व, गीत, गायन।

घ = घटी, घण्टाघट, सुयहदार करघनी, मारना, भिगोना।

ङ = इन्द्रिय-बोध वस्तु, इच्छा।

च = बीजरहित, नोच, शिव, च द्रमा, चोर, कटुआ।

छ = पवित्र, स्वच्छ, कपन, स्थिर, कान्ता, बौटना, भाग, दुकवा, बचा, टँकना, छिपाना।

ज = वेगवान, खाया हुआ, चिजनी, शिव, विष्णु, उत्पत्ति, माता या पिता, विप, प्रसन्नता, प्रकाश, चमक, गति।

झ = शयन, सुन, नरक, बृहस्पति, देवोंका राजा, छाँची, गत जानना या ताल देना, भङ्गना, भौंभका स्वर।

ञ = शुक, पैल, नास्तिक, गायन।

ट = ध्वनि, प्रत्येककी टंकार, बौना, चौधारी, लोखला नारियल, पृथ्वी, प्रतिष्ठा।

ठ = शिव, चन्द्र या सूर्यका मडल, गोला, वृत्त, शय्य, इला, देवमूर्ति या देवता, बत्तनके गिरने या लुबकनेकी ध्वनि।

ड = शिव, भय, ध्वनि, वाक्वामि, दोल, एक पत्नी, दोहरी।

ढ = बषा दोल, बुत्तेकी पूँछ, ध्वनि, साँप।

ण = ज्ञान, निश्चयता, शिव, जैन देवता, विन्दु, देव, एक आभूषण, जलधर या निदास गृह, गुणहीन, एक प्रकारकी ध्वनि, नहीं की ध्वनि, दान।

त = चोर, अमृत, जाति बहिष्कृत, नीचे, निर्वच, ऊँच, गर्व, दुष्ट, बूढ़, एक रत्न, एक बुद्ध, पार करना, पाससे होकर निकलना, गुण, पवित्रता।

थ = शुभ प्रकृतता, भय, रक्षा, पर्वत, भोजन, एक रोग।

द = पत्नी, दान, कान्ता, बौटना, तोड़ना, मोजना, रक्षा करना, पश्चात्ताप, पर्वत।

- ध = ब्रह्मा, कुबेर, नैतिक गुण, धन, सम्पत्ति ।
 न = पतला, बवा हुआ, अतिरिक्त, रिक्त, ठीक वैसा ही, निश्चित, रोषहीन, अविभक्त, बौद्ध, बौध्दना, प्रशंसित, गणेश. युद्ध, दान, भलाई, समृद्धि, एक रत्न, नाड़ी, एक बाजा, ज्ञान ।
 प = पवन, राजा, पचा, अंडा, पीना, रक्षा करना, शासन करना ।
 फ = बढ़ाना, फैलाना, कुबेरके सेवकोंको प्रसन्न करनेके लिये एक प्रकारको तांत्रिक पूजा, श्रांथी, जैमाईके समय निरूला हुआ वायु, उत्पादकता, बढ़ाने वाला, निरर्थक या व्यर्थ बान, क्रोध-वचन, ध्वनिके साथ क्रुद्ध पढ़ना, चिन्ता, व्यथा ।
 ब = वरुण, धरा, समुद्र ।
 भ = तारा, ग्रह, सत्ताइस नक्षत्र, शुक्र, भृगुमस्त्री, भूल या भ्रम. प्रकाश, ज्योति, प्रकाशकी किरण, भय, ब्रह्मा, शिव, यम, समय, कर्तु, विष, मंत्र, चन्द्रमा, सरयामका चौथा स्वर, लक्ष्मी, माता, नाप-तौल, प्रकाश, ज्ञान, बौध्दना, मृत्यु, ली-की कटि, सौभाग्य, जल ।
 य = जाने वाला, चलाने वाला, आयु, नेल, प्रसिद्धि, जौ, प्रकाश, परित्याग, यम, गांधी, रोकना, ध्यान, प्राप्ति ।
 र = अग्नि, गर्मी, जलाना, प्रेम, इच्छा, वेग, देना, स्वर्ण, जलाना ।
 ल = इन्द्र, काटना, लघुमाना, देना, लेना, गले लगाना, पिघलाना ।
 व = वायु, भुजा, बर्ण, वक्तव्य, शुभमुहूर्तना, शक्ति-शाली, आकाश, वरुणका निवासस्थान, समुद्र, बल, दौरेकर्म, राहु, सिंह, वक्त्र, जाना, चोट, बाण, बुनना, गुलाब, वरुणका मंत्र ।
 श = शिव, शस्त्र, काटनेवाला या नाशक, प्रसन्न ।
 ष = सर्वश्रेष्ठ, विद्वान्, अध्यापक, चूतुक, विनाश, शेष, ज्ञाननाश, शाश्वत आनंद, स्वर्ग, निद्रा, अन्त, बाल, गर्भ, संतोष, सहनशीलता ।
 स = सर्प, शिव, विष्णु, बाहु, पद्म स्वर, एक पत्नी, लक्ष्मी, ज्ञान, ध्यान, गांधीका मार्ग, बाधा ।

र = हंसी, पागल, मद्यप, शिव, जल, शस्त्र, ध्यान, शुभमुहूर्तना, आकाश, स्वर्ग, रक्त, मरण, भय, शान, चन्द्र, विष्णु, युद्ध रोमहर्षण, घोडा, अभिमान, वैद्य, कारण, परित्याग, घोषा, परमेश्वर, आनंद, पुकार, शस्त्र, रत्नकी चमक, बीयाकी ध्वनि ।

हमारी भाषाका ध्वनितंत्र

हमारी भारताका अर्थ यहाँ नागरी भाषा है जिसकी उत्पत्ति संस्कृतसे हुई है और जिसमें यह ग्रंथ लिखा जा रहा है और जो भारतकी राष्ट्रभाषा तथा उत्तरी भारतकी शिष्टजन-प्रयोग्य तथा अध्वयनाध्यापनकी भाषा है। इसे साधारणतः लोग हिन्दी भाषा कहते हैं। हमारे वर्षोंकी मूल ध्वनियों प्रधानतः दो समूहोंमें विभक्त हैं जिन्हे स्वर और ध्वजन कहते हैं। इनकी मूल संख्या पाणिनीय शिद्धान्तके अनुसार ६३ अथवा ६४ थी।

अ आ आ३ इ ई ई३ उ ऊ ऊ३ ऋ ॠ ॡ ॢ ए ऐ ऐ३ ओ औ औ३ क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ ड ढ ण, त थ द ध न, प फ ब भ म, य र ल व श ष स ह, चार यम, अनुस्वार (ँ), विसर्ग (:), < क् जिह्वामूलीय, और < प् उपध्मानीय, प्लुत लृकार और दुःस्थ ।

१-विषष्टिश्रुतुपध्विर्वा वर्णाः शम्भुमते मताः ।
 संस्कृते प्राह्णे चापि स्वयं प्रोक्ताः स्वयम्भुवा ॥
 स्वरा विंशतिरेकश्च स्पर्शानां पञ्चविंशतिः ।
 यद्व्यञ्ज स्मृता ह्यथौ चत्वारश्च यमाः स्मृताः ।
 अनुस्वारो विसगञ्च क् लृ चो चापि पराभिर्नो ॥
 दुःस्थश्चेति विज्ञेयो लृकारः प्लुत एव च ।
 २-यमेषाद्याना चतुष्ठी पञ्चमे परे मध्ये यमो नाम पूर्व
 सटशो वर्णः प्रातिशाख्ये प्रांसदः । पल्लिकनो चत्वरन्तुः
 अग्निः ध्वनिः । (सिद्धान्तकौमुदी सज्ञा-प्रकरण)

* नागर्या सप्तचत्वारिंशत् ॥

[सैंताज्ञिय ध्वनियों नागरी में]

हमारी नागरी भाषामें प्रयुक्त वर्षापूर्वलाके अनुसार अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ए, ऐ, ओ, औ, ११ स्वरवर्ण कहलाते हैं। क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ ड ढ ण

त य द ध न प फ ब भ म य र ल व श प स ह ३३
व्यञ्जन वर्ण कहलाते हैं। इसके अतिरिक्त अनुस्वार ()
विसर्ग (:) और अनुनासिक (~) तीन विशेष ध्वनियों
का भी प्रयोग होता है। अर्थात् नागरीमें ४४ वर्णों का
ही प्रयोग होता है। इस संभवमें सबसे अधिक ध्यान
देने योग्य बात इन वर्णोंके उच्चारण-स्थानका निर्देश है।

नीचे दिए कोष्ठमें विदित होगा कि 'नागरी वर्णोंका क्रम
सर्वथा वैज्ञानिक पद्धतिपर निश्चित किया गया है। वे एक
क्रमसे सजाये गए हैं। ऐसा नहीं किया गया है कि कछ
वर्णोंके पश्चात् ठो प्रथम वर्ण हो और उसके पश्चात् तालव्य
वर्ण आ जाय तथा तुरंत ही दूसरे कख्य वर्णोंको स्थान दे
दिया गया हो।

वर्ण	उच्चारण-स्थान	वर्ग
अ, आ, इ	कण्ठ	स्वर, अन्तस्थ
क ख ग घ ङ	जिह्वामूल	कवर्ग
इ ई, च छ ज झ ञ, य श	तालु	स्वर, चवर्ग, अन्तस्थ
श्रु श्रु, ट ठ ड ढ ण, र प	मूर्धा	स्वर, टवर्ग, अन्तस्थ
लृ, त थ द ध न, ल स	दन्त	स्वर, तवर्ग, अन्तस्थ
उ ऊ प फ ब भ म	श्रोत्र	स्वर, पवर्ग
ए ऐ।	कण्ठ-तालु	स्वरे
ओ औ	कंठी	स्वर
व	दंतो	अन्तस्थ

'श्रुकुश्चितर्जनीयाना कण्ठः' के अनुसार अ, आ, इ
क ख ग घ ङ व उच्चारणका स्थान कण्ठ है। किन्तु
स्वर्गीय ईश्वरचन्द्र विद्यासागरने इसमें संशोधन करते हुए
'अ आ इ' का उच्चारण-स्थान कण्ठ तथा कवर्गका
उच्चारण-स्थान जिह्वामूल निर्दिष्ट किया है। 'जिह्वामूले
तु कुः प्रोक्तः'। पाणिनीय शिवापर उक्तमन 'क ख ग'
के सम्बन्धमें है। पर इनका प्रयोग नागरीमें नहीं
होता। विदेशी शब्दोंमें कगज, आदिमें होता है।
पर उनका ग्रहण नागरीमें तद्रूप रूपमें होना चाहिए,
तत्सम रूप में नहीं। अतः इन नवीन ध्वनियोंके स्वीकरण
की कोई आवश्यकता हमारी नागरीमें नहीं है। हमारा
कार्य क ख ग आदिसे 'कागज' लिखकर चल जायेगा।

इसी सन्ध में वहाँ एक और बात भी यह देनी
अत्यावश्यक है। किसी कार्यके करनेके पूर्व हमें उस
कार्यका ज्ञान होना है, तदनन्तर ह्छा होती है और
तब मनुष्य उसके लिये यत्न करता है। इसी प्रकार शब्दो-
च्चारणमें भी अनेक प्रक्रियाएँ पहले ही चुकी हैं तब
मनुष्य शब्दोच्चारण करता है। पाणिनि मुनिने अरनी

शिवायें इस विषयको कुछ महत्वपूर्ण बातें कही हैं जा
अवश्यमेव ध्यानमें रखनेकी हैं। उन्होंने कहा है :—

“आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युक्ते विवक्षया ।
मनः कायाग्निमाहृति स प्रेरयति मास्त्व ॥
माक्षत्पूरसि चरन मद्रं जनयति स्वरम् ॥
सोदीर्घो मूर्ध्निभिहतो वक्तृभावद्य मास्त्वः ॥
वर्णान् जनयते तेषा विभागः पञ्चया स्मृतः ।
स्वरतः कालतः स्थानात् प्रथञ्चातुप्रदानतः ॥”

अर्थात् शब्दोच्चारणसे पूर्व आत्मा बुद्धिके साथ मिलकर
अर्थ ज्ञान करता है तदन्तर वह मनको बोल्नेकी इच्छासे
प्रेरित करता है। मन शरीरकी अभिपर आघात करता है
जिसके कारण अग्नि वायुको प्रेरित करता है। वह वायु हृदय
स्थानमें पहुँचनेपर गन्धीर ध्वनि उत्पन्न करता है। वहाँसे
चलकर फिर वह ऊपर आकर मूर्धासे टकर खाकर लौटता
है और मुखमार्गने वाहर निकलते हुए विभिन्न प्रकारकी
ध्वनियाँ उत्पन्न करता है। इन वर्णोंमें कारणके अनुसार
पॉव भेद माने जाते हैं—स्वररूप भेद, कालरूपभेद,
स्थानरूप भेद, आम्बन्तर प्रयत्नरूप और बाह्यप्रयत्नरूप भेद।

नागरी वर्णमालामें कुछ ध्वनियाँ ऐसी भी हैं जिनका उच्चारण इस समय अनिश्चित है। अतः इनका संक्षिप्त इतिहास दे देना अनुचित न होगा।

वैदिक संस्कृतमें ह्रस्व 'अ' का उच्चारण विवृत होता था। पर यह प्रारम्भिक अवस्थाही बात है। अनन्तर लौकिक संस्कृत एवं प्रातिशाल्यों और पाणिनीय शिक्षादिके द्वारा इसका उच्चारण आजकलकी भाँति सवृत ही होने लगा।

अ और लृ का भी उच्चारण वैदिक कालमें भिन्न-भिन्न होता था। 'र' ध्वनि तो इसके साथ उच्चरित होती थी जिसका प्रमाण हमें ऋक प्रातिशाल्य और महाभाष्यके अध्ययनमें प्राप्त है, पर इसका ठीक-ठीक उच्चारण क्या था यह निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता। पाली और प्राकृतमें ऋ का प्रयोग नहीं मिलता है। ऋ के स्थानपर कभी अ कभी इ और कभी उ हो जाते हैं। जैसे कृतका ऋ, ऋषि का इति और वृद्धका वल। ऋके उच्च तीन विकार संस्कृतमें भी उपलब्ध हैं—कृका करण कृका तीर्ण और पूर्वा पूर्ति। ऐसी स्थितिमें ऋका उच्चारण रु या रि न होकर रे होना चाहिए।

'लृ' का प्रयोग तो वैदिक संस्कृतमें भी अत्यल्प मात्रामें होता था। लौकिक संस्कृतमें तो 'लृ' का प्रयोग एक प्रकारसे होता ही न था। आधुनिक पाश्चात्य विद्वानोंका कहना है कि प्राचीन 'लृ' का उच्चारण अश्रेणीके 'सिलिल' शब्दमें उच्चरित होनेवाले लृ के समान था। किन्तु इस कहनेका कोई प्रबल आधार न मिलनेसे उस विषयमें मीन ही रहना उचित है। संस्कृतके पश्चात् पाली, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दीमें 'लृ' का प्रयोग सर्वथा उपलब्ध नहीं है।

ए ऐ ओ औ को वैदिक और लौकिक संस्कृतमें सन्ध्यस्वर माना है। इनके उच्चारण स्थान भी (एद्वैतोः कदतालुः। ओद्वैतोः कटोष्ठम्) एक-एक न होकर दो-दो

कहे गए हैं। महाभाष्यमें भी इन्हें सन्ध्यस्वर ही माना है।^{१२} इसी आधारपर यह कल्पना की जाती है कि इन चार अक्षरों का उच्चारण एक स्वरके या समान स्वरके समान नहीं किन्तु दो स्वरोंके समान—सन्ध्यस्वरके समान होता रहा होगा पर इसका ठीक-ठीक उच्चारण क्या था यह संदिग्ध ही है। प्रायः 'ए' 'ओ' 'ऐ' 'औ' का प्राचीन उच्चारण क्रमशः 'अइ' 'अउ' 'आइ' 'आउ' माना जाता है। इसका आधार उक्त कथनके अतिरिक्त यह भी है कि सन्ध्यस्वरोके 'ए' 'ओ' 'ऐ' 'औ' की रचना 'अ + इ' 'अ + उ' 'अ + ए' 'अ + ओ' के योगसे भी होती है। 'अए' 'अओ' भी ऐ औका एक उच्चारण माना जाता है जो आधुनिक नागरीमें उपलब्ध है। पर हिन्दीकी स्थिति कुछ विचित्र है। आधुनिक नागरीमें 'ए' 'ओ' का उच्चारण एक स्वर सा होता है और ऐ औ का सन्ध्यस्वर सा। अतः कुछ निरूपण करनेके पूर्व इन वर्णोंके इतिहासपर भी दृष्टिपात कर लेना चाहिए। संस्कृतमें ये स्वर संयुक्ताक्षर माने गए हैं यह कहा जा चुका है। पाली और प्राकृतमें ए ओ तो उपलब्ध है पर ऐ औ नहीं मिलते। प्राकृतमें ऐ का ए और औ का ओ ही जाता है। पर कुछ ऐसे परिवर्तन भी उपलब्ध है जो कि आधुनिक नागरी उच्चारणके कारण माने जा सकते हैं। प्राकृतमें दैत्य शब्दके दैका उच्चारण दइ और पौरवके पौका पउ हो जाता है। अतः संस्कृत कालमें चाहे इनका उच्चारण सन्ध्यस्वर सा रहा भी हो पर आजकल हमारा आधुनिक उच्चारण निराधार नहीं है। प्राकृत कालसे ही इनका उच्चारण थाज जैसा है। अतः ऐ औ का शुद्ध उच्चारण अइ अउ ही मानना चाहिए। किन्तु वृद्धि-सन्धिके नियमानुसार इनका निर्माण अ + ए, अ + ओ, से होनेके कारण इनका उच्चारण 'ऐसा' तथा 'औरत' आदि शब्दमें होनेवाले 'ऐ' 'औ' का भी प्रतिनिधि कहा जा सकता है जो अए, अओ के समान बोला जाता है।

१. अथ लृकारोपदेशः किमर्थः कि विरोपेक्ष लृकारोपदेश-श्रोषते न पुनरन्वेपां चर्षाणामुपदेशे प्रयोजनमस्ति लृकारोपदेशस्यापि तद्भवितुमर्हति। को वा विशेषः। अथमस्ति विशेषः। अथ लृकारस्यालृकाराद्यैव प्रयोग विषयः यथापि प्रयोग विषयः स क्लृपितस्यैव ।

(महाभाष्य १।१।२।२)

२. ननु चैहः सस्थानतरावर्द्धं एकतोऽर्द्धं श्रोकारः। न तो स्तः। यदि तौस्वतां तावेवायमुप दिरोत्। ननु च भोऽर्द्धद्वोगात्रं सत्यमुपिग्राह्याण्यनयोः अर्द्धमेंकारमर्द्धमेंकारं चाधोयते। सुजाते ए अथसृत्ने। अथर्वौओ अग्निभिः सुतस्य। शुक्रं ते ए अन्वयत्। यतस्तै ए अन्वयत्। इति

(महाभाष्य—एओह्, एओच)

इसके अतिरिक्त हिन्दीकी उपभाषाओंमें ह्रस्व 'ए ओ ए ओ' का भी प्रयोग मिलता है, जैसे कवितावली में—

श्रवलोकिदो सोच विमोचनको, 'नाथ न नाथ चढादर्दा रू
बह मारिए गोंहि जिना पग भोए' । आधुनिक नागरीमें भी वे ह्रस्व ध्वनियाँ 'लोहार', 'सोनार', 'एक्का' आदि शब्दों में उपलब्ध हैं । प्राकृतने षष्कारणमें यद्यपि इसका उल्लेख नहीं मिलता पर माथाओंमें ह्रस्व 'ए ओ' मिलते हैं । लौकिक सस्कृतमें यद्यपि ह्रस्व 'ए ओ' उपलब्ध नही है किन्तु वेद की 'सत्यमुगिराषायनीय' शालामें ह्रस्व ए ओ का उच्चारण होता था जिसका ज्ञान आज हम महा-भाष्यसे प्राप्त है एव आज भी दक्षिणके सत्यमुगिराषायनी ए ओ का ह्रस्व ही उच्चारण करते हैं पर इनने लिये हमारी नागरीमें नये सकेतोंकी आवश्यकता नहीं है । हम लोग प्रबन्धी आदिके कवित्त-सवैधोंमें आनेवाले एव 'एक्का' 'लोहार' 'सोनार' के ह्रस्व ए ओ का उच्चारण ठीक रीतिमें ही कर लेते हैं ।

'ए' का प्रयोग नागरीमें वैधल तत्सम शब्दोंमें होता है, जैसे 'गङ्गा', 'विद्वान्', 'अज्ञ' आदिमें । किन्तु इनका काम अनुस्वारके द्वारा भी चला लिया जाता है ।

'ज' का प्रयोग तो बहना चाहिए कि नागरीमें रह ही नहीं गया है । अञ्जल, चञ्जल आदि भी वस्तुतः अ-ञ्जल, न-ञ्जल पढ़े जाते हैं । केवल अनुस्वरात्मक 'साञ् साञ्' आदिमें ही ज का उच्चारण होता है । इसी प्रकार सयुक्ताक्षरोंमें आनेवाला 'ख' भी 'कुपित्त' 'दण्ड' में 'न' के रूपमें ही उच्चरित होता है । पर पञ्चम वर्ण सयुक्त वर्णोंको उपयुक्त स्थितिको एक कारण भी है । महाभाष्यकार पतञ्जलिने कहा है कि अनुस्वार और 'च, ज, ण, न, म' के पश्चात् यदि क ख ग घ च छ ज झ, ट ठ ड ढ, त थ द ध, प फ ब भ, श, ष, झ, ह आये तो अनुस्वार और 'ङ, ज, ण, न, म' को नकारोत्पन्न ही समझना चाहिए । ऐसी स्थितिमें आधुनिक नागरीके अनुस्वार और कुछ वर्णोंके पञ्चम वर्णोंका 'न' जैसा उच्चारण अकारण नहीं है । यद्यपि नागरीमें 'ङ और न का प्रथम प्रयोग नहीं होना किन्तु जब यह भारतकी राजभाषा बन रही है तब 'च और ज को रखना ही पड़ेगा, क्योंकि हिन्दी भाषामें अनेक ऐसे

शब्द हैं जिनमें 'ङ और न' स्वल्प रूपसे भी प्रयुक्त होते हैं ।

नागरी वर्णमालामें कुछ ध्वनियाँ ऐसी भी हैं जिनका प्रयोग या तो उठ चुका है या जिनका उच्चारण इस समय अनिश्चित है । इनमें 'र', 'ज' और 'ल' का प्रयोग प्रायः लुप्त हो चुका है । शेष ऋ ए ऌ और ऍ का उच्चारण भ्रमात्मक और अनिश्चित हो रहा है । लोग प्रायः ऋ का उच्चारण 'रि' की तरह किया करते हैं । वे यह भूल करते हैं । 'रि' और 'ऋ' के समान उच्चारणका भ्रम शायद दोनोंके मूर्धन्य वर्ण होनेका परिणाम है । वास्तवमें 'रि' तो 'र' पर ह्रस्व इकारकी माना लगाकर बनती है परन्तु 'ऋ' का उच्चारण ह्रस्व एकार लगाकर होना है वैसा कह चुके हैं । ऊपर, छपि, सरीसृप आदिमें इही ऋ का रूप है । इनको हम इस प्रकार लिख सकते हैं—ऋपेष्, ऋपि तथा सरीसृप ।

'य' की स्थिति भी ऋ से मिलती जुलती है । नागरी वर्णमालामें यद्यपि दन्त्य स, तालव्य श और मूर्धन्य व अलग अलग स्थान निश्चित किए गए हैं फिर भी लोग तालव्य श और मूर्धन्य व में भेद नहीं करते । मूर्धन्य व को या तो लोग तालव्य श पढ़ते हैं या सीधे ख पढ़ते हैं । उसका कारण सम्भवतः यही है कि वैदिक प्रातिशाख्योंमें 'य' का उच्चारण 'ख' भी माना गया है किन्तु 'य' मूर्धन्य वर्ण है और 'ख' कण्ठ्य वर्ण है, अतः 'ख' उच्चारण प्रातिशाख्योंमें मान्य होते हुए भी नागरीमें अमान्य है, यद्यपि श्रवणोंमें लपन' लिखकर लोग 'खलन' पढ़ते हैं ।

यद्यपि ऊपरकी विवेचनासे यह स्पष्ट है कि आजकल हमारे यहाँ 'श' और 'ष' के उच्चारणमें भेद नहीं रह गया है तथापि यह परम्परा आजकी नहीं है । हमें यह परम्परा हमारी पूर्ववर्तिनी भाषाओंसे मिली है । 'श', 'स' और 'ष' का उच्चारणका विभेद सस्कृत तक तो उपलब्ध है पर पाली, प्राकृत, अपभ्रंस आदिमें यह भेद नहीं दिखाई पड़ता । पालीमें 'श', 'ष' और 'स' के लिये केवल दन्त्य 'स' का प्रयोग होता था । इसी प्रकार शौरसेनी और महाराष्ट्री प्राकृतम में तीनों ध्वनियोंके स्थानपर केवल 'स' का ही प्रयोग होता था । मागधी

प्राकृतमें तीनों ध्वनियोंके स्थानपर केवल तालव्य 'श' का ही प्रयोग होता था। यही परम्परा हमें भी प्राप्त हुई। पर हमारी आजकी प्रवृत्ति तत्सम शब्दोंके शुद्ध रूपमें उच्चारण करनेकी ओर है। अतः हमने प्रयोग तो तीनों ध्वनियोंका कर दिया परन्तु उच्चारण अबतक केवल दन्त्य 'स' और तालव्य 'श' इन दोका ही करते हैं। यदि वैज्ञानिक दृष्टिसे देखा जाय तो वस्तुतः दन्त्य 'स' का ही कुछ विशेष परिस्थितियोंमें मूर्धन्य 'प' हो जाता है। यह नागरीके उच्चारणका अप्रभा ध्वनि-नियम है। जैसे प्रायः इ क भ ए ओ ऐ और ह य र ल व क ख ग घ ट ठ ड ढ ण और ष के पश्चात् दन्त्य 'स' के स्थानमें ही मूर्धन्य 'ष' संस्कृतमें हो जाता है। जैसे-विष, श्रमि आदि। किन्तु तालव्य 'श' और मूर्धन्य 'ष' की गढ़बन्धी उच्चारणकी अनभिज्ञताका ही फल है।

ऐसा ही भ्रम 'ज्ञ' के उच्चारणमें दिखाई पड़ता है। विभिन्न स्थानोंमें लोम 'ज्ञ' का उच्चारण 'द्वय' 'वश' या 'वस' के समान करते हैं। परन्तु नागरीका 'ज्ञ' वास्तवमें 'क' और मूर्धन्य 'प'के योगसे बनता है। प्रमाणके लिये ब्राह्मी शिलालेखोंमें आप्र हुए 'ज्ञ' को देखना चाहिए। उसमें 'क' और 'प'के संयोगसे बना हुआ 'ज्ञ' का ही रूप देखनेमें आता है।

क
पे=क्ष

इसके अतिरिक्त संस्कृत व्याकरण पदनेवाला एक साधारण विद्यार्थी भी यह जानता है कि 'क' 'प' संयोगे 'क्ष' होता है। इसी प्रकार 'धुञ्जु' भोज्य आदिमें 'क्ष'की रचना भी क + प से ही होती है।

सबसे अधिक गढ़बन्धी 'ज्ञ' के उच्चारणमें पाई जाती है। पंजाबवाले इसे शुद्ध 'ग्य' बोलते हैं। संयुक्तप्रान्त और मध्यप्रान्तमें 'ग्ये' या 'ग्यका' प्रचार है। यही महागुप्त में 'दन्त्य' और गुजरातमें 'न' उच्चरित होता है और वेद-पाठी मंडल इसका उच्चारण पन करता है।

इस सम्बन्धमें सर्वप्रथम हमें एक सूत्र मिलता है जोभोर्हः जो यह प्रमाणित करता है कि 'ज्ञ' न तो 'गु' + 'ज' से बना है और न तो 'दन्' और 'य' से बन्य यह अब्बर 'ज्' और 'ज' के संयोगसे बना है। दूसरी ओर इसीसे ही वर्ष पूर्ववाले पमोसाके ब्राह्मी शिलालेखसे भी यही

वात प्रमाणित होती है, जिसमें ब्राह्मी 'ज्' और 'ज'के योग से बना हुआ ही न लिखा मिलता है—

ॐ सानुनासिका हि नागरी प्रकृतिः ॥

[अनुनासिक है प्रकृति नागरी]

नागरी भाषाके अध्ययनसे यह सिद्ध होगा कि संस्कृतकी ध्वनियोंके अतिरिक्त नागरी भाषामें प्राकृतसे अनुनासिकना प्रयोग अधिक आ गया। अँधेरा, अँल पाँच, कुँआ, ईँट, ईँहुआ, उँगली ऊँट, एँबी, ऐँट, ओँठ, औँघा, कँपकँपी, खँड, नेँद, घुँघरू, चँदनी, झुँक, जाँघ, भाँफि, ताँत, धूँथपा, दाँत, धौँकनी, दोँनो, पोँगा, फूँक, गँध, भाँति, माँ मेँ, मैँ, रायँदावेँ, रँगाई, लँगपा, गाँव, बाँधा, गाँजा, साँब, हँडिया, हँसना, हैँ आदि शब्दों, भाँद्यों, लेखों, पुस्तकों आदि बहुवचनी और होना आदि क्रियाओंके हैं, है, हैंगे आदि रूपोंमें अनुनासिक ध्वनिका ही प्रयोग होना है। यह कालिदासके अभिज्ञानशाकुन्तलके एक प्राकृत पदमें भी मिलता है—

ईँसीमि सुमिआईँ भमरेईँ सुउमार कोमलसिराईँ ।

अवतसन्नति दन्नमना पमदाओ सिरिसकुमुमाईँ ॥

और अपभ्रंशमें भी—

पुत्तें जाएँ कवणु गुणु अवरणु कवणु मुएण ।

जा बगपीकी मुहकी चमिपञ्जइ अवरण ॥

प्राप्त होता है।

इसके अतिरिक्त नागरीकी मूल प्रकृति तद्भवामिका है जो अब तत्समामिका होती चली जा रही है। यदि हमें प्रातःकालका वर्षण ठेठ मूल नागरी भाषामें करना हो तो हम कहेंगे—

तढ़का हो गया था, थौ फट चली थी, पूरवमें लाली छा गई थी, पछी बहकने लगे थे तारे छिप गए थे, तालोंमें कमल खिलने लगे थे भीरे गूँजने लगे थे, सारी घरती जाय उठी थी और बागों और चहल-पहल मच गई थी।

इसीको आजका लेखक यों लिखेगा—

प्रातःकाल ही गया था, उवा उदित हो गई थी, पूर्वके आनाशमें लालिमा व्यस्त हो गई थी, पछी कलरव करने लगे थे तारे अस्त हो गए थे, सरोवरोंमें कमल हँसने लगे थे, भ्रमर गुञ्जन करने लगे थे, सम्पूर्ण परिवर्ती उद्वुद्ध हो उठी थी और चारों ओर सक्रियताका साम्राज्य फैल गया था।

हैं किन्तु कलमको ठीक पढ़ते हैं। अर्थात् ह के पूर्वके व्यंजन को ऐ कर देते हैं। अक्षरको अलग-अलग का, खा, गा, पा उच्चारण करनेवाले पञ्जाबी भी शब्दोच्चारणमें 'कहना' को 'कैया' बोलेंगे और पढ़ते समय यदि उन्होंने बर्षी रूप की तो 'कैना' पढ़ेंगे। अलग से यही प्रकारकी ध्वनि पूर्वमें जाकर कुछ ओकारकी श्रार प्रवृत्त होती है और बगलमें जाकर क ख ग घ शुद्ध को खो गो घो हो जाते हैं और विलक्षण बात यह है कि कमी-कमी एक शब्दमें एक दो अक्षरको गोल आकारके साथ बोलते हैं और एक आक्षको शुद्ध, जैसे कमल शब्दको वे कीमोल कहेंगे।

ह्रस्व इ और ह्रस्व उ का दीर्घ पढ़ना और बोलना नागरीवालोंकी साधारण प्रवृत्ति है। वे कविकी कवी, भाउ को भायू, बाबुको बायू पढ़त-बोलत हैं।

ऐ और औ के संबंधमें हम ऊपर विस्तारसे कह आए हैं। ऐसा को एसा, में को मे कहनेकी प्रवृत्ति मारवाड़ और गुजरातमें बहुत है। मारवाड़में और को और, कान को कोन पढ़ा-बोला जाता है। इसके ठीक विरतीत ब्रजमें ए को ऐ और ओ को आ पढ़ने-बोलनेका अभ्यास है। वे जिसने को जिसने, प्रेम को प्रैम, उसको को उसको, उसको, दोनों को दोनों पढ़ते-बोलते हैं।

यद्यपि ह का उच्चारण जीभको घंटीसे आगे लगाकर नाकसे किया जाता है और इसका प्रयोग भी अलग नागरीमें नहीं होता किन्तु वर्षमात्रामें पढ़ते हुए इसे पंजाबवाले अंगऽ और डै कहते हैं।

च छ ज भ हैं तो तालव्य किन्तु महाराष्ट्रवाले इन्हें वर्त्य और दंत्य बनाकर च् छ् ज् भ् कहते हैं।

ड और ट को प्रायः लोग ब और व पढ़ते और बोलते हैं जैसे गुडाकेशको गुडाकैश, गूड़को गूड, मूट को मूड, जड को जड, प्रौड को प्रौड। हाँ, यदि ब और ट शब्दके प्रारम्भमें आये तब वे मूल रूपमें ही बोलते जाते हैं जैसे डकार, डलिया, दकना, टोल, टमाटर। विहारमें और सिचमें ब का र हो जाता है, सबक भी सरक बन जाती है। हमारे कवि लोग भी पतभङ्ग को पतभर लिखने लगे हैं।

ए को मायः लोग ब से मिला देते हैं। ऐसे लोग गवबको गवष्य और गणेषको गवैष्य लिखते-बोलते हैं।

ष को पंजाबमें त ही पढ़ते-बोलते हैं और घेनु वहाँ

तेनु हो जाती है। ब और व का भी ऐसे ही वपला होता है। उत्तर भारतमें ब का अधिक प्रयोग होता है। यहाँ वन, वृद्ध, वानर, विमान भी बन, वृद्ध, बानर और विमान हो जाते हैं किन्तु दक्षिणवाले व का शुद्ध उच्चारण करते हैं, यहाँ वंदिणी (बदन), चाँदरा (बानर) में व का ही प्रयोग होता है। इसी प्रकार पंजाबमें म को प बोलते हैं जिससे भाउ भी पाउ हा जाता है।

य को ज पढ़ने-बोलनेकी प्रवृत्ति भी उत्तर भारतके पूर्वी भागमें है। वहाँ यशको जय्य, यजमानको जजमान, यश-कदाको जशकदा कहते हैं किन्तु यहाँ, यार, ये, यहुदी आदिकी जहाँ, जार, जे, जहुदी नहीं कहते अर्थात् तत्सम शब्दोंके प्रारम्भमें आनेवाला य को ही ज बोलत है। नियन्ताकी निजन्ता नहीं कहेंगे।

श घ स में से कहीं श का स, कहीं स का श और मेवाबमें तो सका ह हो जाता है और वहाँ साढ़े सात भी 'हाड़े हात' बन जाता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि उत्तर भारतमें व को ब कहनेका प्रचलन है किन्तु मध्यभारतमें भी वह को 'बो' कहनेका अभ्यास है। ल का र तो 'रलघोरमेदः'से बहुधा हो जाता है, गाली भी गारी हो जाती है।

सन्ध्यक्षरोंको तोड़कर कहनेकी वास्तविक प्रवृत्ति नागरीकी है। दरपन, करम, धरम, परगट, गुधुत, सरग आदि सन्धे ठेठ नागरी शब्द हैं जिनका प्रयाग कावेयाने खुलकर किया है, किन्तु अब प्रवृत्ति है दपंश, कर्म, धर्म, प्रहट, गुम, स्वर्ग आदि तत्सम रूपमें लिखनेकी। अतः लिखते ता लोग तत्सम रूपमें हैं किन्तु प्रायः पंजाबी लोग दरपण, करम, धरम ही बोलते हैं।

प्रायः स के साथ बने हुए सन्ध्यक्षरोंसे प्रारम्भ होनेवाले शब्दोंसे पहले अ या इ ओङ्कर उनका उच्चारण किया जाता है जैसे स्नानको अस्नान, स्कूलको इस्कूल, स्तोत्रको अस्तोत्र आदि। अबबके रहनेवालोंकी कुछ अपनी विरोधता है। वे ए को या और आ को वा कर देते हैं। उनका सोया, ल्वाया हो जाता है और देलो, घाली हो जाया है।

इसके अतिरिक्त प्रत्येक प्रदेशमें एक वाक्य-ध्वनि होती है अर्थात् एक विरोध स्वरारोह(वरोह)के साथ वाक्य कहना। यह ध्वनि लिखकर नहीं बताई जा सकती। इसके लिये

नाट्य-प्रयोक्तारों उन-उन प्रदेश वासियोंके सम्पर्कमें जाकर ध्वनि-ज्ञान करना चाहिए जिनके प्रयोग करनेका निर्देश नाटककारने अपने नाटकमें किया हो ।

नाटककारका यह कर्तव्य है कि यदि वह अपने नाटकमें विभिन्न प्रदेशके व्यक्तियोंका समावेश करता है तो नाटककारको अपना वाक्य-विन्यास उस प्रदेशवासीको नागरी वाक्य-शैलीके अनुसार करना चाहिए । एक नागरीका वाक्य लीजिए—

मैं तुमसे बात नहीं करना चाहता ।

इसे विभिन्न प्रदेशवाले इस प्रकार बोलते हैं—

सिन्धी—हम तुमसे बात नहीं करेंगे ।

पंजाबी—मैंने तुमसे बात नी करणी ।

राजपूतानी—तुम तेरेसे बात नी करणी ।

बंगाली—हम तुमसे बात नहीं कारना मोंगवा ।

बंबईया—हमकू तुम लोकोसे बात फरनेका नहीं है ।

अंगरेज—हम तुमसे वाट नाहँ करने मोंगवा ।

अतः नागरीमें नाटक रचना करते समय नाटककारको विभिन्न प्रदेश-वासियोंके नागरी-वाक्य-विन्यास और उच्चारण-ध्वनिका पूरा ध्यान रखकर उनके लिये सवाद-रचना करनी चाहिए और यह विशेष ध्यान रखना चाहिए कि उन प्रदेश-वासियोंके अनुकूल वाक्य-विन्यास करते समय ऐसे विदेशी या एकदेशीय शब्द न आ जायें जो सर्ववोध न हों, भले ही किसी विशिष्ट प्रदेशके लोग उसका प्रयोग विशेष रूपसे करते ही हों जैसे महाराष्ट्र, गुजरात तथा बम्बईमें सभी कोठरीको खोली कहते हैं, वेतनको पगार कहते हैं किन्तु नागरी प्रदेशोंमें इन शब्दोंका प्रचार नहीं है । अतः इनका प्रयोग या तो नहीं करना चाहिए या प्रयोग करके वही इस प्रकार स्पष्टीकरण कर देना चाहिए—

एक—हमने अपनी सब पगार खोलिके भाड़ेमें दे दिया ।

दूसरा—क्यों भाई यह पगार और खोली क्या है ?

एक—पगार कहते हैं जो महीनेमें काम करनेका पैसा मिलना है ।

दूसरा—अच्छा वेतन, माहवारी !

एक—हाँ, हाँ वही ।

दूसरा—और खोली क्या है ?

एक—खोली है वही जिसमें रहते हैं ।

दूसरा—अच्छा कोठरी, ठीक है ।

जबतक इस प्रकारसे स्पष्टीकरण नहीं होगा तबतक विभिन्न प्रदेशके भाषा-भाषियोंके विचित्र वाक्य-विन्यासका रस दर्शकोंको नहीं मिल सकता और यदि रस न मिलता तो वह सवाद ही व्यर्थ और नीरस है । प्रादेशिक उच्चारण और वाक्य-विन्यासके सबधमें इतना पत्रांत होगा ।

ॐ राष्ट्रभाषामहत्त्वान्नागरीनिरूपणम् ।

[वनो नागरी राष्ट्रभाषा हमारी ।

इत्तौते निरूपण किया अर्थकारी ॥]

वाम्तवमें नाट्यशास्त्रमें नागरीको प्रकृतिके संबंधमें इतना लिखना आवश्यक नहीं था किन्तु यह नाट्यशास्त्र विशेष रूपसे भारतके लिये और व्यापक रूपसे विश्व भरके लिये लिखा जा रहा है अतः भारतकी राष्ट्रभाषा हिन्दी या नागरीकी प्रकृतिके सबध परीचय होना आवश्यक है क्योंकि यह विश्वके स्वतंत्र राष्ट्रकी वाणी है और शीघ्र ही विश्व भरके लोग इस भाषाकी ओर आकृष्ट होकर इसका अध्ययन करेंगे और प्रचार करेंगे और संभव है कि कोई ऐसा भी युग आ जाय कि अपनी ध्वनि-सरलता और भाषा सरलताके कारण यह विश्व भरकी लोकप्रिय भाषा बन जाय ।

नाटककी भाषा

ॐ नाट्ये सर्वध्वनिप्रयोगं ग्राह्यम् ॥

[नाटकमें सब ध्वनियाँ ग्राह्य ।]

वैदिक साहित्यमें तीन प्रकारकी वाक् बताई गई है—
दंडी, भौतिक और पार्थिव । दैवी वाक् वह है जो योगियोंको समाधि अवस्थामें सुनाई पड़ती है और जिसे अनास्त नाद कहते हैं । परा, पश्यनी और मध्या वाया भी इसी श्रेणीमें है । भौतिकके अन्तर्गत वे सभी ध्वनियाँ हैं जो पंच महा-भूतोंमें व्यक्त होती हैं जैसे बोलोंका गर्जन, विजलीकी तड़प, वायुकी मर्मगहट, हृदयगहट, जलकी छलछलाहट या गर-गराहट, आगकी सरसराहट, भूकंप या ज्वालामुखीकी गद्-गद्दाहट आदि । पार्थिव वाक् दो प्रकारकी बताई गई है—
निरुक्ता और अनिरुक्ता वाक् । जिन ध्वनियोंका निर्वचन किया जा सके, व्युत्पत्ति की जा सके, अर्थ निकाला जा सके, उन सभी मानुषी ध्वनियोंको निरुक्ता कहा गया है और पशु-पक्षियोंकी बोली तथा बैल गाय हाँकते समयकी क्लै-क्लै या हुर्र-हुर्र आदि सभी ऐसी ध्वनियाँ अनिरुक्ता हैं जिनका

निर्यचन न किया जा सके ।

काव्य-शास्त्रियों ने केवल निरुक्ता वाक्को ही ग्रहण किया है । उसीको नियमित, संवृत, शक्तियाली, शिष्ट और संस्कृत करनेके लिये उन्होंने व्याकरण, छन्द, अलंकार, ध्वनि, रस आदिका विधान करके उसे सुन्दर, ललित, प्रभावशाली, सशक्त और बहुमुख बनानेका प्रयत्न किया और उसके लिये गुण-दोषके बन्धन बाँधकर उन्होंने उसे प्रेम और श्रेय बनानेका भी प्रयत्न किया । नाटकीय संवादोंके लिये भी यद्यपि इसी शिष्ट निरुक्ता भाषाका ही विधान किया गया है किन्तु अभिनवभरत इससे सहमत नहीं है । उसका कारण यह है कि निरुक्ता वाणी व्याकृत होती है । वह एक विशेष नियमके अनुसार चलती है किन्तु नाटककी भाषा पात्रोंके देश, प्रकृति और संस्कारके अनुसार अनेक प्रकारकी हो सकती है । स्वयं भरतने अपने नाट्यशास्त्रमें संस्कृत पाठ्यकी व्याख्या कर चुकनेपर अष्टादश अध्यायमें भाषाविधानके प्रसंगमें कहा है—

एतदेव विपर्यस्तं संस्कारगुणवर्जितम् ।
विशेषं प्राकृतं पाठ्यं नानावस्थान्तरात्मकम् ॥

[यही (संस्कृत ही) उलट-पलटकर उच्चारण विगाह कर और संस्कृत बोलनेके गुणोंको छोड़कर अनेक अनेक अवस्थाओंमें अनेक प्रकारसे बोला जाय तो वह प्राकृत पाठ्य हो जाता है ।]

पाठकके गुणोंका वर्णन करते हुए पाणिनीय शिष्टामें लिखा है—

माधुर्यमवरव्यक्तिः पदच्छेदस्तु सुस्वरः ।
धैर्यं लयसमर्थं च पठते पाठका गुणाः ॥

[मधुरता, अक्षर स्पष्ट बोलना, शब्द स्पष्ट और अलग बोलना, स्वरोके उचित उतार-चढ़ावके साथ बोलना, धैर्यके साथ तथा उचित लयके साथ बोलना ये छः पाठकके गुण हैं ।]

इन्हींको विगाहकर उलट-पलटकर बोलना ही प्राकृत पाठ कहलाया है । इसके पश्चात् भरतने इस प्राकृत पाठ्यको तीन प्रकारका बतलाया है—

त्रिविधं तच्च विज्ञेयं नाट्ययोगे समासतः ।
समानशब्दं विभ्रष्टं देशीगतमपि च ॥

[नाटकके लिये इस (प्राकृत पाठ्य) को तीन प्रकारका समझना चाहिए—समान शब्द, विभ्रष्ट और देशी ।]

भरतने उन 'कमला, अमल, रेणु, सुरंग, लोल, सलिल' आदि शब्दोंको समान शब्द कहा है जो प्राकृतमें पहुँचकर भी अपना संस्कृत रूप बनाए रहते हैं । इन्हें तत्सम भी कहते हैं । विभ्रष्ट उन शब्दोंको बताया है जो उच्चारण-दोषसे विगाहकर विरूप हो गए हैं जैसे— गिम्हो (ग्रीष्म), बपहो (कृष्ण), पल्लक (पर्यङ्क) आदि ।

देशी भाषाके विषयमें भरत कहते हैं—

भाषा चतुर्विधा होया देशरूप प्रयोगतः ॥ १३ ॥
संस्कृतं प्राकृतं चैव यत्र पाठ्य प्रयुज्यते ।
श्रुतिभाषार्यभाषा च जातिभाषा तथैव च ॥ १४ ॥
तथा जात्यन्तरी चैव भाषा नाट्ये प्रकीर्तिता ।
श्रुतिभाषा तु देवानामार्यभाषा तु भूयुजाम् ॥ १५ ॥
संस्कार पाठ्यसंयुक्ता सम्पन्न्यायमतिष्ठिता ।
द्विविधा जातिभाषा च प्रयोगे समुदाहृता ॥ १६ ॥
श्लेच्छशब्दोपचारा च भारतं वर्षमाश्रिता ।
अथ या जात्यन्तरी भाषा ग्राम्यारख्यासूत्रिणा ॥ १७ ॥
नानाविद्गजा चैव नाट्यधर्माप्रयोगतः ।
जातिभाषाश्रयं पाठ्यं द्विविधं समुदाहृतम् ॥ १८ ॥
प्राकृतं संस्कृतं चैव चातुर्वर्ण्यसमाश्रयम् ।
धोरोद्धते धोरललिते धोरोदात्ते तथैव च ॥ १९ ॥
धोर प्रशान्ते च तथा पाठ्य-योद्धं तु संस्कृतम् ।
एषामेव तु सर्वेषां नायकानां प्रयोगतः ॥ २० ॥
कारणव्यपदेशेन प्राकृतं सम्प्रयोजयेत् ।
ऐश्वर्यैश्च प्रमत्तस्य दारिद्र्यैश्च प्लुतस्य च ॥ २१ ॥
उत्तमस्यापि पठतः प्राकृतं सम्प्रयोजयेत् ।
व्याजलिङ्गं प्रतिष्ठानां श्रमयाना तपस्विनाम् ॥ २२ ॥
भिज्जु चाद्य चराणां च प्राकृतं सम्प्रयोजयेत् ।
याते ग्रहोपसृष्टे स्त्रीणां स्त्रीप्रकृती तथा ॥ २३ ॥
नीचे मते सलिङ्गे च प्राकृतं पाठ्यमिष्यते ।
परित्राणमुनिराक्षयेषु चैवपु श्रौतियेषु च ॥ २४ ॥
द्विजा ये चैव लिङ्गस्थाः संस्कृतं तेषु योजयेत् ।
राजभ गणिकायाश्च शिल्पकारास्तथैव च ॥ २५ ॥

कायविस्त्यान्तरकृत योज्य पाठ्यन्तु संस्कृतम् ।
 सन्धिविश्रहसम्पन्न तथा चाप्यशुभाशुभम् ॥ ३६ ॥
 प्रहनक्षत्रवरित खगाना स्तमेव च ।
 सर्वमेतदि विज्ञेय कार्यवन्वे शुभाशुभम् ॥ ३७ ॥
 नृपत्या भवेत् पाठ्य संस्कृतं द्विजसत्तमा ।
 ऋषीणां सर्वलोकरय प्रयोगस्य सुखाश्रयम् ॥ ३८ ॥
 कोशालीलार्थक चेत् पाठ्य वेश्यासु संस्कृतम् ।
 लोकोपचारानार्थ ऋषीणां पार्थिवस्य तु । ३९ ॥
 निदिष्ट शिल्पकार्येषु नाटके संस्कृत वच ।
 आम्नायसिद्ध सर्वासा शुभ चाप्सरसा वचः ॥ ४० ॥
 समर्गाद्देवताना वै तदि लोकोऽनुवर्तते ।
 छन्दस्य प्राकृत वाङ्मय स्मृतमप्सरसा भुवि ॥ ४१ ॥
 मानुषाणां च कर्तव्य कारणार्थं व्यपेक्षया ।
 न बर्बरकिरातान्द्रमिलाद्यासु जातिषु ॥ ४२ ॥
 नाट्ययोगे तु कर्तव्य कान्य भाषासमाश्रयम् ।
 जातिप्रेतानु सर्वाषु श्रद्धासु च द्विजोत्तमाः ॥ ४३ ॥
 सौरसेन समाश्रित्य भाषा कार्या तु नाटके ।
 श्रयवा छन्दसः कार्या देशभाषा प्रयोगकृमिः ॥ ४४ ॥
 नानादेशसमुत्तं हि काव्य भवति नाटके ।
 मागध्ववन्तिजा प्राच्या शूरसेन्यर्धमागधी ॥ ४५ ॥
 वाङ्मूलाका दाक्षिणात्या च सप्त भाषाः प्रकीर्तिताः ।
 शबराभीरवाएडाल सत्वर-द्रविडोद्रजा ॥ ४६ ॥
 हीनां वनेचराणां च विगाया नाटके स्मृता ।
 मागधी तु नराणाञ्चैवान्त पुरनिवासिनाम् ॥ ४७ ॥
 चेगना राजपुत्राणां श्रीश्रीनाञ्चर्धमागधी ।
 प्राच्या विदुषकादीना योज्या भाषा श्रवन्तिजा ॥ ४८ ॥
 नायिकानां सखीनाञ्च सौरसेन्यविरोधिनी ।
 यौधनागरिकादीना दाक्षिणात्या च दीव्यताम् ॥ ४९ ॥
 वङ्गोक्तमापोदीच्याना खसानाञ्च स्वदेशजा ।
 शबरोणा शकादीना तत्त्वभाष्यश्च यो गणः ॥ ५० ॥
 शकारभाषा योक्तव्या पाञ्चाली पुल्कसादिषु ।
 अङ्गारकरव्याधाना काठपत्रोपजीविनाम् ॥ ५१ ॥
 योज्या शबरभाषा तु क्रिषिद्वानौकरी तथा ।
 गजापुत्राविलोप्रादिषोष-नथाननिवासिनाम् ॥ ५२ ॥
 विन्ध्यसागरमध्ये तु ये देशाः श्रुतिमागता ।
 नकारवहुला तेषु भाषा तज्जः प्रयोजयेत् ॥ ५३ ॥

आभीरोक्तिः शयरोत्यात् द्राविडी द्रविडादिषु ।
 सुरङ्गवनकादीना श्रीष्टिङ्गाना च रत्ताम् ॥ ५४ ॥
 व्यसने नायिकादीना श्रात्परव्यासु मागधी ।
 गङ्गासागरमध्ये तु ये देशाः सम्प्रकीर्तिता ॥ ५५ ॥
 एकारवहुला तेषु भाषा तज्जः प्रयोजयेत् ।
 सुराष्ट्रान्तिदेशेषु वेङ्गवत्कन्तरेषु च ॥ ५६ ॥
 ये देशास्तेषु कुवात चकारवहुलामिह ।
 हिमवतितन्धुसौवीरान् येऽन्यदेशान् समाश्रिताः ॥ ५७ ॥
 उकारवहुला तेषु नित्य भाषा प्रयोजयेत् ।
 एव भाषाविधानन्दु कर्तव्य नाटकाश्रयम् ॥ ५८ ॥
 अथ नोक मया यच्च लोकाद्ग्राम्य भुषेद्यु तत् ॥ ५९ ॥

[दशरूपकके प्रयोगके अनुसार वहाँ भी चार प्रकारकी
 देशी भाषा जाननी चाहिए जहाँ संस्कृत और प्राकृतके
 पाठ्यका प्रयोग किया गया हो। नाट्यमें चार प्रकारकी देशी
 भाषाका प्रयोग होता है। अतिभाषा, आर्यभाषा, जाति
 भाषा तथा जल्पन्तरीभाषा। देवताओंकी भाषाको अति
 भाषा कहते हैं। राजाओंकी भाषा आर्यभाषा कहलाती है
 जो भली प्रकार सुधरे हुए पाठ्यसे युक्त होती है और
 अत्यन्त उचित दृगसे प्रयोग की जाती है। दो प्रकारकी
 जातिभाषा प्रयोगमें बताई गई है एक तो यह जिसमें श्लेष्म
 शब्दोंका प्रयोग होता है और दूसरी वह जो भारतवर्षमें
 बोली जाती है। जल्पन्तरी भाषा वह है जो गाँव और
 जंगलके पशु बोलते हैं या जा पक्षी बोलते हैं और
 नाट्यके नियमानुसार जिनका प्रयोग होता है। जाति-
 भाषाके पाठ जो दो प्रकारके होते हैं उनका वर्णन ऊपर
 हो ही चुका है। प्राकृत और संस्कृतका प्रयोग चारों
 वर्णोंके लोप कर सकते हैं।

- धीरोद्धत, धीरललित, धीरोदात्त और धीर प्रयान्त नाय
 कोसे संस्कृतमें पाठ्य कहलाना चाहिए। और सब नायकोंका
 भी संस्कृतमें ही पाठ्य रचना चाहिए। हाँ, यदि कोई कारण
 विशेष हो तो प्राकृतका प्रयोग हो सकता है। जो देशमें
 मतवाला हो उस उच्च नायकके पाठको भी प्राकृतमें रचना
 चाहिए। शुभ रूपसे रहनेवाले लोगों, भ्रमणों, मित्रुपों
 आदिका पाठ्य प्राकृतमें ही होना चाहिए। बयों, शूत
 प्रेतकी भाषासुव जिवी, सावारण्य जिवी, नोचो, मन्त्राली

और धार्मिक विशारियों (जैन और बौद्ध) का भी प्राकृतमें ही पाठ्य रखना चाहिए। संन्यासी, मुनि, शान्त तथा श्रोत्रिय ब्राह्मण और द्विज ब्राह्मणके लिये संस्कृतका प्रयोग करना चाहिए। राजाकी वेश्या तथा शिल्पकारिणी आदिका यदि किसी विशेष अवस्थामें प्रयोग किया गया हो तो उनसे संस्कृतमें पाठ्य कहलाया जा सकता है। ग्रह, नक्षत्र आदिका चरित्र, पत्तियोंका स्वर इन सबसे कार्यवन्धमें शुभ और अशुभ विचार कर लेना चाहिए। राजाकी पत्नीका पठ्य सब लोगोके मनोविनोदके लिये और नाट्य-प्रयोगके मुलाभयके लिये संस्कृतमें ही करना चाहिए। वेश्याओंका पाठ भी अधिक विनोदात्मक और कलात्मक बनानेके लिये संस्कृतमें ही होना चाहिए। लोकोपचार जाननेके लिये और राजाओंके विनोदके लिये नाटकमें शिल्पकार्य-सम्बन्धी सब बात संस्कृतमें ही होनी चाहिए। अप्सराओंकी वाणी वेदसिद्ध शुभ होती है क्योंकि उनका संसर्ग देवताओंसे होता है और लोग उसीका अनुकरण करते हैं। किन्तु पृथ्वीपर अम्भराओंकी वाणी बमते कम लुंरमें प्राकृत होनी चाहिए। मनुष्योंकी वाणी बरख और प्रयोजनके अनुसार यथायोग्य भाषामें करनी चाहिए। किन्तु बर्बर, किरात, आन्ध्र और द्रमिल (द्रविड) आदि जातियोंके लिये भाषा-समाश्रित काव्य नहीं बनाना चाहिए। इन सब जातियोंके लिये शौरसेनी भाषाका प्रयोग करना चाहिए अथवा प्रयोगकर्ता लोग वैसे भाषाका प्रयोग करना चाहें वैसे करावें। क्योंकि नाटकमें अनेक देशोंसे सम्बद्ध भाषाओंका प्रयोग होता है। सात भाषाएँ बलाई गई हैं—मागधी, अवन्तिजा, प्राच्या, धूरसेनी, अर्द्ध-मागधी, बालहीका और दाक्षिणात्या। शबर, आमीर, चांडाल, द्रविड, उदज तथा जंगलियोंकी विभाषा अर्थात् विहृत भाषाकी नाटकमें हीन बताया गया है। मनुष्यों और रजिवासमें रहने वालोंकी भाषा मागधी, चेटो राजपुत्रों और श्रेष्ठियोंकी भाषा अर्द्धमागधी, विदूषक आदिकी भाषा प्राच्या या अवन्तिजा, नायिकाओं और सलियोंकी भाषा शौरसेनी, गोदा नागरिकोंकी भाषा दाक्षिणात्या, उद्योगियोंके लिये बालहीक, खनोके लिये देशी, शबरी और शकीके लिये उनके स्वभाव और समूहके अनुसार शकार भाषा, पुल्कस आदि के लिये पांचाली, कोयले बनानेवाले, व्याध, लकड़ी और पत्ता बेचनेवाले लोगोके लिये शबर भाषाका प्रयोग करना चाहिए और हाथी, घोड़े, बकरी, ऊँट आदि का

व्यापार करनेवाले लोगोंके लिये कुछ जंगली शबर भाषाका प्रयोग करना चाहिए। विन्ध्य और समुद्रके बीच जितने देश मुने जाते हैं वहाँके निवासियोंके लिये नकारसे भरो हुई भाषाका प्रयोग करना चाहिए। आमीरोंके लिये शबर भाषा तथा द्रविडोंके लिये द्राविडी उन सब लोगोके लिये प्रयोग करनी चाहिए जो रंगरूपा काम करते, लकड़ीके खिलौने बनाते या ऊँटोंके रेवड़ चलाते हैं। नायक आदि जब संकटमें पड़ गए हों तो उन्हें अक्षरमन्त्रके लिये मागधी का प्रयोग करना चाहिए। गंगा और समुद्रके बीच जितने देश हों उनमें एकारका अधिक प्रयोग करना चाहिए। सौराष्ट्र तथा अवन्ति देशोंमें तथा वेत्रवती (वेतवा) की घाटीमें जितने देश हों उनकी भाषामें चकारका अधिक प्रयोग हो। हिमालय, सिन्धु सीवीर तथा अन्य देशोंकी भाषामें लोगोकी अकारका अधिक प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार नाटकमें भाषाका विधान करना चाहिए। मैंने अधिक इसलिये नहीं कहा कि बुद्धिमान लोग लोक व्यवहारसे ही भाषाका विधान ग्रहण कर लेंगे।]

❀ शिष्टभाषैव प्रयोज्या पात्रप्रकृत्यनुसारेण ।

[पात्र प्रकृति अनुसार ही शिष्टजनोका भाषायोग ।]

अभिनवभरतका मत है कि जब नाट्यको लोकानुरंजक बनाना है तो यह विचार कर लेना चाहिए कि दर्शकोंमें जितने लोग हीमें वे देशभरकी या विश्वभरकी भाषाओंसे परिचित नहीं हो सकते। संस्कृतके जिन नाटककारोंने अपने नाटकमें अनेक प्राकृतोंका प्रयोग किया है उन्होंने विभिन्न देशोंमें व्यवहृत होनेवाली प्राकृतोंका विचार करके उनका प्रयोग नहीं किया है वरन् केवल इस क्रमसे संस्कृतके शब्दों और वाक्योंका प्राकृतोंमें ढाल दिया है जिसकी परिपाटी प्राकृत व्याकरणोंने स्थिर कर ली थी।

अतः दर्शकोंकी दृष्टिसे यह आवश्यक है कि नाटककी भाषा एक ही हो जो व्यापक रूपसे देशके सब भागोंमें समान रूपसे समझी जाती हो और विभिन्न प्रदेशोंके उच्चारण तथा वाक्योंके रूपोंके कारण विभिन्न प्रदेशोंके भाषा-भाषियोंके द्वारा कुछ परिवर्तनके साथ बोली जानी हो। यदि हम नाटकमें विभिन्न देशोंकी भाषा मिलानेकी व्यवस्था स्वीकार भी कर लें तो यह व्यवस्था नाटककारके लिये और नाटककी स्वभाविकताके लिये अत्यंत बाधक होगी। नाटकमें

प्रत्येक पात्र अपने पद, मर्यादा, ज्ञान, योग्यता, मान-सिक या शारीरिक स्थिति तथा सम्बोध्य व्यक्तिकी योग्यता, अवस्था तथा पदके अनुभूत भाषाका व्यवहार करता है। इस व्यवहारमें यह सम्भव है कि कुछ शिष्ट तथा विद्वान् पात्र तो व्याकरण-सिद्ध भाषामें तथा पूर्ण वाक्योंमें बातचीत करें निन्दु अपिकाश ऐसे होंगे जो अशुद्ध, अप्रयुक्त, दुष्प्रयुक्त, कठिन, विरोधार्थी शब्दोंसे लदी, विभिन्न भाषाओंकी लिचवी बनी हुई, अपूर्ण, असंगत, अयुक्त, और असमय वाक्य कहें या कभी कभी भावावेशमें अधूरे और अस्पष्ट शब्दोंका प्रयोग करें और कभी कभी अपने चरित्रके अनुसार ऊटपटाग अन्तर्गत प्रलाप भी करें। अतः यह आवश्यक नहीं है कि नाटककी भाषापर किमी व्याकरणका शासन हो। हाँ, भाषाके रूपका निर्देश अवश्य हो सकता है। नाटककी भाषाका निरर्थक पात्रोंकी योग्यता और परिस्थितिपर अवलम्बित है।

इसके अतिरिक्त नाटककी भाषामें अव्याजृता वाणियोंके प्रयोगका भी यथावसर निर्देश किया जा सकता है जैसे सिंहका गरजना, कोपलका कूटना आदि। यहीं तक नहीं, चित्रलोककी कबक, समुद्रका गर्जन, भूतनाकी हरहराहटका भी निर्देश करके नाटकमें प्रयोग कराया जा सकता है। हाँ, एक दैवी वाक्य या अनिश्चिता वायोंका प्रयोग नाटककार नहीं कर सकता और उसका रूप व्यक्त न होनेसे यन्त्रके माध्यमसे भी उसे प्रकट करके दिखाना संभव नहीं है फिर भी यदि उससे नाटकीय व्यापारकी सिद्धि हो सके तो आकाशवाणीके समान उसका भी प्रयोग कराया जा सकता है।

किन्तु केवल शब्द-समूहसे ही भाषा नहीं बनती। भाषाके लिये अर्थात् क्रिया भी उद्दिष्ट भावको दूसरेके द्वारा ठीक समझे जानेके योग्य बनानेके लिये यह आवश्यक है कि शब्दोंको एक विशिष्ट क्रमसे रखा जाय। इस क्रमका विधान प्रत्येक भाषाका अलग-अलग होता है। प्रत्येक नाटककारको उस भाषाका वाक्य विन्यास विधान भली भाँति जान लेना चाहिए।

हम ऊपर यह भी कह आए हैं कि नाटकके पात्रोंकी भाषाको स्वाभाविक बनानेके लिये नाटककार सदा व्याकरणकी उपेक्षा करके लोक-प्रयोगका विशेष ध्यान रखते हैं। एक सम्वाद लीजिए—

[टेकचन्द खँटीसे कपड़े उतारकर पहनता है। उसके पिता रूपचन्दका प्रवेश।]

रूपचन्द—कहाँको तैयारी है।

टेकचन्द—(दुष्ट सकपकाकर) कहींकी नहीं।

रूपचन्द—तो ये सजपज कैसी। कहीं निमन्त्रण है ?

टेकचन्द—जी।

रूपचन्द—कहाँ।

टेकचन्द—गल्लेयके घर।

रूपचन्द—क्या है।

टेकचन्द—साहित्यगोष्ठी।

रूपचन्द—कबतक चलेगी।

टेकचन्द—यही एक आप घटे।

इसमें रूपचन्दके पहले और दूसरे कथनके वाक्योंको छोड़कर शेष सब वाक्य अधूरे हैं और यदि इनको अलग रखा जाय तो उनका कुछ भी अर्थ नहीं जगया जा सकता। अतः नाटकीय भाषाके वाक्योंकी परिभाषा यह नहीं हो सकती कि सार्थक ही शब्द-समूहका नाम भाषा है। नाटकीय वाक्यकी परिभाषा तो इस प्रकार करनी होगी—

ॐ इष्टार्थव्यञ्जकः शब्दः वाक्यम् ।

[इष्ट अर्थका व्यञ्जक जो ही शब्द वही है वाक्य ।]

जिस शब्द या शब्द-समूहसे नाटकीय संवादके प्रसंगमें पूर्ण वाक्यका इष्ट भाव प्रकट किया जा सके वही वाक्य है। कभी कभी तो केवल एक हुँकारी या हुँकारसे स्वीकृति, या अस्वीकृति, आदेश या निषेध कर दिया जाता है। नाटककी दृष्टिसे वह हुँकारी या हुँकार ही वाक्य बन जाता है।

साधारणतः मनुष्यकी प्रकृति ही ऐसी होती है कि वह शब्दोंके प्रयोगमें भिन्नव्यथी होता ही है। यदि आपका पुत्र आपसे पूछे—पिताजी! क्या मैं देवदर्शनके लिये जा सकता हूँ—तब आप कभी यह नहीं कहेंगे—हाँ! पुत्र तुम देवदर्शनके लिये जा सकते हो। आप सोचे कष्ट देंगे—‘जाओ’। नाटकमें इसी प्रकारके संवाद अपेक्षित होते हैं जिनमें स्वाभाविक वार्तालापका रस और विधान हो।

इसका तात्पर्य यह है कि जिस शब्द या शब्द-समूहसे वाक्यका अर्थ या भाव व्यञ्जित हो वह व्याकरणकी परिभाषाके

अनुसार पूरा वाक्य न भी हो फिर भी वह वाक्य ही होता है क्योंकि उतनेसे ही अर्थकी व्यंजना हो जाती है ।

ॐ अनेकानुपंगिवाग्व्यापारसंवादाः ।

[है आपसकी बोलचाल ही कहलाती संवाद ।]

नाटकमें दो या दो से अधिक व्यक्तियों परस्पर बातचीत, विचार-विमर्श, कहा-सुनी, वाद-विवाद, गाली-मालीज, तर्जन-आह्वान आदिके लिये जो परस्पर वाग्व्यापार करते हैं अर्थात् वाणीका प्रयोग करते हैं उसीको संवाद कहते हैं ।

ॐ स्वयंलापोपि ॥

[स्वयंलाप भी है संवाद ।]

कभी कभी मनुष्य अकेलेमें डरकर चिल्लाता है, सपनेमें बर्ता है, मन ही मन बुदबुदाता है, किसी सुन्दर वस्तुको देखकर प्रशंसात्मक शब्द बोल उठता है, विचित्र वस्तुको देखकर विस्मयसूचक शब्द सहसा उच्चरित कर उठता है, पत्र पढ़कर उसकी प्रतिक्रियाके रूपमें कहवा, भय स्नेह आ आश्चर्यकी मुद्रामें कुछ कह बैठता है, देवी देवताके आगे मनोती मानता या प्रार्थना करता है, मयके मदमें ब्रह्मवाद करता है, किसीसे दण्ड हो जाने या अपनी हानि हो जानेपर अपने शत्रु या हानि करनेवालेको कोजता है, पीडासे कराहता है, विचारमग्न होकर कुछ बहबहाता है, अपने प्रिय या शत्रुकी किसी वस्तुको देखकर स्नेह या क्रोधसे कुछ कह बैठता है या शाप दे देता है । यह स्वयंलाप वाग्व्यापार भी संवाद ही है, क्योंकि इस प्रकारके वाग्व्यापारमें यद्यपि किसी दूसरेकी प्रत्यक्ष आवाश्यकता या अपेक्षा प्रकट नहीं होती किन्तु परोक्ष रूपसे दूसरे व्यक्तिकी भावना इसमें अन्तर्हित होती ही है, क्योंकि अकेलेमें डरकर चिल्लानेवाला किसी दूसरेके सहायता माँगनेकी भावनासे चिल्लाना है, सपनेमें बर्तनेवाला स्वप्नमें किसीसे बात करता रहता है, सुन्दर वस्तुको देखकर प्रशंसात्मक शब्द कहनेवाला उस वस्तुको या उसके रचयिताको संबोधन करना है, विचित्र वस्तुको देखकर या विस्मयसूचक शब्द निकलता है वह अपने आत्माको या अपने पास खड़े इशक्तिकी संबोधित करनेके लिये श्मक होता है । पत्र पढ़कर जो वाणीका व्यापार स्रुत होता है वह पत्रके लेखक अथवा पत्रमें वर्णित घटनाके पात्रोंको लक्ष्य करके स्रुत होता है, देवी-देवताके आगे जो

कहा जाता है उसमें देवी देवताको संबोध सशक्त मानकर कहा जाता है, मयप धरती धृष्टिको या अपनेको संबोधित करता है, कोसनेकी क्रियामें तो व्यक्ति निदिष्ट ही रहता है भले ही परोक्षमें हो, पीडामें कराहनेवाला दूसरेकी सहायता चाहता है, स्वतः बहबहाने वाला अपनेको संबोधित करता है, प्रिय या शत्रुकी वस्तुको देखकर जो बात कही जाती है उसका लक्ष्य प्रिय या शत्रु होता है और शापमें भी लक्ष्य निश्चित ही रहता है । अतः चाहे कोई व्यक्ति स्वतः कुछ वाग्व्यापार करता है या दूसरोसे कराता है, सभी संवादके अन्तर्गत है ।

ॐ ग्लासोऽपवादः ।

[है उल्लास एक अपवाद ।]

किन्तु कभी कभी मनुष्य अत्यधिक उल्लासके कारण निरहेश्य गाने लगता है या कुछ कुछ बकने-भकने या बोलने लगता है वह संवाद नहीं होता किन्तु नाटकीय वाग्व्यापारमें उसका भी प्रयोग होता है अतः उसे भी संवादका ही रूप मान लेना चाहिए ।

ॐ गद्य पद्योभ्यात्मकं संवादः ।

[गद्य पद्य दोनोंमें ही हो सकता है संवाद ।]

सिद्धान्त निरूपणके समय ही हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि नाटककी भाषा केवल गद्यमें ही होनी चाहिए क्योंकि लोगीका साधारणतः स्वाभाविक वाचालाप गद्यमें ही होता है । उसी वाचालापमें कहीं प्रसंगशः किसी पद्योक्तिका प्रयोग करना अपेक्षित हो तो वह पद्यमें रक्षणी जा सकती है । किन्तु कुछ नाट्य-प्रयोग केवल गीतात्मक या पद्यात्मक ही होते हैं जैसे गीतनाट्यतथा नृत्य नाट्य । उनमें हमें आद्यतन पद्य रचना ही करनी पड़ती है क्योंकि उसके रंगनिर्देशका विधान भी पद्यमें ही करना पड़ता है जैसे अभिनव-भरतके 'गीतममुद्ध' द्रव्य-नाट्यमें । ऐसी रचनाके लिये हमें यह विचार करना होगा कि किस पात्रके संवादके लिये किम छुटका प्रयोग करना होगा और वह छुट भी रसके अनुसार किम रागमें गवाना चाहिए जिससे उचित प्रभाव उत्पन्न हो सके । अतः भाषाके प्रसङ्गमें आगे चलकर छुटका भी विचार करना होगा और विभिन्न रसोंके अभिव्यञ्जने अनुकूल राग रागिनियोंका भी ।

इत्यामिनवर्मरत श्रीगीताराम विरचितेऽभिनवनाट्यशास्त्रे रूपकरचनाखंडे संवाद-योगनायां भाषा तत्त्व प्रकरणं नाम द्वादशोऽध्यायः ॥

संवाद-योजना

काव्य-तत्त्व

रूपक काव्य

ॐ भावदृष्टवम् सम्वादे ॥

[आकर्षण सम्वादमें ।]

भाषा तत्त्वपर विचार कर लेनेके अनन्तर नाटक या रूपकके काव्य-तत्त्वकी मीमांसा करना अत्यन्त आवश्यक है। विश्व भरके नाटकोंका अनुशीलन करनेसे यह ज्ञात होता है कि पुराने नाटककार जहाँ एक ओर घटना गुम्फनकी ओर सजग रहते थे उतना ही वे काव्य-तत्त्वके अधिष्ठानका भी ध्यान रखते थे। भारतीय नाटकोंमें और यूनानी नाटकोंमें समान रूपसे काव्य तत्त्वकी महत्ता दृष्टिगोचर होती है। यद्यपि अस्तित्वने नाटककी भाषाशैलीका निरूपण करते हुए यह कहा है कि भाषाशैलीका समग्र भाषण शास्त्रसे है तिसका अर्थ यह है कि वह काव्यशैलीकी अपेक्षा लोक प्रयुक्त भाषाशैलीका ही निरूपण करनेकी वृत्ति नाटकमें चाहता है किन्तु सभ्रकेस, इउरीपिदेस, तथा असकुलस आदि यूनानी नाट्यकारोंकी रचनाओंमें यहाँतक कि उनसे प्रभावित रोम तथा यूरोपके नाटकोंमें भी उन्नीसवीं शताब्दितक नाटकोंमें भाषा सौन्दर्य पर अन्वयत रूपसे ध्यान दिया जाता रहा है। अतः हमारे देशमें तथा बाहरके सभी देशोंके नाटकोंमें काव्यत्वकी प्रधानता बनी रही, अर्थात् नाटकको अवस्था युक्त विमानते हुए भी नाटककार अपने पात्रोंकी भाषामें विशेष काव्यशैलीका पुट देते ही थे और सम्भवतः यही कारण है कि नाटककार भी कवि ही कहलाता था। किन्तु इधर चिन्तने प्रकारके नाटकोंका आवर्भाव हुआ है और जो नई नाट्यशैलियाँ जन्म ले रही हैं उनमें काव्यत्वकी अपेक्षा स्वाभाविकताका अधिक समावेश ही रहा है और उससे साथ साथ एक ओर प्रकारके नाटक सिर उठा रहे हैं जिनका उद्देश्य केवल अत्यन्त सख्त विद्वान् और बहुत गिने चुने लोगोंका ज्ञान विवर्धन करना ही है। उनसे विद्वान् लोगोंका मनोरंजन होता है इसमें सन्देह ही है। इन पाण्डित्यवादी नाटकोंमें नाटककार यही प्रयत्न करता है कि हम अपनी बहुज्ञता या अरुणतिका अतः दूसरोंपर जमावें। भाषाके नये लाक्षणिक कौतुकपूर्ण प्रयोगोंका

प्रदर्शन कर और रगमचपर खेलने योग्य नाटकके बदले गभीर अध्ययनके योग्य काव्यकी रचना करें। ऐसे ही एक नाटकपर टिप्पणी करते हुये एक आलोचकने उसे नाटकीय उपन्यासात्मक गद्यकाव्य कहा था।

इसके अतिरिक्त एक नये प्रकारके नाटककार उत्पन्न हो रहे हैं जो अपनेको प्रभाववादी कहते हैं। इनका उद्देश्य यह है कि हम जो कुछ कहना चाहें उसे इस प्रकार विभिन्न साधनोंसे सजाकर उपस्थित करें कि केवल संवाद या नाटकीय व्यापारसे ही नहीं बरन् सम्पूर्ण नाटकीय साधनोंके सम्मिलित प्रभावसे अर्थात् दृश्यविधान, प्रकाश विधान, वेप भूषा, संगीत नेपथ्य विधान तथा यांत्रिक क्रियाओंकी सम्मिलित योजनासे निर्दिष्ट-फलकी प्राप्ति करें। इनके अतिरिक्त आजकल एक नया वाद और चला है जो अपनेको कलावादी कहते हैं। इनका कहना है कि कला स्वयं सौन्दर्य बोधको जननी है। सौन्दर्य-बोधसे मनुष्यकी उदात्त वृत्तियाँ विकसित होती हैं। उदात्त वृत्तियोंके विनाससे मन, बुद्धि और हृदयका परिष्कार होता है और इस परिष्कारसे मनुष्यकी भावनाएँ शुद्ध, सत्य और उदात्त हो जाती हैं जिससे वह सधारण मानवतासे ऊपर उठकर देवत्वको स्पर्श करने लगता है। कलावादियोंकी यह गर्वोक्ति है कि यदि संगीत अर्थात् गीत वाद्य और नृत्य तीनोंके समन्वयसे काव्य और चित्रका संयोग करके कथा रगमचपर उपस्थित की जाय तो उसका प्रभाव शाश्वत होगा और मनुष्य विनोद प्राप्य होनेके कारण उसके नैतिक तत्त्वको ग्रहण करनेमें अधिक प्रयत्नशील होगा। उनका यह भी कहना है कि मनुष्य जबतक पद्यकी ओर प्रवृत्त रहा तबतक उसका नैतिक विकास ठीक रहा और जैसे वह गद्यकी ओर प्रवृत्त हुआ है तभीसे उसका नैतिक मान बराबर गिरने लगा। क्योंकि काव्यमें जो संगीतका तत्त्व था वह स्मृतिमें काव्यको सरलतासे सम्बद्ध रख सकनेके कारण मनुष्यकी उदात्त भावनाओंको उसकृता रहा और नैतिक दुर्बलताके क्षणमिं उसे संभालता और सात्वता देता रहा। यह शक्ति गद्यमें नहीं। कलावादियोंका यह तर्क बहुत कुछ सत्य होते हुए भी

पूर्णतः सत्य नहीं है क्योंकि नाटक या रूपक काव्यको केवल गद्यत्मक काव्य नहीं समझना चाहिए। वह दृश्य काव्य है अर्थात् वैसे हम अपने दैनिक व्यवहारमें अपनी या दूसरोंकी भूलोंसे उपदेश ग्रहण करते हैं अथवा किसीके सुकृत्योंसे प्रभावित होकर समुत्साहित होते हैं वैसे ही नाटकीय व्यापारोंको देखकर भी हम उसी प्रकार उपदेश ग्रहण करते हैं और समुत्साहित होते हैं। अन्तर फेवल इतना ही है कि दैनिक व्यवहारमें तो ठोस घटनाक्रमसे हम परिचाम ग्रहण करते हैं और नाटकमें परिचाम-ग्रहणके साथ साथ हमारा मनोविनोद भी होता है। अतः शुद्ध रूपसे केवल संगीतमय नाटक, कलाकी दृष्टिसे प्रशंसनीय श्लाघ्य और स्मरणीय भले ही हो किन्तु हितोपदेश-जनन और विनोद-जनन दोनोंका समन्वय उसमें नहीं हो सकता।

एक और भी नये नाटककार हो रहे हैं जो मनुष्यकी दुर्बलताओं और वासनाओंको सस्ते विनोदसे उत्कलना चाहते हैं। इन लोगोंका यह कथन है कि यदि मनुष्यको उपदेश प्रदण करना होता या कुछ सीखना होता तो वह पाठशाला, मंदिर या उपदेश-मवनमें क्यों न जाता। वह तो अपनी मानसिक और शारीरिक क्लृप्ति मिटानेके लिये नाटयशालामें आता है अतः उसके विनोदके लिये गंभीर, सरल और सुबोध ऐसे विनोद उपस्थित किए जायें जिनमें उसकी स्वाभाविक रुचि हो और जिनसे उससे मनका सतर्पण हो भले ही बुद्धि और आत्माको उससे कुछ भी प्राप्त न हो। ऐसी ही वेदंगी बातें तत्त्ववादी या यथार्थवादी कहते हैं। किन्तु यह स्वाभाविक है कि मनुष्य नोवेकी और वेगसे चलता है, ऊपरकी ओर उठ चलनेकी उसकी प्रवृत्ति स्वाभावतः मंद और कुंठित होती है। इसी लिये मानवताके सभी दार्शनिक नेनाओंने और महा-पुरुषोंने समान रूपसे यह कहा है कि समाजसे सम्बन्ध रखने-वाली कोई भी ऐसी क्रिया नहीं होनी चाहिए जो मनुष्यके मनका परिष्कार न करे, बुद्धिकी शुद्धि न करे और आत्माको ऊपर न उठावे।

यथार्थवादी और आदर्शवादी नाटकोके विषयमें हम पीछे विस्तारसे कह आए हैं अतः उसकी आशुति अस्पष्ट नहीं है। इन सभी नाटकोंमें काव्यत्वकी दृष्टिसे दो ही पद हैं—एक तो काव्यवादी और दूसरे स्वाभाविकता-

वादी। स्वाभाविकतावादियोंका यह तर्क है कि जब नाट्यको अश्वस्थानुकृति मानते हैं तो संवाद भी अश्वस्थानुकरण होनेके कारण स्वाभाविक होना चाहिए। काव्यवादियोंका यह कहना है कि नाट्य अश्वस्थानुकरण तो है किन्तु सभी नाटकमें सभी अश्वस्थानु काल्पनिक होती हैं और जब कल्पना हो करनी है तो वह ऊंचो श्रेणीकी क्यों न हो और फिर जब नाट्यको हितोपदेशजनक हो बनना है तो काव्यका संस्कार देनेसे यह उद्देश्य अधिक सरलतासे सिद्ध हो सकेगा। किन्तु वे दोनों ही पक्ष अनिचारित हैं क्योंकि भाषाको अत्यन्त स्वाभाविक लोक-भाषाके अनुसार रख देनेसे लोक विशेषका मनोरंजन भले ही हो किन्तु नाटकमें आनेवाले सामाजिकोंको जो भाषाका प्रकाश होता है या भाषासे जो रस मिलता है वह नहीं मिल सकेगा और अधिक विद्वान्, गुणी तथा परिष्ठित लोगोंका उचित मनो-विनोद भी न होगा। दूसरी ओर यदि संवादकी भाषा अधिक विद्वत्पूर्ण, लाक्षणिक और दार्शनिक बना दी जाय तो उससे पाठकोंको भले ही मुष्टि मिल जाय परन्तु साधारण जनसमाज उसके आनन्दसे वंचित रह जायगा। इस लिये नाटककी भाषाके सम्बन्धमें चाहे वह गद्यात्मक हो या पद्यात्मक, यही उचित है कि भाषामें काव्यके गुण तो हों किन्तु वह सुबोध हो, अर्थात् भाषा अलङ्कृत हो, सूक्तियासे पूर्ण हो, कहीं कहीं लक्षणा और व्यञ्जनासे पूर्ण हो किन्तु अलंकार-निधान या उक्ति विधान रूढ़ हो और सवै-बोध्य हो। उसे समझनेके लिये दर्शकोंको किसी प्रकारका बौद्धिक या काल्पनिक आयास न करना पड़े।

नाट्यका काव्यत्व प्रसंगानुकूलता है

❖ प्रसंगानुकूलं भाषालंकरणं नाट्य-काव्यत्वम् ।

[नाट्य-काव्यतः है प्रसंगके योग्य भावका साज ॥]

अभिनव-भरतकी इस मध्यम-मार्गीय व्यवस्थापर यह आपत्ति की जा सकती है कि एक ओर आप नाटककी भाषा स्वभाविक और सुबोध भी बनाना चाहते हैं, दूसरी ओर आप यह भी चाहते हैं कि भाषामें काव्यके गुण भी हों। काव्यकी रचनानमें कवि अपने कौरलसे उसमें अनेक गुणोंकी व्याप्ति करके एक विशेष नियमावलीके अनुसार उसका अनुबन्ध करता है। किन्तु नाटककार तो इतना

स्वच्छन्द नहीं है। पग पगवर उसे रुक रुककर मयांदा ममझकर चलना पड़ता है। भरतने सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, जातिभाषा और जाल्यन्तरी भाषाका विधान किया किन्तु नाटककारोंने सस्कृत और प्राकृतका तो उपयोग किया और वहीं-वहीं अपभ्रंशका भी प्रयोग किया गया किन्तु विभाषा, जातिभाषा और जाल्यन्तरी भाषाका प्रयोग नदक बराबर हुआ है क्योंकि नाटककार भली भाँति समझते थे कि न तो उन्हें स्वयं इतनी भाषाओंका ज्ञान है न उनके सामाजिकोंको। उपर सस्कृत और प्राकृतने जो प्रयोग हुए उनके श्लोकों या पद्याशोंका रूप इतना काव्यमय हो गया कि वह अस्वाभाविक हो गया वहाँ तक कि मवभूति जैसे महाकविोंने अपने नाटकोंमें गद्यभागमें भी गद्यशब्दोंकी समाभनहुला शैलीका अबाधनोय और अस्वाभाविक प्रयोग करके अपने नाटकोंमें स्वाभाविकता या नाटकीयता नष्ट कर दी। इधर योरिपमें जो नये समस्त-त्मक, पारिवारिक यथार्थवादी और स्वाभाविकतावादी नाटक लिखे गए हैं उनमें स्वाभाविकताको रक्षा करनेके कृनिम प्रयासमें भाषा ऐसी बेढगी और इतनी लोक-मुखी बन गई कि उसको सर्वबोधता नष्ट हो गई इसीलिये अभिनव-भरत ने यह प्रतिपादित किया है कि स्वाभाविक और सर्वबोध होते हुए भी नाटककी भाषामें काव्यत्व अथर्व्य होना चाहिए।

प्रायः लोग यह समझते हैं कि काव्यत्व उसीकी भाषामें आ सकता है जो काव्यशास्त्रका पंडित हो। किन्तु, यह बात नहीं है। साधारण जनता भी अनेक ऐसे प्रयोग करती है जो लोक-साधारण होते हुए भी काव्यत्वपूर्ण होते हैं यद्यपि उसका दूसरा काव्यत्वहान रूप भी लोक प्रयुक्त होता है। एक सवाद लीजिए—

[दो मिन बातें कर रहे हैं ।]

(क) मुझे तुमपर विश्वास है ।

(ख) तो आज स व्यक्तक मैं रूप ला दूँगा ।

इतनी ही बातको तीन नाटककारोंने तीन प्रकारसे लिखा है —

(१) क—भद्राका सखा तुम्हारी बाण्डी। समर्थन कर रहा है ।

ख—तो विमानपके बदार्पण पर्वकी प्रदोष वेतामें मैं रजत-राशिसे भद्राके सखाको पूजा करूँगा ।

(२) क—तुम्हारी बाण्डीमें सन्देह करनेकी वृत्तता मैं कैसे कर सकता हूँ ।

ख—तो सूर्यकी अन्तिम रश्मिके विदा लेनेतक तुम्हारे हाथ बाँदेंते भर जाँगेंगे ।

(३) क—तुम्हारी बातको लक्ष्मणकी रेखा समझता हूँ ।
ख—तो विश्वास रखो सख्या फूलनेतक मैं कौसी कौसी गिन दूँगा ।

इनमेंसे पहला अत्यन्त क्लृप्त, दुर्बाध और अति लाज-युक्त है। दूसरा उससे सरल है किन्तु अस्वाभाविक है, तीसरा स्वाभाविक भी है, सुबोध भी और साध ही उसमें काव्यत्व भी है ।

तात्पर्य यह है कि जैसे नाटकमें अभिनय करनेवाले व्यक्तियोंको हम एक विचित्र प्रकारसे ऐसी वेष भूषा पहना देते हैं कि राम लक्ष्मण न होते हुए भी वे राम लक्ष्मणसे प्रगीत होते हैं और लोग यही समझने हैं कि वास्तविक राम लक्ष्मण भी ऐसा ही वेष धारण करते होंगे, उसी प्रकार पात्रोंके सवादकी भाषा भी काव्यत्वके गुणसे सयुक्त होने पर भी ऐसी हो कि लोगोंको यह विश्वास करना पड़े कि अमुक पात्रके मुँहसे जो वाक्य निकले हैं वे वास्तवमें उसी पात्रके हैं, नाटककारके नहीं। इस भावनाके साथ-साथ अनेक वर्गोंके दर्शक अनेक प्रकारके पात्रोंकी बाणीको सुनकर अपनी बाणीका यह संस्कार भी करते चलें कि अमुक बात हम भी अमुक प्रकारसे कहें तो अधिक सुन्दर, क्लृप्तमक और भावपूर्ण हो सकती है अर्थात् दर्शक केवल निनोद और उपदेश लेकर ही न जायें वरन् भाषा और काव्यका संस्कार भी लेकर जायें ।

भाषामें काव्यत्व लानेके लिये नाटककारमें भी भाषाका संस्कार अपेक्षित है। यह भाषाका संस्कार चार प्रकारसे होता है, (१) नाटककारोंके सतमसे, (२) नाटकोंका अध्ययन करने और देखनेसे (३) रमशालापर नाटक उपस्थित करनेकी कलाके ज्ञानसे और (४) जनताके विभिन्न वर्गों, सप्रदाया, वृत्तियों और समुदायोंके संपर्क तथा अध्ययनसे। किन्तु इन चारों प्रकारसे भाषाका संस्कार प्राप्त करनेके लिये स्वाभाविक प्रवृत्ति और प्रतिभा आवश्यक है। जन्तक लोकाक्षर्यके अध्ययनकी प्रवृत्ति नहीं होगी और उस अध्ययनको ग्रहण करनेको प्रतिभा

नहीं होगी तबतक वह संस्कार प्राप्त नहीं हो सकता। इस संबंधमें यायावरीय राजशेखरने अपनी काव्य-मीमांसामें बड़े विस्तारसे विचार किया है।

राजशेखर कहता है कि वे मारस्वत कवि ही सर्वश्रेष्ठ होते हैं जिनके महाकाव्य हलवाहांकी भोगरिसे लेकर राज-प्रासाद तक समान रूपसे आहत होने हैं। इन कारयित्री प्रतिभावाले सारस्वत कवियोंकी ही यदि काव्यार्थकी भावनामें परिपक्व बुद्धिवाले सद्दयोंके हृदयमें आहादित करनेवालोंकी भावयित्री प्रतिभा मिल जाय तब तो सोनेमें सुगन्ध समझनी चाहिए। वास्तवमें भावयित्री प्रतिभावाले व्यक्ति वे हैं जो भावक हों। जो व्यक्ति स्वयं सद्दयके समान रस ले सकता हो वही भावयित्री प्रतिभावाला भावक कहलाता है क्योंकि जब तक वह काव्यार्थकी भावना न करे तब तक वह दूसरोंको रसमग कैसे कर पायेगा। वह कला अर्थात् कारयित्री और भावयित्री प्रतिभाओंका समन्वय नाटकीय व्यापार और पात्रोंकी योजनाके लिये भी आवश्यक है, किन्तु इसका विशेष प्रयोग शब्द और अर्थके उचित प्रभावशाली, संयोगके लिए ही अपेक्षित है। इसका अर्थ यह है कि कविको यह कला अानी चाहिए कि किस शब्दको काव्यमें किस प्रकार प्रयुक्त करे कि उससे उद्दिष्ट अर्थ व्यक्त हो सके और भाषाका चमत्कार भी बना रह जाय।

काव्य-मीमांसाकार राजशेखरने शिष्य (कवि) दो प्रकारके बताए हैं—बुद्धिमान् और आहार्यबुद्धि। जिसकी बुद्धि बिना किसीके सहायताके ही स्वभावतः आलोके मर्म-प्रदणमें कुशल हो वह बुद्धिमान् कहा जाता है और जिसकी बुद्धि शालाभ्याससे मँजली है उसे आहार्यबुद्धि कहा जाता है। बुद्धि तीन प्रकारकी होती है—स्मृति, मति और प्रज्ञा। दृढ़ संस्कारके द्वारा बोली हुई भूतकी बातोंका स्मरण करनेवाली बुद्धिकी स्मृति, प्रस्तुत विषयका मननात्मक ज्ञान करनेवाली बुद्धिकी मति और भावी विषयोंका कल्पनात्मक ज्ञान करनेवाली बुद्धिकी प्रज्ञा कहते हैं। ये तीनों प्रकारकी बुद्धि कविको काव्य-रचनाके लिये आवश्यक होती हैं। ऊपर शिष्योंके (कवियोंके) जो दो भेद बताए गए हैं उनमें बुद्धिमान् शिष्य (कवि) बिना गुरुकी प्रेरणाके स्वयं स्वाभाविक प्रेरणासे ही गुरुके शाल सुननेकी अभिलाषा रखता है। गुरुके उपदेशको सावधान होकर सुनता है, गुरुके उपदेशको मुनकर उसे व्यवस्थित रूपसे अपने हृदयमें धारण करता है। सुने हुए

और जाने हुए विषयोंकी बार-बार आलोचना करके अपने ज्ञानकी वृद्धि करता है। विशेष ज्ञान होनेपर अपने तर्क-प्रसक्त अनेक प्रकारके विकल्पोंकी कल्पना करता है, उन अपनी बुद्धि द्वारा कल्पित किए हुए विकल्पोंमेंसे अनुप्रसुक्त और अनुचित विकल्पोंको दूर करता है और इस प्रकार अपनी सुबुद्धि द्वारा अनेक मनोव्यापारोंको उपस्थित करके विषयकी यथार्थताकी तदतक पहुँच जाता है।

आहार्य बुद्धिवाले शिष्योंमें भी उपर्युक्त सभी गुणोंकी सच्चा वर्तमान् रहता है। पर इनमें अन्तः वस इतना ही होता है कि इनके इन गुणोंके विकासको किसी सद्गुरुकी प्रेरणा मात्रकी अपेक्षा रहता है। किसी अच्छे गुरुकी उपासना करना दोनों ही प्रकारके शिष्योंके लिये वाञ्छनीय है, क्योंकि अच्छे गुरुओंकी उपासनासे बुद्धिका विकास होता है। इन दोनों प्रकारके शिष्यों (कवियों) के अतिरिक्त शेष दुर्बुद्धि कहलाते हैं।

किन्तु हम ऊपर कह चुके हैं कि नाटककारके लिये केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है, उसे नाट्य-संस्कार चाहिए अर्थात् रंगशालाके विधानोंका सम्यक् ज्ञान और लोक-व्यापारका विस्तृत परिचय उसे होना ही चाहिए। इसके बिना सारस्वत काव्य भी असंजल ही सिद्ध होगा और दुर्बुद्धि कवि भी यदि निरन्तर रंगशालाके सम्पर्कमें रहे तो वह बुद्धिमान् और आहार्यबुद्धिसे, कहीं बड़ेकर अच्छा नाटककार हो सकता है। श्यामदेवका मत है कि कविको 'काव्य रचनामें समाधिको' अधिक आवश्यकता होती है। चित्तकी एकाग्रताको समाधि कहा जाता है। चित्तकी एकाग्रता अर्थोंके चयनमें अधिक उपयोगी होती है।

सारस्वत किमपि तन्मुपहा रहस्यं ब्रह्मोचरे च विदुषां निपुणैक मेकम् । तत्सिद्धये परमये परमोऽभ्युपायो यन्चेतमो विदितवेष्यविधेः समाधिः ॥

तात्पर्य यह है कि (सारस्वतो-सम्बन्धी कुछ ऐसे गूढ़ तत्त्व हैं जिनका अन्वेषण करना विद्वानोंका एक मात्र कर्तव्य है और उनकी सिद्धिके लिये सबसे प्रधान साधन है चित्तकी एकाग्रता। आचार्यवर महर्षिोंका कहना है कि काव्य-सृष्टिको प्रधान साधन अभ्यास है। अभ्यास कहते हैं निरन्तर अर्थोंके परिशीलन करनेको। अभ्यास समी विषयोंमें अवाध

गति का संचार कराता है। समाधि और अभ्यासमें भेद यह है कि समाधिमें आन्तरिक व्यागारको प्रचानता होती है और अभ्यासमें बाह्य प्रयत्न ही। समाधि और अभ्यास दोनों ही काव्य-प्रणयन शक्तिको बढ़ाते हैं। यायावरीय (राजशेखर)-का मत है कि काव्य-रचनामें शक्ति ही मुख्य कारण है। प्रतिभा और व्युत्पत्ति ये दोनों शक्तिके ही परिणाम हैं। जिस व्यक्तिके काव्य-रचना-शक्ति हावी है उसीमें प्रतिभा और व्युत्पत्तिका भी स्फुरण होता है। आ शक्ति विशेष काव्य-रचनाके प्रसारमें कविके मानसमें काव्य-रचनाके अनुकूल शब्द-समुदाय, सहृदय-हृदयको मुग्ध कर सकनेवाली शब्द-राशि, शब्दार्थमिश्रालंकार प्रपञ्च और कवि सिद्धान्त-ानुकूल उक्ति-वैचित्र्यका स्फुरण कराती है उसे प्रतिभा कहा जाता है। अप्रतिभावात् व्यक्तिके सामने शब्द तथा अर्थ दोनों अप्रत्यक्ष रूपसे प्रकट होते हैं और प्रतिभाशालीके सामने शब्द और अर्थ प्रत्यक्ष स्वानुभूतिके समान मूर्त रूप लेकर उपस्थित होते हैं। इस प्रतिभाका ही प्रताप है कि मेघावि, ऋत, कुमारदास आदि जन्मान्ध कवियोंके वर्णनमें भी पाठकोंको प्रत्यक्षानुभूतिका दर्शन मिलता है। यह प्रतिभाका ही बल है कि कवि अपनी कुटियामें बैठा हुआ देशान्तर और द्वीपान्तरीकी वस्तुओंका भी अपने काव्योंमें ऐसा सच्चा और सजीव चित्र खींच देता है कि पाठकोंके मनमें कविको उन दृश्यों के प्रत्यक्ष दर्शन न होनेके सन्देहका उदय ही नहीं हो पाता।

कारयित्री प्रतिभा

कारयित्री और भावयित्री भेदसे प्रतिभा दो प्रकारकी होती है। काव्यके रचयिताका उपयोग करनेवाली कारयित्री प्रतिभा कही जाती है। उसके भी सद्गुण, आहात्म्य और औपदेशिकी ये तीन भेद हैं। जन्मान्तरीय संस्कारसे प्राप्त प्रतिभाको सद्गुण कहते हैं, वर्तमान जन्म-सम्बन्धी संस्कारोंसे उत्पन्न हुई प्रतिभाको औपदेशिकी कहते हैं। इस प्रकार सारस्वत, आम्पासिक और औपदेशिक ये तीन प्रकारके कवि कहे जाते हैं। वह बुद्धिमान पुरुष जिसको अध्ययनादिके बिना ही जन्मान्तर संस्कारोंसे सारस्वत अनुभवोंका ज्ञान होता है उसे सारस्वत कहते हैं। इसी जन्मके अभ्याससे प्रतिभा सपत्ति अर्जन करनेवाला आहार्यबुद्धि शिष्य आध्यात्मिक कहलाता है। मन्त्र-तन्त्रादिके अनुष्ठानसे और उदाहरणादि दिग्दर्शनद्वारा जिसमें कवित्व शक्तिका उद्भाव

किया जाय वह दुर्बुद्धि शिष्य औपदेशिक कवि कहा जाता है। इसलिये औपदेशिक कवियोंको छोड़कर सारस्वत और आम्पासिक कवियोंको कवित्व शक्तिके उद्भावन करनेके लिये मन्त्र तंत्र आदिके अनुष्ठान ही कोई आवश्यकता नहीं। क्योंकि स्वभावतः मधुर अग्ररूपके रसमें गुण मिलानेकी कोई आवश्यकता नहीं हुआ करती यह आचार्योंका मत है। किन्तु यायावरीय राजशेखरका मत है कि आम्पासिक और सारस्वत कवियोंके लिये भी मन्त्र-तन्त्रादिका प्रयोग उपयोगी ही है क्योंकि एक ही कार्यके संसादक दो साधनोंके अनुष्ठान से क्रियाके फलमें विशेषता या शोभता ही होती है। इन तीनों प्रकारके कवियोंमें क्रमशः औपदेशिकसे आम्पासिक और आम्पासिकसे सारस्वत उत्तरोत्तर कुशल होते हैं। क्योंकि कहा गया है—

सारस्वतः स्वतन्त्रः स्याद्भ्रमभेदाभ्यासिको मितः ।

औपदेशिकवित्स्वत्र वल्गु फल्गु न जल्वगि ॥

सारस्वत कवि अपनी ध्यानमें स्वतन्त्र होता है। नैसर्गिक प्रतिभासे उसकी वाग्धारा निर्वाच-गतिसे प्रवाहित होती चली जाती है। द्वितीय कोटिका आम्पासिक कवि अपने ऐहलौकिक शाब्दाभ्यासके बलसे रचना करता है पर उसकी रचना एक परिमित क्षेत्रके भीतर ही व्याप्त रही है। मन्त्र-तंत्र आदिके उपदेशके प्रभावसे कवित्व-शक्तिका अर्जन करनेवाला औपदेशिक कवि तो कभी मनोहर और कभी निरर्थक रचनाएँ भी किया करता है इसलिये वह सबसे निकृष्ट कोटिका कवि कहा जाता है। यायावरीय राजशेखरका मत है कि तीनों प्रकारके कवियोंमें जिसकी रचनामें उत्कर्षकी मात्रा अधिक होगी वही उच्चम कवि कहा जायगा चाहे वह औपदेशिक हो, आम्पासिक हो या सारस्वत हो। उत्कर्ष गुणोंकी अधिकतासे होता है। जिस कविनामें जितने ही गुण होंगे उतनी ही उत्कृष्ट वह कविता मानी जायगी। कहा गया है—

बुद्धिमत्त्व च काव्यागविद्यास्वव्यास कर्म च

कवेः औपनिषद्भुक्तित्वयमेकत्र दुर्लभम् ॥

काव्यकाव्याङ्गविद्यासु श्रुताभ्यासस्य कोमतः ।

मन्त्रानुष्ठानमिदं नैदिशा कवित्वाजता ॥

काव्य-रचनामें उपयोगिनी विद्याओंका निपुणतापूर्वक ज्ञान, काव्य-रचनाका अभ्यास और कवियोंके रहस्य-ज्ञानसे

भो हुई कवित्व-शक्ति, ये तीनों बातें एक ध्यक्तिमें सुलभ होना असम्भव है। काव्यकाव्यांग भूत छन्द कोश विद्याओंका पूरा अभ्यास और मन्त्र तन्त्रादिके प्रयोगका भी उपयोग करनेवाले व्यक्तिके लिये महाकवि कहलाना बहुत सरल बात है। कवियोंके उत्कर्षांपर्यन्तके विषयमें यह प्रसिद्ध कहावत है।

एकस्य तिष्ठति कवेर्यहएव काव्यमन्यस्य गच्छति
सुहृद्भववानि यावत्।

व्यस्त्या स्वे १) विदग्धवदनेषु पदानि शश्वत्स्यापि
सञ्चरति विभक्तुनुह्लोच ॥

एक ऐसे अकुशल कवि होते हैं जिनकी रचना उनके परमें ही पकी-पकी सब जाती है और उसका तनिक भी प्रचार नहीं हो पाता। दूसरे प्रकारके वे कवि होते हैं जिनकी रचनाका प्रचार उनके सुहृद्वर्ग तक ही रह जाता है और वे सब-साधारणके मानसको आह्लादित करनेमें असफल सिद्ध होती हैं। सबसे उत्कृष्ट तीसरे प्रकारके वे सारस्वत कवि होते हैं जिनके महाकाव्य हलवाहकी भोग्गति लेकर राजप्रसादों तक समान रूपसे आदृत होते हैं। यहाँतक तो कारयित्री प्रतिभाका वर्णन हुआ।

भावयित्री प्रतिभा

अब भावयित्रीके विषयमें विचार किया जायगा। काव्यार्थकी भावनामें परिपक बुद्धिवाले सहृदय वर्गके हृदयको आह्लादित करनेवाली प्रतिभा भावयित्री कहलाती है। भावयित्री प्रतिभा कविके काव्य-रचना व्यापार-रूपी वृद्धको सफल बनानी है। बिना इस प्रतिभाके वह फलहीन निरर्थक ही रह जाता है। कारयित्री प्रतिभावाला व्यक्ति कवि कहलाता है और भावयित्री प्रतिभावाला भावक। आशयोंका कहना है कि कवि ही काव्यार्थकी भावना करता है और भावक ही कविता करनेकी क्षमता रखता है। अतः कवि और भावकमें कोई भेद नहीं होना चाहिए। उन्होंने कहा भी है—

प्रतिभाकारतम्येन प्रतिष्ठा भुवि भूरिषा ;

भावकस्य कविः प्रायो न भजत्वथमां दशाम् ॥

[प्रतिभाकी स्युनता और अधिकतासे कवियोंके भिन्न-भिन्न पद होते हैं। भावोंमें रमण करनेवाला भावक कवि सर्वश्रेष्ठ होता है और लोक प्रशंसा प्राप्त करता है।]
इसलिये कवि और भावकमें कोई स्वरूपतः भेद नहीं है। कवि और भावकमें एकताके प्रतिपादन करनेवाले आशयोंके मतसे कालिदास सहमत नहीं हैं। इनका कहना है कि कवि और

भावकमें महान् भेद है। काव्यके रचयिताको कवि कहा जाता है और काव्यार्थकी भावनामें परिपक-बुद्धि सहृदय, जो वर्णनीय वस्तुमें तन्मय होकर रसास्वादनकी अवस्थाको पहुँचता है, भावक कहलाता है। कवि और भावकके विषयमें भी बहुत अन्तर है। कविके वर्णनीय घटपट आदि पदार्थ विषय होते हैं और रसमात्रके आस्वादनमें लौन भावकका विषय रसास्वादन मात्र होता है। ऐसी स्थितिमें कवि और भावकके परस्पर स्वरूप तथा विषय दोनोंमें भेद होनेके कारण कवित्व और भावकत्व भिन्न-भिन्न हैं जैसा कि किसने कहा है—

कश्चिद्वाच रचयितुमल श्रोतुमेवापरस्तां
कल्याणीं ते मतिरभयथा विधम्यं नस्तनोति।

नहोक्स्मिन्नतिशयवतां सन्निपातो गुणाना-
मेकः सूने कनकशुपद्मस्तत्परीक्षासमोऽन्यः ॥

[कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं जो अपने को कारयित्री प्रतिभाके बलसे केवल काव्योंकी रचना करनेमें ही कुशल होते हैं, और कुछ ऐसे लोग होते हैं जो भावयित्री प्रतिभाके प्रतापसे काव्य-वाणीको सुनकर उसके रसास्वादनमें ही निपुण होते हैं। पर कारयित्री और भावयित्री दोनों प्रतिभाओंका परिचय देकर तुम्हारी बुद्धि तो हम लोगोंको आश्चर्यान्वित कर देती है। एक ही ध्यक्तिमें सारे गुणोंका होना कोई सद्भ नहीं है। देखो ! एक पारस पत्थर सोनेको उत्पन्न करता है और उसकी परीक्षाके लिये कसौटीकी आवश्यकता होती है। एकमें ही दोनों कार्य कर देनेकी क्षमता नहीं होती।]

वे भावक दो प्रकारके होते हैं—अरोचकी और सत्पुण्यम्य-
चहारी। यह भगलका मत है। याथावरीय (राजशेखर)-
का मत है कि अरोचकी, सत्पुण्यम्यचहारी, मरुतः और
तत्वाभिनवेशी ये चार प्रकारके भावक होते हैं। जिस प्रकार अरोचक रोगमें मनुष्यको सुखादयुक्त भोग्यमें भी आस्वादाका अनुभव नहीं होता है उसी प्रकार अरोचकी भावकको सरस काव्योंमें भी सन्तोष नहीं होता और वह नाक-
मौं सिक्कोबकर अपनी अरोचकताकी व्यञ्जना करता है। सत्-
पुण्यम्यचहारी भावक उन मरुतुलोक समान हैं जो परोसे हुए सब अन्न-व्यञ्जन आदि खा जाते हैं, सम्पूर्ण काव्य मात्रमें रसास्वादन करनेको उत्सुक रहते हैं। अब विचारणीय यह है कि अरोचकी मारुतोंमें स्वाभाविक अरोचकता होती है या शानपूर्विका ? इनमें यदि स्वाभाविक अरोचकता है।

तब तो सैकड़ों प्रयत्न करनेपर भी बंजरसकी स्वामाधिक कालिमाके समान दूर नहीं हो सकेगी। हाँ, यदि वह शानपूर्वक उत्पन्न हुई होगी तो विशेष रस और ध्वनिबोधे पूर्ण काव्यकी सुनकर वह दूर हो जायगी और उनमें रसा स्वादनकी रचि जागरित हो जायगी।

काव्य-निर्माणके क्षेत्रमें पहले पहल आनेवाले व्यक्तिकी सत्तुष्णाम्बवहारिता वृत्ति हुआ करती है। प्रारम्भापरथा में विनेक की कमीके कारण काव्योके गुणागुणका विचार कठिन होता है। पर आगे चलकर इन गुणोंकी पहचाननेकी क्षमता आने लगती है। मत्सरी भावक जो स्वभावसे ही दूसरोंके गुणोंसे द्रव करनेका अभ्यासी होता है उसे काव्यके अच्छे गुणोंको भी प्रकट करनेमें हिचक होती है और इसलिये कि दूसरे कवियोंकी ख्याति न हो जाय उनके काव्यके यथार्थ गुणोंको भी नहीं प्रकट करता। ऐसे कम भावक देखनेमें आते हैं जो मत्सरहीन हों और ज्ञाता भी हों। इस बातकी प्राचीनोने इस कथन द्वारा स्पष्ट कर दिया है :—

कस्वं भो कविरिमि काव्यमिन्वास्तुकिः सखे पठ्यताम् ।
त्यक्ता काव्यकथैव सम्प्रति मया कत्मादिदं श्रूयताम् ।
यः सम्यग्विबिन्क्ति दोषगुणयोः सार स्वयं सत्कविः
मोऽस्मिन्भावक एव नास्त्यय भवेद्दैवात् निर्मात्सरः ॥

कोई किसीसे पूछ रहा है कि तुम बौन हो? इसपर दूसरा उत्तर देता है कि मैं कवि हूँ। पुनः पहला उससे प्रार्थना करता है कि मित्र! यदि आप कवि हों तो कोई नवीन रचना सुनाओ। पुनः दूसरा उत्तर देता है कि आजकल तो मैंने काव्यरचना छोड़ दी है। पहलेके पुनः काव्यरचना छोड़ देनेके कारण पूछने पर दूसरा कहता है कि सुनो जाँ दोष-गुणोंकी भली भाँति विवेचना करनेमें कुशल हो और स्वयं भी अच्छा कविता हो वही भावक कहलाता है, ऐसे भावक इस समय कहीं देखनेको भी नहीं मिलते, यदि कोई मिलते भी हैं तो मत्सरसे भरे हुए। तब मला बताओ मैं कविता करके कहूँगा क्या? उसकी परख करनेवाले कहीं हैं ही नहीं।

आगे चलकर राजशेखरने काव्य-पाठ कलाका विवेचन करते हुए कहा है—

अनेक विषयोंकी अवगाहन करनेमें प्रवीण शक्तिकी व्युत्पत्ति कहाँ जाता है। यह आचार्योका मत है। महा

कवियोंकी शक्ति व्यापक और मर्दरागामी होती है। कहा गया है—

प्रसरति किमपि कथञ्चन नाम्यस्ते गोचरे वचः कस्य ।
इदमेव तत्कवित्वं यद्वाचः सर्वतोदिङ्माः ॥

[बार-बार अभ्यास किए गए विषयोंमें तो भला किसीकी बुद्धि नहीं विस्तृत होती है, पर अनन्यस्त अत्यंत नवीन विषयमें भी अपनी सर्वत व्यापिनी प्रतिभासे बाणोंके विकास का प्रदर्शन करना महाकवियोंका ही कार्य है।] युथा-वरीय (राजशेखर) का मत है कि योगयोग्यके विचार-पूर्वक भावोंके आदान प्रदानकी क्षमताका नाम ही व्युत्पत्ति है। आनन्दवर्द्धनाचार्यका कहना है कि प्रतिभा अधिक प्रशस्ततर होनी है। प्रतिभा कविके अबुत्पत्ति-जन्म दोषोंको छिपा देती है। कहा गया है—

अबुत्पत्तिरुक्तो दोषः शक्त्या सस्त्रियते कवेः ।
यस्त्वशक्तिरुक्तस्तस्य भागित्वेवावभासते ॥
शक्ति शब्दश्चायमुपचरितः प्रतिभाने वर्तते ।

[कविकी रचनामें व्युत्पत्तिकी कमीसे जो दोष आ जाता है वह प्रतिभास्फी शक्तिके छिप जाता है पर प्रतिभाके अभावसे पैदा हुआ दोष शीघ्र ही प्रकट हो जाता है और कविकी अक्षमता पाठकोंको प्रकट हो जाती है। शक्ति शब्द से प्रतिभाशक्तिका तात्पर्य है।]

- आचार्य मंगलका मत है कि प्रतिभासे व्युत्पत्ति श्रेष्ठ होती है और व्युत्पत्ति ही कविके अप्रतिभा प्रसून दोषोंका गोपन करती है। इस पथसे इस बातकी पुष्टि भी होती है—

कुरेः सत्रियतेऽशक्त्यव्युत्पत्त्या काव्यवर्त्मनि ।
वैदग्ध्योचितचित्ताना हया शब्दार्थगुम्भना ॥

कविकी काव्यरचनाके प्रसंगमें प्रतिभा विरह जन्म दोषोंका व्युत्पत्ति सवरण कर लेती है। जिन भावक गुणोंका हृदय काव्यकी रसवर्द्धिनी प्रणालीमें रजित है उनकी अभि रचि अलंकारादि योजनाओंमें नहीं हो सकती।

राजशेखरका मत है कि प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनों मिलकर कविकी विशेषताका सम्पादन करती है। कहनेका तात्पर्य यह है कि केवल प्रतिभा या व्युत्पत्ति अकेले ही किसी काव्यको उत्तमता नहीं प्रदान कर सकती किन्तु प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनों मिलकर रचनाको प्रशस्ततर बना देते हैं। लोकमें भी केवल लावण्यवान् या रूपवान्के लिये सुन्दर शब्दका व्यवहार नहीं होता है वरन् जिसमें

लाक्षण्य और रूप सम्बन्ध दोनों हो वहाँ वास्तविक सुन्दर पद्वहानिका पाव हो जाता है ।

छन्दोयोजना मात्र कर देनेसे कोई कवि नहीं हो सकता । कवि बननेके लिये प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनोंकी आवश्यकता होती है । कवि तीन प्रकारके होते हैं—शास्त्र-कवि, काव्य-कवि, और उभय कवि । इनमें शास्त्र-कविते काव्य-कवि और काव्य-कविते शास्त्रशास्त्रोभय की उत्तरेतर आते होते है यह श्यामदेवाचार्यका मत है । पर भावार्थीय (गणेशधर) का कहना है कि अपने अग्रमूल विद्योमे सभी उत्कृष्ट होते हैं अतः दो प्रकारकी रचना करनेवालोंमें किसीको एक दूसरेसे उत्कृष्ट कहना अनुचित है । जैसे कि नीरक्षीर-विवेकमे कुशल राजहंस भी चन्द्रिका-पानमे असमर्थ होता है और चन्द्रिका-पानमे दस चकोर नीरक्षीर-विवेकमे असमर्थ होता है, अतः उनमें उत्कृष्टपद्वहानिका विवेचन करना कठिन होता है । उसी प्रकार कान्तिके भी अपने-अपने क्षेत्रमें उत्कृष्ट होनेसे आपसमें उनका त्वरतम्य नहीं किया जा सकता क्योंकि शास्त्र-कवि शास्त्रिके अध्ययन-मूलमे काव्योमे साधारण रूप प्रविष्ट रहते हैं पर समाभिव्यक्तिकी क्षमतावाली शब्दावलीका प्रयोग वे नहीं कर पाते । क.व्य कवि काव्योमे विशेष शब्दावलीके कारण समाभिव्यक्तन-योग्य शब्दावलीका प्रयोग तो भली भाँति कर लेता है पर शास्त्रीय पदार्थोका वर्णन शास्त्रीय परिभाषिक पद्धतिसे नहीं कर पाता । शास्त्र-काव्योभय कवि यदि शास्त्र और काव्य दोनों विषयोमे समान रूपसे प्रवीण हो तो वास्तवमें उन दोनों प्रकारके कवियोसे श्रेष्ठ कहा जा सकता है । इस स्थितिमें शास्त्र-कवि और काव्यकवि दोनोंका समान स्थान मानना उचित जान पड़ता है । हाँ, यह आश्चर्यक है कि काव्य-कवि और शास्त्र-कविना परस्पर उपकार्यकारक मान होता है । विशेषता यह है कि शास्त्रोमे साधारण प्रवेश कविकी काव्य-रचनामें कुछ वैचित्र्य उत्पन्न करता है पर सर्वदा किसी शास्त्रमे अत्यन्त मग्न हो जानेसे बुद्धिगतके लिये परमावश्यक उपयुक्त शब्दोकी स्फूर्ति करने-वाली शक्ति नष्ट हो जाती है । इसी प्रकार काव्यार्थ-भावना-मय संस्कार भी शास्त्रीय कर्त-कर्तव्य पदोकी भी संरक्ष भावसे वर्णन करनेकी शक्ति प्रदान करता है, पर सर्वदा काव्योमे ही मग्न रहनेसे तो बुद्धि कोमला हो जाती है और वह व्यक्ति शास्त्रीय कठिन पदार्थोकी नहीं ग्रहण कर पाता ।

इन कवियोमें शास्त्र-कवि तीन प्रकारके होते है । जो शास्त्रीय ग्रन्थ रचते हैं वे एक प्रकारके शास्त्र-कवि होते हैं, जो शास्त्रीय पदार्थोको काव्यका स्वरूप प्रदान करते हैं वे दूसरे प्रकारके शास्त्र कवि होते हैं और जो काव्योमे भी शास्त्रार्थ अर्थात् शास्त्रीय परिभाषाश्रीका निवेश करते हैं वे तीसरे प्रकारके शास्त्र-कवि कहलाते है । [नाटकके लिये तीनों प्रकारके शास्त्र-कवि निषिद्ध हैं क्योंकि वे नाटक-को दुर्बोध और अस्पष्ट बनाए बिना नहीं मान सकते ।] काव्य-कवि आठ प्रकारके होते हैं—रचना-कवि, शब्द-कवि, अर्थ-कवि अलंकार-कवि, उक्ति-कवि, रस-कवि, मार्ग-कवि और शास्त्र कवि ।

श्रुति-सुसुद्ध और प्रगाढ़ प्रौढ़ पद-कवोवाली रचना करनेवाला कवि रचना-कवि कहलाता है ।

शब्द-कवि तीन प्रकारके होते है—नाम कवि, आख्यात-कवि तथा नामाख्यात कवि । उनमें नामात्मक-शब्द-प्रधान रचना-नाता कवि नाम-कवि कहा जाता है । जो कवि धारणा रचनामे आख्यात अर्थात् क्रिया शब्दोका ही अधिक प्रयोग करे वह आख्यात कवि कहा जाता है । किन् कवियोकी रचनाश्रीमें नाम और आख्यात दोनोंका समान रूपसे प्रयोग पाया जाता है वे नामाख्यात कवि कहे जाते हैं । अलंकार, रस, भाव, आदिकी अपेक्षा न कर अर्थ-मात्रका वर्णन करनेवाला कवि अर्थ-कवि कहा जाता है । अलंकार कवि दो प्रकारके होते हैं—शब्दानंकार कवि और अर्थालंकार कवि ।

खानान्य रूपसे जो कही जानेवाली वस्तु है उसे भङ्गनन्तरसे कहकर सङ्घट्टपङ्घट्टाहादरताका रूप जो दे उसे उक्ति-कवि कहते हैं । अपने काव्यमे रसके ही विधानकी और अधिक प्रवृत्ति रखनेवाला कवि रस-कवि कहलाता है । संक्षिप्त-प्रधान कविता करनेवाले कवि, मार्ग-कवि कहलाते है । जो कविगण शास्त्रीय विषयोको काव्य-मे निरुद्ध करते है वे साक्षात्-कवि कहलाते हैं ।

अभिमतप्रसङ्गा मत है कि ये आठ प्रकारके भेद निरर्थक हैं क्योंकि सभी कवि अपने-अपने काव्योमे शब्द, अर्थ, अलंकार रस आदिका यथास्थान प्रयोग करते ही हैं । जो इनमेंसे केवल एकको लेकर रचना करता है वह काव्य-कवि नहीं है, वह तो गदियन है जो काव्यकी साम्यास रचना करता है । वह कवि कहना ही नहीं सकता ।

स्वयं राजशेखरन ही श्रमे स्वीकार किया है कि इन संव कवियोंके गुणोंमें जो व्यक्ति दो या तीन गुणोंसे युक्त हो वह अथम श्रेण का कवि, पाँच गुणोंवाला मध्यम श्रेणीका कवि और सब गुणोंसे अलङ्कृत व्यक्ति महाकवि कहलाता है। कवियोंकी दस अवस्थाएँ होती हैं। उनमें बुद्धिमान और आहावबुद्धिकी सात अवस्थाएँ होती हैं और औपदेशिककी तीन अवस्थाएँ होती हैं। इन दस अवस्थाओंमें रहनेवाले कवियोंका काव्य विद्यास्नातक, हृदय कवि, श्रम्यापदेशी, हेमिता, घग्मान, महाकवि, कविराज, आवेशिक, अश्लेषी और सनामयिता इन दस प्रकारोंसे व्यवहार होता है। जो कवित्वकी अभिलाषासे काव्यविद्याएँ तथा उपनिषाएँ सीखनेके लिये गुरुकुलोंमें निवास करते हैं वे विद्यास्नातक कहे जाते हैं। जो लज्जावश अपने दोषोंको प्रकट न करनेकी अभिलाषासे भगमें हो रखते हैं दूसरोंके सामने नहीं प्रकाशित करते वे हृदय कवि कहे जाते हैं। वे परिगण जो मन्त्रचित काव्यकी दोषपूर्ण होनेके बरसे सभामें दूसरेका बर्ताकर सुनाते हैं वे श्रम्यापदेशी कहलाते हैं। जो व्यक्ति केवल छन्दोयोजनाका श्रममात्र रहनेसे प्राचीन कवियोंके ही भावोंको अपने छन्दोंमें निरुद्ध किया करते हैं वे सेविता कहे जाते हैं। वे कवि जो निर्गम और भावपूर्ण रचना करनेमें समर्थ रहते हुए भी रचनाएँ प्रवन्ध रूप नहीं दे पाते वे घग्मान कहे जाते हैं। जो मद्य-पद्यात्मक उभय-विध प्रवन्ध रचनामें कुशल होते हैं वे महाकवि कहे जाते हैं। जो भागची, शौरसेना आदि प्राकृत भाषाओं तथा सख्त और अपभ्रंशमें भी समवायपूर्ण कविता कर सकनेकी कुशलता रखता हो वह कविराज कहलाता है। कविराज तो प्राय नहीं मिलता करते हैं। यदि कहीं मिलते भी हैं तो एक दो। जो मन्त्र-तन्त्र आदिका सिद्धि प्राप्त करके देवल आदिक प्रसादसे श्रान्ति होकर कविता करते हैं उन्हें आवेशिक कहते हैं। जिसको किसी प्रकारका प्रतिबन्ध नहीं होता उन्हें श्रान्तिच्छेदी कवि कहते हैं। वे व्यक्ति जो सिद्ध मन्त्र होकर कथा, कुमार आदिम शिर स्वश आदि द्वारा अपना शक्तिका आवेश कर दें उन्हें सनामयिता कहा जाता है।

काव्य रचनामें सिद्धहस्त कवियोंकी वाणी ही पाका पद्याको प्राप्त होती है। यहाँ आचार्योंका प्रश्न है कि पाक है क्या वस्तु। इसके समाधानमें मङ्गलाधर्म उत्तर देते हैं कि

मुन्नत तिडन्त पदोंके श्रुति सुखद सन्निवेशको पाक कहा जाता है। पर आचार्य लोग इस उत्तरसे नहीं सहमत हैं क्योंकि मुन्नत तिडन्तके श्रुति सुखद सन्निवेशको पाक न कहकर सौशब्द कहा जा सकता है। पाक कहते हैं मुन्नत तिडन्त आदि पदोंके प्रयोगमें स्थिरताको। किसीने कहा भी है—

“श्रावापोद्धरणो ताजघावहोलयते मन ।
पदाना स्थापिते स्थैर्ये हस्तासिद्धा सरस्वती ॥”

[काव्यमें समुचित पदोंका सन्निवेश और अननुकूल पदोंके त्यागका व्यापार कविको तमीतक करना पड़ता है जनक उसका ज्ञान विकल्पात्मक रहता है और पदोंके प्रयोगमें स्थिरता नहीं प्राप्त कर सकता है। पदोंके प्रयोगमें स्थिरता आ जानेपर कवि पाकावस्था या परिणामावस्थाको पहुँच जाता है और सरस्वती उसके सामने सिद्ध सं प्रत्यक्ष हो जाती है।]

वामनाचार्यका भी यही कहना है कि जब कविको कवितामें एक बार प्रयुक्त शब्दोंकी परिवर्तन करनेकी आवश्यकता न पड़े वही अवस्था मुख्य पाकावस्था है। इस पद्यसे भी यही बात पुष्ट होती है—

“प्रत्यदानि त्वन्वयेन परिवृत्तित्वहिष्णुताम् ।
त दन्दन्यासनिष्णाता शब्दपाक प्रचक्षते ॥”

जिस प्रयत्नमें पदोंमें परिवर्तनकी तनिक भी आवश्यकता न हो और उनके परिवर्तन करनेसे अभीष्टार्थकी प्रतीति भी न हो सके उसे ‘शब्दपाक’ कहा जाता है।

राजशेखरकी पत्नी अचन्तिमुदयीका मत है कि पदोंके परिवर्तनासहस्रको पाक नहीं कहा जा सकता प्रयुक्त वह तो असमर्थता है क्योंकि एक ही मात्रको व्यक्त करनेके लिये महाकवियोंको अनेक पद प्रयुक्त करते और उनको परिपाकावस्थातक पहुँचाते देला जाता है। इसलिये रसके पोषणमें समय शब्दोंके सुदर प्रयोगको पाक कहा जाता है। इस बातकी पुष्टि ह्यूनिम्न पद्यसे भी होती है—

“गुणालङ्काररीत्युचि—शब्दार्थ ग्रथन-क्रम ।
स्वस्ते सुधिया येन वाक्य पाक स मा प्रति ।”

निर्घके कारण गुण, अलङ्कार, गीति, उक्ति और शब्दोंक त्रिन्यासक्रम सहृदयोंके आस्वादनक योग्य हो जायें उसे पाक कहा जाता है।

‘सति वक्तुरि सत्येयं शब्दे सति रसे सति ।
अस्ति तत्र विना येन परिखति वाङ्मयु ॥’

अच्छे वक्ताके होनेपर, अधण-मनोहर उसके शब्दके होनेपर रसाभिव्यञ्जक अर्थके रहनेपर भी जित वस्तुके विना वाणीमें माधुर्यकी कमी रह जाती है उसे ही पाक कहा जाता है ।

सहृदयोंके हृदयको आह्लादन करनेवाले कविये पाकका अनुमान किया जाता है । जिस वस्तु विशेषके विना आह्लाद नहीं हो पाता वही पाक है और सहृदय मण्डलके व्यवहारका अङ्ग है । पाकके नौ भेद हैं । इन नवों पाकोंमें जो आदि और अन्त दोनोंमें अस्वाद्दु हो उसे पिचुमन्द पाक कहते हैं । पिचुमन्द कहते हैं निम्बको । वह जैसे सब अवस्थाओंमें तितक होती है उसी प्रकार उस पाकको भी सब अवस्थाओंमें कम स्वाद्दु होने से पिचुमन्द पाक कहा जाता है । जो आदिमें अस्वाद्दु किन्तु परिणाममें मध्यम हो उसे बदर या वेर-पाक कहते हैं । आरंभमें अस्वाद्दु और परिणाम में जो मधुर हो ऐसे पाकको मृद्वीका पाक कहते हैं । मृद्वीका कहते हैं ट्राफाको । वह जैसे पहले रुढ़ी और पकनेपर अत्यन्त मधुर होती है उसी प्रकार मृद्वीका पाक भी पहले अस्वाद्दु और परिणामावस्थामें सुस्वाद्दु होता है । पहले मध्यमश्रेणोंका और अन्तमें स्वाद-रहित पाकको चार्चक (बैंगन) पाक कहा जाता है । आदि और अन्त दोनोंमें मध्यम श्रेणीके स्वादवाले काव्यको तित्तिडीक या इमली पाक कहा जाता है । आदिमें मध्यम श्रेणोंका और अन्तमें स्वादयुक्त काव्यको सद्कार (आम) पाक कहा जाता है । आदिमें स्वाद्दु और अन्तमें अस्वाद्दु काव्य क्रमुक (सुपारी) पाक कहा जाता है । आदिमें उच्चम और अन्तमें मध्यम स्वाद्दु वाले-को त्रपुस या ककड़ी पाक कहते हैं । आदिमें स्वाद्दु और अन्तमें भी मधुर रहनेवाले काव्यको नारिकेल पाक कहा जाता है ।

इन नवों प्रकारके पाकोंमें प्रथम पिचुमन्द, चार्चक और क्रमुक पाकोंको अस्वाद्दु होनेके कारण अनुपादेय समझना चाहिए, क्योंकि सारहीन कविता कलेकी अपेक्षा कविता न करना अच्छा है । कुञ्चना सदा रचयिताको आजीवन तप्त और दुर्गम किया करती है । मध्यम श्रेणोंके बदर, तित्तिडीक और त्रपुस पाकवाले कवि सत्कार उत्पन्न करके अपना कविताको उपादेय बना सकते हैं । अल्प

गुणवाले व्यक्तिके गुणोंमें भी संस्कारसे उत्कर्ष आ जाता है । देखा जाता है कि निम्न कोटिका सुवर्ण भी अग्नि-संस्कारसे उच्चम कोटिका परार्थ्य सुवर्ण बन जाता है । शेष मृद्वीका, नारिकेल और सहृकार पाकके कवि प्रत्येक अवस्थामें उत्तम होते हैं और उनकी रचनाएँ उपादेय होती हैं । उनकी प्रतिभा स्वभाव-रिद्ध है । इसलिये उन्हें किसी प्रकारके संस्कारकी आवश्यकता नहीं होती है क्योंकि सुवर्णका उत्कर्षाधावक शाण्य मुक्तामणिकी विशेषता प्रकट करनेमें अनुपयुक्त पाया जाता है । जिस प्रकण्ठकी पाकावस्था निश्चित रूपको नहीं प्राप्त कर लेती उसे कवित्व-पाक कहा जाता है । ऐसे प्रकण्ठोंके अनुशीलन करनेसे अनुशील-यिताको जैसे पुवालके दानोसे बहुत थोड़े अन्नकणोंका लाभ होता है उसी प्रकार बहुत थोड़ेसे मुभापित मिलनेका लाभ हो पाता है ।”

किन्तु ये सब भेद राजशेखरने केवल पांडित्य-प्रदर्शनके लिए किए हैं क्योंकि प्रायः सभी प्रकण्ठ-काव्य रचयिताओंने यथास्थान उपयुक्त सभी प्रकारकी रचनाओंका समावेश किया है । इस भीमासका केवल यही प्रयोजन है कि कविकर्म सुसंस्कृत और सुपठित होना चाहिए । इस दृष्टिमें यदि नाटकका पाक-कहर स्थिर करें तो यहाँ कह सकते हैं जो हमने इस अध्यायमें प्रारंभमें कहा है कि पात्रोंके कुल, वर्ग, देश, वृत्ति, क्षिण, मानसिक स्थिति, स्वास्थ्य, परिस्थिति, संगति तथा कुल-संस्कारके अनुसार नाटककी मापा और संवाद हो जो स्वाभाविक होते हुए भी काव्य की ध्वनि और संस्कारसे युक्त हो और इस प्रकारका नाटक वही कवि लिख सकता है जिसने अपने नाटकमें प्रयुक्त किए हुए पात्रोंके वर्णोंका सद्वास किया हो, उन पात्रोंके प्रकारोंके मनुष्योंमें स्वयं रहा हो, उनका सूक्ष्म अध्ययन किया हो और जिसे उनके आचार-विचार व्यवहार, बोलचाल आदिका भली प्रकार परिचान हो ।

शब्द और अर्थ

❀ भाषाधारः शब्दः, शब्दार्थयोरनित्यत्वात् ।

[शब्दोंसे ही भाव प्रकट हैं ।]

यद्यपि संज्ञेत और अंग-संचालनसे भी हम अपने-मनकी गत प्रकट कर सकते हैं पर वाणीके द्वारा जितनी स्पष्टता और विशदतासे भाव व्यक्त हो सकता है उतना

सकेते नहीं। अतः किमी भी प्रकारकी सौंदर्य वात-
चीतमें जितने शब्दोंका प्रयोग होगा उन सबका अर्थ होना
आवश्यक है। इसीलिये शब्द और अर्थका नित्य या
शाश्वत सम्बन्ध माना जाता है। यह अर्थ एक बार समाज
निश्चय कर लेता है और वह प्रयोगसे सिद्ध हो जाता है।
शब्द और अर्थके बिना संवाद असंभव है इसलिये शब्द
और अर्थका ठीक प्रयोजन समझ लेना चाहिए। प्रायः
सभी आचार्योंने काव्यकी परिभाषा करते समय शब्द
और अर्थके विशिष्ट रूपको ही काय कहा है। यदि हम
भामह, उदमट, वामन, वदर, स्याक, वाग्मट, जयध्वज,
विद्याधर, निश्चिनाथ कविराज, अप्पय दीक्षित, शोभाकर,
यशस्वर और पंडितराज जगन्नाथके मतके अनुसार नाटकके
धाक्योंको काव्यदृष्टिसे परीक्षा करें तो आधेमें अधिक वाक्य
और वर्तमान घटुनादी तथा यथार्थवादी नाटकोंके पूरे
समाद काव्यकी श्रेणियोंमें आर्योग ही नहीं, किन्तु उनके नाटक-
रूपमें कोई अन्तर नहीं आता। ऐसी स्थितिमें काव्यकी
परिभाषा क्या मानी जाय।

ॐ प्रबन्धस्वरस्य काव्यत्वम् ।

[है प्रबन्धकी सखता कहनावा काव्य ।]

संस्कृतके अनेक आचार्योंने तथा विररने अनेक कवियों
तथा गालोचकोंने काव्यकी अनेक परिभाषाएँ लिखीं।
दण्डीने कथादर्शन और कान्तिनन्दने अपनी काव्य
दीपिकामें 'इष्टार्थव्यञ्जिच्छा पदानलिः' [अर्थात् इच्छित
अर्थको व्यक्त कर देनेवाली पदानलिः] को ही काय बताया
है। शौद्धोदीर्गने अलङ्कारशेखर और वृत्तिकार
वेशव मिश्रने 'काव्य रसादिमद् वाक्य श्रुत सुखनियोग
वृत्' [अर्थात् रस आदि गुणोंसे युक्त, सुननेमें सुखद
वाक्य] को ही काय बताया है। भोजने सरस्वती-जण्डा-
भरणमें कहा है—

“निर्दोष गुणसत्कायमलङ्कारैरलङ्कृतम् ।

रसात्मक कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति ॥”

[जो कवि दोषरहित, गुण सहित और अलङ्कारोंसे सजा
हुआ रसात्मक वाक्य रचता है उसे कीर्ति और प्रीति
मिलती है ।]

निश्चिनाथ कविराजने साहित्यदर्पणमें 'वाक्य रसात्मकं
काव्यम्' [अर्थात् रसमय (रसीले) वाक्यको ही काव्य]
कहा है। जयदेवने चन्द्रालोकमें कहा है—

‘निर्दोषा लक्षणवती सगीर्तुण्यगुम्भिता ।

सावङ्गाररसानेकवृत्तिर्नाक् काव्य नामभाक् ॥”

[दोषरहित, लक्षणवाली रीति तथा गुणोंसे युक्त
हुई, अलङ्कार और सोनाली, अनेक लक्ष्योंमें राजी हुई
वाणी ही काव्य कहला सकती है ।]

धितराज जगन्नाथने 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः
काव्यम्' [अर्थात् रमणीय अर्थका बोध करानेवाला शब्द-
को ही काव्य] माना है।

इन आठ मतोंमें शब्दोंमें ही काव्य माना गया है।

कुछ ऐसे भी आचार्यों हैं जिन्होंने शब्द और अर्थ
दोनोंमें काय माना है। भामह, उदमट, वदर और
अनन्दधर्मणने 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' अर्थात् जो
शब्द और अर्थके सहित हो उसे ही काव्य माना है। वामन-
ने कायालङ्कारमें 'काव्यशब्दोऽयम् गुणानङ्कारार्थं वृत्तयोः
शब्दार्थयोरन्तरे [अर्थात् गुण और अलङ्कारमें परिष्कृत
शब्द और अर्थोंको ही काव्य] बताया है कुन्तकने अपने
कौटिलीनियतमें कहा है—

‘शब्दार्थौ सहितौ वक्त्रविव्यापारसालिनी ।

नये व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणी ॥’

[असाधारण कविब्यापारसे युक्त और असाधारण
कवि-कर्मको जाननेवाले लोगोंको प्रसन्न करनेवाली
रचनामें जो व्यवस्थित हितकर शब्द और अर्थ हैं उन्हींको
काव्य कहते हैं ।]

भामहने काय-प्रकाशमें और हेतुचन्द्रने काव्यानु-
शासनमें तद्दोषी शब्दार्थ संगुणानलङ्कृती पुनः कापि
[अर्थात् जो शब्द और अर्थ दोषरहित हों, गुण-युक्त हो
और कहीं कहीं अलङ्कारसे हीन भी हों] उसे ही काव्य माना
है। वामहने माना है—

साधुशब्दार्थमंदर्भ गुणालङ्कारभूषितम् ।

स्फुरतीतरसोपेतं काव्यं कुर्वीत कीर्तये ॥’

[जो कवि कीर्ति पाना चाहे उसे चाहिए कि मले
शब्द और अर्थके ऐसे समूहमें काव्यकी रचना करे जो गुण
और अलङ्कारोंसे सजा हुआ हो, बिनाकी रीति स्पष्ट हो और
जो रसोंमें पूर्ण हो ।]

विद्याधरने एकावलीमें सीधे सीधे कहा है—

‘शब्दार्थौ धपुरस्य शब्दार्थव्युत्पादक काव्यम् ।’

[शब्द और अर्थ ही उनके शरीर हैं। इमलिये शब्द और अर्थके शरीरवाली रचना ही काव्य कहलाती है।]

विद्यानाथने प्रश्नाप-वृद्धीयमे कहा है—

‘गुणालङ्कारसहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ ।

गद्यपद्योभयमयं काव्यं काव्यविदो विदुः ॥’

[गद्य तथा पद्य या दोनोंमें गुण और अलङ्कारसे युक्त, दोषसे रहित शब्द और अर्थसे जो रचना की जाती है उसको काव्यके पंडित लोग काव्य मानते हैं।]

अश्वतराफने साहित्य-मारमे लिखा है—

तत्र निर्दोषशब्दार्थगुणवत्त्वे सति सुदुष्टम् ।

गद्यादिवन्धस्वरूपं काव्यसामान्यलक्षणम् ॥

[जो गद्य पद्य आदिमें बेध हुआ, गुणमें युक्त शब्द होता है वही काव्यका साधारण लक्षण है]

धर्मसूत्रने साहित्यजाकरमे कहा है—

‘सगुणालङ्कृतिः काव्यम् पदार्थौ दोषवर्जितौ ।’

[गुणयुक्त, अलङ्कृत और दोषहीन शब्द और अर्थको ही काव्य कहते हैं]

शेमेन्द्रने कृषिकण्ठ भरखमे ‘काव्यं विशिष्टशब्दार्थ-साहित्यमलङ्कृतिः’ [अर्थात् वह विशिष्ट शब्द और अर्थ जो साहित्य-शास्त्रमें वर्णित श्रेष्ठ अलङ्कारोंसे सजा हुआ हो] उसे ही काव्य बताया है। न्यायशास्त्रने अलङ्कार-चन्द्रिकामे कहा है—

गुणालङ्कारसंयुक्तौ शब्दार्थौ रसभावयौ ।

नित्यदोषार्थनिर्मुक्तौ कार्त्तिकरार्थविधेयौ ॥

[गुण और अलङ्कारसे युक्त रस और भावमें गये हुए सदा दोषसे मुक्त शब्द और अर्थको ही काव्य कहते हैं।]

वै सोलह मत शब्द और अर्थमें ही काव्य बताया है।

कुछ लोगोंने ‘अनुभावविभाजनां वर्णना फल्य-मुच्यते’ अर्थात् अनुभाव और विभावके वर्णन को ही काव्य] कहा है। इन सब मतों में व्यापक दोष यही है कि प्रायः सभीने शब्द या शब्दार्थकी निर्दोष रचनाको ही काव्य माना है, किन्तु मनुष्यकी रचना जबतक देवप्रेरित न हो तबतक वह निर्दोष कैसे हो सकती है, और फिर जो कवि गुण, दोष और अलङ्कारका सदा ध्यान रखेगा उसकी रचनामें निश्चय ही एनाभाविकता नहीं आ सकती,

क्योंकि वह पग-पगार या तो यह चेष्टा करेगा कि मैं अलङ्कारके सन्निवेश कहीं अथवा यह विचार करने के लिये रुकता और सँभलता चलेगा कि कहीं दोष न आ जाय। जिन कवियोंने इन नियमोंका ध्यान रखकर शब्द और अर्थको ही सजानेमें श्रमना कौशल दिखाया है उनका रचना रुढ़, एकस और लोक-समाराधनके गुणसे हीन रही। [आचार्य मधुसूक्ते कथनानुसार दोष-रहित गुणसहित, प्रायः अलङ्कृत किन्तु कभी-कभी अनलङ्कृत शब्द और अर्थ ही काव्य है। यह परिभाषा व्यापक-रूपसे रहित समाजमें मान्य है, किन्तु इस परिभाषाको पूर्णतः ठीक माननेमें प्रधान बाधा यह है कि स्वरूपलक्षणके भीतर किसी बल के गुणयुक्त तथा दोषयुक्त होनेका विचार नहीं किया जा सकता। जैसे यदि हम बोधे का स्वरूपलक्षण निर्दिष्ट करें तो हमारा यह कहना कदापि उचित न-होगा कि दोषयुक्त तथा गुणयुक्त अमुक-अमुक लक्षणोंवाले चतुष्पदको बोधा कहते हैं। क्योंकि यद्यपि वेगसे चलना बोधका गुण है, तथापि यदि वह वेगसे न चले तो भी उसके बोधनेमें कोई अन्तर नहीं आवेगा, वह बोधा ही रहेगा। इसके अतिरिक्त सुष शब्दका अर्थ यदि श्रोज, माधुर्य और प्रसाद आदि लं तो उसका सम्बन्ध रीतिस हो जायगा जो उक्त लक्षणस्वरूपके भीतर नहीं आता। चन्तुतः गुणका सम्बन्ध रसने होता है, शब्द या अर्थसे नहीं फिर परमात्मके विषय और कौन निर्दोष कहला ही सकता है। चन्द्रालोककार जयदेवने मगधकी परिभाषाका खंडन करते हुए लिखा है—

अज्ञीकरोति यः कां यं शब्दार्थावनलङ्कृती ।

असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृतं ।’

[अर्थात् जो अलङ्कारहीन शब्दार्थको भी काव्य मान सकता है वह यह क्यों नहीं मान लेता कि अर्थन ठंडी भी हो सकती है।]

इसी प्रकार ‘रीतिरात्मना काव्यस्य’ कहकर धामन्ने काव्यका आत्मा रीतिसे बतलाया है। रीतिसे अर्थ है— गोड़ी, बैदमी और पाखाली रीतियाँ। अतः रीतिका सम्बन्ध हुआ वर्णोंकी व्यवस्थासे, अर्थात् इसका सम्बन्ध कानोपर पढ़नेवाते प्रसारसे है। धामन तो काव्यमें संगीत-तन्त्रके समर्थक हैं। वे इसे ही कविता मानते हैं। पर विचारणीय बात यह है कि यदि हम इसीको कविताका

आत्मा मान लें तो काव्य और संगीतत्वके सम्मिश्रणसे केवल कविताका माधुर्य ही तो बढ़ता है। अतः काव्यमें रीति केवल सहायकभर है। इसके अतिरिक्त उच्च लक्षणमें केवल वर्णोंका ध्यान रखना गया है, शब्द और अर्थका नहीं। अतः केवल वर्णोंकी व्यवस्था ही काव्यानुभूतिके लिए पर्याप्त नहीं।

दूसरी और भागद और दण्डों काव्यमें अलंकारका होना आवश्यक मानते हैं। शोभामें वृद्धि करनेवाली वस्तुओंको अलंकार कहते हैं। अर्थात् पहले से ही सुन्दर वस्तु उपस्थित रहती है, अलंकार केवल उसकी शोभा बढ़ाता है। कदनेका तात्पर्य यह है कि अलंकारोंसे शोभा बढ़ सकती है न कि उसकी उत्पत्ति होती है। कभी-कभी अत्यधिक अलंकारोंसे सुन्दर वस्तु भी असुन्दर लगती है, असुन्दर तथा अशोभन वस्तु और भी भद्दा लगने लगती है। अतः यह आवश्यक नहीं है कि बलपूर्वक अलंकार मरे ही जायें। रूपक-काव्यको दृष्टिसे यदि विचार किया जाय तो अलंकारोंकी सदा आवश्यकता भी नहीं पड़ती। क्योंकि उगम जो वाच्यार्थ होता है वह सब लोकज्यादासेकी बातचीतपर प्राप्रित रहता है। कहीं कहीं अधिक आनश्यकता पढ़नेपर किसी निश्चिष्ट पात्रको भाषामें अलंकारका प्रयोग कराया जा सकता है, किन्तु यदि सभी पात्रोंसे अलंकारयुक्त भाषामें बातचीत कराई जावे तब तो पूरा नाटक ही अस्वभाविक हो जावेगा।

इस सम्बन्धमें पण्डितराज जगन्नाथने काव्यकी परिभाषा की है—“रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।”

[रमणीय अर्थ सुझानेवाला शब्द ही कव्य है।]

और रमणीयताकी परिभाषा यह है—

“क्षणे ज्ञेये यत्रवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयताया।”

[क्षण-क्षणमें जो नया नया रूपा धारण करे वही रमणीयता कहलाती है।]

किन्तु नाटकमें सदा सब वाक्य रमणीय ही हों, यह भी सम्भव नहीं। क्योंकि वाक्योंकी प्रकृति तो उसके प्रयोग करनेवाले पात्रकी प्रकृतिपर अवलम्बित है। दुष्ट, क्रूर, मूर्ख और उन्मत्तके सम्भाषणमें नाटककार रमणीयता कदापि लाकर भर सकता है? हाँ, यदि ‘च क्य’ शब्दको अतिव्यक्ति करके उसका अर्थ ‘काव्य’ कर लिया जाय तब यह परिभाषा मान्य हो सकती है।

विश्वनाथ कविराजने “वाक्य रसात्मकं काव्यम्” कह कर बड़ी गोल व्याख्या की है। रसात्मक शब्द इतना व्यापक है कि उसकी ठीक-ठीक परिधिका ज्ञान होना ही बड़ा कठिन है। एक वाक्य जो एक व्यक्तिको सरस और मधुर लग सकता है वह दूसरोंकी भी वैसा हो सरस लगे यह आवश्यक नहीं। फिर नाटकके दर्शकोंमें तो विभिन्न रुचिके लोग आते हैं। उन सबको समान रूपसे तुष्ट करना नाटककारका कर्तव्य है। अतः यह परिभाषा भी रूपक-काव्यकी परिभाषाके लिये बहुत सहायक नहीं हो सकती।

कुछ आचार्योंने ध्वनिसे ही काव्य का आत्मा माना है ‘काव्यस्यात्मा ध्वनिः’। वे लोग ध्वनि उस विशेष अर्थको कहते हैं जो शब्द और अर्थके सामान्य सम्बन्धक अतिक्रमण करके श्रोता या दर्शकको किसी विशेष अर्थकी प्रतीति करावे। यह परिभाषा कई दृष्टियोंसे विशेषतः नाटकको दृष्टिसे अत्यन्त विचारणीय है। नाटकमें एक ही रङ्गपीठपर अनेक अभिनेता उपस्थित होते हैं। उनमेंसे नायक एक वाक्य कहता है -

“मैं सब समझता हूँ”

इत एक वाक्यको रङ्गपीठपर उपस्थित प्रतिनायक, भयमिश्रित आद्यकाके साथ समझता है कि मेरा भेद खुल गया। राजाका मित्र यह समझता है कि मैं जिस कार्यके लिये आया हूँ उस कार्यमें राजाकी सहायता प्राप्त होगी। इतना ही नहीं, कभी-कभी सुस्काराहट, आश्चर्यमुद्रा और गम्भीरता आदि भावभंगियोंसे भी विशिष्ट ध्वनि निकलती है जिसका प्रमान उस दृश्यके पात्रों तथा दर्शकोंपर अलग अलग ढंगसे पड़ता है। अतः शब्द और अर्थके सामान्य सम्बन्धामक परिणामके अतिरिक्त भी उसका कुछ भाग होता है, वही शास्त्रमें ध्वनि है और नाटकवाकी उस विशेष प्रमानको उत्पन्न करनेका ज्ञान होना चाहिये।

गोस्वामी तुलसीदासजीने रामचरितमानसके बालकांडमें प्रसंगवश काव्यकी परिभाषा बताते हुए कहा है—

सरल कवित कीरति निमल, सोइ आदरहिं सुजान।

सहज वैर निरराइ रिपु, ओ सुनि करहिं बतान ॥

[जो कविता सरल हो अर्थात् कहते ही समझमें

आ जाय और जिसमें किसी विमलकविताले महापुरुष-का वर्णन हो उसी कविताका चतुर लोग आदर करते हैं और वही कविता श्रेष्ठ होती है जिसे सुनकर शत्रु भी स्वाभाविक धैर्य भुलाकर उसकी बड़ाई करते हैं।]

यह परिभाषा है तो प्रबन्ध-काव्यके लिये, किन्तु इसमें से यदि 'कीर्ति विमल' वाला अंश निकाल दें तो सब प्रकारके कविकर्मके लिये इस परिभाषाका प्रयोग किया जा सकता है। क्योंकि किसी भी काव्यका पहला गुण यह होना चाहिए कि वह समझमें आवे। यदि कविता श्रोताओं-की समझमें न आ सके तो वह रस, अलङ्कार और रीति-से युक्त होकर भी क्या करेगी और फिर यदि कवितामें यह शक्ति है कि सुझान भी आदर करें और शत्रु भी स्वाभाविक धैर्य छोड़कर उसकी बड़ाई करे तो यह स्पष्ट है कि उसमें श्रेष्ठ काव्यके सब लक्षण विद्यमान हैं। क्योंकि काव्य तो समाजके लिये रचा जाता है और यदि समाज ही उसके लाभसे संवित हो तो उसका होना न होना बराबर है। संभवतः इसीलिये गोस्वामी तुलसीदासजीने काव्य-का : योजना बताते हुए कहा है—

कीर्ति भानति भूति भलि लोई ।

सुरधरिसम सब कहें दित होई ॥

[वही कीर्ति, कविता और पेशर्थां श्रेष्ठ है जिससे गंगाजीके समान उदका दित होता है।]

• अर्थात् कवि कीटम्ने पोपके 'पेप और दि लौक' काव्यपर टिप्पणी करते हुए काव्यकी यह परिभाषा भी बताई थी—

— 'पौरगेटिंग दि ग्रेट एन्ड

और पोइट्री, दैट इट शुड बी ए क्रैन्ट

टु खर दि केअर्स एन्ड लिफ्ट दि 'थौट्स् औक मैन्

[अर्थात् पोप ने काव्य का यह महान उद्देश्य ध्यान में नहीं रखा कि यह भिषके समान मनुष्यकी चिन्ताओं या शमन करे और मनुष्यके विचारोंको उदात्त बनावे।]

यह वक्तव्य शुद्ध परिभाषात्मक नहीं है, केवल काव्यका प्रयोजन ही व्यक्त करता है कि काव्यकी रचना समाजके हितके लिये होती है। यदि गोस्वामीजीकी और कीटम्की उपयुक्त परिभाषाओंका विश्लेषण किया जाय तो उसका तत्प परिभाषा-निर्माण करनेमें सहायक हो सकेगा।

समाजमें अनेक वृत्तियों और प्रवृत्तियोंके मनुष्य होते हैं। वे सभी उर्ध्व रचनाको और व्याकुल हो सकते हैं जिसमें कुछ कुतूहलजनक, अद्भुत और विनोदजनक प्रयोग हों। ऐसे प्रयोग होनेपर भी जबतक वे सरल और सर्वबोध न होंगे तबतक लोगोंकी रुचि उनमें न हो सकेगी। अतः काव्य सरल हो, उसमें अद्भुत शैलीकिक तत्वोंको, व्यक्तियों या व्यापारोंका समावेश हो, उसकी भाषा सरल हो असाधारण किन्तु सुवर्धनीय उक्तिगोसे पूर्ण हो और ऐसी शैलीमें हो कि उसके लोगोंका भी न ऊँचे वरन् उत्तरोत्तर उनके कुतूहलकी वृद्धि होती चले। इसलिये अभिनवभारतका मत है—

ॐ कौतूहलाधिरत्नं सारस्यम् ।

[यानिचल कौतूहल जिसमें हो वही सरसता है कहलाती।]

अर्थात् रामचन्द्र शुल्कने 'कविता क्या है' निबन्धमें कविता या काव्यकी परिभाषा बनाते हुए कहा है—

"कविता वह साधन है जिसके द्वारा हम शीघ्र सुधि-के साथ अपने रागात्मक सम्बन्धको रखा और निर्वाह करते हैं।"

इस परिभाषामें भी यह स्पष्ट है कि हमारे रागात्मक सम्बन्ध कविता-रूपी साधनके द्वारा तबतक व्यक्त नहीं हो सकते जबतक हम उस साधनको अर्थात् कविताके स्वरूपको ठोक-ठोक न समझ लें। और फिर रागात्मक सम्बन्धोंको रखा और निर्वाह तभी सम्भव है जब हम कवितामें परिचित बरतू, व्यक्ति, या व्यापारकी भावनासे अपनेको भावित न कर लें। यह भावना तभी सम्भव है जब कविकर्म इस कौशल से किया गया हो कि कविताके द्वारा कवि जिन भावोंका श्रोताके हृदयमें संक्रमण करना चाहता है वे भली प्रकार शब्दों और अर्थोंके द्वारा श्रोताके मानसमें प्रकट हो जायें। यह साधारणोग्य तर्मा सम्भव है जब शब्द और अर्थ सरल हों, इस प्रकार गुण्य हुए हों कि उनके वैचित्र्य अथवा समीपत्वसे आकृष्ट होकर श्रोता या पाठक उस काव्यमें लीन हो जाय। यह कार्य केवल वाच्यों या शब्दोंके अलग अलग अस्तित्व-से नहीं होता। यह तर्मा सम्भव है जब पूरी रचना आदिसे अन्त तक कुतूहलजनक, सरल, और सरस शब्द-व्यापारसे मण्डित हो और इस प्रकार कवि-द्वारा निर्दिष्ट काव्यके

इष्ट फलकीं सावना करनेवाली कवि-रचनाको ही काव्य माना जा सकता है। यह रचना चाहे मुक्तकके रूपमें एक दोहा, श्लोक या गीत हो प्रथम मात्राया या नाटक हो।

योग्य अमरिका तथा चीनके भी साहित्य-शास्त्रमें का रकी कुछ मिलसण परिभाषाएँ जताई गई हैं—

(१) हमारा भाषनाओंकी जलात्मक अभिव्यक्ति ही काव्य है।

(२) मानवीय भावनाओंका कोमलतर रसस हा काव्य है।

(३) महारके प्रभाससे या आन्तरिक अनुभवतिस प्रेरित होकर कवि जो कर चैत्रता है वही काव्य है।

(४) काव्य कृत्तिका हृदय है।

(५) काव्य कविके आत्माकी व्यक्तता है।

(६) जब बुद्धिसे अरसृष्ट होकर मनुष्यका आत्मा हृदयसे जोलने लगता है वही काव्य ही जाता है।

(७) हृदय और आत्मका समन्वय हा काव्य है।

(८) जब मनुष्य कुछ उलौषिक शैलाम अपनी प्रभुश्रुति दस करनेका प्रयास करता है तभी काव्यकी सृष्टि होती है।

(९) जन्मे आनम चीन संनेनी अपस्यम जब धणी सक्ष्मा उदात्मया शकर पूर पदतो है वही कविता हो जाती है।

(१०) शब्द और अर्थ का वैरा धारण करने जब भाव व्यक्त होते हैं और उन्हें सुनकर जब सहृदयोंके हृदय समझ ही जाते हैं वही कविता है।

(१) कविता अमृतके समान आकाशसे वसती है और सारी सृष्टिको वृत करती हुई मृतकम प्राणोंका संचार करती है और जीवितको ऊपर उठा देती है।

ये सब परिभाषाएँ सत्य का प्रथम उद्गार हैं जिनमें परिभाषासे पहले काव्यकी रहस्यमयी समीक्षा है, जसस्य नहीं। एक आनोचकने का यका परिभाषा करते हुए कहा है 'काव्य वह देवता है जो पक्ष लगाकर प्रत्येक मानवके हृदयमें मधुर कलत्र कगता हुआ और आनन्दका सन्देश देता हुआ उड़ता निरता है।' किन्तु यह कोई परिभाषा नहीं है, केवल काव्यात्मक उद्गार ही है। यदि इसमें

देवताके स्वरूप और लक्षणका निर्देश होता तो काव्यका स्वरूप समझनेमें सहजता मिलती। इस प्रकारकी और भी न जाने कितनी ही निरर्थक परिभाषाएँ गयीं जा सकती हैं किन्तु इससे काव्यका स्वरूप समझनेमें कोई सहजता नहीं मिल सकती। इससे सरल तो स्वयं काव्य शब्द ही परिभाषा-युक्त है ॥ क्योंकि कवि कर्मको ही काव्य कहते हैं। अतः निरर्थक प्रकारका भी कविकर्म काव्य हो सकता है। यदि प्लेटोकी सम्मति लो जाय तो कवियोंके निर्गुण लोचन शासनमें रहने हा न दिया जाय किन्तु कवि सब युगमें सदा सब देशोंम होते चले आए हैं। अब यह समाज और राष्ट्रके नेताओंका कर्तव्य है कि वे सत्काव्य और अस्वकाव्यकी परिभाषाएँ निश्चित करें और निश्चय कविकर्मके कवियोंको उन निषेधोंके अनुसार रचना करनेके लिये बाध्य करें। किन्तु जो श्रेष्ठ आत्माभिमानी कवि होंगे वे निषेधक होकर शासनत नायकी सृष्टि करेंगे क्योंकि मन्मथने भी कहा है—

निवसिदृत्तनिभरहिता हृदिक्रमशेम्नन्यररन्त्रम् ।

नरररधिरा निर्गिति आरधती भारती कवेरिति ॥

[प्रकृतिसे ज्ञाए हुए समस्त विधानोंसे युक्त, सदा आह्लादसे भरी हुई, सत्य, नये (या नय) खोंते उनी हुई कविकी प्राणी सदा निरन्वी हा ।]

हमारे देशमें गद्य और पद्य दोनों का बड़े अन्तर्गत माने गए हैं। यहाँतक कि 'गद्य कविता निरूप्य बदन्वि' (गद्य ही कवियोंकी सजा कसौरी जताई गई है) कहकर गद्यकारको ही श्रेष्ठ कवि जताया गया है। आचार्योंने गद्यको 'कृतानुपमी' प्रथात् छन्दमय कविताका सस भरे हुए गद्यको ही अच्छा गद्य जताना है। किन्तु योंसेमें गद्य और पद्य दोनों अलग प्रथम माने गए। मोने रूपने सरस छन्दोबद्ध रचनामें पद्य और नीरस अन्तहीन रचनाको गद्य जताना गया है यहाँतक कि यदि कोई नीरस कविता हो तो उसे भी वे प्रोजेक (गद्यत्मक) अथात् नीरस कहते हैं प्रथात् गद्य जहाँ नीरसताका शोक है। पहले योगेश्वर कविलक्षण सत्य समाप्त ही था हेलैना पुस्तकमें गांगिना न कहा है—'छन्दम लिखी हुई प्रत्येक धार्मिकों में कविता कहता आर समस्ता हू ।' सतो या-अफलातूनने भी अपने अन्तर (रिपब्लिक, ६०१ बी) में और अस्तुने भी भाष्यशास्त्र (हृदीरिक्त १८०६ बी,

१४०८ वी) में इसी बातका समर्थन किया है। किन्तु अरस्तूने अपने काव्यशास्त्र (पेरिपोइतिकीस अर्थात् पोएटिक्स १४४७ वी) में स्पष्ट रूपसे गद्य और कवितामें अन्तर समझाया है। होरेसके समयतक यह अन्तर और भी अधिक स्पष्ट हो गया था क्योंकि उसने सिसरोकी पटुपदियोंको पद्यानुवह गद्य ही माना था। योरोपके जागरणके पश्चात् यह भेद अधिक स्पष्ट हो गया। दुब्ले, रोमस, और सिडनीने कहा है कि काव्यके लिये पद्य तो कारण नहीं वरन् केवल अज्ञकार माय है। जौनसनने कहा है कि कवि और तुलूद दो अलग अलग वस्तुएँ हैं। पद्यमें लिखनेवाला प्रत्येक व्यक्ति करि नहीं, वह तो बेचाग कवितासे पेट पालनेवाला होता है। बर्ड्सवर्थने प्रिफेसमें कहा है कि काव्यका उलटा छन्दहीन शब्द नहीं होता वरन् विज्ञान या तथ्य होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि कविता और गद्यमें उनके रूपका नहीं वरन् सामग्रीका विभेद है। स. पी० हार्टिंगने इसपर टिप्पणी करते हुए अपने 'कविता और पद्यका संबंध' (ओन दि रिलेशन ऑफ पोएट्री टु प्रोव) में कहा है कि "काव्यमें एक विशेष अर्थः या भाव-सामग्री होनी चाहिए जो पद्यमें नहीं प्राप्त हो सकती"। इतना सब शास्त्रार्थ होनेपर भी कविता और पद्य दोनों समानार्थी शब्द माने जाते हैं। किन्तु एक बात अवश्य है कि जो लोग पद्यको कवितासे भिन्न मानते हैं वे भी यह अवश्य स्वीकारते हैं कि सम्पूर्ण कविता पद्यमें ही लिखी जानी चाहिए और यह बात हेगेल जैश दार्शनिक और आर्नोल्ड जैश आलोचकने मानी है।

अरस्तूने कहीं भी खुलकर काव्यका परिभाषा नहीं बताई है। उसने अपने काव्यशास्त्रमें कविताको जो अनुकरण बताया है वह नाटक या प्रबन्ध काव्यके लिये ठीक हो सकता है। भावात्मक मुक्तकको या गीतको अनुकरण कैसे माना जा सकता है। पीछे स्टोइकोने अनुकरण और काव्यको एक ही मान लिया और सोलहवीं शताब्दीमें इतालवियोंने इसी विचारको मोत्याहन दिया। इसका तात्पर्य यह है कि कविता भी चित्रण या कल्पित वस्तु है और विचित्र बात यह है कि योरोपीय काव्यसिद्धन्तशास्त्रमें कविताको अधिकान्त कल्पना ही मानते हैं। फिल्लेमन हालेनेने 'जेम्स ला मॉत' का अनुवाद करते

हुए कहा है कि कविता तो मिथ्या कथाओंको गढ़ने और खोज निकालनेका कौशल है। जौनसनने भी कहा है कि जो छन्दमें लिखता है वही कवि नहीं है वरन् कवि वही है जो मिथ्या कहानो बनावे और गढ़े क्यों कि कहानी और कल्पना ये तो कितनी भी काव्यप्रणय या कविताके शरीर और आत्मा है। मार्स्टेनने भी यही पूछा है "बताओ तो आलोचक महोदय, क्या काव्यका आत्मा कल्पना नहीं है?" दोनने अपने 'समन्व' में कहा है "कविता तो शब्दी रचना है क्योंकि वह अस्तित्पहीन वस्तुओंको ऐसे उपस्थित करती है मानो उनका अस्तित्त्व हो।" द्रायडनने भी अपने निबन्धों (ऐसेसज़) में कहा है "कल्पना कविताका तत्त्व है।" इस युगमें भी एक० सी० प्रेस्कौटने अपने 'दि पोएटिक माइण्ड' में कहा है—"तो कविता गद्यमें भी उपस्थित हो सकती है और पद्यमें भी। उसका तत्त्व है मिथ्या गाथा (मिथ), कल्पना (चित्रण), या काव्य (पोएट्री); तीनों एक ही बात है।"

होरेसने कविताको गद्यसे भिन्न बताते समय कल्पना या अनुकरणकी बात नहीं सोची थी। होरेसके अनुसार यह भेद उनकी भाषणकला, वाग्धारा या मन्व-शैलीकी है। उसके अनुसार कविमें यह शक्ति होनी चाहिए कि वह उचित कर सके और उसकी मन्वताका प्रभाव पड़े। मध्यकालमें यह समझा जाता था कि कविताकी विशेषता यही है कि उसकी भाषा असाधारण रूपसे आलङ्कारिक और मन्व हो। तेरहवीं शताब्दीके व्यूवेके निर्रटने कविताको एक विचित्र परिभाषा बनाई है, जिसमें कहा गया है—"कविता वह काल्पनिक वस्तु है जो अलंकारों तथा भाषाके अन्व उदास सौन्दर्यसे आकर्षक बन गई हो।" उसी समयके लगभग दौतेने कविताको संगीतमय आलंकारिक कल्पना बताया था। यह अलंकारका रोग ऐसा लगा कि पीछेके कवि लोग अलंकाराच्छी ही कहलाए जाने लगे। मैथ्यू आर्नोल्डने कविताके विषयमें कहा है—"कविताके दो कार्य हैं; एक तो मनुष्यके विचारों और भावोंके कोर्षोंको अभिवर्धित करे और दूसरे मनुष्यको एक नियमित मातृके साथ अनेक अन्तः कथाओंके साथ और मन्वशैलीसे संयत और विकसित करे।"

इधर जयसे मनोविज्ञानकी चर्चा चारों ओर होनेलगी

है तबसे कविताके पीछे रचयिताकी मानविक गतियों या कल्पनाओंको समझनेकी समस्या उठ पड़ी हुई है। आजकल काव्यकी प्रकृतिसे सम्बन्धमें तीन विचार अधिक प्रचलित हैं। कुछ लोग कविताको 'अभिव्यक्तिकी क्रिया' मानते हैं। इनमें कौचे जैसे कुछ लोग कविता और अभिव्यक्तिको एक ही मानते हैं। उनका कहना है कि कोई कर्षाई दार्शनिक कवितामयी है जहाँतक वह अभिव्यक्ति शील है निन्तु यह सिद्धान्त अभिव्यक्तिके सिद्धान्तमें इतने उलझिल गए हैं कि वास्तवमें यह भेद अभिव्यक्तिकी क्रियाका नहीं है वरन् जो अभिव्यक्तिकी क्रिया जा रहा है (कल्पना भाग आदि) उसकी प्रकृति है। दूसरे दलका यह विचार है कि कविताकी बिना भाववहनकी क्रिया है। पर गद्य भी भाववहनका ही काम करता है। अतः वे दोनों क्रियामें भेद न रखकर वहनीय वस्तु (अनुभव, भाव या ज्ञान) का प्रकृतितम ही भेद स्थापित करते हैं। उनके अनुसार गद्य उड़े रूपे और बिना शैलियोंके भावको व्यक्त करता है किन्तु कवितामय यह अभिव्यक्ति या भाववहन गद्य सर्गीक, सद्भिन् और अधिक भावपूर्ण होता है जिसके कारण कविता गद्यकी अपेक्षा अधिक भाववहन कर सकता है। तीसरे विचारवालोंका कहना है कि काव्यकी क्रिया केवल एक वस्तु अर्थात् कविताका रचना मात्र है। इस विचारके अन्तगत अभिव्यक्तिकी भावना और भाववहनकी भावना भी निहित है किन्तु इन सिद्धांतोंमें उस कदम महत्त्व नहीं दिया गया है। वे लोग भावकी अपेक्षा उन वस्तुओंकी अधिक महत्त्वपूर्ण समझते हैं जो कविता निर्माणमें श्रावश्यक होते हैं।

काव्यकी क्रियामें सम्बन्धमें जो भी विचार हो और भावकी जितना भी महत्त्व दिया जाता हो पर आलोचक आलोचक यह समझते हैं कि काव्यमें व्यक्त किए हुए भावकी प्रकृति गद्यमें व्यक्त किए हुए भावसे भिन्न है। कल्पनाशैली आलोचन (वैज्ञानिक सूक्ष्म) के समक्षे किसी भी कविताका पूरा भाव ही आनन्दक समझा जाता रहा अर्थात् कविताका पढ़नेवालेके ऊपर क्या प्रभाव पड़ता है और उसकी क्या भावना होती है—यह बात मुख्य मानी जाती रही। आजका आलोचक यह कहता है कि कविता केवल ज्ञानरूप बनानेके लिये या व्यावहारिक निर्देशके लिये नहीं है वरन् उसका उद्देश्य यह है कि वह

ऐसा भाव उपस्थित करे जिससे यह गद्य ही न निकले कि वह कोई ज्ञानरूप बन रही है या वह व्यावहारिक जीवनके सम्बन्ध है। १९वीं शताब्दीमें काव्यगत भाव यही समझा गया जो भावनात्मक या व्यापक होनेकी अपेक्षा प्रत्यक्ष और विशिष्ट हो। बहुतेके लोग इससे असहमत हैं, फिर भी भावना यही है। आजकल काव्यके सम्बन्धमें जो दार्शनिक हो रहे हैं उनमें कल्पनाकी बात कम सुनाई पड़ती है किन्तु १९ वीं शताब्दीमें कल्पनाको ही काव्यका प्रधान तत्त्व माना जाता था जिससे ज्ञानका प्राप्ति और उसका समझना संभव होता था। आजकलके प्रायः सभी आलोचक वर्तमानके समान काव्यका उलटा विचार ही मानते हैं।

ॐ सत्यासनायासौ काव्यम् ॥

[अनायास सायास काव्यके होते हैं दो रूप ।]

किसी कर्षाई दो प्रकारसे व्यक्त होती है— एक अनायास अर्थात् बिना किसी प्रकारके बौद्धिक या मानविक प्रयत्नके जैसे भगवान् पाचेतसके मुखसे प्रौचमिच्छनका उच करनेवाले निपादके प्रति "मा निपाद" वाला उक्ति सहसा फूट उठी थी और जिसने लिये कहा गया है "जोक्त श्लोकव्यमागत" अर्थात् शोक ही श्लोक बनकर निकला, यही अनायास, स्वाभाविक, नैसर्गिक, हृदयगत कविता है। केवल भावात्मक मुखक श्रवण तन्मयतायुक्त गीत ही इस श्रेणीकी साहित्य रचनाएँ होती हैं। इनके अतिरिक्त प्रबन्धमय, गद्यकाव्य, उपन्यास, नाटक तथा निरुच्य इत्यादि जितने साहित्यिक रूप हैं तदनुपाय होते हैं, क्योंकि उनमें कवि अपनी बुद्धि तथा कल्पना इत्यादिसे गढ़कर कृत्रिम कलापूर्ण रचनाका कौशल प्रकट करता है। ये सब रचनाएँ अस्वाभाविक होते हुए भी कवि कौशलके कारण स्वाभाविक-तुल्य प्रतीत होती हैं। इन्हींमें जो काव्यकौशलसे हीन होती हैं वे लोकप्रिय नहीं हो पाती और जिनमें कवि लोक-जिज्ञासा और लोकाकारणनी तुष्टि करनेके साधन उपस्थित करते हैं वे लोकप्रिय और लोकप्रसिद्ध हो जाती हैं। ऐसे काव्य सायास और सोद्देश्य होते हैं। इसके विपरीत जो अनायास या स्वाभाविक काव्य होते हैं वे "स्वास्त सुलाय" या कविके अनेक मनस्वोपके लिये रचे जाते हैं और वे ही साहित्यिक तथा श्रेष्ठतर काव्य हैं।

सम्भवतः बहुतेके प्रबन्ध-काव्योंमें 'स्वान्तः सुखाय' की वृत्तिके साथ-साथ लोक-कल्याणकी भावना भी हो सकती है जैसे गोस्वामी तुलसीदासजीके रामचरितमानसमें। किन्तु नाटक, काव्यका वह रूप है जो कभी "स्वान्तः सुखाय" हो नहीं सकता, क्योंकि वह दृश्य है, उसका प्रयोजन ही है दूसरोंके सम्मुख दिखाया जाना। अतः नाटक सोई रूप होता है और सायास होता है। उसमें नाटककारको केवल कथा कौशल और काव्य-कौशल दिखानेसे ही मुक्ति नहीं मिलती वरन् उसे पात्रयोजना, व्यापार-योजना, संवादयोजना, संगीतयोजना सबके लिये विशेष आयास करना पड़ता है और सदा सामाजिक, अभिनेता, नाट्यप्रयोजता और रंग-शालाका ध्यान रखकर रचनाकार्य करना पड़ता है। इसीलिये कहा गया है 'काव्येषु नाटकं रम्यम्' और यही कारण है कि संसारमें निबन्ध, उद्बन्धाच, कविता और कहानीके लेखक तो बहुत हुए पर नाटककार बहुत कम।

नाटकमें जहाँतक भाषा-योजनाका सम्बन्ध है हम पीछे भी कह आए हैं कि भाषाका प्रयोग संवादमें होता है और रंग-निर्देशमें। संवादमें गद्य, पद्य और गीत सबका काव्यात्मक प्रयोग हो सफता है किन्तु रंग-निर्देश और नाट्यनिर्देश अत्यन्त सरल, स्पष्ट और सर्व-बोध होने चाहिये कि उसमें किसी प्रकारके दूसरे अर्थका अप्रसर ही न हो। इसीलिये अभिनवभरतका मत है कि शब्द और अर्थमें काव्यत्व मानना भूल है। पूरे प्रबन्धकी सरसता ही काव्यत्व है क्योंकि नाटकमें केवल शब्द और अर्थ ही प्रधान नहीं होते वरन् व्यापार या कार्यका भी महत्त्व होता है अतः काव्यका परिमाण यही होगा कि आदि से अन्ततक जिस रचनानामे शब्द, अर्थ, घटना सबका सरस गुम्फन हो वही रचना काव्य कहला सकती है। यह सरस गुम्फन भाव्यैदृश्य, व्यापार तथा पात्रयोजनाके अद्भुत सन्निवेशपर निर्भर है और उक्त सन्निवेशका ज्ञान नाट्य-कौशल कहलाता है।

इसी परिभाषाके अनुसार नाट्यकाव्य काव्य या रूपक काव्यकी परिभाषा होगी—नाटकमें आए हुए पात्रोंकी अवस्था, मनः स्थिति, परिस्थिति, पद तथा सम्बोधन व्यक्तिकी अवस्थाके अनुकूल ऐसे उचित शब्दों तथा वाक्योंमें युक्त लोक-बोध-गम्य संवाद तथा रंगनिर्देशसे युक्त रचनाने

नाट्यकाव्य कहते हैं जिनका यदि उचित अभिनय किया जाय तो नाट्यकार-द्वारा निर्दिष्ट रमका आस्वादन दर्शक कर सकें। हम पीछे परिभाषा प्रकारणमें इसकी विस्तृत मीमांसा कर आए हैं।

आचार्योंने उच्चम, मध्यम और अधम तीन प्रकारके काव्य माने हैं। मम्मट कहता है—

इदमुच्चममतिशयिनि व्यंग्ये वाच्यार्थव्यभिचारेः कथितः।

[जहाँ वाच्यार्थको अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थमें अधिक चमत्कार हो उस काव्यको ध्यान कहते हैं और वह उच्चम होता है।]

अतादृशि गुणीभूत व्यंग्ये व्यंग्ये तु मध्यमम्।

[मध्यमकाव्य वह है जहाँ व्यंग्यार्थ प्रधान न हो अर्थात् गौण हो, जहाँ वाच्यार्थकी अपेक्षा व्यंग्यार्थमें कोई अधिक चमत्कार न हो या बराबर अथवा कम चमत्कार हो। इस प्रकारके काव्यको जहाँ व्यंग्यार्थ गौण या अप्रधान होता है उसे गुणीभूत व्यंग्य कहते हैं।]

शब्दचित्रं वाच्यचित्रमर्थगम्यं त्वपरं स्मृतम्।

[जहाँ शब्द और अर्थमें ही चमत्कार हो उसे अधम काव्य माना जाता है। यही शब्द और वाच्यार्थ चमत्कार अलङ्कार भी कहलाता है।]

क्षेत्रे नैत्यभिनवभरतः।

[अभिनवभरत नहीं सहमत हैं।]

अभिनवभरतका मत है कि काव्यकी श्रेष्ठता या अश्रेष्ठता उसके वाच्यार्थ या व्यंग्यार्थपर अवलम्बित नहीं होती। वह उसकी सरसतापर ही अवलम्बित है। यदि शब्द-चित्र और वाच्य-चित्र ही समान रूपसे लोकको प्रभावित करते हुए और कविके हृदय प्रभाषिते प्रभावित होते हो तो वही श्रेष्ठ काव्य है और यदि व्यंग्यार्थसे भरा हुआ कोई काव्य लोकको आकृष्ट न कर सके और दुर्बोध हो तो वह काव्य अधम ही समझना चाहिये। कालिदासने कहा है "नाट्यं भिन्नरुचे नैतद्य बहुवाच्यैर्क समापन्नम्" अर्थात् भिन्नरुचिवाले अनेक लोगोका जो समान रूपसे मनोरञ्जन करनेवाला है वही नाट्यकी ठीक कसौटी है और जिसे हम ऊपर "प्रबन्धसारस्यम् काव्यत्वम्" के सूत्रमें निर्दिष्ट भी कर आए हैं। राजशेखरने भी इसी बातका समर्थन किया है कि उन सारस्वत कवियोंको ही रचना सर्वश्रेष्ठ होती है जिनका समान रूपसे हलवाहिकी

कुटियोमे लैकर गजप्रासादोतक आदर होता हो । जिन रचनाओंमे यह गुण नहीं उनको अप्रथम ही नहीं, व्यर्थ काव्य कहना चाहिए । श्रेष्ठ काव्यरत्न रूप निर्धारित कर लेनेपर शब्द और अर्थकी विवेचना करना आवश्यक है ।

शब्द तीन प्रकारके

रूढयौगिकयोगरूढशब्दाः ॥

[रूढ, यौगिक, योगरूढी, शब्द तीन प्रकारके हैं ।]

आचार्योंने काव्यमें तीन प्रकारके शब्द माने हैं—
१ वाचक, २ लक्ष्य या लाक्षणिक, - व्यञ्जक । वाचक शब्दोंके अर्थ वाच्यार्थ कहलाते हैं । लक्ष्य या लाक्षणिक शब्दोंके अर्थ लक्ष्यार्थ कहलाते हैं और व्यञ्जक शब्दोंके अर्थ व्यङ्ग्यार्थ कहलाते हैं । आभिधा शक्तिसे वाच्यार्थ प्रकट होता है, लक्षणा शक्तिसे लक्ष्यार्थ और व्यञ्जना शक्तिसे व्यङ्ग्यार्थ । अर्थात् अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जनाके व्यापार अथवा क्रियाके द्वारा शब्दोंके अर्थका बोध होता है । ये तीनों शब्दकी शक्ति या वृत्ति भी कहलाती हैं ।

शब्द और वाक्य

चन्द्रालोककारने कहा है—

विभक्तयुक्तये योग शास्त्रीय शब्द इत्यते ।

रूढयौगिकान्मिश्रैः प्रभेदैः स पुनस्त्रिया ॥

[विभक्ति और उसकी उत्पत्ति इन दोनोंके मेलसे जो शब्द बनता है वही शास्त्रीय शब्द कहलाता है ।]

ये शब्द तीन प्रकारके माने गए हैं—(१) रूढ, (२) यौगिक और (३) योगरूढ । इनके भी तीन तीन उपभेद किए गए हैं जैसे रूढ शब्द अत्यन्तयोग भी हो सकता है जिसमें विभक्ति और उत्पत्ति छिपी रहती है, जैसे वृक्ष । दूसरा नियोग, जिसमें विभक्ति और उत्पत्ति नहीं होती, स्वयं व्यक्त होता है जैसे भू । तीसरा योगमास, जिसमें विभक्ति और उत्पत्ति दोनोंकी छाया हो जैसे मंडप ।

यौगिक शब्दके भी तीन भेद माने गए हैं—शुद्ध यौगिक, यौगिकमूल और संभिन्ययौगिक । जैसे भ्रान्तिशब्द शुद्ध यौगिक है, स्फुरत्कान्ति यौगिकमूल है और कौन्तेय, संभिन्ययौगिक है ।

योगरूढके भी तीन भेद हैं—सामान्य, विशेष और

मिश्र । जैसे नीरधि शब्द सामान्य योगरूढ शब्द है, पक्क विशेष योगरूढ शब्द है और सागर, भूइह आदि मिश्र हैं । नीरसागर, आकाशपक्क आदि सामाजिक शब्द भी इसीसे बन जाते हैं ।

कूट शब्द

कूटविशेषः । सांकेतिक-क्राकुट्यनिक-वाक्य-व्यंजकाश्च ।

[कूट शब्द भी एक प्रकार । सांकेतिक, क्राकुट्यनिक बोधक, वाक्य व्यञ्जना करनेवाला ।]

अभिनवभरतका मत है कि इन तीन प्रकारके शब्दोंके अतिरिक्त एक और प्रकारके शब्द होते हैं जिन्हें कूट शब्द कहते हैं और जिनका प्रयोग अन्य काव्यरूपोंमें तो नहीं किन्तु नाटकमें उसका प्रयोग अत्यन्त हो सकता है । सम्यगीति और विशिष्ट व्यापारोंमें लोग कुछ अपने व्यवसायके लोगोंमें समझने समझानेके लिये एक शब्दावलि बना लेते हैं जैसे दलान और पंडि कुछ सांकेतिक शब्द चलाते हैं । लाक्षणिक विदुस्जीने युधिष्ठिरको जिस भाषामें समझाया था वह भी कोई कूट भाषा ही थी । बहुवचने लोग अपने परस्पर वार्त्तालापके लिये भी शब्दोंका हेरफेर करते या घय बढ़ाकर या किसी विशेष अक्षरको लगाकर शब्द विवृति कर लेते हैं ।

काशीके दलाल रूपमें टका दलालीके लिये भइजी, एक आनेके लिये खरे, दो आनेके लिये मगल और डेढ आनेके लिये व्यौशर कहते हैं । वे लोग दलालकी गाउन कहते हैं ।

इसी प्रकार काशीके पड़ोंमें एक रूपकी साँग, डेढकी पिडुडी, दो को जेवर, तीनको सिधाड़ा, चारको फोक और पाँचको हलू कहते हैं । वे अपने यत्रमानके सामने हो अपने किसी गणको समझते हुए कहेंगे—
हलूकड डील रहे (अर्थात् इससे पाँच रूपपाले लेना ।)

पर इनसे विचित्र है काशीके भइइयों (यावियोंको दर्शन करनेवाले पड़ों) का भाषा-व्यवहार । उन्होंने सधा और क्रियापदोंके कुछ अपने कूट शब्द बना लिए हैं जैसे मदिराके लिये लेख, पुरुषके लिये कडा, स्त्रीके लिये कूनी, बच्चेके लिये पण्डों और पुलसके सिपाहीके लिये खोट । यदि इन्हें कहना होगा—'एक पैसेका पाच ले आओ तो कहेंगे—रवा बरोकड बरंगा बेलाहले आवाड ।

इसी प्रकार 'यात्री बैठा है' कहनेके लिये ये कहेंगे—
माँमी ठिलल हो। परस्पर बातचीतके लिये जिन प्रश्नकी
शब्दावली बना ली जानी है उसके कुछ उदाहरण नीचे
दिए जाते हैं—

अफुस्का नफ़ाम कयफ़ा हफ़ै = उसका नाम क्या है।
मुअका मान मबारसी साद है = उसका नाम बनारसी-
वास है।

चआचइचए = आइए।

नाटकमें जहाँ कोई राजनीतिक पडयन्त्र या गुप्त बात
इस प्रकार दिखानी हो कि रंगभीठके अन्य लोग न समझ
पावें वहाँ ऐसे कूट शब्दोंका प्रयोग किया जा सकता है।
किन्तु आगे चलकर उनका अर्थ हम ढंगसे खोल भी देना
चाहिए कि दर्शकोंके लिये ये कूट न रहें।

इसका तात्पर्य यह है कि साहित्यमें जो शब्द रूढ़,
योगिक और योगरूढ़ प्रचलित हैं उनके अतिरिक्त भी लोग
अपने प्रयोजनानुसार या तो नये शब्द गढ़ लेते हैं
या पुराने शब्दोंमें ही नये अर्थोंका आरोप कर उनका
इस प्रकार प्रयोग करते हैं कि दृष्टसेवैष्यके अतिरिक्त
दूसरा उभय न समझ पावे। नाटकमें इस प्रकारके शब्दके
प्रयोगमें यह ध्यान रखना चाहिए कि किसी न किसी
प्रकार दर्शकोंको उसका अर्थ प्रकट हो जाय।

कुछ ऐसे भी शब्द हैं जो पूरे वाक्यकी ध्वनि व्यक्त
करते हैं। एक साधारण शब्द ले लीजिए 'हाँ'। इस 'हाँ'
को कालुकी अनेक ध्वनियोंसे हम विभिन्न अर्थोंमें प्रयुक्त कर
सकते हैं। साधारणतः 'हाँ' शब्द स्वीकारोक्तिका बोधक
है, किन्तु किसीका गुप्त रहस्य जान लेनेपर इसी 'हाँ'को
रखित कर यह अर्थ निकाला जा सकता है कि 'मैं तुम्हारा
सब रहस्य समझता हूँ। मुझसे क्या छिपा रहे हो?'
इसी 'हाँ'को किसी अस्पष्टाशयित घटनाके उत्तरमें आश्चर्यकी
मुद्रा साधकर इस अर्थमें व्यक्त किया जा सकता है कि
'मुझे यह आशा न थी कि अमुक व्यक्ति अमुक कार्य कर
सकेगा।' इसी प्रकार 'यद्' प्रश्नवाचक, उपेक्षासूचक,
उत्सुकता-निर्देशक और उपासलं व्यञ्जक हो सकता है।
इस प्रकारके शब्दोंमें 'हाँ', 'ना', 'अच्छा', 'क्या', 'क्यों', 'ऐसा',
'कैसे', 'कब', 'तब', 'नहीं', 'तो' आदि सम्मिलित हैं। कभी कभी
एक शब्द ही अर्थात् कोई संज्ञा वा क्रिया ही एक
वाक्यका अर्थ दे देता है जैसे यह पूछने पर—'क्या तुम

काशी गए थे?' उत्तर मिला "गया था।" इस गया
या का वाक्यरूप यह होगा 'हाँ', मैं काशी गया था।
इसी प्रकार यह पूछने पर कि—'दरद्वार कौन गया है?'
उत्तर मिलता है 'गोविन्द', जिसका तात्पर्य यह है कि
गोविन्द दरद्वार गया है। नाटककी दृष्टिसे ऐसे शब्दवाक्यो-
का बड़ा महत्त्व होता है क्योंकि वहाँ प्रायः एकशब्दीय
वाक्य अधिक होते हैं और स्वामाधिकताकी दृष्टिसे
एकशब्दीय वाक्य ही शुद्ध और स्वामाधिक होते हैं।
श्रंगः रुद्विगैरिगिक और योगरूढ़शब्दोंके अतिरिक्त
साहित्यिक वाक्यार्थनिक और वाक्यव्यञ्जक तीन और भी
प्रकारके शब्द होते हैं जो प्रश्न या उत्तरमें पूरे प्रश्न या पूरे
उत्तरका स्पष्ट और निश्चित प्रतिनिधित्व कर सकते हैं।

शब्दशक्ति

ॐ शक्तित्रियाऽभिधाऽमिधालक्षणव्यञ्जना च ॥

[अभिधा, लक्षणा जानो व्यञ्जना तीन शक्तियों।]

आचार्योंने यह माना है कि शब्द तीन प्रकारके होते
हैं वाचक, लक्षक और व्यञ्जक। इन तीन प्रकारके शब्दोंसे
जो अर्थ निकलते हैं वे क्रमशः वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और
व्यञ्ज्यार्थकहलाते हैं। जिन शक्तिसे वाचक शब्दका वाच्यार्थ
प्रकट होता है उसे अभिधा कहते हैं, लक्षक शब्दका
लक्ष्यार्थ जिस शक्तिसे व्यक्त होता है उसे लक्षणा और जिस
शक्तिसे व्यञ्जक शब्दका व्यञ्ज्यार्थ ध्वनित होता है उसे
व्यञ्जना शक्ति कहते हैं। अर्थात् कोई भी अर्थ जब हम
खोजते हैं तो शब्दसे खोजते हैं अतः शब्द तो कारण है
और अभिधा, लक्षणा या व्यञ्जनाशक्ति यह किया या व्यापार
है जिसके द्वारा अर्थ प्रकट होता है।

अभिधाशक्ति और वाचक शब्द

ॐ प्रत्यक्षैद्वितीयार्थसूचको वाचकः ॥

[जो प्रत्यक्ष अर्थ इंगित हो उसका सूचक वाचक शब्द।]
बहुतेसे शब्द ऐसे होते हैं जिनको सुनते ही उनका
एक ऐसा स्पष्ट अर्थ जात हो जाता है जिसके समन्वयमें
किसी प्रकार का सन्देह या विचय नहीं होता। ऐसा
प्रत्यक्ष किया हुआ संकेत कई कार्योंसे जैसे व्यवहार,
प्रसिद्ध शब्दका साहचर्य, अस्तवाक्य, उपमान और

और व्याकरण आदिसे ग्रहण किया जाता है। जैसे हम बड़े कि 'लेखनी लाओ' तो हमने जिस वस्तुको और संकेत करके कहा है उसका ठीक नाम पहले न जाननेवाला भी उस व्यवहारसे जान जायगा कि यह लेखनी है। इसे व्यवहार संकेत कहते हैं। जब हम मुनते हैं कि राम के अनुजन बसको पड़ाइ डाला तो हम प्रसिद्ध शब्द 'कत' के साहचर्यसे रामका अर्थ कलराम और रामके अनुजका अर्थ कृष्ण ही लगावेंगे, लक्ष्मण नहीं। कभी कभी हम एक वस्तुको महा जानते हैं और उस वस्तुकी विषयसे सम्बन्ध रखनेवाला आचार्य कहता है—यह वीणा है, यह विहार है, यह तानपूरा है तो हम आतनाकयते उन तीनों एक जैसे तारके अन्तर्गत अलग अलग नाम जान और मान लेते हैं। हमने वनमानुसका यही विवरण पढ़ा है कि उसके पूँछ नहीं होती, मनुष्य जैसा होता है पर कर्दोंके समान पैडीपर कूँता और छलता है। जतुशालामें पहुँचकर हम तन्माल मनुष्यके जैसा वह कीच देकर उपमानके द्वारा पहचान जाते हैं कि यह वनमानुस है। इसी प्रकार कुछ शब्द व्याकरणसे सिद्ध होते हैं जैसे भौषमके लिये गामेय (अर्थात् गगाका पुत्र) नाम व्याकरणसे ही जनता है।

प्रत्येक वस्तुके धर्म या उसकी विशेषता (उपाधि) में ही ऐसे प्रत्येक संकेत रहते हैं जो अर्थ प्रकट करनेवाले होते हैं। इन धर्म या विशेषताओंके अनुसार वाचक शब्द चार प्रकारके हुए—वाचिवाचक जैसे वृक्ष, पशु, गौ आदि, गुणवाचक जैसे 'हरा वृक्ष' में 'हरा' शब्द, क्रियावाचक जैसे 'गम दौड़ता है' वाक्यमें गमकी क्रिया बताई गई है कि वह दौँ ता है और यहच्छावाचक शब्द जैसे अपनी दृच्छाके अनुसार किसीको मोहन लक्ष्मण, भरत आदि नामसे संबोधित करना। कभी-कभी लोग गौ कुत्ते या बिल्लीके भी कुछ नाम रख लेते हैं। ये सब नाम भी यहच्छावाचक शब्द होते हैं।

॥ वाचकीर्थ, वाच्यार्थ ।

[वाचका अर्थ बना वाच्यार्थ ।]

[वाचक शब्दका जो अर्थ होता है वही वाच्यार्थ कहलाता है। इसीको मुख्यार्थ और अभिप्रेयार्थ कहते हैं क्योंकि अभिप्राय शक्तिये यह अर्थ व्यक्त होता है ।]

अभिप्राय

॥ निश्चितार्थविधायिनी शक्तिरभिप्राय ।

[निश्चित अर्थ बनानेवाली शक्ति कहाती अभिप्राय]

शब्दोंके निश्चित अर्थोंके अनुसार जो अर्थ प्रकट होता है उस निश्चित अर्थात् मुख्य अर्थको प्रकट करनेवाली शक्तिको अभिप्राय शक्ति कहते हैं जैसे, पुलवारीमें फेलोका एक वृक्ष है। इस वाक्यका कोई अन्य अर्थ नहीं लिया जा सकता क्योंकि इस वाक्यके सब शब्द अपने निश्चित या मुख्य अर्थ ही प्रकट कर रहे हैं। यहाँ यह मुख्य अर्थ शब्दोंकी अभिप्राय शक्तिये प्रकट हुए हैं।

इसी अभिप्राय शक्तिये जिन शब्दोंके अर्थ प्रकट होते हैं वे चार प्रकारके होते हैं—वृक्ष, पीपल, योगरूढ और कूट। इन चारों प्रकारके शब्दोंकी वक्ष्या हम ऊपर कर चुके हैं।

लक्षणा

॥ मुख्यार्थे भिन्नाभिन्नार्थसूचको लक्ष्यार्थ ॥

[मुख्य अर्थसे भिन्न किन्तु सम्बद्ध अर्थ लक्ष्यार्थ ।]

जब किसी शब्दका मुख्य अर्थ छोट दिया जाता है और किसी विशेष अर्थमें प्रयुक्त होनेसे या किसी विशेष प्रयोजनसे कोई दूसरा ऐसा अर्थ लगा दिया जाता है जो उसके मुख्य अर्थसे भिन्न होनेपर भी उससे कुछ सम्बन्ध रखता हो तो वहाँ जिस शक्तिये यह दूसरा अर्थ लगाया जाता है उसे लक्षणा शक्ति कहते हैं। जैसे यदि हम कहें—सारा देश व्याकुल है। इसमें यद्यपि देश व्याकुल होनेकी वस्तु नहीं किन्तु देशवासियोंके लिये देश कहनेकी रुचि हो गई है। यहाँ देश व्यकुल है ना अर्थ हुआ—सारे देशवासी व्याकुल हैं। अतः यहाँ रूढा लक्षणा हुई।

जहाँ किसी प्रयोजनसे शब्दका मुख्य अर्थ छोड़कर उसका दूसरा अर्थ लगा लिया जाता है वहाँ प्रयोजनवती लक्षणा होती है। इसके कई भेद हैं। पहले दो भेद हैं—शुद्ध और गौणी। फिर शुद्धके उदात्त, लक्षण, सारोपा और साध्यवसाना चार भेद हैं, और गौणीके दो भेद हैं सारोपा और साध्यवसाना।

—उदात्त शुद्ध प्रयोजन-लक्षणा यहाँ होती है वहाँ मुख्य अर्थके साथ कोई दूसरा अर्थ भी लक्षित हो और दूसरेका मुख्य ग्रहण किया गया हो जैसे 'वहाँ गोला चल

रही थी' यहाँ गोलीमें चलनेका गुण नहीं, अतः यह दोष मित्रानेके लिये 'मनुष्यने बन्दूकने जो गोली छोड़ है उस शक्तिसे गोली दूरतक आगे चलता है, इतने अर्थकी कल्पना करनी पड़ती है। साथ ही गोलीके चलनेकी क्रिया होती ही है यह मुख्य अर्थ भी साथ रंधा है।

२--लक्षण-शुद्धा-प्रयोजन-लक्षणा वहाँ होती है जहाँ मुख्य अर्थ पूरा छोड़ ही दिया जाता है जैसे 'वह ज्ञानवापी पर रहता है' वास्तवका अर्थ यह है कि 'वह ज्ञानवापीके चारों ओर बने हुए किसी भवनमें रहता है, ज्ञानवापी कूपके ऊपर नहीं।' यहाँ मुख्य अर्थ पूरा छोड़ दिया गया है, प्रयोजन इतना ही है कि स्थान ज्ञानवापीके निकट है।

३--सारीष-शुद्धा-प्रयोजन-लक्षणा वहाँ होती है जहाँ केवल कुछ थोड़ी सी समानताके कारण मुख्य अर्थ छोड़कर दूसरा अर्थ ले लिया जाता है जैसे 'तेरे मे नेत्र क्या हैं पैसे क्या हैं।' यहाँ 'ये' शब्द नेत्रोंके लिये न आकर कंधाके लिये आया है।

४--साध्यवसाना-शुद्धा-प्रयोजन-लक्षणा वहाँ होती है जहाँ एक शब्दकी लक्षणा शक्ति और दूसरे शब्दकी अभिप्राय शक्तिसे निकले हुए अर्थमें समानता होनेपर भी दोनों मेंसे एक अर्थात् विषय या उभयेय न दिया गया हो। कोई प्रेमी अपनी प्रेयसीसे मिलनेपर उससे कहता है 'तुमने मुझे अमृत पिला दिया।' यहाँ अमृत वाचक शब्द है जिसका लक्ष्यार्थ है प्रेयसीसे मिलना किन्तु यहाँ अमृत और प्रेयसीसे मिलना एक हो गया है। इसी सारीष-लक्षणासे रूपक अलङ्कारकी उत्पत्ति होती है।

गौरी लक्षणा--जहाँ समानताके कारण लक्ष्यार्थ लिया जाता है वहाँ गौरी लक्षणा होती है। गौरीका अर्थ है गुण से संबंध रखने वाली; जैसे 'भुजदंड' शब्द लीलाए। यहाँ भुज और दंड दोनोंमें समान रूपसे शत्रुकी पीड़ित करनेकी शक्ति है अतः इस गुणके कारण 'भुज दंडके समान है' यह लक्ष्यार्थ ग्रहण किया गया।

गौरी शुद्धा लक्षणा--जहाँ किसी समान-संबंधके बिना किसी दूसरे ही संबंधसे दूसरा अर्थ ले लिया जाय वहाँ शुद्धा लक्षणा होती है। 'कुँएपर मेरा घर है' का अर्थ है कुँएके पास मेरा घर है। यहाँ सामीप्य-संबंधसे लक्ष्यार्थ ले लिया गया है। 'मैं विष्णुकी पूजा कर रहा हूँ' का अर्थ है 'मैं विष्णुकी मूर्तिकी पूजा कर रहा हूँ, यहाँ तादार्थ

सम्बन्ध है क्योंकि विष्णुकी मूर्ति ही विष्णुकी स्थानापन्न मानी जाती है। 'मैंने अपने हाथसे पुस्तक लिखी है' का अर्थ है 'मैंने अपनी उँगलियोंसे लिखी है', किन्तु उँगलियोंका और हाथका अज्ञाति सम्बन्ध है इसलिये यहाँ अज्ञाति भावमें लक्ष्य अर्थ ग्रहण किया गया है। यदि ब्राह्मण न होने पर भी कोई वैश्य पौरोहित्यका काम करता है तो लोग उसे पण्डित जाँ और पुरोहित जी कहते हैं। यहाँ पुरोहित जी और पण्डितजीका अर्थ है पुरोहित या ब्राह्मणका काम करने वाला व्यक्ति। यह लक्ष्य अर्थ तात्कर्म सम्बन्धसे लिया गया है।

जब अपना निर्दिष्ट अर्थ सिद्ध करनेके लिये दूसरा अर्थ ग्रहण कर लिया जाय अर्थात् जहाँ मुख्य अर्थ न छोड़ते हुए दूसरा अर्थ खींचकर लाया जाय वहाँ उपादान लक्षणा होता है। इसीलिये इसे अबहत्त्वार्था भी कहते हैं। 'वहाँ लाठीयाँ चल रही थीं' कहने का अर्थ यह है कि कुछ लोग लाठीयाँ ले लेकर मारनेकी क्रियामें लाठियाँ चला रहे थे।' यहाँ मुख्य अर्थ लाठी भी लिया है और साथ साथ 'लाठी धारण करनेवाले पुरुष' यह लक्ष्यार्थ भी ग्रहण किया गया है।

इसके विपरीत जहाँ वाक्यका अर्थ सिद्ध करनेके लिये मुख्य अर्थमें छोड़कर दूसरा लक्ष्य अर्थ लिया जाता है वहाँ लक्षण-लक्षणा या अबहत्त्वार्था लक्षणा होती है। जब हम कहते हैं 'कुँएपर घर है' यहाँ कुँएपरका मुख्य अर्थ पूर्यतः छोड़ दिया गया है और दूसरा 'कुँएके पास लक्ष्य अर्थ ग्रहण कर लिया गया है।

जहाँ किसी एक वस्तुमें किसी दूसरी वस्तुका आरोप किया जाय अर्थात् अग्नेद सिद्ध कर दिया जाय और दोनोंका स्पष्ट निर्देश कर दिया जाय वहाँ सारीष लक्षणा होती है। जैसे किसी चापल्लकी देखकर यह कहना कि 'वह कुत्ता है'। यहाँ निर्दिष्ट व्यक्तिमें कुत्तेका आरोप किया गया है और दोनोंका निर्देश किया गया है क्योंकि यह आरोप इस गुणके कारण किया गया है कि कुत्ता भी अपने स्वामीकी देखकर या किसीके हाथमें भोग्य पदार्थ देखकर पूँछ दिलाने लगता है जैसे ही वह व्यक्ति भी जिससे स्वार्थ निकलता है उसकी चाटुकारी करता है। इसलिये यह आरोप-गौरी-लक्षणा है।

सारीष-शुद्धा-उपादान-लक्षणा वहाँ होती है जहाँ

धार्यधारक सत्र होना है। जैसे 'वह लाल पगड़ी चला आ रही है' इसका अर्थ है 'लाल पगड़ी पहने हुए विपार्थी चला आ रहा है।' यहाँ 'वह' का अर्थ 'पगड़ी धारण करनेवाला पुरुष है।' इस लक्ष्य अर्थके साथ मुख्य अर्थ पगड़ी भी लगा हुआ है और धार्य धारक सम्बन्ध भी है।

साधोपा शुद्ध लक्षण लक्षणार्थमें मुख्य अर्थ छोड़ दिया जाता है किन्तु एक वस्तुका दूसरेमें आरोप होता है, जैसे मालवीयजी भारताय ससृष्टिके प्राण हैं' यहाँ मालवीयजी आरोप्य विषय हैं और प्राण आरोप माण है। यहाँ मालवीयजी व्यक्तिका अर्थ पूर्णतः छोड़ दिया गया है और यह सिद्ध किया गया है कि अन्य सत्र व्यक्तियों मालवीयजी अधिक भारतीय ससृष्टिका कल्याण करने वाले हैं।

यहाँ केवल आरोप्यमाण अर्थात् जिस वस्तुका आरोप किया जाय उसीका धर्षण हो और जिसमें आरोप किया जाय उसका धर्षण न हो यहाँ साध्यवसाना लक्षणा होती है। जैसे किमीके यह पूछनेपर कि 'आप अमुकको जानते हैं वह उत्तर दे कुत्तोंका घात मुझसे न करो' यहाँ साध्यवसाना गौणी लक्षणा है क्योंकि यहाँ केवल आरोप्यमाण का कथन है विवक्षा अर्थ यह है कि वह कुत्तेके समान अपने स्वार्थके लिये दूसरोंकी चापदूर्ण करता है, ऐसे चापदूर्णका घात मुझसे न करो। यहाँ आरोप्यमाण 'कुत्तों'का ता कथन है किन्तु आरोप्यके विषयमा अर्थात् उभ व्यक्तिका कथन नहीं है अतः यहाँ साध्यवसाना गौणी लक्षणा है।

इसी प्रकार 'लाल पगड़ी चला आ रही है' कहनेमें 'वह' शब्दका प्रयोग नहीं किया गया है केवल आरोप्यमाण पगड़ीका ही कथन है, अतः यहाँ साध्यवसाना है।

इसी प्रकार यदि मालवीयजीको देखकर कोई कहे—'हे भारतीय ससृष्टिके प्राण। आपकी जय हो।' तो इसमें मालवीयजीका यहाँ नाम नहीं आया है किन्तु आरोप्यमाणा वस्तुका कथन है अतः यह साध्यवसाना-शुद्ध लक्षण लक्षणा है।

ऊपर प्रयोजनवती लक्षणके लक्षणों में जो लक्षण दिए गए हैं उनमें जो प्रयोजन वताया गया है वह व्यंग्यार्थके सिद्ध होता है, वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थके नहीं। वाच्यार्थ दो प्रकारका होता है गूढ और अगूढ, अतः ऊपर बताई हुई प्रयोजनवती लक्षणके छत्रा में गूढव्यंग्य और अगूढ व्यंग्य दोनों प्रकारकी लक्षणएँ होती हैं।

ॐ नाट्य गूढव्यंग्य व्याख्या।

[गूढव्यंग्य लक्षण, नाटकमें है व्याख्ये]।

जहाँ वाच्य अर्थ इतना गूढ होता है कि केवल काव्यमर्म ही समझ पायें वहीं गूढव्यंग्य लक्षणा होती है और जहाँ व्यंग्यार्थ सुबोध और सबकी समझमें आ सके वहाँ अगूढ-व्यंग्य लक्षणा होती है। नाटकमें केवल अगूढव्यंग्य लक्षणका ही प्रयोग होना चाहिए क्योंकि वहाँ सभी अर्थोंके ऐसे दर्शक भी होते हैं जिनका भाषाज्ञान अथवा साहित्यज्ञान अपरिपक्व होता है। इसी लिये नाटकमें भूलकर भी गूढव्यंग्य लक्षणका प्रयोग न करके अगूढव्यंग्यका ही प्रयोग करना चाहिए।

साहित्यदर्पणमें प्रियवनाथ कथिराजने गौणी लक्षणके भी उपादान और लक्ष्य-लक्षण दो भेद मान लिए हैं। इस प्रकार गौणीके चार और शुद्धके चार मिलाकर आठ भेद जब गूढव्यंग्य और अगूढ व्यंग्य होते हैं तो इन सोलहके भी पद्गत लक्षणा और वाच्यगत लक्षणके भेदसे वचस और इन वचसके भी धर्मगत और धर्मिगत भेदसे प्रयोजनवती लक्षणके चौसठ भेद हो जाते हैं। शुद्ध लक्षणके भी साहित्यदर्पणमें शुद्ध और गौणी दो भेद किए गए हैं और इन दोनोंके भी उपादान और लक्षण लक्षणके भेदसे चार रूप माने गए हैं। इस प्रकार शुद्ध और प्रयोजनवती लक्षणके अस्सी भेद तक बना लिए गए हैं।

संसारभरके साहित्यका अध्ययन करनेपर यह ज्ञात होगा कि माणमें चमत्कार, नमीनता, अलङ्कार और उक्तिवैशिष्ट्य लानेके लिये निरन्तर प्रयास होता चला जा रहा है और यदि इसी प्रकार भेद गिनना प्रारम्भ करें तो उसका कोई अन्त नहीं होगा।

व्यंजना

ॐ वाच्यलक्ष्येतरार्थ-व्यंजना व्यंग्यार्थ।

[वाच्य और लक्ष्यार्थके, भिन्न अर्थ देता व्यंग्यार्थ]।

आचार्योंने व्यञ्जनाकी परिभाषा बताते हुए कहा है कि जहाँ अभिधा और लक्षण शक्तियों अर्थ न कर पायें और उनके अतिरिक्त किसी तीसरी शक्तिसे अर्थवा बोध हो उस शक्तिको व्यञ्जना कहते हैं। उसके द्वारा जो अर्थ निकलता हो उसे व्यंग्यार्थ कहते हैं और जिस शब्दसे यह व्यंग्य अर्थ निकलता हो उसे व्यञ्जक कहते हैं। १४

व्यंग्य अर्थको ध्वन्यर्थ, सूच्यर्थ, आक्षेपार्थ, प्रतीयमान आदि भी कहते हैं। व्यञ्जना दो प्रकारकी मानी गई है। शब्दो और आर्थी। शब्दी व्यञ्जना दो प्रकारकी होती है—अभिधानमूला और लक्षणांमूला। यह संयोग, विशेष, साहचर्य, विरोध, अर्थ, प्रकरण, लिङ्ग, अन्व-सन्निधि, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति और स्वरके अनुसार चौदह प्रकारकी होती है अर्थात् जहाँ अनेक अर्थवाले शब्द उपयुक्त चौदह कारणोंसे प्रभावित होकर जिस शक्तिके द्वारा व्यंग्य अर्थ ध्वनित करते हैं उसे अभिधानमूला व्यञ्जना कहते हैं।

लक्षणांमूला शब्दी व्यञ्जना वहाँ होती है जहाँ किसी प्रयोजनके लिये जब लाक्षणिक शब्दका प्रयोग किया जाता है तब उस प्रयोजनकी प्रतीति हो। काव्यप्रकाशके अनुसार इसके बारह भेद और साहित्य-दर्पणके अनुसार इसके चौसठ भेद होते हैं।

आर्थी-व्यञ्जनाके वक्तु, शेष्य, वाकु वाक्य, वाच्य, अन्व-सन्निधि, प्रस्ताव, देश, काल और चेष्य-वैशिष्ट्यके अनुसार दस भेद होते हैं और ये भी वाच्य-संभवा, लक्षणा-संभवा और व्यंग्य-संभवाके भेदसे तीन प्रकारकी होती है। किन्तु व्यञ्जनाका काम वास्तव में यही है कि वह वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ में भिन्न कोई तीसरा अर्थ ध्वनित करे। यदि कोई कहे कि 'तुमने आकाश क्यों छिरपर उठा रक्खा है' तो वह गरी पूछना चाहता है कि 'तुम कोलाहल क्यों मचा रहे हो' किन्तु 'आकाशको छिरपर उठाने' शब्दोंके वाच्यार्थ या लक्ष्यार्थ से इस इष्ट-अर्थकी प्रतीति नहीं होती है।

तात्पर्याख्यावृत्ति - कुछ आचार्योंका मत है कि धाक्य के भिन्न-भिन्न पदोंके अर्थोंका परस्पर संबंध समझानेवाली शक्तिको तात्पर्याख्या वृत्ति कहते हैं। यद्यपि यह वृत्ति सर्वमान्य नहीं है किन्तु मम्मटादिने अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जनाके साथ इस तात्पर्याख्या वृत्तिको भी माना है। इस वृत्तिके लिये पद और वाक्यकी परिभाषा समझ लेनी चाहिए।

पद

पद या शब्दको व्याख्या अनेक प्रकारसे की गई है। पाणिनिने कहा है—'सुवृत्तिर्जनं पदम्' अर्थात् सुवृत्त और तिङन्त शब्दको पद कहते हैं। सुवृत्तका अर्थ है विभक्तिके

युक्त शब्द और तिङन्तका अर्थ है विभिन्न कालको व्यक्त करनेवाले रूपमें टला हुआ क्रियापद। कुछ लोग शब्दकी परिभाषा यह बताते हैं कि अक्षरों या अक्षरोंके सार्थक मेलको पद या शब्द कहते हैं। कुछ आलोचकोंने कहा है कि मनुष्यनिर्मित उस ध्वनिमेलको शब्द कहते हैं जिसका वह किसी अर्थमें प्रयोग करता हो और जो व्याकृत हो अर्थात् जिसकी व्याकरणद्वारा मीमांसा की जा चुकी हो।

नाटकीय भाषाके संबंधम अरस्तू

शब्दादिके संबंधमें प्रसिद्ध काव्यालोचक तथा नाट्यालोचक अरस्तूने भी विस्तारके साथ विचार किया है। वह लिखता है—

"अथ केवल वस्तुसंग्रही और विचारके विषयमें ही कहना शेष रह गया है क्योंकि त्रासदने अन्व-संगोंका विवेचन ऊपर किया हो जा चुका है। विचारके संबंधमें हम वही स्वीकार कर लेंगे जो भाषण-रस स्व कहता है, क्योंकि यह विशेषतः उसीसे संबंध रखता है। विचारके अंतर्गत वे प्रभाव भी आ जाते हैं जो वाणी द्वारा प्रकट किए जा सकते हैं। उसके उपभेद हैं—प्रमाण और प्रयुक्त तथा कथना, मय, श्लोक इत्यादि भावोंकी उल्लेखित करना तथा कितोंको महत्त्वपूर्ण या महत्त्वहीन सिद्ध करना। अब यह स्पष्ट है कि यदि नाटकीय घटनाओंसे कथना, मय, महत्ता अथवा संभावनाके भावोंको जागरित करना उद्देश्य हो तो उनपर जरी दृष्टिके विचार करना चाहिए जिस दृष्टिके नाटकीय संवादों पर विचार किया जाता है। अंतर केवल यह है कि बिना वाणीसे व्यक्त किए ही घटनाओं-को स्वयं अपना परिचय देना चाहिए, किन्तु वक्ताको चाहिए कि अपने बचनेसे ही वह इष्ट प्रभाव उत्पन्न करे। क्योंकि यदि विचार उसके बचनमें नितांत प्रयुक्त हो प्रकट हो तो वक्ताका काम ही क्या रहा।

दूसरी बात है बर्णन-शैली। इस विषयकी एक शाखा तो संभाषण-रीतिका वर्णन करती है। किन्तु ज्ञानकी इस शाखाका संबंध अभिनय-कला तथा उस शास्त्रके पंडितों से ही है। उसके अंतर्गत ऐसी बातें आती हैं जैसे—आशा क्या होती है, प्रार्थना क्या है, वक्तव्य क्या है, निंदा क्या है, प्रश्न क्या है, उत्तर क्या है, इत्यादि। इन बातोंको जानने का न जाननेके कविकी कलामें कोई दया दोष

नहीं आता। क्योंकि प्रोतगोरस द्वारा होमपर लगाए हुए इस दोपको कौन मान सकता है कि 'क्रोधका गान गाओ देरी।'—इन शब्दोंमें प्रार्थना करनेका भाव रख कर वह आन देता है। क्योंकि प्रोतगोरसका कथन है कि किसीको एक कामसे करने या न करनेको कहना ही आज्ञा देना है। अतः हम इसको छोड़कर आगे बढ़ते हैं क्योंकि यह एक दूसरी कलासे सम्बन्ध रखना है, काव्यसे नहीं।

साधारणतः भाषाके अन्तर्गत निम्नलिखित बातें आती हैं—पशु, माया, संपन्न-सूचक शब्द, सज्ञा क्रिया, विभक्ति या कारक, वाक्य या पदोच्चय।

वर्ण एक अदिभाव्य ध्वनि है, किंतु सब प्रकारका सभी ध्वनियों अदिभाव्य नहीं वरन् केवल वे ही जो कि ध्वनि समूहका अंग हो सकें, किंतु उनमें से किसीको 'वर्ण' नहीं कहता। जिस ध्वनिसे मेघ तात्पर्य है वह या तो स्वर हो या अतः स्थ हो अथवा रस्य वय हो। स्वर वह है जिसकी ध्वनि जिह्वा या ओठके ससर्गसे विना ही श्रव्य हो। अतः स्थ वह है जिसकी ध्वनि इनके ससर्गसे सुनाई पड़े जैसे स् या र्। स्पर्शार्ण उसे कहते हैं जिसकी इनके ससर्ग होने पर भी स्वर कोई ध्वनि न हो किंतु स्वरकी ध्वनिसे मिल कर स्पष्ट सुनाई देती हो जैसे ज्, द्। इनमें मुखकी बनावटसे और उनके उच्चारण-स्थानके अनुसारा महाप्राण्य, और अल्पप्राण्य, दीर्घ और ह्रस्व होने, तार, गमार या मध्य ध्वनिके अनुसार भेद किए गए हैं। इसका विवेचन विस्तृत रूपसे छद्म शास्त्रके लेखकोंसे सवध रखता है।

मात्रा एक स्पर्शवर्ण और स्वरसे मिलकर बनी हुई अर्थात् ध्वनि है क्योंकि प्र विना अ के मात्रा नहीं है पर अ के साथ अ मात्रा हो जाता है। किंतु इन भेदों का परिज्ञान भी छद्म शास्त्रसे सवध रखता है।

सन्धैरारक शब्द वह अर्थात् ध्वनि है जो अनेक ध्वनियों के साथ मिलकर सार्थक ध्वनि-परिवर्तन करनेमें न तो सहायता करती है न बाधा ही पहुँचाती है, उसको चाहे वाक्यके अंतमें रख दो या मध्यमें, अथवा वह अर्थात् ध्वनि है जो कद्म-सार्थक ध्वनियों की एक सार्थक ध्वनिमें परिचित करनेकी क्षमता रखती हो। जैसे एभि में इ, पैरि में इ इत्यादि। अथवा वह एक ऐसी अर्थात् ध्वनि है जो किसी वाक्यका प्रारम्भ, अतः या विभाजन

सूचित करे वह भी इस प्रकारसे कि वह वाक्यके प्रारम्भमें स्वर शुद्ध रूपसे न स्थित रहे जैसे मेन् में ए, दी में ई, ताई में इ, दे में ए।

सज्ञा वह सघटित सार्थक ध्वनि है—समय-सूचित नहीं—जिसका कोई भाग स्वतः सार्थक न हो क्योंकि दुहरे या समासयुक्त शब्दोंमें हम सब भागों का इस प्रकार प्रयोग नहीं करते कि वे प्रत्येक स्वतः सार्थक हों, जैसे भियोदोरस (ईश्वरप्रसाद) शब्दमे दोरस (प्रसाद) शब्द स्वर सार्थक नहीं है।

क्रिया वह सुघटित सार्थक ध्वनि है, जो समय सूचक हो और जिसमें सज्ञाके समान कोई भग स्वतः सार्थक न हो। क्योंकि 'मनुष्य' या 'श्वेत' कहनेसे 'समय' का भाव नहीं निकलता किन्तु वह टहलता है' या 'घट टहला' कहनेसे वर्तमान या भूतकालका ज्ञान हो जाता है।

निमित्त या कारकका सवध सज्ञा और क्रिया दोनोंसे है और वे या तो सवध सूचित करते हैं जैसे का 'को' इत्यादि, या एक या अनेककी संख्या सूचन करते हैं जैसे 'मनुष्य' या 'मनुष्यगण' या वास्तविक समाप्ति पर व्यग्रहृत राति या धोलनेका ढग बतते हैं जैसे प्रथम या आज्ञा। 'क्या वह गया?' और 'जाओ' इस प्रकारके क्रिया कारक हैं।

वाक्य या पदोच्चय एक सुघटित सार्थक ध्वनिमसूहका नाम है, जिसके कुल भाग स्वर सार्थक होते हैं क्योंकि ऐसे प्रत्येक शब्द समूहमें क्रियाएँ और सज्ञाएँ नहीं होती—जैसे 'मनुष्यकी परिभाषा'। किंतु क्रियाके विना भी वाक्य हो सकता है पर उसमें कोई सार्थक भाग अश्रव्य होना चाहिए जैसे 'कनीश्वोनका पुत्र टहलता है' में कनीश्वोन। वाक्य या पदमें दो प्रकारका एकता होगी चाहिए होगी चाहिए जो यह या तो एक वातको विशेषता प्रदर्शित करे या वह एकत्र गुंथे हुए विभिन्न भागोंका बना हुआ हो। इस प्रकार इत्यदि विभिन्न भागोंके एकत्र गुंथनेसे बना है और मनुष्यकी परिभाषा निर्दिष्ट शब्दोंके एक होनेसे।

शब्द दो प्रकारके होते हैं, साधारण और दुहरे। साधारणसे मेरा तात्पर्य उनसे है जो अर्थात् तत्त्वोंके बने हैं जैसे जी। दुहरे या समस्त शब्दोंसे मेरा तात्पर्य उन शब्दोंसे है जो या तो एक सार्थक और एक निरर्थक तत्त्वके बने हों (चाहे एक पूरे शब्दमें भी कोई तत्त्व सार्थक न हो) या दोनों तत्त्व निरर्थक हों। कोई शब्द तिहय,

चीहरा या ऐसे बहुतसे मेगोजीय उक्तियोंकी भोंति कई गुने रूपवाले भी हों जैसे हमोंकेकोजैत्यस ।

प्रत्येक शब्द या तो प्रचलित या विदेशी या लक्षणािक या आलंकारिक या नव-गदत या विस्तृत या संक्षिप्त अथवा परिवर्तित होता है ।

जो शब्द लोगोंके नित्यके व्यवहारमें आता हो वह प्रचलित या शुद्ध है । जो शब्द दूसरे देशमें व्यवहृत होता हो उसे विदेशी कहते हैं । अतः स्पष्टतया एक ही शब्द एक साथ विदेशी और प्रचलित हो सकता है । किंतु एक ही देशके लोगोंके संवंधमें नहीं । सिन्धीन शब्द साइ-प्रियोंके लिये तो प्रचलित प्रयोग है किंतु हमारे लिये तो विदेशी ही है ।

किसी दूसरे नामको परिवर्तित करके मूलसे जातिमें, जातिसे मूलमें अथवा जातिसे जातिमें अथवा व्याप्ति अर्थात् अनुपातके नियमानुसार आरोप करनेको लक्षणा कहते हैं । इस प्रकार मूलसे जातिमें—जैसे, सचमुच अदु-सियखने दस सहस्र श्रेष्ठ कार्य किए । यहाँ दस सहस्र महान् संख्याकी ही जाति है । अतः यहाँ बहुत अधिक संख्याके अर्थमें इसका प्रयोग हुआ है । जातिसे जातिमें, जैसे— काँसेके फलकेने प्राण खींच लिया और 'दृढ़ बाँसेके जहाजते पानी चौर डाला' । यहाँ एरिसाइड 'खींच लेना' शब्द 'तुमीन' 'चौर देना'के अर्थमें आया और फिर 'तुमीन' भी 'एरिसाइड'के अर्थमें प्रयुक्त हुआ है—इनमेंसे प्रत्येक 'ले जाना' शब्दकी जातिके हैं । व्याप्ति या अनुपात उमें कहते हैं जब दूसरा अर्थ पहले अर्थके विषयमें उतना ही प्रयुक्त हो सके जितना चौथा या चौथेके लिये दूसरा हो । कर्म-कर्म लक्षणाकी विशेषता प्रकट करनेके लिये हम यह शब्द जोड़ देते हैं जिसके लिये उचित शब्द 'संबंधात्मक' है । इस प्रकार 'दिअनुसके लिये यह प्याला ऐसा ही है जैसे जीवनके लिये बुढ़ापा, वैसे ही है जैसे दिनके लिये संध्या । इसलिये संध्या 'दिनका बुढ़ापा' कहला सकती है और बुढ़ापा 'जीवनकी संध्या' कहा जा सकता है । या अल्पदोस्तोयके शब्दोंमें उसे 'जीवनका अस्तंगत सूर्य' कह सकते हैं । अनुपातकी कुछ उक्तियोंके लिये तो कभी कभी कोई शब्द नहीं मिलते, फिर भी लक्षणाका प्रयोग किया ही जा सकता है । उदाहरणके लिये बीज बिलेरनेको बोना कहते हैं । किंतु सूर्यके अपनी किरणोंके बिबेरनेके लिये कोई

पारिभाषिक शब्द नहीं है । फिर भी यह विधान सूर्यके साथ वही संबध रखता है जैसा बीजके साथ बोनेका । इसलिये कवि कहता है 'ईश्वरप्रदत्त प्रकाशकी बोता हुआ' । इस लक्षणाका प्रयोग करनेकी एक और भी रीति है । हम एक विरोधी शब्दका प्रयोग करें और फिर उसके उचित अर्थका प्रयोग कर दें, जैसे हम दाकको 'अरेस्का प्याला' न कहकर 'मदिगहीन प्याला' कह सकते हैं ।

नवगदत शब्द वह है जो कभी व्यवहारमें नहीं आया परन्तु स्वयं कविने उसका प्रयोग किया हो । ऐसे कुछ शब्द मिलते हैं जैसे सींगों (कपाता) के लिये 'अंकुर' (एवंरेस्) और पुरोहित (इरेम्) के लिये प्रार्थी (एरीतोर) ।

शब्दका विस्तार तब होता है जब उसका अपना स्वर लम्बे स्वरमें बदल जाता है या जब कोई मात्रा उसमें दी गई हो । शब्द तब संक्षिप्त हो जाता है जब उसका कोई भाग हटा दिया जाता है । विस्तृत शब्दके उदाहरण ये हैं, पॉलिगके लिये पोलियन् और रिलीइदके लिये पिलियेदीद । संक्षिप्तके उदाहरण जैसे 'मिया गिनेताइ एम्फेगेतरीन के ओज' में मि, गि और ओज ।

परिवर्तित शब्द वह है जिसमें सामारण शब्दका एक भाग तो अप्रतिवर्तित छोड़ दिया गया हो और दूसरा भाग नया बनाया गया हो । जैसे देक्सतोरिन काता मेइयोनमें देक्सियोनके स्थान पर देक्सितीरोन हो गया है ।

संज्ञाए स्वरतः पुल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग या नपुंसकलिङ्ग होता है । पुल्लिङ्ग वे हैं जिनके अंतमें न. र, ग या स से मिश्रित कोई आता है, ऐसे दो ही हैं बू और कम । स्त्रीलिङ्ग वे हैं जिनके अंतमें सदा महाप्रायः स्वर आते हैं जैसे ई, ऊ और ये स्वर जो विस्तृत हो सकते हों, जैसे अ । अतः पुल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्गके अंतमें आनेवाले अक्षरोंकी संख्या समान ही है, क्योंकि जू और कम उन वर्णोंके समाप्त ही हैं जो स से समाप्त होते हैं । कोई संज्ञा स्पर्शवर्णमें अथवा सङ्घ ह्रस्वमें नहीं समाप्त होती । केवल तीन ही ऐसी हैं जो इ में समाप्त होती हैं, मेलि, फोभि, पयोइ । पॉच ई में समाप्त होती हैं तोई वौमी, गोवी, दोरी ओती । नपुंसक लिङ्गकी संज्ञाओंके अंतमें ये अंतित दो वर्ण ही आते हैं, कर्मा-कमी न और स भी आते हैं ।

दोषगदत शैली वह है जो हेय न होते हुए स्पष्टतया

प्रकृत हो जाय। सबसे स्पष्ट शैली यह है जिसमें केवल प्रचलित या उचित शब्दोंका प्रयोग हो किन्तु वह ह्य होती है जैसे क्लेशोपन और स्थानीलसकी कविता। वरन् वह धर्षणशैली उच्च और निम्न श्रेणियोंके ऊपर उठा हुई होती है जिसमें अत्यन्त शब्दोंका प्रयोग होता है। अल्पवृत्तसे मेरा तात्पर्य उन विदेशी लाक्षणिक और विस्तृत शब्दोंके अर्थात् ऐसे सभी शब्दोंसे है जो साधारण लोगोंकी भाषासे भिन्न हैं। किन्तु जो शैली पूराकी पूरी ऐसे ही शब्दोंकी चनी हो वह या तो पहली हो जाती है या कूटार्थक हो जाती है। पहली तो तत्र होती है, जब उसमें लाक्षणिक शब्द भरे हों, और कूटार्थक तब होती है जब उसमें अप्रचलित शब्द भरे हों। पहलीका तत्त्व यह है कि असभ्य शब्द-योजनासे ऐसा नहीं किया जा सकता, केवल लाक्षणिक शब्दोंके प्रयोगसे ही ऐसा होना है।

पहला ऐसी होती है—मैंने एक मनुष्य देखा जिसने दूसरे मनुष्य पर आगसे पीतल चिपका दिया।

वह धर्षणशैली जो अप्रचलित विदेशी शब्दोंकी चनी हो उसे कूटार्थक कहते हैं। शैलीके लिये इन तर्कोंका एक नियत समावेश आवश्यक है। क्योंकि अप्रचलित या विदेशी शब्द, लाक्षणिक शब्द, आलंकारिक शब्द तथा उपयुक्त अन्य प्रकारके शब्द उसे साधारणतया निम्न स्थितिमें ऊँचा उठा देंगे। साथ ही उचित शब्दोंका प्रयोग उसे स्पष्ट (बोधगम्य) बना देगा। आसाधारण शैलीको स्पष्ट बनानेके लिये कोई इतना सहायक विद्ध नहीं होता जितना शब्द-विस्तार, शब्दसंकोच तथा शब्द परिवर्तन। क्योंकि विशेष अवसरोंपर साधारण लोक भाषामें परिवर्तन करनेपर भाषामें विशिष्टता आ जाती है और सभ्य ही थोड़ी-थी व्यन्तृत भाषाके लिये उसे स्पष्टता भी आ जाती है अतः वे समानोच्चक मूल करते हैं जो इस भाषण अधिकारकी धिक्कारते हैं और रचयिताकी खिल्ली उड़ाने हैं। इसी प्रकार जेट उक्तेदेसने यह कह डाला या कि यदि शब्दोंका अधिकार मिल जाय तो कविता करना सरल हो जाय। उसने अपनी ही शैलीमें इसका व्यवहार निम्नलिखित पदमें किया है—‘एयीशरीनरदोन मेरे पुनिदी छुए दीवोन्ता या और एम बेइरेमीनस तौन इकिनीव इल्लेइडुओ रोने’। इस प्रकारके अधिकारको सब जगह अनावश्यक रीतिसं प्रयोग करना तो सबमुच

हास्यारपद है किन्तु किसी प्रकार भी काव्यात्मक धर्षणशैलीमें कुछ तुफार अवश्य ही होना चाहिए। यहँतक कि लाक्षणिक, अप्रचलित (या विदेशी शब्द या इसी प्रकारके भाषण रसरूपोका यदि अनुचित रूपसे और हास्योत्पादनके ही भावसे प्रयोग होगा तो उसका वेला ही फल भी होगा। शब्द विस्तारके उचित प्रयोगसे कितना भारी अंतर पड़ जाता है यह उन महाकाव्योंमें देखा जा सकता है जिनके पदोंमें साधारण रूपोंका समावेश रहता है। इस प्रकार फिर यदि हम कोई अप्रचलित या विदेशी शब्द, लाक्षणिक शब्द या अन्य इसी प्रकारकी भाषण-नीतिकों लें और उनके स्थानपर कोई प्रचलित और उचित शब्द रख दें तो हमारे अनुभवकी सत्यता व्यक्त हो जायगी। जैसे अस्तुलस और इटरोपाइदेसने दोनोंने द्विमात्रिक पदमें रचना की है किन्तु इटरोपाइदेसने साधारण शब्दोंकी अपेक्षा विदेशी शब्दोंका प्रयोग किया है इसमें एक भी शब्द परिवर्तन करनेसे एक पद तो सुदूर प्रतीत होता है और दूसरा सुच्छ। अपने फिलोसोफोसमें अस्तुलस कहता है—

पेमेदायना दे ई मोदसकाज इओदिई पोदोए।

[देखो। मेरे चरणोंको एक विनायकारी षोड़ा छाप जा रहा है।]

किन्तु इटरोपाइदेसने (इओदिई) ‘टाए जारहा है’ के स्थान पर (पोइनेताई) ‘दात उड़ा रहा है’ का प्रयोग किया है। फिर यदि ‘नू दे मे इयुन ते ओलिगोल ते काइ ओउतेदेनोस काइ एईकास’ के स्थानपर हम निम्नलिखित साधारण शब्दोंका प्रयोग करें तो अंतर स्पष्ट हो जायगा ‘तु दे मे इयुन मिकोस ते काइ एस्थेनिकोस काइ एइदीज’। या यदि हम—‘दीवोन मोशिनेजेन कातायीज्ञ निकरेन ते त्रेपिजेने’की ‘दीवोन एकेतिओन कातायीज्ञ ओलिगोन ते त्रेपिजेने’ के बदले रख दें अथवा ‘इओनीज्ञ बुओतिन’ (चटानें गुँजती है) के बदले इओनीज्ञ क्रीओइजन’ (चटानें चहचहाती है) का प्रयोग करें।

फिर परिकेदेसने उन पदोंके प्रयोगके लिये शब्दकारोंकी बड़ी खिल्ली उड़ाने है जिन्हें साधारण बोलचालमें भी प्रयोग करना लोग अच्छा नहीं समझेंगे। जैसे ‘एपो दुमातोन’ के बदले ‘दुमातीन एपो’ और सोदेन के बदले इओदेनीन और ‘परी एरिल्लेस’ के बदले ‘एरिल्लेस पेरी’ इत्यादि। सभी बात तो यह है कि इन्हीं पदोंसे धर्षणशैलीमें

विरोधता आती है क्योंकि वे प्रचलित लोक-भाषामें नहीं आते। पर वही बात 'एग्रिप्रो'देम्'की समझमें नहीं आई थी।

- विभिन्न प्रकारके शब्दोंमेंसे, स्तोत्रोंमें समासयुक्त शब्द, वीररसपूर्ण कवितामें अप्रचलित शब्द और द्विमात्रिक छंदोंमें लाक्षणिक शब्द बड़े प्रचलते हैं। वीररस-पूर्ण कवितामें तो वास्तवमें ये सभी प्रकारके शब्द काममें आ सकते हैं। किंतु द्विमात्रिक पद्यमें—जितने अधिकतर प्रचलित भाषाका निदर्शन होता है—वे ही शब्द अधिक उपयुक्त होते हैं जिनका गद्यमें भी प्रयोग होता है। ये हैं—प्रचलित या उचित, लाक्षणिक या आलंकारिक।

आसदी तथा व्यापाराश्रित अनुकरणोंके लिये इतना पर्याप्त होगा।”

अरस्तूने शब्द, धाक्य, अलंकार और शैलीके संबंधमें जो कुछ कहा है उसका विरोधतः यूनानी भाषांसे ही संबंध है। उद्यमेंसे केवल इतनी ही बात तारिख ग्रहण की जा सकती है कि—

१-जोलचालके घननोंसे इष्ट प्रमात्र उत्पन्न किया जाय।

२-स्थल शैली अर्थात् प्रचलित तथा उचित शब्दोंका प्रयोग ही अर्थात् भाषा सर्ववोधक हो और पात्रकी मर्यादाके अनुकूल हो।

साहित्यदर्पणकारने कहा है—

वर्णाः पद प्रयोगार्हानन्वितैकार्थवेषकाः (२।४)

[पद उक्त वर्ण-समूहको कहते हैं जिसका प्रयोग किया जा सके, जो दूसरे शब्दके अर्थसे अलग हो, एक हो और उसका कोई अर्थ हो।]

एक धाक्य लीजिए—'रामने पिताकी आज्ञा मानी।' यहाँ रामने, पिताकी, आज्ञा, और मानी चार वर्ण-समूह हैं जो प्रयोग भी किए गए हैं, एक दूसरे शब्दसे अलग भी हैं, अपनेमें एक एक हैं और सबके निश्चित अर्थ भी हैं। कर्मो कर्मों एक अक्षर भी शब्द या पद हो सकता है, जैसे 'मैं' जाता हूँ' में 'मैं'। संस्कृतमें तो पूरी वर्णमात्रा ही शब्दात्मिका है जिसकी व्याख्या हम पहले कर चुके हैं।

ॐ वक्तृप्रयोग्यार्थं योजकः शब्दः।

[किसी अर्थमें वक्ता-श्राव्य ध्वनि-प्रयोग है शब्द।]

इसका तात्पर्य यह है कि नाटकमें प्रत्येक वक्ता व्याकरणके नियमके अनुसार शब्द या धाक्यका प्रयोग

करनेको बाध्य नहीं होता, कर्मी कर्मी यह हों, ऊँ आदि ध्वनि ही करता है जिसकी यद्यपि साधारणतः कोई निश्चित नहीं की जा सकती किन्तु वक्ता उसका परिस्थिति-वश प्रयोग करता है और उसका श्रोता उसका एक विरोध अभीष्ट अर्थ ग्रहण करता है। कर्मो कर्मो ये अर्थ दुहरे होते हैं जिनमेंसे एक अर्थ सामाजिकके लिये होता है, दूसरा नाटकीय पात्रके लिये। अग्निवधमरतके 'अबन्ता' नाटकमें तीसरे अङ्कके तृतीय दृश्यमें पिंडोल कहता है—

“वस, एक ही पीमें अमात्य और 'दंडनायकको पीटनेकी सामग्री जुट रही है।”

सामाजिकगण्य पिछला प्रसंग जाननेके कारण इसका अर्थ यह लगाते हैं कि अब अमात्य और दंडनायक दोनों पकड़े जायेंगे और दोनोंको दंड मिलेगा किन्तु चण्डसेन और नागदत्त यह समझते हैं कि हमारे पात्रको गोटी ही पीटनेवाली है। अतः अग्निवधमरतका मत है कि अर्थ दो प्रकारके होते हैं—

ॐ वक्तृश्रोतृभाषानुसारतः अर्थद्वैविध्यम्।

[वक्ताश्रोताभावसे दो प्रकारके अर्थ।]

नाटकीय भाषाका सम्बन्ध दो व्यक्तिघोरे होता है।

एक कहनेवाला और दूसरा सुननेवाला। इस सुननेबलेकी दो श्रेणियाँ होती हैं—एक वह नट जिससे रंगमंचपर उपस्थित दूसरा नट संबोधित करता है और दूसरा दर्शक। किन्तु दर्शक उम संज्ञादमें भाग नहीं लेता। वह उसका अर्थ समझकर उठकर रस लेता है अतः वह संबोध्य नहीं है और इर्भाविले यह भोक्ता तो है पर जिस विरोध अर्थमें वक्ता नटने संबोध्य नटसे कोई बात कही है उसका वास्तविक अर्थ यही होगा जो श्रोताके मनमें है और जो दर्शकोने समझा है और दूसरा वह अर्थ जो संबोधने समझा है। अतः दर्शकोने जो अर्थ समझा है वह तो वक्ता नटके अर्थमें ही हो जाता है। अतः अर्थ दो ही प्रकारके हुए। एक वह जो संबोधनकर्ताके मनमें है और दूसरा वह जो संबोध्य नटको नाटककार समझना चाहता है। यह संबोध्यज्ञाना अर्थ संबोध्यकी योग्यता, वास्तविक परिस्थिति और मानसिक दशात् अलगवित है।

प्रायः यह देखा जाता है कि कर्मो कर्मो वक्ता श्रुद-भावसे कोई एक बात कहता है और श्रोता उसका दूसरा

अर्थ लगा लेता है। अतः साहित्य शक्तियोगे जो शब्दके साथ अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जनाके अनुसार अर्थकी परिकल्पना करी है वह ठीक नहीं है क्योंकि अर्थ या तो घटानेके प्रयोजनके अनुसार चलता है या तो समझने-घालेकी बुद्धिके अनुसार। यदि एक घटा अशोकके वृक्षके देखकर अशोकवशात् अपने सेजकसे कहता है "इस आमके पत्ते तोड़ लाओ" तो नौकर उस समय आमके पत्ते नहीं तोड़कर लावेगा वरन् यह समझकर कि स्वामी इसी वृक्षके पत्ते चाहते हैं। वह आम कहनेपर भी अशोकके ही पत्ते लाकर देता है। अतः शुद्ध रूपसे शब्दके दो प्रकारके अर्थ होते हैं। एक वक्ताभिप्रायवाची और दूसरा श्रोतृग्रहणानुसारी। शब्दकी तीन शक्तियोंके माननेका मतमें बड़ा दोष तो यह ही है कि कविने अपनी रचना किसी एक निश्चित अर्थमें की है जिसे धरी जानता है और दूसरे भा संभवतः जानते हों किन्तु टीकाकार अपने पाण्डित्यके कारण अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना शक्तिके आधारपर उस वाक्यके न जाने कितने ऐसे अर्थ कर डालता है कि जो मूल वक्ता अभिप्राय ही नहीं रहा। अतः कव्यमें तो शब्दकी एक ही शक्ति माननी चाहिए और वह है केवल व्यञ्जना शक्ति। काव्यका प्रत्येक शब्द व्यञ्जक होता है और काव्यका एक सामूहिक भाव भी एक व्यंग्य भाव ही रहता है जिस उन्नत प्रभाव कहते हैं।

इसके अतिरिक्त नाटकमें सम्पूर्ण वाग्यापार नटों-द्वारा ही होता है, इसलिये पदा या वाक्योंके अर्थ-ज्ञानमें अभिनेताओंके कहनेके दृग्य अर्थात् काकुका सबसे अधिक महत्त्व है और यहाँ तदनुसार ध्वनित किए हुए शब्द या वाक्यसे व्यक्त होने लगे भावों ही अर्थ कहा जाता है। यह अर्थ प्रसङ्गके अनुसार अपना रूप निर्धारित कर लेता है। इसको ध्याकर भी हम ऊपर कर आए हैं। अतः नाटकमें घटनास्थित पात्रकी योग्यता और उसकी नाटककार द्वारा अभीष्ट मनस्थितिके अनुसार संश्लेष और संश्लेषके काकुपे ध्वनित भावसे ही अर्थकी प्रतीति होती है अर्थात् नाटकमें अर्थ प्रतीतिके लिये काकुज्ञान अपेक्षित है जो लोकसमगरे और शिक्षासे सीखा जा सकता है। वास्तवमें वही नाटककार नाटकीय सजावटमें उचित अर्थका संक्रमण करा सकता है जो स्वयं काकुभेदका पाण्डित हो और जो प्रत्येक नाटकीय वाक्यके

साथ काकुका निर्देश भी कर दे जैसे—आधेगले, आधेरीसे, हँसकर, मोधसे, डारते हुए, चादुकारी मुद्रामे आदि।

किन्तु काकुकी ठीक समझनेके लिये वाक्य और वाक्यकी प्रवृत्तियों समझ लेना चाहिए।

वाक्य

ॐ वक्तुं भावव्यञ्जकः शब्दः वाक्यम् ।

[वक्ताके भावोंके व्यञ्जक शब्द कहते वाक्य ।]

वाक्यके सम्बन्धमें कहा गया है—'तिङ्मूत्रन्तवोरचयः समुदायः कारकान्तिता क्रिया च वाक्यम्' अर्थात् सुबन्त और तिङन्त शब्दोंका कारक और क्रियावहित समूह वाक्य कहलाता है। यह भी कहा गया है 'परस्परामि संबन्धः पद समूहो वाक्यम् (परस्पर एक दूसरेसे सब शब्दोंके समूहकी वाक्य कहते हैं)। रीतिश्रांतिने कहा है—

वाक्य रगत्यो यत्पताकादासचिद्युक्तः पद चयः ।

(साहित्यदर्पण २)

[योग्यता, आकृति और सन्निधिसे युक्त पदसमूहको कहते हैं वाक्य ।]

योग्यताका अर्थ है एक शब्दका दूसरे शब्दके साथ उचित सम्बन्ध। जैसे कोई कहे 'मैं जलसे नहाता हूँ' इसमें औचित्य है किन्तु कोई कहे 'मैं आगसे नहाता हूँ' यहाँ औचित्य या योग्यता नहीं अतः यह वाक्य ही नहीं है। कुछ लोगोंने वाक्यकी परिभाषा यह जनाई है—कि सार्थक शब्द-समूहको वाक्य कहते हैं। 'मैं आगसे नहाता हूँ' में सभी शब्द सार्थक हैं किन्तु फिर भी औचित्य न होनेसे यह वाक्य नहीं माना जा सकता यद्यपि व्याकरणशास्त्र अपने नियमसे अर्थात् कर्ताकर्मक्रियाके उचित क्रमसे होनेके कारण इसे वाक्य माननेमें कोई संकोच नहीं करेगा। वाक्यमें भी जहाँ तुलसीदासजीने कहा है कि सीताजी चन्द्रमाको देखकर उसे स्वयं समझती हैं और कहती हैं—

"सरद चोदनी सँचरत चहुँ दिशि आनि ।

बिबुधि जोरि कर विनयति कुलगुरु जानि ॥

यहाँ सीताजी चन्द्रमाको स्वयं समझकर प्रगाम कर रही हैं किन्तु यहाँ बिबुध व्यङ्ग्य है इसलिये योग्यता न होनेपर भी सीताजीकी मानसिक अदरथाके कारण इसे भी योग्यताके अन्तर्गत ही समझना चाहिए। नाटकमें पात्रोंके उन्नत प्रताप अथवा विदूषककी उच्चियोंमें योग्यताहीन वाक्य भी ला जाए सकते हैं ।

आकांक्षा तब समझी जाती है जब किसी वाक्यमें किसी पदकी कमी रह जाती है जैसे 'मैं पुलक' कहनेमें वाक्य पूरा नहीं जान पड़ता। इसमें 'पढ़ रहा हूँ' पदकी आवश्यकता प्रतीत होती है। किन्तु नाटकमें प्रायः संवादोंमें एक शब्दमें ही वाक्य आ जाते हैं, जैसे

हरि—चलोगे (मेरे साथ चलोगे) ?

मोहन—कहाँ (मुझे कहाँ ले चलना चाहते हो) ?

हरि—गङ्गाजी - (गंगाजीमें जान करनेके लिये तुम्हें अपने साथ ले चलना चाहता हूँ ।)

ऊपरकी तीनों उक्तियोंमें 'चलोगे', 'कहाँ' और 'गंगाजी' ये तीनों शब्द हैं किन्तु वाक्योंके अन्तः यहाँ अन्य पदोंके न होने पर भी प्रकरणके कारण अन्य पदोंका अन्वयार्थ हो जाता है।

सन्निधि—का अर्थ यह है कि वाक्यके सब शब्द एकके पश्चात् दूसरेके क्रममें अविलंब कहे जाने चाहिए। यह नहीं है कि 'तुम जाओ' वाक्य कहनेमें 'तुम' के पश्चात् थोड़ी देर किसी दूसरेसे बातचीत करके कहा जाय 'जाओ' या कुछ विलंबके कहा जाय। यह काल-व्यवधान माना जाता है। दूसरी बाधा तब समझी जाती है जब किसी वाक्यके शब्दोंके बीचमें कोई दूसरे शब्द आ जाय। जैसे कहना है—'यह कानी घटा उमड़ी चली आ रही है।' इसीको यदि कोई कहे 'यह काली, मैं तो पढ़ रहा था, घटा उमड़ी, पोथीके पन्ने फाड़ दिए, चली आ रही है।' इसे अनुपपुन्य-व्यवधान कहते हैं। किन्तु नाटकमें सन्निधिका होना अनिवार्य नहीं है। रोगी, विक्षिप्त, व्यथित, अन्यमनस्क, स्वमिल्ल तथा भयातुर व्यक्ति सन्निधिहीन वाक्यका भी प्रयोग कर सकता है।

नाटकीय वाक्यकी परिभाषा

क्षेपामाजिकभाव-भावनाय नृकथनीयवदपदसमूहश्च नाट्यवाक्यम्।

[दर्शक-मन भावित करनेको नाट्यकार द्वारा प्रस्तुत।

नृकथनीय एक या बहुपद-उक्ति नाट्यका वाक्य।]

अतः नाटकको दृष्टिसे वाक्य उस शब्द-समूहको कहते हैं जो किसी पात्रके मुखमें नाटककार-द्वारा निर्दिष्ट स्थितिमें व्यक्त होकर नाटकीय कथा-रस, चरित्र, भाव अथवा परिस्थितिकी समझनेमें दर्शकोंको योग दे।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि नाटकीय वाक्य वह शब्द या शब्द-समूह है जिसके द्वारा नाटककार अपने निर्दिष्ट वक्ता-नटके कुछ कहलाकर दूसरे पात्रवा एक विशिष्ट प्रभाव डालकर उसकी प्रतिक्रियामें दर्शकोंके हृदयोंको एक विशेष भावमें भावित करना चाहता है। इसका अर्थ यह हुआ कि नाटकीय वाक्यका सम्बन्ध तीन व्यक्तियोंमें होता है एक तो नाटककारसे— जो विशिष्ट शब्दांकी योजनासे एक विशेष प्रभाव उत्पन्न करनेका आयोजन करता है, दूसरे अभिनेतासे जो उन वाक्योंके सारे विशेष प्रकारका वाचिक, सात्विक और आन्तिक अभिनय करके विशेष प्रभाव उत्पन्न करता है, तीसरे दर्शकसे जो अभिनेताओंके अभिनयसे पुष्ट वाक्योंमें भावित होते हैं। अतः नाटककारका यह धर्म है कि वह वाक्य-योजना ऐसी करे कि जो अभिनेताओंके अभिनयसे सिद्ध होकर उचित ध्वनिसे कारण दर्शकोंपर इच्छित प्रभाव डाल सके। इसी क्रियाको अभिनयसुसुपादान्वाचयने साधारणीकरण कहा है। यही विभाजन व्यापार है और इसीपर नाटककी सफलता अग्रतन्वित है।

राजेश्वरने कहा है—'पदानामभिधित्तित् अन्वयान्कारः सन्दर्भो वाक्यम्' अर्थात् इच्छित अर्थको सूचनेवाले पदोंके समूहको वाक्य कहते हैं। वाक्यकी यह परिभाषा नाटकके लिये अत्यन्त योग्य है। इसके साथ राजेश्वरने वाक्योंके दस भेद भी बताए हैं— एकाख्यात, अनेकाख्यात, आहृताख्यात, एकाभिधयाख्यात, परिणताख्यात, अनुवृत्तख्यात, समुचिताख्यात, अथाहनाख्यात, कृतमिहित्ताख्यात और अनभिहित्ताख्यात। किन्तु नाटकके लिये इन दस भेदोंका कोई महत्त्व नहीं है—

ध्वनि

ऊपर हमने कहा है कि 'वाक्य-योजना ऐसी हो जो उचित ध्वनिके कारण उद्दिष्ट प्रभाव डाल सके' अतः ध्वनिका विवेचन भी उचित और आवश्यक है।

कुछ आचार्य वाक्यकी अत्यन्त ध्वनि की ही मानते हैं—'कव्यस्वतन्मा ध्वनिः'। उनका कहना है कि जहाँ व्यंग्यार्थमें वाच्यार्थसे अधिक चमत्कार होता है वहाँ ध्वनि होती है। इसका अर्थ यह है कि कहनेवाला जब कोई बात कहता है 'तो उस

वाक्यके शब्दोंकी रचनासे जो साधारणतः अर्थ निकलता है उससे भिन्न कोई अन्य अर्थ प्रकट करे। 'मैं आपको जानता हूँ' यह अत्यंत सीधा सादा वाक्य है। इसका धार्यार्थ व्यापक होकर यह अर्थ दे सकता है कि 'मैं आपके कुल, शील, रूप, गुण सबसे परिचित हूँ।' किन्तु प्रमाण-रस इसका यह भी अर्थ हो सकता है—'मैं जानता हूँ कि तुम बड़े भारी शठ, धूर्त और अनाचारी हो।' यह दूसरा अर्थ ध्वनित अर्थ है।

आचार्योंने ध्वनिके मुख्य दो भेद माने हैं—लक्षणाभूला और अभिधाभूला। लक्षणाभूला ध्वनिकी अभिव्यक्ति वाच्य-ध्वनि कहते हैं अर्थात् वह ध्वनि जिसमें वाच्य अर्थकी तनिक भी आशय्यता नहीं पड़ती। इसमें प्रयोजनवती गूढ-रस-गान्ध्या होती है, रुचिलतन्त्रणा नहीं। क्योंकि रुचि-नचरणमें व्यंग्य अर्थका अभाव रहता है।

लक्षणाभूला ध्वनिके भी दो भेद होते हैं अर्थात्तर सार-मित वाच्य ध्वनि और अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य ध्वनि। जहाँ वाच्य अर्थ दूसरे अर्थमें बदल जाता है वहाँ अर्थान्तर सनामात वाच्य ध्वनि होती है।

अभिधाभूला ध्वनिमें वाच्य अर्थसे भी आशय्यता रहती है। इसीलिने इसे विनाचित अन्वयवाच्यध्वनि कहते हैं। अर्थात् इसमें वाच्य ध्वनिकी आशय्यता तो रहती है किन्तु वह अन्वयरक या व्यंग्यसिद्ध होती है। इस ध्वनिमें पहले वाच्य अर्थका बोध होता है फिर व्यंग्य अर्थका। किन्तु वही तो इनका क्रम स्पष्ट होता है और वही अन्वय। जहाँ वाच्य अर्थ और व्यंग्य अर्थके प्रकट होनेका क्रम स्पष्ट होता है वहाँ असशय्यक्रम व्यंग्यध्वनि होती है और जहाँ यह क्रम अर्थात् वाच्य अर्थ प्रकट होनेके पदचत व्यंग्य अर्थ ध्वनित होता हो वहाँ धलचयक्रम व्यंग्य होता है।

असलक्ष्यक्रम-व्यंग्य अर्थ प्रकारका होता है—रस, मान, रसाभाव, भावाभाव, आनन्दान्ति, भावोदय, भाव-सन्धि, भावशुद्धता। इनका वर्णन हम उसके प्रसंगमें सामा-जिकीका वर्णन करनेके पश्चात् करेंगे क्योंकि रस और मान आदिकी सृष्टि सामाजिकीके दृष्टयमें ही होती है।

संलक्ष्य क्रम-व्यंग्यकी प्रतीति वहाँ तो शब्द शक्तिके द्वारा, वहाँ अर्थ शक्तिके द्वारा और वहाँ शब्द और अर्थ

दोनोंकी शक्तिद्वारा होती है। इसलिये यह तीन प्रकारकी होती है। शब्दशक्ति-उद्भव-अनुरणनध्वनि, अर्थशक्ति-उद्भव-अनुरणनध्वनि और शब्दार्थ उभयशक्ति-उद्भव-अनुरणनध्वनि। कवि जिस शब्दका प्रयोग करे उसी शब्दसे जहाँ व्यंग्य अर्थ प्रतीत हो, उसके अन्य पर्यायवाची शब्दोंसे न प्रतीत हो वहाँ शब्द-शक्ति-उद्भव ध्वनि होती है। इस ध्वनिसे भी या तो बलुकी प्रतीति होगी या अल-कारकी, अर्थात् जहाँ अलकाररहित व्यंग्य अर्थ प्रकट होता है वही बलु ध्वनि होती है। नाटकोंमें इसी ध्वनिका प्रयोग करना चाहिए अथवा बलु ध्वनित होती हो, अलकार नहीं। जहाँ व्यंग्य अर्थमें अलकार ध्वनित होता हो वहाँ अलकार ध्वनि होता है।

जहाँ शब्दका पर्यायवाची दे देनेपर भी व्यंग्य बना रहे वहाँ अर्थशक्ति-उद्भव ध्वनि होता है। यह व्यङ्ग्य अर्थ तीन प्रकारका होता है। स्वतः समीची, कवि प्रौढोक्ति-मान सिद्ध और कवि निरुद्ध पानकी प्रौढोक्ति मान सिद्ध। इन तीनोंमें कहीं कहीं तो वाच्य और व्यंग्य दोनों ही अर्थ बलु या अलकार होते हैं और कहीं एक बलु और दूसरा अलकार रूपा होता है। इस क्रमसे इन तीनोंके चार-चार भेद होते हैं। स्वतः समीची अर्थ उसे कहते हैं जो कविकी कल्पनामात्र न हो परन्तु लोक-व्यवहारमें उसका प्रयोग होता हो। इसका प्रयोग नाटकमें पूर्णतः प्राप्त होना चाहिए। यह भी बलु और अलकार रूपसे चार प्रकार होता है। स्वतः समीची बलुसे बलु व्यंग्य, स्वतः समीची बलुसे अलकार व्यंग्य, स्वतः समीची अलकारसे अलकार व्यंग्य,

जहाँ कवि द्वारा निर्दिष्ट अर्थ कविकी कल्पनामात्र हो और लोक व्यवहारमें असंभव हो उसे कविप्रौढोक्ति-मान सिद्ध कहते हैं। इसके भी चार भेद हैं कवि प्रौढोक्ति-सिद्ध बलुसे बलु व्यंग्य, कवि-प्रौढोक्ति सिद्ध बलुसे अलकार व्यंग्य, कविप्रौढोक्ति-सिद्ध अलकारसे बलु व्यंग्य, कवि-प्रौढोक्ति-सिद्ध अलकारसे अलकार व्यंग्य।

जहाँ कुछ शब्दोंके न बदलनेपर और कुछ शब्दोंके बदल देनेपर व्यंग्य अर्थ प्रकट हो वहाँ शब्दार्थ-उद्भव-शक्ति-भूलाक अनुरणनध्वनि होती है।

इन अठारह प्रकारकी ध्वनिकी पदगत, वाक्यगत, प्रबंधगत, पदाशयगत, वर्णगत और रचनागत ५१ (इकानवन) भेद होते हैं।

इन सबका तात्पर्य केवल इतना ही है कि शब्दके साधारण अर्थके अतिरिक्त दूसरा अर्थ भी निकल सकता है और निकलता है। यह शब्द नाट्यकी दृष्टिसे चार प्रकारका होता है—एक तो वह जिसका अर्थ संबोध्य व्यक्ति ठीक समझ लो, दूसरा वह जिसका अर्थ संबोध्य व्यक्ति उलटा समझे, तीसरा वह जो संबोध्य व्यक्तिके अतिरिक्त अन्य ठीक समझे किन्तु संबोध्य व्यक्ति या तो न समझे या उलटा समझे और चौथा वह जहाँ कई व्यक्तियोंके बीचकी कही हुई बात निर्दिष्ट व्यक्ति ठीक समझ लें और अन्य व्यक्ति या तो न समझें या उलटा समझें। संवादोको कुतूहलजनक बनानेके लिये प्रायः नाटककार इसी चौथी प्रकारकी शब्दावलीका प्रयोग करते हैं। कहीं कहीं ऐसी शिल्प पदावलीका भी प्रयोग किया जाता है जहाँ दोनों अर्थ स्पष्ट प्रकट हों, दोनों सार्थक हों और जहाँ संबोधक और संबोध्य दोनोंकी दोनों अर्थ प्राक्ष्य हों। शेक्सपीयरने अपने जूलियस सीज़र नाटकके प्रारम्भमें एक चर्मकार और दो राजपुरुषोंकी बातचीतमें इसका सुन्दर प्रयोग किया है—

राजपुरुष—क्यों बी ! तुम क्या काम करते हो ?

चर्मकार—विगड़ोंकी मरम्मत करता हूँ। कहिए तो आपकी भी मरम्मत कर दूँ ?

राजपुरुष—क्या बकता है रे ! मेरी मरम्मत करेगा ?

चर्मकार—हाँ, आपकी नहीं, आपके जूतोंकी।

उपर्युक्त संवादमें 'विगड़ोंकी मरम्मत करता हूँ'—में विगड़े जूतोंकी मरम्मत करना और विगड़े हुए राजपुरुषोंकी मरम्मत करना दोनों अर्थ ध्वनित होते हैं और इन्ही दोनों अर्थोंकी क्रमसे राजपुरुषने भी ग्रहण किया। अतः नाटकीय संवादके शब्द या वाक्यमें ही इष्टार्थ होता है, वह चाहे एक हो या अनेक और इसी प्रकार जो बोध्य अर्थ होता है वह भी संबोध्य व्यक्तिकी योग्यता, वास्तविकता, मनोरिपति तथा प्रसंगके अनुसार एक या अनेक हो जते हैं।

जहाँतक नाटकमें शब्द और अर्थका सम्बन्ध है, अभिनवमरतका मत है कि—

ॐ सामाजिकबोधार्थः नाट्यशब्दार्थः ॥

[सामाजिक जो अर्थ समझ लें वही नाट्यशब्दोंके अर्थ।]

शब्द इस प्रकार प्रयुक्त किए जायें कि वे नाटककारके इष्ट अभिप्राय तथा भावकी अभिनेताओंके अभिनय-द्वारा

दर्शकों या सामाजिकोंके हृदयतक पहुँचा दें और यही उन सामाजिकोंके हृदयतक पहुँचा हुआ भाव ही शब्दोंका वास्तविक अर्थ होगा।

नाटकीय संवादका काल

ॐ भूतभावविद्यमानकालव्यञ्जकानि नाट्यवाक्यानि ॥

(या, है, होगा भाव व्यक्त करनेवाले हैं वाक्य)

नाटकमें जितने प्रकारकी बातें कहलाई जाती हैं वे तीन कालकी घोषिका होती हैं—एक गत कालकी जो पहले हो चुकी है और जिनकी सूचना मात्र देनी होती है। दूसरी वे जो हो या हो रही हो या जिनका प्रारम्भ पहले हो चुका हो या जिनका प्रारम्भ अभी हुआ हो। तीसरी वे जो आगे स्वतः होनेवाली हो, जिनके होनेकी सम्भावना हो, जिनके किए जानेकी योजना हो या जिनके किए जानेका आदेश हो। प्राचीन नाट्याचार्योंने सूच्य घटनाओंके लिये अर्थोपलक्षकोंकी योजना की थी और वे प्रवेशक, विक्रमक, चूलिका, अज्ञात्य और अज्ञापता-द्वारा भूत और भविष्यकी सूचना दे देते थे। सिद्धान्त-प्रकरणमें हमने उन प्रयोगोंको अस्वाभाविक बताया है उन्हें अप्रामाण्य बताया है। फिर भी भूत घटनाओंकी सूचना दूसरे किसी प्रकारसे संवाद-द्वारा देनी ही पड़ेगी और इसी प्रकार भविष्यकी योजना भी किसी दूसरे प्रकारसे अर्थोपलक्षकोंके बिना ही देनी पड़ेगी। आनेकलके सभी नाटककार मूल कथामें ही और नाटकके मुख्य पात्रोंके द्वारा ही भूत और भविष्यकी घटनाओंका निर्वाह कर लेते हैं। उसी प्रकरणमें हमने स्वगतकथन, आकाशभाषित, अपचारित, जनान्तिक आदिकी भी अस्वीकार किया है। इसका तात्पर्य यह है कि नाटकीय संवादमें ही मुख्य पात्रोंके द्वारा आगे-पीछेकी कथाकी सूचना दी जाय और इस प्रकार संवादकी व्यवस्था की जाय कि उसमें आकाशभाषित, जनान्तिक, अपचारित तथा स्वगतभाषणकी आवश्यकता ही न रह जाय।

संवादकी परिभाषा

ॐ प्रसंगपदानुरूपालाभः वाक्यप्रयोगश्च संवादः ॥

[पद-प्रसंग-अनुरूप बात या बोली है संवाद।]

नाटकीय संवाद दो या दो से अधिक व्यक्तियोंकी उस बातचीतको कहते हैं जिसमें दो या दोसे अधिक व्यक्ति

प्रसङ्ग, आवश्यक्ता और पदके अनुरूप भाषामें वार्ते करते हैं। कर्मी-कर्मी किसी उन्मत्त, सनकी, अर्धनिद्रित, रण्य या पीड़ित व्यक्तिका प्रलाप या चीत्कार तथा नेपथ्यसे की गई पुकार, कोलाहल या वापोंका भी प्रयोग आनश्यक होता है। कुछ रहस्यार्थक नाटकोंमें आकाशवाणी आदि अलौकिक कारणसे उद्भूत शब्दों और वाक्योंका भी प्रयोग होता है। इन सबके आवश्यक और अपरिहार्य उपयोगको ही नाटकीय संवाद कहते हैं। इन सब सम्बादोंकी प्रकृति पार्श्वकी योग्यता, मर्यादा और मानसिक स्थितिके अनुकूल रखनी जाती है।

वाक्योंसे पूर्व कुछ उन सम्बोधनात्मक शब्दोंका विवेचन कर लेना आवश्यक है जो प्रायः रुढ़ हो गए हैं —

पूज्यके प्रति निर्देश-वचन

निर्देशक	निर्दिष्ट	निर्देश-वचन
सभी देवता, मुनि, सन्यासी	वृद्धश्रुत	} भगवन् }
इनकी रिन्धों	ब्राह्मण	
बृद्ध	उपाध्याय	भगवती
गणिका	भूपाल	आर्य
भूपाल	विद्वान्	तात
विद्वान्	नराधिप	आचार्य
ब्राह्मण	परिजन	अञ्जुका
परिजन	भृत्य, प्रजा	मदाराज
भृत्य, प्रजा	मुनि	भाव
मुनि		नाम लेकर
		मह, भट्टारक
		देव
		राजा अथवा अपत्य
		प्रत्यय लगाकर, जैसे
		पृथक्के पुत्रकी पार्य,
		गणके पुत्रको गारेय
		सले, राजन्
विदूषक	राजा	आमात्य, सचिव
ब्राह्मण	सचिव	आयुष्मन्, आर्य
सारथि	रथी	तपस्विन्, साधो
	साधु, महारमा	स्वामिन्
	युवराज	आउत्त
	भगिनीपति	स्थाल
	धेनापति	भक्तिनी, स्वामिनी,
परिचारक	रथी	

राजा	महिषी	देवी, महारिका
"	अन्य रानियाँ	देवी, प्रिया
पुत्र	पिता	तातपाद
"	माता	अम्ब
"	ज्येष्ठ भ्राता	आर्य
"	मातुल	भार्य
		समानके प्रति निर्देश-वचन
पुरुष	पुरुष	वयस्य
औ	स्त्री	हला सर्वा
		कनिष्ठके प्रति निर्देश-वचन
गुरुजन	सुत, शिष्य आदि	दीर्घासु, वत्स, पुत्र, तात
"	अन्य जन	शिल्प अथवा अधि-
		कारका नाम लेकर या
		भद्र, भद्रमुख
		हडे
		हजे
		नाम लेकर

नीच अतिनीच रथानी भृत्य

ऊपर जो सम्बोधनके प्रकार दिए हैं वे भारतीय शिष्टाचारसे सम्बन्ध रखते हैं। किन्तु अब इस युगमें नाटककार इनका प्रयोग नहीं करते। ये सब सम्बोधन सब देशोंको दृष्टिसे पाच प्रकारके हैं—१. पदके अनुकूल जैसे महाराज गुरुजी आदि। २. अवस्थाके अनुकूल, जैसे श्री लड़के, श्री बुद्धे आदि। ३. सम्बन्धके अनुकूल जैसे पिताजी, माताजी, भाईजी आदि। ४. व्यवसायके अनुकूल जैसे ओ तरकारीवाले, ऐ सोनार ऐ वफील साहब आदि। ५. साधारण व्यवहारके अनुसार, जैसे सब ब्राह्मणोंको पण्डितजी, क्षत्रियोंको ठाडुरसाहब या दाबूसाहब, वैश्योंको साहुजी, लालाजी या सेठजी और छत्रोंको चौधरी या सरदार कहते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ अनुद्दिष्ट सम्बोधन होते हैं जैसे रे, अरे, ओ आदि। ये सब सम्बोधन भी कुछ रुढ़ होते हैं, कुछ यौगिक। रुढ़ तो समाजमें व्यवहृत होते-होते भंग जाते हैं। पद और सम्बन्धके अनुकूल जितने सम्बोधन हैं सब रुढ़ हो गए हैं। किन्तु अन्य प्रकारके सम्बोधन सब यौगिक हैं और वे सम्बोधन करने-वालेकी योग्यता और प्रवृत्तिके अनुसार बदलते रहते हैं, जैसे एक बालक किसी आम बेचनेवालेको देखकर पुकारता है "अरे आमवाले", उसीको दूसरा शिष्ट पुरुष पुकारता है "अरे भाई आमवाले"। कर्मी कर्मी इन व्यावसायिक सम्बोधनोंमें केवल व्यवसायकी वस्तु मात्रका

निर्देश रहना है, जैसे आमवालेको पुकारनेमें यह भी कहते हैं 'ओ आम' ।

कुछ सम्बोधन अशिष्ट जनोंके द्वारा प्रयुक्त किए जाते हैं और वे या तो निम्न वर्गके लोगोंके पारस्परिक व्यवहारमें ही प्रचलित हैं या कभी-कभी उनका प्रयोग उच्च वर्ग-वाले नीच व्यक्तियोंके लिये कर देते हैं जैसे अरे, कवे क्यों वे आदि । इनके अतिरिक्त दुर्लभ श्रेणीमें वे सब सम्बोधन भी आते हैं जहाँ किलीको गाली देकर या किसी पशु-पक्षीसे तुलना करके सम्बोधित किया जाता है, जैसे साले, समुर, गधे, उखर, सुअर आदि ।

कभी-कभी स्नेह, सम्मान या आत्मीयतामें भी कुछ सम्बोधन प्रयुक्त होते हैं, जैसे लल्ला, सुधा, बच्चा, लाल, लालन, प्यारे, प्राणप्रिय, प्रिये, आदि । कभी-कभी कुछ ऐसे सम्बोधन देश विदेशमें रुढ़ हो जाते हैं जो अपने अमिन्न मित्रों या सर्वसाधारणके लिये अनेक अर्थोंकी व्यवहारके साथ व्यवहृत होते हैं, जैसे फार्समें 'गुरु' शब्द या "बाबा" सार्ई भाई, भाई, आदि ।

नाटकमें जिनमें भी वाक्य आते हैं वे भाव-प्रधान होते हैं अर्थात् मनुष्यके मन और हृदयकी भावनाओंसे रँगकर वे किसी विशिष्ट भावकी व्यञ्जना करना चाहते हैं । इनमेंसे कुछ तो केवल आचांगसूचक होते हैं जो विभिन्न चरित्रोंके पद, मर्थादा और अवसरके अनुकूल केवल लोकाचारके प्रदर्शनार्थ प्रयोग किए जाते हैं, जैसे—मैं आपको प्रणाम करता हूँ । चिरञ्जीव हो या आरुघ्नान् ही । ये आचार राक्षसके अभिनन्दने और आयुधमान् भावके रूपान्तर हैं । नागरी भागमें बड़ोंकी प्रणाम, सनानको नमस्कार, छोटेको जियो कहना ही पर्याप्त समझा जाता है । किन्तु इसके अतिरिक्त अइए पवारिए, कहिए कुशल तो है, सब आम्की कृपा है, बाल-बच्चे तो अच्छे हैं, आदि आचार-वाक्योंका प्रयोग लोकाचारके अनुसार किया जाता है । ये प्रयोग देश-भेदके अनुसार अलग-अलग प्रकारसे प्रयुक्त होते हैं । कहीं राम-राम, कहीं जय सियाराम, कहीं जै श्रीकृष्ण, कहां पालागन, कहीं दण्डवत् यष्टक कि सुखलमानी आचारके अनुकरणमें बहुतेके हिन्दू भी आदाब अर्ज, तसलीभाव अर्ज, तलाम धालेकुम् आदिका प्रयोग भी करते हैं और अंग्लोंकी देवादेवी गुड मौनिङ्ग,

गुड नाइट, और गुड बाईका भी प्रयोग करते हैं । इन सब आचार-वाक्योंका देश, काल, पात्रके अनुसार प्रयोग करना चाहिए । उसके लिये कोई निश्चित नियम नहीं बनाया जा सकता । किन्तु शुद्ध भारतीय प्रणालीके अनुसार बड़ेकी प्रणाम, समवयस्कको नमस्कार और छोटेको आशीर्वाद कहना चाहिए । 'सौभाग्यवती स्त्रियोंको सौभाग्य अवल हो' और कन्याओंको 'स्वास्तिमती हो' कहना चाहिए ।

भावके अनुसार वाक्यके अनेक भेद हो सकते हैं जिनमेंसे मुख्य नीचे दिए जाते हैं—

सभी वाक्य या तो विधिवाची होते हैं या तो निषेधवाची । जैसे "मैं जा रहा हूँ" विधिवाची है, "मैं नहीं जा रहा हूँ" यह निषेधवाची है । कि तु कभी-कभी कुछ ऐसे वाक्य होते हैं जिनमें विधि या निषेधकी बात नहीं होती । उसमें सम्बोधन व्यक्तिसे निश्चित रूपसे कोई कार्य क्रमके मावना होती है किन्तु उसके लिये जो वाक्य प्रयुक्त किया जाता है वह विधिसुखेन प्रवृत्तिवाला भी हो सकता है और निषेधसुखेन प्रवृत्तिवाला भी । निम्नलिखित दोनों अनुनायक वाक्योंका अर्थ यही है कि आप मेरे लिये अयुक्त कार्य कीजिए किन्तु दोनोंकी प्रवृत्ति अलग-अलग है । विधिसुखेन प्रवृत्तिवाला वाक्य यह होगा "आप कृपा कर मेरा यह काम अवश्य कर दीजिए ।" निषेधसुखेन प्रवृत्तिवाला वाक्य होगा "आप क्या मेरे लिये यह काम नहीं कर दीजिएगा" (अर्थात् अवश्य कर दीजिएगा) ।

वाक्यकी एक तीसरी प्रवृत्ति होती है जिसे वाकु प्रवृत्ति कहते हैं । उसकी अर्थाव्यञ्जना कहनेवालेके ढंगपर अवलम्बित होती है । "आप तो सक्षमत् बृहस्पति हैं, या आइए वण्डितराज, अथवा आप ये !" आदि वाक्योंमें बोलनेके अनुसार यह अर्थ निकल सकता है कि "आप परम मूर्ख हैं, आइए मूर्खराज, यह मूर्खताका काम सिवाय आपके कौन कर सकता है ।" ये सब वाक्य भी दो प्रकारके होते हैं । एक प्रश्नवाच्य, दूसरे उक्तिवाची और ये सब वाक्य भी विधि-निषेधात्मक होते हैं ।

भावके अनुसार वाक्य रचना

अगर कहा जाता है कि नाटकमें सभी वाक्य प्रायः भावात्मक होते हैं अर्थात् उनकी रचना भावके अनुकूल

होती है। मानजुक्त वाक्य रचनामें कभी-कभी विशेष बल देने अथवा प्रभा उतग्न करनेके लिये शब्दोंका विपर्यय भी कर दिया जाता है। जैसे—“मैं तुम्हें जानता हूँ” वाक्यको “मैं जानता हूँ तुम्हें,” अथवा “तुम्हें मैं जानता हूँ” अथवा “तुम्हें जानता हूँ मैं,” विभिन्न अर्थोंमें प्रयुक्त किया जा सकता है। अतः वाक्य-रचनामें इस बातपर पूरा ध्यान देना चाहिए कि कोई निरिच्छ प्रभाव उत्पन्न करनेके लिये कौन-सा शब्द वाक्यमें कहाँ रक्ता जाय।

सूचनात्मक वाक्य

साधारणतः अधिकांश वाक्य सूचनात्मक होते हैं। “मैंने अमुक कार्य किया, मैं अनुक कार्य कर रहा हूँ, मैं अमुक कार्य करनेवाला हूँ या करूँगा अथवा मैंने अमुक कार्य नहीं किया, मैं नहीं कर रहा हूँ अथवा मैं नहीं करूँगा।” इनमें दोनों प्रकारके विधि और निषेधनाचो वाक्य सूचनात्मक हैं। साधारण बात-चीतमें जहाँ केवल सूचना देने भरकी बात होती है और उसके साथ कोई किसी प्रकारकी स्तानुरक्ति सलग्न नहीं होती वहाँ इसी प्रकारके सूचनात्मक वाक्योंका प्रयोग होता है। दास, दासी, शिष्य अथवा अन्य कोई भी जो किसीके कुछ प्युनेपर या सन्देश सुनाते समय या समाचार देते हुए जब निर्लिप्त भावसे कोई सूचना देता है अर्थात् जब इस भावसे सूचना देता है जिसमें उसके व्यक्तिगत हित या अहितकी बात नहीं रहती तब वह शुद्ध सूचनात्मक कहलाता है। इसीके साथ जब कोई निर्लिप्त भावसे किसीसे कोई आज्ञा माँगता है उस समय जो प्रश्नात्मक वाक्य कहे जाते हैं वे भी इसी श्रेणीके होते हैं। जैसे—क्या मैं घर जा सकता हूँ? आदि। इन प्रश्नोंमें भाव यही रहता है कि मेरा काम जितना या वह मैंने पूरा कर लिया उसकी मैं आपकी सूचना दे रहा हूँ, आर मुझे जानेकी आज्ञा दीजिए। ये वाक्य यद्यपि जान तो प्रश्नात्मक पड़ते हैं किन्तु उनकी वृत्ति सूचना देने मानकी ही होती है।

प्रश्नात्मक वाक्य

प्रश्नात्मक वाक्य तीन प्रकारके होते हैं। एक तो केवल जिज्ञासकी वृत्तिके लिये जैसे—क्या आप वहाँ गए थे, क्या आप उधर जाइएगा आदि। कुछ ऐसे प्रश्नात्मक

वाक्य होते हैं जिनमें आज्ञाकी भावना निहित रहती है जैसे—“क्या तुम नहीं जाओगे, क्या तुम नहीं करोगे?” इत्यादि।

तीसरे प्रकारके प्रश्नात्मक वाक्य वे हैं जिनमें किसी दूसरेके मनका भेद निकलवानेकी प्रवृत्ति होती है या किसी विशेष कार्यके लिये भेजे हुए व्यक्तिसे विशेष जाननेकी उत्कण्ठा होती है। इनमेंसे प्रथम प्रकारके वाक्योंमें कोई-पण, धूर्तता, कूटनीतिज्ञता मरी होती है। जैसे—“जब तुम गए और तुमने मेरे नियमों पूछा तब उनका मुँह कैसा हो गया था?” अथवा “तुम्हारे बात सुनकर क्या उन्होंने मेरे विषयमें कुछ पूछा था?” आदि। उत्कण्ठापूर्ण प्रश्नात्मक वाक्योंमें प्रायः उत्तर थोड़ा होता है किन्तु प्रश्न अधिक होते हैं, जैसे अपने प्रियके पाससे सन्देश लाने-वानी दूतीसे कोई नायिका पूछती है “कहो मिल आई? कैसे थे? क्या कर रहे थे? मेरी बात सुनकर क्या कहा? कुछ मेरे लिए भी सन्देश दिया है?” आदि।

इनके अतिरिक्त जो प्रश्नात्मक वाक्य होते हैं वे मानसिक भावके अनुसार अलग अलग प्रकारके होते हैं उनका विवरण आगे होगा।

समर्थनात्मक वाक्य

कुछ वाक्य ऐसे होते हैं जिनमें किसीके कहे हुए वक्तव्यका समर्थन मात्र होता है। ये भी दो प्रकारके होते हैं। एकमें समर्थन करनेवाला कहनेवालेके प्रति पूरी सहा-नुभूतिके साथ सक्रिय रूपसे योग देता है। अर्थात् उसमें समर्थन करनेवालेकी स्वानुरक्ति होती है जैसे “ठीक किया आपने, मैं भी उसको समझ लूँगा।” दूसरे प्रकारके समर्थनात्मक वाक्य वे होते हैं जिनमें केवल चाटुकारिताका प्रदर्शन होता है जैसे—“बड़ा अच्छा किया आपने, आप न करेंगे तो ऐसा करेगा कौन?” तीसरे प्रकारके समर्थनात्मक वाक्य वे हैं जहाँ किसीके कार्यकी प्रशंसामें उसका समर्थन किया जाय, जैसे—“आपने देशके लिये जो त्याग किया है वह बहुत अच्छा किया है हम सब उससे गौरवान्वित हैं।” एक चौथे प्रकारके समर्थनात्मक वाक्य वे होते हैं जिन्हें अर्थ-समर्थनात्मक समझना चाहिए जैसे—“अच्छा, जो किया ठीक ही किया,” आदि।

समर्थनात्मकके उलट विरोधात्मक वाक्य तीन प्रकारके होते हैं। एकमें उद्दण्डता और अधिकार होता है जैसे “तुम कुछ नहीं जानते, तुम ठीक नहीं कर रहे हो।”

दूसरोंमें मित्र-शुद्धि रहती है जैसे—“माई तुम जो चाही सो करो पर मेरी समझति नहीं है।” तीसरे कान्त्यात्मिकताया विरोध होता है जैसे—“यदि तुम यह नहीं करोगे तो मैं विष खाकर प्राण दे दूंगा, डूब मरूंगा, नहीं बोलूंगा।” कुछ विरोधात्मक वाक्य ऐसे होते हैं जिनमें दुलमूलपना होता है जैसे—“आप यह न करते तो अच्छा ही था किन्तु कर रहे हैं तो कोई चिन्ता नहीं, देखा जायगा” श्रमज “देवि, क्या होय है, आपने तो कर ही दिया।” पद और मर्यादा के अनुकूल ऐसे विरोधात्मक वाक्य श्रमके कौरावोंसे कहे जा सकते हैं, जैसे—“आपके पितापढ़ने आगतक दीनोंको अपने द्वारसे गिरुख नहीं किया। आपके पिताजाने स्वयं द्वारपर खड़े होकर न जाने कितने निर्णयोंको धनी बना दिया, कितने अनार्योंको सनाथ कर दिया। वे जब रंगभेदे देखेंगे कि आपके हाथ संकुचित हुए बैठे हैं तब उन्हें कितना दुःख होगा।” इस वाक्यसे श्रमदार व्यक्तिको श्रमदारताका विरोध किया गया है और उदारताके लिये उत्साहित किया गया है।

आदेशात्मक वाक्य

कुछ वाक्य आदेशात्मक होते हैं। ये आदेश समय, प्रकृति, सम्बन्ध व्यक्त तथा परिस्थितिके अनुसार विभिन्न प्रकारके हो सकते हैं। राजा अपने सेनाको, सेनारत अपने सैनिकको शुद्ध आशा देता है—ऐसा करो, ऐसा मत करो। कोई प्रेमी या प्रेयसी भी अपने प्रियके पास संदेश देनेके लिए आदेशात्मक वक्त्रका प्रयोग करती है—

“देखो, वहाँ जाना तो इस प्रकार कहना, इस प्रकार मानना, इस प्रकार मेरा निरह वर्णन करना।” कमी-कमी मनुष्यकोच या हठमें आकर कुछ आदेश देता है—यह करो नहीं तो खाल खींच लूंगा, प्राण ले लूंगा। कुछ आदेश केवल स्नेहवश दिए जाते हैं, जैसे—बृद्ध पिता अपने प्रौढ़ पुत्रको यात्राके समय सपभाता है—देखो किसी एने-वैवेके साथ मत उठना-बैठना, पैसा संभाल कर रखना, चलती गाड़ीपर मत चढ़ना। कुछ आदेश मित्रों या समीकर्मियोंके होते हैं—यहाँ जाना तो श्रमक वस्तु ले आना, उसके लिये प्रयत्न करना, उसे सहायता देना आदि। कमी-कमी छात्र-छत्रसौ लोग विराष्ट्र फलके लिये अपने शिष्योंको आदेश देते हैं—श्रमक प्रकारसे धनचक्र चार करो या श्रमक अनुष्ठान

कराओ तो श्रमक फल होगा। ये आदेश सदा मान्य नहीं होते किन्तु ऊपर जितने आदेशोंका पर्यन्त है वे सब अवस्थामें प्रथम मान्य होते हैं।

सम्प्रतिषेधक वाक्य

कुछ वाक्य सम्प्रतिषेधक होते हैं। इनकी वृत्ति यह होती है कि इनमें दोनों पक्षोंका हितानुसंग समझाया जाता है, निर्णय कुछ भी नहीं दिया जाता, जैसे—श्रमक कार्य करनेसे दुखें द्रव्य मिलेगा, यद्यपि भी प्राप्त होगा किन्तु वहाँका जलवायु तुम्हारे स्वास्थ्यके अनुकूल नहीं होगा। वा रहे हो तो जाओ पर दो बातें हैं उनका ध्यान रखना, एक तो वहाँ ठग बहुत हैं और दूसरे वहाँ गुणवत्ता कोई नहीं है। तीसरे प्रकारकी सम्प्रति निर्णयात्मक सम्प्रति कहलाती है। इसमें निर्णय तो दे दिया जाता है किन्तु मानने न माननेका अधिकार सम्बन्धपर छोड़ दिया जाता है, जैसे वहाँ जाओगे तो निश्चय दुखें रोग पकड़ लोगे। अब सोच लो जो चाहो यह करो। ये सम्प्रतिषेधक वाक्य कमी-कमी राज और प्रभञ्जना पूर्ण भी होते हैं। इनका उद्देश्य ऐसी अन्यायक सम्प्रति देना होता है जिससे सम्बन्धको निश्चित रूपसे हानि हो। जैसे—उस व्यक्तिका कमी में विश्वास न कीजिएगा, वह भाई होते हुए भी आपके विरुद्ध पड़नेवाला करता रहता है। उसका विश्वास कमी नहीं करना चाहिए। धूर्त, प्रचञ्चक, पड़नेवाली और कुटिलजन सदा इसी प्रकारकी सम्प्रति देते हैं। उनकी शब्दावलीमें जितनी अधिक आत्मीयता होगी उतनी ही अधिक वह प्रभावशाली होगी जैसे—“आज मैं गया था आपके लिये कुछ फल लेने। वहाँ देखा तो आपके भाई लखे हुए आपके लिये दस बालें सुन रहे थे। मुझसे भी न रहा गया, मैंने भी उनकी भर पेट सुनाया। उन्होंने मेरा अपमान भी किया पर आपके लिये मैंने सब सह लिया। आप जैसे देवताका ऐसा भाई, राम-राम, फिर मैं आप उसके लिए प्राण दे रहे हैं। मैं पर ऐसा भाई होता तो कभी उसका सुँह न देखता। आपके लिये ऐसे-पैसे दुर्वचन कहे, मुझे तो कहनेमें लज्जा आती है”, आदि।

उपदेशात्मक वाक्य

उपदेशात्मक वाक्य वे होते हैं जिनमें वृद्ध, गुरु, छात्र, संन्यासी अथवा महापुरुष किसी विशेष व्यक्ति, वर्ग, समाज

या सम्पूर्ण मानन-समाजके हितकी बात कहते हैं। इन सब वाक्योंमें कहनेवाला अपने अनुमानकी अथवा पुराणोपनिषद्-सिद्ध घटनाओंका उदाहरण देकर अपने वक्तव्यका समर्थन करते हैं। जैसे—वे तुम्हारे बड़े भाई हैं। जानते हो लक्ष्मण और भरतने अपने बड़े-भाईके लिये क्या किया? एकने चौदह वर्षतक उनके साथ जंगलमें रहकर उनकी सेवा की और दूसरेने भाईके लिये मिला हुआ राज भी छोड़ दिया। क्या तुम अपने भाईके लिये योड़ासा भी त्याग नहीं कर सकते।

दूसरे प्रकारके उपदेशात्मक वाक्य वे होते हैं जिनमें कहनेवाला अपने घय अथवा पदके कारण अपनेको उपदेश का अधिकारी समझकर उपदेश देता है। जैसे—अरे भाई हमारे पके हुए बालोंका तो कुछ ध्यान करो, हमारी बात तुम्हें माननी होगी, हम जैसा कहें वैसा करनेमें तुम्हें लाभ ही होगा। -

तीसरे प्रकारके उपदेशात्मक वाक्य वे हैं जिनमें माता, पिता अथवा बड़े लोग शिक्षाचारकी शिक्षा देते हैं जिनमें पलकी भी साथ-साथ विवेचना रहती है जैसे—बड़ोंकी सेवा करोगे, उनका आदर करोगे तो बुद्धि बढ़ेगी, आयुष्य बढ़ेगा आदि।

चौथे प्रकारके उपदेशात्मक वाक्य वे हैं जिनमें कोई वय या पदमें छोटा व्यक्ति अपनेसे वय या पदमें बड़े व्यक्तिके अनीतियुक्त अथवा अनुचित कार्यपर समझाता हो। जैसे विभीषणने रावणको समझाया कि "सीताजी जगदम्बा हैं उन्हें हर लानेसे आपका कल्याण नहीं।"

पाँचवें प्रकारके उपदेशात्मक वाक्य वे हैं जहाँ कोई व्यक्ति अपने स्वामी वा अपने किसी वृद्ध अभिभावक अथवा गुरुके आदेशानुसार किसी को जाकर उपदेश दे जैसे अग्निने रावणको उपदेश दिया था।

छठे प्रकारके उपदेशात्मक वाक्य वे हैं जहाँ कोई सखी या वृद्धा किसी प्रेमासक्त नारीको प्रेम विरत होनेका उपदेश देती हो।

भिन्नले तीन प्रकारके उपदेश प्रायः प्राप्त नहीं हुआ करते और सम्बोध्य द्वारा इनका विरोध, तिरस्कार या उपेक्षा होती है।

तर्जनात्मक वाक्य

तर्जनात्मक वाक्य वे होते हैं जिनमें कोई व्यक्ति किसी दूसरेको हानि पहुँचानेका मय दिखकर उग्र शब्दोंमें सम्बोधन करे। ये तर्जनात्मक वाक्य चार प्रकारके होते हैं। एक तो वे हैं जिनमें माता, पिता, गुरु और स्वामी अपने शिष्य या सेवकको अनुचित कार्य करनेसे रोकनेके लिये, अनुचित कार्य कर देने या पुन न करने देनेके लिये, य अनुचित कार्यमें बार बार प्रवृत्त होनेपर उसे शारीरिक या वद्विष्करण दण्ड देनेके लिये उदत्त शब्दोंमें सम्बोधन करते हैं। ऐसे तर्जनात्मक वाक्योंका उत्तर प्रायः दैन्यपूर्ण आत्मनिवेदन और क्षमाप्रार्थना होती है। इन तर्जनात्मक वाक्योंके साथ प्रायः ताडनका-भी प्रयोग होता है।

दूसरे प्रकारके तर्जनात्मक वाक्य वे हैं जहाँ दो प्रतिद्वन्द्वी अपने स्वत्यकी रक्षाके लिये अथवा अपना स्वयं नष्ट होनेपर प्रतिद्विंसाकी भाषनासे तर्जान करते हैं। ये तर्जनात्मक वाक्य भी दो प्रकारके होते हैं। एकमें केवल गाली-गलौज होकर रह जाती है और इसमें भाग लेनेवाले दोनों प्रतिद्वन्द्वी वायर होते हैं जो केवल मौखिक युद्ध तक तो करते हैं और कभी-कभी बॉह भी समेट लेते हैं पर इससे आगे नहीं बढ़ते। इस प्रकारके तर्जनात्मक वाक्युद्ध प्रदर्शनमें बहुत उपयुक्तताके साथ प्रयुक्त हो सकते हैं। इस श्रेणीके दूसरे तर्जनात्मक वाक्य वे हैं जो श्रोज, आवेश, क्रोधके साथ तर्जनात्मक वाक्योंसे बढ़ते-बढ़ते मारपीट और युद्ध तक पहुँच जाते हैं।

तीसरे प्रकारके तर्जनात्मक वाक्य वे हैं जिनका प्रयोग वीर लोग युद्धमें अपने शत्रुओंको ललकारते समय करते हैं। यह इस प्रकारका तर्जन सात्त्विक तर्जन कहा जाता है और उल्हाड़ उठका प्रेरक होता है। प्रायः सभी प्रकारके तर्जनात्मक वाक्योंमें क्रोधको भाषना अवश्य रहती है। वह क्रोध जितना अधिक सात्त्विक अथवा उदात्त होगा उतना ही अधिक तर्जनात्मक वाक्य भी उदात्त और शिष्ट होगा। जैसे बोधा चुप ले जानेवाले इन्द्रको रघुने कहा था—“हे इन्द्रदेव! आप मेरे पिताके अश्वमेध यज्ञके लिये अश्वको छोड़ दीजिए। आप तो वेदका मार्ग दिखाने वाले महारत्ना हैं। ऐसा छोटा काम करना आपकी शोभा नहीं देता।” इस पर भी जब इन्द्र न माने तब रघुने तर्जन

वरते हुए कहा—“यदि आपने यही निश्चय किया हो तो उठाइए शस्त्र और कीजिए युद्ध, खुको जाते बिना आप घोड़ा लेकर नहीं जा सकते।” किन्तु ज्यो-ज्यों क्रोधमे प्रति-हिंसा, दम्भ और अभिमानका सम्मिश्रण होता रहता है स्पों स्पों तर्जनात्मक वाक्य अत्यन्त निम्न कोटिके हो जाते हैं और उनमें गाली भर जाती है।

तर्जनात्मक वाक्योंमें एक और प्रकारके मद्पूर्णा तर्जनात्मक वाक्य होते हैं जिनमें यह आचर्यक नहीं होता कि प्रतिपक्षी सामने हो, जैसे—किसी शत्रुका पत्र पढ़कर, सन्देश पाकर अथवा किसीके द्वारा अपने विरुद्ध शत्रुका आचार सुनकर मद्पूर्णा तर्जनात्मक वाक्यका प्रयोग करना। ये वाक्य भी दो प्रकारके होते हैं। एकमे आत्म-विरवास होता है—जैसे, करे न चढ़ाई, हम किस बातमें कम हैं। आप जैसे सेनापतियोंके रहते हम उसके जैसे दस शत्रुओंको ललकार सकते हैं। इयमे आत्मविरवासके साथ प्रतिपक्षीके प्रति उपेक्षा भी भरी रहती है। दूसरे प्रकारके मद्पूर्णा तर्जनात्मक वाक्य वे हैं जिनमे आत्मप्रशंसा और अभिमान भरा रहता है, जैसे—मैं उसको समझता क्या हूँ, मैं उसे चुटकीमें भंगल दूँगा। मेरे बापोंके आगे उसको सेना एक क्षण भी ठहर नहीं सकती आदि।

अधिकारात्मक वाक्य

अधिकारात्मक वाक्य वे होते हैं जिनमें दो स्नेही मित्र एक दूसरेपर इतना अधिकार समझते हैं कि एककी बात दूसरा टाल नहीं सकता, जैसे—“जैसे भी हो यह काम तुम्हें करना ही होगा। मेरे लिये तुम इतना कर दो, इसमे मेरे मानका प्रश्न है अतः तुम्हें करना ही होगा” आदि।

ये अधिकारात्मक वाक्य कभी-कभी धर्म-उपवनमे समर्थन करके भी प्रयुक्त किए जाते हैं, जैसे कष्टमें पड़ी हुई कोई अपरिचिता भी किसी समर्थ व्यक्तिमे राखी मेजरकर कहलावे—“यह राखी मेजरती हूँ, आजते तुम मेरे भाई हो, रक्षक हो। मुझे इस विपत्तिये बचाना तुम्हाय धर्म है।”

प्रार्थनात्मक वाक्य

कुछ ऐसे वाक्य होते हैं जिनमें किसी व्यक्तिसे कुछ कार्य करनेकी कुछ प्रार्थना की जाती है। ये वाक्य परिचितिके अनुसार चार प्रकारके हो जाते हैं—अनुनयात्मक, अभ्यर्चनात्मक, अनुरोधात्मक, और आग्रहात्मक।

अनुनयात्मक वाक्य वे होते हैं जिनमें कोई व्यक्ति अपनेसे बड़े—अनने स्वामी अथवा राजा—से किसी विशेष पुरस्कार, प्रतिकार या कृपाकी भिक्षा माँगता है। प्रायः अनुनयात्मक वाक्य अर्थात् अतिरिक्त किसी दूसरेके हितकी साधनाके लिये प्रयुक्त किए जाते हैं। जैसे—“मेरा अनुनय है इस बार इसे छोड़ दीजिए, क्षमा कर दीजिए वा इसकी भूमि लौटा दीजिए”। किन्तु कभी-कभी अपने लिये भी अनुनय किया जा सकता है। उस समय यह दैन्य प्रार्थनायुक्त हो जाता है। इस प्रकारके वाक्योंमें गिहगिहाकर कहनेकी प्रवृत्ति होती है और अपने विशिष्ट अहितकी, आशाका भी प्रकट की जा सकती है, जैसे—“इस बार छोड़ दीजिए सरकार, आप हमारे भाई बाप हैं, आप दया न कीजिएगा तो सारा घर बिगड़ जायगा” आदि।

अभ्यर्चनात्मक वाक्य वे होते हैं जिनमें कोई विशिष्ट पुरुष किसी मंगल कार्यके लिये शासकों या जनतासे किसी विशेष व्यवहार या सहायताके लिये कहे। जैसे—“गुजरातमें दुर्भिक्ष पड़ गया है, पशु समाप्त हो गए हैं, मनुष्य भूखसे व्याकुल घूम रहे हैं। ऐसी स्थितिमें मैं अभ्यर्चना करता हूँ कि आप लोग अपनी गोटीका चौथाई भाग उन्न फीदित भाइयोंके लिये भेजें जिन्होंने एक माससे अन्नका दर्शन नहीं किया है।”

अथवा “आपलोगोंने जिन्हें अपना आतिथि बनाकर बुलाया उन्होंने आपका वैभव लूटकर आपको निःसर्व करके अपने भण्डार भरे और अपने शरीर पाले। आज वह समय आ गया है कि आप अपने पैरों पर खड़े होकर इस अन्वयके विरुद्ध खड़े हों और अपना छोना हुआ अधिकार लौटा लें।” इनमेंसे पहले प्रकारके वाक्योंमें कदवा और मातृवृत्ता प्रधान होती है। दूसरे प्रकारमें आदेश और उरोजनाका प्राधान्य होता है।

अनुरोधात्मक वाक्य वे हैं जहां सम्बोध्यते कुछ सम्बन्ध अचरय हो किन्तु उस सीमा तक न हो कि उसे आज्ञा दे सकें या अधिकारसे वशमें कर सकें। अपने नेताओं अथवा शासकों तथा बड़ोंसे अनुरोध किया जाता है कि जो काम कहा जाय वह करें। इसमें यह आचर्यक नहीं है कि अनुरोधको सम्बोध्य मान ही ले। इन अनुरोधात्मक वाक्योंका प्रयोग साधारण परिचितोंके लिये भी किया जा सकता है। जैसे—“तुम्हारा भाभीका अनुरोध है कि

विवाहमें अवश्य सम्मिलित होना, आशा है तुम इस अनुसंधको टालोगे नहीं !',

आग्रहात्मक वाक्य तीन प्रकारके होते हैं। एक तो वे हैं जिनमें शुद्ध इत भर रहता है, जैसे—'स्त्रियाँ प्रायः अपने पतियोंसे कर्ता हैं—तुम मेरे लिये चन्द्रहार नहीं लाए ?' बलक कहता है 'आप मिठाई नहीं लाए !' दूसरे प्रकारके आग्रहात्मक वाक्य वे हैं जिनमें कोई कष्टमें पड़ा हुआ व्यक्ति किसी अपने समर्थ किन्तु कञ्जुष मित्रसे किसी विशेष सहायताके लिये बार-बार हठ पूर्वक विनय करता है, जैसे—'भाई इस बार जैसे भी हो तुम दो थो रुपए दे ही दो। और कोई मेरा नहीं है। तुम्हें देना ही होगा। तुम्हारे रहते मैं मागने किससे जाऊँ ?' इस प्रकारके वाक्योंमें दैन्य, हठ, निवराता, चाटुकारी, प्रार्थना तथा अनुसंध सबका सम्मिश्रण होता है। तीसरे प्रकारके आग्रहात्मक वाक्य वे हैं जिनमें बड़े-बड़े नेता, राजा या महापुरुष जनतासे किसी विशेष स्वाग या सहायताके लिये आग्रह करते हैं। इनमें अधिकारकी मात्रा अधिक रहती है। जैसे—'शेठजी ! युद्धकोपके लिये आपकी एक लाख रुपया देना ही होगा।' 'सेठके टालमटोल करनेपर भी अधिकारके बलपर उतना ही लिख लिखा जाता है और प्राप्त कर लिया जाता है। इन आग्रहात्मक वाक्योंके अतिरिक्त कुछ सिद्धांतपूर्ण आग्रहात्मक वाक्य होते हैं जो किसी विशेष व्यक्तिके सिद्धान्तकी रक्षाके लिये उसके द्वारा प्रयुक्त होते हैं। इनमें सत्याग्रह भी होता है दुराग्रह भी और इनने प्रतिज्ञानी प्रवृत्ति होती है। जैसे—'जबतक गोबब बन्द नहीं होगा तबतक मैं अन्न ग्रहण न करूँगा।' यह सत्याग्रहात्मक वाक्य है। दुराग्रहात्मक वाक्य वे हैं जिनमें केवल अपने सनक या अपनी धारणाको अपने व्यक्तिसे बलपर सेनासे मनधानेका आग्रह होता है, जैसे—'जबतक अन्त्यज मन्दिरोंमें प्रवेश नहीं करेगा तबतक मैं व्रत ग्रहण नहीं करूँगा।' सत्याग्रहात्मक वाक्योंमें सर्वभौम लोकमङ्गलकी कामना होती है और दुराग्रहात्मक वाक्योंमें किसी विशेष व्यक्ति, वस्तु या धर्मके प्रति पक्षपात होता है।

प्रार्थनात्मक वाक्य वे हैं जो किसी दूसरेसे कुछ काम करा लेनेके लिये बड़े जाते हैं। सम्बोध्यके पद और मर्मोदाके अनुसार उनकी शब्दावली कम या अधिक विनयशील होती चलती है।

व्यंग्यतासूचक वाक्य

व्यंग्यता—सूचक वाक्य वे हैं जिनमें कोई व्यक्ति भय, आशंका या विपत्तिके समय अथवा किसी दूसरेको कोई दुःखवाप सुनानेके प्रयोगमें लाता है। इन वाक्योंमें अधीरता, अकम्पता, असम्बद्धता, शीघ्रता और व्याकुलता मरी रहती है। जैसे—'वेणीधरारके पताकारधानकमें—
दुयोधन.....मेरी दोनो जड़ियाँ।

(धरया हुआ कञ्चुकी आता है)

कञ्चुकी—देव ! दूट गई, दूट गई।

दुयोधन—कितने तोड़ी।

कञ्चुकी—भीमने।

दुयोधन—किसकी।

कञ्चुकी—आपकी।

दुयोधन—क्या बकता है।

कञ्चुकी—मैं ठीक कह रहा हूँ, देव। भीमराजने आपसे रथकी ध्वजा तोड़ फेंकी है।

ऐसे व्यंग्यतासूचक वाक्य कभी-कभी मय्यङ्कर स्वयं देव लेनेपर भी सुं हते अनावस्य निकल पड़ते हैं। किन्तु वे प्रारम्भमें भय और अचेतनतासे भरे हुए होते हैं किन्तु धीरे धीरे चेतना होनेपर वे ठीक हो जाते हैं जैसे—

(स्वयं देखकर)

कौन, कौन, तुम, मेरे, शत्रु (चिल्लाकर) आह ! कोई है। लाओ तो मेरी तलवार। (अर्धे मलते हुए) ऐं ! मैं क्या देल रहा था, स्वयं। बड़ा भयङ्कर स्वयं था।

उन्मादसूचक वाक्य

कुछ ऐसे भी वाक्य होते हैं जिनमें अस्वम्बद्ध प्रत्याप भय रहता है। इनमें अस्वम्बद्ध अस्वम्बद्ध, सन्धान और अज्ञानसूचक वाक्योंका मङ्गल-श्लोचाला होता है। मद्यप, शर्मीमयी और उन्मत्त लोगोंकी बातें ऐसे ही वाक्योंमें होती हैं। विद्विप्त और सनको भी इसी श्रेणीके होते हैं। अन्तर यही होता है कि ये जो कहते हैं उसमें कुछ सञ्चानता अवश्य रहती है।

हास्यात्मक वाक्य

कुछ ऐसे वाक्य भी हैं जो केवल प्रहसनमें ही काम आते हैं, जैसे वह प्रत्युत्तरमत्तपूर्ण प्रश्नोत्तर।

“अपनी नाक तो देखो जैसे किसीने सिंघाड़ा छीलकर दंगा दिया हो।”

“पहले अपनी नाक संपालो जिसपर रथका चक्र घूम गया हो।”

दूसरे वे हैं जो मूर्ख बनानेके लिये प्रयुक्त किए जाते हैं। ये कई प्रकारके होते हैं। एक तो वे हैं जिनमें शल्यका रूपक धारण करके असत्य भाषण किया जाता है और जिसे शल्य समझकर सम्बोध्य जो आचरण करता है उसके आचारपर उसे मूर्ख बनाया जाता है। जैसे—

“अरे आप यहाँ बैठे हैं, आपकी गाय अमुक व्यक्ति सोल ले गया है।”

(यह सुनकर वह व्यक्ति घरकी ओर सपटता है और कहनेवाला हँस देता है।)

दूसरे प्रकारके मूर्ख बनानेवाले वाक्य वे हैं जिनमें सम्बोध्यकी छद्मी प्रशंसा करके अथवा उसे कोई छद्म सुसंवाद सुनाकर उससे प्रवृत्त हो जाय, जैसे किसी रसिक वृद्धसे कहा जाय—

‘लाइए, खिलाइए भिड़ाई। आपका विवाह निश्चित हो गया।’

‘सच क्या?’

‘हाँ, हाँ, यह तो पत्रिका।’

(पत्रिका दे देते हैं। वृद्ध बहुत प्रसन्न होते हैं और जेबसे कुछ रुपए निकाल कर देते हैं।)

इस प्रकारके मूर्ख बनानेवाले वाक्य सम्बोध्यको प्रकृतिके अनुसर और सम्बोधककी योग्यताके अनुसर बहुत प्रकारके होते हैं।

उपेक्षात्मक वाक्य

कुछ वाक्य उपेक्षात्मक होते हैं जिनमें किसीके वचन या क्रियाके प्रति उपेक्षा प्रकट की जाती है। ये दो प्रकारके होते हैं। एकमें निरन्तर दोष करनेवाले व्यक्तिके प्रति ज्वलते मरी हुई उपेक्षा मरी होती है, जैसे—

‘क्या करें भाई! हमने तो बहुत समझया, अब नहीं मानता तो जो उसकी इच्छा हो बद करें। हमारी ओरसे भाड़मे जाय।’

दूसरे उपेक्षात्मक वाक्य वे होते हैं जिनमें आत्म-सम्मानकी बात अधिक होती है, जैसे—

‘वे घनी होंगे अपने घरके। मैंने कभी उनके आगे

हाथ नहीं पतारा। वे अपने घरके बड़े हैं तो मैं भी अपने घरका बड़ा हूँ।’

व्यंग्यात्मक वाक्य

कुछ वाक्य व्यंग्यात्मक होते हैं। ये भी दो प्रकारके होते हैं। एक तो, वे जिनमें ताना मारा हुआ होता है। जैसे—

‘उदा लो मौज देता अरने चाचाके बल्लर। करलो मौज और चार दिन, फिर देखेते-कहाँसे मोटर आती है। बड़ी नाक हो तो अपनी कमाईका व्यय करो। दूसरेके बिरते पर क्या धावी कर रहे हो ‘बाप न माया नेटुकी देता तीरन्दाज’।’

दूसरे प्रकारके व्यंग्यात्मक वाक्य वे हैं जहाँ किसीको चिदानेकी प्रवृत्ति हो जैसे—

‘आँखके काने नाम नयनमुण्ड, इनके रहने भाई यह काटता भी है।’

कभी-कभी इस चिदानेकी प्रवृत्तिमें किसी वक्ताके कथनकी व्योम्की रथों सुँह बनाकर आह्वान कर दी जाती है। जैसे—

वक्ता—कलसे मैं अपना प्रबन्ध फरलूँगा।

दूसरा—(सुँह बनाकर) कलसे मैं अपना प्रबन्ध कर लूँगा। क्या करोगे चोरी करोगे! या डाका डालोगे।

चाटुकारितायुक्त वाक्य

चाटुकारितायुक्त वाक्य वे हैं जिनमें सम्बोध्यको छद्मी और अश्लेषा योक्तिपूर्ण प्रशंसा मारी रहती है। ऐसे वाक्योंके वक्ता या तो सम्बोध्यके आश्रित रहते हैं। अथवा उसके किसी प्रकारके पुरस्कारकी आशा रखते हैं जैसे—

‘आपके समान दावा तो इस विश्वमें उत्पन्न ही नहीं होते। कर्ण और दर्धाचि भी आपके सामने कुछ नहीं हैं। आप न होते तो संसार दाने-दाने को तरस गया होता।’

इन वाक्योंके अतिरिक्त ग्लानि, शंका, अस्वप्न, धम, झालस्य, विषाद, चिन्ता, स्मृति, उत्सुकता, दीनता, हर्ष, मीठा, रोव, चपलता वितर्क, भय, संकोच, आश्चर्य या विस्मय आदि अनेक भावोंके अनुसर भी वाक्योंका प्रयोग किया जाता है विशेषतः प्रेम-प्रसंगमें रुठना, मनाना, उपालम्भ प्रेम-प्रदर्शन आदिके लिए नायक और और नायिकाकी प्रवृत्ति, परिस्थिति, अनुसर, मर्मादा, और

भावके अनुसार अनेक प्रकारके वाक्योंका यथाप्रसंग प्रयोग किया जा सकता है, इनका मीमांसा आगे करेंगे।

वाक्योंके प्रयोगमें नाटककारका कौशल दो बातोंमें देखा जा सकता है। एक तो भावके अनुकूल वाक्यविन्यास और दूसरे पात्रके अनुकूल भाषा-शैलीकी योजना। बहुतेसे नाटककारोंने अज्ञानवश अपने सम्पूर्ण नाटककी भाषाशैली सब पात्रोंके लिये एक-सी रखी है। यह प्रयोग अत्यन्त गद्दित और अवाञ्छनीय है क्योंकि इससे पात्रोंकी भाषा अस्वाभाविक हो जाती है और अस्वाभाविक होनेके कारण उसमें रस नहीं मिलता। सघटोके नियममें नाटककारको पात्र सिद्धान्त स्मरण रखने चाहिए—

❀ पात्रानुसूलं यथाचरित्रं विस्तारं-लोच्यो-
त्तरप्रत्युत्तरसम्पन्नोचितपरिभाषणयुक्तं संवादः ॥

१—संवाद स्वाभाविक हो अर्थात् पात्रकी प्रवृत्तिके अनु-
सार हो।

२—संवाद उठना ही हो, जितनेसे कथाना विस्तार और
नाटकीय चरित्रोंका विकास हो।

३—भाषा लोकरोप्य हो, उसमें दार्शनिक तथा पारिभाषिक
शब्दोंके प्रयोग और विपर्ययका विवेचन न हो।

४—संवादोंमें जोड़-तोड़के उत्तर-प्रत्युत्तर हों जिनसे
संवादमें सजीवता आवे, केवल विभिन्न व्यक्ति-
युक्त-य मात्र न हों।

५—संवाद लम्बे न हों केवल उठने ही हों जितने उस
परिस्थितिमें आश्चर्य, अस्मिता और स्वाभाविक हों।
इनमें अतिरिक्त नाटककारको कुछ नाभ्य परिस्थिति-
योंका मा परिभाषण करना चाहिए। वे यह हैं—

१—संवाद निरन्तर दो, या तीन व्यक्तियोंके बीचमें ही
नहीं चलते रहना चाहिए। उनमें थोड़ी थोड़ी देर
परन्तु नये पात्रोंके प्रवेश और पुरानेके निष्क्रमणका
भी विधान होना चाहिए और नीरस्ता दूर बरनेके
लिये उनमें आंगिक व्यापार होता रहना चाहिए,
जैस उठना बैठना, घूमना, फल चुनना कुछ
उठाना रखना आदि।

२—संवादोंमें आंगिक और स्तरिक अभिनयके लिये मी
पूरा आकाश मिलना चाहिए अर्थात् वे केवल
वाचिक मात्र न हों।

शास्त्रोंकी भाषामें पूर्ण वाक्य होना आश्चर्य नहीं

है। स्वभावतः जिस प्रकारसे उत्तर प्रत्युत्तर देनेमें शब्द,
वाक्याद्य या वाक्यका प्रयोग होता ही वही करना चाहिए।

भरतने अपने नाट्यशास्त्रमें विभिन्न प्रकारके पात्रोंके लिये
विभिन्न प्रावृत्तोंका निर्देश किया है। कुछ वर्तमान अंग्रेजी
नाटककार भी अपने नाटकोंमें विभिन्न प्रकारकी लोक-
भाषा, उच्चारणशैली तथा स्टाइलियोंका प्रयोग करनेका
निर्देश देते हैं। किन्तु नाटक तो सब वर्गके लोगोंके लिये
समान सुलभ होना है। यदि उसमें विभिन्न पात्रोंकी
प्रवृत्तिके अनुसार हम तत्सदृशीय भाषा और विन्यास
और उपभाषाका प्रयोग करने लगेगे तो दर्शकोंके समझनेमें
और रसानुभूतिमें भी कठिनाई होगी। अतः
शास्त्रोंकी भाषामें विषयमें केवल एक ही सिद्धान्त होना
चाहिए कि भाषा आदिसे अन्ततः एक ही हो। किन्तु
पात्रोंकी योग्यता और परिस्थितिके अनुसार उसकी शैलीमें
परिवर्तन होता रहे। परिस्थितिका अर्थ यह है कि भाषा
सापेक्ष होती है। वह एक तो सम्बोधकी प्रवृत्तिके
अनुसार रूप धारण करती है और दूसरे भागके अनुसार।
कोई सिद्धान्त पण्डित अपने मुक्ते कहता है—“चलिए, मेरा
स्थान पवित्र कजिए” वही अपने मित्रसे कहता है—“चलो
माई तुम्हें हमारे घर चलना ही होगा” वही अपने तैकके
कहता है “चलो घर”। इसी प्रकार वही पण्डित साधारण
अवस्थामें कहता है “मनुष्यके विचार सदा स्वायत्तकी और
प्रवृत्त होते हैं। यदि ईश्वरकी कृपा न हो तो यह अतिशीघ्र
नर पिशाचना रूप धारण कर ले” किन्तु वही व्यक्ति जो
बोधमें अतः है तो अपनी यह सद्बृत्त शैली भूलकर
कहने लगता है—“अरे मझे तुम्हें भिन्न-विचार समझना पर
तेरा बुद्धिमें गोपय परा हुआ है, नू कुछ नहीं समझता।”

इस सम्पूर्ण विवेचनका यह निष्कर्ष निकला कि पात्रोंकी
प्रवृत्ति और नाटकीय परिस्थितियोंके अनुसार संवाद
स्वाभाविक रूपसे चलता है और विभिन्न भाषाके अनुसार
अपना रूप स्थिर करता चलता है। उसमें परिभाषण
आश्चर्यका और स्वाभाविकतापर अलम्बित है। उसमें
अरोप्य दार्शनिकता और आशङ्कितता न हो और वह
पात्रोंको सांख्यिक और आंगिक अभिनयके लिये अवकाश।

इसका यह अर्थ नहीं है कि संवादमें किशा प्रकारका
अलंकार न हो। किन्तु जैसे अन्य भाष्यकार कवियोंने
प्रत्यक्षपूर्वक अलंकारोंका धुआँधार प्रयोग किया है उस

प्रकार नाटकोंमें नहीं किया जा सकता यद्यपि संस्कृतिके कवियोंमें भास भवभूति और शूद्रकने तथा योरोपके शेक्सपियर, गेटे, रावीन आदि मध्यकालीन कवियोंने आलंकारिक भाषाका ही प्रयोग श्रेष्ठ समझा था किन्तु इस युगमें आलंकारिक भाषामें रचा हुआ नाटक अच्छा नहीं समझा जाता। उसका कारण यह है कि पहले भावावेश पूर्ण अभिनयप्रणाली योरोपमें थी और भवभूतिके उत्तररामचरितको देखनेसे प्रतीत होता है कि हमारे देशमें भी वैसी ही भावुकतापूर्ण अभिनयप्रणाली रही होगी इसीलिये नाटकोंमें काव्यात्मकता या आलंकारिकता बहुत मिलती है। पर इस युगमें जो काव्यात्मकताका अत्यन्त श्रावण दिखाई दे रहा है वह भी ठीक नहीं है क्योंकि नाटकोंमें ऐसे लोगोंकी भी सन्तोष मिलना चाहिए जो काव्य-रसिक हैं, भाषाकी सुन्दरता और कलाका रस लेना चाहते हैं। यों भी सुन्दर भाषाके प्रति, उक्तिवैचित्र्य और वाग्देवध्वके प्रति साधारण जनका भी आकर्षण होता है अतः भाषामें आकर्षण तथा कहनेके ढंगमें नवीनता आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है।

संवादके काव्यत्वकी इतनी मांमांसा कर चुकनेपर यह समझ रखना चाहिए कि संवादका काम केवल इतना ही नहीं है कि वह रंगपाठपर उपरिथत पात्रोंको बोलता हुआ उपरिथत करे। संवादसे पात्रोंके स्वभाव, उनकी प्रकृति, उनकी प्रवृत्ति सबकी अभिव्यक्ति की जाती है। संवादसे ही एक पात्र दूसरे पात्रके सामने संतुलित होता है और एक दूसरेका अधिक विवाद चित्रण होता है।

यूरोपीय नाटकों का संवाद

योरोपमें नाटकीय संवाद तीन रूपोंमें रहूँ हो गया है। एक तो यह कि नीसर्षी शताब्दीतक संवाद केवल पद्यात्मक रहा यद्यपि कभी कभी ध्वनिज्ञाथेथीय नाटकोंमें साधारण जनता और प्रहसनके पार्श्वसे गद्य भी कहलाया गया है। आजकल तो संवाद गद्यमें ही लिखा जाने लगा है यद्यपि कुछ ऐसे लेखक अब भी हैं जो पद्यमें ही नाटकीय संवाद लिखते हैं। दूसरे, संवाद बड़े लम्बे लम्बे होते रहे हैं और

वास्तविक जीवनके व्यावहारिक संवादोंकी अपेक्षा अधिक जोड़-तोड़के और तुले हुए होते रहे हैं अर्थात् एक कोई बात कहता है तो दूसरा भी उर्ता आवेशमें बैठे ही बलसे उसी जोड़की बात कहता है। प्राचीन योरोपीय नाटकोंमें विशेषतः यूनानी नाटकोंमें एक एक पात्रका एक एक वक्तव्य उतना ही बड़ा होता था जितना समवेत गीत (कोलग सौंग)। एलिजाबेथीय रंगपाठोंपर भी सारी आलंकारिकता संवादोंमें उँडेल दी जाती थी। फ्रांसीसी और अंग्रेजी नाटकोंमें तो इसकी भरमार थी। दूसरी ओर पुनरुज्जीवन (रेस्टोरेशन) कालमें संवाद छोटे और अधिक संतुलित होने लगे। एक पात्रके मुखसे एक पद या पंक्ति और उसकी जोड़में दूसरेके मुखसे भी एक कड़ी या एक पंक्ति पर्वत और सुन्दर प्रतीत समझी जाने लगी जैसे स्टिकोमिथियामें, ऐज यू लाइक इटमें या मौलिक नाटकोंमें संवाद हैं। इन संवादोंमें जोड़-तोड़के, वाग्देवध्व-पूर्ण उत्तर-प्रत्युत्तरोंकी शृङ्खला बनी रहती है। तीसरे, उनमें रचनाभाविकताका पूर्ण अभाव है। शेक्सपियरके चरित्रोंमें जितना ही अधिक भावनेश आता है उतनी ही विषम उनकी वाणीकी लय हो जाती है और उसीके अनुकूल जीवनके एक एक मानव-प्रकारके अनुरूप शैली और प्रवाह बन जाता है यद्यपि वही पात्र दूसरे स्थलोंमें शुद्ध आलंकारिक शैलीमें बोलने लगता है। जॉर्ज बर्नार्ड शौके अधिकांश नाटकोंमें बड़े लंबे-चौड़े शास्त्रार्थ हैं जिससे जो भी ऊब जाता है और जो कभी कभी तीखे भी होते हैं। इसीलिये शौके नाटक शास्त्रार्थी नाटक कहलाते हैं। ओस्कर वाइल्डके नाटकोंमें इस बातका ध्यान ही नहीं रक्खा गया है कि किससे क्या कहलाया जाय और किस शैलीमें कहलाया जाय। वहाँ सम्राट और उनके दास सब एकसी साहित्यिक तथा आलंकारिक शैलीमें बातें करते हैं। किन्तु जितने भी अच्छे प्रभावशाली नाटक हैं उन सबमें इस बातका ध्यान रक्खा जाता है कि प्रत्येक पात्रकी योग्यता और प्रकरण या अवसरकी आवश्यकताके अनुरूप यथासंभव स्वाभाविक बातचीत हो जिसमें जोड़-तोड़के उत्तर या तुल्यतर्क हो, किष्ट पक्षधियाँ हों और इस प्रकार संवाद चलाया जाय कि आंगिक तथा सारित्रक अभिनय-व्यापारकी अपेक्षा केवल संवादसे ही नाटकीय दृष्टिकोण निर्गम हो।

ॐ स्वरूपे साहित्यिकः धार्मिकवृत्तिश्च स्वाभाविकी ।

[रूप नाट्यका साहित्यिक हो, किन्तु दग हो बातचीतका ।]

बहुते लोगोका ऐसा विचार है कि नाटकीय संवाद लिखना बड़ा सरल कार्य है और ऐसा करते समय वे लच्छेदार शब्दोंसे सजाकर कुछ व्यक्तियोंके बीचची बातचीत छेड़कर उसमें साहित्यिक आनन्द लेने लगते हैं और उद्योगी अपनी सफलताको पराकृष्ट समझ बैठते हैं किन्तु यह बड़ी भारी भूल है । वे यह नहीं समझते कि नाटकीय संवादका रूप तो साहित्यिक रहे किन्तु दग स्वाभाविक बातचीतका हो, व्याख्यानका नहीं । उसमें व्याख्याता, उपदेष्टा दार्शनिक और काव्य-शास्त्रियोंका कोई स्थान नहा क्योंकि जहाँ नाटककारने इनमेंसे कोई भी रूप धारण किया कि उसने नाटककी इत्या की । इसलिये नाटककारकी स्वयं प्रत्येक पात्रका स्वाभाविक रूप ग्रहण करके यह समझना चाहिए कि यदि मैं उस स्थितिमें स्वयं होता तो मैं स्वाभाविकताकी रक्षा करता हुआ बातचीतको प्रभावशील कैसे बनाता । ऊपर जो कहा गया है कि नाटकीय संवादका रूप साहित्यिक होना चाहिए उसका तात्पर्य यही है कि साधारण बातचीतमें जो बहुतो अशुद्धि, आधुत्ति-पुनरावृत्ति, खंडित वाक्य और निरर्थक बीच-बाचको बातें होती चलती है उनका नाटकमें समावेश नहीं हो सकता क्योंकि यदि स्वाभाविकताकी रक्षाके लिये ऐसी निरर्थक और ऊटपटांग बातें ही भरी जाने लगे तो नाटकसे रस या वह आनन्द नहीं प्रकट हो सकता जिसके लिये दर्शक शुरुक देकर वहाँ आते हैं । रंगपीठपर वास्तवमें दो व्यक्तियोंमें बातें होती हैं पर वे उनके लिये नहीं होती, वे होती हैं दर्शकोंके लिये । अतः जो बातचीत हममें परस्पर होती है उनमें और जो दूसरोंके लिये की जाती है उनमें कुछ अन्तर अवश्य हो जाता है । अतः संवादकी स्वाभाविकता ऐसी व्यवस्थित हो कि उससे दर्शकोंपर उचित प्रभाव पड़नेमें बाधा न रहे ।

ॐ संवादे सन्धन्ध-निर्वाहः ।

[हो संबन्ध-निर्वाह बातमें ।]

हम कह चुके हैं और आगे गुणविवेचनमें भी बतलाने कि नाटकीय संवादका सबसे बड़ा गुण यह होना चाहिए कि वह समझमें आ सके और ऐसे दगसे संवाद चलाया

जाय कि उसकी कड़ी बनी रहे । ऐसा न हो कि कुछ दूर चलकर लोगोंको पूर्वापर-सम्बन्ध समझनेमें किसी प्रकारकी कठिनाई हो । अतः उसे सावधानीके साथ ऐसे शब्द, वाक्य, उक्तियाँ, व्यापार दूर रखने चाहिए जिनसे किसी प्रकारकी श्लक्ष्णता या दुर्बोधता उत्पन्न हो । फिर नाटककारको संवाद लिखते समय समयका भी ध्यान रखना चाहिए । उसे थोड़े ही समयमें अतः थोड़े ही शब्दोंमें पूरी नाटककी कथा इस दगसे कहनी है कि दुर्बोधता निर्गोह करते हुए उसका निर्दिष्ट परिणाम सिद्ध हो जाय । उपन्यासकारके पास जितने विस्तारका अवकाश रहता है, नाटककारके पास उसका अल्पतम अभाव होता है अतः उसे अपनी पूर्णताको संक्षेपमें साधना चाहिए । कोई बात छूटे भी नहीं और कितनीका भी आवश्यकतासे अधिक विस्तार न हो । जो भी बात कहाई जाय, जो वाक्य, श्लोकवाच या उक्ति कहाई जाय उसका नाटकमें कोई न कोई उद्देश्य होना चाहिए । अतः उसे इस बातकी पूरी सावधानी रखनी चाहिए कि न तो कहीं अनावश्यक शीघ्रता हो जाय और न कहीं निरर्थक विस्तार ही हो । कभी-कभी प्रदग्गन लिखनेवाले लोग अथवा वीरताके नाटक लिखनेवाले लोग संवादमें इतना उत्पन्न करनेकी इच्छासे अथवा लोगमें उत्पन्न करनेकी कामनासे संवादका अनावश्यक विस्तार कर डालते हैं और समझने हैं कि दर्शकोंको इससे आनन्द मिलेगा किन्तु यह भूल है । दर्शकोंकी एकाग्रता परिमित होती है और किसी भी वस्तुकी प्रति अवधिचक्र होती है चाहे वह कितनी भी मधुर हो ।

इसलिये संवाद-नोचना करते समय नाटककारको केवल भाषाका ही नहीं धरन् वचन-पात्रकी योग्यता, सम्बोधन-पात्रकी योग्यता, आवश्यकता, अनुयाय और सगति सबका ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है ।

संवादके लक्षण

समादमें कितने लक्षण होने चाहिए इसकी व्याख्या करते हुए भरतमुनिने अपने नाट्यशास्त्रके स्रहर्ष अध्यायमें कहा है—

भूषणाभरसंघातो योभोदाहरो तथा ।
हेतुसंघादृष्टान्ताः प्राप्ताभिप्राय एव च ॥

निदर्शनं निरुक्तं च सिद्धिश्चाथ विशेषणम् ।
 गुणातिपातातिशयो तुल्यतर्कः पदोच्चयः ॥
 दृष्टं चैवोपदिष्टं च विचारस्तद् विपर्ययः ।
 भ्रंशश्चानुनयो माला दाक्षिण्यं गर्हणं तथा ।
 अर्थापत्तः प्रसिद्धिश्च पृच्छ्य सारूप्यमेव च ॥
 मनोरथश्च लेशश्च क्षोभोऽथ गुणकीर्तनम् ।
 शेषाननुक्तसिद्धिश्च प्रियं वचनमेव च ।
 पटुंशिशङ्खशरान्येव काव्यरूपेषु निर्दिशेत् ॥
 अलङ्कारैर्गुणैश्चैव बहुभिः समलंकृतम् ।
 भूपौरिव चित्रार्थैरतद् भूपणमिति स्मृतम् ॥ ६ ॥
 यत्राल्पैरक्षरैः शिल्पैर्विचित्रमुपवर्ण्यते ।
 तन्मप्यन्नरत्नहार्तं विद्याहृत्प्रगर्भकृतम् ॥ ७ ॥
 सिद्धैरर्थैः समं कृत्वा ह्यसिद्धैरर्थैः प्रयुज्यते ।
 यत्र शिल्पं विशिष्यन् सा शोभेत्यभिधीयते ॥ ८ ॥
 यत्र स्वल्पार्थयुक्तेन वाक्येनाभिप्रदर्शनात् ।
 साध्यन्ते निपुणैर्यास्तद्बुदाहरणं स्मृतम् ॥ ९ ॥
 यत् प्रयोजनसामर्थ्यात् वाक्यमिष्टार्थसाधकम् ।
 समाप्तोक्तं मनोग्राहि स हेतुरिति संशितः ॥ १० ॥
 अपरिज्ञाततत्पर्यं वाक्यं यत्र समाप्यते ।
 अनेकवाद्भिचारार्थां स संशय इति स्मृतः ॥ ११ ॥
 सर्वलोकमनोग्राहि पक्षपक्षार्थ-साधकः ।
 हेतौनिर्दर्शनकृतः स दृष्यान् इति स्मृतः ॥ १२ ॥
 दृष्ट्वा वाग्यवान् कांश्चिद् भावे यश्चानुमीयते ।
 प्राप्तिं तानपि जानीयात्कल्पणं नाटकश्रवणम् ॥ १३ ॥
 अभूतपूर्वो योऽप्यर्थः सादृश्यासरिकल्पितः ।
 लोकस्य हृदयभाही सोऽभिप्राय इति स्मृतः ॥ १४ ॥
 यत्रार्थानां प्रसिद्धानां क्रियते परिकीर्तनम् ।
 परापेक्षानुपाकार्यं तन्निरदर्शनमुच्यते ॥ १५ ॥
 निरवयवस्य वाक्यस्य पूर्वोक्ता तु प्रसिद्धये ।
 यदुच्यते तु वचनं निरुक्तं तद्बुदाहृतम् ॥ १६ ॥
 बहूना च प्रयुक्तानां नाम यत्राभिधीयते ।
 अभिप्रेतार्थसिद्धिर्पुं, सा सिद्धिर्भिधीयते ॥ १७ ॥
 सिद्धानं बहून् प्रधानार्थान् उक्त्वा यत्र प्रयुज्यते ।
 विशेषयुक्तं वचनं विज्ञेयं तद्विशेषणम् ॥ १८ ॥
 गुणाभिधानैर्विधिवैविपरितीतार्थोचितैः ।
 गुणातिपातो मधुरो निष्ठुरायौ भवेदथ ॥ १९ ॥

बहून् गुणान् कीर्तयित्वा सामान्यजनसम्मदान् ।
 विशेषः कीर्त्यते यस्तु श्रेष्ठः सोऽतिशयो बुधैः ॥ २० ॥
 रूपकैरपि मानैर्वा तुऽर्थार्थभिः प्रयोक्तव्यभिः ।
 अप्रत्ययार्थं सत्यर्थास्तुल्यतर्कः प्रकीर्तितः ॥ २१ ॥
 बहूनां च प्रयुक्तानां पादानां बहुभिः पदैः ।
 उच्चयः सदृशार्थो यः स विशेषः पदोच्चयः ॥ २२ ॥
 यथादर्शनं यथानालं यथारूपं च वर्णयते ।
 यत्प्रत्यक्षं परोक्षं वा दृष्टं तद्वर्णतोऽपि वा ॥ २३ ॥
 परिगृह्य च शास्त्रार्थं यद्वाक्यमभिधीयते ।
 विद्वन्मनोहरं स्वन्तमुपदिष्टं तदुच्यते ॥ २४ ॥
 पूर्वदेश-समानार्थं प्रत्यक्षार्थ-साधनैः - ।
 अनैकोपोहसंयुक्तो विचारः परिकीर्तितः ॥ २५ ॥
 विचाररक्षणमयमात्रतया दृष्टोपयोगतः ।
 तन्द्वातकल्प्यते यस्तु स विशेषो विपर्ययः ॥ २६ ॥
 वाच्यमर्थे परित्यज्य दृष्ट्यादिभिरनेकधा ।
 अन्यस्मिन्नेव पननादिह भ्रंशः स इह्यते ॥ २७ ॥
 उभयोः प्रीतिजननोर्विद्वद्भामिनिविष्टयोः ।
 व्यर्थस्य सूपनश्चैव द्विज्योऽनुनयो बुधैः ॥ २८ ॥
 इंधितार्थप्रसिध्यै कल्पते यत्र सूचिभिः ।
 प्रयोजनान्यनेकानि सा मालेत्यभिधीयते ॥ २९ ॥
 दृष्टैः प्रसन्नवदनैर्यत्परंशानुवर्तनम् ।
 क्रियते वाच्यचेष्टाभिस्तद्वास्मिन्मिति स्मृतम् ॥ ३० ॥
 यत्र संकीर्तयन् दोषं गुणमयं न दर्शयेत् ।
 गुणातिपाताद् दोषाद्वा गर्हणं नाम तद्भवेत् ॥ ३१ ॥
 अर्थान्तरस्य कथने यत्रान्योऽर्थः प्रतीयते ।
 वाक्यमाधुर्यसंयुक्तं सार्थापत्तिरुदाहृता ॥ ३२ ॥
 वाक्यैः सातिशयैरुक्त्वा वाक्यार्थस्य प्रसाधकैः ।
 लोकप्रसिद्धैर्बहुभिः प्रसिद्धिरिति कीर्तिता ॥ ३३ ॥
 यत्राकरोद्भवैर्यत्नैरतमानमवयवा परम् ।
 गृह्यते चाभिषक्तोऽर्थो सा पृच्छेत्यभिधुकिता ॥ ३४ ॥
 दृष्टयुक्तानुभूतार्थकथनाभिः समुद्रवयम् ।
 सादृश्यक्षमजनितं सारूप्यमिति संशितम् ॥ ३५ ॥
 हृदयार्थस्य वाक्यस्य गूढार्थस्य विभावकम् ।
 अन्यान्देसैः कथनं मनोरथ इति स्मृतः ॥ ३६ ॥
 यद्वाक्यं वादृष्टयुक्तैरुपयानामिधीयते ।
 सदृशार्थविनिष्पन्नः स लेख इति कीर्तिता ॥ ३७ ॥

परदोषैर्विचित्रार्थैर्नरात्मना परिकल्प्यते ।
 अदृष्टान्योऽपि वा कश्चित् स तु दोष इति स्मृतः ॥३८॥
 लोके गुणवतिरिक्तानां गुणानां परं नामभिः ।
 एकोऽपि शब्दो तत्तु विशेषेण गुणैर्निर्णयः ॥३९॥
 प्रस्तायेनैव शोषोऽर्थः शृत्वा यत्र प्रतीयते ।
 वचनेन विज्ञानात् सिद्धिः सा परिकीर्तिता ॥४०॥
 यत्प्रसन्नेन मनसा पूज्यं पूजयितुं वचः ।
 हर्षप्रकाशनायै तु सा भियोक्तिरदाहता ॥४१॥

एतानि वा काव्यविभूषणानि
 पद्विशदुद्देश्यं निदर्शनानि ।
 काव्येषु सोदाहरणानि तत्रैः

सम्भक् प्रयज्यानि बलात्तुरुष्पम् ॥४॥

[भूषण अक्षर संघात, शोभा, उदाहरण, हेतु, संशय, दृष्टान्त, प्राप्ति, अभिप्राय, निदर्शन, निवृत्ति, सिद्धि, विशेषण, गुणातिशय, अतिशय, तुल्यवर्क, पदोच्चय दृष्टि उपदिष्ट, विचार, विपर्यय, भ्रश, अनुनय, माला, दाक्षिण्य, गर्हण, अर्थोपचि, प्रसिद्धि, वृच्छा, साक्ष्य, मनोरथ, लेश, क्षोभ, गुणकीर्तन, सिद्धि और प्रियवचन ये छलीस लक्षण काव्य रन्ध अर्थात् रूपक काव्य-रचनामें प्रयोग करने चाहिएँ। जो वाक्य बहुतसे अलंकारों और गुणोंसे सजा हुआ हो और विचित्र अर्थोंसे जो भय हुआ हो उसे भूषण कहते हैं। जिस वाक्यमें थोड़े ही श्लेष-भरे अक्षरोंसे कुछ विचित्र बात कह दी जाती है वहाँ अक्षर-सघात होता है। जहाँ सिद्ध अर्थोंके साथ असिद्ध अर्थ निकाला जाता है और यह विशिष्ट अर्थश्लेष भरा होता है, वहाँ शोभा होती है। जहाँ थोड़े ही अर्थवाले वाक्योंके प्रयोगसे चतुर लोग अपनी बात कह जाते हैं, उसे उदाहरण कहते हैं। जहाँ अपने मन का अर्थ व्यक्त करनेवाला सक्षेपमें कहा हुआ आकर्षक ऐसा वाक्य कहा जाय जिसमें अपना प्रयोजन सिद्ध करने की समर्थता हो, वह हेतु कहलाता है। जहाँ कोई वाक्य इस प्रकार समाप्त किया जाय कि उसमें एक ही बात अनेक प्रकारसे विचारी गई हो, वह संशय कहलाता है। सब लोगोंकी अच्छा लगनेवाला, अलग अलग पक्षोंके अर्थको स्पष्ट करनेवाला, कारणोंके स्पष्ट करनेवाला वाक्य, दृष्टान्त कहलाता है। जहाँ किसी बातके कुछ अर्थोंको देखकर उसके भावका अनुमान कर लिया

जाता है, वह प्राप्ति कहलाता है। जहाँ समानताके कारण किसी नये मनोहर अर्थमें कल्पना कर ली जाती है वहाँ अभिप्राय होता है। जहाँ प्रसिद्ध अर्थोंकी गिनती की जाती है और पिछले अर्थको अपेक्षा अगले अर्थको महत्त्व दिया जाता है वहाँ निदर्शन होता है। जहाँ पिछले अदृष्ट वाक्यके स्पष्टीकरणके लिये कोई वचन कहा जाता है, उसे निवृत्ति कहते हैं। जहाँ बहुतसे प्रयुक्त नामों-का वर्णन करके कोई दृष्ट अर्थ निकाला जाता है, वहाँ सिद्धि होती है। जहाँ बहुतसे सिद्ध और प्रथम अर्थवाले शब्दों या वाक्योंका प्रयोग करके कोई विशेषतायुक्त वचन व्यक्त किया जाता है, वहाँ विशेषण होता है। जहाँ अनेक प्रकारके गुणवाले और विपरीत अर्थवाले शब्दोंसे मधुर और निष्ठुर दोनों अर्थ निकलें वहाँ गुणातिशय होता है। जहाँ सामान्य मनुष्योंमें होनेवाले बहुतसे गुणों का वर्णन करके किसी एकको बढ़ाई की जाय, वहाँ अतिशय होता है। जहाँ समान अर्थवाले रूपकों और उपमानोंसे ऐसे अर्थ व्यक्त किए जायें जिनमें सहजा विश्वास न हो सके उसे तुल्यवर्क कहते हैं। जहाँ बहुतसे शब्दोंसे युक्त बहुतसे वाक्योंका प्रयोग हो और सबका अर्थ भी समान ही हो, उसे पदोच्चय कहते हैं। जो बात देश काल और रूपके अनुसार प्रत्यक्ष या परोक्ष कही जाय उसे दृष्ट कहते हैं। जहाँ किसी शारीरिक अर्थको प्रणय करके विद्वत्तपूर्ण मनोहर वाक्य कहा जाता है, उसे उपदिष्ट कहते हैं। जहाँ पहले कही हुई बातोंके समान अर्थोंसे भी और प्रत्यक्ष अर्थ साधनेवाली, अनेक प्रकारके तर्कवितर्कसे युक्त वाक्य हो, उसे विचार कहते हैं। जहाँ पहलेसे चली हुई बातसे भिन्न और संदेहसे युक्त अर्थ प्रकट किया जाय, वहाँ अर्थ-विपर्यय होता है। जहाँ वाक्य या प्रत्यक्ष अर्थको छोड़कर अनेक प्रकारसे कुछ दूसरे ही अर्थकी प्रतीति करायी जाय वहाँ भ्रश होता है। जहाँ दो व्यक्तियोंमें परस्पर प्रीति उत्पन्न करने वाले, एक दूसरेके विशेषको शान्त करनेवाले अर्थकी साधन हो, वहाँ अनुनय होता है। जहाँ हृच्छित अर्थ की अभिव्यक्तिके लिये अनेक प्रयोजनोंकी गिनती करा दी जाय, वह माला कहलाती है। जहाँ प्रसन्न होकर दूसरेके कथनानुसार क्रिया की जाय या चेष्टाएँ की जाय, वह दाक्षिण्य कहलाता है। जहाँ दोनोंकी गिनती करते हुए अर्थसे गुण प्रकट किया जाता हो वहाँ गर्हण होता है। जहाँ किसी दूसरे अर्थकी अभिव्यक्ति करते

हुए कोई दूसरी माधुव्युक्त अर्थ प्रकट हो, वह अर्थापत्ति कहलाती है। जहाँ धाम्य और अर्थको सजानेवाले अतिरिजित और लोक प्रसिद्ध वाक्योंमें कोई बात कही जाय, वह लोक-प्रसिद्ध कहलाती है। जहाँ मूल वाक्योंमें अपनी या दूसरेको कोई बात पूरी या समाप्ती जाय, उसे पूरुछा कहते हैं। जहाँ देखी हुई, सुनी हुई, अनुभव की हुई बातों को हम दंगसे कहा जाय कि वह प्रत्यक्ष-सी जान पड़े, उसे सारूप्य कहते हैं। जहाँ अपने मनकी कोई छिपी हुई बात किसी दूसरेको लक्ष्य करके व्यक्त कर दी जाय, वह मनो-रथ कहलाता है। जहाँ शास्त्रार्थकी क्लामों दुशाल लोग कौशलसे इस प्रकार कहते हैं कि उससे समान अर्थ ही प्रकट होता हो, वह लेश कहलाता है। जहाँ दूसरोंके दोषोंसे विचित्र प्रकारसे अपना धर्षण किया जाय या किसी अन्य अदृष्ट व्यक्तिका दर्षण हो, उसे दोष कहते हैं। समाजमें जब हम एक ही व्यक्तिका उसके वारतत्विक गुणोंके अनिश्चित गुणोंका नाम ले लेकर धर्षण करते हैं, उसे गुण-कीर्तन करते हैं। जहाँ किसी वाक्यके प्रारम्भ भागमें उसका पूरा अर्थ प्रतीत हो जाता है वह सिद्धि कहलाती है। जहाँ प्रसन्न मनसे किसी पूज्य व्यक्तिकी पूजा करनेके लिये या प्रसन्नतासे व्यक्त करनेके लिये कोई वाक्य प्रयुक्त होता है, प्रयुक्ति कहलाता है। नाटककारोंका धर्म है कि ऊपर जो १६ काव्यके विभूषण कहे गए हैं उनका प्रयोग वे जहाँ आश्चर्य हो वहाँ अचर्य करें।]

नाट्यशास्त्रके एक दूसरे ग्रन्थमें विभूषण, अक्षर संदति, शोभा, अभिमान, गुणकीर्तन, प्रोत्साहन, उदाहरण, निश्चित, गुणानुवाद, अतिशय, हेतु, सारूप्य, मिथ्याध्यवसाय, सिद्धि, पदोच्चय, आकन्द, मनोरथ, आख्यायन, यांचा, प्रतिषेध, पृच्छा, दृष्टान्त भाषण, संवाय, आशीर्वाद, प्रिय, कपट, समा, प्राप्ति, परचात्पन, अर्थाभुञ्जित, उपरिक्त, सुक्ति, कार्य, अनुनीति, परिदेवन, ये छत्तीस लक्षण लिखे हैं और यह कहा है कि रसकें अनुसार इनका प्रयोग होना चाहिए। संवादके वाक्योंकी व्याख्या करते हुए हम ऊपर बतलाया थायें हैं कि भागोंके अनुसार अनेक प्रकारसे वाक्य कहे जा सकते हैं जिनकी कोई निश्चित गणना नहीं की जा सकती। कभी-कभी एक ही प्रकारके भाव मनुष्यके सात्विक, राजस और तामस स्वभावरके अनुसार भिन्न भिन्न रूप धारण कर लेते हैं। सात्विक प्रकृतिवाला किसी बहूपर

श्रीभक्तर यह कहेगा—“क्षमा कीजिए, मैं आपसे वास्तार्थ नहीं करना चाहता”, राजसी प्रकृतिका व्यक्ति क्षुब्ध होकर कहेगा—“अब यदि आप ऐसा कहेमो तो मैं सहन नहीं करूंगा।” तामसी प्रकृतिका व्यक्ति क्षुब्ध होकर हाथ चला देता और कहेगा—“फिर तो कह” इस प्रकार जितने भी संवाद होते हैं उनमें वक्ता और संबोधकी प्रकृतिके अनुसार वाक्यकी रचना करनी चाहिए चाहे उन वाक्योंमें सम्बोधन, प्रश्न, उत्तर, सहमति, सन्देह, निर्देश, आदेश, उपदेश, अभ्यर्थना, प्रार्थना, दैन्यप्रदर्शन, चातुकारी, विवाद, क्षोभ, तर्जन, आभोग, श्राप, क्रोध, व्यंग्य, विनोद, हास, परिहास, उदाहास, उल्लास, प्रेमालाप, वार्तालाप, मंत्रणा, पद्यव्यञ्ज, कृत्यालाप, मिथ्यालाप, विलाप, प्रलाप, स्वप्नालाप, यांचा, मुग्धालाप, धांचालता, शारङ्गार्थ, कलह, छिद्रान्वेषण, आश्चर्य, भय, व्याकुलता, कक्षणा, वृणा, सन्देह, उत्साह, समा, संताप आदि कोई भी दशा या भाव क्यों न हो।

चन्द्रालोककारने भी ऐसे कुछ लक्षण गिनवाए हैं—

अल्पाक्षरा विचित्रार्थ खगतिरक्षरसंहतिः ।

अपक्रान्तेनानुगतः शूरः शौरिरथं पुनः ॥१॥

शोभास्वातोऽपि यद्योपे गुणकीर्त्या निगिष्यते ।

गुधा निन्दति संसारं कंसारिर्वज्रं पूज्यते ॥२॥

अभिमानो विचारश्चेद्दुहितार्य-निषेध-श्रुत् ।

हन्दुयंदि कथं तीव्रः सर्मो यदि कथं निःशे ॥३॥

हेतुस्पर्शनं बहुन् पद्मान् युक्तदक्षिण्यवधारणम् ।

नेन्दुर्नार्कस्यमोर्वाभिः सागरादुत्थितो दहन् ॥४॥

प्रतिषेधः प्रसिद्धानां कारुणानामनादरः ।

न सुद्वेन सुधोः स्पन्देनैव वीरनिपातिताः ॥५॥

निरुक्तं स्वाभिर्दचर्चनं नाम्नः सत्यं तथावृत्तम् ।

इदृशीक्षितिं रोजन् सत्यं दोषाकरो भवान् ॥६॥

स्थानिमिथ्याध्यवसायश्चेदवती सध्यवसाधने ।

चन्द्राशु-सुत्र-प्रियतां नमःपुष्प-सुत्र-सद्वद ॥७॥

सिद्धिः ख्यातेषु चेन्नाम कीर्त्यते तुल्यतोक्तये ।

युवामेषेह निख्यातो त्वं वलैर्जलधिर्जलैः ॥८॥

सुक्तिर्निशेषसिद्धिश्चेद्विचित्रार्थान्तराण्यमात् ।

नदस्त्व नीरदः कोऽपि स्वर्णैर्वर्षि यन्नुहः ॥९॥

कार्यः पलोत्तमश्चेद्द्व्यारसद्वैतुतोऽथवा ।

असावुदेति शीतोशुर्मन्च्छेदाय सुधुत्राम् ॥१०॥

हत्यादि लक्षण भ्रूरि काव्यस्याहुर्महर्षयः ।
स्वर्णप्राजिगुमालरप्रभृतीषु महीभुजः ॥११॥

[कुछ थोड़ेसे अक्षरोंमें कोई पूरी घटना चमत्कारी अर्थके साथ कही जाय उसे अक्षर-संहति कहते हैं । जैसे, उदाहरणमें उपासकान्त अनिरुद्धका स्मरण करा देनेसे ही पाषाणुरकी कथा स्मृतिमें आ गई ।

किसी विषयमें आगेपिठ बढ़े बढ़े दोगैको, किसी गुणका वर्णन कर, मिटा देनेको शोभा लक्षण मानते हैं । जैसे, सहायको कुटिलता, नश्वरता अथवादि दोगैके होते हुए भी यहीं कनारि प्रमु वृष्णकी उपासनाका महत्त्व दिखला देनेसे इसका श्रेय कितना गौरवान्वित हो गया ।

किसी विशेष कार्यके लिये कोई कल्पना करना और साथ ही उसका पण्डन कर देना अभिमान किया कहलाती है । जैसे, कोई विरहिणी कहती है, यदि यह चन्द्र होता तो मैं उत्तम क्यों होती, यदि उसे स्वर्ण समझूँ तो रात्रिभा यह अन्यकार कैसे ?

जहाँ बहुत पदोंको कल्पना करके सुक्तिपूर्वक कोई एक बात निरूप्य कर ले उसे हेतु कहते हैं और यह लगभग पहेली ही हो जाती है । जैसे विरहिणी कहे कि फिर न तो यह चन्द्र है न स्वर्ण ही है, 'यह वास्तवमें समुद्रसे निकला बड़वानल है जो मुझे जला रहा है ।

प्रसिद्ध कारखोंका तिरस्कार करके जो एक बात कह दी जाय उसे प्रतिषेध लक्षण कहते हैं । जैसे, बड़े बड़े वीरोंको मिना युद्ध के ही केवल भौहें चलाकर मार गिपया ।

गुणोंके अज्ञात भावोंकी तुलना दिखलाते हुए उसे एक विशेषनात्मक नाम देनेकी निरुद्ध कहते हैं । यह दो प्रकारका होता है सत्य और मिथ्या । जो व्यक्तगणसे सहज सिद्ध हो, उसे सत्य कहते हैं और इसके निपरीतकी मिथ्या । जैसे, दोगाकार और राजन् ।

मिथ्याअर्थसाय उसे कहते हैं जहाँ साध्य और साधन दोनों मिथ्या हों । जैसे, चन्द्रकी किरणोंके समीप गुरी हुई आकाशपुष्पकी मालाका धारण करना ।

प्रसिद्ध बातोंमें यदि तुलनात्मक गुण दिखलाये जाय तो बंध विधि कहलाती है । जैसे दोनों ही समान रूपसे

सखारमें विख्यात हैं । वह यदि जलनिधि है तो आप भी जलनिधि हो ।

— दोनों के अर्थात् उपमान और उपमेयके सम्बन्धको दिखलाते हुए उपमेयमें विशेष चमत्कार दिखलानेको युक्ति कहते हैं, जैसे, आप कोई ऐसे विचित्र नवीन जलद हैं जो बारबार स्वर्ण की ही वृष्टि करते हैं ।

किसी व्यापार या वस्तु द्वारा जो प्रतीव-फल हो उसके उपालम्भ देनेको कार्य कहते हैं । जैसे, वह चन्द्रका उदय रमणियोंकी मानसिक समाप्त होनेकी सूचना देनेके निमित्त ही है ।]

आचार्योंके काव्यके अनेक लक्षण बतलाए हैं । जैसे, कनक, तेजस्विता, उन्नत लनाटत्व आदि अनेक गुण राजाश्रीभ होते हैं वेबे ही काव्यमें भी अनेक गुण होते हैं । विन्तु ये लक्षण न होकर काव्यकी शोभाके साधन हैं और अलंकारोंमें इनमेंसे बहुतोंका विवेचन आ गया है । और फिर नाट्य-नायिका क्या लक्षण होना चाहिए यह हम पहले ही धर्यान कर चुके हैं इसलिये उसका विट-पर्यण करनेकी आवश्यकता नहीं ।

प्राय प्रत्येक युगमें वाक्यरचना या घातालापका प्रयोग भिन्न-भिन्न रूपसे होता चला आया है । सस्कृत नाटकोंमें सहमति देते समय 'अयकिम्' (और क्या) कहनेका प्रचलन था । आजकल इसके बदले 'जी हाँ' कहते हैं । इसी प्रकार कई अवस्थाओंमें यही सहमति 'हाँ, ठीक है, यह तो है ही, बहुत ठीक, यही होना चाहिए, वही तो, बहुत अच्छा, अच्छा, जी हाँ, जैसी आशा' आदि न जाने कितने रूपोंमें व्यक्त करते हैं । अतः इसके लिये कोई ऐसे निश्चित नियम नहीं बनाए जा सकते कि अमुक अवस्थामें अमुक उक्तिके उत्तरमें अमुक ही शब्द या वाक्य प्रयोग किया जाय । यहाँ भी वक्ता और श्रोतृव्यंकी गोम्यता और परिस्थितिका विचार करना आवश्यक है । समाजमें जिन विभिन्न वर्गोंके लोग परस्पर एक दूसरेसे मिलते हैं वे अपने अपने वर्गोंमें मिलते हुए जिन शब्दों या वाक्योंका प्रयोग करते हैं, उनका प्रयोग वे अन्य वर्गोंके साथ मिलते समय नहीं करते । इसी प्रकार विभिन्न जातियोंके परस्पर सम्बन्धमें अनेके कुछ नये शब्दों और वाक्योंका प्रयोग प्रचलित हो जाता है जैसे प्रत्येक वातवर घन्यनाद कहनेका प्रयोग भारतवर्षमें अग्नेयोंके

'थैंक यू' के आधारपर चलने लगा है। अतः आजके नाटकमें हमें यदि दो व्यक्तियोंके शीलका परिचय देना होगा तो वहाँ "थैंक यू का कृतज्ञ हूँ" न कहलाकर धन्यवाद ही कहलाना होगा। नाटककारको इस सम्बन्धमें इतना ही जान लेना चाहिए कि वह जिस युगका नाटक लिखे उसी युगकी भावनाओंके अनुरूप वाक्य-प्रकृतिका प्रयोग करे।

६. आंगिकाभिनयशैली भावाभिनयानुसंधानौ ॥

[अनुसंधान भावाभिनयमें केवल आंगिक अभिनय है।]

बहुतेरे ऐसे नाटक भी होते हैं जिनमें केवल आंगिक अभिनय ही होता है। ये दो प्रकारके होते हैं—एक तो अनुसंधानी, दूसरे भावाभिनय। अनुसंधानमें तो अन्य नाटकोंके समान ही संवाद होते हैं और नेपथ्यमें पात्रोंके अनुकूल पाठक वाचिक अभिनयके साथ पाठ करते हैं और अभिनेता रंगमंचपर केवल आंगिक और आंगिक अभिनय करता है। किन्तु भावाभिनय या मूकाभिनयमें कथा-मात्र दे दी जाती है और अभिनय क्रम-निर्देश कर दिया जाता है।

७. गीतनाट्ये छन्दोवद्-संवादः।

[गीतनाट्यमें छन्दोवद् संवाद।]

कुछ ऐसे भी नाटक हैं जिनमें सब संवाद गीतमय होते हैं। इन गीतनाट्योंके लिये छन्दोवद् संवाद लिखा जाता है जैसे अभिनवभरतके गीतम छन्दमें। उसमें नाटककारको यह ध्यान रखना होता है कि किस अवसरपर किस प्रकारका संवाद किस छन्दमें किस रागमें और किस लयमें हो। इसका तात्पर्य यह हुआ कि नाटककारको गद्य और पद्यकी रचनाके नियमोंके साथ-साथ शरीरके तत्त्वोंका भी ज्ञान आवश्यक है। इसलिये हम शब्द-शक्ति, अलंकार, गुण दोन रीति, इति आदिमा विवेचन करके आगे छन्दः शास्त्रका आवश्यक निरूपण करेंगे और फिर संगीतशास्त्रके आवश्यक तत्त्व राग, लय और तालकी भीमासा अगले आकरलेना संभल करेंगे।

अलंकार

८. सहृदयसामाजिकरत्नं करयतीत्यलंकारः ॥

[अलंकार दे सामाजिकसे अलंकार कह कहलाता है।]

जिन आचार्योंमें वाक्यमें अलंकारकी बल्यना की है उन्होंने अलंकारकी परिमाणा यही बनाई है कि जिससे सजावट

की जाय उसको अलंकार कहते हैं। 'अलंकृतोऽनेन इति अलङ्कारः।' जैसे शरीरपर अलंकार या आभूषण पहननेसे शरीरका सामाजिक सौन्दर्य और भी अधिक निखर जाता है, वैसे ही शब्दों और वाक्योंमें अलंकार या सजावट पर देनेसे शब्द और वाक्य सुन्दर और आकर्षक हो जाते हैं। यद्यपि कर्ष-कमी अलंकारके बिना भी स्वाभाविक सुन्दरता आकर्षक होती है और शब्द तथा वाक्य भी कमी-कमी स्वाभाविक रूपमें अधिक मनोहर और सरस लगते हैं, किन्तु यदि उनमें अलंकारोंकी सुन्दरता जोड़ दी जाय तो उनका प्रभाव और भी अधिक व्यापक हो जाता है। नाटककी दृष्टिमें आजकलके नाट्याचार्य आलंकारिक-भागकी नाटकके लिये उपयुक्त नहीं समझते, क्योंकि नाटकनी लोकका अनुकरण माननेके कारण वे समझते हैं कि नाटकमें शब्द अर्थात् भाषा भी स्वाभाविक शीलचालकी होनी चाहिए जितने कमी-कमी केवल काकु ध्वनिसे ही बड़े गंभीर अर्थना धोतन हो जाय।

९. योग्योचितभावात् अलङ्कारः।

[योग्य उचित ही भाव-सजावट अलङ्कार कहलाती।]

अलंकारके अचार्योंमें अलंकारकी जो केवल-सजावट-मात्र माना है और उन्हें सुन्दर शरीरपर पहने हुए गहनेके समान सहज सौन्दर्यवर्धनका साधन माना है वह अभिनव-भरतके मतसे ठीक नहीं, क्योंकि इन्हीं अर्थके कारण बहुतसे ऐसे भी अलंकार उसमें आ गए हैं जिनसे सौन्दर्य-वृद्धिके बदले असौन्दर्यकी वृद्धि होती है। वास्तवमें अलंकारका अर्थ यह है कि वह जब प्रयोग कर दिया जाय तब फिर कुछ भी बहना या जोड़ना शेष न रहे। अर्थात् किनी बातकी कहनेके समय जो शैली, जो उपमान आदि प्रयुक्त हों वे ऐसे हों कि उन्हें देखकर सहृदय लोग 'अर्थ' अर्थात् 'अर्थ' कहें अर्थात् उनसे यह सूचित हो कि अर्थ कितना दूसरे ढंगमें या इससे अधिक किसी दूसरे प्रकारमें कहनेका आवश्यकता नहीं रह गई है। अलंकारका यही तन्त्र भाषाके संबंधमें विशेषतः नाटककी भाषाके सम्बन्धमें भली भाँति समझ रखना चाहिए कि उन्हें बदलनेकी आवश्यकता न हो और उनके द्वारा नाटककारका उद्दिष्ट प्रभाव पूर्णतः बना रहे। किसी दोहे या छन्दको सुनकर जब सहृदय लोग बाह-बाह कह उठते हैं या उड़-बाले जिन उक्तिपर 'मल्लन तोड़ दी' कह उठते हैं उसका तात्पर्य यह है कि उस उक्तिमें जो बात

जिस ढंगसे कही गई है वह बात उससे अच्छे ढंगसे उनसे अच्छी सजावटसे नहीं कही जा सकती। किसी बातको इस प्रकार मनानेका विधान अलङ्कार कहलाता है जिसे उचित तथा योग्य प्रकारसे भावका अलङ्कारण किया जाय।

बुद्ध आचार्योंने इसी बातको घेड घुमा विराकर इस प्रकार कहा है कि शब्द और अर्थके द्वारा उपस्थित रसके गुणोंकी विशेषता जिस शैलीसे प्रकट की जाय उसे अलङ्कार कहते हैं। बुद्धका कहना है कि शोभा बढ़ानेवाले तथा रस आदिका उत्कर्ष करनेवाले शब्द और अर्थके अर्थपर धर्मको अलङ्कार कहते हैं। एक परिभाषामें शैलीको अलङ्कार बताया गया है। दूसरीमें अर्थपर धर्मको अलङ्कार बताया है। किन्तु वास्तवमें न तो शैली ही अलङ्कार है न धर्म ही अलङ्कार वह निश्चल योजना है जिसके अन्तर्गत काव्यका स्वरूप उसके विविध अंग अंगों पर प्रकरण, प्रकरणोंके अन्तर्गत कथा, वर्णन, सजावट और उन सबमें ध्यात एक विशेष उद्देश्यकी अभिव्यक्ति सब आ जाते हैं और यह सब पूर्ण योजना जिन अनेक भाषाने विधानोंमें पूरी होती है उन सभी सम्पत्ति अलङ्कार कहलाती है। उसमें रसके गुणोंकी शब्द और अर्थके द्वारा किसी शैलीमें विशेषता नहीं प्रकट की जाती जैसा रसमन्त्रके उत्तर अभिनव केन्द्रों से पढ़नेवाले विभिन्न रसोंके प्रकाश, विभिन्न अक्षरोंपर उसकी विभिन्न चेष्टाओं भावमन्त्रों और मुद्राओंको रस कहते हैं वह है उसी प्रकार अलङ्कार भी वाचक विभिन्न भाषाओं, अक्षरों और काव्योंके अधिक रस रूपम व्यवहार और सधेदनशील बननेमें सहायक बनते हैं। यदि ऐसा न करके वे केवल भाषाचमत्कारोंसे ही पाठक या श्रोताके मनमें धुनुहल उत्पन्न करते तो वे अलङ्कार न हो पाते क्योंकि अलङ्कार साधन है, साधन नहीं। जब वे साध्य हो जाते हैं और लेखक या कवि उन्हींका चमत्कार प्रदर्शन करनेमें अपना कौशल दिखाता है तो वह काव्यकी रचना नहीं करता वह अलङ्कार शास्त्रकी रचना करता है। इसलिये काव्यके रचयिताओं अलङ्कार हैं इन्हें नहीं पढ़ते यदि वह बुद्धल लोक निरीक्षक होगा तो काव्यके प्रत्येक अक्षरपर उसकी भाषा रस इस प्रकार दल जायगी कि वह ऐसा अदृष्ट प्रभाव उत्पन्न कर सके कि पढ़नेवाला या सुननेवाला कह उठे कि लेखकने 'अलं' कर दिया। इसलिये मन्त्रने व्यंजना और लक्षणासुक्त काव्योंकी ही अर्थ

माना है और केवल अक्षरों तथा शब्दोंका खिचवाड़ करने वाले कवियोंकी रचनाओंको अधम काव्य बतलाया है।

वे अलङ्कार शब्दमें भी हो सकते हैं, अर्थमें भी हो सकते हैं तथा शब्द और अर्थ दोनोंमें हो सकते हैं इसीलिये इनके तीन भेद बताए गए हैं—शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार और उभयालङ्कार। अभिनवमरतका मत है कि जैसे कोई स्त्री केवल गालोंको सजा ले और शिरके सब आभूषण पहन ले किन्तु शेष शरीरपर भैले डुपैले काढ़े पहने रखे तो वह न तो सुन्दर कही जायगी और न उसके शिरके अलङ्कार अलङ्कार कहलायेंगे। इसी प्रकार यदि हम यह वाक्य कहें—

‘गुरुजोके चरणकमल पकड़ पकड़कर छात्र लोग उछल कूद कर रहे थे।’

यहाँ जिस व्यक्तिने छात्रोंको गुरुके चरणस्पर्श करते देखा है उसने वाक्यके द्वारा गुरुके प्रति श्रद्धा और भक्ति न प्रकट कर ऐसा दिखाया है मानो छात्रगण गुरुका उपहास कर रहे हैं। अतः ‘चरणकमल’में आए हुए रूपक अलङ्कारसे वाक्यमें सुन्दरता नहीं आये वरन् यहाँ अलङ्कार भी निर्वेध और व्यर्थ हो गया है। अतः अलङ्कार तो किसी उक्तिकी सजावटकी उस सम्पत्तिसे कहते हैं जिससे वक्ताके भावकी श्रोताके मनमें तावत यजना हो। अतः शब्दके अर्थमें अलङ्कार नहीं, वरन् वाक्यमन्त्रमें होता है। कन्तु वाक्यमन्त्र ही यह सौन्दर्य या प्रभाव शब्दों और उनके अर्थमें ही आता है अतः शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कारकी विवेचन पर लेना अनुचित न होगा।

शब्दालङ्कार

शब्दालङ्कार वह है जिसमें केवल शब्दोंका सौन्दर्य हो। ये पाँच प्रकारके माने गए हैं—वर्णाक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष और चित्र। आधुनिक ग्रन्थकारोंने इनमेंसे वर्णाक्ति और श्लेषमें अर्थालङ्कारमें ही परिगणित किया है। चित्रालङ्कार वह है जिसमें वर्णों तथा शब्दोंके निम्नसे पद्य, गद्य आदि अनेक प्रकारके चित्र बनाए जाते हैं। इसकेवल शब्द-यामास सम्बन्धना चाहिए। इस अर्थमें भी दुर्बलता आती है और माधुर्यका भा नाश हो जाता है।

अर्थालंकार

अर्थालंकारोंकी संख्या बहुत अधिक है। साम्य, विरोध, शृङ्खला, न्याय और वस्तु भेदसंघे पाँच श्रेणियोंमें बाँटे गए हैं।

(१) साम्यमूल—पदार्थोंकी समानताके कारण किसी वर्णनमें जो चमत्कार उत्पन्न किया जाता है वह साम्य-मूलक कहा जाता है। जैसे सादृश्यमूल, साधर्म्यमूल तथा औपम्यगत या कहते हैं। इन तीनोंमें अन्तर्गत लगभग आधे अर्थकार आ जाते हैं अर्थात् स्पष्ट करनके लिये इसके कुछ उपभेद किए जाते हैं—

(क) अनेद-प्रधान—जब दो समान पदार्थोंमें किसी प्रकारका भेद न देखाकर उन्हें एक ही बताया जाए। इस उपभेदके अन्तर्गत रसक, परिणाम, उल्लेख आदि सदेह और अपहृष्टि अलंकार आते हैं।

(ख) भेद-प्रधान—जब दो पदार्थोंकी समान बताते हुए भी उन दोनोंकी भिन्नता या अपेक्षता प्रकट की जाय। इसके अन्तर्गत, प्रतीप, तुल्य-योगिता, दीपकाद्युक्ति, प्रतिवस्त्रमा, दृष्टांत, निदर्शना, सहोक्ति, विनोक्ति और व्यतिरेक अलंकार हैं।

(ग) भेदाभेद-प्रधान—जब दो पदार्थोंमें पूरी समानता होनेपर भी यह प्रकट किया जाय कि वे दो भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं। इन भेदमें उपमा, अनन्यत्व, उपमानोपमेय और स्मरण अलंकार हैं।

(घ) प्रतीति-प्रधान जब दो पदार्थोंमें समानताकी प्रति मान्य हो। उपेक्षा और अतिशयोक्ति इसके अन्तर्गत हैं।

(ङ) गद्य-प्रधान—जिनमें दो पदार्थोंकी कुछ समानताके कारण ध्वनि होती है। इसमें अपभ्रुत-प्रशंसा, प्रस्तुताकुर, पर्यायोक्ति, न्यायभक्ति, व्याजनिन्दा और आशेष आते हैं।

(च) अर्थवैचित्र्य-प्रधान—जिनमें समानताका मान्य रहते हुए भी शब्द या वाक्यके अर्थमें कुछ विचित्रता हो। समासोक्ति, परिकर, परिकटाकुर और श्लेष इस उपभेदमें माने जाने चाहिए।

२—विरोध-मूल—जब दो पदार्थोंके वाक्य-रूपणोंमें विच्छेद होनेसे पारस्परिक विरोध प्रकट हो तब विरोध-

मूलक सिद्धांत होगा। इसके अन्तर्गत विरोधाभास, विभाजना, विशेषोक्ति, असंभव, असङ्गति, विषम, विचित्र और व्यापक अलंकार हैं।

३—शृङ्खलामूल—जब दो या उससे अधिक वस्तुओंका क्रममें वर्णन हो और वे शृङ्खलाके समान एक दूसरेमें सम्बद्ध हों। इसके अनुसार कारणमात्रा, एकावली, मात्रादीपक और सार अलंकारोंका निर्गम हुआ है।

४—न्यायमूल—जब तर्क, लोक-प्रमाण या दृष्टांत आदिमें युक्त वाक्य-द्वारा चमत्कार या रोचकता उत्पन्न की जाय। इनके अन्तर्गत भी बहुतसे अलंकार हैं इसलिये इनके भी तीन उपभेद किए जाते हैं—

५—वाक्य-न्यायमूल, लोचन-न्यायमूल और तर्क-न्यायमूल

(क) वाक्य-न्यायमूल—जब वाक्योंमें शब्दोंके तीनों क्रममें अथवा शब्दोंके विशेष सम्बन्धमें मिलाकर रोचकता या चमत्कार लाया जाए। इनके अन्तर्गत स्या-सखर, पर्याय, परिपक्षा, विनन्दर स्तुत्यव्यय वाक्यदीप, वाक्यार्थालि सम्मानना, मिथ्याव्यवृत्ति लजित और विज अलंकार आते हैं।

(ख) तर्क-न्यायमूल—जब कारण आदि देकर तर्कसे कुछ सिद्धता स्थापित की जाय। काव्यलिंग, अर्थान्वय, विवक्ष्य, प्रौढोक्ति, श्लेषोक्ति, प्रतिषेध, विधि, हेतु और निकृत् अलंकार इसी सिद्धांतसे व्युत्पन्न हुए हैं।

(ग) लोक-न्यायमूल—जब प्रचलित लोक-व्यवहारके प्रयोगसे चमत्कार उत्पन्न हो जैसे परिश्रुति, समाधि, प्रत्यगीक, सम, तद्गुण, पूर्वल्प, अनुगुण, अतद्गुण, सामान्य, विशेष, उन्मीलित, मौलित और भाविक अलंकारोंमें होता है।

इन अलंकारोंके अतिरिक्त विषाद, उल्लास, अचक्र, अस्त्रा, लेख, मुद्रा, रत्नावली, गूढोचर, सूत्र, गिहित, व्यापक, गूढोक्ति, विद्वोक्ति, युक्ति लोकोक्ति, श्लेषोक्ति, त्रयोक्ति, स्वभावोक्ति, उदात्त और अस्फुटिका उल्लेख है। इनमेंसे अधिकतर ऐसे हैं जिनमें ध्वन्यमें छिपाकर या उल्टी बातें कही जाती हैं। ये अलंकार वस्तुमूलक कहे जा सकते हैं। हम ऊपर कहे आए हैं कि कुछ आचार्योंके मतमें शब्द तथा अर्थके संबंधसे भाषाकी सौंदर्य-वृद्धिके अतिपर धर्ममें अलंकार रहते हैं और ये इन्हीं दोके संबंधसे दो विभागोंमें बाँटे गए हैं—अर्थालंकार और शब्दालंकार। जिनमें शब्द

और अर्थ दोनोंका सम्मिलन होता है वे उभयालंकार कहलाते हैं जैसे साहित्य-दपथकार और नान्य प्रकाशकालने वक्रोक्तिको शब्दालंकार माना है पर भाषा भूषणकारने इसे अर्थालंकार माना है ।

दो वस्तुओंमें (उपमान और उपमेय) भेद रहते हुए भी सादृश्य दिखलाने का समान धर्म बतलानेको उपमालंकार कहते हैं । इसके चार अंग हैं—

उपमेय—असिद्धी उपमा दी जाय अर्थात् जो वर्ण्य या वर्णनीय हो ।

उपमान—वह वस्तु जिससे उपमा दी जाय अर्थात् जिसके समान दूसरी वस्तु प्रतलवाई जाय ।

धाचक—उपमा प्रकट करनेवाले शब्द जैसे—से, समान, तुल्य आदि ।

धर्म—साधारण या सामान्य धर्म (गुण, क्रिया रूप, आदि) जो दोनोंमें दिखलाया जाय । कुछ लोगोंने नाम-साम्य भी उपमा ही माना है पर वह निरर्थक और प्लान्व है जैसे—अर्जुनके समान अर्जुन वृक्ष देखो ।

जहाँ समताके चारों अंग वर्तमान हों वहाँ पूर्णोपमा अलंकार होता है जैसे—श्रीकृष्णका शरीर नवघनके समान सॉवला है ।

जिन उपमाओंमें इन चारों भागोंमें से एक, दो या तीन न हों वे लुप्तोपमा कहलाते हैं । जैसे—

१—श्रीकृष्ण नवघनके समान है—धर्मलुप्तोपमा ।

• देखो, श्रीकृष्ण नवघन है—धर्मधाचकलुप्तोपमा ।

• देखो, श्रीकृष्ण (नवघनके समान सॉवले है क्योंकि) मोरोंके चूल्का कारण बन गए हैं—धर्मधाचक उपमान लुप्तोपमा । इस प्रकार लुप्तोपमाके बहुतेरे भेद हो सकते हैं—

जिसमें उपमेय ही उपमान भी होता है अर्थात् एक ही वस्तु उपमान और उपमेय दोनों रूपोंमें कहा जाय उसे अनन्वय कहते हैं । जैसे—रामके समान राम है ।

जिसमें उपमेय उपमान के समान और उपमान उपमेयके समान बतलाना जाय अर्थात् दोनोंमें पारस्परिक सादृश्य होना माना जाय वह उपमानोपमेय कहलाता है । जैसे—सुरसुर कमलके समान तबका कमल मुख के समान है ।

प्रतीपका अर्थ है प्रतिकूल या उलगा अर्थात् उपमेयको उपमानके समान न करके उलट्टे उपमानको उपमेयके सदृश प्रतलाना । उपमेय तथा उपमानके सादृश्यमें आधिक्य

तथा कमी आदिके सबबसे प्रतीप अलंकार पाँच प्रकार का माना गया है—

(क) जब उपमान, उपमेयके समान बताया गया हो जैसे—कमल नेत्रके समान है ।

(ख) जब उपमानकी समानता न कर सकनेपर उपमेय तिरस्कृत हो जैसा—अपने मुख (के सौंदर्य) का क्या गर्व करती हो ! चंद्रको तो देखो ।

(ग) जब उपमेयकी समानता न कर सकनेपर उपमान तिरस्कृत हो जैसे—तुम्हारी आँखोंके तीक्ष्ण कण्ठके सामने कामके जाए तुच्छ हैं ।

(घ) जब उपमानमें उपमेयके समान बतानेमें सकोच प्रकट किया जाना जैसे—तुम्हारे इन सुन्दर नेत्रोंकी उपमा मीनमें कैसे दी जा सकती है ।

(ङ) जब उपमेयके सामने उपमान वर्ण्य-ता बान पड़े जैसे—तुम्हारे नेत्रके आगे मृगके नेत्र कुछ नहीं है ।

जहाँ बिना किना भेदके उपमेयमें उपमानका आरोप हो अर्थात् दोनों एक ही मान लिए गए हों और नियेध-धाचक शब्द न आया हो वहाँ रूपक होता है । रूपकके दो भेद हैं—तद्रूप और अभेद और उनके भी अधिक, सम और न्यूनके अनुसार तीन तीन और भेद हैं ।

१. न्यूनतद्रूप जैसे—समुद्रसे उत्पन्न न होने पर भी यह दूसरी लक्ष्मीके समान सुन्दर है ।

२. अधिक तद्रूप जैसे—दिन रात प्रकाश देनेके कारण यह मुख चन्द्र आकाशके चन्द्रसे उड़कर है ।

३. समतद्रूप जैसे—जब नेत्र कमल हैं ही तब कमल किस कामका ।

४. अधिक अभेद—यह कमलला सी चलती हुई किनारी अच्छी लगनी है । (इसमें चलना विशेषता है) ।

५. न्यून अभेद—ये विदुम अधर समुद्रसे उत्पन्न नहीं हैं ।

६. सम अभेद—तुम्हारा निमल मुख कमल बड़ा सरस और सुगन्धित है ।

जब उपमेयका कार्य उपमानमें कराया जाय या दोनोंका एक रूपमें कार्य कराया जाना दिखाया जाय तब परिणाम अलंकार होता है । रूपकसे इसमें यहाँ भेद है कि इसमें उपमानद्वारा कार्य होना दिखलाकर विशेष चमत्कार उत्पन्न किया जाता है जो रूपकमें नहीं होता है । जैसे—श्रीरामचन्द्रजी अपने कर कमलोंसे धनुषबाण घुमा रहे हैं ।

जहाँ एक ही वस्तुका अनेक रूपोंमें वर्णन किया जाय वहाँ उल्लेख अलंकार होता है। इसके दो भेद हैं—

१—जब एक वस्तुको अनेक लोग अनेक रूपोंमें देखें जैसे—श्रीरामचन्द्रजीको नारियोंने शृंगाररस, विद्वानोंने विराट्प्रिय, जनकने आत्मीय, रानियोंने शिशु और, योगियोंने परम तपस्वके रूपमें देखा।

२—जब एक ही वस्तुको गुणोंके अनुसार एक ही व्यक्ति कई रूपोंमें देखे जैसे—आप युद्धमें अशून, तेजमें सूर्य और विद्यामें बृहस्पतिके समान है।

पहले देखी या अनुभव की हुई वस्तुके सामने कोई वस्तु देख लेनेपर उस पहले देखा हुई वस्तुका स्मरण हो जानेका जहाँ वर्णन हो वहाँ स्मरण अलंकार होता है जैसे—चन्द्रको देखकर प्रेयसीका मुख स्मरण होने लगा है।

जहाँ उपमानमें उपमेयका भ्रम हो जाय वहाँ भ्रम या भ्रान्तिमान अलंकार होता है जैसे—मुखको चंद्र समझकर ये चक्रोर साथ लग गए हैं।

जहाँ किसी वस्तुको देखकर उसके वास्तविक रूपका निश्चय न हो वहाँ मन्देह अलंकार होता है जैसे—यह प्रियाका मुख है या चन्द्र है या नया लिला हुआ कमल है।

जिसमें उपमेयका निषेध करके उपमानकी स्थापना की जाय वहाँ अपहृति होती है।

(१) शुद्धारङ्गति जहाँ किसी एक धर्म या गुणके कारण उपमेयका निषेध करके उपमान स्थापित किया जाता है जैसे—ये स्तन नहीं है, गँदिके फूल है।

(२) हेरायङ्गति—जब उपमेयका निषेध करते हुए हेतु या कारण दिया जाय जैसे—चन्द्रको देखकर स्त्री कहती है कि चन्द्रमें तो गर्भ नहीं होता और रात्रिकी मूर्य नहीं दिखाई देते अतः हो न हो यह बड़धानल ही है।

(३) पर्यस्तापहृति—जब एकके गुणका दूसरेपर आरोप किया जाय—जैसे, यह मुख सुधाधरका प्रकाश है, सुधाधर (चन्द्र) नहीं है।

(४) आल्यापहृति—दूतोंकी भ्रांतिको मिटानेके लिये जब अपहृतिका प्रयोग हो—जैसे हे सखी ! मुझे जर नहीं है, यह तो कामदेव तथा रहा है।

(५) छेकापहृति—जहाँ शुक्लसे शान छिपाई जानी है जैसे—मेरे ओठोंपर प्रियके दाँतके फाव नहीं हैं, बरू जाड़ेके पवनसे ओठ फट गए हैं।

(६) वैतथागहृति—जब एकके बहाने दूसरा कार्य होना कहा जाय जैसे प्रियाके तीक्ष्ण कटाक्षोंके बहाने कामदेव अपने बाण चला रहा है।

भेदका ज्ञान होने हुए भी उपमेयमें उपमानकी प्रतीति होनेको अश्रेया कहते हैं। मनु, जनु, आदि उल्लेखके वाचक शब्द हैं। इसके पाँच भेद हैं—वस्तुप्रक्षेपा, हेतुप्रक्षेपा, फलोत्प्रेक्षा, गम्भोत्प्रेक्षा और तापहृत्प्रक्षेपा। वस्तुप्रक्षेपाके उक्त-विषया और अनुक्तविषया तथा हेतुप्रक्षेपा और फलोत्प्रेक्षाके सिद्ध-विषया और असिद्धविषया ये दो भेद होते हैं। उत्प्रेक्षामें वाचक शब्द न हो तो गम्भोत्प्रेक्षा और अपहृति तथा उत्प्रेक्षाके मेरुसे सायहवोत्प्रेक्षा होती है।

१. वस्तुप्रक्षेपा जिसमें एक वस्तु दूसरके तुल्य दिखलाई जाय जैसे—मेघ विशेष रूपसे बड़े और सरय हैं मानो वे कमल हो।

२. हेतुप्रक्षेपा—जिसमें जिन वस्तुका कारण न हो उसको उगी वस्तुका कारण मानना जैसे—उसके पैर मानों कटोर, आँगनमें चलनेके कारण ही लान हो गए हैं।

३. फलोत्प्रेक्षा—जिसमें जो जिसका फल नहीं है वह उसका फल माना जाय जैसे—तुम्हारे पैरोंकी समानता करनेके लिये कमल एक पवित्रे जलमें खड़ा होकर तप करता है।

जिसमें लोक-मीमांका उल्लापन प्रधान रूपमें दिखलाया जाय वहाँ अतिशयोक्ति अलंकार होता है। जहाँ उपमेयसे निश्चयपूर्वक उपमान अभिन्न प्रतीत होता हो वहाँ भी अतिशयोक्ति अलंकार होता है। उत्प्रेक्षासे इसमें यह भेद है कि इसमें अनिश्चित रूपसे कथन रहता है। इसके सात भेद बताए गए हैं।

(१) रूपकतिशयोक्ति—जहाँ केवल उपमानका ही वर्णन किया जाय जैसे—एक वस्तु (धू) और दो बाण (कटाक्ष) लिए हुए चंद्रमा (मुख) कनकलता (सुन्दरे शरीर) पर शोभित है।

(२) मानदशतिशयोक्ति—जब एकका गुण दूसरेपर आरोपित किया जाय जैसे—अमृत तो तुम्हारे मुखमें है पर पागल लोग चंद्रमामें बतलाते हैं।

(३) भेदकतिशयोक्ति—जब अत्यन्त भेद दिखलाया जाय जैसे—उसका हँसना, चलना और बात-चीत करना सबसे निखला (कुछ और ही) है।

(४) सर्वधातिशयोक्ति—असद्वचने सवध सितानाना जैसे—अयोध्याके घर चन्द्रमातरु उंचे हैं ।

(५) असंधातिशयोक्ति—सन्धमें असद्वचन दिए लाना जैसे—तुम्हारे हाथके आगे कल्पतरुका मला कौन आदर करेगा ।

(६) अक्रमातिशयोक्ति—जब कारण और कार्य साथ होते कहे जायें जैसे—वनपु तथा शत्रुके शरीर पर आपके बाण एक साथ ही लगते हैं ।

(७) चपलातिशयोक्ति—जब काखने तत्काल पीछे ही कार्य हो जैसे—पतिके आज ही जानेका समाचार सुनकर प्रियाकी उँगलीकी अगुगी उनके हाथका कड़ा बन गई ।

(८) अत्यन्तातिशयोक्ति—कार्गमें अत्यन्त कारण दिखलाना जैसे—बाग पहुँचनेके पहले हा शत्रु लोट जाते हैं ।

तुल्ययोगिता अलंकार—“हो होना है जहाँ कई प्रस्तुत उपमेयों तथा अप्रस्तुत उपमानोंका एक ही धर्म बतलाया जाय । यह तीन प्रकारका होता है—

(१) जब एक ही शब्दसे हित और अहित दोनों अर्थ निकलें जैसे—हे गुण ! तू रमणी और शत्रु दोनोंको हार देता है । हार—गलेका एक आभूषण (हित), हार—पराजय (अहित)

(२) जब कई वस्तुओंमें एक ही धर्म बताया जाय जैसे—(सभ्यके समय) ननोढाका सुन और कमल दोनों सुर्भा रहे हैं ।

(३) जब बहुतेसे धर्म (गुण) का एक साथ होना कहा जाय जैसे—तुम्हीं श्रीनिधि (लक्ष्मीवास), धर्मनिधि (अत्यन्त धर्मात्मा), इन्द्र (तेजस्वी) और इन्दु (कान्तिमान) हो ।

जहाँ प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनोंका एक धर्म हो वहाँ दीपक अलंकार होता है जैसे—राजाकी तेजसे तथा लक्ष्मीकी मदमें शोभा होती है ।

दीपकावृत्ति अलंकार तीन प्रकारका होता है—

१—जब केवल पदोंकी आवृत्ति हो (अर्थ भिन्न हो) जैसे, तुम्हारी प्रतीक्षामें आँसूके पलक भी बह रहे हैं और पक्षीके पल भी बह रहे हैं अर्थात् आँसू पड़ पाड़कर पलक चौड़ा-चौड़ा कर बाट जोड़ रहा हूँ और एक एक पल मारी

हो रहा है । वहाँ पल गठना पदकी आवृत्ति हुई है पर अर्थ अलग अलग हैं ।

(२) जब केवल अर्थ एक हो किन्तु पद भिन्न हों जैसे—कदम फूट रहा है और केतकी प्रफुल्लित हो रही है ।

(३) जब पद और अर्थ दोनोंको आवृत्ति हो जैसे—मार भी मच हो गया है और चातक भी मच (कामावस) हो चला है ।

जब उपमेय और उपमानके साधारण धर्म दो समान धर्मोंमें अलग अलग कहे जाय तब प्रतिवस्तुवत्त्वा अलंकार होता है जैसे—सूर्यकी शोभा उसके तेजमें है और सूर्यकी उसने रखन ।

जहाँ उपमेय और उसके साधारण धर्म तथा उपमान और उसके साधारण धर्मोंमें धर्मोंमें प्रियप्रतिविम्बित्वमाने हो वहाँ टट्टान्न होता है । प्रतिवस्तुवत्त्वा धर्मोंका एक ही धर्म शब्द मेंदमें रह जाया है पर दृष्टांतमें भिन्न धर्मका उल्लेख होता है जैसे—चन्द्रमाकी चादनी जैसे पैलती है वैसे ही आपकी कान्ति पैली है ।

चंद्रान्तिके अनुसार निर्दर्शनाका लक्षण यह है कि उसमें दो समान वाक्योंमें एक ही अर्थ या भावका आशय होता है । यह तीन प्रकारको बताई गई है—

१. प्रथम निर्दर्शना—जब दो वाक्योंका अर्थ एक हो (असमको सम करना) जैसे—चंद्रमा जैसे निष्कलक है वैसे ही सौम्य दाता भी ।

२. द्वितीय निर्दर्शना—जब उपमानका गुण उपमेयमें स्थापित करके एकल लाई जाय जैसे—देखो ये नेत्र स्वभावसे ही खजनी चपत्ता लिए हुए हैं ।

३. तृतीय निर्दर्शना—उदाहरण रूपमें कार्य देलकर मला-शुभ पत्र कहना जैसे—तेजस्वीके आगे शक्ति निर्गत हो जाती है, महादेवजीके आगे कामदेव इनके प्रमाय हैं ।

जहाँ उपमानमें उपमेयमें कुछ विशेषता दिखाई जाती है वहाँ व्यतिरेक अलंकार होता है जैसे—सुप्त कमलके समान है पर (अधिक्य यह है कि) इसमें मीठी बात निकलती है । इसमें और प्रतीपमें केवल इतना ही भेद है कि इसमें सकारण प्रकृत रूपमें विशेषता कही जाती है, प्रतीपमें केवल 'अधिक है' इतना ही कहा जाता है ।

जब कई बातका एक साथ होना दिखकर चमत्कार प्रकट किया जाय वहाँ सहोक्ति अलंकार होता है जैसे—

आपकी कीर्ति और भावते हुए शत्रु साथ-साथ समुद्रतक पहुंचे ।

जहाँ किसी चमत्कारके साथ विनाशक प्रयोग किया गया हो वहाँ धिनीकि अलंकार होता है । यह दो प्रकारका होता है—

() जम किसी वस्तुके न रहनेसे उमेय क्षीण प्रवृत्त हो जैसे—तेरे नेत्र खजन सया कमलके समान होनेपर भी गिना अँजनके शोभा नहीं पाने ।

(२) जब उच्चतर होते हुए भी किसी वस्तुके न रहनेसे उमेय क्षीण लगे जैसे—हे प्रिय ! तुझमें रुबाईके प्रेमा (रुबाई छोड़कर) सभी गुण हैं । इसीलिये तू अपने प्रियमें कभी मान नहीं करता और तेष-प्रिय हृपर-उपर घृमता रहता है ।

जब वर्णन (कार्य, लिङ्ग तथा गुण) की समानताके कारण उपमेयमें उपमानका आरोप किया जाय तब समासोक्ति अलंकार होता है जैसे—संध्याके समय चन्द्रमाको देखकर कुमुदिनी फूज उठी है । यहाँ कुमुदिनीके खिलनेका वर्णन करनेके लिये यह किया गया है कि संध्या समय पतिका आनेसे रमणी प्रसन्न हो उठी है ।

जहाँ किसी विशेष अभिप्रायमें विशेषणका प्रयोग किया जाय है वहाँ परिहार अलंकार होता है जैसे—यह चन्द्र-मुखी रमणी हमारी ओर देखते ही ताप हरण कर लेती है । यहाँ ताप हरण करनेकी शक्ति चन्द्रमें होनेके कारण चन्द्र-मुखी विशेषण देना गया है ।

जब विशेषणका विशेष अभिप्रायमें प्रयोग होता है वहाँ परिहार अलंकार होता है जैसे—वह जाया, पतिको भीषी यहाँ भी नहीं भानती । यहाँ वामा (देहा) शब्द सामि-प्राय है ।

जहाँ एक शब्दके अनेक अर्थोंके साथ कुछ कहा जाता है वहाँ रत्न अलंकार होता है जैसे—विना पूर्ण रनेह (प्रेम, तेल) के मुख इतना नहीं चमक सकता ।

जहाँ प्रस्तुतके वर्णनके लिये केवल अप्रस्तुत द्वारा ही प्रस्तुतका वर्णन हो वहाँ अप्रस्तुत-प्राप्ता होता है जैसे—ब्रह्मनि शरदके चन्द्रमाका सार निकालकर राधाजीका मुख बनाया है । यहाँ राधाजीकी सुन्दरता वर्णन करना प्रस्तुत है पर उसके लिये कहा गया है कि ब्रह्मनिने चन्द्रमाका सार निकालकर बनाया है जो कारण है अतः अप्रस्तुत है ।

इसके भी कारण-निवन्धना, कार्य-निवन्धना, विशेष-निवन्धना, सामान्य-निवन्धना, साकल्प-निवन्धना आदि अनेक भेद हैं ।

जब एक प्रस्तुतका वर्णन करके दूसरे अर्थपर उमका अभिप्राय बताया जाय वहाँ प्रस्तुताकुर होता है जैसे—हे अग्नि ! जोमच जूठीको छोड़कर तू (कंठीले) केयड़ेपर कहाँ गया है ! तात्पर्य यह है कि हे पुरुष ! जोमल जूठी (भक्ति) को छोड़कर वंदाकारीय केवहाँ (सांसारिक मामा मोह) से कहीं फँस गया !

परायोक्ति दो प्रकार की होती है—(१) जिसमें कोई बात स्पष्ट न कहकर घचनचातुरीसे धुमा मिराकर कही जाय जैसे—वहाँ चतुर है जिसने तुम्हारे गलेमें बिना डोरी-की माला पहना दी है । नायकने अन्य स्त्रीका आलिंगन किया था जिससे उस स्त्रीके गलेकी मोतीकी मालाकी छाप उसके गले और छातीपर उभड़ आई है । नायिका इस चिह्नको देखकर इस प्रकार चातुर्यसे कही हुई उसे उपालम देती है ।

(२) जिसमें किसी अन्वये वहामेसे अपना इच्छित कार्य साधा जाय । जैसे, तुम दोनों यही उठो, हम तालाब-पर नहाने जाती हैं । मर्षा नायिका और नायकको एकत्र देखकर स्नान करनेके बशने वहाँमें टल जाती हैं ।

जहाँ निन्दाके बहाने स्तुति की जाय वहाँ व्याज-स्तुति होती है—जैसे हे गेमे ! तुम्हें क्या कहें, तुमने तो पापियोंको भी स्वर्गमें स्थान दे दिया । यहाँ स्वर्ग जैसे पवित्र स्थानको पापियोंके द्वारा अशुद्ध करना कहकर कर्मने निन्दाके बहाने गंगाजीको मोक्ष-दायिनी शक्तिकी स्तुति की है । साहित्यदर्पणमें व्याजनिन्दा अलंकार नहीं दिया गया है पर व्याजस्तुति का जो लक्षण दिया गया है उसीमें व्याजनिन्दाका भी लक्षण आ गया है । साहित्यदर्पणका लक्षण है कि जहाँ स्तुतिमें निन्दा और निन्दामें स्तुति प्रतीति हो वहाँ व्याज-स्तुति होती है किन्तु कुछ आचार्योंका मत है कि जहाँ एकही निन्दाके बहाने दूसरेकी निन्दा हो वहाँ भी व्याजनिन्दा माना गई है । जैसे—वह मूर्ख है जिसने चन्द्रमाको सदाके लिये क्षीण नहीं बनाया है ।

स्तुतिमें निन्दाका आभाव देना भी व्याज-निन्दा कहलाता है जैसे—हे सती ! तुम घन हो कि तुमने मेरे लिये मेरे प्रियके दन्त-नखके घाव सहे है ।

आक्षेप उसे कहते हैं जिसमें व्यंग्य या ध्वनिकी सूचना विशेष निषेधात्मक बणनद्वारा मिले । यह आक्षेप तीन प्रकार का होता है—

(१) जिसमें निषेधका आभास हो जैसे—मैं दूती होकर नहीं आइ हूँ, नायिकाका शरीर अग्निसे भी अधिक तप्त है, यही कहने आइ हूँ ।

(२) पहले कुछ कहकर उसका निषेध करना जैसे—हे चन्द्र ! तू दर्शन दे पर तेरा कुछ काम नहीं क्योंकि (चन्द्रमुखी) तूरीका मुख तो पास है ही ।

(३) इस प्रकार कहना कि निषेध गुप्त रहे जैसे—(हे प्रिय) आओ ! पर परमेश्वर मुझे यहीं जन्म दे जिस देशको तुम जा रहे हो ।

जब केवल विरोधका आभास मात्र हो, वास्तवमें विरोध न हो वहाँ विरोधाभास अलंकार होता है जैसे—निष्णु परदार प्रिय हैं । परदारका ठीक अर्थ लक्ष्मा होनेसे विरोध दूर हा जाता है ।

मारणके विना किसी कार्यका होना या कारण और कार्य-सम्बन्ध कुछ विशेष व्यञ्जनाका हाना विभावना कहलाता है । यह ६ प्रकारकी होती है—

१—अपूर्व कारणसे पूर्ण कार्यका होना जैसे—देखो कामदेवने केवल सुसुमनाग्न शयन लेकर ही ससारको जीत लिया ।

(२) विना कारणसे कायका होना जैसे—विना महानर लगाए तुम्हारे चरण लाल दिलाइ दे रहे हैं ।

(३) बाधा होते हुए भी कार्य पूरा होना जैसे—रात-दिन श्रुतिने पास रहनेपर भी नज मोहमे पड़े हुए हैं ।

श्रेयस श्रुतिका वेद अर्थ लेनसे मोहन मागम कक्षाट्ट पटनपर भी कार्य पूरा हो गया ।

(४) ऐसे कारणसे किसी कार्यका होना जो उसका कारण नहीं हो सकता जैसे—अभी कनूतरको हमने कौदलीकी बोली बोलते हुए सुना है ।

ताराय यह है कि कनूतरके समान कठवाली एक रमणी फोयल जैसी मीठी बोली बोलती है ।

(५) जिस कारणसे जैसा कार्य होना चाहिए वैसा न होकर-उससे उलटा होना जैसे—हे सखी ! चंद्रमा मुझे ताप ही देता है ।

(६) कार्यसे कारणकी उत्पत्तिका आभास मिले जैसे—

नेत्ररूपी मूङ्गनीसे यह आश्चर्यजनक नदी प्रवाहित हो रही है ।

नेत्रसे अश्रु का निरुत्पत्तना ठीक होते हुए भी मठलीसे नदी नहीं प्रवाहित होती ।

जहाँ कारण होते हुए भी कार्य नहीं होता वहाँ विशेष-योक्ति अलंकार होता है जैसे—शरीरके भीतर कामका दीप जलते हुए भी स्नेह (प्रेम और तेल) कम नहीं हुआ । इसके दो भेद हैं—उत्तगुण तथा अतुत्तगुण ।

जब किसी सम्माननाके नरहते हुए भा कोई कार्य हो जाय वहाँ असमन अलंकार होता है जैसे—कौन जानता था कि त्राव गोपसुत (वृष्ण) पहाड उठा लेगा ।

असंगति अलंकार तीन प्रकारका होता है—

(१) जब कार्य कहीं या कभी और कारण कहीं या कभी हो जैसे, कोयल (वसंत-आगमनसे प्रसन्न होकर) मत्त हुई और आमना मजरी क्षणने लगी (गायके कारण) ।

(२) जिस स्थानपर कार्यका हाना उचित है वहाँ न होकर दूसरे स्थानपर होना जैसे—तुम्हारे शत्रुकी रथीने हाथम तिलक (तिलोदक) ले लिया है ।

त्रियम अलंकार तीन प्रकारका होता है—

(१) दो अनमेल वस्तुओंका साथ होना । जैसे, कहीं तो खीका कोमल शरीर और कहीं यह निरदाग्नि ।

(२) कार्य और कारणके रग (राग रूप) भिन्न-भिन्न हो जैसे—तेरे काना तलनारलतासे श्वेत कीर्ति उत्पन्न हुई ।

पॉचनी विभावनासे इसमें यदी भिन्नता है कि उसम कार्य और कारण भिन्न होते हैं, किन्तु त्रियममें कार्य और कारणमें भिन्नता न होते हुए केवल ग्राहरी रूप ही भिन्न होता है ।

(१) अग्ले कार्यका लुगा फन हो जैसे—सखीने जो कपूर लगाया उसने शरीरको ताप ही दिया ।

सम अलंकार (विषमका उल्टा तीन प्रकारका होता है—

(१) एक दूसरेके योग्य वस्तुओंका साथ होना जैसे—अपने योग्य समझकर हारने स्त्राके वधस्थलपर जाकर डेरा डाल लिया ।

(२) कार्य और कारणमें सम प्रकारकी समानता हो

ले—यदि लक्ष्मी नीचवर्गमिनी हो तो आश्चर्य नहीं लौकिक उपकी उल्लंघित ही जलसे है ।

(३) पूर्ण सपनेके बिना काम करते ही फलको प्राप्ति होता जैसे—उत्तरे परा पानेकी इच्छा की और यह उसे मिल गया ।

इच्छावृत्त कल पानेके लिये बहो उत्तरे उत्तर प्रयत्न दिलाया आप है वहाँ विचित्र अलंकार होता है जैसे—पवित्र मनुष्य उच्चता (उन्नति) प्राप्त करनेके लिये नम्रता ग्रहण करते हैं ।

अधिक अलंकार दो प्रकारका होता है—

(१) जब आशयसे आशयकी अधिकता या विरोधता दिलायाई जाय जैसे—गुप्ताई परा सात द्वीप और नौ सतों में भी मनु सना रहा है । यहाँ आशय परमों विरोधता दिलायाई गई है ।

(२) जब आशयसे आशय बढकर अर्थात् अधिक हो जैसे—यह शब्द-सिद्ध विनाया बड़ा है जिससे गुप्ताई गुणोक्त पर्यन्त किया जाता है ।

इसमें आधार शब्द-सिद्धकी विशेषता प्रदर्शित होती है । इस अलंकारके लिये आधार-आशय स्पष्ट होने चाहिये ।

जब आशयसे आधार ज़ीदा हो तब आप अलंकार होता है जैसे—को अंपुटो संमलौमें प्लनी पलो भी यह अब हाथों पहनी जाने लगी ।

यहाँ अधिक मुं दारोंकी अपेक्षा आधार हाथका अधिक प्रथम होना दिलायाया गया है ।

बहाँ दो वस्तुओंके किसी गुणका एक दुसरेके कारण उत्पन्न होना वर्णन किया जाय वहाँ अन्वय अलंकार होता है जैसे—चन्द्रगाथे राविकी और राविके चन्द्रमाको रोमा है ।

निगम अलंकार तीन प्रकारका होता है—

(१) जब आशयका कोई आधार न हो जैसे—आकाश-रिषित अंबन-सोतामें एक स्वच्छ फूल लगा हुआ है ।

आशय-गंगाको लता तथा चन्द्रमाको (आकाश-) पुष्प माना है जो जिना आधार (वृक्षके तने) के आधारमें रहता है ।

(२) जब गौड़े आरमकी पल-सिद्धि बहुत हो जैसे—नेत्रोंने तुम्हें देखते ही कलहल देख लिया ।

(३) एक ही वस्तुना अनेक स्थानोंपर वर्णित होना जैसे—यही सुन्दरी मेरे हृदयमें, आँह और दलों दिशाओंमें पाय कर रही है ।

व्यापार अलंकार दो प्रकारका होता है—

(१) जब ऐसी किसी वस्तुसे विरोधता काय्यका होता दिलायाया जाय जिससे कोई निश्चित कार्य ही हुआ करता हो जैसे—जिनसे (फूलोंसे) संसारको तुल मिलता है उन्हींसे कामदेव हमें मार रहा है ।

(२) जब किसी तर्कको उलटकर उसको विरोधी पक्षका समर्थन किया जाय जैसे—यदि आप सचमुच हमें बालक समझते हैं तब क्यों छोड़े जा रहे हैं ।

यहाँ कितने कारणसे उत्पन्न कार्य किसी अन्य कार्यका कारण बतलाया जाय और क्रमशः इस प्रकार दो या दोष अधिक कारण हो वहाँ कारणमात्रा अलंकार होता है जैसे, नीलसे घन, पनसे त्पान और त्यागसे बराकी श्रमि रोगी है । कारणमात्राको मुं-पर-रक्षा भी कहते हैं ।

जब कई वस्तुओंका क्रमशः प्रत्यक्ष और त्यागके रूपमें उल्लेख हो और पहले कथित वस्तुके प्रति पीछे कही हुई वस्तुका विशेषण मानने स्थापन किया जाय वहाँ एकावली अलंकार होता है जैसे—आँल नानलक, कान बाहुलक और बाहु सुदनेतक पहुचने है । पूर्व-कथित आँल, कानों तथा बाहुओंके प्रति पीछे कहे हुए कानलक, बाहुलक और सुदनेतक विशेषण रूपमें लाय गए हैं ।

एकावलीका दूसरा भेद यह है जिसमें पूर्वकथितके प्रति उत्तरोत्तरकथितका विरोधता मानने निगम किया जाय । जैसे—बहाँ वृद्धगण न हो यह समा सोमा नहीं प्रती और वे वृद्ध भी ठीक नहीं हैं जो धर्मको बात नहीं करते और यह धर्म नहीं बितने लय न हो ।

दीपक और एकावली नामक अलंकारोंके मिला लेने पर माला-दीपक अलंकार होता है जैसे—स्वीका हृदय कामदेवका मन्दिर है और तुम स्वीके हृदयके मन्दिर हो ।

यहाँ मिन-मिन्मन कारणसे नायिकाका हृदय तथा नायिका दोनों ही कामदेवके वास्तव्यन हुए इससे दीपक हुआ और पूर्वकथितके प्रति उत्तरकथितको विशेष-यत्नसे स्थापनी को गई इससे एकावली हुई ।

क्रमशः गुणोकी उत्तरोत्तर बढ़ावे हुए जब कई वस्तुओंका वर्णन किया जाय वहाँ वार अलंकार होता

है जैसे—मधु से अमृत अधिकतर मधुर है और कविता उससे भी अधिक मधुर है ।

जब कुछ वस्तुओंका उल्लेख करके पुनः उसी क्रमसे उनके गुण, क्रिया आदिका वर्णन किया जाय तब यथासंभव अलंकार होता है जैसे—उसने शत्रु, मित्र तथा विपत्तिको दमन, प्रसन्न और नष्ट कर दिया है ।

क्रम ठीक न रहनेसे क्रम-भंग दोष होता है ।

पर्याय अलंकार दो प्रकारके होते हैं—

(१) जब अनेक वस्तुओंका एकके ही आश्रित होनेका वर्णन हो जैसे—पैरोंमें पहले चपलता थी पर अब मंदता आ गई है ।

(२) जब एक वस्तुके क्रमशः अनेक आश्रय लेनेका वर्णन हो जैसे—स्त्रीकी मुख शोभा कमलको छोड़कर चन्द्रमामें आ बसी है ।

रात्रिमें कमल सुरक्षा जानेसे उसकी उपमा स्त्री-मुखसे न दी जाए चंद्रसे दी जाती है । इसके विपरीत दिनमें कमलसे उपमा दी जाती है ।

जहाँ थोड़ा देकर अधिक लेनेका वर्णन [हो वहाँ परि-वृत्ति अलंकार होता है जैसे—अरी (नायक) एक बार बाण चलाकर (नायिकाका) शोभायुक्त कटाक्ष ग्रहण कर रहा है ।

जब उसीके समान एक दूसरेको व्यंग्यसे वर्णित करनेके अभिप्रायसे किसी बातका दूसरे स्थानपर होना कहा जाय वहाँ परिसंख्या अलंकार होता है जैसे—रनेह (तैल-प्रेम) का हृदयमें नाश नहीं हुआ वरन् दीपकमें जाकर हुआ ।

तात्पर्य यह है कि परिसंख्यामें किसी वस्तु, गुण आदिको उनके उपयुक्त स्थानोंसे हटाकर किसी एक विशेष स्थानपर स्थापित किया जाता है जैसे—रामके राज्यमें नदियोंमें ही बुटिलता थी, मनुष्योंमें नहीं ।

जब दो बातोंमें यह निश्चय न हो कि ऐसा होगा या वैसा वहाँ निश्चय अलंकार होता है जैसे—नायिका कहती है कि मेरे दुःखका अंत या तो यम करेगा या मेरे पति ।

समुच्चय अलंकार दो प्रकारका होता है ।

(१) जब अनेक भाव एक साथ हो उत्पन्न हों जैसे—तुम्हारे शत्रु भागते हैं, गिरते हैं और फिर डरके मारे भागते हैं ।

(२) अनेक कारण मिलकर एक कार्य करना चाहें जिसके लिये एक ही पर्याप्त हो जैसे—यौवन, धिधा, धन और कामदेव मद उत्पन्न करते हैं । इनमें एक ही मद उत्पन्न करनेको बहुत है तिस पर भी अनेक कारण कहे गए हैं ।

जब कई एक क्रियाओं या भावोंका क्रमशः एकमें ही (कक्षांमि) वर्णन किया जाय वहाँ कारक दीपक अलंकार होता है जैसे—देखकर जाती है, आती है, हँसती है और शानकी बातें पूछती है ।

अन्य कारणके मिल जानेसे जहाँ कार्य सुगम हो जाय वहाँ समाधि अलंकार होता है जैसे—स्त्रीकी ज्यों ही इच्छा हुई (कि पति से मिलें त्यों ही) सूर्यास्त हो गया ।

जब प्रबल शत्रुसे परास्त न होकर (उससे पीर न पाने-पर) कहीं मित्रोंका अहित करना दिखाया जाय वहाँ प्रत्यनीक अलंकार होता है जैसे—नेत्रोंके समीपस्थ कानोंपर कमलोंमें धावा बोल दिया ।

कमलोंने नेत्रोंसे सौन्दर्यमें परास्त होकर उसके समीपस्थ कानोंको उनका मित्र मानकर उनका अहित किया अर्थात् कर्णफूल बनकर, जो कमलके आकारका होता है कानोंको नीचे खींचन लगे ।

मित्र पक्षका हित करना भी इसी अलंकारके अन्तर्गत माना जाता है ।

‘जब इस प्रकार हुआ तब ऐसा क्यों न होगा’ कहकर जहाँ वर्णन किया जाय वहाँ प्रत्यनीक अलंकार होता है जैसे—जब मुखने चन्द्रमापर (सौन्दर्यमें) विजय पा लिया तब कमलकी क्या बात है (अर्थात् निससदह नह प्राप्त होगा) ।

वैमुक्तिक न्यायसे जब कोई बड़ी बात हो गई तब छोटीके होनेमें सन्देह न रहना ही इस अलंकारकी विशेषता है ।

जब किसी बड़ी हुई बातका युक्तिके साथ समर्थन किया जाय वहाँ काव्यलिंग अलंकार होता है जैसे—हे मदन ! जिस धिवने तुम्हें परास्त किया था उसकी मैंने हृदयमें धारण किया है, (इत्थलिये मुझे अब मत सताओ नहीं तो तुम्हारा नाश निश्चय है) ।

इस अलंकारमें एक पद या एक वाक्यके अर्थके कारण दिखलाए जानेसे दो भेद—पदार्थ-हेतु और वाक्यार्थ-

हेतु माने गए हैं। जब विशेष बातसे सामान्यका समर्थन किया जायें वहाँ अर्थान्तरन्यास होता है जैसे—राजकीकी कुपारसे पर्वत भी जलमें उतराने लगे, महान् पुरुष क्या नहीं कर सकते।

जिस प्रकार विशेषसे सामान्यका समर्थन होता है उसी प्रकार विशेषका सामान्यसे भी होता है और ये दोनों साधर्म्य या वैधर्म्य द्वारा किए जाते हैं।

जब विशेष बातका सामान्य तथा पुनः विशेषसे समर्थन किया जाय तब विकल्पर अलंकार होता है जैसे—कृष्णजीने गोवर्धन पर्वत धारण किया, सत्पुरुष सब भार (वज्र) सहन करते हैं जिस प्रकार श्येननाग सहन करते हैं।

भारती-भूचरणमें इसके दो भेद किए गए हैं। एकमें अन्तिम विशेष बात/उपमानके रूपमें आती है, दूसरेमें उपमान रूपमें नहीं आती।

उत्कर्षका हेतु जो नहीं होता वहाँ हेतु जब कल्पित कर लिया जाता है तब प्रौढौक्ति अलंकार होता है जैसे—तेरे केश बादलसे पूर्ण अमावास्याकी भाँतिके अंधकारसे भी घने काले हैं।

‘मदि ऐसा हो तो ऐसा हो’ कहकर जब वर्णन किया जाता है तब सम्भावना अलंकार होता है जैसे—रदि श्येननाग बका होते तो तुम्हारे गुणों (के कथन) का पार पा सकते।

जब एक असंभव बातका होना दूसरी असंभव बातपर निर्भर हो तब मिथ्याध्वरसित अलंकार होता है जैसे—यदि हाथमें पाय हो तो नववधू प्रीति करे।

जो कुछ कहना हो उसे स्पष्ट न कहकर उसका प्रतिबिम्ब मात्र कहा जाय वहाँ ललित अलंकार होता है जैसे—सुल बौधकर अथ क्या करोगे, अथ तो जल उतर गया।

प्रहर्षण (आनन्द) अलंकारके तीन भेद होते हैं—

(१) बिना यत्नके इच्छित फलका प्राप्त होना जैसे—जिसके लिये हृदय तड़पता था वहाँ दूती बनकर आ पहुँची है।

(२) बिना प्रयत्नके जब इच्छासे अधिक फलकी प्राप्ति हो जैसे—दोषक बजानेकी तैयारी कर ही रहे थे कि सूर्योदय हो गया।

(३) जब वांछित पदार्थके प्राप्त्यर्थ उद्योगकी तैयारी करते ही वह पदार्थ मिल जाय जैसे—(पुर्वामें गड़े हुए

घनको देखनेके लिये) निधि-अंजनकी ओरथि खोजते समय आदि कारण (घन) ही मिल गया।

जब इच्छाके विरुद्ध फल हो वहाँ विपरीत अलंकार होता है जैसे—नीचीपर हाथ डालते ही कुक्कुटकी घनि (संघेप होनेकी सूचना) सुनाई पड़ी।

जब एकके गुण या दोषसे दूसरेमें गुण या दोषका होना दिखलाया जाय वहाँ उल्लास अलंकार होता है जैसे—गंगाजीको यह आशा है कि सज्जन स्नान करके उन्हें पावन कर देगे।

गुणसे गुण, दोषसे दोष, गुणसे दोषतथा दोषसे गुणका होना दिखलानेके कारण यह अलंकार चार प्रकारका होता है।

जब एक वस्तुके गुण या दोषसे दूसरी वस्तुका गुण या दोष न प्राप्त करना कहा जाय वहाँ अवज्ञा अलंकार होता है जैसे—चन्द्रमाकी किरणोंके लगानेपर भी कमल नहीं खिलता। गुणसे गुण तथा दोषसे दोष न प्राप्त होनेके भेदसे यह दो प्रकारका होता है।

जब दोषमें भी गुण मान लिया जाय वहाँ अतृष्णा अलंकार होता है जैसे—वह विपत्ति आवे जिससे भगवान् सदा हृदयमें रहे।

जब गुणमें दोषकी और दोषमें गुणकी कल्पना की जाय वहाँ लेख अलंकार होता है जैसे—इसी मीठी बोलीके कारण सुग्ग पींजरेमें बन्द हुआ।

जब किसी पदके एक अर्थमें से ही दूसरा अर्थ भी निकलता हो उसे मुद्रा अलंकार कहते हैं जैसे—कोई नायिका कहती है कि हे अलि! वहाँ क्यों नहीं जाता जहाँ रत्नोली-बास है। साथ ही नायिकाके कहनेका यह भी तात्पर्य है कि सखी! वहाँ क्यों नहीं जाती जहाँ उस रत्नीली (अन्य नायिका) का वासस्थान है क्योंकि तुम्हारा मिय वही है।

जब प्रस्तुत पदके मुख्य अर्थके साथ क्रमसे अन्य नाम भी निकलें वहाँ रत्नावली अलंकार होता है जैसे—इ रसिक तुम चतुर्मुख (चतुर्गों में मुख), लक्ष्मीपति (घनी) तथा सब जानोंके धाम (शानी) हो।

इस प्रस्तुत अर्थके साथ-साथ चतुर्मुखसे ब्रह्मा, लक्ष्मीपतिमें विष्णु और शानोंके धाममें शिवके नाम भी निकलते हैं।

जब कोई वस्तु अपना रंग छोड़कर समीपवर्ती

वस्तुका रंग प्रदग्ग करे वहाँ तद्गुण अलंकार होता है जैसे—बेसरका मोती झोठ (की लालिमा) से मिलकर मणिक (सूत) की शोभा देता है ।

पूर्वरूप अलंकार दो प्रकार का होता है—

(१) जब समीपवर्तीका गुण लेकर पुनः उसे छोड़कर अपना पूर्वरूप धारण कर ले जैसे - (नीलकण्ठ) शिवजीके गलेमें पहनेसे शेष श्याम हो गया पर पुनः उनके उज्वल शरके कारण श्वेत हो गया ।

(२) जब समीपवर्तीका गुण समाप्त हो जानेपर वह गुण दूर न हो जैसे—दीपक सुभ्र देनेपर भी उसके कमरन्दके मणियोंके कारण उजाला बना रहा ।

जब समीपवर्तीके गुणका कुछ प्रभाव ही न हो वहा अतद्गुण अलंकार होता है जैसे—इगारे अतुरक हृदयमें रहनेपर भी प्रियमें अनुभाग नहीं उत्पन्न हुआ ।

जब समीपवर्तीके गुण अधिक बढ़े वहाँ अतद्गुण अलंकार होता है जैसे—हृदयकी प्रसन्नता (हस्य) से मोतीकी माला अधिक श्वेत हो उठती है ।

अधिक समानताके कारण जब भेद अर्थात् भिन्नता स्पष्ट न हो वहाँ मीलित अलंकार होता है जैसे—रंगके लाल रंगके पैरोंमें लगा हुआ महार एसा मिल गया है कि अलग नहीं जान पड़ता ।

जब समानताके कारण विरोध भेद न जान पड़े वहाँ सामान्य अलंकार होता है जैसे—अपलक नेत्र, कान और कमलमें सनिक भी अन्तर नहीं जान पड़ता ।

जब किसी एक कारणसे समानतामें भेद प्रकट हो वहाँ उन्मीलित अलंकार होता है जैसे—कीर्तिके सामने दिमान्य चूनेसे पहचाना जाता है ।

समतममें भी जब विरोध भेदसे भिन्नता प्रकट हो जाय वहाँ विरोधक अलंकार होता है जैसे—स्त्रीमुख और कमलका अन्तर सन्ध्याके समय चंद्रदर्शनके अनन्तर ही समझमें आया ।

जब किसी गूढ अभिप्रायमें कोई बात कही जाय वहाँ गूढोत्तर अलंकार होता है जैसे—हे पणिक ! वहाँ उस धेतकी भाङ्गीमें उतरने योग्य भरना है ।

इसमें गुप्त रूपसे संवेतस्थान बतलाना भी इष्ट है ।

जब एक ही वाक्यमें प्रश्न और उत्तर दोनों मिलें

वहाँ चित्र अलंकार होता है जैसे—का घीतनवादिनी गंगा । उत्तर है—काशीतनवादिनी गंगा ।

इस अलंकारका एक भेद और है कि जब कई प्रश्नोंका एक ही शब्दसे उत्तर निकले । चोड़ा अड़ा क्यों, पान सड़ा क्यों ! उत्तर—फैरा न था ।

जब दूसरेका अभिप्राय समझकर ऐसी चेष्टा की जाय जिससे उत्तर पर यह प्रकट हो जाय कि उसका अभिप्राय समझ लिया गया तब सूक्ष्म अलंकार होता है जैसे—मैंने उसकी धोर देखा तब उसने अपना धीधमण्य बालोंमें छिपा लिया ।

प्रेमीके मिलनेका समय केवल दृष्टि से ही पूछनेपर नायिकाने उसके अभिप्रायको समझकर धीधमणिको बालोंमें छिपाकर वह बतलाया कि रात्रिमें मिट्ठी गी ।

जब दूसरेके मनकी बात जानकर क्रियाद्वारा अपना भाव प्रकट किया जाय वहाँ पिरित अलंकार होता है जैसे—सत्रे पतिको शैया पर आते ही स्त्री हँसकर उसका पाँव दाबने लगी ।

अर्थात् स्त्री यह भाव प्रकट करती है कि तुम रात्रि भर कहीं दूसरे स्थान पर रहे हो इसने पक गय हो । उसी यत्नावटको दूर करनेके लिये मैं तुम्हारा पाँव दाबती हूँ ।

जब वशनेसे किसी प्रत्यक्ष सत्य कारणको छिपाकर कुछ और कहा जाय वहाँ व्यञ्जित अलंकार होता है जैसे—हे सखी ! मुझेने दाँतोंको अन्तर समझकर मँर आघरपर यह धाव कर दिया है (धियने नहीं) ।

जब कोई गुप्त बात किसी औरके बहाने किसी दूसरेमें प्रति कही जाय वहाँ गूढोक्ति अलंकार होता है । जैसे—हे सखी ! कल मैं महादेवजीके पूजनको जाऊँगी ।

यहाँ नायिका सल्लोको कहनेके बहाने पाठ खड़े हुए प्रेमीको सुना रही है कि कल महादेवजीके मन्दिरमें भेंट होगी ।

जब प्रकट रूपसे कुछ कहकर स्तोत्रद्वारा उसे छिपाया जाय वहाँ विवृतोक्ति अलंकार होता है जैसे—सैनेसे दिखाकर कहती है कि महादेवजी (प्रिय) की पूजा करो ।

जब किसी कृत्यका नाम दूसरे कृत्यसे छिपाया जाय वहाँ युक्ति अलंकार होता है जैसे—पतिके पिदा होते ही

ऑसू निकल आए पर उन्हें पौछते समय उसने
बैभाई ली अर्थात् उसने जैभाई लेनेको ही ऑसू
निकलनेका कारण प्रकट करना चाहा ।

लोक-प्रवादमें प्रचलित उक्तिका जब प्रयोग किया
जाय तब लोकोक्ति अलंकार होता है जैसे—रिखटका दुःख
छातीपर पत्थर रखकर सहूँगी ।

जब प्रचलित उक्तिका सार्थक प्रयोग किया जाय वहाँ
हेक्कोकि अलंकार होता है जैसे—जो गायको फेर लाये
उसे ही अर्जुन समझो ।

बिराटकी गायोंको अर्जुन कौरवोंसे छीनकर फेर
लाए थे । यह अब एक साधारण उक्ति हो गई है
जिसका तात्पर्य है कि जो कठिन काम कर सके उसे ही
वीर समझना चाहिये, केवल बात बनानेसे काम नहीं
चलेगा ।

जब कही हुई बातका श्लेष (या क्रोध आदिसे
विस्तृत) स्वरसे दूसरा अर्थ लगाया जाय वहाँ वक्कोकि
अलंकार होता है जैसे—आइए रतिकशिरोमणि ! पर घर
आपकी कीर्ति गई जा रही है । यहाँ नायिका क्रोधके
कारण ध्वंश से उल्टा कह रही है । उसका तात्पर्य यह है
कि तुम भूँटे प्रेमी हो और सभी तुम्हारी गुणों करते हैं ।

जब किसीका वर्णन उन्नती अवस्था, स्वभाव आदिके
अनुसार ही किया जाय वहाँ स्वभावोक्ति अलंकार होता है
जैसे—वह हँसकर देखती है, फिर फिर झुका लेती है
और इतराकर मुख घुमा लेती है ।

जब भूत या भावध्वकी बातोंका वर्तमानके समान
प्रत्यक्ष रूपमें वर्णन हो वहाँ भाविक अलंकार होता है ।
जैसे—आज भी वह लीला वृंदावन मे (प्रत्यक्ष सी होती
हुई) मुखे दिखलाई पड़ती है ।

भूतकालमें देखी हुई लीलाकी स्मृति घेसी तीव्र है
कि नायिकाको वह उस समय भी होता हुई सी जान
पड़ती है ।

जब किसीके थोड़े गुणका परिचय देकर उससे बहुत
बढ़ा-बढ़ा वर्णन प्रकट किया जाय वहाँ उदात्त अलंकार
होता है जैसे—उसकी थोड़ी सी ही बात सुनकर तुम अब
उसके वधा ही जाते हो तो भगवान् ही बचावे । 'अली कली
ही तै बिधो' इसका सुन्दर उदाहरण है ।

उदात्त दो प्रकार के होते हैं—(१) जब किसीके

उत्ती प्रशंसनीय चरित्रका उल्लेख ही जो अन्यके साथ
सम्बन्ध रखता हो । (२) जब (संभाव्य) विभूतिका
बढ़ा-बढ़ाकर वर्णन किया जाय ।

जब किसीके गुण आदिका अत्यन्त बढ़ाकर वर्णन ही
वहाँ अत्युक्ति अलंकार होता है जैसे—राजन् । तेरे दामसे
मिलनेमे भी कलतक हो गए ।

अन्त लक्षणकारोंका मत है कि यह वर्णन अद्भुत
और भूँठ होना चाहिये ।

जब किसी शब्दका समुक्ति किन्तु मनमाना अर्थ किया
जाय वहाँ निवक्ति अलंकार होता है जैसे—हे उद्धव !
कृष्णजी कुब्जाके वशमें हो गए, वे सचमुच निर्गुण हैं ।
यहाँ निर्गुणका अर्थ गुणोंमें रहित अर्थात् मूर्ख लिया
गया है । पर निर्गुणका प्रधान अर्थ है—जो सत्व, रज
और तम तीनों गुणोंसे परे हो । यहाँ दूसरा अर्थ जो
लिया गया है वह मनमाना होते हुए भी युक्तियुक्त है ।

जब प्रसिद्ध अर्थका निषेध इस प्रकार किया जाय कि
कुछ विरोध अर्थ निकले तब प्रतिषेध अलंकार होता है
जैसे—कृष्णजीके हाथकी यह मुस्ली नहीं है, कोई बड़ी
चला है ।

जब किसी शब्दके साधारण अर्थपर विरोध बत
दिया जाय वहाँ विधि अलंकार होता है जैसे—कोयल
तमी कोयल है जब कतुमे वह (अपनी माँठी) बोली
मुनाता है ।

हेतु अलंकार दो प्रकारका होता है—

(१) जब कारण और कार्य एक साथ होते कहे
जायँ जैसे—मानिनीका मान मियाने तो चन्द्रमा उदित
हुआ ।

(२) जब कार्य और कारण एकमे ही सम्मिलितसे
कहे जायँ जैसे—तुम्हारी कृपा ही मेरी ऋद्धि और
समुद्धि है ।

शब्दालंकार—

अनुप्रास अलंकार तब होता है जब किसी पदमें एक
ही अक्षर बार-बार बार उठ पदकी अधिक शोभा
बढ़ाये ।

इसके पाँच भेद हैं ।

द्वैतानुप्रास, त्रुत्यनुप्रास, श्रुत्यनुप्रास, लायानुप्रास और

अन्यानुप्रास । छेकानुप्रास उसको कहते हैं जिसमें कई व्यंजनोक्ति, स्वरके एक न रहते हुए भी, (कुछ ही अन्तर पर) प्रत्येककी दो बार आहृति हो जैसे—ओलोंमें अंजन, कानोंमें कनफूल पढ़ते हैं ।

जब शब्दों और पदोंकी आहृति हो पर (अन्वयके भेदसे) अर्थमें भेद हो तो लाटानुप्रास होता है जैसे—

प्रिय समीप जिसके, नहीं धाम चाँदनी ज्योति ।

प्रिय समीप जिसके नहीं, धाम चाँदनी ज्योति ।

जब एक ही अक्षरकी कई बार आहृति हो तब बहुप्रास होता है ।

अन्यानुप्रास उन सभी छन्दोंमें होता है जिनमें पहले और तीसरे या दूसरे और चौथे चरणोंके अन्तमें तुक मिल जाता हो । सभी तुकान्त छन्दोंमें अन्यानुप्रास होता है ।

जब केवल शब्दोंके सुननेमें आहृति हो पर अर्थ भिन्न हो वहाँ यमक होता है । जैसे—कनकसे कनकका मद अधिक होता है ।

बनेक धवियों, लेखकों और महापुरुषोंने सखलों वर्णोंमें जो अपने अद्भुत भाषा प्रयोग किए हैं वे सब अलंकार बन गए हैं अतः उनका ज्ञान तो नाटककारको होना ही चाहिए किन्तु नाटककारको इनका दास नहीं होना चाहिए ।

भरवने अपने नाट्यशास्त्रमें केवल चार अलंकार हैं, नाटकके लिये उपयोगी माने हैं—उपमा, रूपक, दीपक और यमक । इन अलंकारोंके भी उन्होंने जो भेद किए हैं वे अन्य आचार्योंकी व्याख्यासे नहीं मिलते अतः उनपर विचार करना अरुक्त आवश्यक है । वे कहते हैं—

चत्वारोऽलंकाराः—

उपमा रूपकं चैव दीपकं यमकं तथा ।
अलङ्कारस्तु विशेषाश्चत्वारो नाटकाश्रयाः ४३ ॥
यत्किञ्चित्काव्यकञ्चेषु सादृश्येनोपमीयते ।
उपमा नाम विशेषा गुणाद्वृत्तिसमाश्रया ॥ ४४ ॥
एकस्यैकेन सा कस्यानेकेनान्यथा पुनः ।
अनेकस्य तस्यैकेन बहूना बहुमित्तया ॥ ४५ ॥
तुल्यं ते शयिना यत्रत्रिमिति श्लोकृता भवेत् ।
एकल बहुभिः सा स्यादुपमा नाटकाश्रया ॥ ४६ ॥

शाराङ्गत् प्रकाशन्ते ज्योतीपीति भवेत्तु या ।
एकस्थानेकविषया सोपमा परिकीर्तिता ॥ ४७ ॥
शयनबर्हिणमाशानां तुलयाश्चै इति या भवेत् ।
एकस्य बहुभिः सास्यादुपमा नाटकाश्रया ॥ ४८ ॥
तुल्यं ते शयिना यत्रत्रिमित्येकऽनेकवश्रया ।
बहूना बहुभिर्ज्ञेया घना इव गवा इति ॥ ४९ ॥
प्रशया चैवृन्निदा च कल्पिता सदृशी तथा ।
किञ्चिद सदृशी ज्ञेया ह्युपमा पञ्चधा बुधैः ॥ ५० ॥

प्रशंसा यथा—

दृष्ट्वा तु ता विशालाक्षीं तुल्ये मनुजाधिपः ।
मुनिभिः साधितां कृच्छ्रात् सिद्धिर्भूतिमतीमिव ॥ ५१ ॥
सा तं सर्वगुरौर्हीने सर्वज्ञे कर्कशच्छत्रिम् ।
वने कण्ठगतं बह्वी दावदग्धमिव द्रुमम् ॥ ५२ ॥

कल्पिता यथा—

क्षरन्तो दानसलिलं लीलामन्धरगामिनः ।
भतङ्गवा विराजन्ते जङ्गमा इव पर्वताः ॥ ५३ ॥

सदृशी यथा—

यशसाय कृतं कर्म परचितानुरोधिनी ।
सदृशं तत्तपेव स्यादतिमानुषकर्माङ्ग ॥ ५४ ॥

किञ्चित्सदृशी यथा—

सम्पूर्णचन्द्रवदना नीलोत्पलदलेक्षणा ।
भक्तमातङ्गवदना संघातेय सर्वा मम ॥ ५५ ॥
उपमाया बुधैरेते भेदा ज्ञेया समासतः ।
शेषाय लक्षणैर्नोच्चारते ग्राह्या काव्यलोकतः ॥ ५६ ॥
नानाद्वयानुपमाद्यैर्वदीभ्यं गुणाश्रमम् ।
रूपनिर्वर्णानुक्तं तद्रूपकमिति स्मृतम् ॥ ५७ ॥
स्विकल्पेन रचितं तुल्यावयवलक्षणम् ।
किञ्चित्सादृश्यमयमनं यद्रूपं रूपकं तु तत् ॥ ५८ ॥

यथा—

पद्माननास्ताः सुमुदप्रहासा विकारिनीलोत्पलचारुनेत्राः ।
वागीरिययो हंसतुलैर्दक्षिणैरेजुःस्थोन्मिवाह्वयन्त्यः ॥
नानाधिकरणस्थाना शब्दानां संप्रदीपतः ।
एकवाक्येन संयोगो यत्तद्दीपकमुच्यते ॥ ६० ॥

यथा—

सरांसि हंसैकुसुमैश्च वृक्षा मसौद्विरेकैश्च सरोरुहाणि ।
 मोयीमिषयानवनानि चैव तस्मिन्मध्यस्थानि सदा
 क्रियन्ते ॥ ६१ ॥
 शब्दाभ्यासस्तु यमकं पादादिषु विकल्पितम् ।
 विशेषदर्शनञ्चास्य गदतो मे निबोधत ॥ ६२ ॥
 पादान्तयमकं चैव काञ्चीयमकमेव च ।
 समुद्रयमकं चैव विक्रान्तयमकं तथा ॥ ६३ ॥
 यमकं चक्रवर्त्तं च सन्दृष्टयमकं तथा ।
 पदादियमकं चैव आग्नेडितमथापि च ॥ ६४ ॥
 चतुर्व्यवसितञ्चैव मालायमकमेव च ।
 एतादृशविधं ज्ञेयं यमकं नाटकाश्रयम् ॥ ६५ ॥
 चतुर्णां यत्र पादानामन्ते स्यात्सममक्षरम् ।
 तद्दे पादान्तयमकं विशेष्यं नामतो यथा ॥ ६६ ॥

यथा—

दिनस्यवात् संहरार्शमण्डलं
 दिनीवलग्नं तपनीयमण्डलम् ।
 विभाति ताम्रं दिवि स्यमण्डलं
 यथा तदप्याः स्तनभारमण्डलम् ॥ ६७ ॥
 पादस्यान्ते यथा चादौ स्यातो तत्र समे पदे ।
 तत्काञ्चीयमकं चैव विशेष्यं सूत्रिभिर्यथा ॥ ६८ ॥
 माया मायाचन्द्रवतीनां द्रवतीनां ।
 व्यक्ता व्यक्तासारजनीनां रजनीनाम् ।
 पुल्ले पुल्ले सम्भ्रमेवा भ्रमे वा ।
 रामा रामा विस्मयते च स्मयते च ॥ ६९ ॥
 अयंनैकेन यद्भूतं सर्वमेव समाप्यते ।
 समुद्रयमकं नाम तच्चयं पण्डितैर्यथा ॥ ७० ॥
 केतकीमुकुलपाण्डुरदन्ताः
 शोभते प्रवरकानन हस्ता ।
 केतकीमुकुल पाण्डुरदन्तः
 शोभते प्रवरकानन हस्ती ॥ ७१ ॥
 एकैकं पादमुकम्प्य द्वौ पादौ सट्शौ यदि ।
 विश्रान्तयमकं नाम तद्विशेषमिदं यथा ॥ ७२ ॥
 सपूर्वं धानरो भूत्वा द्विशृङ्ग इव पर्वतः ।
 अभवदन्तवैकल्यात् दिशृङ्ग इव पर्वतः ॥ ७३ ॥

पूर्वस्थान्तेन पादस्य परस्थादिर्यदा समः ।
 चक्रवर्त्तकपालं तु विशेष्यं नामतो यथा ॥ ४॥
 दौलायथा मुत्रुमिराहता हता
 हताश्च बाणैरुपुङ्गुपुङ्गे ।
 खगोश्च सर्वैर्युधि सञ्जिताञ्जिता ।
 श्चेताधिक्रुदा हि हता हता नराः ॥ ७५ ॥
 आदौ द्वौ यत्र पादौ तु भवेतामक्षरैः समौ ।
 सन्दृष्टयमकं नाम विशेष्यं तदुच्येयंथा ॥ ७६ ॥
 यत्र यस्य रमणस्य मे गुणा
 येन येन वशगां करोति माम् ।
 येन येन हि समेति दर्शनं
 तेन तेन वशगां करोति माम् ॥ ७७ ॥
 आदौ पादस्य यत्र स्यात् समावेशः समाक्षरः ।
 पादादियमकं नाम तद्विशेष्यं बुधैर्यथा ॥ ७८ ॥
 विष्णुः सञ्जति भूतानि विष्णुः संहरति प्रजाः ।
 विष्णुः प्रसूते त्रैलोक्यं विष्णुर्लोक्याधिपतिर्यथा ॥ ७९ ॥
 पादस्यान्तं पदं यथा द्विद्विरेकमिहोच्यते ।
 पादन्तवासञ्जितं नाम विशेष्यं नियुक्तं यथा ॥ ८० ॥
 विजृम्भितं निःश्वमितं सुदुमुद्गुः
 यथाभिवानं रमरणं पदे पदे ।
 यथाचते ध्यानमिदं पुनः पुनः
 तथागता ते रजनीं विना विना ॥ ८१ ॥
 सर्वे पादाः समापत्र भवन्ति नियताक्षराः ।
 चतुर्व्यवसितं नाम तद्विशेष्यं बुधैर्यथा ॥ ८२ ॥
 सावारणानामसमेव कालः
 सावारणानामसमेव कालः ।
 सावारणानामसमेव कालः
 सावारणानामसमेव कालः ॥ ८३ ॥
 नानालुपै स्वरेयंत्र यत्रैकं व्यजनं भवेत् ।
 तन्मालायमकं नाम विशेष्यं पण्डितैर्यथा ॥ ८४ ॥
 हली क्ली लली माली श्ली लली जली ।
 वली धली च्चलोलोलाओ मुसली धामिरेद्वत् ॥ ८५ ॥
 अक्षौ हि यानारलिबिग्रहः मिया
 रहः प्रगल्भास्मरणं रहोगतम् ।
 रतेन गति रमेयत् परेषा वा
 न चेदुदेव्यवरुणः पुरो रिपुः ॥ ८६ ॥

स पुष्कराक्षः क्षतवीक्षिताक्षः

क्षरन् क्षतेव्य क्षतजनं दुरीक्षः ।

क्षतेर्गवाक्षैरिव संवृताक्षः

साक्षात्सहस्रसस्य इवावभाति ॥ ८७ ॥

एभिरर्थक्रियापैक्षैः कार्ये कान्यं तु लक्षणैः ।

[अध्याय १७]

[उपमा, रूपक, दीपक और यमक—ये ही चार अलंकार नाटकके लिये ठीक जानने चाहिएँ ।]

ऊपर भरतने जिन चार अलंकारोंको नाटकके लिये योग्य माना है, उनमेंसे उपमाके सम्बन्धमें वे कहते हैं कि उपमा कई प्रकारकी हो सकती है—एकका एकके समान, एकका अनेकके समान, अनेकका एकके समान या अनेकका अनेकके समान होना । भरतने ऊपर हां यह भी बताया है कि यह उपमा पाँच प्रकारकी होती है—प्रशंसा, निंदा, कल्पिता, सदृशी और किञ्चित् सदृशी । अलंकारक आचार्योंसे कितीने भी उपमाके ये भेद नहीं बताए हैं । आगे चलकर भरतने यह कहा है कि उपमाके इतने भेद हमने संक्षेपसे बता दिए हैं, शेष भेद काव्य जगत्से ग्रहण कर लेने चाहिएँ । इसके पश्चात् उन्होंने रूपकके भेद बताए हैं और फिर दीपकका लक्षण देकर उन्होंने यमकके पादान्त यमक, काञ्ची यमक, समुद्रग यमक, त्रिकान्त यमक, चक्रनाल यमक, सदृष्ट यमक, पदादि यमक, आन्नेडित यमक, चतुस्त्वयसित यमक और माला यमक नामके यमकके बहुतसे भेद किए हैं । इनके जो उदाहरण भरतने दिए हैं वे मूल रूपमें दे दिए गए हैं ।

भरतने एक विशेष बात सत्रहवें अध्यायके अन्तमें निर्दिष्ट की है जिसमें उन्होंने विभिन्न रसोंके लिये विभिन्न अलंकारोंके प्रयोगका वर्णन किया है । वे कहते हैं—

लज्जस्वरप्रायश्चित्त उपमारूपकाभयम्

काव्यं कार्यं तु काव्यज्ञैः वीररौद्रद्रुताभयम् ॥१०९॥

रूपदीपकसयुक्तं भार्याह्वयसमाभयम् ।

शृङ्गारे रसकार्यं तु काव्यं स्यात्प्रादक्राभयम् ॥१११॥

[छोटे छोटे अक्षरोंसे युक्त तथा उपमा और रूपकके प्रयोगसे रचित काव्य वीर, रौद्र और बद्धसुत रसके प्रतिपादनके लिये रचने चाहिएँ और शृंगाररसकी रचनाओंके लिये रूपक और दीपकसे युक्त भार्या ह्वयन रचना चाहिएँ ।]

आश्चर्यकी बात यह है कि भरतने उपमा, रूपक, दीपक और यमक अलंकारोंको नाटकअभय मानकर भी यह नहीं निर्देश किया कि यमकका प्रयोग किन नाटकमें करना चाहिए । सम्भवतः पीछे विचारकर भरतने यही समझा हो कि यमकके प्रयोगसे अर्थमें भ्रान्ति हो सकती है इसलिये इसे छोड़ दिया जाय ।

इस विवरणसे बान पढ़ता है कि भरत यह नहीं चाहते थे कि पीछेके आचार्योंने प्रकथ काव्यों तथा अन्य काव्योंके लिये जो चमत्कारपूर्ण अलंकार नये नये निकाले थे, उनका प्रयोग किया जाय क्योंकि उन्होंने सत्रहवें अध्यायके अन्तमें स्पष्ट रूपसे कहा है—

मृदुललित पदार्थं गूढशब्दार्थहीन

बुधजनसुखयोग्य बुद्धिमन्तुत योग्यम् ।

बहुसङ्घृतमार्गं सन्धिस्थानयुक्त

भरत जगति योग्य नाटकं प्रोक्तकाव्याम् ॥

[कोमल, सुन्दर शब्दसे युक्त, गूढ अर्थात् अस्पष्ट शब्द और अर्थोंसे हीन, विद्वांशोंकी सुल देनेवाला, बुद्धिमानोंके द्वारा ऐला जा सकनेवाला, बहुतसे रसोंको व्यक्त करनेका मार्ग खोल देनेवाला, ठीक सन्धिसे सचा हुआ नाटक ही दर्शकोंके लिये उपयोगी होता है ।]

इसका तात्पर्य यह है कि भरतने इसमें तीन बातें स्पष्ट कर दीं । एक तो यह कि सगढ़ कहीं भी ऐसा न हो जिसका अर्थ समझनेमें दर्शकोंको कठिनाई हो, दूसरा यह कि उन सवादोंसे दर्शकोंकी रसकी अनुभूति हो और तीसरा यह कि बुद्धिमान लोग उसे खेल सकें । अतः सवादकी योजना करते समय नाटककारको अलंकारोंके प्रयोगमें न पड़कर सदा इस बातकी ध्यानमें रखना चाहिए कि इसमें कोई ऐसी बात न आने पावे जो दर्शकोंकी समझमें न आ सके, अस्वाभाविक हो और जिसके अनुसार अभिनय करनेमें अभिनेताओंकी असुविधा हो । अतः नाटककारकी लोकनायिका अध्ययन करके विभिन्न प्रसंगोंमें जिस वाक्यका प्रयोग उचित प्रतीत होता हो अर्थात् जो कहा जाता है, कहा जाना चाहिए और कहा जा सकता है, उसीका प्रयोग करना चाहिए ।

किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि नाटककारको काव्याशास्त्रका अध्ययन-करना ही नहीं चाहिए । काव्य शास्त्रका अध्ययन तो किसी प्रकारके भी कर्मिके लिये

आवश्यक और अनिवार्य है, किन्तु उद्देश्य यही है कि उसे बलपूर्वक अलंकार खोज-खोजकर नाटकमें नहीं रखने चाहिए, अन्यथा उसकी प्रवृत्ति भाषाकी अधिक दुरुह, लाक्षणिक, पांडित्यपूर्ण और आलंकारिक बनानेकी हो जायगी, जिससे नाटक अस्वाभाविक, कृत्रिम, क्लिष्ट और दुबोघ हो जाता है।

संवादके गुण

ॐ प्रसादकृतहले ।

[है प्रसाद-कौतूहल केवल दो ही रूपके गुण सुन्दर ।]

चन्द्रालोकमें जयदेवने कहा है:—

ग्रन्थादन्तः स्थितः सर्वः स्तयमर्थोऽवभासते ।

सलिनस्त्वेव सूक्तस्य स प्रसाद इति स्मृतः ॥

समाहारममामहं वयार्थैस्तुल्यताऽथवा ।

समाधिरर्थमभिभा लसद्गुणरसात्मना ॥

माधुर्यं पुनरकृत्य वैचित्र्यं चास्तावहम् ।

श्लोकः स्यात्प्रौढिरसस्य सङ्गो वाऽतिभूयसः ।

सौकुमार्यमपारब्धं पर्यायपरिवर्तनात् ।

उदारता तु वैदग्ध्यमप्राभ्यतात् पृथङ्मता ॥

शृंगारे च प्रसारे च कान्त्यर्थ्यक्तिसद्व्यग्रः ।

अग्नी दश गुणाः काव्ये पुंसि शौर्यादयो यथा ॥

तिलकाद्यमित्त्व स्त्रोणां विदग्धदृश्यङ्गमम् ।

व्यतिरेकमलङ्कारं प्रकृतेर्भूषणं गिराम् ॥

विचित्रलक्षणो न्यायो निर्वाहः प्रौढिर्गोचरी ।

शारवान्तरहस्योक्तिः सह ग्रहो दिक् प्रदर्शिता ॥

[जिन कविने वाक्त्र-सामूहिक मीनगी अर्थ बिना प्रयास तथा कठिन्ताके जलके समान निर्मल और सरल-रूपमें पढने और सुननेके साथ ही शलकाने लगे वहाँ प्रसाद गुण होता है। (किन्तु दण्डी "किसी पदार्थके प्रसिद्ध गुणके कथन करनेको" ही प्रसाद मानते हैं। यह ठीक नहीं है। उदाहरण जिसके ज्ञानकी सफाई और सादगी करने हैं अर्थात् जिन उक्तिका लक्ष्य और व्यंग्य अर्थ समझनेमें कठिनाई न हो वही प्रसादका लक्षण है।)

समता गुण वहाँ होता है जहाँ एक एक शब्द दृश्य-दृश्यक सजाए हुए वाक्यार्थ प्रकट करते हैं, जिनमें परस्पर ध्वन्यात्मक समावृत्तता पाई और समास-कम होनेसे कुछ क्लिष्ट भाग न प्रतीत हों।

जिन गहरी रसमयी उक्तियों (रसीली बातों) को सुनकर समझदारों और आलंकारिकोंके हृदय गद्गद हो जाते हैं और उनके शरीरपर आनन्दानुर उठने लगते हैं ऐसे अर्थ-सहिमान्वित गुणको समाधि कहते हैं।

माधुर्य गुण वहाँ मानते हैं जहाँ शब्दोंकी सुन्दरिणी होते हुए भी उसमें विचित्रता और सुन्दरता स्थायी रहे और उसमें सानुनामिक ध्वनि भी हो।

सत्त्वमेव वा विस्तारके साथ जो धीर, धीमत्स, रौद्र और भयानक भावोंका उन्हींके उपयुक्त शब्दोंमें अर्थोंके भरे वाक्य कहे जायें वहाँ श्रांज होता है।

कर्णकटु और कठोर शब्दोंका प्रयोग वचनेते हुए सरल शब्दोंके अर्थ प्रकट करते हुए जो बात कही जाय उसे सौकुमार्य माना है।

जहाँ भाव तथा भाषामें वैदग्ध्य या चतुरता होती है वहाँ उदारता गुण होता है पर उसमें कूहड़पन नहीं होना चाहिए। दण्डी कहते हैं "ध्वन्योक्त्यर्थ प्रश्लेषकत्वं तुल्यमिति" अर्थात् पद लगभग व्यंग्योक्तिके अर्थकी ही छाया है।

धामने जो दश गुण माने हैं उनपर विचार करते हुए ग्रन्थकार इन आठ गुणोंको कहकर कहता है कि यदि मान लिया जाय कि शेष दो गुण कान्ति और अर्थ-व्यक्ति भी हैं तो ये दोनों क्रमसे माधुर्य और प्रसादमें ही आ जाते हैं। दण्डीका मत है कि "प्रसिद्धिपरोधामावः कान्तिः, निषिद्धलाक्षणिक रूपनेयायर्थतामागस्यैव्यक्तिः"।

त्रियोंके शरीरकी शोभा बढ़ानेवाले धातुनिर्मित भूषणोंके अतिरिक्त अन्ध और भी निन्देय साधन हैं जैसे अञ्जन, तिलक, केशमार्जनादि जैसे ही रूपक, उपमादि कनेक अलंकारोंके रहते हुए भी ये उपयुक्त गुण भी वाक्यकी शोभा बढ़ाने हैं।

जहाँ विचित्र सत्त्वोंका प्रयोग किया गया हो वहाँ न्यास गुण होता है। वहाँमें ध्वनि-साम्यकी शृङ्खला वहाँ पूरी उदर जाय वहाँ निर्वाह गुण होता है। अन्य अर्थवालेके पदोंके इंसित लक्ष्य करानेको प्रौढि कहते हैं। प्राचीन कवि-सम्मत प्रयोग करनेकी औचित्य करते हैं। रूपकोंमें अन्य शास्त्रके प्रकृत प्रसंगोंको हेतुलाङ्कको रस्योक्ति करते हैं। एक ही अर्थके कई शब्दोंके एकत्र प्रयोग करनेको संप्रह कहते हैं और कितने अपिप्रायमें कही गई व को दिक्प्रदर्शिता कहते हैं।]

भरने नान्यशास्त्रक सत्रह्वे अप्यायमे निम्नलिखित गुण माने हैं—

रूपेण प्रसादः समता समाधिमाधुम्यमौज पदसौकुमार्यम् ।
अर्थव्यञ्जक व्यक्तिकरदारता च कान्तिश्च वाच्यस्य
गुणा दशैते ॥ १६ ॥

विवायप्रदृशा वृथा स्फुट चैव स्वभावतः ।
रथन सुगतिवधश्च शिल्प तत्परिकीर्त्यते ॥१७॥
इषितेनाथजनेन सम्बद्धानुरस्परम् ।
श्रद्धता या पदाना हि श्लेष इत्यभिधीयते ॥१८॥
अपनुक्तो बुधैव शब्दोऽर्थो व प्रतीयते ।
सुवशः । धसम्बोधत् प्रसाद परिकीर्त्यत ॥१९॥
अथोऽन्यदृश यत्र तथा धन्योन्यदूषणम् ।
अलङ्कारगुणश्च समसात् समता यथा ॥१००॥
उपनास्यपिष्ठाना अर्थाना यत्नतस्तथा ।
प्रसङ्गा चान्तिवशोग समाधि परिकीर्त्यते ॥१०१॥
बहुशो दञ्जुत धार्य उक्त वापि पुन पुन ।
नोद्धतपति यस्माद्धि तन्माधुम्यमिति स्मृतम् ॥१०२॥
अरणीताविहीनोऽपि स्वादादाचामात्रके ।
यत्र शब्दार्थसम्पत्तिस्तदोज परिकीर्तितम् ॥१०३॥
सुनप्रयोऽन्यैश्चञ्चैवुक्त सुश्लिष्टमिषमि ।
सुदुमारा संयुक्त सौमर्य तदुच्यते ॥१०४॥
यथाधीनुद्वेषेतेन नग परिकल्प्यते ।
अनतरं प्रयोगश्च साऽर्थव्यक्तिरुदाहृतः ॥१०५॥
अनेनार्थविशेषैर्यत् सूक्तं सौप्रसयुते ।
उपेतमतिविशार्थरुदात्त तच्च कीर्त्यते ॥१०६॥
जे मन्त्रश्रीचन्द्रिय प्रसादजनको भवेत् ।
शब्दबन्धः प्रयोगेण सकान्त इति भण्यते ॥१०७॥
भगते भी इनेप, प्रसाद, समता, समाधि, माधुम्यं,
श्लेष, सौकुमार्यं, अर्थव्यञ्जक, चरदारता और कान्ति, ये
दस गुण माने हैं और ये सब ऊपर चन्द्रालोकमें दिए
हुए सुखों से मिलते जुलते ही हैं। अत इनका अधिक
विवेचन करना अनावश्यक है।

यद्यपि ये सभी काव्यके गुण माने गए हैं किन्तु
वास्तविक बात यह है कि जिस प्रकारमे सहृदय लोग
प्रसन्न रहें वही गुण है। किन्तु अभिनवभरतका मत है
कि नाटकमें अनेक प्रकारक पात्रों अनेक प्रकारकी बातें
कहलाइ जाती हैं अत ऊ र जो अनेक गुण दिए गए

हैं न तो उनका निर्वाह किया जा सकता है न वाञ्छनीय
ही है। नाटकमें केवल दो ही गुण आवश्यक हैं—एक तो
प्रसाद गुण अर्थात् ऐसी भाषा जिसके लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ
समझनेमें दर्शकोंको कोई कठिनाई न हो। दूसरा विशिष्ट
गुण है कुतूहल। अर्थात् नाटकका व्यापार-प्रथन और
समादप्रथन ऐसा हो कि दर्शक प्रति क्षण यह जाननेको
समुत्सुक रहे कि आगे क्या होगा। यदि इन दो गुणोंका
पूर्णतः पालन किया जाय तो नाटक अवश्य सफल और
सुन्दर होगा।

न ट्व सादाके दोष

गुणके वर्णनके साथ स्वभावत यह प्रश्न उठता
है कि फिर दोष कौन कौनसे होते हैं—

दोष

अत्रिलक्षणप्राम्यत्रारलीलत्वानि दोषरूपाणि ॥
[किन्तु, प्राम्यं भरलील वाच्य हैं न ट्वकाव्यके
दोष]

काव्यके दोष गिनते हुए चन्द्रालोकमें जयदेवने
कहा है—

स्याच्चेतो निशता येन रक्षता रमणीयता ।
शब्देऽर्थे च हृत्तोन्मेष दोषमुद्धोषयन्ति तम् ॥ १ ॥
भवेच्छ्रुतिकटुर्दुर्ण श्रवणोद्वेजने पटु ।
सविदते व्याकरणशिक्षद च्युतसृष्टि ॥ २ ॥
अप्रयुक्त देवतादि शब्दे पुल्लिङ्गतादिकम् ।
असमर्थ तु हन्तादे प्रयोगो गमनादिषु ॥ ३ ॥
स इति हत कान्तारे बान्धु बुदिलसुन्दल
निहतार्थ लाहितादौ शोयितादि प्रयोगत ॥ ४ ॥
व्यनस्यनुचितार्थे यत् पदमाहुस्तदेव तत् ।
इयमदभुत गाल्यप्रभैलिकीतुक गानरी ॥ ५ ॥
निरर्थक तुदीत्यादि पूरणैकप्रयोजनम् ।
अर्थे निदधदित्यादौ दधदाद्यमनाचकम् ॥ ६ ॥
घटे नमस्तल भास्वानरुण तदणै करे ।
एकाक्षर विना भूभ्रूहमादिक खतनादिपत् ॥ ७ ॥
अश्लाल त्रिविध ब्रीडाशुगुप्ताऽमङ्गलारभना ।
आह्लादसाधन वायु कान्तानाशे भवेत् कथम् ॥ ८ ॥
स्वाव्यर्थमिदं सन्दिग्ध नथा यन्ति पतत्विष्णु ।
स्थादप्रतीत शाल्वै काम्प चीताऽनुनादिषत् ॥ ९ ॥

विधिल्लं शयने लिख्ये मन्त्रवत्तं ते शशिभिवि ।
 मस्तपिष्टकटीलोप्यगल्लादि ग्राम्यमुच्यते ॥ ११ ॥
 नेयार्थं लक्षणात्प्रसन्नप्रसन्नोहरम् ।
 हिमंशोहरिचिकारजागरे यामिकाः कराः ॥ ११ ॥
 क्लिष्टमर्षो वशीयोऽथं श्रेणिनिःश्रेणिमृच्छति ।
 हरिप्रिया-नितुवधूप्रवाह-तिमं वचः ॥ १२ ॥
 अचिमृष्टविधैमांशः समासपिहिते विधौ ।
 विशान्ति विशिखप्रयाः कटाक्षाः कामिनां हृदि ॥ १३ ॥
 अयरापीन इत्यादि विद्वद्गतकृन्मत् ।
 अन्यसङ्गतमुक्तु ह्यहारशोभिषयोधरी ॥ १४ ॥
 रसाचमुचिते वरुणं प्रतिकूलाक्षरं विदुः ।
 न मामङ्गद जानासि रावणं रखादागम् ॥ १५ ॥
 यमिन्नुपहतो लुप्तो विसर्ग इह तत्तथा ।
 कुमन्धिः पटवागच्छ विसन्धिपृती इमौ ॥ १६ ॥
 इतवृचमनुक्तोऽपिच्छन्दोदोषप्रचक्रान्ति चेत् ।
 विशालजोचने ! पर्याम्भं तार्गतरङ्गाम् ॥ १७ ॥
 न्यूनं ररवङ्गसम्भूतयथाःपुष्यं नमस्तत् ।
 आधिकं मगतः शत्रून् दशस्पतिजलाफणी ॥ १८ ॥
 कथित पुनरका वाक् श्यामाञ्जयामलोचना ।
 विकृतं दूरविकृतैरैरकः कुञ्जराः पुरम् ॥ १९ ॥
 पतप्रकर्षे हीनाऽनुप्रासादित्वे यपोत्तरम् ।
 गर्मासारसम्भूमोलिप्रागिरेयः समागतः ॥ २० ॥
 समासपुनपत्तं स्यादेव पीयूषभाजनम् ।
 नेवानन्दी तुवारागुपदेरधुधिवामवयः ॥ २१ ॥
 अर्वात्तरपदोपधि श्रोडावृष्टेषु सनिन्तम् ।
 मोधारम्भं खुमः शम्भुनर्भम्भोविप्रहम् ॥ २२ ॥
 अभङ्गमतयोगः स्यान् चैर्दमिमजोऽन्वयः ।
 येन त्रयोऽनुधियंस्व रामस्थानुचय वयम् ॥ २३ ॥
 द्विर्वा समदमाच्छिद्य यः शत्रून् समपूरयत् ।
 अस्थानस्यसमासं न विद्वज्जनमनोरमम् ॥ २४ ॥
 मिथः पुष्यकाक्षपदेः संकीर्णं यत्वेव तत् ।
 वक्त्रेण भ्रात्रे रात्रिः कान्ता चन्द्रेण राजने ॥ २५ ॥
 ब्रह्माष्टं लघुशः पूरगामवं भूमिभूरण ।
 आकर्ण्य पयः पूर्णसुवर्णकवशाये ॥ २६ ॥
 ममप्रक्रममारब्धशब्दनिर्वाहीनीता ।
 अक्रमः कृष्ण पूष्यन्ते स्वामनात्पय देवताः ॥ २७ ॥

श्रमतायान्तरं मुखेऽमुखेनाप्यं विरोधकृत ।
 व्यक्तहारमुरः वृत्तारोवेनालिङ्गिताऽङ्गना ॥ २८ ॥
 अमुष्टार्थो विरोये चेन्न विशेषो विशेषयात् ।
 विशान्ति हृदयं कान्ताकटाक्षाः खञ्जनरिःपः ॥ २९ ॥
 कष्टः स्पष्टावबोधार्थमज्ञाने वाच्यमग्निमः ।
 व्याहृतश्चेद्दिरोयः स्यान्निधयः पूर्वापरार्थयोः ॥ ३० ॥
 सहस्रान्न मित्रं ते वक्त्रं केनोपमीयते ।
 कुनस्तत्रोपमा यत्र पुनरुक्तः मुधाकर ॥ ३१ ॥
 दुष्प्रमप्राप्त्यसंदिग्धास्त्रयो दोषाः क्रमादमी ।
 लज्जकः कृष्ण ! गच्छेयं नरकं स्वर्गमेव वा ॥ ३२ ॥
 एकं मे चुम्बनं देहि तत्र दास्यामि कञ्चुकम् ।
 ब्रूत किं सेव्यतां चन्द्रमुखीचन्द्रकिरीटयोः ॥ ३३ ॥
 शनौचित्यं कीर्त्तिजला तरङ्गयति यः सदा ।
 प्रमिदध्या विचया वापि विरुद्धं द्विविधं मत् ॥ ३४ ॥
 न्यलेयं परय कन्दर्पप्रतारधवल्युतिः ।
 केतकी शोभरे शम्भोर्षते च द्रकशातुनाम् ॥ ३५ ॥
 नामान्तापिभृति-स्पत् कुण्डलच्छिःविप्राता ।
 विशेषपरिवृत्तः स्याद्वनिता मम चेतसि ॥ ३६ ॥
 द्वे रतः स चराऽचाकिरुद्धन्वोयवृज्जता ।
 ध्याइच्छाः सन्तश्च तनयं स्वं परञ्च न जानते ॥ ३७ ॥
 सरोजनेत्र पुत्रस्व मुखेन्दुमवलोकाय ।
 पालविप्रयति ते गोत्रमर्षो नरपुन्दरः ॥ ३८ ॥
 पदे तदंशे वाक्याशो वाक्पे वाक्यकदम्बके ।
 यथानुनारसम्भूद्देहीयान् शब्दार्थसम्भञ्जान् ॥ ३९ ॥
 दोषमपरिततं स्वान्ते प्रसरन्तं विशृङ्खलम् ।
 निवारयति यस्त्रेषा दोषाद्दृश्यामुपान्ति तम् ॥ ४० ॥
 दोषे गुणानं तनुते दोषत्वं वा निरस्पति ।
 भदन्तमय वा दीपं नयत्परान्यतमनी ॥ ४१ ॥
 मुक्तं चन्द्रभियं धते श्वेतशर्मकराङ्कुरैः ।
 अत्र हास्वरसोद्देशो ग्राम्यत्वं गुणता गत् ॥ ४२ ॥
 तत्र दुग्धाधिषमभूतेः कथं जाता कलाङ्किता ।
 करीनो समयाद्विद्याविरुद्धोऽदोषणं गतः ॥ ४३ ॥
 दध्मर गौरी हृदये देवं हिमकराङ्कितम् ।
 अत्र श्लोपोद्यानैव त्याग्यं होति निरर्थकम् ॥ ४४ ॥
 [शब्द और अर्थ-भाग उक्त होनेवाले भाष्यकी सुन्दर-
 रूपको हृदयमे प्रवेश होने समन जो नष्ट कर दे उसे दोष
 कहते हैं ।

अक्षरोंका कर्णकटु दोष वहाँ होता है जहाँ कानकी अभिप्राय लगनेवाले अक्षरोंको सुननेके साथ ही चित्त उद्विग्न हो जाय ।

व्याकरणके विशुद्ध जो प्रयोग किए गए हों वे संस्कृतन-से च्युत दोष मानते हैं जैसे “सपिन्दते” यह योग ही व्याकरण-विरुद्ध है या नागरीमें “उपोत्स” शब्द, जो होना चाहिए उपसृक्त ।

जो कनिर्मडली-द्वारा घर्ष प्रयोग हैं उनको लाना अप्रयुक्त दोष कहलाता है जैसे “दिनादि” शब्दोंको पुलिगमे प्रयोग करना या जैसे मोती और दहीको हिन्दीमें स्त्रीभिग कहना ।

हन्ति शब्द दो अर्थोंमें प्रयुक्त होता है मारना और चलना । यदि आरम्भमें ही चलनेके अर्थमें इसका प्रयोग किया जाय तो असमर्थता दोष माना जायगा ।

किसी वस्तुके लिये सर्वसाधारण प्रचलित शब्द होते हुए भी उसके स्थानपर अप्रचलित शब्द प्रयोग करना निवृत्तार्थ दोष कहलाता है जैसे सव्या-कालके रंगना वर्णन करते हुए उसे लोहित न कहकर शोभित कहना ।

भ्रिप्त पदके अन्वय मानते किसी अनुचित अर्थात् अपनी मर्यादासे हीन अर्थको धनि निकले उसे अनुचितार्थपद कहते हैं जैसे “यह अद्भुत रसके वृक्षकी शाखाओंपर विहार करनेवाली वानरी-रुपिणी नायिका है ।” यह पूर्ण रूपक होते हुए भी अश्लोक्तता-युक्त है । या जैसे केशवने सूर्यके लिये कहा है—

‘चट्नी गगनतट धाड़, दिनकर-गगन अक्षयमुख ।

‘तु, हाँ आदि’ अकारण ही वाक्य या पद-युक्तिके निमित्त जो शब्द प्रयुक्त होते हैं वे पद-पूर्वक कहलाते हैं जैसे—तो, काँहिए में भी जाऊँ, ही ।

शुद्ध ‘विदधत्’ के अर्थका काम यदि ‘दधत्’ से लिया जाय या ‘दधत्’ का काम ‘विदधत्’ से लिया जाय तो यह अवाचक दोष कहलाता है । धत्के अर्थ धारण करना है किन्तु यहाँ इसका अर्थ करना पड़ा, ‘बना देता है’ यही अवाचक दोष है । जैसे सूर्य अपनी प्रखर किरणों द्वारा आकाशको अरण्य अर्थात् लाल बना देता है ।

एक अक्षरका दूसरेके साथ संयोग सुन्दर होना चाहिए जैसे भू के साथ तल मिलकर भूतल अच्छा प्रतीत

होता है । उसीके आधारपर अर्थ ठीक होते हुए भी नमस्तलको ‘खतल’ कहना अच्छा नहीं लगता ।

अश्लील तीन प्रकारका होता है—श्रीडामक, लुग-प्लातक और अमंगलात्मक । ‘आनन्दसाधनं वायु-कान्तानाशे कथं भवेत्’ इसमें साधन, वायु और नाश शब्दों से तीनों प्रकारकी अश्लीलता प्रकट होती है । यदि इन्हीं के स्थान पर यह कहा जाय कि “कान्ता वियोगे पननः आ-ल्लादायकः कथं भवेत्” तो कितना अच्छा प्रतीत होता । द्वायर्थक शब्दोंसे सन्दिग्ध दोष होता है जैसे, “नथा यान्ति पतन्निष्णः । इसमें न-नथा हो सकता है [आकाश में नहीं] और नथा अर्थात् नदीमें ।

अप्रतीत उस शब्दको कहते हैं जो भिन्न वास्तवोंमें किसी विशेष अर्थमें प्रयुक्त होता है किन्तु साहित्यमें जिसका प्रयोग नहीं होता जैसे वीत और अनुमा आदि शब्द जो न्यायशास्त्रमें प्रचलित हैं ।

शैथिल्य दोष तो सुननेसे सम्भवे आता है । जो रचना टेढ़े-मेढ़े शब्दोंमें की जाय अथवा जहाँ व्याकरणके अप्रचलित प्रयोगों-द्वारा भाव प्रकट किए गए हों जैसे शयने इत्यादि ।

आम्य दोष वहाँ होता है जहाँ हीन समाजमें प्रयुक्त होनेवाले शब्दोंका उच्च कौटिके साहित्यमें स्थान दिया जाय जैसे मत्स्य, पिष्ट, कटी, लोष्ट, गल्ल आदि ।

आवश्यकतासे अधिक और अश्लील शब्दोंके द्वारा प्रकट की गई नश्वणा मनोहर नहीं होती । ऐसे प्रयोगोंमें नेयार्थ दोष होता है जैसे उदाहरणमें हार, धिक्कार आदि शब्द ।

किल्लष्ट अर्थ उसे कहते हैं जितमें व्यर्थ एक शब्दका सम्बन्ध दूसरे से, दूसरेका तीसरेसे दिखलाते हुए वह अर्थ निकले जो किसी एक शब्दसे निकल सकता हो । इस जटिल अर्थ-रम्यताको किल्लष्ट कल्पना कहते हैं जैसे उदाहरणसे स्पष्ट है ।

वाक्यमें प्रचान या विशेष शब्दको यदि किसी दूसरे शब्दके साथ समासके द्वारा लपेटकर इस प्रकार कहा जाय कि उसका वह प्रभाव नष्ट हो जाय तब उस दोषको अभिमृष्ट-विधेय कहते हैं । जैसे उदाहरणमें— विशिखप्राय ।

विरुद्धमितकृत् उसको कहते हैं जो समासके भेदसे दूसरा अर्थ प्रकट करने लगे जैसे—अपराधीन=अ (न)

+पराधीन किन्तु यहाँ यह भी हो सकता है—अपर + के + अर्घन ।

वक्तव्यके दो भिन्न गुणोंका एक ही समासमें समावेश करनेको अन्वयसंगत दोष कहते हैं जैसे पयोधरके साथ उत्सुग और हारशोभि ।

जिस रसमें जैम अक्षर अनुकूल जान पड़े उनका प्रयोग न करना प्रतिकूलक्षर दोष कहा जाता है जैसे उदाहरणमें शृंगार, करुण, शान्त रसादिमें कोमल शब्द आने चाहिये और वीर, वीभत्स, रौद्रादिमें क्रोरोर ।

उपहत विसर्ग और लुप्त विसर्ग दो प्रकारके होते हैं और दोनोंके उदाहरण वि + मर्ग ही क्रमसे हैं ।

सन्धि-दोष मां दा होते हैं एक कुसन्धि और दूसरा विसन्धि अर्थात् भद्दी सन्धि जैसे —

पदो + आगच्छ = पठआगच्छ और नृपति हमौ ।

— इतवन दोष उभे कहते हैं कि मात्रा, छन्द, कम सब शास्त्रोक्त ठीक होने हुए भी सुननेमें यह अर्थचिक्कर हो और पाठ करनेमें कठोरता लगे जैसे उदाहरणमें यन्-स्थितपर दोनों पदोमें शब्दका अंग बँट जाता है ।

न्यूनता दोष उभे कहते हैं कि कोई रूपक अर्थमें उसका कोई अंग कहनेको रह जाय जैसे उदाहरणमें 'खड्गमे सम्भूत (उल्लस) यद-रुमी पुष्प' ऐसा कहनेसे न्यूनता होती है किन्तु खड्गरूपी लता इतना और कहनेसे यह दोष मिट जाता है ।

अधिकताका दोष इसीका उलटा है अर्थात् जहाँ न कहनेको बात कह दी जाय जैसे आसिका फाँसरा प्रसिद्ध होते हुए भी उसको लताकी उपमा देना ।

कथित दोष यह है जो पुनश्क्ति द्वारा प्रकट किया जाय जैसा उदाहरणसे स्पष्ट है ।

विश्रुत वह है कि किसी शब्दको अनेक सूत्रों—द्वारा उसका भ्रमालक परिवर्तन करके कहना जैसे उदाहरणका "एषः" यह बीसों 'थ लगनेपर होता है ।

-पक्षकर्म दोष वहाँ होता है जहाँ प्रारम्भ किं गद्य अनुप्रासकी होनवा क्रममें अलग हो जाय ऐसा कि उदाहरणमें 'अभ्र' वा अनुप्रास अन्तकाले 'यापि' शब्दमें नहीं आया ।

समाप्तपुनरापत्त उभे कहते हैं कि किया-द्वारा व क्य समाप्त कर देनेपर भी फिर कोई विशेषण कह दिया जाय । इससे वाक्यमें दोष आ जाता है जैसे—उदाहरणमें 'एष...

उदेति' वहाँ वाक्य समाप्त होनेपर फिर अशुद्धि-वाक्यन विशेषण पं छेसे लगा दिया गया है ।

-जिस पूरे पद्यमें कथित विशेषणकी पुष्टि करनेके लिये एक पृथक पद लिखकर उसमें उसका कारण दिखलाया जाय उस दोषका नाम अर्थान्तर-पदापेक्षि है जैसे उदाहरणके पूर्वार्धमें 'मोघारम्भं सरिमत्म्' कहा किन्तु शम्भुकी यह अवस्था क्यों हुई इसकी पुष्टि इस बातमें प्रथम पदमें की गई है कि वे अर्थान्तरेश्वर उठरे तो बिना पार्वतीके भी योग दिए नृत्य पूरा नहीं हो सका और वहाँ उनका मान ऐसा हुआ कि वे मना न सके ! अतः विकल मनोरथ होनेसे वे हँस पड़े ।

पद-द्वारा जिस अर्थकी ध्वनि पाई जाय तदनुकूल उस पदका अन्वय करनेमें उसके शब्द यदि अनुचित जान पड़े तो वहाँ अमयम्मतयोग होता है जैसे उदाहरणमें यस्वके स्थानपर तरप कहा जाता तो अन्वय शुद्ध हो जाता ।

'द्विधा'.....'समपूरयत्' पर्यन्त वीररस वर्णानामक वाक्य होनेसे यह लम्बे समासमें युक्त होता, तो कर्णप्रिय होता किन्तु उसके अन्तर्गाममें विधिल हो गया है और यहाँ 'त्रिद्वजनमनोरमम्' में अनापश्यक समाप्त कर दिया गया है, इसे अस्थानस्थ समाप्त करते हैं अर्थात् जहाँ आवश्यकता हो वहाँ न लिखना और जहाँ न हो वहाँ लिखना ।

जो बात मिलाकर कही जाय वह संकीर्णता दोषमें परिगणित होगी जैसे—'कान्ताके मुखसे रातभी वही शोभा है जो चन्द्रसे रात्रि की, इसके बदले यह कहना कि 'मुखसे रात चमकती है, चन्द्रसे कान्ता शोभा देती है' कहना संकीर्णता है । इसी प्रकार यह कहना—

'हे भूमिभूय ! तुम्हारे पशुमें गर्भित यह ब्रह्मांड जलसे भरे हुए मोनेके फलशके समान ही रहा है, आप यह बात सुनिए !' यह भी वैसा ही दोषपूर्ण है ।

अपना कोई आन्तरिक अभिप्राय जब समुचित शब्दोंमें प्रकट न किया जा सके वहाँ भ्रमप्रकृत-दोष होता है जैसे उदाहरणमें पूर्यकी पूषाका व्यतिक्रम दिखानेका तारस्यं था किन्तु शब्द और घातु दयास्थान न होनेके कारण यह बल न रहा ।

प्रतिपाद्य मुख्य रसके विरोधी रसका उद्घोषन कराना ही अमतार्थान्तर दोष कहलाता है जैसे उदाहरणमें 'शोकसे

गलेका हार उतार दिया है किन्तु निष्कृत नायकने उस नायिकाको रति-प्रस्तुत जानकर 'आलिंगन कर निग' यहाँ करपायें शृंगार दिवाकर कितना रस-विषय कर दिया गया ।

विशेषमें नताई हुई विशेषता यदि उसके विशेषण-द्वारा न प्रकृत हो तो उसे अपुण्यार्थ दीप माना है । जैसे - 'खवन जैसे कान्ताके कटाक्ष हृदयमें प्रविष्ट हो जाते हैं । यहाँ प्रवेश करना मित्रा इम उदाहरणके विशेषण शब्दसे प्रकृत नहीं होती अतः अर्थ अप्रवृत्त रह गया ।

जिस वाक्यके सुननेके साथ ही उसका अर्थ स्पष्ट हृदयगम न हो जाय उसमें वृष्ट दीप माना जाता है । मूर्खोंको तो कुछ भी समझमें नहीं आता, इसलिये कहाँ पण्डितोंको भी सोचना पड़े कि यह प्रश्लिका कैसी है वहाँके लिये यह दीप है ।

व्याहत दीप उभे कहते हैं जिसमें एक ही वाक्यमें 'आगे-पीछे' अर्थमें विशेष पड़ जाय । दोनों दीप इसी एक उदाहरणमें स्पष्ट हो जाते हैं । 'सख्यके मित्रसे सद्यः तेरे मुखकी उपमा किसमें दें । सख्यपत्रके मित्र अर्थात् सूर्य यह वृष्ट कल्पना हुई और सूर्यके सद्यः उपमा देते हुए भी यह कहना कि किसमें उपमा दे अर्थात् सूर्यके कोई उपमा नहीं हुई यही व्याहत दीप हुआ ।

अपनी ही जातकी बहकण का देने या बात नमाह ही जानेपर फिर उसमें बात निकालना उसको पुनरुक्त दीप कहते हैं जैसे—उमका उमना ही क्या किसके रहते चन्द्र 'य' प्रतीत होता हो ।

क्रमसे तान प्रहारके दीप बनते हैं—दुष्कर्म, आत्म और सन्दिग्ध । प्रथम उदाहरणमें दुष्कर्म अर्थात् शास्त्र-विरुद्ध करना दिखलाया है क्योंकि कृष्ण भक्ति स्वर्ग मिलता ही है तो उसमें नररकी सम्भावना ही क्या करनी है । दूसरा प्रत्यक्ष प्रतीक भाग है । तीसरेमें यह सन्दिग्ध प्रश्न सा है कि चन्द्रमुखाको उपासना करूँ या चन्द्रमौलि को ।

अनौचित्य दीप यहाँ कहना । है जहाँ किन्हीं विशेषणमें उस विशेषताका आरोपण किया जाय जो उसका स्वाभाविक अंग न हो जैसे लतामें तरंगका उठना उसका फलना-फूलना कहा जा सकता है ।

विरुद्ध दीप है लोकप्रसिद्धसे विरुद्ध कहना या शास्त्र-विरुद्ध

चलना । यह दो प्रकारका होता है । उदाहरण—कामदेवके प्रतापसे शुभ्र प्रकाशवाली यह केतकी रखी है । यहाँ प्रतापको शुभ्र कहना कवि-संप्रदायके विरुद्ध है । 'ताप रक्तवर्ण होना चाहिए । फिर शमुके शिरपर चढाई हुई केतकी चन्द्रिका की घोभा देती है, यहाँ शास्त्र-विरुद्ध हुआ क्योंकि शिव-कीको केतकी चढानेका प्रथा ही नहीं कहा है ।

किमी अपेक्षित गुणको प्रकृत करनेके लिये कोई एक श्रेणीका शब्द कह दिया जाय जिससे अर्थ ही न प्रवृत्त हो उम सामान्य-परिवृत्त कहते हैं जैसे 'दुष्टलच्छविप्रदा' । दुष्टलच्छविप्रदा यशपि सोनेका बनता है किन्तु इससे सुवर्ण' ऐसा अर्थ नहीं जाना जा सकता । दूसरा विशेष परिवृत्त दीप है—जैसे, वनिता शब्द स्त्रीका वाचक हो सकता है किन्तु पत्नीत्वका नहीं, अतः जहाँ पत्नी अर्थ प्रकृत कराना है वहाँ वनिता कह देनेसे ही यह दीप हो जाता है ।

सहचराचार और विरुद्धान्योन्यसंगति ये दो दीप हैं । पहलेका अर्थ यह है कि दृष्टान्त प्रयोगमें समान गुण प्रदर्शित काले दोनोंका जोड़ ठाक मिलाना चाहिए, हीना-विक होनेसे उसमें दीप हो जाता है जैसे, कौबे और साधु अपनी और पराई सन्तानका भाग नहीं रखते । यह तुलना कितनी निश्चिष्ट है । इस सहचराचार दीप कहते हैं । विरुद्धान्योन्यसंगतिका उदाहरण यह है कि 'हे कमलनेत्रे ! अपने पुत्रके मुरचन्द्रको देतो । चन्द्र और कमलका विशेष जगत्-प्रसिद्ध है क्योंकि चन्द्रका जो प्रफुल्लता-काल है वह कमलका सकाचकाल है, अतः वे एक दूसरेको देख ही नहीं सकते । इसी प्रकार 'यह नरेन्द्र तेरे गोत्रका पालन करेगा' । गोत्र पतनको कहते हैं । यह पुण्य-प्रसिद्ध बातके विरुद्ध हुआ । क्योंकि इन्द्र तो गोत्रभिद (पतन तोड़नेवाले) कहलाते हैं ।

पद, पदाङ्ग, वाक्यार्थ, वाक्य, वाक्य-वदम्ब अदिमें शब्द और अर्थसे उत्पन्न दोषोंपर उपर्युक्त विधसे निवार करना चाहिए ।

जानते हुए भी जो दीप आगए हैं और विशुद्धता उत्पन्न किए हुए हैं उनका जिन तान प्रकारसे परिहार करते हैं उन्हें दोषाकुल कहते हैं—१. दोषमें गुणका रोपण करना, २. दीपको मित्र ही देना तथा ३. आगए हुए दापको अनिवार्य बना देना जैसे—

१. आपका मुख दाढ़ी-मूछाके सपेद खड़े बाल रूपा

किणों-द्वारा चन्द्रवत् प्रत त होता है। यहाँ हास्य रसका स्वरूप आ जानेसे उदाहरणकी ग्रामीणता गुणमें बदल गई है।

२. क्षीरवामसे उत्पत्ति हृदि ह्यु भी यह तेरा कलंकी-पनाक होंसे आया। चन्द्रमाकी उत्पत्ति क्षीरमगरसे बतलाई गई है, उसके अनुसार वह निष्कलंक है और जिसकी उत्पत्ति अग्निमुनिकी आँखसे है वह सकलंक है। किन्तु कवि-समाजमें चन्द्र एक ही है और वह सकलंक माना गया है चाहे वह कहींसे भी उत्पन्न हो, अतः शास्त्र-प्रमाणसे विरुद्ध होते हुए भी वह दोष मिट गया।

३. तीसरेमें 'हि', चर्च प्रतीत होते हुए भी श्लेष गुण दिखानेसे आवश्यक हो गया। देवं + हि + मकराकितम् अपवा देवं हिमकराकितम्। मकर-नेतन काम और चन्द्र-भाल शिव दोनो हि-मकर-अंकितका ध्यान पार्वतीजीके हृदयमें हो सकता है।]

भरतने भी नाट्यशास्त्रके सत्रहवें अध्यायमें दोष गिनाते हुए गूढार्थ, अर्थान्तर, अर्थहीन, भिन्नार्थ, एकार्थ अभिप्लुतार्थ, न्यायादपेत, विपम, विसन्धि और शब्दच्युत—ये दस दोष गिनाए हैं। इनके लक्षण नीचे दे दिए जाते हैं—

अत उच्ये तु वक्ष्यामि काव्यदोषाः तथाविधान्।
अगूढमर्थान्तरमर्थहीनं भिन्नार्थमैकार्थमभिप्लुतार्थम् ॥
न्यायादपेतं विपमं विसन्धि शब्दच्युतं वै दशकाव्यदोषाः ८६

पर्यायशब्दाभिहितं गूढार्थमभिर्भक्तिम्।
अवर्ष्ये वर्णयते यत्र तदर्थान्तरमिच्छते ॥९०॥
अर्थहीनं त्वसम्बद्धं सा तत्रोपायार्थमेव च।
भिन्नार्थमभिज्ञेयमसम्बन्धं ग्राम्यमेव च ॥९१॥
विवर्तितोऽप्य एषार्थो यत्रान्यार्थेन मियते।
भिन्नार्थं तदपि प्राहुः वाच्यं काव्यविचक्षणैः ॥९२॥
एकार्थस्याभिधानं यत् तत्रैकार्थमिति स्मृतम्।
अभिप्लुतार्थं विज्ञेयं यत् पदेन समस्यते ॥९३॥
न्यायादपेतं विज्ञेयं प्रमाणपरिवर्जितम्।
वृत्तदोषो भवेद्यत्र विपमं नाम तदुच्यते ॥९४॥
अनुप्रतिपत्तिशब्दं यत् तद्विषन्धीति कान्तिम्।
शब्दहीनं च विशेषमशब्दत्व च योक्तव्यम् ॥९५॥
एते द परतु विज्ञेयाः सुभिर्नाटकश्रवणैः।
एत एव विपर्यस्ता गुणाः काव्येषु कीर्तिताः ॥९६॥

[अगूढ, २ अर्थान्तर, ३ अर्थहीन, ४ भिन्नार्थ, ५ एकार्थ, ६ अभिप्लुतार्थ, ७ न्यायादपेत, ८ विपम, ९ विसन्धि और १० शब्दच्युत ये काव्य-दोष हैं।

जहाँ गूढ अर्थवाला मूल शब्द न कहकर उसका ऐसा पर्याय कह दिया जाय कि उसकी गूढता नष्ट हो जाय वहाँ अगूढत्व दोष होता है। वहाँ जिस-वास्तुका वर्णन न करना हो उसका अनावश्यक वर्णन का देना अर्थान्तर कहनाता है। जहाँ संवादमें असम्बद्ध बातें मरी हीं और उसके भी बहुतसे अर्थ किए जा सकते हो वहाँ अर्थहीन दोष होता है। भिन्नार्थ दोष दो प्रकारके होते हैं—एक तो वे जिनमें असभ्य और अप्राप्य (फूडड) उच्य या वाक्य हों, दूसरे वे जिनमें कुछ ऐसे वाक्य बीच-बीचमें आ गए हो जो कवि-द्वारा वर्णनीय और इष्ट अर्थमें वाचा देते हों। जहाँ केवल एक ही अर्थगोले वाक्योंका प्रयोग हो (अर्थात् जहाँ केवल वाच्यार्थमें युक्त पदोका ही प्रयोग हो, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थका अभाव हो) वहाँ एकार्थ दोष होता है। वाक्यके एक चरणमें समासे (सत्तेरमें) वाच कड़ी जाय वहाँ अभिप्लुतार्थ दोष होता है। जहाँ शन-विज्ञानसे विरुद्ध अप्रामाणिक बात कही जाय वहाँ न्यायादपेत दोष होता है। जहाँ छन्दमें दोष हो उसे विपम कहते हैं। विसन्धि दोष तब होता है जब एक एक शब्द कह कहकर उसकी विशेषता भी बतलाई चली जाय। जहाँ आवश्यक शब्द छोड़ दिश गया हो वहाँ शब्दच्युत दोष होता है। इतने नाटकाश्रय दोष समझने चाहिए और इनसे उलटी बातोंकी ही गुण समझना चाहिए।]

जयदेवने अपने चन्द्रालोकमें जो काव्यके दोष गिनाए हैं वे ही प्रायः अन्य आचार्योंने भी गिनाए हैं किन्तु वे दोष नाटकके लिये कभी कभी गुण होकर भी आ सकते हैं जैसे अर्थहीन भी अन्तमें कहा है कि दोष लाकर उसे अनिवार्य कर देना और ऐसे पापमें उसका व्यापार करना कि उस दोषयुक्त वाक्यके प्रयोगसे ही उसके चरित्रका स्पष्ट रूप प्रकट हो। अतः अनेक प्रकारके व्यक्तियोंका नाटकमें विचित्र करते समय कभी-कभी आवश्यक हो जाता है कि पात्रकी प्रकृतिके अनुसार दोषयुक्त वाक्य भी कहलाया जाय। किन्तु भरतने जो नाटकाश्रय दोष बताए हैं वे विचारणीय हैं। इस बातमें कोई दो मत नहीं हो सकते कि नाटकमें अनावश्यक, असंबद्ध, निरर्थक,

असम्भ, प्राग्भ, धारा वाचक तथा अप्रामाणिक, अस्युक्त वार्त्ता या वर्णन नहीं होने चाहिए। इसलिये अभिनव मतका मत है कि—

ॐ असंनद्धनिरर्थकसम्भद्वेष्यार्थवाचनप्रामाणिक-
वोध्याम्पट्यार्थपद्वान्यनियेवः।

[असंबद्ध हों और निरर्थक या असम्भ या द्वेष्य कहीं। धारावाचक अप्रामाणिक या अर्थाप्य अस्मत् कहीं। नाटकमें ऐसे दोषोंसे युक्त वाक्य पद नहीं हैं।]

असंबद्ध या अस्मत् वाक्य वहाँ होते हैं जहाँ उनमें पूर्वापर-संबन्ध न हो जैसे—

[गंगाजीके तटपर राम, सीता और लक्ष्मण]
राम— (केवटसे) नाम ले आओ।

केवट—जबतक आ। पैर नहीं धुलना लेंगे तबतक नहीं लाऊँगा।

× लक्ष्मण—(राममें) यह कौन सी नदी है।

× राम—गंगा है। जानते हो कैसे यहाँ आई। इसे मगीरस्य आए थे। (केवटसे) अच्छा पैर धोने। प्रान्य करो।

उपयुक्त संवादमें लक्ष्मण और रामकी परस्पर वातचीत वहाँ असंबद्ध है। जानवर चढ़ जानेपर यह वात कहलाई जान तो संबद्ध होती।

निरर्थक वातचीत यह कहनाती है जहाँ नाटककी कथा या नाटकके चरित्रोंके कुछ भी संबद्ध न रखनेवाली बातें कहलाई जायँ जैसे उपयुक्त प्रसंगमें ही निम्नलिखित प्रकारकी बातें हों।

राम—(केवटसे) तुम्हारी नाम बड़ी अच्छी है। कितनेमें बनगई? इसमें तो बीस मनुष्यतक बैठते होंगे। अयोध्यामें हमारे यहाँ अच्छी नाचें बननी हैं। वहाँसे मैंगान्धो तो अच्छा होगा। हाँ, हमें पार चलना है, एक नाम तो मैंगान्धो।

रामके उपयुक्त कथनमें अन्तिम वाक्यको छोड़कर सब निरर्थक या अप्रासंगिक है। इसी प्रकार बहुतेरे नाटककार अक्सर मिलते ही अपने दार्शनिक ज्ञानका भंडार खोलकर अपने विशिष्ट पानोंसे दार्शनिक शास्त्रार्थ कराने लगते हैं।

जिस देशमें जो वाक्य या शब्द शिष्ट लोग प्रयोग न करते हों और जिनका प्रयोग ब्रौह्मजन्म तथा पूरुष समझ जाता हो, जिसे सुनकर शिष्ट लोग नाच-नाचें शिकोड़ते हों उन्हें असम्भ कहते हैं जैसे—जीव, लवणका, मैथुन,

स्तनस्पर्श, चुंबन, आलिंगन आदिकी बातें करना या गुतागौं अथवा अनुसुत्तागौंका वर्णन करना जैसे—मेरा इथियार (लिंग) देना है, क्यों दूना खोल रहे हो (अज्ञान वायु क्यों छोड़ रहे हो), आ जा मेरी जाँघर पैठ जा या गौं-बहनकी गली आदि असम्भता सूचक हैं। इन्हींके अन्तर्गत वे प्राग्भ प्रयोग भी आते हैं, जिनका प्रयोग निम्न कौटिलिके अशिष्ट जंगली तथा गँवार लोग करते हैं जैसे—‘आजा मेरी कटो’ कहकर प्रेयसीकी संज्ञेधन करना आदि। भारतीय आचारके अनुसार रगमंचपर चुंबन, आलिंगन आदि वञ्चित समझे गए हैं और इन क्रियाओंसे सम्बन्ध रखनेवाले शब्द भी रगमंच समझे गए हैं किंतु योग्य तथा अमरीका आदि देशोंमें रगमंचपर चुंबन और आलिंगन दोष नहीं माने जाते इसलिये वहाँ चुंबन या आलिंगनके लिये प्रार्थना करना दोष नहीं है किंतु प्रार्थना करनेका ढंग फूटने या ग्राम्य नहीं होना चाहिए। तदर्थ यह है कि जिस देशमें जो शिष्टाचार प्रचलित हो उसका नाटककारको अशर्य निर्वाह करना चाहिए। यदि असम्भ शब्दों या वाक्योंका व्यवहार करया गया तो निम्न श्रेणीके दर्शकोंको तो तृप्त हो जायगा किंतु उन असम्भ शब्दों या वाक्योंका प्रचार भी वेगसे होने लगेगा। इसीके साथ साथ यह भी याद रखने के कि जिन शिष्ट शब्दोंके अशिष्ट ध्वनि निकलती हो उनका प्रयोग भी नहीं करना चाहिए जैसे किसी आए हुए राजपुरुष (सिपाही) से यह कहना—क्या पकड़ने आए हो? (क्या मुझे पन्दी बनाने आए हो अथवा ध्वनिसे ‘क्या मेरा लिंग ग्रहण करने आए हो’)। कभी कभी नाटककार इस प्रकार प्रमादसे वाक्य लिखे जाते हैं जिनमें सहया ऐसा आश्रयार्थ निकल आता है कि सम्भंग तो होता ही है, फूहड़पन भी प्रकट होता है। एक नाटकमें दो मिश्रोंके बीच यह संवाद हो रहा था—

सुरेन्द्र—तुमने इनकी कोठा न देवी हो तो हमारी तो देखी ही होगी।

निनोद—हाँ, हाँ आपकी तो देवी है, जिसके आगे नीलकंठी भाड़ियाँ लगी हैं।

उपयुक्त संवादमें निनोदने जैसे ही कहा—हाँ, हाँ, आपकी तो देवी है। वस इसीपर साथ भवन हास्यमें पूँज उठा और कई मनचले चितला भी उठे—अवश्य देवी होगी।

अतः नाटककारको अत्यन्त सावधानीके साथ अवस्यता-सूचक तथा अवस्यता-वर्जनक शब्द तथा वाक्य हटा देने चाहिए।

पारत्राषक शब्द या वाक्य उन्हें कहते हैं जो किसी नाटकीय प्रसंगके बीचमें प्रयुक्त हो जानेपर उसके स्वाभाविक प्रभावमें बाधा डालते हो जैसे—

वसन्तजाल—मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि इस संकटसे मुझे इस वार उभार लीजिए। जीवन भर आपका ऋणी रहूँगा।

रामप्रसाद—मैं आपकी क्या सह्ययता कर सकता हूँ। मैं तो स्वयं बड़े संकटमें हूँ। सारा व्यंगार ठंडा हुआ पड़ा है। आजकल हाथ बँधे हुए हैं। तुमने आजका समतचार पत्र पढ़ा है? लड़ाईका क्या समाचार है।

उपर्युक्त संवादमें रामप्रसादकी उक्तिमें अन्तिम दो वाक्य समाचारपत्र पढ़नेके संबंधमें धारात्राषक हैं।

अप्रामाणिक उन बातोंको कहते हैं जो इतिहास यास्त्र, पुराण, विज्ञान, लोक विश्वास आदिमें अस्िद्ध हों जैसे सूर्यका पश्चिममें निकलना, ब्रह्मसारेका चलना, अशोकके युगमें यन्त्रकला प्रयोग, बौद्ध दर्शनका विचार करते हुए उसमें आरामा और परमात्माका सन्निवेश करना, रावणका राज्य लंकाके बदले सतसिन्धुमें वर्णित कर देना, मरुभूमिमें चनेके खेत या केलेका वर्णन करना अथवा यह कहना कि गंगाजीके स्नानसे कुछ नहीं होता आदि। किन्तु विदूषक, मूर्ख, अश तथा जड़ पात्रोंद्वारा इनका भी प्रयोग हास्यरसमें कराया जा सकता है किन्तु ऐसी सभी अप्रामाणिक बातोंका परिहार भी उसीमें कर देना चाहिए अन्यथा दर्शक उसे सत्य मानकर उस अप्रामाणिक बातको प्रामाणिक ही समझ बैठेंगे।

द्वेष वाक्य वे हैं जिनसे सकारके किसी विशेष धर्म, जाति, धर्म, सम्प्रदाय या उनके विशिष्ट व्यक्तिवोंका अपमान, विरोध, अनादर या द्वेष प्रकट होता हो जैसे नाटकमें स्त्रियोंकी निन्दा, यहूदियोंको माली देना, व्यापारियोंकी खिल्ली उड़ाना, सनातन धर्मको बुरा कहना, कबीर-पंथियोंको दोगी बलना आदि। अपर्याप्त किसीकी धार्मिक या सामूहिक भावनाओंकी ठेस पहुँचानेवाली उक्तियों नाटकमें नहीं होनी चाहिए।

अत्रोप या क्लिष्ट शब्द या वाक्य वे होते हैं जिनका

साधारणतः प्रचलन न हो जैसे नाटकमें 'अवच्छेदकाव-च्छिन्न' की नैयायिक पद्धतिसे विवाद।

अस्पष्ट शब्द या वाक्य उन उक्तियोंको कहते हैं जहाँ शब्द तो सरल हों किन्तु संवादका अर्थ ही स्पष्ट समझनेमें न आवे जैसे—

[जगदीश और विश्वेश्वरका प्रवेश]।

जगदीश—मैं भी तुम्हारे साथ चलनेको तैयार हूँ।

विश्वेश्वर—पर हमें यह समझ लेना चाहिए कि उसके पास लड़ाई बहुत है, हम लोग पार न पा सकेंगे।

जगदीश—तो कोई ऐसा उपाय सोचा जाय कि हमारा काम सिद्ध हो जाय।

विश्वेश्वर—हां सोच तो लेना चाहिए।

जगदीश—तो चलो वहाँ चला जाय।

विश्वेश्वर—चलो।

इस उपर्युक्त संवादमें उपाय सोचनेकी बात तो कही जाती है पर सोचना कुछ नहीं जाता, यही इसकी अस्पष्टता है।

इन उपर्युक्त दोषोंके अतिरिक्त चन्द्रालोकमें वर्णित दोषोंमेंसे सभी ऐसे हैं जिनका प्रयोग विभिन्न रसोंमें विभिन्न प्रकारके पात्रोंकी प्रकृतिके अनुकूल कराया जा सकता है।

इनके अतिरिक्त अभिनवभरतका मत है कि—

ॐ अमंगलसमिप त्याज्यम्।

[है अमंगल म निपिद्र]।

अर्थात् अमंगलसूचक शब्दोंका प्रयोग भी नाटकमें नहीं होनी चाहिए। यों तो वध, मृत्यु आदि रंगमंचपर दिखानेका हम निषेध कर आए हैं किन्तु ऐसी घटनाओंकी सूचना देते समय भी अमंगलसूचक शब्दोंका प्रयोग नहीं करना चाहिए। हमारे यहाँ हर्षोलिखे किसीकी मृत्यु पर कहते हैं कि उसका स्वर्गवास या वैकुण्ठवास हो गया, उसे गंगालाभ हुआ, वह चल बसा, उसका शरीर पूरा हो गया, वह उतर गया, जाता रहा, पंचत्वकी प्राप्त हो गया आदि। इसी प्रकार होली जलानेकी होली मँगलाना, दीपक बालनेकी दीपक जगाना या संध्या जगाना, आग जलानेकी आग बनाना या आग जगाना, दूकान बन्द करनेकी दूकान बंदाना, किवाड़ बन्द करनेकी किवाड़ देना, सपनाकी घूड़ी टूट जानेकी चूड़ी मौलना, फूल तोड़नेकी फूल उतारना कहते हैं क्योंकि मरना, जलाना, फूटना, टूटना, बन्द करना, बूझना आदिकी विनाशसूचक तथा अमंगल-

सूचक समझा जाता है। अतः उनका प्रयोग नहीं करना चाहिए।

नाटकीय संवादमें उपर्युक्त दोष यदि न रहें तो वे अवश्य प्रभावशाली होंगे।

संवादकी स्वाभाविकता

ॐ प्राह्य. परिस्थितिस्वभावानुसूपो हि संवादः ॥

[स्थिति स्वभाव अनुसूप सदा हो नाटकीय संवाद ।]

पात्र-बोझाले प्रसंगमें हम विस्तारसे संसारके मनुष्योंके अनेक प्रकारोंका विवेचन कर चुके हैं किन्तु संवादकी दृष्टिसे एक नये प्रकारसे भी उनकी सीमासा कर लेना बाँझनीय होगा। संसार भरके सब लोगोको हम छः प्रकारसे विभाजित कर सकते हैं—

१—अपना अहित करके तथा कष्ट सहकर भी दूसरोंका हित करनेवाले (महापुरुष)।

२—दूसरोंके हितका ध्यान रखते हुए अपना हित करनेवाला (सत्पुरुष)।

३—दूसरोंके हित या अहितसे दूर रहकर केवल अपना हित देखनेवाला (साधारण पुरुष)।

४—दूसरोंका अहित करके अपना हित साधनेवाला (दुष्ट)।

५—अकारण दूसरोंका अहित करनेवाला या दूसरोंकी पीडा देनेवाला (राक्षस)।

६—अपने या दूसरोंके हित और अहितमें उदासीन रहनेवाला (विरक्त, उदासीन, मोहजित या स्थितप्रज्ञ)।

नाटककारको संवाद लिखनेसे पूर्व यह निश्चय कर लेना चाहिए कि वह नाटकके किस पात्रको किस रूपमें लिखित करना चाहता है। उसीके अनुसार उस पात्रसे वचन कहलाना उचित होगा। बहुतसे नाटककार संवादका यह प्रतिष्ठ और आश्चर्यक तत्त्व न जाननेके कारण अत्यन्त उदात्त चेता इतिहास-प्रसिद्ध पात्रोंसे अत्यन्त साधारण बातें स्वाभाविक समझकर कहला देते हैं किन्तु उन्हें यह समझ रखना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्तिका कर्म, विचार और वचन सब उसके स्वभावपर निर्भर हैं। अतः समाजिक संवादका यह तात्पर्य नहीं है कि किसी विशेष अधरुथामें अधिकारा मनुष्य जो करते हों, कहते हों या सोचते हों वही स्वाभाविक है वरन् स्वाभाविक संवाद वही

है जो किसी व्यक्ति विशेषकी प्रकृतिके अनुकूल हो अर्थात् जब कोई व्यक्ति एक ही परिस्थितियोंमें सदा एकसा ही आचरण करता हो, एकसा सोचता हो और एकसा कहता हो वही उसका स्वाभाविक रूप है। किन्तु पात्र-बोझाले प्रसंगमें हम कह आए हैं कि यह स्वाभाविकता होते हुए भी कुछ ऐसी विशेष परिस्थितियों आ पड़ती हैं जिनमें मनुष्यका आचरण निश्चर और उद्गार भिन्न हो जाता है अतः ऐसी विशेष परिस्थितियोंको छोड़कर शेष स्थानोंमें संवाद लिखते समय पात्रोंकी प्रकृति और उनकी पर्यादाका ध्यान रखना चाहिए। यही संवादको स्वाभाविकता है अर्थात् विभिन्न अवस्थाओंमें जो कहा जाता है, कहा जाना चाहिए और कहा जा सकता है वही कहलाना संवादकी श्रेष्ठता है और वही संवादकी स्वाभाविकता है।

संवादकी परिस्थितियाँ

ॐ मन.स्थितिप्रेरितासंवादाः ॥

[मनकी स्थितिसे प्रेरित होते नाटकके संवाद ।]

जीवनकी समस्त परिस्थितियोंमें पढ़कर मान-मन जैसा चिन्तन करना है और उसका जैसा संस्कार होता है उसीके अनुसार वह मनुष्य बोलता है। जो कम पढ़ा लिखा, समाजकी उच्च श्रेणियोंके लोगोंसे सम्पर्क नहीं रखता उसकी बातचीतमें सरलता, रूपापन तथा उक्ति-चातुर्यका अभाव होगा। ज सुसंस्कृत समाजके पढ़े-लिखे लोग होंगे उनकी वाणीमें लाक्षणिकता, सरसता तथा उक्ति-चातुर्यकी विशेषता होगी। इसी प्रकार मूर्खकी वाणीमें असंगति, प्रमाद, अज्ञान तथा असबदता होगी, धूर्तकी बातचीतमें पापगणप छल, कपट, झूठ, चाटुकारी और प्रवंचनाकी अधिकता होगी, दम्भीके वचनोंमें परनिन्दा तथा आत्म-श्लाघाकी प्रचुरता होगी और सत्पुरुषके वचनोंमें सत्यता, निश्चलता, विवेक तथा पर-पर्यादाका अधिकार होगा। जगली लोगोंकी बातचीत संक्षिप्त होगी, सम्य पुरुषकी बात अधिक विस्तृत होगी। तात्पर्य यह है कि मनुष्य जितना सम्य और चतुर होता है उतनी ही उसकी वाणीमें सरसता और बहुरूपता होती है, जितना ही असम्य और मूर्ख होता है उतनी ही उसकी बातचीतमें नीरसता और एकसुता व्याप्त रहती है अर्थात् सामाजिक संस्कारके

अनुसार मानसिक संस्कार बनता है और मानसिक संस्कारके अनुसार वाणीका संस्कार बनता है ।

इस प्रकार यदि हम मनुष्य की साधारण प्रवृत्तियोंका परीक्षण करें तो हमें तीन प्रवृत्तियाँ मिलेंगी—

१—स्वार्थ प्रवृत्ति

२—परार्थ प्रवृत्ति

३—वर्ग प्रवृत्ति

स्वार्थ-प्रवृत्तिके अन्तर्गत निम्नलिखित भावनाएँ आती हैं—

सब प्रकारसे आत्मरक्षा, सब प्रकारसे अपने प्रिय परिजनकी रक्षा, सब प्रकारसे जीविकाकी रक्षा, सब प्रकारसे सम्पत्तिका उपाजन और उसका संरक्षण, सब प्रकारसे अपने लिये एक या अनेक संगीनी या संगिनी (स्त्री का अपने लिये पुरुष संगी और पुरुष का अपने लिये स्त्री संगिनी) प्राप्त करना, सब प्रकारसे यश प्राप्त करना, सब प्रकारसे अपनी आन या मर््यादाका रक्षण, मित्र-संग्रह, सेवकसंग्रह, जन-संग्रह (सना या सहायकके रूपमें) तथा मनोनिरोध ।

इन उपर्युक्त भावनाओंको दृष्ट और पुष्ट करनेके लिये मनुष्य बल, बुद्धि, सेवा, याचना, धन, संपत्ति और बनका प्रयोग करता है । जो सद्बृत्तिज्ञान मनुष्य होगा वह इन उपर्युक्त साधनोंके प्रयोगमें अच्छे तथा लोकहितकर प्रकारसे अपनी विभिन्न भावनाओंकी तृप्ति करेगा, जो दुष्टुत्त होगा वह बुरे तथा अहितकर उपायोंसे तृप्ति करेगा । अतः उनके संवादोंमें उनकी प्रवृत्तिके अनुसार भाषाका उद्गार करना चाहिए ।

परार्थ प्रवृत्तिके अन्तर्गत—निम्नलिखित भावनाएँ आती हैं—

सब प्रकारसे किसी एक व्यक्ति, वर्ग, समाज, देश, मनुष्यमात्र, बीजमात्र अथवा सृष्टिमात्रकी रक्षा, सहायता, सेवा अथवा उनका विनाश तथा पीड़न ।

वर्ग—प्रवृत्तिके अन्तर्गत इतनी भावनाएँ आती हैं—

अपने वर्ग या समाजकी प्रशंसासे प्रसन्न होना, निन्दासे अप्रसन्न होना तथा अपने वर्गकी आकांक्षा, प्रवृत्ति तथा उद्योगमें सहयोग देना वह चाहे अच्छा हो या बुरा ।

कुछ ऐसे भी लोग होते हैं जिनमें आत्मस्य अथवा विरागके कारण प्रवृत्त-युक्तता होती है ।

इनके अतिरिक्त भोजन प्राप्त करने, निद्रा लेने, भय-

भीत होने और काम-वासनामें प्रवृत्त होनेकी भावना सब प्रकारके स्वस्थ मनुष्योंमें होती है ।

ऊपर जिन अनेक प्रवृत्तियोंका विवरण दिया गया है उनकी अवस्थाएँ निम्न निम्न होती हैं और उन अवस्थाओंके अनुसार आचरण और वाणीमें भेद हो जाता है । इन अवस्थाओंमें तीन मुख्य अवस्थाएँ हैं, शेष उन्हींसे उत्पन्न हैं । एक है राग या प्रेम, दूसरी है घृणा, तीसरी है उदासीनता या उद्वेग । संसार भरके मनुष्यों, प्राणिमों तथा वस्तुओंके प्रति या तो हमारा राग या प्रेम होता है अर्थात् वे हमे अच्छे लगते हैं, या हमें उनसे घृणा होती है अर्थात् वे हमे बुरे लगते हैं या हम उनसे उदासीन रहते हैं (अर्थात् वे चाहे अच्छे हों या बुरे, हम उससे उदासीन रहते हैं) ।

इस प्रेम या रागमें हम किसी गुणके कारण किसीपर रंभते हैं, उसकी ओर आकृष्ट होते हैं, उसमें गुण ढूँढते हैं, उसकी प्रशंसा करते हैं, उसे अपनातेके लिये प्रयत्न करते हैं उनके न मिलनेपर व्याकुल होते हैं, इस प्रयत्नमें बाधा पड़नेपर क्रम और आकुल होते हैं, उसकी उदासीनता पर दुःख है, उनपर खाम्भते हैं दूसरा उसे प्राप्त करनेका प्रयत्न करता हो तो उसमें हर्षा या वैर करते हैं, प्रतिस्पर्धकों हराने तथा भार्यसे हटानेका प्रयत्न करते हैं और उस प्रिय या इष्ट व्यक्ति अथवा वस्तुके प्राप्त हो जानेपर हर्षित होते हैं ।

घृणाके कारण हम किसी व्यक्ति या वस्तुसे दूर रहते हैं, उसमें दोष ढूँढते हैं, उसकी निन्दा करते हैं उसे दूर रखनेका प्रयत्न करते हैं, पास आनेपर व्याकुल, अस्वस्थ और रुष्ट होते हैं, कोई उसे रीकार करता हो तो प्रसन्न होते हैं कि जलो अच्छा हुआ हमसे मित्र हुआ, उसके ग्रहण करनेवाले व्यक्तियों को प्रोत्साहित करते हैं और उस व्यक्ति या वस्तुके विनाशसे प्रसन्न होते हैं ।

उदासीनताकी अवस्था आनंदी, अकर्मण्य, विरक्त, मोहजित् अथवा स्थितप्रज्ञमें होती है ।

संसारमें ६ प्राण्य पदार्थ हैं जिनके निमित्त संसारमें सभी मानव-चेष्टाएँ होती हैं । वे हैं—१. संपत्ति या राज्य, २. स्त्री और परिवार ३. विद्या, ४. आशुष्य, (शरीरकी स्वस्थता और कुशलता), ५. यश और ६. मोक्ष या ईश्वर-प्राप्ति । इन छः पदार्थोंके अनुसार परीक्षण करनेपर तथा संसार भरके लोगोंके मनके भावोंके अध्ययन करनेपर ऊपर बताई हुई

अवस्थाओंमें मननी निम्नलिखित वृत्तियोंके युग्म प्राप्त होते हैं—

१. अनुराग—व्यक्ति, जीव, वस्तु क्रिया या भाव (प्रियचिन्तन, आलस्य, निद्रा, या तन्मयता)के प्रति घृणा—व्यक्ति, जीव, वस्तु, क्रिया, या भावके प्रति ।
२. ज विका प्राप्त करनेकी, जीविका छोड़ने की
- ३ जीविकाके रक्षण करनेकी, जीविका नष्ट करनेकी ।
४. दूसरेको जीविका दिलानेकी, दूसरेकी जीविका हरण करनेकी ।
५. सेवक, मित्र, सहायक या समाज सग्रह करनेकी, सेवक, मित्र, सहायक या समाज त्याग करनेकी ।
६. सेवक, मित्र, सहायक या समाज बढ़ानेकी, सेवक मित्र, सहायक या समाज घटानेकी ।
७. अपने शरीरकी रक्षा करने की (रोग, शत्रु जल अग्नि, आपात तथा सर्पादिसे) अपने शरीरको अरक्षित करनेकी या स कटमें डालनेकी ।
८. शरीरका संवर्धन करनेका (व्यायाम, पौष्टिक भोजन आदिसे) शरीरका ह्रास करनेकी (उपवास आदिसे)
९. यश प्राप्त करनेकी, यश नष्ट करनेकी ।
- १० यश बढ़ानेकी, यश घटानेकी ।
११. दूसरेका यश बढ़ाने की (स्तुति या प्रशंसासे) दूसरेका यश घटानेकी (निन्दा या अप्रिय स्तुतिसे),
१२. अपनी मर्यादा बनाए रखनेकी, अपदी मर्यादा नष्ट करनेकी ।
१३. धन, शक्ति, वस्तु या राज्य संग्रह करनेकी । धन, स पत्ति, वस्तु या राज्य त्याग देनेकी
१४. धन, स पत्ति, वस्तु या राज्यकी रक्षा करनेकी, धन, स पत्ति वस्तु या राज्यका नाश करनेकी ।
१५. दूसरेको धन, स पत्ति, वस्तु या राज्य देनेकी दूसरेको धन, स पत्ति, वस्तु या राज्य लेनेकी ।
१६. परिवार सग्रह करनेकी, परिवार त्याग देनेकी ।

७. परिवारके पालन और रक्षणकी, परिवारके अपालन और अरक्षणको ।

८. परिवारकी उन्नतिकी, परिवारकी अवनतिकी ।
 १९. भयभीत होनेकी, निर्भीक होनेकी ।
 २०. आलस्य ग्रहण करनेकी, आलस्य त्याग करनेकी
 - २ वल्पना करनेकी, व्यवहार करनेकी ।
 २२. दूसरेका हित करनेकी, दूसरेका अहित करनेकी ।
 - २३ मनोविनोदकी, बुद्धते रहनेकी ।
 - २४ सत्साहसका कार्य करनेकी, दुःसाहसका कार्यकरनेकी ।
- ऊपर जिन मनोवृत्ति युगोंका उल्लेख किया गया है वे सब मनकी चार अवस्थाओंसे प्रभावित होते हैं—
१. स्वभावसे जो नित्यके अभ्यासे सध गया हो ।
 २. आवेशसे जिसमें विचार करनेका अवसर न मिलता हो ।
 ३. विवेकसे जिसमें भली प्रकार सब पक्षोंका विचार करके निर्णय किया गया हो ।
 ४. अज्ञानसे जिसमें अज्ञानने कोई काम कर दिया गया हो । इसके अन्तर्गत निद्रा, पागलपन, अपरमार, रोग आदि अवस्थाओंकी क्रियाएँ भी आ जाती हैं । ये चारों अवस्थाएँ भी मनुष्यकी प्रकृतिपर अवलम्बित हैं और यह प्रकृति उत्तम ग-कुल ग, सुविद्या-सुविद्या, सुसंस्कार-कुसंस्कार, पिछले जन्मोंके सुकर्म या कुकर्मोंके अनुराग धनर्त है ।
- समादके लिये ऊपर दिए हुए चौबीस वृत्ति-युगोंकी व्याख्या कर लेनी चाहिए । इस क्रममें सबसे पहले अनुाग और घृणापर विचार करना उचित है ।
- ॐ विनाशमीरुत्वमनुरागः ।
- [जिसने विनाशसे भय हाता, उससे होवा अनुराग सदा]
- जब किसी व्यक्ति, जीव, वस्तु, क्रिया या भावके विनाश, लोप, अस्तनिधि, अभाव, अथवा उसपर समाहित या सभूत स कष्टसे मन व्याकुल होता है तो समझ लेना

चाहिए कि उस व्यक्ति, जीव, वस्तु, क्रिया या भावसे उसका अनुगम है ।

ॐ अस्वाभाविकोस्वाभाविकश्च । निःस्वार्थे स्वाभाविकः स्वार्थेऽस्वाभाविकश्च ।

[स्वभाविक या अस्वाभाविक, होता है अनुगम ।

बिना स्वार्थका स्वाभाविक है, अस्वाभाविक स्वार्थ]

यद् अनुगम दो प्रकारका होता है स्वाभाविक और अस्वाभाविक ।

जिस अनुगममें प्रिय या इष्टसे कुछ प्राप्त करने, जीवन-यापन करनेकी लुचिचा प्राप्त करने अथवा अन्य किसी प्रकारके मौलिक सुख या लाभकी प्राप्तिकी भावना होती है वह अस्वाभाविक होती है, जिसमें स्वार्थकी भावनाके बिना केवल उस इष्ट या प्रियको प्राप्त रखने, उसका कुशल चाहने, उससे संपर्क बनाए रखने तथा उसे अमंगलसे बचाए रखनेकी भावना हो यहाँ स्वाभाविक अनुगम होता है ।

इस अनुगमका कई श्रेणियाँ होती हैं जिनमेंसे ये मुख्य हैं—

शरत्परिक मानव अनुगम—

१. स्त्रीका पुरुषके प्रति—

माधुर्य भावसे (पत्नी या प्रेमिका-भावसे), सखी या मित्र-भावसे, कन्या-भावसे, पौत्री भावसे, मातृभावसे, भगिनी भावसे, दूती भावसे, सेविका भावसे, चेर्या भावसे, शिष्या भावसे, प्रशंसिका भावसे, उपाधिका भावसे, स्वामिनी भावसे, साधुनी भावसे, गुव भावसे ।

२. पुरुषका स्त्रीके प्रति—

पति भावसे, प्रेमी भावसे, मित्र भावसे, पिता भावसे, पुत्र भावसे, पौत्र भावसे, भ्रातृ भावसे, स्वामी भावसे, जार भावसे, सेवक भावसे, गुरु भावसे, शिष्य भावसे, प्रशंसक भावसे, साधु भावसे, पढ़ोसी भावसे नागरिक भावसे,

३. पुरुष और स्त्रीका परस्पर अनुगम (प्रेमी-प्रेमिकाके रूपमें)

४. पुरुषका पुरुषके प्रति—

क. पिता या पितामहका पुत्र या पौत्रके प्रति (वात्सल्य)
ख. पुत्रका पिताके प्रति (आदर) या पौत्रका पितामह या मातामहके प्रति ।

ग. गुरुका शिष्यके प्रति (वात्सल्य)

घ. शिष्यका गुरुके प्रति (भ्रष्टा)

ङ. मित्रका मित्रके प्रति (स्नेह)

च. एक सहायी, सहधर्मी या सहकर्मीके प्रति (विश्वास पूर्वक आत्मीयता)

छ. राजाका परिजनके प्रति तथा प्रजाके प्रति

ज. राजाका दूसरे राजाके प्रति ।

झ. एक देशवासीका दूसरे देशवासीके प्रति

ञ. परिजनका राजाके प्रति

ट. सेवकका स्वामीके प्रति

ठ. स्वामीका सेवकके प्रति

ड. एक पुरुषका किसी बालक या युवकके प्रति (वात्सल्य)

ढ. साधारण मनुष्यका महापुरुषके प्रति (आदर)

५. स्त्रीका स्त्रीके प्रति

(क) माताका पुत्रीके प्रति

(ख) पुत्रीका माताके प्रति या पितामहीके प्रति

(ग) शिष्याका गुरु (स्त्री) या गुरुपत्नीके प्रति

(घ) स्वामीका सेवकके प्रति ।

(ङ) सेवकका स्वामीके प्रति

(च) गुरु स्त्रीका शिष्य या शिष्याके प्रति

(ज) सखीका सखीके प्रति

(झ) स्वामिनीका दासके प्रति

(ञ) दासीका स्वामिनीके प्रति

(ट) पढ़ोसिनका पढ़ोसिनके प्रति

(ठ) गृहस्थिनका साधुनीके प्रति

(ड) साधुनीका गृहस्थिनके प्रति

जीवसे अनुगम भी दो प्रकार होता है—स्वार्थपूर्व तथा निःस्वार्थ पूर्ण ।

गौ, भैंस, बकरी आदिसे दूधके कारण तथा मांस-भक्षिजन मांसके लोभसे अपने पालित जीवसे अनुगम करते हैं । कुत्ते, बिल्ली आदिसे गृहरक्षाके निमित्त अथवा चूहोंसे बचनेके लिये अनुगम होता है ।

तोता, मैना आदि पक्षियोंसे उनके सौन्दर्य, मधुरता आदिके कारण निःस्वार्थ अनुगम होता है । कभी कभी यह अनुगम चालतय भावतक पहुँच जाता है । अश्व, गव, हृषम आदिसे स्वार्थपूर्णा अनुगम होता

हैं और इसमें भी कभी कभी परम सखा—भारता अनुराग हो जाता है जैसे रागाप्रतापका चेतक घोड़ेसे था ।

जीव भी सेना, भोजनदान तथा सद्बन्धवहारसे मनुष्यसे स्नेह करने लगते हैं और अपने पोषकके लिये प्राणतक उत्सर्ग कर देते हैं । उनकी यह भावना स्वामिमक्ति भी कही जा सकती है और मैत्री भी । यह अनुराग एकपक्षी भी हो सकता है और उभयवर्ण भी । कुत्ते, हाथी, और घोड़े भी स्वामिमक्ति और मृषकी सहचर-वृत्तिके अनेक उदाहरण मिलते हैं । प्रायः पक्षी बड़े स्थायी होते हैं । इनमेंसे शुक तो इतना स्थायी होता है कि अक्सर पाते ही उड़ जाता है । कवचरसे दूतका काम लिखा जाता है । वह प्रायः लौटकर अपने अट्टखेपर आ जाता है । मोरके साथ भी यही बात है, किन्तु अन्य पक्षी अक्सर बदलते हैं । कुछ जीव बन्दर, सिंह आदि मनुष्यक इच्छाके अनुसार काम करनेके लिये शिक्षित किए जाते हैं किन्तु वह प्रदर्शन मानके लिये, न्ययहारके लिये नहीं ।

वस्तुओंके प्रति जो अनुराग होता है वह एकपक्षीय मत्त्व है किन्तु उन वस्तुओंमें कुछ ऐसी हैं जिनसे हमारा मनोविनोद तथा स्वार्थ—साधन भी होता है । पुस्तक, वाद्य यन्त्र, तूलिका तथा जीविकाके यन्त्रोंमें हमारा सखा भाव रहता है, शेषमें स्वामित्वका आत्मनीयता होती है । कुछ वस्तुएँ जो शोभाके लिये संग्रह की जाती हैं उनका केवल प्रदर्शन-महत्त्व होता है जो वैभवसिद्धि तथा आत्मनिष्ठापनमें योग देती हैं । इन वस्तुओंके प्रति भी जो मत्त्व या अनुराग होता है वह उसी स्तरका होता है जैसा किसी प्रिय व्यक्तिके प्रति क्योंकि उन वस्तुओंके कारण अपने अहंकी तृप्ति होती है ।

सिद्धान्त, विचार या भावोंके प्रति भी लोगोंका अनुराग होता है जैसे सरयूके प्रति, अहिंसाके प्रति, लोकसेवाका भावनाके प्रति अथवा यक्ति-भावना आदिके प्रति ।

क्रियाओंके प्रति भी अनुराग हो जाता है जैसे व्यायाम करने, व्याख्यान देने, स्नान करने, शृङ्गार करने, युद्ध करने, मल्लयुद्ध देखने, निलंबने, पढ़ने, कथा सुनने, पाठपूजा करने कथा सुनने आदिकार । इनमें व्यायाम करनेके क्लृप्त, व्याख्यानके विषय, स्नानके पदार्थ, शृङ्गार छंदों, युद्धका लक्ष्य, लेख, पाठ्य अथवा कथाके विषय आदिके

कोई सम्बन्ध या अनुराग नहीं होता केवल उस क्रियामें आसक्ति होती है । यह मनोविनोदके अन्तर्गत नहीं आता केवल क्रियामें अनुराग या आसक्ति है । यह आसक्ति ही अति होनेपर व्यसन बन जाती है ।

घृणा

अनुरागके समान ही घृणाकी भी कई श्रेणियाँ होती हैं । स्त्रीको पुरुषके प्रति—शत्रुसे सम्बन्ध, कुरूपता, कुसुवहार, अकर्मण्यता, कठोरता, क्रूरता, विश्वासघात, परस्त्रीमें आसक्ति आदिके कारण ।

पुरुषकी स्त्रीके प्रति—शत्रुसे संबद्धता, कुरूपता, कर्मण्यता, क्रूरता, अकर्मण्यता, विश्वासघात, परपुरुषमें आसक्ति आदि के कारण ।

पुरुषको पुरुषके प्रति—शत्रुसे संबद्धता, अपकार, विश्वासघात, निन्दा, अपमान, अत्याचार ।

स्त्रीको स्त्रीके प्रति—शत्रुसे संबद्धता, कुरूपता, क्रूरता, विश्वासघात, निन्दा, अपने विषये प्रेम, अपमान, कर्मण्यता आदि ।

पुरुष या स्त्रीकी किसी जीवके प्रति—हानिकारक या निरर्थक होनेके कारण ।

किसी जीवकी किसी पुरुष या स्त्रीसे घृणा—घातक होने या बध्दकर होनेके कारण ।

किसी वस्तुमें घृणा—हानिकारक या अक्षयिकार होनेके कारण ।

किसी क्रियाके प्रति—अक्षयिकार होनेके कारण ।

किसी मान, सिद्धान्त या विचारके प्रति—अपने भाव, विचार या सिद्धान्तसे भिन्न होनेके कारण या किसी वैधे-द्वारा प्रतिपादित होनेके कारण ।

शेष वृत्तियों सर्वसिद्ध और स्पष्ट हैं ।

इन सभी वृत्तियोंके निर्गममें मनके आठ भाग निरन्तर योग देते रहते हैं । वे हैं—यति, हास, उत्साह, शोक, क्रोध, भय, आश्चर्य और घृणा । काश्चात्स्वित्तोने इन्हीं भावोंको स्थायी भाव बताया है और यह कहा है कि ये भाव ही निभाव, अनुभावन तथा सचारी भावके तत्त्वगत अर्थात् उचित भवनेसे रसकी निरूपति या सिद्धि करते हैं । रसके प्रकथनमें हम इनको विस्तृत मीमांसा करेंगे । यहाँ केवल सचारी भावोंकी पारुष्य कर देना आवश्यक है क्योंकि संवाद लिखनेके लिये इनका ज्ञान आवश्यक है ।

॥ वृत्तिपोषकस्थिरभावास्तु संचारिणः ॥

[सभी वृत्तियोंके पोषक हैं अस्थिर या संचारी भाव ।]

ऊपर जिन चौबीस वृत्ति युग्मोंका विवरण दिया गया है उनका निर्वाह या संरक्षण आठ स्थायी भावोंके द्वारा होता है किन्तु उनका पोषण उन सहायक भावोंके द्वारा होता है जो अस्थिर होते हैं अर्थात् जो कुछ कालके लिये आते हैं, फिर लुप्त हो जाते हैं, एक साथ कई आते हैं या एक एक किसी विशेष क्रमसे आते हैं । नाश्रय-ग्रन्थोमे तथा साहित्य ग्रन्थोमे ऐसे संचारी भाव तैत्तिरीय गिनाए गए हैं । भावोंकी परिभाषा उन ग्रन्थोमे यह बताई गई है—

वागंगकत्वोपैतान् काव्यार्थान् भावयन्तीति भावाः ।

अर्थात्, वाणी (वाचिक अभिनय), अंग-वेष्टा (आंगिक अभिनय) तथा सात्विक अशुभूतिके प्रदर्शन (सात्विक अभिनय) के द्वारा जो काव्यार्थकी भावना करावे उसे भाव कहते हैं किन्तु अभिनयभरतका मत है कि—

॥ याहा प्रतिक्रिया-स्वानुभूतिसंभूतमनोविकार एव भावः ॥

[मन, अनुभूति और कारकी प्रतिक्रियासे भाव उपजते ।]

जीवनमे हम कुछ तो स्वयं सोचते, विचारते या इच्छा करते हैं और कुछ ऐसे विचार हैं या मनके विकार हैं, जो बाह्य जगत्की क्रियाओं, परिस्थितियों, वस्तुओं, व्यक्तियों और विचारोंके प्रभावसे हमारे मनमे कोई विशेष विकार उत्पन्न कर देते हैं । ये सभी भाव कहलाते हैं । इनमेंसे संचारी भावका व्याख्या हम ऊपर कर चुके हैं । इन भावोंमेंसे ही आठ ऐसे हैं जो अभ्यास और संस्कारके कारण मानवमानवमें स्थिर हो गए हैं—इन्हींको स्थायी भाव कहते हैं । इलीलिये अभिनयभरतका मत है—

॥ संस्काराभ्याससिद्धाः स्थायिभावाः ।

[संस्कार और अभ्याससे, सिद्ध हुए हैं स्थायी भाव ।]

किन्तु मनकी एक अवस्था स्थितप्रज्ञताकी ऐसी भी हो जाती है जब मनमे कोई भाव नहीं रह पाता । इस 'शान्ति' को भी कुछ आचार्योंने माय या मनोविकार मान लिया है पर यह भ्रमात्मक है । इस पर हम रस-प्रकरणमे विस्तारसे विचार करेंगे ।

तैत्तिरीय संचारी भाव ये माने गए हैं— निर्वेद, ग्लानि,

शंका, अम, धृति, जड़ता, हर्ष, दैन्य, उग्रता, चिन्ता, श्वास, अस्पृहा, अमर्ष, गर्व, धृति, भरण, मद, स्वप्न, निद्रा, विबोध, मोह, अस्मार, मोह, मति, आलस्य, आवेग, तर्क, अहिंसा, व्याधि, उन्माद, विपाद, औसुक्य और व्यपलता । किन्तु अभिनयभरतका मत है कि सत्रह और भी संचारी भाव हैं—लौभ, ईर्ष्या, लालसा, कामना, आसक्ति, कुतूहल, अज्ञा, विश्वास, विनोद, प्रविष्टि, प्रवंचना, आशा, निराशा, मान, उपेक्षा, स्वर्द्धा और विषय । इस प्रकार कुल पचास संचारी भाव होते हैं किन्तु आगे हम देखेंगे कि वास्तवमे स्थायी भाव कतीस ही होते हैं । इन सब भावोंके साथ अनेक क्रियाएँ तथा अनेक लक्षण प्रकट होते हैं । कुछ लोगोंने मात्सर्य, उद्वेग, दंभ, विवेक, निश्चय, क्षमा, उत्कंठा आदि भावोंको भी संचारी माना है किन्तु अन्तर्गमिणीकारके अनुसार असूया, नाश, वर्वाहत्या, अमर्ष, मति, धृति, औसुक्य और चालतामें ही इनका समवेश हो जाता है । येमे 'कुल'को चौत्तीसवाँ संचारी माना है । यह अभिनयभरतके प्रवंचनाके अन्तर्गत आ जाता है । पहले हम काव्यशास्त्रोक्त संचारी भावों और उनके साथ प्रकट होनेवाले लक्षणोंका विवरण दे रहे हैं । इसके पश्चात् स्थायी भावोंके साथ प्रकट होनेवाले संचारी भावों और क्रियाओंकी व्याख्या करेंगे ।

१. निर्वेद—सन्तुष्टान्, साधुसंगति, ईर्ष्या, परान्व, अपमान, असफलता आदिके कारण जब मनुष्य अपनेको धिक्कारने लगता है और संस्कारके सब पदार्थों और जीवोंको व्यर्थ, निकृष्ट, नश्वर, अविश्वस्त, घृणित और अनिष्ट-कर समझने लगता है तब वह निर्वेद मान कहलाता है । निश्वास छोड़ना, उशस रहना, रोना, विद्वाना, दैन्य, मुँह मूखाना, एकान्तवास करना, सबसे दूर रहना इसके लक्षण हैं ।

रति (संभोग), भूल, प्याव, परिश्रम, मनस्ताप आदि कारणोंसे जो अनुत्साह, शिथिलता, तथा श्रयति उत्पन्न होती है उसे ग्लानि कहते हैं । इसमें मनुष्यकी कुछ अच्छा नहीं लगता है । विषण्णता, कंठ, अनुत्साह और शरीर तथा बचनोंकी क्षीणता, ये लक्षण प्रकट होते हैं ।

दूसरोंके द्वारा श्रयता अपने ही दुर्व्यवहारसे अपनी इष्ट-हानि या अपने प्रियकी इष्ट-हानिका पूर्वाभास मिलनेकी शंका कहते हैं । इसमें इष्टहानिके भयकी व्याकुलता

रहती है। इसमें शरीरका कौपिना और सुखना, चिंताकुल दृष्टि, विवर्णता, व्यग्रता और स्वर-भेद आदि लक्षण होते हैं।

यात्रा, रति, परिश्रम, दौड़धूप आदि कारणांश जो यकायद हो, उसे श्रम कहते हैं। इसमें पवीना आना, अगोंमें कंठन होना, प्यास लगना, लैटना, लगी सास लेना आदि लक्षण होते हैं।

ज्ञान, संस्कार अथवा शक्ति आदिके कारण जो अत्यन्त आनन्द तथा विस्वास देनेवाला संतोष होता है उसे धृति या धैर्य कहते हैं। इटता, पुरुषार्थ तथा निश्चिन्तता इसके लक्षण हैं।

किसी इष्ट अथवा अनिष्ट बातको देखने अथवा सुननेसे कुछ क्षणोंके लिये कार्य करनेकी शक्ति खो जानेकी जड़ता कहते हैं। अचंचल भावसे स्तम्भित रह जाना, ठक रह जाना, और निर्निमेष दृष्टि उसके लक्षण हैं।

किसी कार्यके सिद्ध होनेसे अथवा उत्सवादिसे मनको जो अत्यन्त प्रसन्नता होती है उसे हर्ष कहते हैं। उल्लास, व्यग्रता, आस बहना, पवीना निकलना और गद्गद वचन इसके लक्षण हैं।

विरह अथवा आपत्तिके कारण जब कोई निरन्तर हो जाता है तब उसके इस भावको देम्य कहते हैं। इस अन्वस्थामें कड़े हुए शब्दोंमें, अनुनय, विनय, आत्म समर्पण और दीनताका भाव रहता है। धराराहट, गिड़गिड़ावा, अनेको हीन बताना, सबकी सहायता मांगनेकी दौड़ना, प्रार्थना करना, दौंते दिखाना इसके लक्षण हैं।

किसी दुष्टके दुष्कर्मी, दुर्वचनों, अथवा क्रूरतासे स्वभावके प्रचंड हो जानेकी उग्रता कहते हैं। इसमें पवीना आता है, तीक्ष्ण वचन मुँहसे निकलते हैं, उसका सिर कौपता है और वह तर्जन ताडन भी करता है।

किसी व्यक्ति या इष्ट पदार्थके न मिलनेपर अथवा उसके विरहमें उसीका ध्यान बना रहना चिंता कहलाता है। इसमें वेगसे साँस चलने लगती है, शरीरका ताप बढ़ जाता है और ऐसा प्रतीत होता है मानो उस पदार्थके बिना जीवन शून्य हो गया हो।

बादल अथवा सिंह आदिके गर्जन, शत्रुओंकी चढ़ाई, डाकू आदिके आक्रमण अथवा ऐसी ही और मयप्रद घटनाओंसे मनमें जो धराराहट उत्पन्न होती है, उसे त्रास

कहते हैं। इसका प्रधान लक्षण कंप, वैद्यर्ष्य और स्वरभंग (विधियाना) है।

असूया—दूसरेकी उन्नति न सह सकनेको असूया कहते हैं। इसकी उत्पत्ति तीन कारणोंसे हो सकती है—गर्वसे, दुष्ट स्वभावसे अथवा क्रोधसे। इसके लक्षण हैं—दूसरेमें दोष निकानना, निन्दा करना, अपमान करना, चिढ़ना, ताने मारना, क्रोध करना, झुंझुकी चढाना तथा क्रोध-दूचक मुद्राएँ करना।

किशोके दुर्वचनोंसे अथवा किशोके द्वारा किए गए अपमानके कारण उसके बदलेमें उस व्यक्तिके अहंकारकी नष्ट करनेकी उत्कट अभिलाषाको अमर्ष कहते हैं। इसके और उग्रताके लक्षण एकसे ही होते हैं। अमर्षके कारण भी पवीना आता है, सिर कौपता है, मनुष्य भर्त्सनाके वचन कहता है और मार-नीट भी करनेपर उत्तार होता है। उग्रताका भाव उत्सुकता होता है अथवा अपकीकी दंड देनेका सामर्थ्य हो, अमर्ष तब होता है जब दंड दे सकनेमें असमर्थता हो, केवल उत्कट खीभ और रोष हो।

अपने कुल, सौंदर्य, वन, ऐश्वर्य, पद आदिकी एँठकी गर्व कहते हैं। गर्वके कारण मनुष्य दूसरोंको उपेक्षा और घृणाकी दृष्टिसे देखता है और सबसे अपना सम्मान कराना चाहता है। ईर्ष्याको दम भी कहते हैं। गर्वले व्यक्तिका एक यह भी लक्षण है कि वह अपने शरीर, बल, संपत्ति वेप-भूषा आदिको बड़े अभिमानसे देखता और उनका वर्णन करता रहता है।

पहलेकी देखी हुई वस्तुके समान अथवा उससे संबद्ध किसी अन्य वस्तुको देखकर धारणा-शक्तिके द्वारा मनमें उस पहले देखी हुई वस्तुका जो रूप जाग उठता है वही स्मृति कहलाता है। किसी व्यक्ति, बात या वस्तुकी स्मृति होनेपर भौहें भिक्कु जाती हैं, आँसें खिल जात, हैं, मनुष्य चिन्ताशील हो जाता है, रो उठता है, मौन हो जाता है, गुस्तर हो जाता है तथा अन्य ऐसे ही लक्षण दृष्टिगत होते हैं।

मरण—धनवन्धने मरणकी व्याख्या इसलिये नहीं की है कि उन्होंने मरणका अभिप्राय प्राणोंका छूट जाना माना है। कुछ लोगोंने मरणसे यहाँ मृत्युसे पूर्वकी उस अवस्थाको माना है जिसमें प्राणोंका संयोग रहनेपर भी शरीर मृत अवस्थाके समान निश्चेष्ट रहता है और जिसे

व्यक्ति पुनर्विद्यमान भी हो सकता है । इस अवस्थाको उन्होंने मूर्च्छा भी बताया है । पंडितराज जगन्नाथने भी यही माना है । किन्तु मरण वह मनकी अवस्था है जब मनुष्य संपूर्ण शारीरिक चेष्टाएँ छोड़कर मृत्युके लिये अपनेको आत्मसमर्पित करदे जैसे राजा दिलोपने अपने गुप्त वशिष्ठकी गौकी रक्षाके लिये माया-विद्वेके आगे अपनेको समर्पित कर दिया था । यह भाव अत्यन्त वियोग या त्यागकी अवस्थामें होता है ।

मदिरा आदि मादक वदार्थोंके पानसे उत्पन्न होनेवाली अत्यंत प्रसन्नता या अचेतनताके आनन्दको मद कहते हैं । मदके कारण अंग, वाणी और गति शिथिल या अव्यवस्थित पड़ जाती है । मद्यपौमें श्रेष्ठ लोग नशा चढ़ने पर लौ जाते हैं, मध्यम श्रेणीके लोग हँसी-ठडका करते हैं और अधम श्रेणीके लोग बकते-भकते, भाषपीट करते या रोने लगते हैं ।

स्वप्न अवस्थाका उदय निद्रामें होता है । इसका प्रधान लक्षण स्वासोच्छ्वास तथा बर्बाना है । इसमें कभी दिनको सोचनें हुई बात मुँहसे निकलती है, कभी निर्वचन बातें । इसमें अनेक प्रकारकी आंगिक चेष्टाएँ भी होती रहती हैं जैसे हाथ बढ़ाना आदि, कभी भयानक स्वप्न भी आ जाते हैं जिनमें रोगा-चिह्नलाना या घिघी बेंघना और चौंकाता भी होता है ।

चित्ता, आज्ञास्य, धकावट आदिसे मनकी क्रियाओंके रुक जानेको निद्रा कहते हैं । इसमें जँभाई आती है, हाथ पाँर ताननेको जी करता है, अस्तिं भँपने लगती हैं और रद्द रहकर नींद उचट जाती है ।

नींदके दूट जानेकी विशेष कहते हैं । विशेषमें जँभाई आती है और आदमी अपनी अस्तिं मजता है ।

दुराचरण, कामशासना, प्रशंसा, गुणवर्तोंकी भान-मर्वाद तथा अन्य कारणोंमें चपलताके अभावकी भीड़ा कहते हैं । जिस व्यक्तिकी भीड़ा होती है वह विद्वुडता सा रहता है, अपने मुँह या शरीरको छिपानेका प्रयत्न करता है, उसका रंग पीका पड़ जाता है, सिर झुक जाता है, गाल लाल हो जाते हैं, भँप आती है ।

शरीरके योगसे देवी-देवता तथाभूत-प्रेतसे आविष्ट होने-पर अथवा विपत्ति तथा किसी अन्य कारणसे आद्य हुए आवेशको अवस्तर कहते हैं । अवस्तरसे आक्रांत व्यक्ति

पृथ्वी पर गिर जाता है, उसके शरीरमें परीना बढ़ने लगता है, दाँस वेगते चलने लगती है और मुखसे पैन निकलने लगता है ।

भय, विपत्ति, आवेश अथवा स्मृतिके कारण उत्पन्न हुए चित्तके विवेककी मोह या मूर्च्छा कहते हैं । इसमें अज्ञान, भ्रम, पछाड़ खाना, लडखडाना, देख न सकता आदि लक्षण दिखाई देते हैं ।

शास्त्र आदिके उपदेशोंको ग्रहण करके तथा भौतिक उच्छेदन करके तत्त्वका ज्ञान करानेवाली बुद्धिका नाम भति है । सन्तोष, आत्म-मुष्टि, विवेकपूर्ण कार्य उसके लक्षण हैं ।

आलस्य, धकावट, गर्भ आदि कारणोंसे उत्पन्न हुई अकर्मण्यता या काम न करनेकी भावनाकी आलस्य कहते हैं । आलस्यमें जँभाई और अँगड़ाई आती है तथा लेटने या बैठे हो रहनेकी जी चाहता है ।

मनका धक्कावटको आवेग कहते हैं । यह कई कारणोंसे हो सकता है । यदि राज्य-विप्लव अथवा आक्रमणसे हो तो वीर ताग शस्त्राल दूँटते हैं और हाथी-घोड़े सजाते हैं किन्तु कायर लोग भागने और छिपनेका उपाय करते हैं । आँधी, पानी, विज्रलो, बाढ़ आदिके कारण भी आवेग होता है । इनमें कभी मनुष्य दौड़ता है, कभी अपनेको छिपाता है, कभी भगवान्को पुकारता है । यदि उत्पातसे हो तो अंग शिथिल हो जाते हैं । यदि दृष्ट अथवा अनिष्ट संयोगोंसे हो तो तदनुसार हर्ष अथवा शोक होता है । अग्निसे कारण जो आवेग होता है उसमें मुँह धुँधमें भर जाता है और जब आवेगका कारण हाथी या सिंह आदि होते हैं तब भय, स्तंभ, कंप और भागनेका प्रयत्न होता है ।

संदेह दूर करनेके लिये अथवा मानसिक द्वन्द्वके समय निचारमें पड़ता तर्क कहलाता है । उसमें व्यक्ति अपनी भीड़, सिर, अंग और उँगलियोंकी नचाता है तथा कुछ बर्बाना भी है ।

लज्जा आदि भावोंके कारण अंगके विकारोंके छिपानेकी अवहित्या कहते हैं ।

शारीरिक रोगको व्याधि कहते हैं । वियोगके कारण खनिगत आदि व्याधियाँ हो जाती हैं जिनको रूपकों तथा काव्योंमें बहुधा वर्णन पाया जाता है ।

बिना सोचे-विचारे कोई काम करना उन्माद कहलाता है। यह सन्निपात आदि शारीरिक रोगोंसे भी हो सकता है और ग्रह-योग आदि अन्य कार्योंसे भी। इसमें व्यक्ति बिना कारण रीता, गाता, हँसता, बकता तथा अन्य ऐसे ही काम करता है।

किसी आरंभ किए हुए काममें सफलता न प्राप्त कर सकनेके कारण धैर्य खो जानेको विषाद कहते हैं। इसमें व्यक्ति श्वासोच्छ्वास छोड़ता है, हृदयमें दुःखका अनुभव करता है और सहायकोंको ढूँढता है।

किसी सुलदायक वस्तु या इष्ट व्यक्तिको आकांक्षीसे अथवा प्रेमात्मादके अभिभावमें या धवषादके कारण समय न बिता सकनेको औरसुक्य कहते हैं। इसमें श्वासोच्छ्वास, हडबड़ी, हृदयकी वेदना, पसीना आना और भ्रम आदि लक्षण दिखाई देते हैं।

राग, द्वेष, मात्सर्य आदिके कारण एक स्थितिमें न रह सकनेको चपलता कहते हैं। उसमें भ्रमना, कठोर वचन, स्वच्छद आचरण आदि लक्षण पाए जाते हैं।

आचार्यों द्वारा गिनाए हुए उन तैत्तिष सचारी भावोंमें भ्रम जड़ता, उग्रता, स्मृति, मरण, मद, स्वप्न, निद्रा, त्रिगोच अपस्तार, मोह, मति, आवेग, तर्क, अवहित्या, व्याधि, उन्माद, और चपलता ये तो भावानुगत शारीरिक या बौद्धिक दशाएँ और किभाएँ हैं अतः इन्हें सचारी भाव नहीं मानना चाहिए। अतः शेष १९ ही सचारी भाव हैं। इसके साथ अभिनवभरत द्वारा सुझाए हुए १७ सचारी भाव या पोषक भाव मिला देनेसे कुल ३२ सचारी भाव होते हैं।

ॐ द्वात्रिंशत्संचारिभावाः ।

[हैं वृत्ति सचारी भाव ।]

अभिनवभारतके मतसे वेदल निम्नलिखित ३२ सचारी भाव हैं—१ निर्वेद, ० ग्लानि ३ शका, ४ वृत्ति, ५ हर्ष, ६ वैष्य, ७ चिन्ता, ८ प्राव, ९ आदृष्या, १० अमय, ११ गर्वा, १२ वीडा, १३ आलस्य, १४ विषाद, १५ औत्सुक्य, १६ लोभ, १७ ईर्ष्या, १८ लालसा, १९ कामना, २० आर्थिक, २१ कुतूहल, २२ अज्ञा, २३ विश्वास, २४ विनोद, २५ प्रतिकार २६ प्रावचना, ७ आस्था, २८ निराशा, २९ मान, ३० उपेक्षा ३१ स्वार्थ और ३२ विजय ।

इनमेंसे प्रथम पन्द्रह सचारी भावोंका वर्णन ऊपर हो चुका है, शेष सवहका विवरण नीचे दिया जाता है। इनके साथ तथा एषायी भावोंके साथ जो अनेक क्रियाएँ, चेष्टाएँ या दशाएँ होती हैं उनका विवरण आगे दिया जायगा।

लोभ—किसी व्यक्ति या वस्तुके सौन्दर्य अथवा उसके किसी अन्व गुणके कारण अपने लिये, अप्राप्त्य होने पर, उसे देख देखकर उसपर रीझने तथा जब उसका स्मरण हो तब उसका साक्षात्कार करनेकी इच्छाको लोभ कहते हैं। लालचाई दृष्टिसे देखना, बारबार उस व्यक्ति या वस्तुको देखना रह रहकर उसकी प्रशंसा करना, दूसरोंमें उसकी प्रशंसा सुनकर मुग्ध होना, उसे पासमें न जाने देनेके लिये वहाने बनाना आदि इसके लक्षण हैं।

ईर्ष्या—जिब व्यक्ति या वस्तुको ह्य अपना समझते हैं, उसके भोगमें किसी दूसरेका हस्तक्षेप होनेपर हस्तक्षेप करनेवाले व्यक्तिके प्रति जो मनमें घृणन, डाह या जलन होती है अथवा अपने किसी समबुद्धि, समसामर्थ्य, सहधर्मों तथा सहकर्मीके अनुचित ढंगसे अभ्युदयर जो मनमें अपने छोटे होनेकी ग्लानि हो जाती है वह ईर्ष्या कहलाती है। चिन्ता, उदासी, निन्दा करना, शाप देना, अमंगल मनाना, कोसना, तन्त्रमन्त्र या योटके करना या कराना, गाली देना, प्रतिद्वन्द्वीको नीचा दिखाने तथा उसके कार्यो और भागोंमें दोर दिखानेका प्रयत्न करना, अपनेको उससे श्रेष्ठ सिद्ध करनेका यत्न करना या अपने प्रतिद्वन्द्वीको मार्गसे हटानेके सब उपाय करना इसके लक्षण हैं। अदया और ईर्ष्यामें सबसे बड़ा अन्तर यह है कि असूयामें गर्व, दुष्ट स्वभाव और कोषसे दूसरेकी उन्नति न सहन कर सकनेका भाव होता है किन्तु ईर्ष्यामें अपनी योग्यता, समर्थता, स्तन और अधिकारिताके ज्ञान और अस्तित्वके साथ मनस्ताप होता है।

लालसा—सुन्दर या लोकहितकारी व्यक्तिसे या अपने किसी अभ्युदर प्राप्त इष्टको देखने या उससे मिलनेकी उत्कट इच्छा अथवा कोई सुन्दर या विलक्षण वस्तु देखनेकी तीव्र इच्छाको लालसा कहते हैं। इसमें उसे प्राप्त करने या अपनानेकी भावना नहीं रहती। दूसरोंसे दिखानेके लिये आग्रह करना, विशेष तैयारी करना, दूसरोंको प्रेरित करना, उन उर्द्विष्ट वस्तुओं या व्यक्तियोंका वर्णन सुनना और सुनाना आदि इसके लक्षण हैं।

कामना—अपने या अपने इष्टके लिये मंगल और श्रेयस्कर चाहनेकी भावना को कामना कहते हैं। मनीषी मानना, ईश्वरसे प्रार्थना करना, साधु-सन्ध्यासिधौकी सेवा करना, दान पुण्य व्रतादि करना, तन्त्रमन्त्र-रोटके करना, यज्ञ कराना, उपचार कराना इसके लक्षण हैं।

आसक्ति—जब किसी श्रेयाप्त्य व्यक्ति, दृश्य या वस्तुके प्रति इतनी मग्नता हो जाती है कि उसे आँखोंसे ओझल होने या दूर होनेमें मानसिक व्यथा हो वहाँ आसक्ति संचयी होता है। आसक्तिके लक्ष्यलक्ष पहुँचनेमें निरन्तर प्रयास, उस प्रयासमें भ्रूट बोलना, बहाने बनाना, इष्टके साक्षात्कारके लिये अनैक उपाय करना, घनग्रहण, हड़बड़ी आदि इसके लक्षण हैं।

कुनहल—श्रद्धयुक्त व्यक्ति या वस्तुको देखने श्रयवा उनको कथा सुननेके लिये जो मनमें चान और गुदगुदी होती है उसे कुनहल कहते हैं। हर्षमें आँखें चमकना, हड़बड़ी, दूसरोंको टिफानेके लिये ग्राह्य, एकाग्रता, उनकी कथा सुननेके लिये दूसरोंसे अनुनय-विनय आदि इसके लक्षण हैं।

श्रद्धा—स्वहितकारो या लोकहितकारी, अपनेसे श्रयस्या विद्या, त्याग श्रयवा गुणमें बद्ध व्यक्तियोंके गुण श्रयण करने या दर्शन करनेके कारण मनमें उनके प्रति जो श्रथायी सात्विक आदर उत्पन्न हो जाता है उसे श्रद्धा कहते हैं। वाह वाह या धन्य धन्य कहना, हर्षपूर्ण विर हिलाना, उल्लाससे आँखें चमकाना आदि उसके लक्षण हैं। इसका एक स्थायी रूप भी होता है जो अपनेसे निरन्तर सम्बन्ध व्यक्तिके प्रति होता है।

विरासत—किसी व्यक्तिकी अवस्था या उसका आचरण देख-सुनकर श्रयवा किसी घटनाको देख-सुनकर उसके परिणाममें निरवयवताके भावको विश्वास कहते हैं। 'वह श्रयव ऐसा करेगा', 'इसका परिणाम यही होगा' आदि कहना, निश्चिन्तता, दृढ़ता आदि इसके लक्षण हैं।

विनोद—किसी व्यक्तिकी दुर्बलता या मूर्खतासे लाम उठकर उसकी मूर्खतामें बी बहलानेकी विनोद कहते हैं। इसमें किसीको कष्ट देने और स्वार्थ विद करनेकी बात नहीं होनी चाहिए। चाटुकारी, व्यंग्य तथा श्लेषयुक्त बातें कम्ना तथा दूसरेसे ऐसी चेष्टा या काम काना जिससे उसकी मूर्खता, अज्ञान या अलक्षणा प्रकट हो आदि उसके लक्षण हैं।

प्रतिकार—अपने साथ भलाई करनेवालेके साथ भलाई और दुर्गई करनेवालेके साथ दुर्गई करनेकी भावनाको प्रतिकार कहते हैं। आभार मानना, प्रशंसा करना, वृत्त-शता प्रकट करना, सेवा या सहायता करना, पडयन्त्र करना, दुर्गई करना, हानि पहुँचानेका प्रयत्न करना आदि इसके लक्षण हैं।

प्रवचना—मूर्ख या मीचे व्यक्तिको ठगनेकी भावनाको प्रवचना कहते हैं। भ्रूट बोलना, स्वयं सज्जन बननेका ढोंग करना, विश्वास टिलाना, अत्यंत मग्नता दिखाना, चकमा देना, उल्टी बातें समझाना, सचाईकी मुद्रा सुन्नपर धाग्य करना आदि इसके लक्षण हैं।

आशा—अपने या किसी इष्ट व्यक्तिके कार्य या किसी घटनाके परिणामकी सफलतामें अनिश्चित विश्वासको आशा कहते हैं। संसारके मनस्वी और कर्मठ लोगोंकी क्रियाओंमें इसी संचारी भावकी प्रेरणा समय-प्रमय पर मिलती रहती है। उल्लास, हर्ष, निश्चिन्तता, आत्म-विश्वास, दृढ़ता, निर्भयता, कर्मठता आदि इसके लक्षण हैं।

निगशा—अपने या किसी इष्ट व्यक्तिके कार्य या किसी साधक घटनाके परिणामकी असफलतामें अनिश्चित विश्वासको निगशा कहते हैं। उदासी, अकर्मण्यता, चिन्ता, भय, आदि इसके लक्षण हैं।

मान—अपने इष्ट या परम आत्मीयके द्वारा श्रयो उपेक्षा या श्रयमान देखकर उससे रुठनेके भावको मान कहते हैं। इष्ट या आत्मीयके बुलानेपर न बोलना, उसका कहां न मानना उसके आनेपर मुँह फेर लेना, उठकर चला जाना, व्यग बोलना आदि उसके लक्षण हैं।

उपेक्षा—किसी व्यक्ति, वस्तु या कार्यके प्रति रुचि न दिखानेकी तथा उसके प्रति उदासीन रहनेकी भावनाको उपेक्षा कहते हैं। बुनचाप सुनना, राग देना, सुनो-अनसुनो कर देना, हाँ हूँ करके छोड़ देना आदि इसके लक्षण हैं।

स्पर्द्धा—अपने सहकर्माकी उन्नति देखकर उसके समकक्ष या उससे आगे बढ़नेकी भावनाकी स्पर्द्धा कहते हैं। उ.सा.द. परिश्रम, कर्मठता आदि इसके लक्षण हैं।

विजय—ऐसा कार्य करनेकी भावना जो पहले किसीने न की हो विजय कहलाती है। तरस्या, त्याग, परिश्रम, उदारता, धीरता, कष्टग्रहन, दुःसाहस करना आदि इसके लक्षण हैं।

इन बत्तीस सचारी भावोंके ज्ञानके बिना कोई भी नाटककार ठ कठोर रुवाद निर्वाह नहीं कर सकता क्योंकि किसी दृश्य या अङ्कके प्रयत्नसे नाटककार जो विशिष्ट परिणाम उपरिस्थित करना चाहता है वह तत्काल ठीक और उचित नहीं हो सकता जबतक पात्रोंकी उत्तम, चेष्टाओं तथा व्यापारोंमें तत्सदृश सचारी भावोंका समावेश नहीं हो जाता ।

अब यद्यपि यह बता देना भी आवश्यक है कि विभिन्न स्थायी भावोंके कितने रूप होते हैं और उनके साथ कितने सचारी भाव और कितने क्रियाएँ आती हैं । हम पीछे कहेंगे कि स्थायी भाव आठ हैं—

१ रतिहासोत्साहसो रुभयक्रोधार्च्यपृणोति स्थायिभावा ।

[रति, हास शोक उत्साह, क्रोध, भय घृणाश्चर्य हैं स्थायिभावा ।]

२ घनासक्तिरेव रति ।

[घनासक्ति ही रति कहलाता ।]

३ रति - किसीका ओर स्थायी तथा घनी आसक्तिको कहते हैं । यह पाँच प्रकारकी होती है । वास्तव्य भ्रदा, मैत्रा भक्ति और प्रेम ।

(क) वास्तव्य माता, पिता और परके बड़े-बड़ोंकी अपने बच्चोंके प्रति गुरुकी शिष्यके प्रति और साधुओंकी चेलोंके प्रति जो आसक्ति होती है उस वास्तव्य कहते हैं । यह दो प्रकारका होता है—साधारण और असाधारण । साधारण वास्तव्य उस आसक्तिको कहते हैं जहाँ अपने बच्चों, शिष्यों या चेलोंके मगनकी भावना या उनके सरलताकी भावना होती है तथा दूसरोंके बच्चोंको देखकर, उनके प्रति स्नेह उमड़ता है । किन्तु जहाँ, बच्चों, शिष्यों और चेलोंको सदा सामने रखने, उन्हें इष्ट उधर जाने न देने उनके आँखोंसे आभन हो आन तथा उनपर किसी प्रकारके सकट पड़नेपर जहाँ उत्कण्ठपूर्ण व्याकुलता होती है वहाँ असाधारण वास्तव्य होता है । इस वास्तव्यमें घबराहट उत्कण्ठा, उन्माद, मूर्च्छा, रोना अपने बालकोंका उन्नतिके लिये प्रयत्न करना, दूसरोंके आगे उनके लिये दैन्य दिलाना, प्रार्थना करना, अवश्य बालना, अपमानित होना, भर्त्सना सहना, अकर्तव्य या अकार्य कर बैठना

(किसी दूसरे बालकको बलि दे देना आदि) तथा आकुलताका अधिक व्यवहार दिखाई देता है ।

(ल) भ्रदा—अपने माता, पिता या गुरुके प्रति तथा किसी साधु, सन्त, वीर या महापुरुषके प्रति ऐसी आसक्ति होती है कि उनकी आज्ञा मानने उनकी सेवा करने, उन्हें सुखी, अनुकूल तथा प्रसन्न रखने और उनका निर्दोष अनुगमन करनेमें आनन्दकी भावना होती है वहाँ भ्रदा कहलाती है । यह भी दो प्रकारकी होती है—स्वार्थी भ्रदा और नि स्वार्थ भ्रदा । जहाँ भ्रदेसे कुछ प्राप्त न करने तथा सात्त्विक निष्काम भावसे आसक्ति हो वहाँ नि स्वार्थ भ्रदा होती है । यह भी दो दो प्रकारकी होता है—सवधभ्रदा, नि संवध भ्रदा । सवधभ्रदा वहाँ हता है जहाँ भ्रदेसे अपना प्रत्यक्ष सवध हो और उनके साथ रहना हो । नि सवध भ्रदा वहाँ होती है जहाँ परेचमें तथा प्रत्यक्ष न होनेपर भी आसक्त बनी रहे ।

इस भ्रदामें कर्तव्याकर्तव्यका विचार छोड़कर सेवा, आशुपालन इष्टके बंधमें पड़ जानेपर व्याकुलता, दैन्य प्रार्थना भिन्ना, आदरपूर्ण भय, सम्मान आत्म निवेदन, ममता कष्ट सहन, नम्र बचन, विनय उत्सुकता मगल कामना प्रशंसा स्तुति इष्टको निदान सहना सत्य व्यवहार आदि अनेक मानसिक भावनाएँ और चेष्टाएँ होती हैं ।

(ग) मैत्री—समान अवस्था, युग व्यवसाय तथा विचारके लोभोम जो परस्पर गादी आत्मीयता और विश्रुतता उत्पन्न हो जाता है उसे मैत्री कहते हैं । यह मैत्री प्रायः सहायी सहायिनिमें और पड़ोसी पड़ोसिनिमें अधिक होती है । प्रायः समयेत कार्यों (खेल-नाटक जन-अ-शेखन लेना आदि) के कार्यकर्तारोंमें परस्पर बड़ी गहरी मैत्री हो जाता है यहाँ तक कि एक दूसरेका उच्छिष्ट भोजन करने तथा एक दूसरेके हितके लिये और एक दूसरेकी बात रखनेके लिये वे अपने मातापिता आदि सगे सन्धियोंका परित्याग करनेकी भी तैयार हो जाते हैं । एक व्यसननाल (जुआड़ा शराबी आदि) में भा मैत्री हो जाता है पर वह स्थायी नहीं होता । इसमें हिंसी-उद्धा, परस्पर विनोद साथ घुमना, बार्त्सलाप, प्रेममें गाली देना, एक साथ उठना-बैठना, खाना पीना-साना, प्रतिष्ठा, मित्रके लिये आत्मत्याग, सेवा सुभ्रपा, उत्कण्ठा व्यग्रता,

सत्य तथा असत्य संभाषण, निन्दा न सहना, मित्रका क्रोध सहना आदि मनोदशाएँ और चेष्टाएँ होती हैं।

(ग) भक्ति—अपने पूज्यके प्रति निष्काम अनुराग या आराधक अथवा ईश्वर, ईश्वरके अवतार या देवताके प्रति अथवा देवविग्रहमें देव-भावनाके साथ जो आत्मसमर्पण-युक्त निष्काम अनुराग होता है उसे भक्ति कहते हैं। ऐसा व्यक्ति अपने इष्टके विषय कुछ नहीं सुनना चाहता है। निरन्तर इसक श्रवण, स्मरण, कीर्तन, अर्चन, बन्दन, पादसेवन, दास्य, सत्समाच और आत्मसमर्पण ये उसके लक्षण हैं। इस आसक्तिमें तर्क-वितर्क नहीं होता, शुद्ध निष्ठा होती है।

(घ) प्रेम—स्त्री और पुरुषकी एक दूसरेके प्रति आसक्तिको प्रेम कहते हैं। स्त्रीका पुरुषके प्रति, तथा पुरुषका स्त्रीके प्रति प्रेम स्वाभाविक होता है किन्तु पुरुष और पुरुष अथवा स्त्री और स्त्रीके बीच प्रेम स्वाभाविक अस्वाभाविक दोनों होता है। यह स्वाभाविक और अस्वाभाविक प्रेम भी दो प्रकारका होता है—स्वार्थपूर्ण और निःस्वार्थपूर्ण। जहाँ इष्टके प्रति आसक्ति किसी उद्देश्यके अर्थात् उसने कुछ प्राप्त करनेकी या उसका उपयोग करनेकी होती है वहाँ स्वार्थी प्रेम होता है और जहाँ बिना किसी उद्देश्यके और इष्टके कुछ प्राप्त करनेकी इच्छाके बिना ही आसक्ति हो वहाँ निःस्वार्थ या सत्य प्रेम होता है। यह स्वार्थी और निःस्वार्थ प्रेम भी तीन प्रकारका होता है—कभी एकपक्षीय कभी उभयपक्षीय, कभी बहु पक्षीय। एकपक्षीय प्रेममें एक व्यक्ति दूसरेके प्रति आसक्ति रखता है पर दूसरा उसके प्रति आसक्ति नहीं रखता। यह भी दो प्रकारका होता है—अभिष्यक्त तथा अनभिष्यक्त। जब आसक्त व्यक्ति, अपने प्रेमकी बात अपने इष्टमें कह देता है तब यह अभिष्यक्त कहलाता है। जब वह प्रेम करते हुए भी अपना प्रेम अपने इष्टको नहीं जनाता तब अनभिष्यक्त कहलाता है। उभयपक्षीयमें दो व्यक्तिकोके परस्पर एक दूसरेके प्रति आसक्ति होती है। बहुपक्षीयमें एक व्यक्तिकी आसक्ति बहुतेसे व्यक्तिदोके प्रति और बहुतेसे व्यक्तिकी एकके प्रति होती है अर्थात् एक नायिकाका बहुतेसे नायकोंके प्रति या एक नायकका बहुतेसों नायिकाओंके प्रति, या अनेक नायिकाओंका एक नायकके प्रति या अनेक नायकका एक नायिकाके प्रति

अनुराग होता है। ईश्वरको प्रेमी या प्रेमिका मानकर जो माधुर्य भावसे भक्ति की जाती है। वह प्रेमके ही अन्तर्गत है क्योंकि उसने मानसिक दशाएँ और चेष्टाएँ प्रेमकी ही होती हैं।

पारस्परिक प्रेम अर्थात् पुरुष य स्त्रीके परस्पर एक दूसरेके प्रति प्रेम, परस्पर दर्शन, गुणश्रवण, चित्र दर्शन, आसक्त संपर्क, समवृत्ति, उपकार, विशिष्ट गुण अथवा दैह-योग आदिके कारण होता है। इसमें सभी संवारी भाव, होते हैं और निम्नलिखित चेष्टाएँ होती हैं—

मिलनोत्कंठा श्रृंगार, अभिषार, उत्सुकता, व्याकुलता, प्रेम-निवेदन, प्रसाज्जय, पत्रव्यवहार, दूतीकर्म, लोकापवाद, भय, उपालंभ, चोगिसे मिलना दीर्घ निःश्याम, चाटुकारी, शिष्टताका अतिरेक, स्वप्न, भ्रमिदा, अपने काममें अग्रचि, कविता लिखना, चित्र बनाना, लजाना, कँपना, वस्तुओंका आदान-प्रदान, एक साथ घूमने जाना, बलशून्य होना या मनोविनोदके स्थलों या मन्दिरोंमें जाना, लोक और समाजको मर्गादाओंका उल्लंघन करना, चिन्ता, पागलपन, दुःसाहस या पराक्रमके कार्य करना, प्रियको लक्ष्य करके कविता बनाना, लेख लिखना, प्रियके नामसे कविता या लेख लिखकर छापवा देना, चित्र लेना, कला-कौशल द्वारा प्रियको प्रभावित करनेकी चेष्टा करना, प्रेमी या प्रियकी चर्चा ध्यानसे सुनना या करना, प्रियकी घटुकी छाली या आँखोंसे लगाना, उसमें आत्मीयता स्थापित करना, मूर्च्छा, प्रलाप देगका बहाना करना, प्रियसे मिलनेके दृष्टे बहाने निकालना, भाग निकलना, रुजना, मनाना, एक दूसरेका शृंगार करना, सेवा करना आदि। यद्यपि चुंबन, आलिंगन आदि चेष्टाएँ योरोप तथा अमेरिकाके रंगरीठोपर दिवाए जाते हैं और वहाँके नाटककार उसका विधान भी करते हैं किन्तु ऐसी किसी भी श्रौंकार अथवा भारतीय संस्कृतिके अननुकूल चेष्टाका विधान नहीं करना चाहिए। जापान तथा चीनमें भी रंगरीठपर ऐसी क्रियाएँ और चेष्टाएँ वर्जित हैं यद्यत्कि कि जापानमें तो साधारण जीवनमें भी चुंबन नहीं लिया जाता।

एकपक्षीय प्रेमकी जिन दो अवस्थाओंका वर्णन किया जा चुका है उनमें संवारी तो सभी होते हैं किन्तु चेष्टाएँ निम्नलिखित ही होती हैं—

दर्शन करने या मिलनेकी उत्कंठा और व्यग्रता, प्रेम-

निवेदन प्रार्थना, दैन्य प्रलीभन, आत्मसमर्पण, आत्म-
हत्याको घमकी विषयान धरना देना, हतोत्साह होना,
पागल होना, मूर्च्छा, लोकापवाद, घूमघूमकर प्रेमका प्रचार,
प्रियकी कठोरताका प्रकाशन करना, पत्र-व्यवहार, दूतीकर्म
तपस्या, मन्त्र-मन्त्र बलपूर्वक उठा ले भागना, यातना देना,
गाली भर्त्सना (भिड़की), उपासना, समझाना, तर्क-
वितर्क, सन्यास लेना, तर्जन अपमान प्रयास कृत्रिवा
लिलना प्रियको संबोधित करके गुप्त साहित्यिक भाषामें
लिखकर पत्रोंमें छपवाना, प्रियके नाममें लेल छुवा देना,
चोरीसे चित्र (फोटो) लेना, अनेक बहानोंसे प्रियके
पास पहुंचना, प्रियकी सफलता या उसके जन्मदिन आदि
अवसरोंपर बधाई और उपहार भेजना, प्रियके रोगी हो
जानेपर सेवाकी उत्सुकता दिखाना, सबसे उसकी प्रशंसा
करना, प्रियके सामने कौशलसे उसके रूप, गुण या
शीलीकी प्रशंसा करना आदि ।

बहुपक्षीय प्रेममें भी सभी संचारी होते हैं और निम्न
लिखित क्रियाएँ होती हैं—

परस्पर विरोध, आरोप-प्रत्यारोप, हठ, परिहास-प्रव-
चना, उपासना, तर्क-वितर्क मिथ्या कथन, सपनीका आदर,
मान, प्रमुख प्रदर्शन, तपस्या उपेक्षा, आत्महत्याका चेष्टा
कलह, मारपीट व्यवहार (मुकदमेबाजी), गालीगलौज,
परस्पर-निन्दा, लोबापवाद, नायिकाको उठा ले भागना,
हत्याको चेष्टा, तथा वे सभी चेष्टाएँ हो सकती हैं जो
पारस्परिक या एकपक्षीय प्रेममें होती हैं ।

प्रेममें निम्नलिखित व्यवहार भी संभव हैं—

दो या अधिक नायकोंका एक नायिकाके संबंधमें परस्पर
समभौता करके नियुक्त कर लेना और एक द्वारा नायिका-
ग्रहण ।

दो या अधिक नायिकाओं—द्वारा परस्पर समभौता करके
अपना आत्मत्यागको भावनासे करना स्वार्थ छोड़कर प्रिय
नायकको किसी एकके लिये छोड़ देना ।

कई नायिकाओंका परस्पर मिलकर एक नायकको
अपना लेना ।

एक नायिकाका कई नायकोंको वैवाहिक रीतिसे अप-
नाना । नेपाल और तिब्बतमें ऐसे सबंध होते हैं ।

अपने पतिकी अविवाहिता प्रेयसीसे विरोध या स्नेह या

उपेक्षा । प्रियको सपलीसे विमुख करनेके लिये तन, मन्त्र
दोहरे, पडयन्त्र आदि करना ।

अपने पतिकी वैश्यासे व्यवहार—विरोध, विद्रोह
अथवा उपेक्षा प्रियको, वैश्यासे विमुख करनेके उपाय अथवा
रम्य वैश्याकी सेवा करके उसके मनमें अपने प्रति करुणा
उत्पन्न करना ।

वैश्याका अपने जारकी पत्नीसे व्यवहार—विरोध
दोष निकालना, घरसे निकलवाने, विप देने, आत्महत्या
लिये उत्तेजित करनेका प्रयत्न ।

अविवाहिताका अपने प्रेमीकी पत्नीसे व्यवहार—
अत्यन्त घृणा, चाटुकारी, स्नेह, प्रेमीकी प्रशंसा, प्रेमीके
सामने उसकी पत्नीका पद लेना ।

नायक द्वारा अपनी पत्नी, वैश्या, प्रेयसी (परपत्ना
अथवा कुमारी) से व्यवहार—ऊार चर्चित सभी व्यवहार
इसके अन्तर्गत हैं ।

नागरी प्रेयसी (अविवाहिता और विवाहिता)
द्वारा नायकके प्रति व्यवहार—कला, रूप या गुणसे
उसे अपनानेकी चेष्टा, पत्र-व्यवहार, पढ़ने या किसी
अन्य कार्यमें नायकको सहायता माँगना, उसके प्रशंसा
करना किन्तु अपनी सखियोंमें उसकी निन्दा करना कि
कहीं वे न उसे फँसा लें ।

समान रूप गुण विया बल, व्यवसाय, विचार,
कौशल (खेलकूद, कला आदि), धीरता आदिके कारण,
अधिक सम्पर्क या पड़ोसके कारण, सामाजिक कारणोंसे,
देवसयोगसे तथा किसीके द्वारा बचाए जानेके कारण भी प्रेम
हो जाता है यहाँतक कि गुण और शिष्योंमें, चिकित्सक
और चिकित्सतामें, विद्वान् और विदुषीमें, अभिनेता-
अभिनेत्रीमें, लेखक-लेखिकाके सहपाठी सहपाठिनीमें प्रेम
हो जाता है । ये सब प्रेम प्रायः निर्वाच्य होते हैं अत
इनमें वह तीव्रता और आकुलता नहीं होती जो सदृश
दर्शन या गुणग्रहण आदिके कारण होता है । यह बात
उस सोद्देश्य प्रेमके लिये भी है जहाँ धन, उच्चकुल या
उच्चपद प्राप्त करने, भ्रूणदानसे बचने, कृपणताके
कारण या दरिद्रता आदिके कारण हो जाने हैं । कभी कभी
कुतूहलपरा भी विवाह होते हैं जैसे परस्पर दो परिवारोंका
कलह बचानेके लिये, अपने सरसक आश्रयदाता या उपका

रक्रे प्रति कृतज्ञता दिखानेके लिये उसके या उसके पुत्रसे मेम आदि ।

२. हास - हँसनेके भावको हास कहते हैं अर्थात् किसीके मूर्खतापूर्ण, मर्यादाहीन बनकते भरे अनवसरोचित कार्यको देखकर या वचनोंको सुनकर अथवा किसीकी अत्यवस्थित वेशभूषा या रूपसजा देखकर अथवा किसी बातसे चिढ़नेवाले व्यक्तिको चिढ़ते देखकर, कृपणकी कृपणता देखकर, दिखावटी या बनावटी शोक-प्रदर्शनपर, बहुपत्नीधालेकी दुर्दशा देखकर, किसीको पांडित्य छोटनेके लिये अश्रवद्ध प्रलाप करते तथा झूठा ज्ञान छोटते देखकर, कल्पित या झूठी चिपत्तकी बहपना बचके, दैन्य, रोदन या शोक करते देखकर चाटुकारिता, धूर्तता, भोजन-भट्टा, दुष्टके पराजयके समय उसकी पुगनी गर्वोत्थिका स्मरण दिलाते हुए ताना या व्यंग्योक्ति सुनकर किसी दुष्टकी बहकानेके या चकमा देनेके लिये अवश्य भाषण या धूर्तता देखकर असमर्थ होनेपर भी किसी कार्यको करनेका दम दरके उनमें अवगत होकर, काय तो होनेपर बीरताभा र्वांग, साधु, पंडित या तपस्वी बननेके दोंग, हजले, बरे और रंगेकी वाचिक और आंगिक क्रियाएँ देखकर, कुरूप, बीने या रथायी विकलांग व्यक्तिका अपनेसे मुरूप, सर्वांगमुन्दर बतानेपर जो मनोविनोद होता है उसे हास कहते हैं । इस विनोदकी अवस्थामें मनुष्य मन ही मन हँसता है, मुस्कुराता है, शब्दयुक्त हँसता है, ठाठकर हँसता है, हँसते हँसते लोटपोट हो जाता है, हँसते-हँसते रो देता है । कभी कभी अपनी मूर्खतापर भी मनुष्यको हँसी आ जाती है, इसे आत्मरस हास कहते हैं । वास्तवमें मनोविनोद या हासकी उच्चतम अवस्थाओंमें व्याप्त कारण मूर्खता ही है अतः—

ॐ मौख्योद्भावितविनोदभावः हासः ॥

[मौख्य-उद्भावित विनोदी भाव ही है हास ।]

किसीको मूर्खता अज्ञता, अल्पज्ञता मौख्यजन्य विवशताके कारण जो भार मनमें गुरुगुदी उत्पन्न करके दृष्टाकी हँसनेके लिये प्रेरित करता है उसे हास कहते हैं । सकारके प्रसिद्ध हास्यशेखर तथा अभिनेता चार्ली चैपलिनका मत है कि मैं मानव-स्वभावके सम्बन्धमें कुछ थोड़ीसी साधारण बातें जानता हूँ और उन्हेंका प्रयोग करके मैं अपनी रचनाओंमें हासकी सृष्टि करता हूँ । पदली बात तो यह है कि जिन्हें हासका आलम्बन बनाना हो

उनके लिये जो पद नाटकमें निर्धारित किया हो उसमें अल्पत प्रतिकूल उनका रूपविन्यास और वेशविन्यास किंवा जाय और फिर कुछ ऐसे विधान किए जाय कि जहाँ किसी प्रकारकी कोई आशंका न हो वहाँ दर्शक मूर्ख बना दिए जायें । जैसे—एक स्थानपर किसी मूर्तिकर उद्घाटन हो रहा है । उस मूर्तिपर एक वस्त्र पड़ा हुआ है । बड़ी गंभीरतासे उद्घाटन-भाषण तथा अन्य प्रारंभिक संस्कार होते हैं । किन्तु जैसे ही उद्घाटन होता है वैसे ही देखा गया जाता है कि मूर्तिको गोदमें विदूषक या अन्य कोई व्यक्ति बैठा सो रहा है । इससे जो दर्शकोंमें हासका विस्फोट हो जाता है । चार्ली चैपलिनका यह भी मत है कि नाटकमें एक या दो तो बड़े हास होने चाहिये जिनमें हँसते-हँसते लोग लोटपोट हो जायें और नाटक भरमें निरन्तर मुसकान और विनोदपूर्ण हर्षकी लहरियाँ उठती रहे । अभिनवभरतका मत है कि जिस नाटकमें आद्यन्त हास्य ही व्यापक हो वहाँके लिये तो यह ठीक है किन्तु गंभीर नाटकमें दर्शकोंके भावोंका खिचाव और तनान हीला कानेके लिये जब हासका प्रयोग किया जाय तब उसमें एक दोके बदले सात-आठ हासके विस्फोट ही तब भी सुग नहीं है क्योंकि भावोंका तनाव शिथिल होते रहना सदा उचित और आवश्यक होता है विशेषतः उन भावुक दर्शकोंके लिये जो तनिकसे कष्ट-प्रदर्शनमें रो देते हैं या ब्राह्मण बैठते हैं ।

हासका निर्वाह अल्पत कठिन कार्य है क्योंकि वह या तो फूट्ट हो जाता है या दूसरोंके आत्म-सम्मान या पाननाको टेम पहुँचाकर उनके मनको कष्ट दे सकता है । यूनानके प्रसिद्ध प्रहसनकार अरिस्तोफनेसके 'बरे' और 'बादल' प्रहसनेमें ऐसे बहुतने स्थल हैं । इसलिये हासकी सृष्टि करते समय मनुष्यकी साधारण व्यापक मूर्खताओं अथवा मनुष्यकी व्यापक मानसिक दुर्बलताओंका प्रयोग करके हासकी सृष्टि करनी चाहिए जिनमें कमी किसी विशेष व्यक्ति, वर्ग, समाज, राष्ट्र या जातिके अपमानको अयोजना न हो पावे ।

३. शोक -

ॐ इष्टनारा-संकटजन्यमनस्तापः शोकः ।

[इष्टपर संकट पड़ेसे तान ही है शोक ।]

अपने इष्ट (शरीर, प्रिय, सम्बन्धी, मित्र, वस्तु, सम्पत्ति आदि) पर आनेवाले संकटकी आशंकासे, कल्पनासे

या आण्ड हुए सकटके कष्टसे मनमे जो संताप होता है उसे शोक कहते हैं। इसमें इष्ट वियोगकी सभावना, भावी इष्ट-वियोगकी दुरिचिन्ता, शत तथा अपरिहार्य विपत्ति, स्वामी या सुखका अपराध करनेपर उनके दण्ड या क्रोधके भयसे, अपने इष्टके रोगी होने, चोट खाने, जिस यान या भवनमें इष्ट हो उसपर विपत्ति आने वा सकट पड़नेपर (जैसे उस रेलगाड़ीके उलटने या लड़नेपर जिसमें अपना इष्ट जाता हो या आता हो. इष्ट जिस नाव या पीठमें जा रहा हो उसके डूबने) या उस भवनमें आग लग जानेपर जिसमें अपना इष्ट हो, असाध्य रोग का अपने परिवार-वालोंके भविष्यके लिये, दरिद्रता, जीविका या व्यापार या संपत्तिका नारा या उनके नाराकी सभावना या आशका, इष्टनिराशमें आग, आँधी, जलप्रलय, युद्ध आक्रमण, लडाईं भगड़ा, महामारी, दुर्मिन्न, व्यग्र, सर्प आदिका उपद्रव या उसकी आशका व्यवहार (मुकदमे) में हारना, राजदण्ड, समाजदण्ड, अपयश, किए हुए पापके फूट जानेसे श्रयण अपनी श्रौर अपने इष्टकी असफलतासे, परीक्षामें अनुत्तीर्ण होने या किसी उद्योगमें असफल होनेपर (व्यवसायमें असफलता श्रयण किसी वैज्ञानिक प्रयोग या किसी साहसकार्यमें बाधा पड़नेपर), इष्टके दुर्व्यसनग्रस्त होने (जुआड़ी, चोर, कामी आदि होने) पर, इष्टके अदृश किए जाने, खो जाने, साथ छूट जाने या अपने इष्टके द्वारा लोकनिन्दाका करनेपर जो मनस्ताप होता है उसीको शोक कहते हैं।

शोककी अवस्थामें निम्नलिखित मनोदशाएँ और क्रियाएँ होती हैं—आशका, शशा, त्रास, मय, समुत्कंठा, उत्सुकता, उद्वेग, व्यग्रता, उन्माद, मूर्च्छा, प्रलाप, विलाप, व्याक्रोश, जड़ता, अपरमार, उदासी, चिन्ता, दुरिचिन्ता, मनोती मनाना, गुण स्मरण, भ्रान्ति, उन्मनता (भोजन, रागरंग आदि कुछ अच्छा न लगना), पश्चात्ताप, विह्वलता, साहस, धैर्य, उत्साह, आघोरता, क्रूर पड़ना, दौड़ पड़ना, पछाड़ खानकर गिर पड़ना, सिर या छाती पीटना, हाथ पैर पटकना, लोट पोटर रोना-पीटना, सान्त्वना देना, विश्वास, अविश्वास, कम्प, स्वेद, रोमाच, स्तम्भ, वैवर्ण्य, प्रलय, स्वरभंग, याकुंता, तर्जन, क्रोध, वैराग्य, मौनता, भोजनत्याग, अनिद्रा, कादरता, भगवानकी दुहाई देना या स्मरण करना, असत्य-भाषण, तथा दैन्य आदि।

५. उत्साह—

ॐ असामान्य कार्यवृत्तिरुत्साहः।

[असामान्य करनी करनेकी वृत्ति कदाती है उत्साह।]

असाधारण कार्य करनेकी प्रेरणाको उत्साह कहते हैं।

स्पर्धा, हर्ष, पररक्षण, परहित, यश-प्राप्ति तथा विजयकी भावनासे मनमें जो असाधारण कार्य करनेकी प्रेरणा होती है उसे उत्साह कहते हैं। यह उत्साह चार प्रकारका होता है—

(क) जब कोई व्यक्ति निरन्तर सब कार्योंमें असाधारण कार्य-वृत्ति प्रदर्शित करे तब उसका उत्साह स्वाभाविक कहलाता है।

(ख) जब कोई व्यक्ति दूसरेके प्रेरित करनेपर तथा दूसरेके ललचाने पर असाधारण कार्य करनेकी वृत्ति प्रदर्शित करे वह प्रप्रेरित उत्साह कहलाता है।

(ग) जब सहजा कोई सकट पड़ जानेपर श्रयण सहजा किसी अवसरपर अनायास ही साधारण मनुष्य भी असाधारण कार्य-वृत्ति दिखाता है उसे आकस्मिक उत्साह कहते हैं।

(घ) साहाय्यपुष्ट उत्साह वहाँ होता है जहाँ कोई व्यक्ति स्वयं समर्थ न होते हुए अपने पद, राज्यशक्ति, जनशक्ति अथवा मित्रोंके सहयोगके बलपर असाधारण कार्य-वृत्ति प्रदर्शित करता है।

इस उत्साहके निम्नलिखित रूप हैं—

धीरता, उदारता, आत्मत्याग, सेवा, श्रौर विजय।

अपने शरीर, सम्पत्ति, परिवार, परिजन, आश्रित मित्र, प्रजा, जातिवन्धु, देशवासी, मानवमात्र, प्राणिमात्र आदिके संरक्षणके लिये जो निर्भयता, साहस और धैर्यके साथ शारीरिक बल तथा युद्ध कौशलका प्रयोग किया जाता है अथवा किसी बली या पराक्रमीका विरोध किया जाना है उसे धीरता कहते हैं।

उदारता—दान, दुखी, पीड़ित, अनाथ, रोगी, निराश्रित, तथा संकटापन्न व्यक्तिको अयाचित सहायता देना अपने आश्रितोंके हितके लिये अश्रुपण होकर धन-संपत्ति लगाना तथा लोकहितके कार्योंमें निस्संकोच खुले मनसे दान देना या लोकहितके कार्योंमें अपनी सम्पत्ति लगानेको उदारता कहते हैं। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि वास्तविक उदारता वहाँ होती है जहाँ कोई व्यक्ति अपने

आर्थिक सामर्थ्यके बाहर दान दे। यदि कोई लक्ष्यपति सौ रुपया दान देदे तो वह वास्तविक उदारता नहीं कहलाती है किन्तु यदि कोई एक रुपया नित्य कमाता हो और वही कमाया हुआ रुपया किसी व्यक्तिकी सहायताके लिये या लोकहितके लिये दे दे तो वह साध्विक उदारता कहलाती है। देश, काल और पात्रका विचार करके दान देनेकी वृत्ति ही उदारता कहलाती है। जहाँ यश या पद प्राप्त करने अथवा भय या स्वार्थ साधनेकी भावनासे दान दिया जाता है तब उदारता नहीं कहलाती।

आत्मरक्षण—अग्ने इष्ट, आश्रित, देरवासी अथवा शरणागतको रक्षके लिये अथवा धर्म या नैतिक सिद्धान्तके पोषणके लिये अग्ने प्राय, परिवार, सम्पत्ति आदिकी संकटमें डालनेकी वृत्तिकी आत्मत्याग कहते हैं। अपनेको या दूसरोंको कष्ट देने नले मनुष्यों, शासकों, अध्याचारियों, जोश, भूत-प्रेत-राक्षसों आदिसे दूसरोंकी बचानेके लिये अपनेको बलिदान करनेकी वृत्ति भी आत्मत्याग ही कहलाती है।

सेवा—संकटग्रस्त, रोगी, दुखी, पीड़ित, अनाथ, निराश्रित तथा दीन व्यक्तियोंकी निस्संकोच होकर सेवा-सुधुषा करना, उन्हें भोजन-वस्त्र दिलानेका प्रबन्ध करना, उनका पोषण करना, उनको चिकित्साकी व्यवस्था करना, मेल-ठेल-में लोगोका पथ-प्रदर्शन करना, झूठके बचाना, जलते हुए परसे प्राणियोंको निकालना आदि कार्य करनेकी वृत्तिकी सेवा-भाव कहते हैं। यह सेवा भी निःस्वार्थ और स्वार्थी दो प्रकारकी होती है। माता, पिता, गुरु तथा स्वामी आदिकी सेवामें स्वार्थ भावना भी हो सकती है किन्तु जहाँ किसी प्रकारके प्रतिफलकी इच्छाके बिना सेवा की जाती है वही निःस्वार्थ सेवा कहलाती है।

विजय—विद्या, बुद्धि शक्ति, कौशल, साहस आदिकी प्रतिद्वन्द्विताओंमें अपने प्रतिद्वन्द्वीको परास्त करनेकी वृत्तिकी विजयोत्साह कहते हैं। यह भावना प्रतिद्वन्द्विता करने-वालोंमें ही नहीं धरन् प्रतिद्वन्द्वियोंके साथियों और पक्ष-पातियोंमें भी होती है। इस विजय-वृत्तिका एक दूसरा रूप भी होता है जहाँ प्रतिद्वन्द्विता नहीं होती धरन् मनुष्य स्वयं किसी ऐसे काम करनेमें प्रवृत्त हो जाता है जैसा किसीने पहले कभी न किया हो। नया ग्रन्थ लिखना, हिमालयके शिखर पर चढ़ना, दक्षिणी ध्रुव तक पहुँचना, नये आविष्कार करना

तत्परा करना आदि इसी विजय-भावनाके परिणाम हैं। इसमें धैर्य, शारीरिक शक्ति, बौद्धिक शक्तिका प्रदर्शन, ललकार, जुनौती, हुंकार, शस्त्रकौशल, घास-कौशल, कष्टसहन, आत्मगुण्डि, दान, रोक्नेवालोंको उपेक्षा, सहानुभूति, दया, अवज्ञा, हर्ष, उल्लास, परहितका व्याकुलता, सहानुभूति, तर्कन, तर्क-वितर्क, शील, निर्ममता, दमन, संघर्ष, उत्पीड़न, क्षमा, धीर-वृत्ति (परजयमें विचलित न होना), डटे रहना, आश्चर्य, सन्तोष, तन्मयता, साहस, अभ्रान्ति, धीर-संदेश, प्रतिका, हठता, सर्वस्व-त्याग, निर्मयता, श्लोम, शंका, आशंका, अमर्ष, गर्व, श्रोतुस्थ, लालसा, वामना, कुतूहल, विश्वास, आशा, आत्मसम्मान, स्वर्दा, विजय आदि संचारों भाव तथा क्रियाएँ होती हैं।

५—भय

❀ इष्ट-विप्रियजन्माधैर्यं भयम् ।

[इष्ट-इष्टते जो अधोरता होती वह कहलाती भय ।]

अग्ने इष्ट, जीविषा, संश्लि, यश, देह, आदि स्वसंबद्ध अथवा इष्टसंबद्ध जन या स्थान या वस्तुपर आघात करने-वाले भूत-प्रेत, राक्षस, जीव, मनुष्य (चोर, डाकू, हत्यारे, दुष्ट, सेना, राजा, शत्रु), अग्नि, वर्षा, भौंभी, सूक्ष्म आदिसे आघात होनेपर या आघातका संभावना होनेपर या इन संभावनाओंके अनिश्चय अथवा संदेहकी दृश्यां जो अधोरता या घबराहट होती है उसे भय कहते हैं।

इसमें व्यग्रता, कंप, स्वेद, रोमांच, भय, स्तंभ, धिम्भी नैपना, वैधर्म्य, व्याकुलता, भूच्छा, गिर पड़ना, भागना, आश्रय माँगना, चिल्लाना, पुकारना आर्त्तनाद, रोना, दैन्य दिखाना, अतुनय-विनय, प्रार्थना, उत्पीड़कको प्रेरणसे डरके मारे अपनी इच्छा न होते हुए भी दूसरोंकी इच्छा करनेकी उद्यत हो जाना, अपनी इच्छाके विपरीत कार्य करनेको भी उद्यत हो जाना, असत्य बोलना, विवाद, चिन्ता, संदेह, आवेग, बिनाशा, शूल, अमर्ष, ग्लानि, उत्कंठा, अविश्वास, अश्रि, दुरारा, निराशा, आशा, आर्त्तक, निरुत्साहित, उदासी, किकर्तव्य-विमूढ़ होना आदि संचारी भाव और क्रियाएँ इनमें होती हैं।

इ—क्रोध

❀ अमहनावेगो क्रोध ।

[असहनाका आधि क्रोध है ।]

अपना या अपने इष्का अहित करनेवाले या अहित करनेका इच्छा करनेवाले अथवा अपना कहना न सुनने और करनेवालेके प्रति उसकी यह अपहेलना न सहन कर मक्नेके कारण मनमें जो विद्योभ होता है उसे क्रोध कहते हैं । यह क्रोध दो प्रकारका होता है—स्वाभाविक, और अस्वाभाविक । पद या अपस्थामें अपनेसे छोटे या पारपर गले लोगोंके प्रति जो क्रोध होता है उसे स्वाभाविक कहते हैं । बड़ोंके प्रति क्रोधको अस्वाभाविक क्रोध कहते हैं । यह दो प्रकारका होता है—क्षोभ (खोभ) और दुःशालता, बट बट कर बोलना और जीभ लडाना । दूसरीपर अत्याचार करनेवालेके प्रति अत्याचार-निशान्याय जो क्रोध होता है उसे सत्यिक क्रोध कहते हैं । अपने पदके अनुभार नीतिरक्षणके लिये जो क्रोध किया जाता है उसे राजम् क्रोध कहते हैं ।

अपने स्वार्थके लिये अथवा निरर्थक दूसरोंको पीड़ित करनेके लिये जो क्रोध किया जाता है उसे तामस क्रोध कहते हैं ।

क्रोधकी तीन अवस्थाएँ भी होती हैं—सम्मोह, मुविचारित तथा अविद्ध । ये मनुष्य क्रोधमें अन्या होकर कर्त्तव्य कर्त्तव्यका विचार छोड़कर आचरण करने लगा है उस क्रोधको अवस्थाको सम्मोह कहते हैं । जब क्रोध होनेपर मनुष्य मला प्रकार विचार-र आचरण करता है उसे मुविचारित क्रोध कहते हैं । जब मनुष्य मन्ही मन क्रोध करके रह जाता है उससे प्रेरित होकर कोई प्रतिक्रिया नहीं करता तब उस क्रोधकी अविद्ध अवस्था कहलाती है ।

अपना या अपने इष्का अहित करनेवालोंके अन्तर्गत अपने शत्रु, पतिद्वन्द्वी अपयश करनेवाले देशद्रोही, समाज द्रोही, धर्मद्रोही तथा अपने पुत्र, स्त्रा, पशु वाहन, सपत्ति हरण करनेवाले सभी आते हैं । इसके अतिरिक्त सामान्यत अपनेसे असबद्ध व्यक्ति या वस्तुका अनिष्ट करने और अनिष्ट चाहनेवाले व्यक्तिके प्रति भी क्रोध होता है । अपने शत्रुओं को, कामचोर अथवा अकुशल कर्मचारी या सेवकके प्रति भी क्रोध होता है । ये सभी स्वाभाविक हैं ।

किन्तु जब कोई अपने गुरुजनोके प्रति इस बातपर रूढ़ होता है कि वे अनैतिक कार्यकी अनुज्ञा नहीं देते वहाँ क्षोभ होता है किन्तु यदि गुरुजन भी हत्या आदि दुष्कृत्य करें तो उनपर क्रोध करना स्वाभाविक ही कहलायगा ।

तर्जन, श्रोत और नयनों का पककाना, भौहें तरेरना, दुर्बचन कहना, चिल्लाना, उमता, डाटना, मर्त्सना, मूर्ख बनाना व्यय बोलना, जानवरोंसे उपमा देना, गालीदेना, मुक्के, लात, जूते या डबेसे मारना-पीटना, बाँधना, यातना देना, दुःशीलताका व्यवहार करना, अमर्षादित बातें कहना, दोष बजानना, दूसरेके भाता-पितामें दोष निकालना, जाति दोष दिखाना, धक्के देना, कोठरीमें बन्द करना भोजन-पानी न देना, उठाकर पटकना, कुटिल तथा व्ययपूर्ण हँसी हँसना, शका, अविश्वास, गर्व, अमर्ष, अक्ल, आतक, विरोध, भ्रान्ति, असन्तोष, वैर, ऍड, दूसरेको दुःख समझना, अपनेकी सब कुछ समझना, चिड़ना, ईर्ष्या, प्रतिहिंसा, उत्तेजित होना आदि इसके लक्षण हैं ।

७—आश्चर्य

❀ कौतूहलजन्यसुखोत्सुक्यमाश्चर्यम् ॥

[जो कौतूहल-जन्य भाव ही सुखकर तो आश्चर्य ।]

किन्ती अनोखे, अद्भुत, असभव, अश्रुतपूर्व, अदृश्यपूर्व अलौकिक या असाधारण किन्तु सुखकर व्यक्ति, वस्तु या क्रियाके सदाकारसे अथवा अप्रत्याशित स्थलपर या दशमें इष्ट या परिचितका मिलन या अभिज्ञान ही आश्चर्य कहलाता है । यदि हमने सहसा जगलमें गैंडा (शार्दूल) देख लिया तो वहाँ भय होगा आश्चर्य नहीं, किन्तु उसी गैंडेकी जन्तुशालामें देखनेसे आश्चर्य होता है । अतः आश्चर्यके लिये कुतूहल तनक व्यक्ति या वस्तुका अद्भुत लक्षण होना अत्यन्त आवश्यक है ।

कुतूहल जिज्ञासा, उकडा, देखने रहनेकी लालसा, उत्साह, हर्ष, सन्तोष, स्तम्भ, विस्मय, आँख पाड़ना, मुँह बाना, ठोड़ीमें हाथ लगाकर चकित होकर देखना आदि इसके लक्षण हैं ।

८—धृष्टा

❀ विप्रियत्वजन्यधिरतिष्ठृष्टा ॥

[विप्रियत्वसे समुद्भूत ही विरति धृष्टा कहलाती ।]

अपिप, कुरूप, कुदर्थन, कुत्सित, दुर्गन्धित, दुःश्रवण,

दुःस्पर्श, दुःस्वादु, अरुचिकर, अश्लील अमव्य तथा अगुह्य वस्तु, व्यक्ति, स्थान तथा क्रियाके प्रति जो विराग, अरुचि, विदग्ध, लुगुप्सा और ग्लानि होती है उसे घृणा कहते हैं। अपना तथा लोकका अभिय करनेवाले तथा समाज और नीतिसे विरुद्ध आचरण करनेवालोंसे विरिनि भी घृणा ही है। अपने शत्रुके अर्च्छे कामोंमें भी लोग दुर्गुण ही देखते हैं, उसका कारण-भाव घृणा ही है।

इसमें दूर रहना, बात न करना, मुँह मोड़ना, निन्दा करना, ग्लानि, त्रास, विडम्बा, नष्ट करनेका उद्योग करना, ईर्ष्या, क्रोध, तर्जन, घृणापूर्ण हास, उदासीनता, कुड़ना, नाक मूँदना, भागना, मौन रहना इसके लक्षण हैं।

साधारण मनुष्यको एक और दार्शनिक या विरागकी स्थिति होती है जब उसके धन, परिहार आदिका नाश हो जाता है। इन अवस्थामें वह या तो विरक्त होकर साधु-संगति और एकान्तवास करता है या आत्मघात करता है। यह अवस्था दरिद्रता, भ्रिय-ह्रास विश्रामनात तथा कुष्ठ आदि घृणित रोग होनेपर भी हो जाती है।

उन्मत्त (पागल), मद्यपी, योगी, जड़, दार्शनिक, तथा अवधूत आदि कुछ ऐसे भी लोग होते हैं जिनकी मानसिक वृत्तियाँ अनिश्चित या अतिनिश्चित रहती हैं। अतः उनके लिये परिस्थितिके अनुकूल आवश्यक संवाद रचना चाहिए।

इन आठ स्थायी भावोंका और बचीस संचारी भावोंका यहाँ परिचय देना इसलिये आवश्यक हो गया कि नाटककारको संवाद लिखनेमें पहापगपर इनकी आवश्यकता पड़ती है और इन्हींके आधारपर संवाद रचना और रंग-निर्देश-विधान करना पड़ता है। इनके संबंधमें हम विस्तारसे रस प्रकरणमें विचार करेंगे।

ॐ स्वाभाविक-कृत्रिमप्रभावकसाहित्यिकाश्च संवादाः।

[स्वाभाविक, कृत्रिम, प्रभाव-कर सहित्यिक संवाद।]

संवाद चार प्रकारसे लिखे जाते हैं—स्वाभाविक, कृत्रिम, प्रभावशाली (या भावुकतापूर्ण) और साहित्यिक। नीचे चारों रूपोंमें संवाद प्रस्तुत किए जाते हैं—

१ स्वाभाविक—

[नायिका मुँह फुलाए दूसरी और मुँह किए बैठी है। नायक आता है और पास पहुँचना है।]

नायक—(नायिकाके कन्धेपर हाथ रखकर) क्या बात है जी ! कुछ छट हो क्या।

नायिका—मुझे न छोड़िए। मेरा जी अर्च्छा नहीं है।
नायक—(पाम बैठकर) क्या हुआ ? (नाड़ी देखने-को हाथ पकड़ने हुए देखूँ तो।

नायिका—(हाथ छुड़ाकर) छोड़िए, मुझे कुछ नहीं हुआ। (उठनेको तैयार होती है।)

(नायक हाथ पकड़ लेता है।)

नायक तुम्हें मेरे सिरकी सौगन्ध जो तुम हँस न दो।

नायिका—(हँसकर) वन यदी आपकी बात तो हमें अर्च्छा नहीं लगती। वान-बातमें सिरकी सौगन्ध क्यों खाते हैं।

नायक—(नायिकाकी कमरमें हाथ डालकर, ठोड़ी छूकर) अर्च्छा बतानो, अब छट तो नहीं हो, सच कही।

नायिका—कह दिया नहीं, नहीं, नहीं छोड़िए भी तो। (छुड़ा लेती है।) चलिए याना डंडा हो रहा है।

नायक—चलिए, सेवक तैयार है।

[हाथमें हाथ डालकर दोनोंका रसोईपरकी ओर पन्थान]

२ कृत्रिम—

[नायिका अपने मुखपर सान्ध्य कमलकी उदासीनता लिये द्वारकी ओर अपनी पीठ करके बैठी है। नायक अपने विलम्बसे आनेके अपराधकी भावनासे भीति-गम्भीर बनकर प्रवेश करता है और शनैः शनैः नायिकाके पार्श्वतक पहुँच जाता है।]

नायक—(नायिकाके कन्धेपर हाथ रखकर) क्या हुआ प्रिये ! क्या मुझ दासके किसी अक्षम्य अपराधपर आप रोयाविष्ट हो बैठी हैं ?

नायिका—अस्ते स्वर्गसे मुझे विचलित न कीजिए।

मेरा शरीर प्रकृत अवस्थामें नहीं है।

नायक—(पाम बैठकर) शरीरकी किस विकारसे अक्रान्त किया है ? (नाड़ी देखनेको हाथ पकड़ते हुए) लाओ नाड़ी परीक्षा करके देखूँ ता।

नायिका—(हाथ छुड़ाकर) क्षमा चाहती हूँ। मेरा शरीर किसी प्रकारके विकारसे अक्रान्त नहीं है।

(उठकर जानेको प्रस्तुत होती है। नायक कर-ग्रहण करके बैठा लेता है।)

नायक—तुम्हें मेरे उत्तमागकी शपथ है यदि तुम्हारा मुल-कमल प्राप्त, कालीन अरुणको छाया लेकर विकचित न हो उठे ।

नायिका—(हास सहित) आपकी यह प्रवृत्ति मुझे विचलित कर देती है । बार बार अपने उत्तमागकी शपथ का आश्रय आप क्यों लेते हैं ।

नायक—(नायिकाके वृत्तिप्रदेशको अपने करते आवेष्टित करके) सत्य कहना प्रिये ! अब तो रोपविशका कोई चिह्न नहीं रहा ?

नायिका—आवृत्ति पुनरावृत्ति करके मुद्रित कर रही हूँ—नहीं, नहीं, नहीं ! (झुंझ लेनी है ।) आइए, भोजन घपना उष्णता परिष्कार कर जुझ है !

नायक—चलिए सेवक अनुगमनके लिये प्रस्तुत है । (हाथमें हाथ डालकर महानसकी ओर प्रस्थान)

३ प्रभाकर—

[नायककी बात देखते-देखते नायिका थक गई है । घर घर दिग्गज उठे हैं । अबतक तो नायकको आ ही जाना चाहिए था । अब नहीं सदा जाता । नायिका मुँह फुलाकर बैठ गई है । आब आबें तो सही । नायक आता है । नायिकाकी चटी हुई भौंहें और सामने दिखाई देनेवाले गालपर चढाहुआ क्रोध देखते ही उसके मुँहका रंग उड़ जाता है । अपराधीकी भाँति अत्यन्त भीत तथा दीन मुद्रामें वह नायिकाके पास तक पहुँच जाता है ।]

नायक—(नायिकाके कन्पेपर हाथ रखकर) आज चन्द्रमापर बदल क्यों छाप हुए हैं ?

नायिका—शदल नहीं है राहु है । बचे रहिएगा ।

नायक—(पास बैठकर) इन्द्रका वज्र अवतक औचित है तबतक राहुमें क्या साहस है कि इधर तक भी सके । (नाडी देखनेके लिये हाथ बढ़ाकर) देखूँ तो ।

नायिका—अब क्या देखिएगा ? धैर्यके साथ नाडी भी छूट चुकी है ।

नायक—ठपकी तो वन्दी करना चाहता हूँ । मेरे हाथसे छूटकर कहाँ जायगी ! (हँसकर) नाडी तो हँस रही है । मेरे सिरकी सौगन्ध कदो हँस रही है न ? वह हँसी, वह हँसी हाथकी नाडी तुम्हारे ओठोंपर चढ़कर वह हँसी ।

नायिका—(हँसकर) आपकी यह हँसी मुझे अच्छी नहीं लगती । आप बात बातमें अपने सिरकी सौगन्ध क्यों

खाते हैं । आजसे सिरकी सौगन्ध खाई तो मैं अस्त्र पाटी लेकर पड़ जाऊँगी, सौगन्ध ले लो जो कमी मुँहसे बात भी निकालूँ या इस बोधरीमें पैर भी धरूँ ।

नायक—(नायिकाकी कमरमें हाथ डालकर) अच्छा सत्य बनाओ मुझपर वृष्ट तो नहीं हो ? तुम रुठ जाती हो तो पैरों तलेसे धरती निकल जाती है, आकाश धूमतासा दिखाई पड़ने लगता है, हृदय कोंपने लगता है, ऐसा जान पड़ता है मानो साये सृष्टि शून्य हो गई हो और मैं उसमें एक अनेला—अनेला खड़ा हूँ ।

नायिका—यह आप क्या कह रहे हैं । मेरे रहते आप अनेले क्यों रहेंगे । मैं सच कही हूँ मैं रुठी नहीं हूँ तनिक भी नहीं रुठी हूँ । अपने प्राणसे, अपने आत्मासे कोई रुठ सकता है । चलिए थाली आरथी प्रतीक्षा कर रही है ।

नायक—चलो, जहाँ ले चलोगी वहाँ चरूँगा । तुम अरुचनी बनो, मैं वशिष्ठ बनकर तुम्हारा सहचर बनूँगा । चलो । [हाथमें हाथ डालकर प्रस्थान]

४. साहित्यिक

[नायिका मान धारण करके खिन्नवदना होकर वैठी है । नायकका आगमन ।]

नायक (नायिकाके पार्श्वमें पहुँचकर उसके स्कन्धका स्पर्श करके) आपके मुत्तमण्डल पर सान्ध्य अरुणिमाका अभिषेक क्यों हो रहा है देव । आज नैनोपर विराजमान इन्द्र धनुष क्या मुझपर शरवणके लिए सन्नद्ध हो रहे हैं ।

नायिका—आपका स्पर्श मेरे हृदयकी पगलाकी प्रमजन बनकर उल्लेखित कर रहा है । मेरा शरीर अपनी प्रवृत्तिमें नहीं है ।

नायक—(पार्श्वस्थ होकर) किस विकारने आपकी शरीरसे आरामीयता स्थापित करनेकी धृष्टता की है । (नाडीगति देखनेको मणिगन्ध ग्रहण करता है) ; देखूँ त्रिदोषपेसे कौन सा दोष कुटित होनेको तर्जना कर रहा है ।

नायिका—(दाध झुंझकर) क्षमा कीजिएगा, मेरा शरीर प्रकृतित्थ है, कोई विकार उससे आरामीयता स्थापित करनेकी धृष्टता नहीं कर सकता । यह त्रिदोषका कोप नहीं, मयदोषका कोप है ।

[उठकर गमनोद्यत । नायक कर ग्रहण करता है ।]

नायक—तुम्हें मेरे सिरकी शपथ है यदि अपने मुल-कमलको हासश्रीसे मडित न करो ।

नायिका—(हँसकर) आपकी इस प्रगल्भतासे मैं परास्त हो जाती हूँ। प्रत्येक प्रसंगमें अपने शिरोकार शपथका प्रयोग मुझे विवक्षित कर देता है।

नायक—; नायिकाकी कठिमें हाथ डालकर अपने हाथसे उनका मुल ऊपर उठाते हुए। मुझे आश्चयन दो नागरी कि इन सुन्दर भ्रूलताओंपर चढा हुआ चाप उतर गया।

नायिका—कितनी बार आश्वासन दूँ कि वह चाप उतर ही नहीं गया, शून्यमें विलीन हो गया, लय हो गया। चलिए स्थालीभक्त भापके विगहमें प्राणहीन हो रहा होगा।

नायक—दासको आशा शिरोधार्य है। चलिए। [दोनोंका हाथमें हाथ डाले भोजनशालाकी ओर प्रस्थान]

ऊपर एक ही प्रसंग चार दंगसे लिखा गया है। इनमेंसे स्वाभाविक मधोमध है, प्रभावक मध्यम है, माहृत्यिक मध्यमग्राम है और कृत्रिम अधम है। कुछ नाटककारोंने बलपूर्वक अपने नाटकोंके संवादमें लाक्षणिक तथा गूढव्यंग्य भाषाके प्रयोग किए हैं, वे सब ख्याय हैं। इसलिये अभिनवभरतका मत है कि—

ॐ स्वाभाविको श्रेष्ठः प्रयोजने प्रभावकोऽपि।

[स्वाभाविक संवाद श्रेष्ठ है किन्तु प्रभावक भाँ ले सकते।]

अर्थात् स्वाभाविक संवाद सर्वश्रेष्ठ है किन्तु प्रभावक शैलीका भी प्रयोग उसके साथ करना चाहिए, क्योंकि स्वाभाविक शैलीमें अभिनेताको आंगिक, वाचिक और सात्विक अभिनय करनेका अवसर कम रहता है और लघुतक अपनी अभिनय-कलाका दर्शन करनेका अवसर पुर्यात नहीं मिलता तबतक अभिनेताकी रुचि संवादमें नहीं होती, रुचि न होनेसे वह तन्मयताके साथ अभिनय नहीं करता और तन्मयताके साथ अभिनय न करनेसे नाटकका उद्दिष्ट प्रभाव सिद्ध नहीं होता। इसलिये नाटककारको संवाद लिखने समय इस बातका ध्यान रखना चाहिए कि नाटकमें किस स्थलको शुद्ध स्वाभाविक रक्त्वा जाय और किस स्थलको प्रभावक बना दिया जाय। कदम, धीरतापूर्ण, रीति और भयानक प्रसंगोंमें तथा उन्नत और प्रमत्तके प्रलापोंमें इस प्रभावक शैलीका प्रयोग अत्यन्त सहायक सिद्ध हुआ है। शृंगार, हास्य, अद्भुत तथा भीमससमें स्वाभाविक शैलीका ही प्रयोग श्रेष्ठ है।

पीछे हम संवादके भाषा तत्परता निरूपण करते हुए कह आए हैं कि यदि नाटककार विभिन्न प्रदेशके व्यक्तियोंका समावेश करना है तो नाटककारको अपने संवादका वाक्य-विन्यास करना तो चाहिए उसी भाषामें जिन भाषामें नाटक लिखा गया हो किन्तु उनका उच्चारण और वाक्यस्वरस्व (वाक्य करनेका ढंग) इस प्रकार विद्वृत कर देना चाहिए कि अर्थ समझनेमें भी बाधा न हो और जिस देशका पात्र है उस देशके उच्चारण और ध्वनिते पात्रके देश और उसकी विशेषता व्यक्त हो सके। एक वाक्य लीजिए—

‘मैं लक्ष्मीजीका दर्शन करके लौट रहा हूँ।’

इसे पंजाबी कहेगा—

मैं लछुमोजीका दरसन करके लौट रहा हूँ।

बंगाली इसीको कहेगा—

हाम लौकलीजीका दोरशन कोरके लोट रहा हाम। यहाँ शब्दविचारसे वक्ताके देशका परिचय भी मिल जाता है और श्रय समझनेमें भी बाधा नहीं होती।

यही ध्यान विभिन्न मर्यादाके पात्रोंके संवादमें रखना चाहिए। एक साधारण अपद्ध श्रमिक और सम्य नागरिककी बातें लीजिए—

नागरिक—बताओ कितना लोगे।

श्रमिक—जो मिल जाय सरकार।

नागरिक—बाम तुमने किया है, जो ठीक हो वह बताओ।

श्रमिक—बन आर ही जो ठीक समझिए, दे दीजिए।

इस बातचीतमें यह निष्कर्ष निकला कि कुशल विद्या-सम्पन्न व्यक्ति भी जब श्रपद्ध लोगोंसे बातचीत करता है तो अपनी भाषा सरल कर लेता है।

कुछ नाटककारोंका यह मत है कि यदि एक ही देशके विभिन्न प्रदेशोंके लोग नाटकमें एकत्र किए जायें तो उनसे प्रादेशिक बोलियों बुनवाई जायें। अभिनवभरत इसमें सहमत नहीं है। उनका मत है कि प्रादेशिक बोलियोंमें अनेक शब्द या प्रयोग ऐसे होते हैं जो एक ही देशके लोग भी परस्पर नहीं समझते अतः—

ॐ इष्टं सर्वश्रेष्ठ्यभाषाप्रयोगः।

[सर्व श्रेष्ठ भाषा प्रयोग ही श्रेष्ठ हमार।]

देश भरमें जिन शब्दोंका तथा जिन भाषाका व्यापक प्रयोग होता हो और जिसे सब साधारणतया समझते हैं

उन्हींका प्रयोग नाटकमें करना चाहिए, प्रादेशिक भाषाओं का या प्रादेशिक शब्दों का नहीं।

❀ प्रादेशिके सति व्याख्या कर्त्तव्या।

[यदि प्रादेशिक इष्ट हो, व्याख्या करी तुरंत।]

किन्तु यदि प्रादेशिक भाषा इष्ट ही हो तो उसका प्रयोग करके कूटार्थ शब्दोंके प्रयोगके समान ही तत्काल या अन्तर देखकर उसकी व्याख्या कर देनी चाहिए। इस सबका निष्कर्ष यह है—

❀ पात्रानुरूपं वाक्।

[वाणी होवे पात्रोंके अनुरूप।]

जैसा पात्र हो उसकी योग्यता, सत्कार, शिक्षा, संगति, पद तथा मातृ-भाषासे प्रभावित उसकी वाणी नाटककी भाषाका सत्कृत या विद्वृत उच्चारण रूप हो।

❀ वैविध्यं समवेवोचरे ॥

[एक साथ जो उत्तर हो उनमें विभिन्नता हो ही।]

प्रायः यह देखा गया है कि जहाँ कहीं किसी एक प्रश्नके उत्तरमें अथवा किसी विशेष परिस्थितिमें एक साथ कई श्रेणीके व्यक्ति बोलते दिखाए जाते हैं वहाँ उनसे एक ही प्रकारके शब्द कहलाने जाते हैं जैसे—

[राजा मूर्च्छित होते हैं।]

मन्त्री, सेनापति, रानी—(एक साथ) क्या हुआ महाराज !

अथवा—

राजा—आप लोगोंकी क्या सम्मति है ?

सब सरदार—हम लोगोंको लड़ना चाहिए।

उपर्युक्त दोनों स्थलोंमें यह आवश्यक नहीं है कि मन्त्री, सेनापति और रानी तीनों मिलकर यही वाक्य कहें—'क्या हुआ महाराज ?' संभावना, पद और सामाजिकताके नाते अधिक उचित यह है कि मन्त्री करें—'महाराज मूर्च्छित हो रहे हैं, वैद्यको बुलाइए'; सेनापति यह कहे—'जान पड़ता है मूर्च्छा आ रही है'; और रानी कहे—'अरे यह क्या ! क्या हुआ आर्यपुत्र !' संभवतः सभी देशके नाटककार इस बात का अनुभव तो करते होंगे, किन्तु उनके पास कोई ऐसा साधन नहीं था कि लिखित नाटकमें तीन प्रकारके वाक्य एक साथ बुलवानेका संकेत हो सकता। किन्तु

यूरोपके वर्तमान नाटककारोंने ऐसा विधान किया है। जौर्ज बर्नर्ड शॉने अपने 'यूनेवर फैन टेल' (तुम रुमी नहीं बता सकते) नामक नाटकके प्रथम अंकमें ऐसी परिस्थिति-को इस प्रकार अंकित किया है—

श्रीमती क्लैडन- डॉली फिलिप-	} सब एक साथ	{ -तुम्हारा तत्पर्य क्या है। -बनाओ तो तुम्हें हुआ क्या है, बताओ ?
ग्लोरिया— श्रीमती क्लैडन- फिलिप—		
		{ -उसे स्वीकार कर लिया। -डौली। -ओह ! मैं कहता हूँ।

इस प्रकार एक परिस्थितिकी विभिन्न प्रतिक्रियाके पल-स्वरूप विभिन्न व्यक्ति स्वाभाविक रूपसे एक साथ भिन्न उत्तर देते हैं।

किन्तु कभी कभी कुछ उत्तर एक साथ भी हो सकते हैं जैसे—

राजा—तुम लोगोंमेंसे कौन युद्धमें जाने में प्रस्तुत हैं।

सब—हम सब प्रस्तुत हैं।

कभी कभी अवयवकारके समय या समवेत पुकार करते समय या नारे लगाते समय एक साथ एक ही बात कही जा सकती है जिसमें चाहे समवेत स्वसे सभी एक साथ एक ही बात कहे अथवा एक बातका एक अंश एक व्यक्ति कहे—'महाराजकी' और शेष व्यक्ति एक साथ कहें उठें 'जय'।

इन सब परिस्थितियोंमें नाटककारको स्वयं विचार कर लेना चाहिए कि समवेत उत्तर अथवा यत्कथमें किस प्रकार भिन्न रूपसे या एक रूपसे क्या बात कहलाई जाय।

❀ एरूपीठे बहुव्यापारप्रयोगः।

[एक पीठपर साय बहुत व्यापार।]

अभिनवभरतने अपने देवता नाटकमें एकही दृश्यमें कई दृश्यपीठ या व्यापारस्थल देकर उनपर एक साथ कई कई व्यापार कराए हैं किन्तु उनमें क्रिये प्रकारका संवाद-संघर्ष नहीं होता और कई स्थलोंको घटनाएँ एक साथ गुंथी चली जाती हैं। इसके लिये अभिनवभरतने विभिन्न स्थलोंके लिये १, २, ३, ४ अंकोंका निर्देश किया है और एक साथ दो स्तम्भोंमें विभिन्न स्थानोंके व्यापार और संवाद दे दिए हैं जैसे देवताके प्रथम अंकमें—

समय—सन्ध्या

[दूरपर समयसूचक सात घंटे बरते हैं। परदा उठता है। देवशंकरके वामस्थानपर मायाके बी० ए० परीक्षामे उत्तीर्ण होनेके उपलक्ष्यमें सुदृज्जलपानका आयोजन किया गया है। मायाकी कई संख्याएँ १ संख्यक स्थानपर जलपान कर रही हैं। मायाके भाई जटाशंकर २ संख्यक स्थानपर पुरुष अतिथियोंका आतिथ्य-नस्कार कर रहे हैं। इन अतिथियोंमें ६ तथा ८ संख्यक घरमें रहनेवाले नये पड़ोसी वसन्तलाल और रजनीके सम्पादक, संवाददाता तथा प्रकाशक गदाधर भट्ट भी हैं। वसन्तलालकी पुत्री मोहिनीको भी निमन्त्रण मिला है। पीछे मन्द मधुर वाद्य चल रहा है। मोहिनी ८ संख्यक स्थानसे उतरकर १ संख्यक स्थानपर पहुँचती है।]

समवेत अभिनय

स्थान १

स्थान २

माया—(मोहिनीका परिचय कराते हुए) इनका नाम है मोहिनी। ये हमारे नये पड़ोसी वसन्तलालजीकी कन्या है। यहाँ कन्या-गठशाजामें पढ़नेवाली हैं।

मोहिनी—(सबकी ओर आँलें घुमाकर हाथ जोड़ती है।) नमस्कार। (बैठ जाती है)

[माया सबके गिजासोंमें जल डालती है, बाहर भौंकती है, १ संख्यक स्थानतक दौड़ जाती है। शान्ता बदनका स्वागत करके अपने साथ

[जटाशंकर भोजन परोस रहा है—

जटा० (संपादकजीके पास पहुँचकर) संपादकजी संकोच न कीजिएगा।

गदाधर—संकोच क्यों करूँगा ? (केला मुँहमें भरते हुए ब्राह्मण होकर संकोच करना और वह भी भोजनमें ? यह ब्राह्मणत्वका अपमान करना है। हाँ, (वसन्तलालकी ओर इंगित करके) इनका परिचय तो आपने दिया ही नहीं।

जटा०—ये हैं श्री वसन्तलालजी ! अभी थोड़े दिनोंसे यहाँ आए हैं। वह, सामनेवाले घरमें रहते हैं।

वसन्त०—(अपने ऊठे हाथोंकी हथेली मिलाकर उँगलियाँ अलग करके) नमस्कार। (जटाशंकरकी ओर देखकर गदाधरका परिचय पूछते हुए) और आप ?

जटा०—आप रजनीके संपादक, संवाददाता और प्रकाशक सब कुछ हैं।

वसन्त०—इतना सब काम आप अकेले कर लेते हैं ?

गदा०—जी हाँ, आप हिन्दीकी संपादन-कला नहीं जानते। अक्षर जोड़नेसे लेकर पत्र बाँधने तकका सब काम संपादकको श्राना चाहिए। समय पड़नेपर उसे भाड़ू भी लगानी पड़ सकती है। और सस्ता कितना ? महीनों आप काम देखनेके बहाने उसे खोत सकते हैं, फिर सूले भूसेक प्रलोभन देकर उसे फँसाए रख सकते हैं और यदि आप पत्र-संचालक हों तो बचे हुए समयमें आप वसन्त अपने बच्चे भी पढ़ा सकते हैं।

२ संख्यक स्थान के वासने होती हुई

१ संख्यक स्थान तक ले आती है ।

माया—ये हैं मेरी गुंजी शान्ता वदन । इन्हींकी वृषाते मैं इतना पढ पाई हूँ ।

[सब खड़ी होकर हाथ जोड़ती हैं ।]

शान्ता— (मायाके गानपर स्नेह-चपेटा लगाकर) चल ! मेरी क्या वृषा है । यह तो तेरे परिश्रमका फल है ।

माया—वैठिए (वैठाकर जलपानकी सामग्री आगे रखती है ।)

शान्ता—अरे इतना !

माया—अमीसे इतना ! अभी और ला रही हूँ ।

(जलपान कर चुकनेपर)

माया—चलिए और लोगोंसे भी आपका परिचय करा दूँ । (सब उठती हैं । मोहिनीसे) आना फिर ।

मोहिनी—जी हों आजँगी । (सब जाती हैं)

शान्ता— मोहिनीकी ओर हगित करके) इस कन्याको मैंने कहीं बड़ोदेम देला है ।

आदि

वसन्त—और आपको भी यह सब करना पड़ता है ।

गदा—यह सब न करें तो निकल न दिए जायँ ।

वसन्त (सहसा मायाके साथ शान्ता वदनकी १ संख्यक स्थान की ओर आते देखकर) क्षमा क जिएगा । कुत्रु जी सा पयरा रहा है । (उत्तरकी प्रतीक्षा किए बिना ही उठकर ऊटपट पग बढ़ाकर ७ से चढ़कर ६ संख्यक स्थानमें प्रवेश करके ८ में चला जाता है ।)

गदा०—क्या बात हुई ?

गदा०—भोजनमें तो बोई ऐसी वस्तु थी ही नहीं कि जो घबरा दे । होगा कुछ, कौन जाने ।

[सब भोजन करत रहने हैं । इतनेमें क्रमु भाई अंधे जी महिलाका-सा बेप घनाकर, रंग न छतगी लगाए हुए आता है और

२ संख्यक स्थानपर पहुँच जाता है सब उसे हला समझकर खड़े हो जाते हैं ।]

आदि

इसका नाट्यप्रयोग प्रथममें पहले पहल अभिनव-भरतने अलिखित भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलनके बम्बई अधिवेशन (दिसम्बर १९४७) में 'देवता' नाटक खेलकर किया था । इसमें विभिन्न स्थलोंपर चलनेवाले सगर्दी और व्यायोगका ऐसा कौशलपूर्ण भेन किया गया है कि त्रितनी देरतक एक स्थानमें स वाद होता है उतनी देरतक अन्य स्थानोंमें कुछ मौन व्यापार या क्रिया होती है जिससे किसी प्रकारका स वाद-संघर्ष नहीं होता । इसे एकदृश्यात्मक-बहुस्थल-बहुध्यागरीय नाटक (मोनोड्रेटिंग-मल्टीस्रीलमल्टी ऐक्शन-प्ले) कहते हैं । इसका प्रथम घडी

नाटककार कर सकता है जो नाट्यशास्त्रज्ञ पंडित ही और रगशालाके समस्त भेद जानता हो ।

ॐ नाट्यकृच्छ्रातचर्य संवादि ।

[नाट्यकारभ है स्वतन्त्रता स वादोंके रूपमें ।]

कुछ आचार्य मत है कि नाटकके अमुक भागमें अमुक बात हो पाये कहलाई जानी चाहिए किन्तु अभिनव-भरतका मत है कि नाटककारको इस प्रकार किसी नियमने बाँधना असंभव अतुचित है क्योंकि एक-सी भाव-दशामे विभिन्न परिस्थितय, सं वारों तथा देशाचारोंके अनुसार वाचिक प्रतिन्रिया अनेक रूपसे व्यक्त हो सकती है । इसलिये केवल

इस दृष्टिसे संवाद-ग्रथन करना चाहिए कि वह संवाद उस विशेष परिस्थितिमें स्वाभाविक तथा आवश्यक प्रतीत हो और उसके द्वारा नाट्यकार-द्वारा इष्ट प्रभाव उत्पन्न किया जा सके । नाटककारको संवाद-शैलीमें नियत-पद्धत कर देनेसे एक बड़ी हानि यह भी होगी कि नाट्यका साहित्यिक विकास तथा काव्यात्मक विज्ञान रुक जायगा, उसमें नीरसता

आ जायगी और वैची हुई उक्तिमें रचे हुए नाटक अत्यन्त अमर्थ लगने लगेंगे ।

- संवादके संबंधमें इतना विचार पर्याप्त होगा । आगे हम रंग-निर्देशपत्र विचार करके नाट्यमें कविता और गीतके समावेशको विवेचना करेंगे ।

॥ इत्यभिनवमरुतश्री नीतासम-निर्घचितेऽभिनवनाट्यशास्त्रे रूपकरचना-खण्डे संवाद-योजना-प्रकरणे काव्यतत्त्वं नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥

संवाद-योजना

रंगनिर्देश

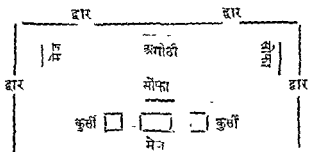
ॐ अभिनय-रंगालो रु-संगीत-नेपथ्य-कर्माद्यर्थे रंगनिर्देशः ।

[अभिनय, रंग, प्रकाश और संगीत, तथा नेपथ्य कर्म ।

इनके प्रबन्धोंको देना निर्देश नाट्यका परम धर्म ॥]

पीछे कहा जा चुका है कि भाषाका प्रयोग नाटकमें मध्वाद् और रङ्गनिर्देश दो कार्योंके लिये होता है । ये रङ्ग-निर्देश अभिनय, रङ्गस्थानस्था, प्रकाशव्यवस्था संगीत-व्यवस्था तथा नेपथ्यव्यवस्थाके लिये होता है । आजकल बहुतसे नाटककारोंकी प्रवृत्ति बहुत लम्बे-लम्बे रङ्गनिर्देश देनेकी है जिससे वे रङ्गनीठपर उपरिष्ठत किए जानेवाले दृश्यपीठो तथा अन्य पदार्थोंका इतना विस्तृत निवरण देते हैं कि उभरे रङ्ग-व्यवस्थापरका हाथ बहुत ढँस जाता है और कभी कभी तो यह अवस्था होती है कि उस विस्तृत सामग्रीसे डरकर लोग नाटक ही नहीं देखते । अतः रङ्गनिर्देशका सर्वप्रथम सिद्धान्त यह है कि अभिनयके लिये केवल उन्हीं बातोंका निर्देश किया जाय जो नाटकीय कथा-प्रवाहके लिये, रस और भावका प्रभाव बढ़ानेके लिये तथा आंगिक, वाचिक और सात्विक अभिनयके द्वारा पात्रोंके चरित्रों और व्यापारोंको विकसित करनेमें अभिनेताको सहायता दें ।

योरपके बहुतसे नाट्याचार्योंने रङ्गनिर्देशके साथ रेखाचित्र या रङ्गपीठका मानचित्र देनेका भी विधान चलाया है जिससे वे रंगपीठपर प्रस्तुत की जानेवाली सब घट्टुओंका तथा प्रवेश और निष्क्रमणके विभिन्न द्वारोंका भी निर्देश कर देते हैं जैसे निम्नलिखित मान-चित्रमें जो अभिनवमरुतके 'श्रपयसी' नामक एकांकी नाटकके लिये बनाया गया था—



ऐसा मानचित्र प्रायः उन एकांकी नाटककोके साथ दिया जाने लगा है जिनमें एक ही दृश्य ही और वह दृश्य भा कितनी भवनके नियोग कर्ममें ही । इस प्रकारके नाटककी ही वारंवारानोंने 'डाइंग-रूम टूलेज' या 'जैकवाले नाटक' करना प्रारम्भ किया है । इस प्रकारके मानचित्र साधारण विद्यालयों तथा नाट्यमण्डलियोंके लिये बड़े उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं । इनमें जो इस प्रकारके निर्देश दिए जाते हैं—

"शमुक दाहने द्वारसे निकल जाता है । शमुक पीछेके मंच द्वारसे आकर दाहिने द्वारसे निकलनेका प्रयत्न करता है" आदि—

ये अभिनेताओं और नाट्य-प्रयोक्ताओंके लिये बड़े सहायक होते हैं किन्तु वर्तमान समाजिक नाटककारोंने जो लम्बे-चौड़े वर्णनात्मक रंगनिर्देश दिए हैं वे न तो रस-व्यवस्थापरक ही लिये बहुत सहायक हो सकते हैं और न उनसे नाटकके प्रयोजनमें ही बहुत सहायता मिल सकती है जैसे जीव बर्नर्ड शीके 'सॉजर ऐंड

विचित्रोपेन्द्र' (सोजर और क्लिओपेट्रा) में प्रथम अंकके प्रथम दृश्यमें रग विधान तथा श्रमिनयका निर्देश—

[वेशा हा अन्धकार है जिसमें 'रा' देवताका मंदिर और सुरियाका महल लुप्त हो जाता है। वैधी ही शान्ति न रह्य। धीरे धीरे कालिमा और नीरवता, रजत कुहासे और विचित्र पत्रनोंमें परिवर्तित हो जाती हैं और चढ़ाका वायु मैमनौनकी मधुर ध्वनिको छिपते हुए चन्द्रके प्रकाशमें पैना देता है। समीर उस मरुभूमिपर फैल जाता है और दूरपर विस्तृत क्षितिज स्पष्ट होने लगता है। उस क्षितिजकी रेखाक बीच मरुभूमिमें ऊँचे मंचपर विराजमान एक विशाल मूर्ति सिन्धुस प्रतिमाके रूपमें व्यक्त होती है। प्रकाश और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है यद्यत्कि उस मूर्तिको उठी हुई आँखें स्पष्ट रूपसे ठीक सामने और ऊपर अपरिमित निर्भय सजगताके रूपमें देखती हुई स्पष्ट होती हैं। उसने विशाल पंजोंके बीचमें लाल रंगका एक टेर दिखाई देता है और उस लाल पौपाके टेरपर एक बन्धा शा त लेटी हुई है। उसकी रेशमी कुर्ती स्वच्छ हीन निद्राट् लीनोंके साथ कोमलतामें प्रमश उठनी गिरती हैं और उनके गुथे हुए बाज ज्योत्स्नाके प्रकाशमें पधीने पलोंके समान चमक उठने हैं।]

सहसा दूरसे अस्पष्ट मयानक ध्वनि सुनाई पड़ती है (समनत यह किंसा भिनौतौरकी गर न होगी जो दूर होनेने कारण मन्द प्रनीत होनी है) और मैमनौनका संगीत मन्द हो जाता है। नीरवता। तीव्र स्वरवाली भेरी (विगुल) की मन्द ध्वनिके पश्चात् शान्ति। एक मनुष्य दक्षिणकी ओरसे पंजोंके बल चोरकी भांति प्रवेश करता है। शत्रिकी रहस्यपूर्वतासे ग्राह्य तथा आश्चर्याभिन्य होता हुआ रुक जाता है और सिन्धुसके बाईं ओर लक्ष्य दोकर मुक्त सोचने लगता है। उसने हृदयके भाव उसके विशाल कर्णोंके कारण छिप जाते हैं।]

उपर्युक्त रगनिर्देश विस्तृत अस्पष्ट काव्यमय, भावमय अदृश्यात्मिक तथा रगमचनी प्रकृतिसे विरुद्ध हो गया है। जान पड़ता है कि नाटककार किसी उप-यासकी दृश्य योजना प्रस्तुत कर रहा है, नाटककी नहीं। इसमें रग व्यवस्थापक प्रकाश-व्यवस्थापक, संगीत-व्यवस्थापक, नेत्र-विषयक तथा श्रमिनेतृके लिये केवल इतना ही पत्रांत देता—

[शान्तिपूर्ण अन्धकार। धीरे धीरे अत्यन्त मन्द प्रकाश होता है। मैमनौनके तबूरेकी मधुर ध्वनि। धीरे धीरे प्रकाश बढ़ता जाता है और मरुभूमिमें ऊपर उठी हुई सनग आँजोगली सिन्धुसकी मूर्ति दिखाई देने लगती है जिसके विशाल अगले पंजोंके बीच लाल पौपीके टेरपर एक कन्या सोई हुई है जिसकी साँसे उसकी रेशमी कुर्तीं हिल रही है और उसके बाल प्रकाशमें चमक रहे हैं।]

सहसा दूरसे किसी भगवने जीवकी मयानक ध्वनि सुनाई पड़ती है। संगीत मन्द। दूरपर एक भेरी (विगुल) की ध्वनि। दाहनी ओरसे एक व्यक्ति पंजोंके बल प्रवेश करता है, रुक जाता है फिलन्सके बाईं ओर खड़ा होकर सोचने लगता है।]

शौचे समान ही इन्तनने भी अपने नाटकमें इसी प्रकार के लक्ष्य-चौंके रगनिर्देश दिए हैं—अपने 'शुद्ध गैबलर' नाटकके प्रथम अंकके प्रारंभमें यह लिखता है—

[सुन्दर और कलात्मक दृश्यसे सनाई हुई एक लकी चौड़ी बैठक, जो गहरे रंगोंमें रंगी हुई है। पीछे एक चौड़ा द्वार जिसमें पीछेकी ओर पद पड़े हुए हैं और जिसके पीछे एक छोटासा सुन्दर कमरा आगेवाली बैठकके दगसे ही मना हुआ है। सामनेवाले कमरेके दाएँ हाथवाली दीवारमें मुडनेवाले कपाटोंका द्वार है जो बड़े कमरेकी ओर खुलता है। उसने समुच्चवाली दीवारपर बाईं ओर एक काँचके किवाँचोंका द्वार है जिसमें भीतरकी ओर पद पड़े हुए हैं। काँचसे बाहरका बरामदा तथा पतङ्के समयकी पत्तियोसे ढके हुए पेड दिएपद पड़ते हैं। एक अडाकार मेज आगे ही रखी हुई है। उसपर चादर बिछी है। उसके चारों ओर कुर्सियाँ रखी हुई हैं। सामने दाईं ओरकी दीवारके पास फालो चोनी पीटोंकी चोनी हुई एक चौड़ी त्रेगीटी रखी हुई है जिसके आगे एक ऊँचे पीठकी आरामकुर्ती, गद्देदार पावदान और दो चौकियाँ एक लकी पीठवाली बेंच एक कुर्ती, उसके आगे छोटी गोल मेज पीछेकी ओरके दाएँ हाथके कोनेमें रखी है। सामने बाईं ओर दीवारसे दृक्कर एक सोफा और काँचके द्वारासे कुछ पीछेकी ओर एक प्दानो रक्ता है। द्वाराके दोनों ओर दीवारसे लगी हुई और अनेक प्रकारकी सजावटोंसे लदी हुई टॉडें हैं। भीतरके कमरेकी पीछेवाली दीवारके साथ एक सोफा और उसके आगे एक मेज और एक दो कुर्सियाँ हैं।]

सोफेके ऊपर भव्य सेनापतिके वेशमें एक भव्य वृद्ध मनुष्य-का चित्र टंगा हुआ है। मेजके ऊपर एक कृषियंग रंगके बाँचकी टाँसे टेका हुआ लटकन-दीप लटक रहा है। बैठकमें स्थान स्थानपर बहुतसे फाँच और पीतलके फूल-दानोंमें फूलोंके गुच्छे सजाए हुए हैं। दोनों कमरोंमें नीचे पृथ्वीपर कालीन शिछे हुए हैं। प्रातःकालका प्रकार। फाँचके द्वारमें सूर्य मीनर फाँकना है।

कुमारी जूलिना टैमैन निरपेक्ष रूप से हाथमें पार्वल लिए हुए मध्य भागकी ओरसे आती है। उसके पीछे पीछे कागजमें लिपटा हुआ फूलदान लिए हुए वेस्ट चली आ रही है।

इस रंगनिर्देशको देखकर स्पष्ट हो जायगा कि जो नाटककार समस्त विश्वके मानवोंके व्यक्ति-स्वातंत्र्यको रक्षाके लिये युद्ध करता है वही नाटककार रंग-व्यञ्जको स्वतन्त्रताका अग्रदूत कहें उसे अपने जटिल रंगनिर्देशमें उलझाए रखनेके लिये कितना सजग है। उपर्युक्त रंगनिर्देशमें केवल वस्तुओं तथा द्वारोंकी ही विस्तृत सूची नहीं है बल्कि उन सब वस्तुओंके रंग, रूप और आकारकी भी व्याख्या है। साधारण नाट्य-समाजके लिये इतनी वस्तुओंका प्रदर्शन तो दूर रहा, उनका संरक्षण करना भी कठिन है। यदि इन रंगोंसे युक्त वस्तुओंकी इस व्याख्यासे नाटकीय व्यापारमें कोई विशेषता आ जाती तब भी एक बात थी किन्तु यहाँ ऐसी भी कोई बात नहीं है। अतः अभिनव भरतका मत है—

रंगनिर्देशस्तु नाट्य-व्यापार-सहायक-सञ्ज्ञा-संकेतः ॥

[नाट्यकार्य-अनुकूल सरल-सञ्ज्ञाका है संकेत-निर्देश।] इयत्ता वाक्यमें यह है कि नाट्यमें जो-व्यापार जिस परिस्थितिमें दिखलाया जानेवाला हो उस परिस्थितिके अनुकूल रंगोंके-पर सामर्थियोंका संकलन करके उद्दिष्ट प्रकाशसे सजानेके आर्द्धवर्हीन शब्द-संकेत या निर्देशको ही रंगनिर्देश कहते हैं। अभिनवभरतने अपनी 'अलंकार' नाट्य-काके प्रथम अंकके प्रथम दृश्यमें इसी प्रकारका रंगनिर्देश दिया है—

स्थान—यक्ष हेममालीका भवन

समय—प्रातःकाल

[गीत द्वारपर अशोक किण्वलय और पारिजातके

फूलोंकी बन्दनवार टेंगी है। कर्णिकारकी शालाएँ कलात्मक ढंगसे सजाई गई हैं। स्थान-स्थान पर शंख और पद्म अंकित हैं। दो स्फटिक शिलाएँ द्वारके दोनों ओर पीठासन बनाकर लगाई हुई हैं।]

इसमें सजावटके ढंगका कुल कौशल रंग-व्यवस्थापक-की रुचि, कौशल तथा सुविधापर छोड़ दिया गया है। संसारके वर्तमान प्रसिद्ध नाटककारोंमें गाल्पवर्दी एक ऐसा नाटककार है, जिसके रंगनिर्देश शौ भा इत्मनके समान जटिल नहीं होते। उसको भी एक अंगनी सरलता है। अपने 'दि सिल्वर ब्रीच' (चाँदीका डब्बा) नाटकके प्रथम अंकके द्वितीय दृश्यके प्रारम्भमें यह लिखता है—

“बाँधकी पाकशालामें

[लैक अभी पड़ा सो रहा है। पदोंके बीचसे प्रातःकालका प्रकार आ रहा है। सान्ने आठ बज गए हैं। फुर्तीला युवक हीलर हाथमें कुड़ेकी टोकरी लिए हुए प्रवेश करता है और भीमती जोन्स धारे धारे बीचसेका तस्बना लिए हुए प्रवेश करती हैं।]

इसका ग्रह अर्थ नहीं है कि गाल्पवर्दीने सभी स्थानोंपर इसी सरलताका निर्वाह किया है। कहीं कहीं वह भी शौ और इत्मनके समान रंगनिर्देशमें अतिशय जटिल और उदार हो गया है जैसे 'विन्डोज' (विन्डुकिर्ण) नाटकमें—

प्रथम अंक—[मार्च महोदयका भोजनालय—जिसकी प्राचीनी खिड़कियाँ उन उपवनोंमेंसे एककी ओर खुली हुई हैं जो निःसीम प्रतीत होते हैं क्योंकि दूरतक ऐकेशियस और मुमैन्स नामक झाड़ोंकी मोटी ओट दूसरे मकानका दृष्टिपर रोक रह है। उस कमरेकी बाहरी दीवार फ्राँचीसी तथा दूसरे प्रकारकी खिड़कियोंसे ही भरी हुई है और उनके तथा पेड़ोंकी झुगमुटके बीचका-अन्तर श्रीमान् और श्रीमती मार्चके चरित्रोंका अन्तर है जिनके बीच मैग्रे और जौनी विन्डु और रेलाके रूपमें आकर, पड़े हुए हैं। उदाहरणके लिये इसका रूप तो श्रीमती मार्चने दिया है किन्तु श्रीमान् मार्चने अभी बात नहीं काटी है और वहाँ पर बहुतसे डेकोडिल उग आए हैं जो श्रीमती मार्च अपनी भोजन-शालाके शृंगारके लिये चाहती हैं किन्तु जिसके विषयमें श्रीमान् मार्च कहते हैं—दृश्वरके लिये जोन उन्हें उगने तो दो। इसलिये इनमेंसे आयेके लगभग तो बलपानकी भेजपर चौड़े फूलदानमें लगे हुए हैं और शेष

आपे श्मोतक घासके बीचमें हैं जो चिरयुद्धस्थोके लिये आवश्यक सघने रूपमें हैं। एशियाके भाइके तने एक गदा पड़ा हुआ है जिससे यह सिद्ध होता है कि मैरी यहाँ पर उस सूर्यके प्रकाशकी ओर आँखें गाढाकर लेटती है जो वृत्तोंके बीचसे छनकर आ रहा है। लम्बी घासके बीचमेंसे एक मार्ग है जिसके किनारे भिगरेटके टुकड़े लगे हुए हैं जो यह निश्चय करता है कि जौनी इधर पृथ्वीका ओर आ तारोंकी ओर देखता हुआ चलता है। पर यह सब तो इधर उधरकी बातें हैं क्योंकि एक दो गज टिड्डीसे बाहर निकलने हुए छजेके अतिरिक्त यह सब पीछेके कपड़ेपर चिपित किया हुआ है। मार्च परिवार अमी कज्जा करने गया है। गोल रेज नीली चादरसे ढकी हुई है और उसके ऊपर सात डलियोंमें भरा हुआ सामान रखा है। उस कमरेमें पुरानी ओकक लकड़ीका बना सामान है। एक द्वार है जो रगपीठकी चाई और आगेको है। रगपीठकी चाई और एक अंगाठी है जिम्मे आग जन रही है और उसके आगे एक ऊँची आड़ लगा हुई है जिसके ऊपर कोई बैठ भी सकता है। बीचमें अँगोठीके नीचे दीवारमें एक दहनेसे ढकी हुई किंगी बनी हुई है जिसमेंसे तश्तरीयाँ इत्यादि पीछेके कमरमें सरकाई जा सकती हैं। दीवारके सहारे रगपीठकी चाई और ओककी बना हुई पुरानी सिंगारपेठी रखी हुई है और एक छोटी सी लिखनेवाली मेज पीछेके बाएँ कोनेके ओर रक्खा है। श्रीमता माच अब भी कढ़वेके बर्तनके पीछे बैठी हुई अपना कलाईमें बँधी हुई सुनहरी पेंसिलसे अपना नित्यकी बल्बश्रीकी सूजी एक कागजपर लिख रही हैं।] इत्यादि।

इस प्रकारका निरर्थक, आडंबरपूर्ण तथा अनपेक्षित रगनिर्देश देना अत्यन्त निषिद्ध है।

संस्कृत नाटकोंमें केवल प्रवेश और निष्क्रमणका तो रगनिर्देश होता था शेष दृश्य विधानका वर्णन पात्र द्वारा ही हो जाता था क्योंकि उन दिनों दृश्यका वर्णन भी विधाभिनय द्वारा ही जाता था। अपने प्रसिद्ध अभिज्ञान शाकुन्तलके प्रसिद्ध चतुर्थ अंकके प्रारम्भमें कालिदास केवल इतना रगनिर्देश देते हैं—

तत प्रविशत कुटुम्बावचय नाट्यस्थौ सद्यौ ।

[फूल चुननेका नाट्य करती हुई दोनों सवियाँ प्रवेश करती हैं]

इसमें अङ्गमें विष्कम्भक समाप्त होते ही चन्द्रके अस्त होने और सूर्यके निम्नलनेके दृश्यके साथ नाट्य-व्यापार प्रारम्भ होता है और उसका वर्णन शिष्य कर देता है। उसी वर्णनको आजका रग-व्यवस्थापक तथा प्रकाश-व्यवस्थापक चाहे तो तदनुकूल दृश्यविधान तथा प्रकाश विधानके लिये प्रयोग कर सकता है। कालिदासने लिखा है—

[तत प्रविशति सुतो रिपत शिष्य]

शिष्य—वेल्लोपलक्षणार्थमादिष्टोऽस्मि तत्रभवता प्रयासाद्गृह्यतेन कवचण । प्रकाश निर्गतस्तावदलोकवामि कियद्वशिष्ट रज्ज्या इति [परिक्रम्याग्लोक्य च] हन्त प्रमातम् । तथा हि—

यायेकतोऽन्तश्चिर पतिरोपघोना—

माविष्कृतोऽह्यपुर मर एकनोऽर्क ।

तेजो द्रव्यय युगपद् व्यसनोदयगया

लोको नियम्यन इवात्मदशान्तरेषु ।

[साकर उठे हुए एक शिष्यका प्रवेश]

शिष्य—बाहरे लौटे हुए पूज्य कवचने मुझे यह देखनेको कहा है कि अमी कितनी रात रह गई है। इसलिये चल् बाहर चलकर देखूँ। (घूमकर और देखकर) अरे यह तो दिन निकल आया। क्योंकि एक ओर ओपधियोंके पति चन्द्रमा अस्ताचलको चले जा रहे हैं और दूसरी ओर अपने सारथा अरुणको आगे किए हुए सूर्य निकल रहे हैं। इन दो तेजस्वियोंका एक साथ उदय और अस्त देखकर सप्तराको यही शिक्षा मिलती है कि दुःखके पीछे सुख और सुखके पीछे दुःख लगा ही रहता है।]

इसी प्रकार विक्रमोर्वशीयके चतुर्थ अङ्गमें उर्वशीके विरहमें व्याकुल राजा सामने बादल, बिजली, जगली सूअर, पर्वत, नदी, हाथी, मृग, रक्षाशोक, मृग, कोकिल हंस, मौँआ और चकवा देखता है और उनको संबोधन करके उनका वर्णन करता जाता है पर वास्तवमें रगपीठपर कुछ भी नहीं है। इसीलिये केवल इतना कहनेसे ही नाटककारका काम चल गया—

[तत प्रविशति आकाशचङ्गलक्ष्य उन्मत्तवेषो राजा]

[आकाशकी ओर एकटक देखते हुए राजाका प्रवेश]

उन दिनों भारतीय रंगपीठपर दृश्यपीठोंके द्वारा रंग-सञ्चय करनेका विधान नहीं था इसीलिये रंग-व्यवस्थापकके लिये बहुत बड़े रंगनिर्देश नहीं होते थे ।

शेक्सपियरने भी अपने नाटकोंकी रंगव्यवस्थाके लिये निर्देश अत्यन्त सूक्ष्म ही रखे हैं । अपने 'दि टेम्पेस्ट' (भ्रमण) नामक नाटकके प्रारंभमें यह केवल इतना ही लिखता है—

“दृश्य १ समुद्रमें जलपीठपर । बादलकी कड़क और बिजलीकी चमकके साथ आँधी ।”

शेष क्या मञ्चघट करनी चाहिए यह रंगव्यवस्थापकके लिये छोड़ दिया गया है । यहाँ ठीक भी है ।

रंगव्यवस्थाके लिये जो निर्देश दिए जायें वे अत्यन्त सरल भाषामें अत्यन्त सूक्ष्म रूपमें दिए जायें जिससे नाटकीय न्यायारके प्रयोगमें अपेक्षित सहायता मिले और जिसमें रंगव्यवस्थापककी इतनी स्वतन्त्रता भी रहे कि वह अपनी सुविधाके अनुसार रंगपीठकी नाटकीय व्यवहारके अनुरूप सजा सके ।

आजकल कुछ ऐसे नाटक भी चले हैं जिनमें दो, तीन या अधिक श्रृंखलाएँ होती हैं किन्तु वे सब एक ही स्थानपर दिखाए जाते हैं जैसे इन्सनके 'दि टोल्ल हाउस' (मुड्डियोंका घर) 'पिलर्स औफ् सोसाइटी' (समाजके स्तम्भ) और 'हिटा नेक्जट' में, किन्तु इन नाटकोंके रचयिताओंने कभी कभी इस दृश्य-विधानमें प्रस्तुत दृश्यके साथ उसके पीछेका दृश्य दिखलानाका जो सचेत किया है वह व्यवसायिक नाटकके लिये भले ही सुविधाजनक हो किन्तु अत्यावसायिक नाट्यसमितियोंके लिये अत्यन्त कष्टकर होता है । इन्सनने अपने 'लोकशत्रु' (ऐन एनिमी औफ् दि पीपल) नामक नाटकमें समादकीय कार्यालयके पीछे मुद्रण-भवनका दृश्य दिवानेका निर्देश देकर दृश्य-विधान जटिल बना दिया है यद्यपि नेपरश-निर्देशमें भी उसका काम बल सकता था । नीचे एक नाटकके तृतीय अंकके दृश्य-विधानकी देलकर यह स्पष्ट हो जायगा कि कार्यालयके पीछेका दृश्य कितना अनावश्यक है और रंग-व्यवस्थापकके लिये कितनी कठिनाई उत्पन्न करेगा—

[लोकदूत (पीपिल्स मैसेंजर) पत्रका सप्ताहकीय कार्यालय । प्रवेशद्वार सिद्धली दीवारके बाईं ओर है । दाईं ओर कौचके किवाड़ोंका द्वार है जिसमेंसे पीछेका

मुद्रण-भवन दिखाई देता है । दाईं ओरकी दीवारमें दूसरा द्वार है । कमरेके मध्यमें एक बहुत बड़ी मेज़ है जिसपर बहुतेमै कागज, समाचार-पत्र और पुस्तकें झिलरी पड़ी हैं । मेज़के आगे बाईं ओर एक खिड़की है जिसके आगे एक डेस्क और ऊँचा स्टूल खला हुआ है । एक जोड़ी आराम कुर्तियों दीवारसे लगी रखी हुई हैं । कमरा सील और दुर्गन्धसे भरा तथा कष्टदायक है । सामान पुराना है, बुतियाँ टूटा-फूटी हैं । मुद्रण-भवनमें अक्षर-सूईवे (कंपोजिटर) काम कर रहे हैं और एक मुद्रक हथकेपर बैठा कुछ लिख रहा है । दाईं ओरसे डा. स्टीकमानकी पुस्तकें (पांडुलिपि । हाथमें लिए हुए विलिंग्टन प्रेस]

इस दृश्यमें सामन चीचमें बड़ी मेज़के होने हुए और उस कागज, समाचारपत्र आदिका ढेर होते हुए भी नाटककार यह चाहता है कि पीछे मुद्रणशालामें छापीनेवाले और अक्षर-जोड़नेवाले अपना काम करते दिखाई पड़े । यदि न टक्कर केवल इतना ही रंगनिर्देश कर देता—'लोकदूत समाचार-पत्रका 'कार्यालय' तो इतना ही पर्याप्त होता । रंग-व्यवस्थापक स्वयं सब प्रकारकी व्यवस्था अपनी सुविधाके अनुसार कर लेता । इसलिये अभिनेज-भरतका मत है—

❀ सौविध्यकरो रंगनिर्देशो कार्यः ।

[सबको सुविधा देनेवाला, करो रंग निर्देश ।]

रंगनिर्देश इतना सरल किन्तु इतना पूर्ण हो कि किसी प्रकारकी नाट्यसमितिके लिये भी उसके अनुरूप रंग-व्यवस्था करनेमें कठिनाई न हो ।

जहाँ नाटककार एक नाटकमें कई दृश्योंका विधान करता है वहाँ उसे इस प्रकार रंगनिर्देश करना चाहिए अर्थात् दृश्यक्रम ऐसा रखना चाहिए कि एक दृश्य यदि गहरा अर्थात् रंगपीठके पीछेकर सजा हुआ हो तो दूसरा दृश्य इतने आगे हो कि परदा डालकर तीसरे दृश्यके लिये पीछे सजावट की जा सके और दूसरे दृश्यमें इतना संवाद भी होना चाहिए कि तीसरे दृश्यको सजानेके लिये समय भी मिल जाय । इसके लिये नाटककारको यह ध्यान रखना चाहिए कि रंगपीठ-पर भारी मरकम बसुएँ—बड़ी चीरुं, छापेकी मशीन आदि रखनेका निर्देश नहीं करना चाहिए और यदि ऐसी वस्तुएँ मंचपर रेंगाई भी जायें तो आगेके दृश्योंके लिये ऐसा रंगनिर्देश भी कर देना चाहिए कि वे ही वस्तुएँ उलट पलट कर, विभिन्न कण्ठोंसे टक देनेपर

पिर काम प्रा सकें, उन्हें मचपरसे हटाना न पड़े। क्योंकि मचके दोनों पाश्र्वोंमें अभिनेता प्रेरक, रंग व्यवस्थापक, प्रकाश-व्यवस्थापक तथा कभी-कभी संगीतवालोंका भी जमघट बना रहता है जिसके मचकी भारी सामग्री उठाने-रखनेमें बाधा होती है।

साधारण रंगमचके अतिरिक्त चकिल, रंगमच (रिजोइडिंग स्टेज) पर तो तीन गहरे दृश्य भी एक साथ लगाए जा सकते हैं अतः उनमें कोई कठिनाई नहीं होती। उन मनोके लिये नियोजित लिखे हुए नाटकोंमें तो असुविधा नहीं होती किन्तु यदि साधारण रंगपीठोंपर वे नाटक खेले जायें तो निश्चय असुविधा होगी। इसलिये नाट्यकारको नाटकोंका ग्रथन ऐसा करना चाहिए कि 'सर्वसाधारणको भी उसका प्रयोग करनेमें कठिनाई न हो।

आजकल रंग व्यवस्थापकोंकी सुविधाके लिये नाटक कार्योंमें या तो कई अक्रोश पूरा नाटक एक ही स्थानपर होता दिखाया है जैसे अभिनवभरतके 'विश्वास' नाटकमें अथवा अलग अलग पूरे अक्र ही अलग अलग स्थानोंमें दिखाए गए हैं। इससे रंग व्यवस्थापकोंके यह सुविधा हा गई है कि वह एक अक्रके लिये मला भौति दृश्य सजा सकता है और दो अक्रोंके बीचको विश्राम अवधिमें दूसरे अक्रके लिये रंग-नाकार कर सकता है।

६ त्रिधा रंग निर्देश। पाँठ नेपथ्योपादानानि ॥

[तीन दृशके रंग निर्देश, मच, पृष्ठ या उपादान।]

रङ्ग-व्यवस्थापकोंके लिये दिए हुए ये निर्देश तीन प्रकारके होते हैं—एकमें तो यह निर्देश किया जाता है कि रंगपीठपर दृश्य खुलनेसे पूर्व रंगव्यवस्थापकोंके कैसे दृश्य-पीठ लगाने चाहिए, किस प्रकारको सजाय होनी चाहिए, कितने प्रकारके पीठासनों तथा अन्य पदार्थोंको किस प्रकारसे रंगपीठपर स्थापित करना चाहिए। इसकी व्याख्या हम ऊपर कर चुके हैं।

दूसरे प्रकारके निर्देश वे हैं जिसमें नेपथ्यके परदा उठने व गिरने, बदलने, आँवों पानी, वर्षा आदिकी व्यवस्था करनेका निर्देश होता है। अर्थात् इन निर्देशोंमें दो बतोंका निर्देश किया जाता है कि परदा कब उठे या गिरेगा और नाटककी आवश्यकताके अनुसार नेपथ्यसे कौन कौनसी वस्तुओं या प्रमाणोंकी व्यवस्था हो।

तीसरे प्रकारके रंगनिर्देश वे हैं जिनमें रंगव्यवस्थापकोंके

लिये उन सब उपादानोंका इश्वर करनेका निर्देश होता है जो दृश्यके भीतर नेपथ्यसे प्रकट किए जाने वाले हैं जैसे— (पीछेमें) कोलाहन, घण्टानाद ऊँटका स्वर आकाश वाणी आदि। इन्हींके अन्तर्गत वे बातें भी समझनी चाहियें जिनका रंगनिर्देश स्पष्ट रूपसे रंग व्यवस्थापकोंके लिये नहीं किया जाता किन्तु उन्हींमें रंग व्यवस्थापकोंके हेतु निर्देश के अन्तर्गत ही समझना चाहिए जैसे—मनोहर भीतर जाकर एक लोटा जल लाता है। भीतरसे ढाल, तलवार कलश फूल माला, अरतीकी सामग्री अथवा अन्य पदार्थ लाता है।

यद्यपि यह निर्देश अभिनेताके ही लिये किया गया है किन्तु यह रंगव्यवस्थापकोंका काम है कि वह उक्त सब पदार्थ ऐसे सुविधानक स्थान पर रखे कि वे अभिनेताको भीतर आते ही सुव्यापार्य प्राप्त हो सकें। अभिनवभरतने अपने महाकवि कालिदास नाटकके अन्तमें अलग नेपथ्य व्यवस्थापकोंके लिये दृश्यक्रमसे इस प्रकारके निर्देश दे दिए हैं—
प्रथम दृश्य—भीषम विचित्रशक्ति और मकगके प्रधान-
के पूर्व नेपथ्यमें तीन बार घण्टा बजता है टन् टन् टन्।
पाँचवा दृश्य—कालिदासके भीतर जाते ही देरतक वृक्ष काटनेकी ध्वनि होती है।

द्वितीय अक्र, पंचम दृश्य—चोर चोरका शब्द और ऊँटकी बोली।

तृतीय अक्र, द्वितीय दृश्य—श्रमान, शृगाल आदिके शब्द पुष्परथा। आदि

अतः रंगव्यवस्थापकोंके लिये जो निर्देश दिए जायें वे बड़े स्पष्ट और सीधी भाषाओंमें हों। इधर बहुतसे नाटककारोंने रंग निर्देशमें भी रहस्यवाद चुमेड़ना प्रारम्भ किया है जैसे एक नाटककार लिखते हैं—“उस कमरेमें एक चारपाई पैड़ी थी विषवाकी कण आहूके सगन एक मोटा पद्म था किती ज्वर वृद्धकी अन्तिम साँसका संकेत देगा हुआ और एक कोनेमें रक्ता हुआ था एक घड़ा साठप पुरुषके समान”।

इस प्रकारके रंग निर्देश निरर्थक और निःप्रयोजन होते हैं। रंगव्यवस्थापक अपने दर्शकोंको खटिया विठाकर भी यह कैसे विश्वास दिला सकता है कि विषवाकी कण आहू ऐसी होती है, मोठेमेंसे ज्वर वृद्धकी अन्तिम साँस निकल रही है या कोनेमें रक्ता हुआ घड़ा महादि सृष्टि करनेके लिये किसी प्रवृत्तिको अपना प्रकाश देकर एक

और शुष्ममें निर्मित होकर बैठा है। ये सब दार्शनिक और भावनात्मक उद्गार कव्यके लिये बहुत अच्छे हैं किन्तु रंगनिर्देशको दृष्टिसे बहुत ही आगमक और निषिद्ध हैं। यदि इसके बदले नाटककार लिखना—“कमरेमें एक खूनी ट्यूबी चारपाई पड़ा है, शयन-जोण और झूटा हुआ मोटा पड़ा हुआ है और फोंनेमें गीता पड़ा रखा है” तो रंग-व्यवस्थापकको समझमें भी सब कुछ आ सकता था। और दर्शकोंको भी। अतः नाटककारको अपनी सब शक्ति-शक्ति सम्बन्धमे लगा देना चाहिए, रंग-निर्देशमें नहीं।

३. जीवजन्तुवग्नि-विस्फोटकएण्ड-निर्देशो निषिद्धः।

[जीव, अग्नि विस्फोटक पस्तु निषिद्ध ।]

इसी रंग-निर्देशके संघर्षमें नाटककारको यह ध्यान रखना चाहिए कि रंगपीठपर सर्प, वानर, श्वान, बिस्ली, सिंह आदि जीव-जन्तु, प्रखलित अग्नि अथवा विस्फोटक पदार्थोंको लानेका निर्देश नहीं देना चाहिए क्योंकि सर्प, सिंह आदि भय उत्पन्न कर सकते हैं और छूट जाने पर उपद्रव कर सकते हैं, अग्नि और विस्फोटक पदार्थ अनेक दुष्कांड ही सकते हैं। हाँ, यदि इन्द्रजालके द्वारा अग्नि कांड दिखाया जाय तब निषेध नहीं है। पालतू जानीके मंचार-गाने। नाटकमें दर्शकोंका मन नहीं लगेगा, वे इन्हीं जीवोंकी लीला देखत रह जायेंगे। इस प्रकारके प्रयोगसे कई बार अनेक स्थानोंपर अत्यन्त भीषण दुर्घटनाएँ घट चुकी हैं अतः ऐसे सब पदार्थोंका त्याग ही श्रेयस्क है।

अभिनेताओंके लिये रङ्ग-निर्देश

३. पंचधाभिनय-निर्देशः। क्रिया-सत्त्व-भाव-व्यापार-स्वर-वाक्यानुसारतः

[पाँच ढंगके हैं अभिनय-निर्देश ।]

क्रिया, सत्त्व, व्यापार, भाव, स्वर, वाक्य ।]

अभिनेताओंके लिये जो रंगनिर्देश दिए जाते हैं वे पाँच प्रकारके होते हैं—

एक वे जिनमें क्रिया या व्यापारका निर्देश किया जाता है जैसे—“यह आता है, जाता है, उठता है, घूमता है, मारता है, बैठा है, लेटा है, शंभई लेता है, लाठी उठाता है, अशुक पस्तु उठाता है आदि।

२. दूसर-निर्देश वे हैं जिनमें अभिनेताओंकी सात्त्विक

अभिनयके लिये निर्देश दिए जाते हैं जैसे—विस्मयके साथ, हँसते हुए, सिरकियाँ लेते हुए, नोषते इत्यादि।

३. तीसरे वे हैं जिनमें भावोंके साथ साथ विशिष्ट प्रकारकी चेष्टाओंके लिये भी निर्देश दिए जाते हैं। जैसे—“खिन्न होकर झोंककर घृणा, द्वेष रोष, और विस्मयके भाव प्रकट करता है और फिर जड़काँ भौंति खींचे फाड़कर उधर देखता रह जाता है”। ऐसे निर्देशोंमें क्रिया और भाव दोनोंके निर्देशोंका सम्मिश्रण रहता है।

४. चौथे प्रकारके निर्देश वे हैं जिनमें केवल स्वर-संबंधी निर्देश होते हैं जैसे—ब्रति हुए, कानाफूनी करते हुए, बड़े ऊँचे स्वरमें चिल्लाकर कराहते हुए अथवा सुनसुनाते हुए।

५. पाँचवें प्रकारके निर्देश वे हैं जिनमें संकेत या आंगिक चेष्टाओंके द्वारा वाक्यकी व्यंजना करनेका निर्देश किया जाता है जैसे अभिनय-भरतके ‘अत्रन्ता’ नाटकमें—
राजकुमारी—(पिडोलते) पिताजी इधर ही चले आ रहे हैं।

पिडोल—(मुँहमें पान भर होनेके कारण इस प्रकार चेष्टा करता है मानो यह पूछ रहा हो कि किधरसे आते हैं (ऊँ ऊँ ऊँ ऊँ ?

इसी प्रकारके निर्देश रङ्गोंके लिये भी किए जाते हैं। इन निर्देशोंमें वह वाक्य भी दे दिया जाता है जिनका भाव चेष्टाओंके द्वारा व्यक्त करना हो।

अभिनय-निर्देशके मंडंघमें भी बर्नड शौने एक नई निर्देशयुक्त सारा-खीनो चलाई है जिनमें एक एक वाक्य पर क्रियाओं और चेष्टाओंका अत्यंत विचार विवर्ण रहता है यद्यपि कहीं कहीं विशेषतः लम्बे संवादोंमें, इस प्रकारके निर्देशसे अभिनेताको अपनी कला दिखानेका अवसर मिल जाता है किन्तु यह प्रथा भी इसलिये मान्य नहीं है कि इसमें अभिनेताकी स्वयं अनुभूतिके अनुसार वाक्याभिनय करनेकी रत्नप्रज्ञा नहीं रह जाती। इस शैलीका परिचय बर्नड शौने ‘विद्युतके घर’ (रिडोअर्स हाउस) के तृतीय अंकके प्रथम दृश्यमें मिल सकेगा—

[शिकचीज़—(प्रवचनमें) क्या यह नहीं जानती थी कि तुम यह करोगे ?

सर्गेयियम—(राश्याय-शास्त्रके द्वारापर कोकेनने) आपके पश्चात् श्रीमान् जी ?

(कोपेन आदरसे सिर झुकाता है और स्वाध्यायशाला में प्रवेश करना चाहता है।)

लिकचीज—(द्वारपर सागैरियससे अलग) मेरे जैसा प्रबन्धक मनुष्य तुम्हें कभी मिला न होगा।

सागैरियस—(उह चकचक करता हुआ स्वाध्यायशाला में प्रवेश करता है और पीछे पीछे सागैरियस।)

(ट्रेंच झपेला बैठे हुए आगे और देवता है और ध्यानमें डोही देर सुनता है तब वह पंचोंके बच त्रिथानो वाचके पास पहुँच जाता है और अपने दोनो हाथ मिलाकर उसपर सिर रख लेता है और ध्यानपूर्वक ब्लाकेना चित्र देखता है। ब्लाके भव्य स्वाध्यायशालाके द्वारपर आ जाती है। ट्रेंचकी मुद्रा देखकर वह धीरेसे द्वार बन्द करके उसके पास तक पहुँच जाता है और उसे ध्यानमें देवता है। वह सिर उठाता है, आलमेंसे चित्र उठा लेता है और उसे घूमा देखा जाता है। चित्र उठाकर वह देवताके लिये सिर घुमाता है कि कोई उसे देख तो नहीं रहा है क्योंकि ब्लाके पीछे खड़ी मिलती है। वह चित्र हाथसे छोड़ देता है और ब्लाकेकी ओर देखने लगता है।)

नाके—(कोई थोपनेके साथ) हूँ! तो तुम यहाँ फिर आ गए। तुम फिर इस घरमें प्रवेश करनेकी नीवता की। (ट्रेंच घबराता है। वह एक पग पीछे हटाता है।) नाके भी उसके साथ ही बहती है।) तुम जैसे नीच मनुष्य हो जी। तुम चले क्यों नहीं जाते। (लज्जासे लाल और पराजित दशासा वह श्रमसे मेहनतसे अपना हेट उठाने का प्रयत्न करता है किन्तु जब वह द्वारकी ओर उठता है तो ब्लाके जानबूझकर उसका द्वार रोककर खड़ी हो जाती है।) मैं नहीं चाहती कि तुम यहाँ रहो। (कुछ क्षण तक दोनों आमने सामने खड़े होते हैं और ब्लाके कुछ नई वारारिक बत्तेजानासे साथ ट्रेंचकी मड़काती हुई, ताना देती हुई, विरस्कृत करती हुई उसे प्रपनी और उदनेको निमन्त्रित करती है। सहसा ट्रेंचके मनमें यह भाव आता है कि यह सब क्रिया भयानक वासनयुक्त है और इस बहाने ब्लाके अपना प्रेम प्रदर्शित करना चाह रही है। उसकी आँखें चमक उठती हैं और उसके मुखकी ओरोंपर चाल कीका भाव प्रकट होता है किन्तु वह उदासी-नताका भाव व्यक्त करते हुए अपना कुर्सीपर साधे चला जाता है और अपने हाथ बाँधकर बैठ जाता है। ब्लाके भी उसके

पीछे-पीछे आती है।) पर हाँ, एक बात तो मैं भूल ही गई थी। तुम्हें यह भी पता चल गया है कि यहाँ तुम कुछ खया भी कमा सकते हो। लिकचीजने तुमसे कहा होगा और तुम, तुम इतने उदासीन और इतने स्तब्ध बनते हो कि तुम मेरे पिताजीके कुछ भा लेनेको तैयार नहीं थे। (प्रत्येक वाक्यके पश्चात् वह वह देवताके लिये उठर जाती है कि मैंने जिस प्रकार मार्मिक वाक्य प्रहार किया है।) मैं समझती हूँ कि तुम मुझे इस बातके लिये सहमत करने यहाँ आए होगे कि दोनोंके मित्रता करलो जाय—उनके भागोंमें विरसे बनाकर * बड़ी उदारताका काम है, हूँ। क्यों! (ट्रेंच स्थिर भावसे खड़ा रहता है और किसी प्रकारका मध्यक नहीं करता।) हाँ जब मेरे पिताजी तुमसे यह करारोंगे और जब लिकच ज उसे लाभदायक व्यापार बनानेका उपाय ढूँढ लेगा। मैं अपने पिताजीको जानती हूँ और तुम्हें भी और इसीलिये तुम यहाँ आते हो। इस घर में—जहाँ आनेका तुम्हें नियम है—जहाँसे तुम निहाल दिए गए थे। (ट्रेंचका मुँह काना-सा पड़ जाता है और ज्यों ही वह देखती है त्यों ही उसकी आँखें चमक उठती हैं) अच्छा तो तुम्हें यह बात स्मरण है। तुम समझ रहे हो कि यह सत्य है। तुम 'ना' नहीं कर सकते। (वह बैठ आती है और अपना स्वर धीमा तथा कोमल करती हुई उसपर कृपा दिखानेका नायक करती है।) ता मैं तुम्हें बताना देना चाहती हूँ कि तुम्हारी बड़ी दयनीय स्थिति है हैरी! (हैरी शब्द सुनकर अपने हाथोंके उन्चन डीले कर देना है और प्रत्याशित विचयकी एक बुँधली सी मुसकान-उसके मुखपर छा जाती है।) और तिसपर भी तुम सम्म बनते हो, कुलीन भी बनते हो, इतने प्रतिष्ठित लोगके सम्मधी भी और विशेष रूपसे यह भी दिखाना देना चाहते हो कि तुम्हारे पास कहींसे खया आता है—आश्चर्य होता है तुमपर। मैं तो समझता था कि तुम्हारे प्रतिष्ठित कुलने तुम्हें और कुछ न सही तो कमसे-कम आत्म सम्मानकी भावना तो दी ही होगी। सम्भवतः इस समय तुम अपनेको भलेमानुस समझ रहे होगे। (कोई उत्तर नहीं) तो मैं तुम्हें स्पष्ट बताना चाहती हूँ कि तुम तनिक भा भलेमानुस नहीं लग रहे हो। तुम अत्यन्त ओझे मॉड जान पड़ते हो। ऐसे जैसा कोई मूल्य जड़ हो। तुम्हें न तो यह जान है कि क्या कहना चाहिए और न

परी कि क्या कला चाहिए। पर हों, वह भी मैं समझती हूँ कि इस प्रकारका अशिष्ट व्यवहार करके कोई अपना बचाव करे या किन शब्दोंसे ! (वह आँखें गड़ाकर टूँचकी ओर देखती है और वह भी अपने छोटे इस प्रकार सिनोड़ लेता है मानो सीधी बजानेवाला हो। इससे वह चिढ़ जाती है और नम्र होनेका नाट्य करती है।) मुझे मय है कि तुम्हारा मार्ग रोक रही हूँ डा० ट्रेच । (वह खड़ी हो जाती है।) मैं तुम्हारी स्वतन्त्रतामें और अधिक बाधा नहीं देना चाहती ! तुम तो इतने निश्चिन्त दिखाने दे रहे हो कि मैं तुम्हें अकेला छोड़नेके लिये क्षमा-याचना करनेकी भी आवश्यकता नहीं समझती। (वह द्वारपर जानेका बहाना करती है पर वह उससे मय नहीं हुआ इसपर वह लौटती है और उनकी कुर्सीके पीछे आकर खड़ी हो जाती है) हैरा ! मे तुममें एक प्रश्नका उत्तर चाहती हूँ। (अत्यन्त आरामियतासे उनके ऊपर झुक जाती है।) मेरी आर देखो नो ! (कैदें उत्तर नहीं) मुन रहे हो ? (उनके दोनों गाल पकड़कर उसका सिर अपनी ओर धुमा लेती है) मेरे मुँहकी ओर देखो। (उह अपनी आँसु बन्द कर लेना है और मुँह ब्रिचकाता है। वह उसके पास सहसा घुटने टककर अपनी छाती उसके कपड़े से सटाकर बैठती है। हैरी ! अभी अभी जब तुम सोचते थे कि तुम अकेले हो तब मेरा चि । लेकर क्या कर रहे थे ? (टूँच अपनी प्रसन्नतामेंरी आँखें खोल देता है। ब्लाकि उसके गलेमें हाथ डालकर गाढ़ आलिंगन करता है और अत्यन्त कोमलताके साथ कहती है) मेरी किनी भी दस्तुकी छूनेका तुमने किस प्रकार साहस किया ? (स्वाध्यायशालाका द्वार खुलता है और कुछ स्वर सुनाई पड़ते है।)

टूँच—मुने कोई आ रहा है।

(एक छाजोगे ही बजेके अपनी कुर्सीको यथासंभव पीछे घसीटकर उभर बैठ जाती है। कोकेन, लिक्चोज़ और सार्टेरियस रोग्यायशालामेसे आते हैं। सार्टेरियस और लिक्चोज़ टूँचके पास आते हैं। कोरेन, ब्लाकिके पाससे चिढ़ानेका भाव प्रकट करते हुए निकल जाता है।)

उपयुक्त संवाद अत्यन्त जटिल मनोवेगों, अनुभावों तथा चेष्टाश्रीका अत्यन्त सुन्दर उदाहरण है किन्तु ऐसे मंथनोंमें भी कुछ बाध-कार्यके काम लिया जा सकता था। इस सर्वधर्म संस्कृतके नाटककारोंने—विशेषतः कालिदासने—

जिस संयम और विशुद्ध काम लिया है वह सबके लिये अनुकरणीय होगा इसीलिये हम कालिदासके तीनों नाटकोंमें प्रयुक्त कुछ अभिनय-निर्देश नान्चे दे रहे हैं जिनसे यह अत होगा कि मद्वाक्य कालिदासने अभिनेताको कितनी स्वतन्त्रता दी है और कितना आवश्यक भाव निर्देश दिया है।—

प्रथिराति—भीतर आता है।

सन्निहतम्—दुस्कायक

सधिनथम्—नम्रतासे

वर्षा दर्श—सुनती हुई

निष्प्रान्तः—बाहर चला जाता है

अवलोक्य—देखकर

सधिरमथम्—आश्चर्यसे

रथवेगं निरुप्य—रथका वेग देखकर

सहर्षम्—प्रसन्नतासे

मर्मभंगं नाटयति—धनुषपर बाण चढ़ानेका अभिनय

कान्ता वे।

आकर्ष्यं सुनकर

सर्वभ्रमम्—धनवाहके साथ

रथं स्वाययति—रथ रोकता है।

हस्तमुद्यम्य—हाथ उठाकर

सखामम् प्रगाम करके

स्तीरुमन्तरं गन्तु—कुछ दूर चलकर

अवतीर्य—उतरकर

परिक्रम्य—घूमकर

निलोक्यस्थितः—उल्टा हुआ खड़ा रहता है।

वृत्तसेचनं रूपयति—वृत्त सींचनेका नाट्य करता है।

शिक्षिलयति—(चोली) दीली करता है।

अम्रतोऽवलोक्य—सामने देखकर

सम्पुटम्—चाहके साथ।

पदान्तरं स्थित्वा सहस्रिद्येम्—बहाँसे हटकर खड़ी

होकर आँखें ऊपर उठाकर देखती हुई।

सन्त्रमुपसृत्य भेटसे आगे बढ़कर।

अभिमुखो भूत्वा—उसकी ओर मुँह करके।

उपवशति—बैठता है

आत्मगतम्—मनमें

प्रकाशम्—सुनकर

निवध्य—रोककर

नि शस्य—लवी साँस भरकर

दंडकाष्टमवलम्ब्य स्थित—डंडके सहारे खड़ा होता है

प्रणम्य—प्रणाम करके

उपेत्य—एक जाकर

विहस्य—हसकर

उपगम्य—पास पहुँचकर

आसनादुत्थाय—आसनस उठकर

अपवार्य—श्रीट करके

विचिन्त्य—सोचकर

सगर्वम्—श्रमिमानसे

सखेद परिक्रम्य—उदासीके साथ घूमकर ।

उपवीच्य सस्नेहम्—स्नेहके साथ पक्षा भनकर ।

वाचयति—बोचती है ।

अभ्युत्थातुमिच्छति—स्नानके लिये उठना चाहती है ।

सलज्जा निश्रिति लज्जाती हुई बैठती है ।

बलादेना निवर्त्तयति—उलपूर्यक उसे लौटाता है ।

मुलमस्या समुन्नतुपिमिच्छति—उसका मुँह ऊपर उठाना चाहता है ।

शकुन्तला परिहरति नाट्येन—शकुन्तला नाट्य-कीशालसे मुँह फेरती है ।

पदान्तरे स्खलित निरुध्य—पेरमें ठोकर लगी समझकर ।

पुष्पोच्चय रूपयति—पुष्प चुननेका नाट्य करती है ।

आम्लिष्य—गले लगाकर ।

परिक्रामन्ति—घूमती हैं ।

पर्याकुलस्तिष्ठति—व्याकुल होते हैं ।

हस्तमुखसि कृत्वा—हृदयपर क्षप रखकर ।

सास्यम्—चिबके साथ ।

भीता वेपते—डरके मारे काँपती है ।

ताडयित्वा—पीटकर ।

भीति नादितकेन—भयका नाट्य करते हुए ।

चूताङ्कुर क्षिपति—आमकी मजरी फेंकती है ।

ध्यात्वा—सोचकर ।

प्रीवध्य पत्रहस्ता—हाथमें पत्र लिए प्रवेश करके ।

मोहमुपगत—मूर्छित हो जाता है ।

सरोपम्—झोपसे ।

रयाधिरोहण नाटयति—रथपर चढ़नेका नाट्य करता है ।

भानकमुपलालयन्—बच्चेको प्यार करते हुए ।

कीडनकमारत्ते—खिलौना देती है ।

सवहमानम्—बड़े आदरके साथ ।

सख्यः परिष्वजन्ते—सखियों गले मिलती हैं ।

हस्तौ स्पशत—हाथ मिलाते हैं ।

प्रास रूपयित्वा भयका नाट्य करके ।

ग्रहण नाटयति—पकडनेका नाट्य करता है । आदि ।

प्रकाश- धरस्थापकके लिये रं गनिर्देश

ॐ रसभाषोद्दीपिकातोऽक. कार्य. ।

[हो प्रकार रस भाव आदिका ही उद्दीपिका ।]

भारतीय या पाश्चात्य नाटकोंमें पहले प्रकाश-व्यवस्थाके लिये निर्देश नहीं होते थे । जो होते थे वे इतने तक ही परिमित थे—'रात्रिका समय घना अन्धकार, क्षयमें दीपक लिए हुए एक ब्रह्माका प्रवेश ।' अथवा प्रातःकाल का समय है ।' या 'संध्याके सुप्तपुत्रका समय ।' प्रकाश-विधानमें विविधिता उत्पन्न करनेके साधन भी अधिक नहीं थे इसलिये प्रकाशसे नाटकीय प्रभावमें योग देनेकी बात उस समय उठ भी नहीं सकती थी किंतु जयसे रंगशाला-में विजलीका प्रयोग होने लगा तबसे प्रकाश विधान भी रंग-व्यवस्था और नाट्य प्रभावका अत्यन्त विशिष्ट तथा आवश्यक अंग माना जाने लगा है और रंगालोकता (स्टेज लाइटिंग) एक अलग कला ही मान ली गई है और रस तथा भावके अद्भुत रंगीन प्रकाश डालकर प्रभाव उत्पन्न किया जाने लगा है । इसीलिये आजकालके नाट्य-कार अपने नाटकोंमें प्रकाशका भी निर्देश कर देते हैं जैसे श्रमिनवभरतने अपने उच्चर कालिदासमें कर दिया है—

[प्रथम अद्भुत प्रथम दृश्य—रथेत प्रकाश कालिदासके प्रवेशके साथ पूर्ण अन्धकार तथा गोल प्रकाश । श्रीधरके प्रवेशके साथ पूर्ण प्रकाश ।

पाँचवाँ दृश्य—लाल प्रकाश । विद्योत्तमाके गिरते ही पूर्ण अन्धकार तथा प्रकाश-निक्षेपक द्वारा गोल केन्द्रित प्रकाश ।

षष्ठ अंक, तृतीय दृश्य—चौबतिया दीपक । भुवतिके प्रवेश होते ही पूरा लाल प्रकाश ।]

ॐ आलोकार्थे काल-विशिष्ट-जटिल निर्देशः ।

[काल, विशिष्ट, जटिल होते हैं तीन प्रकार-निदेश ।]

यद् प्रकाश निर्देश तीन प्रकारसे किया जाता है एक तो समय-सूचना-द्वारा, दूसरे विशिष्ट सूचना-द्वारा और तीसरे आलोक-विधान के विस्तृत निर्देशके द्वारा ।

समय-सूचनात्मक निर्देशमें केवल इतना ही कहा जाता है—'प्रातःकाल—सूर्योदय हो रहा है । सन्ध्या—सूर्यास्त हो रहा है । मध्याह्न, अर्धरात्रि आदि ।' इसमें व्यवस्थापककी कल्पना, अनुभूति तथा ज्ञानपर प्रकार छोड़ दिया गया है कि वह उचित साधनों द्वारा दर्शकोंको निर्दिष्ट समयका बोध करा दे । भारतीय नाट्यशास्त्रके अनुसार तो विद्यामिनये द्वारा इन सब कालोंका भी अभिनयके द्वारा स्पष्टीकरण हो जाता था किन्तु आजकल प्रस्थानुभूतिके लिये विभिन्न प्रकारों-द्वारा विभिन्न कालोंका ज्ञान करा दिया जाता है ।

दूसरे प्रकारके विशिष्ट सूचनात्मक निर्देशोंमें इस प्रकार निर्देश दिए जाते हैं—'शुनी चोंदनी, चन्द्रमा धीरे धीरे ऊपर चढ़ रहा है । सन्ध्याकाल—दाहिनी विट्कीसे सूर्यका प्रकाश धीरे धीरे ऊपर उठता जाता है । मन्दिरमें एक दीपक टिमटिमा रहा है । मेजपर बिजलीका दीप प्रकाशमान है । श्वेत परदेके पीछेसे उसपर नीलाभ प्रकाश पड़ रहा है और इसलिये आगेके व्यक्ति फेदल छाया स्वरूप दिखाई पड़ रहे हैं । अशोकके मुखपर बेन्द्रित लाल प्रकाश । दाईं ओरसे लाल प्रकाश, दाईं ओरसे पीला प्रकाश, आदि ।' इन विशिष्ट-सूचनात्मक निर्देशोंसे नाटककारका यह उद्देश्य है कि प्रकाश-व्यवस्थापक या रंग-व्यवस्थापक उस विशिष्ट प्रकाशकी व्यवस्था अवश्य करे क्योंकि उससे नाटककी कथा संबद्ध है ।

तीसरे प्रकारके विस्तृत आलोक-विधानके निर्देश जतन-तक हैं किन्तु इस प्रकार निर्देश दिया जाता है—

'वैगनी प्रकाश पीछेके जंगलके परदेपर डाला जाय । दाहिनी ओरसे ऊपरसे लाल प्रकाश पात्रोंपर पड़े । हिंसा-प्रदर्शनके समय प्रकाश-निक्षेपकसे प्रतिनायकके मुखपर गोल स्थल-प्रकाश और हिंसा करते ही धीरे धीरे सब प्रकाश इतने मन्द हो जाय कि रंगपीठके सब पात्र ह्राया मात्रा दिखाई देते रह जायें ।'

असल तथा गति-नाट्यों या नृत्य-नाट्योंमें इस प्रकारके विस्तृत आलोक-विधान अधिक प्रयोगमें आते

हैं और इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनका निश्चय प्रभाव होता भी है ।

ऊपर जो तीन प्रकारके प्रकाश-निर्देशोंका विवरण दिया गया है उनके स्पष्ट हो गया होगा कि ये प्रकाश दो प्रकारके होते हैं—चल और अचल । ये दोनों भी दो दो प्रकारके होते हैं—नाट्यगत तथा व्यवस्थागत ।

चल प्रकाशका अर्थ है वे प्रकाश जो चलते ही जैसे—चन्द्रमा ऊपर चढ़ रहा है, दीपक लेकर तान्त्रिक प्रवेश करता है, जिधर जिधर नायक चलता है उधर उधर उसके मुखपर प्रकाशनिक्षेपकका प्रकाश पड़ता रहता है । इनमें दीपक लेकर तान्त्रिकका चलना तो नाट्यगत चल प्रकाश है किन्तु चन्द्रमा ऊपर चढ़ना, प्रकाशनिक्षेपकके नायककी गतिके अनुसार उसके मुखपर प्रकाश डालते रहना यह व्यवस्थागत चल-प्रकाश कहलाता है क्योंकि ये दोनों कार्य प्रकाश-व्यवस्थापकके अधीन हैं पात्रोंके अधीन नहीं ।

अचल प्रकाश उसे कहते हैं जो एक स्थानपर स्थिर हों । यदि नाट्यके अन्तर्गत कोई ऐसा प्रकाश है जिसका प्रयोग कोई पात्र करता है तो वह नाट्यगत अचल प्रकाश कहलाता है जैसे रमेश मेजपर पहुँचकर मेजवली बना लेता है और उसके प्रकाशमें बैठकर पढ़ता है ।

व्यवस्थागत अचल प्रकाश वे हैं जिनका विभिन्न प्रभाव उत्पन्न करनेके लिये प्रकाश-व्यवस्थापक प्रयोग करता है । ऐसे व्यवस्थागत अचल प्रकाश दस प्रकारसे प्रयुक्त किए जाते हैं—

ॐ दृश्या व्यवस्थालोकः । शीर्ष-कोण-पार्श्व-तल-पक्ष-स्थल-चाक्रिक-व्यवस्था-शाखा-चित्रदीपाब्ध ॥

[दस प्रकारके हैं प्रकाश जो शीर्ष, कोण या पार्श्व और तल । तल, स्थल या चाक्रिक छाय या शाखा या चित्रदीप ॥]

१—शीर्षदीप (हेड लाइट)—ये बलिर्षी रंगपीठकी छतमें आगे, बीचवाचमें और पीछेतक एक एक पंक्तिमें कई कईके कमसे लगाई जाती हैं । आजकल सब परदोंके बीच ऊपर प्रकाश लगानेकी प्रथा नहीं है क्योंकि उससे पार्श्वके प्रकाशोंको चमकना प्रभाव नष्ट हो जाता है । इन्हींमें आगेकी ओर कीनोंपर आग्रन्त तंत्र बेन्द्रित प्रकाश देनेवाले महा-दीपोंको उन्नत आलोक (लाइट लाइट) कहते हैं । इनमें

ध्यान रखते हुए इतना हा रफ़ला जाता है कि वे प्रकाश दर्शाएँगी न दिखलाई दें। इनमें भी कुछ अधिक प्रकाशकी रसियाँ होती हैं जिन्हें अमरदाप (एडजेक्ट लाइट) कहते हैं। प्रायः मन्दक (डिम्पर) का सजब इन्हींमें होता है। मन्दक उस यन्त्रमें रहते हैं जिससे प्रकाश कम या अधिक किया जाता है।

२. शोध महादीप (ग्राउंड स्पॉट)—रंगपीठके आगे दोना मोनोंप अधिक प्रकाशयान चमकदीप लगा दिए जाते हैं जिनपर आदर्शयकतानुसार रंगीन मन्थन-फागल (स्टार पेपर) लगाकर अनग अलग रंग डाल लिए जाते हैं। ये रंगपीठके आगेगाली पल्लवाईके पीछे दोनों दोनोंमें या पन्नाइयों नच नीचमें रखे जाते हैं।

३. पार्श्वदीप (फ्लिग स्पॉट)—रंगपीठके दोनों पक्षोंमें दीपक्षेपर निजलीके चमकदीप लगा दिए जाते हैं जो साननेके पक्षोंके मुखके भाग रुद्ध करनेमें सहायक होते हैं। प्रायः नृत्यके समय इनपर रंगीन काँचोवानी चर्खी लगी रहती है जिनके घुमानसे अदल बदलकर विभिन्न रंग आते रहते हैं।

४. तलदीप (फ्लोर लाइट)—रंगपीठके आगे एक रेखाके दर्शकोंकी ओर आइ करके कुछ विजलीका रसियाँ लगा दी जाती हैं। इनका प्रयोग भी अभिनेताओंकी भाव भागीके स्पष्ट निदर्शनके लिये ही होता है।

५. पक्ष दीप (फ्लिग स्पॉट)—रंगपीठके दोनों ओर थोड़ी थोड़ी दूरपर कुछ दीप लगा दिए जाते हैं जिनमें उनमें पक्षिमें आए हुए अभिनेताओंका भाव प्रदर्शन स्पष्ट किया जा सके। ये दीप छोटे होते हैं। इनमें छिद्र बने हुए पट्टे लगाकर अत्यन्त सूक्ष्म चरेका प्रकाश डाला जाता है।

६. स्वयं प्रकाश (स्पॉट लाइट) या एकगत प्रकाश—प्रकाश-निर्देशक यन्त्र द्वारा किसी एक विशिष्ट व्यक्ति या वस्तुको अधिक स्पष्ट करनेके लिये जो प्रकाश डाला जाय उसे स्वयं प्रकाश कहते हैं।

७. चमक दीप (फ्लैश लाइट)—कभी कभी मधुर रंगपीठको एक ही प्रबिध प्रकाशयान ले शीघ्र ही नचनकी आदर्शयक होती है उसके लिये महाभोगका प्रयोग होता है जिससे ऐसा प्रतीत होता है मानो प्रकाशनी वाद आ गई हो।

८. आभादीप—आभा-नाटकोंमें पदके भीतर पाछेसे जो

प्रकाश डाला जाता है उसे आभादीप कहते हैं। उसमें यह ध्यान रखा जाता है कि दीपका प्रकाश तो रहे पर दीपकी ली या चमक पक्षेसे ठनकर आर नृ दिखलाई दे।

९. आभा दीप (पार्श्व स्पॉट)—बहुतसी नाट्य शानाओंमें यह प्रणाली है कि प्रेक्षागृहमें भी आगेकी ओर दोनों पक्षोंमें कुछ ऐसे लुङ्गे निकले रहते हैं जिनमें बैठकर प्रकाश-ध्वन्यथापक बड़े बड़े दापोंसे रंगपीठकी आलोकित करते रहते हैं या रंगमंचपर ही आलोक प्रकथकके पास ऊँचे पर-पेदी वस्तु-दीप (सूनिंग स्पॉट) लेकर बैठता है और पात्रोंकी गतिके अनुसार उनपर प्रकाश डालता रहता है।

१०. चित्रदीप—(प्रोजेक्टर)—आवकन जिन नाट्य शालाओंमें चित्रचित्र दिखाए जाते हैं उनमें ऊँची यन्त्रोंसे नीचे ही रंगपीठके आलोकित किया जाता है और रंगीन प्रकाश डाले जाते हैं। इनके अतिरिक्त चन्द्र, सूर्य, तारे जलमें पड़ती टुट करिणीके लिये अलग विधान किया जाता है। नाटककार भी अपने प्रकाश-निर्देशमें उनका सनेत कर सकता है।

॥ परदृश्ये बहु प्रायानिर्देशो निषिद्धः ।

[एक दृश्यमें बहुत रंगके ही आलोक निषिद्ध ।]

नाटककारको एक दृश्यमें कई प्रकारके प्रकाश बदलनेका निर्देश नहीं देना चाहिए। यह अस्वाभाविक होता है न एक ही स्थलपर एक ही समय कई प्रकारके प्रकाश हों। कुछ प्रभाववादों नाटकों और प्रकाश-व्यवस्थापकोंका विचार है कि विशेष भाव या उसके अनुकूल प्रकाशयान रंग बदलना प्रत्यन्त उचित है किन्तु अभिनय-मार्तका मत है कि नृत्य-नाट्य या गीत-नाट्यको छोड़कर दोन नाट्यमं वाग्वार रंग बदलना ठाक नहीं है। हाँ, यह तो ही सकता है कि सवाद-कालमें ही सन्ध्या चोखेका निर्देश हो तो धीरे धीरे मन्दक यन्त्रके द्वारा प्रकाश कम कर दिया जाय या प्रातःकाल होनेके समय धीरे धीरे प्रकाश बढ़ाकर उजाना कर दिया जाय, किन्तु धारवा रंग बदलना अत्यन्त अशोभन और अनुचित ही लगता है।

एक दृश्यार्थक नाटकमें दिनके विभिन्न भागोंकी क्रियाएँ अलग अलग दृश्य विभाग द्वारा न बदलकर केवल

प्रकाश बदलकर ही दृश्य-परिवर्तन और समय-परिवर्तन-की सूचना दे देते हैं जैसे—

प्रथम दृश्य—

“हल्का नारंगिया रंगका प्रकाश धीरे धीरे गहरा होता चलता है, फिर सुनहरा पीला होकर धीरे-धीरे धूपके रंगका हो जाता है।”

दूसरा दृश्य—

“मन्दककी सहायतासे प्रकाश धीरे धीरे कम हो जाता है और ब्राई औरसे नारंगिया और हल्के लाल रंगके दो दीपोंसे ऐसा प्रकाश दिया जाता है कि तीसरे पहरका भाग हो। वह प्रकाश दृश्य समाप्त होनेतक धुँधला पड़ जाता है और उस समय अत्यन्त मन्द हो जाता है जब मिलुणी हाथमें तेलका दीप लिए हुए वहाँ आ पहुँचती है। यद्यपि हमारे शास्त्रोंमें शृंगारका वर्ण रथाम, हास्यका श्वेत, कथनका क्रमोत, नौदका रक्त, घोरका गौर, भयानकका श्याम, भीमत्नका नील, अद्भुतका पीला माना गया है पर प्रकाशसे उनका कोई सम्बन्ध नहीं है।

आजकल विशिष्ट प्रकारके दृश्योंके लिये भी विभिन्न प्रकारके रंगके प्रकाशका प्रयोग किया जाता है जैसे— उत्सव, शृंगार-लीला अथवा हर्षके दृश्योंमें प्राकाश-नील रंगका प्रकाश, भयानक और रोमाञ्चकारी दृश्योंके लिये गहरा लाल या बैंगनी, पडपन्नमले दृश्योंके लिये गहरा नीला या परदेके पीछे-प्रकाश देकर छाया मूर्तिका प्रदर्शन, नीरवताके दृश्योंमें पीला, नारंगिया या गुलाबी रंगका प्रकाश जंगल, वन विहार अथवा खुले मैदानके दृश्योंमें हरा या पीला प्रकाश।

कभी कभी नाटककार यह भी निर्देश करते हैं कि अमुक स्थानके अमुक सम्बद्धतक अमुक प्रकाश रहे और उसके बाद दूसरा हो जाय। ये सब निर्देश ठीक नहीं हैं। एक दृश्यसे निरन्तर एक ही प्रकारका प्रकाश रहना चाहिए। हाँ, यह सम्मत् है कि किसी कभरेके दृश्यमें रातके समय एक साधारण दीप जल रहा हो और किसी एक खिड़कीसे चाँदनीका प्रवेश आ रहा हो। इस प्रकार प्रत्येक नाटककारकी रस और कालका विचार करके प्रकाशका निर्देश देनी चाहिए।

जर्मनीकी कुछ नाटक-समितिओंने मोमबत्तीके प्रकाश-में गंभीर नाटक खेलनेकी सम्मति दी है। उन्होंने बताया

है कि ‘विलियम टेल’ नाटक और ‘मृत्युना नाटक’ शार्पक नाटक मोमबत्तियोंके प्रकाशमें अत्यन्त प्रभावकारक सिद्ध हुए हैं। क्योंकि उनके उदात्त चकारोंमें नाटकका भाव अधिक उद्घात हो गया था।

इसी प्रकार यह देखा गया है कि रात्रिके दृश्यमें एक तैल-दीप रात्रिकी निःसंख्यता और भयानकताके एक साथ मूर्तिमान कर देता है। इसी प्रकार कई दीपोंवालों आरती भी रातकी मन्दिरकी गंभीरता और भयानकताके बड़ी प्रभावशाली बना देती है।

ॐ एकमुझो हि प्रकाशः।

[एक औरसे हो प्रकाश हो।]

अभिनवभारतका प्रकाश-सिद्धान्त यह है कि केवल एक औरसे प्रकाश देना काय और उसीमें पात्रोंके मुखका जितना भाग आलोकित हो वहाँ अधिक प्राकृतिक प्रतीत होगा और उनी आये मुखपर व्यक्त होनेवाले भावोंसे ही पूरे मुखके भावोंका बोध हो जायगा अथवा प्रकाशकी व्यवस्था इस प्रकार हो कि पात्रना पूरा मुख भी उनसे आलोकित किया जा सके।

यूनानी नाटकोंके सत्रंभमें यह प्रसिद्ध है कि वहाँके नाटक दिनमें होते रहते थे। परन्तु संस्कृतके नाटकोंके संबंधमें भी यह विवरण नहीं मिलता कि वे दिनमें होते थे या रातको। अधिक संभव यही है कि वे दिनमें होते होंगे किन्तु अभिनव-भारतका स्पष्ट मत यही है कि नाटक रातमें होने चाहिए और यदि दिनमें भी हों तो ऐसे भवनोंमें हो जो स्वच्छ वायुके साथ-साथ अच्छे किए जा सकें क्योंकि देश-भूय और रंग-सज्जा दोनोंकी शोभा दिनके प्रकाशमें मन्द पड़ जाती है किन्तु विजयोंके कृत्रिम प्रकाशमें वे सब अधिक सुन्दर और शोभन हो जाते हैं।

संगीत-व्यवस्थाएकके लिये रंगनिर्देश

संगीत व्यवस्थाएकके लिये पुणने नाटकोंमें भी रंग-निर्देश होते थे जैसे मातृविकाग्निमित्रमें नेपथ्यसे मृदंग और वीणाकी विशेष प्रकाशकी ध्वनि सुनाई पड़नेका वर्णन है। किन्तु आजकलके नाटकमें वाग प्रकाशसे संगीतयोजना की जाती है—एक तो गीतोंके साथ वाद्ययोजनाके रूपमें, दूसरे विशिष्ट रसोंके अनुकूल फीछे उम रसका प्रभाव उल्लेखित करनेवाली वाद्य-ध्वनिके रूपमें त्रिते आजकल पृष्ठ-संगीत

कहते हैं और जिसका प्रयोग प्रायः कवच और भयानक दृश्योंमें किया जाता है; तीसरे प्रकारका संगीतविधान यह है जहाँ नेपथ्यमें किसी विशेष प्रभावके लिये घण्टा, भौंफ, घडियाल, त्रिशयघण्ट अथवा नगाड़ेका प्रयोग किया जाता है। चौथे वे सब गीत हैं जो रंगपट्टपर उपस्थित पात्रोंको कोई विशेष सूचना देने अथवा उनपर विशेष प्रभाव डालनेके निमित्त नेपथ्यसे गगाए जाते हैं जैसे अभिज्ञानशाकुन्तलके पंचम अंकमें नेपथ्य । हतनादिका गीत है और विदूषक कहता है

[भो घण्ट्य ! सगातश लान्तरैऽवधानं देहि ।
कलत्रिगुह्याया गोतेः स्वरस्योग, भ्रूयते । जाने
तत्र भवती हंभयदिका वर्षपरिचय करोतीति ।

[हे मित्र । संगीतशास्त्रकी ओर ध्यानसे सुनिए । यहाँ अत्यन्त सुन्दर गीत सुनाई दे रहा है । जान पड़ता है हृदय-पदिका अभ्यास कर रही है ।]

गीत सुनकर राजा कहते हैं—अच्छ उलाहना दिया है !]

नाटककारको स्पष्ट रूपसे यह निर्देश कर देना चाहिए कि किस दृश्यमें, कहाँ, कितनी देर तक, किस प्रकारके वाद्यसे, किस विशेष राग या तालमें सर्गंतरी योजना की जाय । आजकल सभी चलाचित्रों तथा नाटकोंमें संगीतके प्रमाणा बड़ा महत्त्व समझा जाने लगा है और इसमें सन्देह नहीं कि उसके प्रयोग से रसानुभूतिमें निश्चित सहायता मिलती है ।

ये रग-निर्देश इस प्रकार किए जा सकते हैं—

गीत देकर यह निर्देश कर दिशा जाय—राग भैरवी, तोन तान । इनके साथ कुछ नाटककार गीतका स्वरलिपि भी दे देते हैं। यद्यपि यह उच्छु बुरा नहीं है किन्तु संगीत व्यवस्थापकको भी यह स्वतन्त्रता देनी चाहिए कि वह भावा-नुकूल निर्दिष्ट रागमें या रागकी स्वेच्छित बंधमें गीतको बाँध ले ।

ॐ साहाय्य संगीतार्थं राग-ताल-गति-भावनिर्देशो शलाघ्यः ।

[हो सहाय संगीत कार्यमें राग ताल-गति-भाव निर्देश ।]

विशिष्ट रसोंके अनुकूल पृष्ठ-संगीतकी योजनाके लिये जो निर्देश दिए जाय वे भी स्पष्ट हों जैसे—

‘बुद्ध जिस समय यशोधरके शयन-कक्षमें प्रविष्ट हो रहे हों उस समय तीव्र मूच्छंनके साथ मन्द लयमें शकराकी तान बेचेपर बजाई जाय और जग वे चलने लगें तब गति तीव्र हो जाय और वशीके स्वर भी उसके साथ सुनाई देने लगें ।’

रगगठपर जो गीत गाए जाते हैं उनका विवेचन अगले अध्यायमें किया जायगा ।

रसा या भावोंके अनुसार राग ।

जिस अर्थके लिये कौन-सा राग उचित होता है इसके सबसे संगीतके आचार्योंका यह मत है कि अलग अलग भावोंमें अलग-अलग राग गाने चाहिए ।

शृंगारमें मालश्री, भैरवी, पंचम, मेघ श्री, द्रविड-गौड़, गुर्जरी, तोड़िका, सैन्धवी गौरी, गौड़, धल्लासिका, धल्लासे, शायेरी, सुधावती, हुट्टिका, छाया, गौड़किरी और तुहक गौड़ ।

हास्यमें—काशिकी, कामोदी, बंगाल और कामोद ।
क्रोधमें—भैरव, रामकिरी, गुणकिरी, पटमंजरी, सावेरी, कौशिकी कामोदी, बंगाल, कामोद, सैन्धवी भूपति देवी, आभीरी और गान्धार ।

वीर में—सैन्धवी, धानश्री, श्रविषगुप्त, द्रविड गौड़, तोड़िका, गौड़ी, शकराभरण, गंडी, गौड़, धल्लासिका, हर्षपुरी (विषयके समय श्रीकठिका, तारा, शोकठिका, छाया, तुहक गौड़ और मेघरगी ।

रौद्रमें—कोलाहल और ताप ।

मित्रिके भावमें—भूपालो और देशी ।

भयानक, भीमत्स तथा अद्भुतमें किसी रागका विधान नहीं मिलता है । केवल पुल्लिङ्गका एक ऐसी रागिनी है जिनका सब रसोंमें गानका विधान मिलता है ।

संगीत शास्त्रके ग्रन्थोंमें इस प्रकारकी व्यवस्था यद्यपि कुछ रागोंके सम्बन्धमें दे दी गई है किन्तु इनका यह तात्पर्य नहीं है कि अन्य राग रागिनियोंका प्रयोग नहीं किया जा सकता । संगीतके आचार्योंने विभिन्न राग-रागिनियोंके मेलसे न जाने कितने मिश्र राग बना लिए हैं और यह देखा गया है कि उनका प्रभाव भी दर्शनोंपर अत्यन्त सटीक पड़ता है । इसलिये नाटककारको या तो स्वयं सरगम या स्वरलिपिके साथ गीत देना चाहिए या

केवल इनका ही संकेत करना चाहिए कि अमुक मात्रके रागमें गीत गाया जा रहा है। शेष कार्य अर्थात् उस गीतको राग और तालमें बाँधनेका भार संगीत-प्रयोक्ता-पर छोड़ देना चाहिए।

कोमल और कर्कश वाद्य-निर्देश।

नाटककारको पृष्ठ-संगीतके लिये निर्देश देते समय यह स्पष्ट बताना चाहिए कि वह ध्वनि किस भावकी हो और किस प्रकारकी हो अर्थात् वह कोमल हो या कर्कश। तारोंके वाद्य, मंजर तथा बंशोंकी ध्वनि कोमल कहलाती है, मृदंग, ढोल, मेरी, बिगुल, शंख, फाँफू, घंटे आदिकी ध्वनि कर्कश कहलाती है। सब देशोंमें मठ बाद्योंका मिलना सम्भव नहीं है और यदि बाद्य मिल भी जाय तो बजानेवाला नहीं मिल सकता अतः नाटककारको इस सम्बन्धमें धार्षोद्य नामनिर्देश करनेके बदले संगीत व्यवस्थापकपर कुल भार छोड़कर केवल इन प्रकार निर्देश करना चाहिए—

“भीतर कोमल वाद्य-ध्वनि हो रही है।

करण ध्वनि सुनाई पड़ रही है।

करण वाद्य बज रहा है। कर्कश वाद्य-ध्वनि सुनाई पड़ती है।

बहुतेसे ढोल बजनेकी ध्वनि सुनाई पड़ती है।

ध्वज बजता है।

पूजाके समयके भंगल वाद्य सम्मिलित बज रहे हैं आदि। संगीत-निर्देशके सम्बन्धमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि करण, विमलम्भ शृंगार, विरक्ति तथा हासमें मन्द तथा अतिमन्द लयमें संगीत होता है, संयोग शृंगार और अद्भुत रस में मध्य लयमें संगीत होता है और वीर, मयानक, रौद्र तथा वीरसममें तीव्र तथा तीव्रतर लयमें संगीत होता है। इसलिये यदि नाटककार चाहे तो संगीत-व्यवस्थापकके लिये लयका निर्देश कर सकता है।

इसके अनिश्चित, भारतीय रागोंके सम्बन्धमें श्रुत तथा कालमें गानेका भी विधान है। यह विधान अन्य देशोंके संगीतमें नहीं है किन्तु हमारे देशमें उसकी एक विशिष्ट परंपरा है इसलिये भारतीय नाटककारको उस रुढ़िके अनुसार विभिन्न दृश्योंमें उद्दिष्ट श्रुत तथा कालके अनुसार गीत-लिखकर उसीके अनुकूल रागका निर्देश करना चाहिए।

संगीतदर्पणके अनुसार मधुमाधवी, देशाख्या, भूपाली, भैरवी, बेलावली, मल्लारी, बल्लारी, सोमगुजरी, धानश्री, मानश्री, नेत्र, पंचम, देशकारी, भैरव, ललिता और वसन्त नामके राग और रागिनियोंको उपःकालसे लेकर एक पहर दिन चढ़ेतर गाना चाहिए। गुर्बरी, कौशिक, शापेरी, पटमंजरी, रेवा, गुणकिरी, भैरवी, रामकिरी और सोरठीको दिनके एक पहरके पीछे दूसरे पहरतक गाना चाहिए। वैष्णवी, तोड़ी कामोरी, कुर्किका, गान्धारी, देशी, शङ्कराको तीसरे पहरमें गाना चाहिए। श्री, मालव, गोरी विधेयी, नटकल्याण, सारंगमन्, नाट, केदारी, कर्णाटी आभीरी, वज्रहंसी, और पहाड़ी राग दिनके तीसरे पहरके पश्चात्से लेकर आनी राततक गाए जा सकते हैं। किन्तु राजाकी आज्ञासे सब राग-रागिनियाँ सब समय गाई जा सकती हैं।

पञ्चमवारमहिलाका मत है कि विमाणा ललिता, कामोरी, पट-मंजरी, रामकेल, रामकिरी, धराड़ी, गुर्बरी, देशकारी, शुभगा, आयोरी, पंचमी, गद्दई, भैरवी और कौनारी नामक द्वादश रागिनियों पूर्वाह्नमें; वरुणी, मालवी, केन्द्रा, रेवती, धानश्री, बेलावली और मरहटा नामकी मूल रागिनियाँ मध्याह्नमें; गान्धारी, दीपिका, कल्याणी, प्रवागी, वगैरे, अथागी, कान्दुला गौरी, केदारी और पादिडा रागिनियाँ अत्राह्नमें गानो चाहिए किन्तु दश दंड रागिके पश्चात् सभी राग गाए जा सकते हैं।

ज्योतिषी संगीतके दक्षिणायन आचार्योंका मत है कि देशाख्या, भैरवी, देवःकदशी, माहुषा और नक्षत्रंजिका नामकी रागिनियोंको जो प्रातःकाल गाता है वह अत्यन्त सुखी होता है, इन्हें मध्यकाल कभी नहीं गाना चाहिए। इसी प्रकार शुद्धमन्त्र, सारंगी, नट, वराटिका, छाया, गौड़ी, ललिता, मल्लारिका, गौरी, तोड़िका, गौड़, मालवगौड़ रामकिरी, कर्णाट और बंगाली नामकी राग-रागिनी चन्द्रसे उत्पन्न हैं इसलिये इन्हे प्रातःकाल कभी नहीं गाना चाहिए। सार्यकालमें गानेसे अत्यन्त लक्ष्मी प्रातःहोती है।

इसीके सार यह भी विधान है कि सपत्नीक औराग शिशिरमें, सपत्नीक भैरव शीतमें, सपत्नीक पञ्चम शरदमें, सपत्नीक मेघ वर्षामें और सपत्नीक मन्त्रारावण हेमन्तमें गाना चाहिए।

साथ ही यह भी कहा गया है कि यदि कोई लोभ या मोहसे कुमन्य भी राग गा दे तो सुन्दरी रागिनी गा लेनेसे दोषका परिहार हो जाता है ।

ॐ प्रसंगानुकूल संगीत निर्देशः नाट्ये ।

[हो प्रसंग अनुकूल नाट्यमे संगीतो निर्देश]

इस प्रकार राग-रागिनीयोंके समयका विस्तृत विधान है किन्तु नाटक प्रायः रातको होते हैं इसलिये समयका यह बन्धन मान्य नहीं समझा सकता । किन्तु जैसा हम ऊपर कह आए हैं कि नाटकमें जिस समयका वर्णन किया गया हो उस समयके अनुकूल रागका निर्देश कर देना चाहिए ।

पात्रोंके लिये संगीत-योजनाकी निम्नलिखित अवस्थाएँ हो सकती हैं—

१. अपने प्रियसे मिलनेकी उत्कण्ठामें ।

२. प्रियसे मिलनेपर उसकी आशा या असुरोषसे ।

३. प्रियके निरहमें ।

४. युद्ध अथवा अन्य किंश पराक्रमके उरणाहमें अथवा उत्साहको उत्तेजित करनेमें ।

५. विरक्ति तथा भक्तिसे आवेशमें ।

६. मनोविनोदके लिये ।

७. अभ्यासके लिये । मंगलकार्य अथवा देवपूजन या उत्सव आदिमें ।

यह संगीत योजना निम्नलिखित प्रकारसे की जा सकती है—

१—केवल गीत, एक व्यक्तिका, कई व्यक्तियोंका समवेत अथवा दो दलों या व्यक्तियोंमें परस्पर गीत-संवाद या गीत प्रतिद्वन्द्विताके रूपमें ।

२—केवल वाद्य (एक व्यक्ति द्वारा या कई व्यक्तियों द्वारा समवेत) ।

३—केवल नृत्य (एक व्यक्ति द्वारा या कई व्यक्तियों द्वारा समवेत)

४—केवल गीत और वाद्य (एक ही व्यक्ति गाता भी हो और वाद्य भी बजाता हो अथवा एक दल हो जिसमें कुछ गाते हों कुछ बजाते हों ।)

५—केवल गीत और नृत्य (एक ही व्यक्ति गीत गाकर नृत्य करता हो अथवा कई व्यक्ति गाकर नृत्य करते हों अथवा उनमें कुछ गाते हों, कुछ नृत्य करते हों ।)

६—केवल वाद्य और नृत्य (एक ही व्यक्ति धंसी जैसा वाद्य बजाकर नृत्य करता हो अथवा कई व्यक्ति हों जिनमें कुछ वाद्य बजाते हों, कुछ नृत्य करते हों ।

७—स्वनयन्त्र (ग्रामोफोन) खस्वनप्राह (रेडियो) आदि यन्त्रोंके द्वारा गीत या वाद्य ।

इन उपर्युक्त प्रकारोंमें पुरुषों नपु सकों तथा स्त्रियोंके गात और नृत्य भिन्न भिन्न होते हैं । रौद्र और भयानक रसोंमें (पशुवर्जिन अथवा नरबलिके दृश्योंमें) अत्यन्त उद्बत, गतिशील और भयोत्पादक संगीतकी योजना की जानी चाहिए, विनाहास्वन आदिमें ललित, स्थायी तथा कोमल संगीतका व्यवस्था हो ।

पीछे बताया जा चुका है कि नृत्य-नाट्यों तथा गीत नाट्योंमें अभिनेतागण नेत्र न अभिनय तथा नृत्य करते हैं, शेष सब संगीत-कार्य संगीत-मण्डली कराते हैं । उसके गीतों, नृत्यों तथा भागोंके लिये विशेष संगीत निर्देश दे देना चाहिए जिससे संगीत व्यवस्थापकको नाटककारके उद्दिष्ट प्रभावकी साधनामें सहायता प्राप्त हो सके ।

कुछ विशेष प्रभाव नेत्रय धार्यों अथवा नेत्रय-गीतोंसे उत्पन्न किया जा सकता है जैसे अभिनयभरतके 'सिद्धार्थ' नाटकमें महाभिनिक्रमणके समय सिद्धार्थ केवल अभिनय करते हैं और नक्षत्रसे अभिनयके भागोंको व्यक्त करने-वाला गीत कोमल कश्य रागमें गाया जाता है । इस प्रकारके मूक अभिनयके साथ ऐसी गीत योजना तथा वाद्य-योजनाका बड़ा प्रभाव होता है

पञ्च-वाद्य या पृष्ठ-पगात

ॐ पञ्च संगीतं श्लाघ्यमवसरे ।

[अवसरपर है श्लाघ्य पञ्च संगीत]

पञ्च वाद्य तथा पृष्ठ-संगीत (बैक आर्डेड म्यूजिक)को एक नई कला अलग पहचान हुई है । कुछ वर्तमान नाट्याचार्योंका तो यह तक विचार है कि प्रत्येक नाटकमें आदिसे अन्त तक रस और भावसे अनुसार निरन्तर मन्द वाद्य बजता रहना चाहिए । अभिनय-भरत इसके सहमत नहीं है क्योंकि संगीतकी अपना अलग विशेष प्रभाव होता है । यदि उसमें विशिष्ट चमत्कार उत्पन्न हो जायगा तो यह अधिक समझ है कि अभिनय तथा सवादमें दर्शकोंकी रुचि कम हो जाय अथवा उसके कारण रसानुभूतिमें बाधा पड़ जाय । अतः

नाटककारको विचारकर विशिष्ट प्रभाव उत्पन्न करनेके लिये पद्य-संगीतकी योजना करनी चाहिए और वहाँ इस प्रकारके निर्देश देने चाहिए जैसे—

“तुमको अर्पित शतशत प्रणाम ।

शतशत प्रणाम, शतशत प्रणाम” ।

(गौतम बुद्ध नृत्य-नाट्यवेत्ते) ।

उपर्युक्त गत गाने समय अन्तिम पंक्तिको अनेक व्यक्ति स्वर-रूपनके साथ क्रमशः स्वर चढ़ाकर और ‘अन्तिम प्रणाम’ को खींचकर स्वर धीरे धीरे मन्द करके कण्ठ भाव उदास करें और फिर तीव्र कंधनके साथ भ्रमंभ और अरन्धत तीव्र लयमें कंधनके साथ सब वाद्य भनसना और घनघना उठें ।”

पराश्रित गीत और वाद्य (प्ले बैक)

कभी कभी कुछ अभिनेता न या सकते हैं न बजा सकते हैं । उसके लिये नाटकीय विधान यह है कि रंगमंच पर अभिनेता केवल रंगकी शब्दावली या स्वरवलीके अनुसार मुँह चलाता या वाद्य शपने लेकर उसपर उँगली चलानेका नाट्यमात्र करता है, वास्तवमें कोई दूसरा ही व्यक्ति नेपथ्यमें गाता और बजाता है । इस पराश्रित गीत या वाद्यकी प्रयात्नीका अत्यन्त प्रचार हो चला है किन्तु अभिनयमरत इससे सहमत नहीं हैं । यह शैली चलचित्रमें भले ही उपयुक्त हो किन्तु रंगगीठपर अनेके दर्शक इसे तालाल भाँप लेते हैं और उसका उन्हास होता है ।

कहनेका तात्पर्य यह है कि नाटककारको यह समझ लेना चाहिए कि उपर्युक्त विधानोंमेंसे किस विधानका किस अवसरपर कौनसा प्रभाव उत्पन्न करनेके लिये किस प्रकार प्रयोग किया जाना चाहिए और उसीके अनुसार उसे निर्देश भी देना चाहिए ।

नेपथ्यविधायकके लिये रंगनिर्देश

ॐ नेपथ्यकर्मार्थं संयत-स्वष्ट-संक्षिप्तनिर्देशो कार्यः ।
[संयत, स्वष्ट और योज्य, हो नेपथ्य-कर्मनिर्देश ।]
वास्तवमें नेपथ्य-विधायकके लिये कोई विशेष रंग-निर्देश नहीं होते किन्तु कभी कभी अभिनेताओंके लिये हो इस प्रकारके निर्देश किए जाते हैं जिन्हें नेपथ्य-विधायकके लिये ही समझना चाहिए । प्रायः नाटकमें इस प्रकारके आदेश मिलते हैं—

“यह भीतर जाता है और करदे बदल आता है, नई मूख-दाढ़ी लगाकर आता है श्रयया कुन्डकेका वेप बनाकर आता है ।” इसका अर्थ यह है कि नेपथ्य-विधायकको रूप-विन्यास और वेप विन्यासकी सब सामग्री लेकर वहाँ प्रस्तुत रहना चाहिए जितने अभिनेताके भीतर आते ही उसका रंगोचित संस्कार कर सके । प्रायः यह देखा गया है कि जब ऐसे निर्देशके अनुसार अभिनेता भीतर आता है तो न उसे नेपथ्य-विधायक या शृंगारीका ही दर्शन होता है न यथोचित सामग्री ही मिल पाती है और इस विग्रममें वह किर्तव्य-विमूढ़ हो जाता है, उसका मनोभाव क्षुब्ध हो जाता है जिससे उसके अभिनयपर भी बुरा प्रभाव पड़ता है ।

नेपथ्य-विधानके लिये निर्देश देनेकी जो विशेष आवश्यकता पड़ गई है उसका कारण यह है कि आवश्यक बहुतायतसे लोग बिना समझे-सूझे जो मनमें आता है वह वस्त्र उसे पहना देते हैं । दुष्यन्तको चूड़ीदार पाजामा और अचकन पहने शकुन्तला नाटकमें अभिनय करते देखा गया है । अतः नाटककारको अपने नाटकके प्रारम्भ या अन्तमें प्रत्येक पात्रकी वेशभूषाका पूरा विवरण दे देना चाहिए क्योंकि प्रत्येक नाट्य-समितिके पास इतने सर्वज्ञ लोग नहीं मिल सकते जो यह बताते चलें कि अमुक वेश ठीक है या नहीं । अभिनयमरतने अपने महाकवि-कालिदास नाटकके पीछे अलङ्कार-व्यवस्था शीर्षक देकर सब पात्रोंकी वेशभूषाका विवरण इस प्रकार दे दिया है—

कालिदास—पीताम्बर, उत्तरीय, मणिवन्ध, भुजबन्ध, कुंडल, उष्णीष ।

विक्रमादित्य - पीताम्बर, उत्तरीय, राजमुकुट, मणिवन्ध, भुजबन्ध, कुंडल, मुकाहार, घुँघरले नाकरव, फरवाल, घनुष-नाथ, तूषीर आदि ।

इस प्रकारका अलंकरण-निर्देश कर देनेसे नेपथ्य-व्यवस्थापकको तो सुविधा होती ही है, नाटकमें भी सरसता आ जाता है ।

संस्कृतके नाटककारोंने प्रत्येक रंगनिर्देशके रूपमें नेपथ्य-विधान अर्थात् अलंकरण-विधानका परिचय नहीं दिया है किन्तु वे दूसरे पात्रोंके द्वारा वर्णन करकर पूरे नेपथ्य-विधानका परिचय दे देते थे । भावने अपने मध्यम-

व्यायोगम ब्राह्मणके पुत्रोसे ही घटोत्कचका धरण कर दिया है—

तदप्यधिकप्रकीर्णकेनो भ्रुकुटिपुटोच्चरनविंगलायताच्च ।
सताडिदिव घन सकण्डसूत्रो युगनिघने प्रतिमाहृतिर्हरस्य ॥

ग्रहयुगल निग्राम पीनविस्तीर्णवध ।

कनक कपिल केश पीतस्रौष्टेयवास ।

तिमिर निमृत् पण्य पाण्डुरोद्भृच्छदप्लो

नत्र इव जलगर्भो लीयमाने तुल्लेख ॥

कलभदशनदप्लो लाङ्गलाकार नास ।

कशिरकरवाहुनाल जीमूत रण्य ।

हुट-हुतवहदीप्तो य स्थितो भाति भीम—

स्त्रिपुर पुर निह उ चक्ररथेव रोप ॥

[प्रातः का नके सूर्यको किरणोंके समान जिसके बल विश्वरे हुए हैं, भाँसोंके नीचे उजला पीली, बड़ी बड़ी आँखें हैं और गलेमें कठसूत्र पहने हुए ऐसा जान पड़ता है जैसे बादलमें बिजला हो। इस वेशमें यह ऐसा भयकर दौल पड़ता है जैसे प्रलयके समयके द्रक्षी प्रतिमा हो। दो ग्रहोंके समान जिसकी आर्खें चमकती हैं, मोटी और चौड़ी छातवाला, मुनहरे और कपिन (नीले-नीले) वालोंवाला, पीताम्बर धारा, काला कट्टा, पील पाने उठे हुए दाँतोंवाला यह कौन है जो ऐसे नये जनभरे बादलके समान दिखाई पड़ रहा है जो चन्द्रमाको निगल जा रहा हो।

हाथोंके बच्चेके दाँतोंके समान दाढोंवाला, हल के समान नाकवाला, हाथाकी सूँड़के समान (खुरदरी, मोटी, लची) भुजाओंवाला, काल बादलके रगवाला, आहुति दी हुई अग्निके समान जलता हुआ यह कौन है जो त्रिपुरासुरको मारनेके लिये उद्यत महादेवजीके क्रोधके समान दिखाई दे रहा है।]

उपर्युक्त वर्णनमें भावने ब्राह्मणके पुत्रोंके मुखसे घटोत्कचका रूप, रंग, आकार प्रकार, बाल, दाँत आँख, हाथ वक्ष, वस्त्र, कठसूत्र सभीका विवरण दे दिया है और नेपथ्य व्यवस्थापकके लिये पूर्ण सञ्ज्ञाविधान सबभा दिया है।

आशकलके बहुतेसे नाटककार रगनिर्देशके अन्तर्गत ही वेश तथा अलंकरणका विधान दे देते हैं जैसे गालतवदीके लिङ्गवियों (विद्योञ्ज) नाटकके प्रथम अंकमें मार्च महोदयके भोजनालयके विवरणम मार्च परिवारका परिव्य

[श्रीमती मार्च सुदर्शन हैं—४८ वर्षकी उनकी अवस्था है, सुभूपित हैं औद्युत मार्च भी ५० वर्षके सुदर्शन व्यक्ति हैं, लाल भूरी मूँछें और बेश हैं जो कुछ तो स्वभावसे ही हिलते रहते हैं और कुछ बारबार हाथ परनेसे हिलाए जाते हैं। चीनी नितान्त साधारण युवक हैं—लंबा मुँह, लंबा शरीर और स्वच्छ-सुपरा। मेरी भी लंबी है, सुदर और गोरी है।]

इसमें नाटककारने कुछ तो नाट्यप्रयात्ताक लिये निर्देश दिया है कि वह इस प्रकारके पात्र लावे और कुछ बालोंके स धमे स्पष्ट निर्देश करके 'सुभूपित' और 'स्वच्छ सुपरा' कहकर उनकी सजावटका भार अभिनेता और नेपथ्य व्यवस्थापककी रचि, कला तथा सुविधान छोड़ दिया है और यही उचित भी है।

कुछ ऐसे भी नाटककार हैं जो पूरा नवल शल वर्णन करके पूरा खटराम खड़ा कर देते हैं जैसे—

[विल्सनके सिपर ऊँचा काला चैकवाइट हैट है, आँखोंपर सुनहरी कमानाका चश्मा है नील सजेके कोटके नाचे श्वेत टवीडकी कमीज उसपर मयकालीन काटकी जाकर, श्वेत उँदकीदार लाल रगकी टाई फड़ा श्वेत कालर श्वेत धारीवाल नाल फालालैनका पेट, जेबमें पीला रुमाक, बटन होलमें पीला गुनाब फुलवूट पहने हुए हाथमें चाँदोंका सिगरेट धर लिए हुए मुँहसे सीटी बजाता हुआ आदमी (लता) के नीचे खड़े होकर अपनी प्रेयसीकी प्रतीक्षा कर रहा है और बीच-बीचमें 'टैटलर' पत्र निकालकर कुछ पढ़ भी लता है यद्यपि सड़कके लैम्प का प्रकाश दूर है और समान्चार पत्रके अक्षर स्पष्ट दिखाई भी पड़ते हैं या नहीं इसमें संदेह है।]

इस विवरणमें जैकवाइट हैटकी बात तो माय हो सकता है, किंतु सुनहरी ही कमानाका चश्मा, नील ही सर्वका कोट, श्वेत टवीडकी ही कमाज, लाल उँदकी ही टाई नीले ही फालालैनका पेट, और 'टैटलर' ही पत्रका उगाड़ कोई भी नेपथ्य व्यवस्थापक कैसे कर सकता है। अतः इस संवयमें अभिनवपरतका यही मत है कि वेश तथा अलंकरणके लिये प्रारंभ या अन्तमें विवरण दे देना चाहिए और नेपथ्य व्यवस्थापकके हाथ इस प्रकार नहीं बाँध देना चाहिए कि वह हतप्रभ हो जाय।

नाट्य-प्रयोक्ताके लिये रंग-निर्देश अनावश्यक

ॐ निरर्थकः प्रयोक्तृ-प्रयोजनार्थनिर्देशः ।

[नाट्य-प्रयोक्ताके लिये, हैं निर्देश निरर्थक]

कुछ नाट्य-निर्देश नाट्यप्रयोक्ताके लिये भी नाटककार कर देता है जिनमें वह इस प्रकार निर्देश देता है—

नायिका बड़ी लडक-वी लडकी है जिनके बाल गोल कंधासे एक कानसे दूसरे कानतक कंठ हुए हैं । उमका मुँह गोल, भया हुआ, गुलाबी और मोला-न्ना है । उसके श्रोत्र मोटे हैं—कुछ खुले हैं जो उसके भूँतरे बालों और गोल नीली आँखोंके साथ अविलग्न आश्चर्यकी मुद्रा बनाए रखते हैं ।

नाटककारने नाट्यप्रयोक्ताके लिये एक नई समस्या ही खड़ा कर दी है । वह कहाँ धूमधमकर ऐसी नायिका ढूँढता जिनका जिनके भूँतरे बाल हों, खुले हुए श्रोत्र हों, नीली आँखें हों और ये सब लक्षण मिलकर उसके मुखपर अविलग्न आश्चर्यकी मुद्रा अंकित किए हों । कोई आश्चर्य नहीं कि ऐसी नायिका मिले ही नहीं । अतः नायिका या नायक आदिका रूप-निर्देश करना अत्यन्त असंगत, व्यर्थ और अनावश्यक है । इसी प्रकार यह निर्देश करना कि 'अमुक पात्र काना, लंगड़ा, लला, नाटा, मोटा, लबा, दुबला, लाल बाली-नाला, भूरे बालोबाला है' अत्यन्त अनावश्यक है क्योंकि जन्मक पात्रकी विकलांगता या विशेषांगता नाटकका कथा-वस्तु को

प्रभावित नहीं करती तबतक इस प्रकारका निर्देश व्यर्थ है । किन्तु जहाँ इस प्रकारकी विकलांगता अथवा विशेषांगतासे नाटकसे संविधानका संबंध हो वहाँ इस प्रकारका निर्देश आवश्यक है जैसे अभिनवभरतके 'विश्रवस' नाटकमें लंगड़ा प्रवेशकर ।

जौर्व बर्नर्ड और तथा लेभ्स वारी आदि कुछ योरोपीय नाटककारोंने अपने नाटककोंको पठनाय बनानेके उद्देश्यसे उनमें वर्णनकी रोचकता उत्पन्न करके पाठकोंको नाटकमें उन्मत्तासका रस देनाका जो प्रयोग किया है वह नाटककी दृष्टिसे उचित और अत्यन्त नहीं कहा जा सकता । प्रत्येक नाट्य-संमति प्रायः अपने परिमित सदस्योंमें ही नाटककी मूकिका बाँट लेते हैं और यह उनपर अतिचार करना है कि उन्हें विशिष्ट आकार-प्रकार, स्वरूप, विशेष गुणयुक्त पात्र खोजने और प्रस्तुत करनेको विवश किया जाय । इसी प्रकार यह निर्देश देना कि जाड़ेके दिन हैं या लू चल रही है या गुलाबका फुल्ले मँहक रहा है नितान्त व्यर्थ है । यदि नाटककारको इसका मान करना है तो वह पात्रोंके संवादमें—'आः) जाड़ा लग रहा है, धीरे धीरे शकड़ा जा रहा है, कितनी सनसनाती हुई लू चल रही है, एक लोटा जल मगाओ, यहाँ गुलाबके फुल्लेको गन्ध बड़ी गमक रही है, 'आदि वाक्य कदलाकर उस उद्देश्यकी पूर्ति कर सकता है अतः नाटककारको इस प्रकारके निर्देश नहीं देने चाहिये जिनसे नाट्यप्रयोक्ताको पात्र चुननेमें कठिनाई हो ।

॥ श्वभिनवभरतश्रीसंगतासामचतुर्थेदविरचितेऽभिनवनाट्यशास्त्रे रूपक रचनाखंडे संवाद-योजना-प्रकरणे रंगनिर्देशो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥

संवाद-योजना

छन्दस्तय (कविता और गीत)

पद्यका प्रयोजन

नाटकमें गद्य संवादके अतिरिक्त प्राचीन नाटककारोंने पद्यका भी प्रयोग किया है । यद्यपि आजकल नाटकीय संवादमें पद्यके प्रयोगको अस्वाभाविक और अयुक्त माना जाता है और अभिनवभरतने भी उसका निषेध कर दिया है किन्तु नाटककारको यह छूट तो है ही कि वह ऐसे पात्रोंकी योजना करे जो कवितामें ही शतशत करते हैं

या कवि हों या कवियोंका उद्धरण देते ह। जैसे अभिनवभरतने अपने मंगल-प्रभात नाटकमें मेनका कविकी सृष्टि करके प्रयोग किया है । इनके अतिरिक्त ऐसे भी पात्र हो सकते हैं जो किसी दूसरे कविकी रचनाएँ ही प्रेम, मस्ती या उन्मादकी अवस्थामें अथवा सहानुभूति अवस्थामें करते हों । अतः यह विचारणीय है कि कविता या छन्दोबद्ध वाक्योंका प्रयोग नाटकमें किस प्रकार किन अवसरोंपर किया जाय ।

❀ छन्दयत्प्राहादयति छन्दः ॥

[मन प्रसन्न जो करदे वह है छन्द ।]

व्याकरणकी व्युत्पत्तिके अनुसार 'छन्दयति प्राहादयति चदि, अमुन चस्य क्षत्य' अर्थात् जो प्रसन्न करे उसीको छन्द कहते हैं। बहुतसे कोषकारोंने छन्दको पद्यका पर्याय माना है। साहित्यदर्पणकारने भी 'छन्दोबद्धं पद्यं पद्यम्' अर्थात् 'विशिष्ट छन्दमें बँधे हुए पद्यको ही पद्य' कहा है। यह छन्द लघु, गुण स्वर या मात्राकी नियमित वर्ण योजनासे बनते हैं। सभ्य या असभ्य सभी देशोंमें छन्दोबद्ध रचनाएँ होती पाई गई हैं। अनीतरु भी जंगली जातियाँ गीत गानाकर नाचती और उत्सव मनाती हैं। इससे जान पड़ता है कि मनुष्य-मात्रमें स्वभावतः पद्य या छन्दके प्रति आकर्षण होता है।

यूनानी नाटकोंमें पहले सब र्षवाद समवेत गानोंके साथ होते थे, इसलिये उन्होंने अपने लिये कुछ विशेष छन्दोंका प्रयोग प्रारम्भ कर दिया था जो रणके अनुकूल होते थे। हमारे यहाँके संस्कृत नाटकोंमें भी गद्यके साथ-साथ र्षवादमें पद्य रखनेकी प्रथाका ही निर्वाह किया गया। अंग्रेजीमें एक नये प्रकारके पद्यका अविष्कार हुआ जिसे 'ब्लैक वर्स' या लयात्मक गद्य कह सकते हैं। उसमें लयका ध्यान रखा जाता है, तुक, वर्णसंख्या या मात्रासंख्याका नहीं। शकषपियरके अधिकांश नाटक इसी लयारमक गद्यमें लिखे गए हैं, गीतोंका प्रयोग केवल वहीं हुआ है जहाँकिनी गायक या गायिकाके द्वारा गीतका आयोजन है। इसके अतिरिक्त उन नाटकोंमें गीतका प्रयोग हुआ है जिनका अभिनय गीताश्रित हो जैसे नृत्यनाट्य (डान्स बैले) औरिये, मैलो ड्रामा आदि।

छन्दमें रस और भावकी अनुकूलता

❀ रसमायासुल्लरंछन्दप्रयोगो कार्यः ।

[रस या भाव ध्वनित करना ही है छन्दोंका कार्य ।]

यदि नाटकोंमें किसी विशेष प्रयोजनके लिये पद्यरचना करनी हो तो अर्थात् किसी ऐसे प.व.क. अथवापण कर लिया गया हो जो छन्दमें ही बात करता हो, छन्दका प्रयोग ही अथवा दूवर्णोंका उद्देश्य देता हो, तो वहाँ छन्द रचना ऐसी

करनी चाहिए जो रस और भावके अनुकूल ही संतुलित हो, उसके पद्यनेम लय-भंग न हो, यति-भंग न हो, किसी प्रकारके अश्लील और आश्रय शब्द न आँवें और सरलतासे सबका समझने आ सके। अर्थात् काव्यके जो गुण पीछे बताए जा चुके हैं उससे युक्त ही और दोषोंसे रहित हो।

❀ अश्लील प्राथम्येष्टत्वं दोषरहितश्छन्दः श्लाघ्यम् ।
[आश्रय और अश्लील क्लृप्तपद रहित छन्द है श्लाघ्य ।]

इसपर कुछ नाटककारोंने एक यह नई शैली निकाली है कि वे नाटक तो सुबोध खिलते हैं किन्तु गीत इतने दार्शनिक और लाक्षणिक बना देते हैं कि उनके अर्थ समझनेमें बड़ी कठिनाई होती है। यह शैली अल्प अनुपयुक्त है। नाटकके गीतोंका लक्ष्य तो यही है कि दर्शक उसका अर्थ जानें इसलिये उनमें भी किसी प्रकारका दोष होना बाल्घनीय नहीं है। अतः जो बात पद्योंके सम्बन्धमें कही गई है वही गीतोंके सम्बन्धमें भी आद्य होनी चाहिए किन्तु नाटककारको गीतोंकी रचना करते समय तीन बातों पर ध्यान देना चाहिए—प्राथम्य, मर्यादा, उनकी मनस्थिति, तथा रस, भाव और परिस्थितिके अनुकूल गीतोंकी रचना। जिन रसोंमें गाए जानेका निर्देश नाटककार दे थे पावकी तत्कालिक प्रवृत्तिके अनुकूल हों जैसे यदि कोई गोपी विराहाकुल होकर भीकृष्णके वियोगमें गाती है—

"निस दिन बरसत नैन हमारे ।

सदा रहत पारस अट्ट हसपर जबतँ श्याम विधारे ।"
तो यह गीत यदि लमाच, मैरु, अथवा भीमपल्लासी रागमें बाँध दिया गया तो इसका कुछ भी प्रभाव न होगा और रस-दोष हो जायगा, किन्तु यदि आशावरीमें यह गीत गाया गया तो निश्चित रूपमें उसका प्रभाव ठीक पड़ेगा और दर्शक भी गीतके शब्दों और रागकी ध्वनियोंके मेलसे उत्सव रसकी तीव्रतम अनुभूति कर सकेंगे। संगीत-शास्त्रके पठिताने श्रवणात्मा है कि तीनों जगत्के लोगोंका चित्त जिससे रजित या प्रसन्न होता हो उसे राग कहते हैं। संगीतदर्पणमें बताया गया है—

योऽयं ध्वनिविशेषस्तु स्वरवर्णविभूषितः ।

रञ्जको जनचित्तानां स रागः कथितो बुधैः ॥

यैस्तु चेतासि रच्यन्ते जगत्प्रितपर्वतिनाम् ।

ते रागा इति कथ्यन्ते मुनिभिर्मरतादिभिः ॥

अनख

यस्य अत्रय मातये स्वयन्ते सन्तः प्रजा ।
सर्वानुरञ्जनाद्दत्तोत्सेन राग इति स्मृतः ॥ ८५ ॥
रागका विवरण जाननेसे पहले संगीतकी कुछ चर्चा
कर देना आवश्यक है। प्रायः सभी संगीतशास्त्रियोंके
व्याचार्य यह मानते हैं कि महादेव और पार्वतीसे
ही रागोंकी उत्पत्ति हुई है। महादेवजीके मुखसे श्री, परमत्,
मैत्र, पंचम और मेघ राग उत्पन्न हुए और पार्वतीजीके
मुखसे भट्ट नारायण राग उत्पन्न हुआ। इस प्रकार छः
रागोंको उत्पत्ति हुई। कहा जाता है कि संगीतशास्त्रकी
रचना इन्द्रमान, कोइल (कोलावल या कोलाचार्य) चादूल,
कनकलाचार्य, अश्वत्थ, वायुभधि, हाहा और हूहू गन्धर्व,
रावण, रम्भा अम्बा, बाणासुरकी पुत्री ऊमा, फाल्गुन
और शेषनाम आदि बहुतसे लोगोंने की है। संगीतमें
गाना, बजाना और नृत्य (आंगिक चण्डा द्वारा
भावप्रदर्शन) तीनोंका मेल है अर्थात् जो गीत
गाया जाय, उसके स्वरोंके अनुसर वाद्य उत्राया
जाय और उसीके भावके अनुसार नृत्य किया जाय (अंगोंके
द्वारा भाव-प्रदर्शन किया जाय)। यह संगीत दो प्रकारका कहा
है—(१) मार्गी और (२) देशी। ब्रह्माग्निने नाट्यशास्त्रके
रचयिता भरतजीको मार्गी संगीत सिखाया था जिसे भरतने
अष्टाश्रमी और गन्धर्वोंकी शिक्षाकर शिवजीको सुप्रशया
था। उस संगीतको सुनकर मारादेवजीने भरतको ताण्डव-
पदाति या पुरुष नृत्य और नृत्य सिखाया और पार्वतीजीने
लास्य (कोमल या स्थिभोचित) नृत्य और नृत्य सिखाया।
मार्गी संगीत देशी है और देशी संगीत मानवीय। देशी
संगीत देश-भेदके अनुसार बलग अलग अलग है। कहा
जाता है कि संगीतके आदि आचार्य मंदिस्वर करने
प्राकृतिक आकाशसे उत्पन्न साने-गा-गा-ध-ध-नों, सप्त
स्वरोंमें से सा और प अश्रुत्व पङ्क्त और पंचमको छोड़कर
रे-ग-म-ध-नीको कोमल किया और संगीत शास्त्रकी रचना
की। हम थपले जडमें संगीत-योजनाके प्रकरणमें इसकी
विवरणाके व्याख्या करेंगे। यहाँ से हम यहाँ समाप्तने चले है
कि छन्द रूप है, विभिन्न देशोंमें उनका क्या स्वरूप है
और किस प्रकार उनका प्रयोग होता है। संगीतका प्रकरण
केवल इसलिये, खेद दिया गया कि छन्द और संगीतका
बड़ा महत्त्व है जो योग्य चलकर स्वतः हो जाया।

छन्दकी परिभाषा

ॐ गति संयमछन्दः ॥

[गतिका संयम छन्द कहाता ।]

संघार मस्त्री सय भागएँ तीन स्वरोंमें पाई जाती हैं—
पच, गय और गीत। हमारे यहाँ वेदकी भी छन्द्व कहा
है, किन्तु वेदकी भाषा भी तीनों रूपोंमें मिलती है। वेदके
पच भागको अणू या मन्त्र कहेते हैं, गीत भागको साम और
गय भागके कुछ अंशको यजुः और कुछको ब्राह्मण कहेते
हैं। किन्तु विचित्र बात यह है कि संदर्भ वैदिक साहित्यमें
केवल सात छन्दोंका ही प्रयोग हुआ है—१ गायत्री,
२ उष्णिक, ३ अष्टुष्टुप, ४ इहती ५ पंक्ति, ६ विष्टुप और
७ अगती। इनमेंसे गायत्रीमें ३ चरण होते हैं जिनमें २४
अक्षर या स्वरचरण होते हैं, उष्णिकमें २८, अष्टुष्टुपमें ३२,
इहतीमें ३६, पंक्तिमें ४०, विष्टुपमें ४४ और अगतीमें ४८
अक्षर होते हैं। काव्यायनने आगे चलकर इनके भी बहुतसे
भेद कर डाले हैं। इन्हीं सात प्रकारके ही वैदिक छन्दोंमेंसे
पीछेके कवियोंने जो बहुतसे छन्द बना लिए उन्हें लौकिक
छन्द कहेते हैं। इवीलिये हमारे यहाँ छन्दोंके दो भेद हुए—
वैदिक और लौकिक।

लौकिक छन्द पहले-पहल किसने बनाए हम सम्बन्धमें
यहाँ कथा प्रसिद्ध है कि एक शर महर्षि वाल्मीकि, समसा
नदीमें स्नान करने चले जा रहे थे। उन्होंने सहसा देखा
कि एक व्याधने कोंचके जोड़ेमेंसे एकको बाँधते बाँध
दिया, दूसरा भी उसीके साथ चिल्लाकर
रमाता हो गया। इसपर वाल्मीकिने इतनी क्रूरता आई
कि उन्होंने अत्यन्त क्रोधसे व्याधको शाप दिया—

‘म निपाद प्रतिष्ठः स्वमगमः शारथ्यतीः समाः ।

यत्तन्मिपुनादेकमथीः काममोहिराद ॥

[हे निपाद ! तुम अन्नत वर्षोंतक शान्ति न पाओ
क्योंकि तुमने काममोहित कौशिकके जोड़ेमेंसे एकको मार
डाला है।] यह श्लोक सुनकर यनदेवताकी वधा आश्चर्य
हुआ—

विचं भामायादन्वीऽयं नूतनदण्डसामतवतः ।

[बड़ी विचित्र बात है। यह तो वैदिक छन्दोंके अलावा
एक नया ही छन्द बन गया है।]

स्वयं वाल्मीकि को भी आश्चर्य हुआ कि—

‘किमिदं व्याहृतं मया ।’ [वाल्मीकि रामायण १,२, १६]

[यह मैंने क्या कह डाला]

इससे प्रायः यही माना जाता है कि लौकिक छन्दोंका आविष्कार महर्षि वाल्मीकिने ही किया। किन्तु वाल्मीकि रामायणके आधुनिक टीकाकार श्रीरामानुज यह नहीं मानते। उनका कहना है कि वाल्मीकिसे पहले भी लौकिक छन्दोंका प्रयोग हुआ करता था किन्तु वे कौनसे छन्द थे और किन्होंने उनका प्रयोग किया, इस विषयमें वे मौन हैं। परन्तु यदि हम वेदको ही सर्व-प्राचीन ग्रन्थ मान लें तो हमें यह समझनेमें कोई आपत्ति नहीं होगी कि छन्दका महत्त्व लोगोंने बहुत पहले समझ लिया और वैदिक या ऋषिवांसे उसी रूपमें मन्त्रोंके दर्शन भी कर लिए थे।

छन्दोंकी परिभाषा

इन सब छन्दोंको देखते-देखते प्रतीत होता है कि स्मृतिमें स्थिर रखनेके लिये, पठनेमें शिखरता, माधुर्य और गति प्राप्त करनेके लिये ही छन्दोंकी सृष्टि की गई इसलिये छन्द उस शब्द-योजनाको कहते हैं जो किसी विशेष नियमसे अक्षर या मात्राओंके बन्वतमें बँधी हुई चलती हो। इसी-लिये अभिनवभरतने ऊपर ही परिभाषा दे दी है कि शब्दों की गतिज्ञा संयम ही छन्द कहलाता है। यों छन्द शब्दका अर्थ भी है शासन, अर्थात् शब्दोंके प्रवाहपर शासन करना ही छन्द कहलाता है। हमारे यहाँ यों तो लौकिक छन्दःशास्त्रपर अनेक ग्रन्थ मिलते हैं किन्तु उनमें महर्षि पिङ्गलाका बनाया हुआ ग्रन्थ ही सर्वाधिक प्राचीन और प्रामाणिक माना जाता है। पिङ्गलाचार्यने अपने महाग्रन्थमें एक करोड़ सड़सठ लाख सतस्र सदस्र दो सौ सोलह प्रकारके वर्णवृत्तोंका उल्लेख किया है जिनमेंसे लगभग पचास छन्द ही लौकिक संस्कृत वाक्योंमें प्रयुक्त हुए हैं।

ॐ मात्रा-वर्ण-यति गति-पद-पदान्त-नियमनं संयमः ॥
[मात्रा, वर्ण और यति गतिज्ञा, पद-पदान्तका नियमन संयम ।]

ऊपर कहा गया है कि गतिके संयमको छन्द कहते हैं। इस गतिके संयममें इस बातका ध्यान रखना पड़ता है कि छन्दमें कितने पद हों, प्रत्येक पदमें कितनी मात्रा या कितने वर्ण हों, कहाँ यति हो, कण्ठोंकी सगति किस प्रकार हो

और चरणोंके पदोंमें किस प्रकारका मेल हो। अतः छन्द-शास्त्रोंको भली प्रकार समझनेके लिये इन सब पारिभाषिक शब्दोंको भली भाँति समझ लेना चाहिए।

मात्रिक और वर्णिक वृत्त

ॐ मात्रिक चरिणौ वृत्तौ ॥

[छन्द-भेद दो मात्रिक वर्णिक ।]

छन्द दो प्रकारके होते हैं, एक मात्रिक, दूसरा वर्णिक। मात्रिक छन्द उसे कहते हैं जिसके प्रत्येक चरणकी नाप मात्राओं गिनतीसे की जाय और वर्णिक छन्द उसे कहते हैं जिसके प्रत्येक चरणकी नाप वर्णोंकी या अक्षरोंकी गिनतीसे की जाय।

मात्रा

ॐ सस्वराः ह्रस्ववर्णा एक मात्रिकाः, दीर्घाश्च द्विमात्रिकाः।

[सस्वर ह्रस्व एक मात्रिके, दीर्घ समोदो मात्रिके ।]

स्वर ह्रस्व वर्ण एक मात्रावाले और दीर्घ वर्ण दो मात्रावाले कहलाते हैं—अ, इ, उ, ऋ तथा ए, ऊ ऋ मात्रावाले क से इ तक मात्रिके अक्षरोंकी एक मात्रा मानी जाती है (कि, कु, कृ आदि) और आ, ई, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः तथा आ, ई, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः की मात्रावाले क से इ तकके (का, को, कू, के, कै, को, कौ, कं, कः आदि) समी अक्षरोंकी दो मात्राएँ मानी जाती हैं।

ॐ संयुक्ताद्यं सानुस्वारं विसर्गसहितमक्षरं गुरु एव ॥

[संयुक्ताक्षरसे पहले या हो अनुस्वारके सग आता या विसर्गके साथ वर्ण हो वह भी गुरु ही कहलाता ।]

जहाँ दो अक्षर मिले हुए हों उनसे पहले आनेवाला अक्षर भी दीर्घ गिना जाता है जैसे ‘मर्म’ शब्दमें ‘मं’ अक्षर ‘रु और म’ से मिला हुआ संयुक्त वर्ण है इसलिये उससे पहले आनेवाला ‘मं’ अक्षर दीर्घ अर्थात् दो मात्राका गिना जायगा। इसी प्रकार जिन अक्षरोंपर अनुस्वार हो जैसे ब्रह्म, बंठ, फंख, उन्हे भी दीर्घ समझना चाहिए और उनकी भी दो मात्राएँ गिननी चाहिए। अतः उपर्युक्त शब्दोंके ‘चं’, ‘कं’ और ‘पं’ में दो दो मात्राएँ ही गिननी चाहिए। यही नियम विसर्गके साथ भी है जैसे दुःख शब्दमें ‘दुः’ को दीर्घ समझना चाहिए और उसमें दो मात्राएँ गिननी चाहिए।

ॐ वह न्ह स्हापवादः हिन्द्याम् ।

[हिन्दीमें ह, रव न्ह न्ह अपवाद।]

किन्तु हिन्दीमें वह 'न्ह' और 'ह' संयुक्त होते हुए भी पूर्ण संयुक्त नहीं उच्चरित होते, साथ-संयुक्त उच्चरित होते हैं अतः इनके पहले आनेवाला अक्षर दीर्घ नहीं होता । जैसे 'कुह्लावा', 'हाहावा', 'कुशा' में 'कु' व' और 'कु', की एक ही मात्रा गिनी जायगी।

पादान्तकी दीर्घता अर्थीकृता

ॐ पादान्तर्ध्वत्वमप्र.हमभिनवभरतेन ।

[अभिनवपत्त न प्राण समभते पादान्तोको दीर्घ मानना]

कुछ संस्कृतके आचार्योंने यह कहा है कि इलोकेके चरणोंने अन्तमें आनेवाले लघुको भी विकल्पसे अर्धान् कमी कमी दीर्घ ही समझना चाहिए किन्तु अभिनव-मत्त इसे नहीं मानते हैं। विकल्पका प्रयोग करण अर्ध्वेकविका गुण नहीं है।

लघु और गुरु

ॐ एक मात्रिको लघुर्दिभात्रिको गुरुः ।

[लघु है एक मात्रावाला और दीर्घ दो मात्राका]

पारिभाषिक शाब्दावलीमें एक मात्रावाले अक्षरकी लघु और दो मात्रावाले अक्षरकी गुरु कहते हैं। दोनोंको संकेतमें व्यक्त करनेके ये लक्षण हैं—

लघु = 1

गुरु = 5 या 11

मानकी कला भी कहते हैं।

उच्चारणके अनुसार लघुत्व-गुरुत्व

ॐ उच्चारणस्थितं लघुत्वं गुरुत्वं च ।

[उच्चारणपर ही स्थित हैं अर्ध-लघुत्व गुरुत्व।]

यह धरना रखना चाहिए कि लघु या गुरुका निर्णय उच्चारणपर निर्भर है। कमी कमी कुछ अक्षर लिखे तो जाते हैं दीर्घ, पर उच्चारित किए जाते हैं लघु ही, जैसे—अपनेके बारे छोड़ो गईं सुत गोदके भूरतिले निकले।

इसमें रेखांकित अक्षर 'के' दे, रे, के देखनेमें तो दीर्घ

या गुरु है किन्तु उच्चारणमें लघु या लघु हैं अतः इन्हें लघु ही मानना चाहिए और इनकी एक ही मात्रा गिनी जायगी।

मात्रिक और वर्णिक छन्दमें अन्तर

हम ऊपर बता आए हैं कि छन्द दो प्रकारके होते हैं—मात्रिक और वर्णिक। निम्न छन्दमें प्रत्येक वर्णकी मात्रा गिनी जाती है उद्ये मात्रिक और जिसमें प्रत्येक वर्णकी मात्रा उसके वर्ण या अक्षर गिनी जाती है उद्ये वर्णिक कहते हैं।

पोस्यामी तुलसीदासजीकी एक चौपाई लोजिए

मौनी नाम न केरु आना । = १० वर्ण

५५ ५ । । ५ ।। ५ ५ = १६ मात्राएँ

कहर गुरार मरु में जाना ॥ = १२ वर्ण

।।।। ५ । ।। ५ ५ ५ = १० मात्राएँ

चलन कमज रज करे लय कहर । = १५ वर्ण

।।।।। ।। ।।। ।। ५ = १६ मात्राएँ

मातुल कर्मि मूर्ति कष्ट अहं । = १२ वर्ण

५ ।। ।।। ५ । ।। ।। ५ = १६ मात्राएँ

इसके चार चरणोंमें प्रत्येकमें मोलद-मोतद म प्रादें किन्तु वर्ण १०, १२, ११ और १६ हैं इसलिये यह मात्रिक छन्द है वर्णिक नहीं।

अब उन्हींका दूसरा लक्षण लोजिए—

अप राम रमा रमणं रामनं

भगतप भगवतुत पादि जनं ।

आपेप सुरेश रमेध विमो,

गरखानत मागत पादि प्रमो ।

इसके प्रत्येक चरणमें बारह बारह वर्ण हैं अतः यह वर्णिक छन्द है।

शुभ अशुभ और दग्धाक्षर वर्ण

ॐ भद्ररभयाः दग्धाक्षराः ।

[भद्ररभय हैं दग्ध अक्षर]

द्वारे यहाँ छन्दपरिचरिनी मात्रिक और

वर्णिक भेदोंतक ही नहीं छोड़ा है। उन्हींमें यह भी विचार किया है कि अक्षरोंमें कौन अक्षर शुभ हैं, कौनसे अशुभ हैं और कौनसे दग्धाक्षर अर्थात् अक्षरत्व त्याग्य हैं। इसका कारण यही है कि

हमारे यहाँ प्रत्येक अक्षर भी सार्थक शब्द है। इन अक्षर-शब्दोंमेंसे जो शुभ मंगलकारी वस्तुवाची या श्रेष्ठ देश-वाची हैं वे शुभ माने गए हैं, जिनके अर्थोंमें अन्य अर्थोंके साथ साथ अमंगलकारी वस्तु भी ध्वनित होती है वे अशुभ और जिनके अर्थोंमें अग्नि, दैत्यराज, दैत्यगुह, विनाश आदि आते हैं उन्हें दग्धाक्षर बताया गया है और उनका प्रयोग काव्यके प्रारंभमें वर्जित और निषिद्ध माना गया है। इस विचारके अनुसार तीनों प्रकारके अक्षरोंकी तालिका नीचे दी जाती है—

शुभ अक्षर—अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ लृ ए ऐ ओ औ अः क ख ग घ ञ छ ज ड द ध न य श स च ।

अशुभ अक्षर—ड भ्र ज ट ठ ढ य त य प फ ब भ म र ल व ष ह ।

दग्धाक्षर—भ्र ह र म य

अपवाद

ॐ देववाचित्वदीर्घत्वापवादेन दग्धाक्षर प्रयोगो वध्यः ।

[देव शब्द या दीर्घ छोड़कर दग्धाक्षर हैं वध्य ।]

यदि उपर्युक्त दग्धाक्षरोंमेंसे किसी वर्णका प्रयोग पद्यके प्रारंभमें करना ही पड़े तो उसे दीर्घ कर दे जैसे भ्र, भ्रौ, झ, झे, भ्रौ, भ्रौ आदि या उस दग्धाक्षरसे प्रारंभ होने वाला शब्द देववाची कर दिया जाय जैसे हरि, खुषति, भरत, आदि

मात्रिक और वर्णिक वृत्तके उपभेद

ॐ समाद्ध समविपमाः ।

[हैं सम और अर्द्धसम या तो विपम चरणके वृत्त]

जिन छन्दोंके चारों चरणोंके वर्ण या उनकी मात्राएँ समान हों उन्हें समवृत्त कहते हैं। जिनके पहले तीसरे और दूसरे-चौथे चरणोंकी मात्राएँ या वर्ण समान हों उन्हें अर्द्धसम कहते हैं। जिन छन्दोंके चारों चरणोंकी मात्राओं या वर्णोंकी संख्या भिन्न-भिन्न हो उन्हें विपम कहते हैं।

गाण और उनके फल

हमारे आचार्योंने वर्णोंके क्रमको छन्दमें व्यवस्थित

करनेके लिये तीन तीन अक्षरोंके आठ गण या अक्षर-समूह बना दिए हैं जिनके प्रयोग और फलका विवरण इस प्रकार दिया गया है—

मो भूमिः ध्रियमातनेति यजलं वृद्धिं चाग्निमृत्तिम् ।

सो वायुः परदेशदूरगमनं तव्योमशन्त्यं फलम् ॥

जः सूर्यो रजगामददाति विपुल भेन्दुर्यशो निर्मलम् ।

नो नाकश्च सुखप्रदः फलमिति प्राहुर्गणानां सुधाः ॥

[श्रुतबोध]

गण	देवता	फल	लक्षण
मगण	भूमि	धन	ऽऽऽ (तीनों गुरु)
नगण	स्वर्ग	सुख	।।। (तीनों लघु)
भगण	चन्द्रमा	यश	ऽ।। (गुरु लघु लघु)
वगण	जल	वृद्धि	।ऽऽ (लघु गुरु गुरु)
जगण	सूर्य	रोग	।ऽ। (लघु गुरु लघु)
रगण	अग्नि	मृत्यु	ऽ-ऽ (गुरु लघु गुरु)
सगण	वायु	प्रवास	।।ऽ (लघु लघु गुरु)
तगण	आकाश	द्यूय	ऽऽ। (गुरु गुरु लघु)
गुरु	ऽ		
लघु	।		

स्मरण रखनेके लिये यह सूत्र अधिक सहायक होगा—
यमातायजमानसलंगं ।

इस सूत्रमें सब गणोंके नाम भी क्रमशः यगण, मगण, तगण, रगण, जगण, भगण, नगण सगण लघु और गुरु आगए साथ ही प्रत्येक गणसे प्रारंभ होनेवाले अक्षरको लेकर उसके आगेके दो अक्षर मिलाकर उनही मात्राओंको देखकर जाना जा सकता है कि क्रमिक गणमें गुरु लघु मात्राओंका क्या क्रम है। मान लीजिए आपको भगणका जानना है तो ऊपरके सूत्रसे भगणका बोधक 'मा' ले लीजिए और उसके आगेके दो अक्षर ले लीजिए न और स। ये तीनों मिलकर हुए 'मानस' अर्थात् इसमें ऽ।। एक गुरु और दो लघु वर्ण होंगे।

इन्हीं नियमोंके अनुसार हमारे यहाँ अनेक कवियोंने अनेक प्रकारके छन्दोंका आविष्कार किया और इन्हीं छन्दोंमें कविता और गीतका निर्माण किया गया। ये छन्द एक मात्रावाले या एक वर्णवाले अक्षरोंसे प्रारंभ होकर ३२ मात्रा और २६ अक्षरों तक के हैं।

मासिक छंद—

वर्षवृत्त

क्र.सं.	नाम	छंदमेद	वर्षवृत्त	मेद
१	चान्द्र	१	वैश्वि	२
२	प्रायिक	२	वैश्वि	४
३	राज	३	वैश्वि	८
४	वैदिक	४	वैश्वि	१६
५	शाश्विक	८	वैश्वि	३२
६	रागी	१२	वैश्वि	६४
७	लौकिक	२२	वैश्वि	१२८
८	वासव	३४	वैश्वि	२५६
९	भांरु	५४	वैश्वि	५१२
१०	दैनिक	८९	वैश्वि	१०१४
११	रीढ़	१४४	वैश्वि	२०४८
१२	आदित्य	२३३	वैश्वि	३६५२
१३	मागवत	३७७	वैश्वि	५६८८
१४	मानव	६१०	वैश्वि	८६४०
१५	तैमिक	९८७	वैश्वि	१३६९६
१६	संस्कारी	१५७७	वैश्वि	२१६९६
१७	महासंस्कारी	२५८४	वैश्वि	३६५२८
१८	पौराणिक	४१८१	वैश्वि	५६८८०
१९	महापौराणिक	६७६५	वैश्वि	९६४८०
२०	महादैनिक	१०९४९	वैश्वि	१५६९६०
२१	त्रैलोक्य	१७७११	वैश्वि	२४६९६०
२२	महारौद्र	२८६५७	वैश्वि	४१६९६०
२३	शेख कं	४६३६८	वैश्वि	६४६९६०
२४	अनतारी	७५०२५	वैश्वि	१०६९६०
२५	महावतारी	१११३६३	वैश्वि	१६६९६०
२६	महामागवत	१६६४८	वैश्वि	२४६९६०
२७	नाट्यिक	२४८२११	वैश्वि	३६६९६०
२८	योगिक	५१४२२९	वैश्वि	५६६९६०
२९	महायोगिक	८२१०४	वैश्वि	८६६९६०
३०	महातैमिक	१२४६२६९	वैश्वि	१६६९६०
३१	अष्टावतारी	२१७८३०९	वैश्वि	२८६९६०
३२	लाक्षणिक	३४२४५७८	वैश्वि	४६६९६०

वैश्वि मासिक छंद १ मासाके ३२ मासा तकके होते हैं जैसे ही वृत्तिक भी एक वर्षके २६ वर्ष तकके होते हैं ।

वर्षवृत्त	नाम	मेद
१	उत्तमा	२
२	अस्तुत्तमा	४
३	मध्या	८
४	प्रतिष्ठा	१६
५	सुप्रतिष्ठा	३२
६	मानवी	६४
७	उणिक्	१२८
८	अनुष्टुप्	२५६
९	बृहती	५१२
१०	पंक्तिः	१०१४
११	विष्टुप्	२०४८
१२	जगती	४०९६
१३	अभिजगती	८१९२
१४	शकरी	१६३८४
१५	अतिशकरी	३२७६८
१६	अष्टिः	६५५३६
१७	अत्यष्टिः	१३१०७२
१८	वृत्तिः	२६२१४४
१९	अतिवृत्तिः	५२४२८८
२०	छृत्तिः	१०४८५७६
२१	महृत्तिः	२०९७१५२
२२	आहृत्तिः	४१९४३०४
२३	चिहृत्तिः	८३८८६०८
२४	संस्कृतिः	१६७७७२१६
२५	अतिचिहृत्तिः	३३५५४४३२
२६	उच्छृत्तिः	६७१०८८६४

कुछ वर्ग-स्वयम् छन्द भी होते हैं जिनका प्रयोग महाराष्ट्री प्राकृत और संस्कृतमें मिलता है ।

रस या वर्णनके अनुसार छन्दयोजना

हम ऊपर कह आए हैं कि छन्दोंकी योजना अथवा गीतोंकी योजना रस और भावके अनुसार होनी चाहिए

ये मेद केवल प्रायिक समके हैं । मासिक अथर्वम और मासिक विषमके भी इसी प्रकार अनेक मेद हो सकते हैं ।

अर्थात् छन्दोंकी शब्दावलीमें ही नहीं बरन् उनकी गति या लयमें भी रस और भाव समझनेमें सुविधा हो जैसे हिन्दीमें रूप्य और घनाक्षरीका प्रयोग घोर, भयानक और रौद्रके लिये किया गया है। महाकवि क्षेमेन्द्रने अपने सुवृत्तनिक ग्रन्थमें छन्दोयोजनाके संबन्धमें एक विशेष पद्धतिकी स्थापना की है—

आरम्भे सर्गबन्धस्य कथाविस्तारसमये ।

समोपदेशवृत्तान्ते सन्त शसन्त्यनुष्टुभम् ॥

१ गाराजम्बोदारनायिका—रूप—वर्णनम् ।

वसन्तादि तदद्ग च सञ्ज्ञाप्यमुपजातिभि ॥

रथोद्धता विभावेषु भय्या चन्द्रोदयादियु ।

पाङ्गुण्यप्रगुणा नीतिर्वैशस्येन विपञ्जते ॥

वसततिलक भाति सङ्करे वीररौद्रयोः ।

कुर्वात् सर्गस्य पर्यन्ते मालिनी द्रुततालवत् ॥

उपपन्नपरिच्छेदकाले शिलरिणी मता ।

श्रीदार्पणचिरीचिचल-रिचारे हरिणी मता ॥

साक्षेपकोधधिकारे पर पृथगीभरक्षमा ।

प्रावृटप्रमाणव्यसने मन्दाक्रान्ता विराजते ॥

शौर्यस्तवे नृपादीना शार्दूलकीडितं मतम् ।

सावेगपरनादीना वर्णने स्वभय मता ॥

दोषस्तोत्रकनकुटयुक्त मुक्तकमेव विराजति सूक्तम् ।

निर्विषयस्तु रमादिषु तेषां निर्निवमश्च सदा विनियोग ॥

शोपायागम्यनुक्ताना वृत्ताना विषय विना ।

वैश्विमात्रपानाणां विनियोगो न दर्शितः ॥

इत्येष वश्यवचसा सर्ववृत्त प्रसंगिनाम् ।

श्रोदविभाग सद्वृत्तिविनिवेशे विशेषपठित् ॥

[सर्गके प्राग्भमें, कथाका विस्तार कम करनेके लिये, उचित उपदेश और वृत्तान्त कहनेमें सज्जन लोग अनुष्टुप्का प्रयोग करते हैं। उपजाति छन्दमें शृंगार, उसके आलम्बन तथा नायिकाके रूपवर्णन और वसन्त तथा उसके अगोका वर्णन किया जाता है। विभाव अर्थात् चन्द्रोदयादि उद्दीपनमें रथोद्धता छद्मका और पाङ्गुण्य नीतिका वर्णन वश्यस्य छन्दमें शोभा देता है। घोर और रौद्रके मेलमें वसन्ततिलका और सर्गके अन्तमें द्रुत तालवाली मालिनीका प्रयोग किया जाना चाहिए। परिच्छेद या विभाजन करनेके लिये शिलरिणीका प्रयोग हो तथा उदाहरण रुचि और औचित्यका विचार करनेमें हरिणीका

प्रयोग हो। राजाश्रीके द्वारा आश्लेष, कांघ तथा चिक्कार, और वर्षा प्रशम तथा दुःखमें मन्दाक्रान्ता छन्द, राजाश्रीका शौर्य वर्णन करनेमें शार्दूल कीडित, श्रीचोका वर्णन करनेमें स्ववरा तथा दोषक, मुक्तक सूक्तयोंके लिये तोटक और नक्षुटका प्रयोग होना चाहिए]

महाकवि क्षेमेन्द्रने कालिदासकी छन्दोयोजनाका

विरलेपण करते हुए यह बताया है कि—

सुवशा कालिदासस्य मन्दाक्रान्ता प्रश्लगति ।

सदररुद्भनस्येव कम्बोजुगुणाङ्गना ॥

सुवर्णाईप्रबन्धेषु यथास्थान निवेशिनाम् ।

रत्नानामपि वृत्ताना भरत्य-पथिका रुचि ॥

[जैसे अच्छा सुदसवार अच्छी कावोजीधोड़ी को अपने घरमें करके उतार सगरी करती है वैसे ही कालिदास भी मन्दाक्रान्ताको अपने घरमें किए हुए हैं। सुन्दर वर्णवाले प्रबन्ध काव्योंमें छन्दोंका प्रयोग वैसी ही कलाके साथ करना चाहिए जैसे सोनेमें रत्न यथास्थान जड़े जाते हैं।]

रीति ग्रन्थकारोंने काव्य-शोध गिनाते हुए हतवृत्तता नामक दोष भी लिखा है। उनका कहना है कि जो-जो वृत्त रसने स्वभावसे विपरित पढ़ता हो उसका प्रयोग उस रसके लिये करना ही हतवृत्तत्व दोष है। इसका साधर्व्य यह है कि रसका छन्दसे स बध अवश्य है। यद्यपि इस विषयपर एक ऐसे पृथक् निबन्धकी आवश्यकता है जिसमें विभिन्न रसोंके अनुगुण छन्दोंकी योग्यता विस्तारके साथ समझाई जाय किन्तु इस समय हम केवल यही विचार करना चाहते हैं कि महाकवि कालिदासने अपने काव्योंमें किन रसों, भावों तथा वर्णनोंके लिये किन छन्दोंका प्रयोग किया है।

छन्द विषय भाव या रस

१. उपजाति—वैशवर्णन, तपस्या तथा नायिका नायिकाका सौन्दर्य ।
२. अनुष्टुप्—लम्बी कथाको स सित करने तथा उपदेश देनेमें ।
३. व शस्य—गीरता-प्रकरणमें, चारे युद्ध हो या युद्धकी तैयारी हो रही हो ।
४. वैतालीय—कुरुण रसमें ।
५. द्रुतविलम्बित—समृद्धिके वर्णनमें ।
६. रथोद्धता—जिस कर्मका परिणाम खेदके रूपमें परिणत

-हो चाहे वह खेद रति-व्यनित हो, दुःखम-व्यनित हो या पश्चात्ताप-व्यनित हो। अतएव काम-जीवना, आखेट आदिका वर्णन इस छन्दमें है।

७. मन्त्रज्ञान्ता—प्रभाव, विपत्ति तथा वर्णोंके वर्णनमें।
८. मालिनी—सधनताके साथ पूर्ण होनेवाले सर्गके अन्तमें।
९. प्रदक्षिणी—इर्षके साथ पूर्ण होनेवाले सर्गके अन्तमें। यदि गण्यमें भी कहीं इच्छाका प्रयोग है तो वहाँ भी दुःखकी धारामें हर्ष या इर्षकी धारामें हर्षातिरेक ही वर्णित है।
१०. हरिणी जब नायकका अश्रुतुषण हो या सोमाग्नका वर्णन हो।
११. वसन्ततिलका—कार्यकी सकलतापर। अश्रु-वर्णनमें भी पुरुषोंकी सकलता या स्त्रियोंकी सकलता तभी सिद्ध हो सकती है जब उसका उपभोक्ता उन वस्तुओंका उपभोग कर रहा हो।

इस प्रकार सकलताके लिये, प्रस्थान या प्राप्तिमें पुणित्वाप्त, निराशाके साथ निवृत्तिमें लोटक, कृत-कृत्यतामें धातिली, वृथा खोस्ता-प्रदर्शनमें श्लेषव्यन्तरिक, क्रांष्टके वर्णनमें (चाहे कामक्रोधा हो या अन्य) रशो-द्वन्ता, संयोगते स्वर्ण-प्राप्त विपत्ति या संसर्चिमें स्वप्नता, धनयष्टमें मत्तयष्ट, प्रसन्नताका पतित्वाप्त करनेमें नायक तथा नीरता आदिक वर्णनमें शार्दूलविकीटितका प्रयोग किया गया है।

ॐ अभिनवभारतस्य सद्गमतिः।

[अभिनवभारत यहाँ छद्मगत है।]

ऊपर चोमेजने जो विवरण दिया है और जिन-जिन छन्दोंमें जिस-जिस प्रकारके वर्णनको योजना की है उससे अभिनवभारत पूर्णतः सहमत है किन्तु छन्दोंकी संख्या और उनका प्रयोग अपेक्षित है। कौन कवि किस छन्दमें किस प्रकारकी कविता रचे या गीत तिले यह कविनी व्यक्तित्त चतुरता और यत्न दृष्टिकर अवस्थित है। इस संबंधमें मनुष्यका ज्ञान सबसे अधिक प्रायोगिक है। किसी भी छन्दको पढ़ने हुए कानके द्वारा हृदयपर जिस प्रकारका प्रभाव पड़े वेसे ही प्रभावके वर्णनके लिये वह छन्द उपयुक्त समझना चाहिए। जिस प्रकार संगीतके आचार्योंने विभिन्न रागोंका विभिन्न रवोंके उपयुक्त बताया है वैसा विवेचन गीतवाचकोंने नहीं किया और फिर जिस

उदारतासे उन्होंने छन्दोंके लगभग ङेड़ करोड़ भेद गिना दिए हैं, उन्हें प्लानमें रखते हुए यह संभव भी नहीं था कि उनमेंसे प्रत्येकके संबंधमें वे रसका भी निर्देश कर देते। ऐसी स्थितिमें अतः नर-ग्रहण-प्रवृत्तिसे कानके साक्षरसे प्रमाण मानकर चलना ही अनेककर सिद्ध होगा।

हिन्दीमें जिनने छन्द प्रयुक्त हुए हैं वे सब संस्कृत विगतपर ही अवलंबित हैं इवलिये नीचे हम हिन्दीके सम, अर्द्धसम तथा विषम मात्रिक तथा यमिक छन्दोंके लक्षण भाग्यके काव्य-प्रभाकरके आचारपर दे रहे हैं—

मात्रिक सम—

चौपाई—चौपाईके प्रति पदमें १६ मात्राएँ होती हैं अन्तमें अगल श्रौर तगगत नियम है—

इस जीवनाका एक सहारा। सम नाम ही है भुवता। सम नाम जो नित्य मुनावे। मम सागरसे वह तर जवे ॥

किसी छन्द, सवारी, सत या विष्णु पात्रके तामपूर, चिकारे या इकवारेके साथ मजन या रियमके गीत गयानेके लिये इस छन्दका प्रयोग किया जा सकता है। मैरको, सोदनी तथा विहागमें अथवा ज्योतिर्गो रगिनियोगमें यह गयना जा सकता है।

कुण्डल—कुण्डलके प्रत्येक पदमें २२ (१२, १०) मात्राएँ होती हैं, अन्तमें दो सुट हाते हैं।

मजले मन गय नाम, साथ दे न कोई।

इतने दिन बीत गए, व्यर्थ बड़ी खोई।

चंचल मन एक बात, मानता न कोई।

इसके ही कारणसे, पाय-गाँठ टोई ॥

इस छन्दका प्रयोग भी साधु सन्तोंके हाथ उद्बोध-अथवा प्रातःकालकी आचरण-वेज्ञामें उद्बोधनके लिये प्रयुक्त कन्या जा सकता है। प्रातःकालके सब रागों अं रगिनियोगमें इसका प्रयोग ही सकता है।

रोला—रोलामें ११, १३ के विभासे २४ मात्रा होती हैं। कितो कितोका मन है कि इसके अन्तमें २ आवश्यक हैं किन्तु अभिनवभारत यह नहीं मानते—

तो जुआर उम बाँप, गलेमें हाथ जोड़ ला,

और दुष्टता जोड़, कुपसे पाँच मोड़ लो ॥

बलो रामके पस, किद सौताके आगे।

परी समस लो भाय, हृदयारे फिरसे आगे ॥

यह छन्द उपदेश या आदेश भरे पाठ्य पदोंके लिये व्यवहृत किया जा सकता है। गीतोंके लिये उक्त नहीं है।

द्विपाल-द्विपालमें १२, १२ विश्रामसे २४ मात्राएँ होती हैं पाँचवीं और सत्रहवीं मात्राएँ लघु होनी चाहिए—
तुम फौन हो, कहाँसे आए यहाँ बताओ।
पिछली कथा कहानी, अपनी हमें सुनाओ ॥
सत्र जान धूम कर भो, इसमें फँसे हुए हो।
तुम शुद्ध मुक्त होकर इसमें कचे हुए हो ॥
इसका प्रयोग भी साधु सन्तोंको पाठ्यवाणीके लिये किया जा सकता है, गीतके लिये नहीं।

विष्णुपद-विष्णुपदमें १६ और १० के विश्रामसे २६ मात्राएँ होती हैं। अन्तमें गुरु होना चाहिए—
यथा अवयथा सब मिले भाग्यसे, सबका भला करो।
जैसे बने करो जनसेवा, भवसे शीघ्र तरो ॥
जगमें एक स्मार्थका नाता किसका काम करें।
वेधासे हे मेमा मिलती, जीवन-मन्त्र धरें ॥
आशीर्वाद, भगलकामना और विनयके लिये इसका प्रयोग किया जाना चाहिए।

गीतिका-गीतिकामें १४, १२ के विश्राम से २६ मात्राएँ होता हैं। अन्तमें लघुगुरु होते हैं तथा तीसरी, दसवीं, सत्रहवीं और चौबीसवीं मात्राएँ सदा लघु हाती हैं—
हे प्रभो रघुबीर अपनी भक्ति मुझको दीजिए।
शुद्ध करके मन हमारा, पाप सब हर लीजिए ॥
आपके पदपद्ममें मन, भुंग बनकर जा बसे।
मुक्त होकर यह न भवके पाशमें फिर जा पँसे ॥
प्रार्थनाके अतिरिक्त, तर्जना, ललकार, विवाद, चुनौतीके लिये भी प्रयोग किया जा सकता है।

सरसी-सरसीमें १६, ११ के विश्रामसे २७ मात्राएँ होती हैं। अन्तमें गुरु लघु होना चाहिए—
मुझपर दया करो हे भगवन्! घट-घट-ज्यापी आप।
कैसे मैं चरणोंमें पहुँचूँ, मनमें मेरे नाथ।
शरणागतके रक्षक हो बस, यही भरोसा आज।
अबकी बार न यदि तर पाया, होगा बड़ा अकाम।
अत्यन्त विनयके लिये इसका प्रयोग किया जाना चाहिए।

सार-सारमें १६, १२ के विश्रामसे २८ मात्राएँ होती हैं। अन्तमें दो गुरु होते हैं—

परम मनोरम राम नाम है, इस रसना की धारणी।
जिसके जनेसे होता है, मुक्त पातकी प्राणी।
श करने सब रामचरितकी, मथकर इसे निकाला।
हृन्मानने यही बनाई, अपने उरकी माला।
स्थान, धस्तु व्यक्ति या घटनाका वर्णन करनेके लिये इसका प्रयोग करना चाहिए।

हरिगीतिका-हरिगीतिकामें १६ २ के विश्रामसे २८ मात्राएँ होती हैं। अन्तमें लघु गुरु होना चाहिए।
पाँचवीं बारहवीं, उन्नीसवीं और छत्तीसवीं मात्रा लघु होती हैं—

तुमने रची किसके लिये यह कल्पना महिनामयी।
सब जीव आरत्र व्यर्थ पँसते, उलभते कृष्णामयी।
यह पन्द अपना तुम समेटो, और इतना काम हो।
मुक्त हों सब आपका भी, सुयश और सुनाम हो।
प्रार्थना तथा कथा-वर्णनमें इसका प्रयोग वाञ्छनीय है।

चवपैया-चवपैयामें १०, ८, १२ के विश्रामसे ३ मात्राएँ होती हैं। अन्तमें एक सगण और गुरु हो तो अच्छा है—

भे प्रगट हृपाला, दीनदयाला, कौसिल्या हितकारी।
हरित महतारी, मुनिमनहारी, अद्भुत रूप निहारी ॥
लोचन अभिरामा, तनुधनरयामा, निज आयुष भुञ्जकारी ॥
भूषण बनमाला, नयन विशाला शोभाविधु खरारी ॥
देवस्तुति वा वर्णनमें इस छन्दका प्रयोग हो सकता है।

श्रीरुहर-श्रीरुहरमें ८, ८, ८, ६ के विश्रामसे ३० मात्राएँ होती हैं। अन्तमें गुरु होना चाहिए—
मैं बहु दीना, सब गुणहीना, करिअ अधीना निज चरणा।
मम मति भोरी, कहाँ बहोरी, लखु मम श्रोरी जगततरणा।
क्लेश नसेये, मुदि अपनैये, अब न यिनैये भयहरणा।
जय जय शकर, जय जय शकर, जय जय शकर, तव शरणा।
आर्त्त या कष्ट गुकार तथा दैन्यपूर्ण कष्ट-निवेदनके लिये इसका प्रयोग होना चाहिए।

वीर-वीरमें ८, ८ १९ के विश्रामसे ३१ मात्राएँ होती हैं। अन्तमें गुरु लघु होते हैं। वीरतापूर्ण काव्योंमें इसका प्रयोग किया जा सकता है। अल्ला इखी दगपर गाया जाता है—

सुमिरि भवानी जगदंबा को, श्री शारदा चरन मनाय।
आदि सरस्वति तुमकी ध्यावी, माता कंठ बिरागी आप ॥

जोति बलानो जगदंबा कै, जिनकी बला बरनि ना जाय ।
शरदचन्द्र सम आनन राजे, अति छवि अंग अंग रहि छाय ।
त्रिभंगी—त्रिभंगीमे १०, ८, ८ और ६ के विभामते
३२ मात्रार्थ होती है । इसमें जगणका निषेध है और अन्तमें
गुरु होता है । हात्तरसदे हास्यात्मक वर्णनके लिये इसका
प्रयोग उचित है ।

निदि औ अदि मुख, खनि बत धामकी,
दानि शुभसाहना-सुख-जिनेतू ।
मुक्ति-मुक्ति-पदे, वाणि महायानी,
प्रणत ईश्वरी कहै शरण दे दू ॥

मात्रिक अर्द्ध सम

चरचै—चरचैके पहले और तीसरे चरणमे बारह
बारद मात्रार्थ होती हैं तथा दूसरे और चौथे में सत-
धात । अन्तमें अणग होता है । शृंगार तथा कल्याण वर्णनोंमें
यह अत्यन्त सुन्दर लगता है ।

शम अंग शिव शोभित विद्या उदार ।
सरद-सुवारिद मे जसु लखित विहार ॥
इसे ध्रुव और कुंरंग भी कहते हैं ।
दोहा—दोहेके पहले और तीसरे चरणमे तेरह तेरह
और दूसरे तथा चौथे चरणमे बारह-बारह मात्रार्थ
होती हैं । विभाम चरणोंके आदिमें जगण नहीं होना
चाहिए । अन्तमें लजु होता है—

श्री गुरुवर शक्तिचरणन, रम्यतमण मगगान ।
धनुष-बाण धारण शिष्य, ब्रह्म सु मम उर आन ॥
इसका प्रयोग छत्र शान्तोंमें किया जा सकता है ।

सोरठा—सोरठके विभाम चरणोंमें गणह-गणह और
तम चरणोंमें तेरह तेरह मात्रार्थ होती हैं । तम चरणोंमे
जगणका निषेध है । सोरठा दोहेका उलटा होता है—

भरक्यो जको वीच, भेद न वातो नाहिए ।
जे चह माँगे जीव, तामे नैकु न राहिए ॥
इसका प्रयोग उपदेश, उदाहरण, निर्देश, व्यंग्यात्मक
कथन तथा विशिष्ट लक्षण-प्रदर्शनमें करना चाहिए ।
उल्लाला—उल्लालाके विभाम चरणोंमें फरह और
तम चरणोंमें तेरह-तेरह मात्रार्थ होती हैं—
कह कबित कहा विन बचिब मति, मति सुकही विन ही चरित ।
कह बिरचित लाल गुनासके, चरखनि क्षेम जु मीति अति ॥
यह प्रायः छन्दयने वांछनीय वर्णनोंमें प्रयुक्त होता है ।

मात्रिक त्रिभम

कुलडलिया—में व चरण होते हैं । पहले एक
दोहा होता है । उसके परन्तु एक दोहा । प्रत्येक चरणमें
२४ मात्रार्थ होती चाहिए तथा प्रत्येक चरणका आदि

मात्रिक सम (द्रुंढरु)

करखा—करखामे ८, १२, ८, ९ की यतिस ३७
मात्रार्थ होती हैं । अन्तमें यणग होता है । वीरतापूर्ण
या उदात्त पराक्रमकी प्रशंसाके लिये इसका प्रयोग होना
चाहिए ।

नमो नरसिंह बलवंत नरसिंह प्रभु, सैतदिल फाम, अयनार धारो ।
षष्ठमेति निकसि भू दिनकश्यप भटक दे नखन को संविदारो ॥
ब्रह्म कलादे, सिर नाप धय धय कहव, मक प्रह्लादको गोद लीनो
प्रांति तो चादि, दे राव छुख राज सव, नागधरदसको
अभन दोनो ।

यदि २०, १७ पर यति मानी जावे तो पद हंसाल दंडक
कहालायगा ।

मूलना—मूलनामें १०, १०, ०, ७ के विभामते
३७ मात्रार्थ होती हैं । इसमें भी अन्तमें यणग होता है—
उदान गुणोंकी प्रशंसाके लिये इसका प्रयोग होना चाहिए ।

जयति दिम बालिका, अमुर कुल धर्मिका,
बालिका मालिका सुरम देव ।
छमुल हेरम्बकी अन्न जगदंबिके,
प्राण्यधिय-बल्लना वृषभकेतू ॥

अन्त एक वा होना चाहिए । इसका प्रयोग प्रायः
अन्योक्तिमें तथा नीति निर्देशके लिये करना चाहिए—

दोहा रोला जोरि कै, छैपद चौबिस मत्त ।

आदि अन्त पद एक सो, कर कुण्डलिया सत्त ॥

कर कुण्डलिया सत्त, मत्त विंगल धरि ध्याना ।

कविजन वाणी सत्त, करै सको कल्याना ॥

कह विंगलको दास, नाथ तू नो तन जोहा ।

उदप्रभाकर माहि लखें रोला अरु दोहा ॥

अमृतध्वनि—अमृतध्वनिका प्रयोग धीररसके वर्णनमें
होता है किन्तु इसमें शब्दोंके विपरीत मेलसे अर्थ अस्पष्ट
हो जाता है । फिर भी चमत्कारपूर्ण, वीरतापूर्ण वर्णनमें
इसका प्रयोग हो सकता है ।

अमृत धुनि दोहा प्रथम, चौबिस कल सानन्द ।

आदि अन्त पद एक धरि, स्वच्छचित्तरचउन्द ॥

स्वच्छचित्तरचउद ध्वनि लखि पददलि धरी ।

साजनमकतिनाब्रज्जमक, सुजानममदरि ॥

पददरि सिर विद्वानन, कर शुद्धध्वनि गुनि ।

चित्तरिधर करि सुद्धि हरि कह्यो अमृत धुनि ॥

छप्पय—छप्पयमें ६ चरण होते हैं । आरम्भके चार
चरण रोलाके और अन्तके दो उल्लानाके । वीरता पूर्ण
वर्णनके लिये इसका प्रयोग किया जाय ।

रोलाके पद चारि, मत्त चौबिस धारिए ।

उल्लाना पद दोय अत माहीं सुधारिए ॥

कहुँ अष्टादस होइ मत्त छत्रिस कहुँ देखो ।

छप्पयके सब भेद, मीत इकहत्तर लेखो ॥

लघु गुरुके क्रमते भई, बानी कवि भगलकरन ।

प्रगट कविनकी रीति भन, मानु भए विंगलसरन ॥

भी लघु होता है । अन्य वर्षोंके लिये कोई नियम नहीं
होता—जैसे रामचरितमानसमें ।

वर्णानामर्थ सघाना रसाना छन्दसामपि ।

भगलाना च कर्तागै, वन्दे वाणी विनायकौ ।

चम्पकमाला—चम्पकमात्रामें १० वण होते हैं—

एक भगण, एक यगण, एक सगण तथा अन्तिम वर्ण
गुरु होता है—

भूमि सगी ना मान वृथा हीं । कृष्ण सगो है या जग माहीं ॥

वाहि रिमैये ज्यों ब्रजबाला । डारि गलेमें चम्पकमाला ॥

इन्द्रवज्रा—इसमें ११ वर्ण होते हैं, दो तगण एक

जगण और अन्तमें दो गुरु—

गोष्ठे गिरि सव्य करेण धृवा रुधेन्द्रवज्राहति मुक्तवृष्णै ॥

यो गोकुल गोपकुल च सुस्थ, चक्रस नो रक्षतु चक्रपाणि ॥

उपेन्द्रवज्रा—उपेन्द्रवज्रामें भा ११ वर्ण होते हैं,

जगण, तगण जगण और दो गुरु—

त्वमेव माता च पिता त्वमेव । त्वमेव भ्युरच सखा त्वमेव ॥

त्वमेव विद्या द्रविण त्वमेव । त्वमेव सर्वे मम देवदेव ॥

दोघरु—दोघरुमें तीन भगण और दो गुरु होते हैं—

भागु न गो दहि दे भँदलाला । पाणि गई कह्यो ब्रजबाला ।

दोघ रुं सब आरत बानी । या मिति लै घर जायँ सयानी ॥

देन । सदोघ कदम्ब तलरथ । श्रीघर तावक नाम पद मे ॥

कउतलेऽनुविनिगमकाले । स्वल्पमपि क्षणमेध्वति योगम् ॥

भुजगी—भुजगी छन्दमें तीन यगण और लघु गुरु

होता है—

यचौ अन्तमें गान कै शकरा । सती नाथ सो नानुकाकरा ॥

करंगे वृषा शीघ्र गगा घरा । भुजगी कपाली विशूलधरा ॥

वशास्थविर—इसमें २ वर्ण होते हैं—जगण,

तगण, जगण और रगण—

जुवा शुभ्रै निज प व भावती ॥

मुती कहावे गति नीक पावती ॥

प्रया जु वशस्थ विलधि धावती ।

नसाय तानो कुनकी लभावती ॥

तोटक—तोटक भी १२ वर्णोंका वृत्त है किन्तु इसमें

चारो सगण होते हैं—

ससि सौं सखियों बिनता करती ।

डुक भँद न हो पग तो परती ॥

नर्णिक सम—

इनके प्रयोगका वणन हम पाछे संस्कृत छन्द शास्त्रके
प्रकरणमें कर आए हैं ।

विद्य न्माला—इसमें ८ वण होते हैं—दो भगण
और दो गुरु—

भोमे गगा थारो भक्ति । बाहे ऐसी दोजे शक्ति ॥

थारी वारी पीचीबाला । देखै लाजै विद्युन्माला ॥

अनुष्टुप—इसके चारो चरणोंमें पाँचवों वर्ष लघु
और छठो वर्ष गुरु होता है । समा चरणोंमें सातवों वर्ष

हरिके पद अंकनि द्रुतन दे ।
छिन तो टक लाय निहारन दे ॥
जयराम सदा सुखधाम रहे ।
रघुनाथक साथरु चाप घरे ॥
भव वारण दारण सिंह प्रभो ।
गुण सागर नागर नाथ विभो ॥

सखिवली—११ वर्योके इस वृत्तमें सभी रगण होते हैं—

घर री राधिका श्याम गो कपो करे ।
सीख मो मान ले मान काहे धरे ॥
चित्तमे सुन्दरी कोष ना आनिए ।
सखिवली मूर्तिको कृष्णकी धारिए ॥
मुजंगप्रयाते—मुजंगप्रयातमें चारों यगण

होते हैं—

यचौ मैं प्रभूतें यही ह्यम जोरी ।
फिरै अरुणें ना करौ बुद्धि मेरी ॥
मुजंगप्रयातोपना चित्त जाको ।
बुरै ना कदा भूलि कै संग ताको ॥

सुन्दरी—सुन्दरीमें नगण, भगण और रगणका क्रम रहता है—

नभ मरी विधु मासन आरारी ।
सुख प्रभा बहुभूषित नागरी ॥
भजन जो सोल बालमुकुन्द री ।
जगन सोहत यचपि सुन्दरी ॥

नवमालिनी—इसमें नगण, जगण, भगण और रगणके क्रमसे १२ वर्ण होते हैं—

निजभय छोडि चीन्ह हनु लीजे ।
अहि माहि नाथ आहु बलि सोजे ॥
किमि हनु तो प्रवेश इहि काला ।
ममु नवमालिनी सुमन माला ॥

राम—तेरह वर्णोंके इस वृत्तमें रगण, जगण, भगण और गुणका क्रम होता है—

रे अरा जगौ न नीद गाढ सोय रे ।
पाप देह मानुषो न जन्म खोड रे ॥
है अनंद राग जासु मुक्ति पाउरे ।
राम राम राम राम राम गाड रे ॥

वसन्ततिलका—इसमें चौदह वर्ण होते हैं, रगण, भगण, दो जगण और दो गुण—

तैं भोज जोग गुनि कै कहु लाम हानी ।
पौं मंडु बात सुनि कै कह दैवजानी ॥
हैं है सुशनि जग वै लह विश मोंगे ।
हो सर्वसन्ततिलका लखि मोट पारो ॥

वासन्ती—वासन्तीमें भगण, तगण, नगण, भगण और दो गुणके क्रमसे वर्ण होते हैं—

माता ! नौ मैं गंग ! चरण तोरे त्रैकाला ।
नालौ वेगी दुःख विपुल औरै जंजाला ॥
आके तीरा राम पहिर भूजाकी छाला ।
भूकन्याको देत सुमद वासन्तीमाला ॥
मालिनी—मालिनीमें दो नगण, एक भगण और दो जगण होते हैं—

न नमिय यह धारौ पार्य ! शिखा सुषन्या ।
कवहुं तजि इमारै मालिनी मूर्ति अन्था ।
जिनकर यह नेमा मित्र मैं देखि पावौ ।
तिन हित तब काम छोडि कै शीघ्र धावौ ॥

चामर—चामरमें रगण, जगण, रगण, जगण और रगणके क्रमसे १५ वर्ण होते हैं—

रोज रोज राधिका सखीन संग जाइ कै ।
लेत रास कांह संग निच हर्ष लाइ कै ॥
बोंसुरी समान बोल सप्त ग्वाल गाइ कै ।
कृष्ण ही रिक्तवहीं मुचामरै डुलावकै ॥

सीता—सीता में रगण, तगण, यगण, भगण और रगणके क्रमसे १५ वर्ण होते हैं—

रे तु माया रंच हूँ जानी न सीता राम की ।
हाय क्यों भूलो फिरै ना सीख मेरी कान की ॥
जन्म बीता जात मोता अन्त रीता बाबरे ।
राम सीता राम सीता राम सीता गाबरे ॥

पंचचामर—१६ वर्णोंके इस वृत्तमें जगण, रगण, जगण, रगण, जगण और गुणका क्रम होता है—

जु रोज रोज गोपतीय कृष्ण संग धावती ।
सुगीत नाथ पॉव सौ लगाय चित्त गावती ॥
कनौ खवाय दूध औ दही हरी रिक्तवती ।
सुषन्य छोडि लाज पंच चामरै डुलावती ॥

शिखरिणी—शिखरिणीमें १७ वर्षे यगण, मगण, नगण, सगण, भगण और लघु गुरुके क्रम से होते हैं—

यमीना सो भोला, गुनत जु पिए मोह मदिरा ।
महापाषो पावें, अघम गनि जानौ श्रुति गिरा ॥
यमी को समभू तो, जिन मदन जीत्यो भट यहाँ ।
जबै कीन्हें ध्याना, गिरि शिखर नीके बट छुहाँ ॥

मन्दाक्रान्ता - इसमें मगण, भगण नगण दो तगण और दो गुरु होते हैं—

मोभा नीति तगि कइत क्यों, अशता रे अजाना ।
सर्व व्यापी समुक्ति मुहिं जो, आत्मज्ञानी सुजाना ॥
मेरी मत्की मुलम तिहिं को, शुद्ध है बुद्धि जाकी ।
मन्दाक्रान्ता करत मुहिको, धन्य है प्रीति ताकी ॥

चञ्चरी—चञ्चरीमें १८ वर्षे रगण, सगण, दो जगण, मगण और रगणके क्रमसे होते हैं—

री सजै जु भरी हरि गुण से २हे नित वाधि तू ।
औ सद्य लहमान संत समाजमें जग मोहि तू ॥
भूलि के जु विगारि रामहि आनको गुण गाइ है ।
चम्पकै समना हरीजन चञ्चरी मन भाइ है ॥

शादूलविक्रीडित—इसमें १९ वर्षे मगण, सगण, जगण, सगण, दो मगण और गुरुके क्रमसे होते हैं—

मोस्यो जो सत तू गरु तजि कै पूछै मतो ज्ञान को ।
केहौं मैं भज ले विदेहतनया तासों बडो आन को ॥
दक्षी आदि अकथ्य जासु महिमा राखें वचा पीडिते ।
सहारयो जन लायी दुष्ट असुरै शादूलविक्रीडिते ॥

गौतिक्रम—गौतिक्रममें सगण, दो जगण, मगण, रगण, सगण और लघु-गुरुके क्रमसे २० वर्षे होते हैं—

सज जीम री ! तु लगै सुखी सुन यो कइा चित लायके ।
नय कल लक्ष्मण जानकी सह रामकी नित गायके ॥
पद मो शरीरहिं राम के मुचि धाम को लय धावहु ।
कर चीन ले अति दिन हूँ नित गौत कान सुनावहु ॥

स्रग्धरा—स्रग्धरामें २१ वर्षे मगण, रगण, मगण, नगण और ३ यगण के क्रम से होते हैं—

मारे मौने ययु यो, कहहु सुन ! कहाँ ते लिए आवते हो ।
मा का आनन्द आजी, तुम फिरि फिरिकै, माथ जो नाचते हो
बोले माता ! विलोकयो, फिरत सह चमू बागमें स्रग्धरे ज्यों ।
काडी मालास्र मारे विपुल रिपु बली, अरच लो बीतिके ज्यों
मदिरा—इसमें ७ भगण और अन्तमें गुरु होता है—

भासत गौरि गुसोइन को वर राम घनू दुद खंड कियो ।
मालिनको जयमाल गुहो हरि के हिय जानकी मेलि दियो ॥
रावण को उतरी मदिरा चुप चार पथान जु लंक कियो ।
राम बरी चिय मोद मरी नम में सुर जै जयकर कियो ॥

मत्तगयन्द—इसमें ७ भगण और दो गुरु होते हैं—
भासत गंग न तो सम आन, कहु जगमें मम पाप डरैया ।
वैडि रहे मनु देव सबै, तजि तो पर तागन भारहि मैया ॥
या कलि में इक दूहि सदा, जनकी भय पार लगासति नैया ।
है तु अरी । जग केहरि थी अघ मत्त गयदहिं नास करैया ॥

वर्णिक अर्द्धसप्त

पुष्पिताम्रा—इसके विषम चरणोंमें दो नगण, एक रगण और एक भगण होता है तथा सम चरणोंमें एक नगण, दो जगण, एक रगण और एक गुरु होता है—

प्रभु सम नहिं अन्य कोई दाता ।
सुधन जु ध्यावत तीन लोक भता ॥
सकल अशत कामना विदाई ।
हरि नित सेरहु मित चित लाई ॥

वर्णिक विषम

उद्गता—उद्गताके पहले चरणमें सगण और लघु, दूसरेमें नगण, सगण, जगण और गुरु, तीसरेमें भगण, नगण, जगण और लघु गुरु और चौथे चरणमें सगण, जगण, सगण, जगण और गुरु होता है—

सप्त त्यागिए असत् कामा ।
शरण गहिए सदा हरी ॥
दुःख भव जनित जॉय टरी ।
भजिए अहो निशि हरी हरी हरी ॥

इसका तात्पर्य यही है कि छन्द क्री गति भाव के साथ चलनी चाहिए और यह भाव छन्द पढ़ने से ही तत्काल स्पष्ट हो जाता है। आजकल बहुत से कवि इस विषय में बड़े उदासीन और असावधान हैं जिसका परिणाम यह है कि काव्य के पठन और श्रवण से छन्द की गति के कारण जो काव्य-ध्वनि व्यक्त होनी चाहिए वह नहीं हो पाती।

इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह है कि प्रतिदिन नये नये सगीताचार्यों और गवैयोंके द्वारा गीतोंकी लयोंके इतना रूप निकले हैं और निकलते जा रहे हैं

कि कवि या नाटककार अपने युगमें प्रचलित लयोंको ही अपने गीतोंकी टेकका आधार मानकर चलता है क्योंकि वही लय-टेक उन युगके मनुष्योंकी रचिकी पुष्ट और तुष्ट करती रहती है अतः इस सम्बन्धमें न तो यही नियम बनाना उचित है कि श्रमुक छन्दका श्रमुक रस या विषयके वर्णनोंमें प्रयोग हो और न यही कहा जा सकता है कि केवल इतने ही छन्दोंमें कविकी कविता या गीत लिखने चाहिए। इस सम्बन्धमें नाटक-कार या कविकी यह स्वतन्त्रता अवश्य देनी चाहिए कि वह अपने छन्दका भी आविष्कार करे किन्तु यह प्रतिबन्ध भी होना चाहिए कि उसकी शब्दावली तथा गति निश्चय-पूर्वक रस और भावके अनुकूल हो। इसके अनिश्चित नाटककारकी—यदि वह संगीतशास्त्रका पंडित हो तो—रागका निर्देश कर देना चाहिए किन्तु उसकी सरगम नहीं देनी चाहिए। सरगम बंधनेकी स्वतन्त्रता सर्गात-कारको ही मिलनी चाहिए।

अन्य देशोंमें छन्दकी योजना—

संसारमें कोई भी देश नहीं है जहाँ मायाका प्रयोग कविता या गीतके रूपमें न होता आया हो और यह प्रयोग इतने प्राचीन कालसे होता चला आया है कि किछी देशमें प्रामाणिकताके साथ यह नहीं कहा जा सकता कि छन्दका प्रयोग कबसे होने लगा है। कुछ विद्वानोंका तो यह विचार है कि मायाका प्राग्भिक रूप छन्दोबद्ध ही था, क्योंकि लिखनेको सुविधाएँ उस समय प्राप्त नहीं थीं, गद्यको स्मृतिसिद्ध रखना सम्भव नहीं था, इसलिये अनिवार्य रूपसे संपूर्ण सुरक्षित रखना जाननाला घाटपय छन्दोबद्ध ही था और इसके अन्तर्गत काव्यके अतिरिक्त आपूर्वेद, गणित और ज्योतिष जैसे विषय भी समिलित थे। इमी-लिये यूनानो दार्शनिक अरस्तूने काव्यकी परिभाषा बताते हुए यह संकेत कर दिया था कि केवल पद्यबद्ध कर देनेसे कोई रचना कविता नहीं कही जा सकती।

विभिन्न देशोंमें जिस प्रकारसे छन्दोबद्ध रचनाएँ होने लगीं उनमें अन्तर केवल इतना ही था कि किछीमें लय प्रधान होने लगा और एक ही स्वर लयकी रङ्गाके लिये दूर तक खींचा जाने लगा, किसीमें शब्दोंके बीच-बीचमें मीन रहकर मात्रा और तालकी गति ठीक कर ली जाने लगी और किसीमें कुछ अधिक मात्रावाले शब्दोंको

शीघ्रताके साथ कहकर कम मात्राओंमें ही बँधकर उचरित कर लिया जाने लगा किन्तु संस्कृत छन्दोंमें ये सब अव्यवस्थित नियम नहीं हैं। उसमें शब्दोंकी मात्राएँ इस क्रमसे बँधी होती हैं कि न तो किसी अक्षरको अनावश्यक रूपसे लम्बा करके उसकी मात्रा पूरी की जाती है न मीन रहकर शब्दोंके दारिद्र्यका परिचय दिया जाता है और न थोड़ी मात्राओंमें अधिक शब्दोंको निकालनेका 'नन्द-कुण्डली न्याय' सिद्ध किया जाता है। यूरोपीय लेखकोंने छन्दके तीन अंग बताए हैं—एक तो यह कि गुण और लघु या लम्बे और छोटे मात्राओं या ध्वनि-मात्राओं (सिलेबल) को एक विशेष क्रमसे इस प्रकार रखा जाय कि वे एक विशेष नियमसे अपनी आवृत्ति करके छन्दका एक रूप बना लें, दूसरा यह कि इस प्रकारके विभिन्न रूपोंके कई पद बनाकर एक विशेष छन्दका रूप घाएँ कर लें और तीसरे, इन सब विभिन्न प्रकारके रूपोंको मिलाकर छन्दको एक विशेष गति निर्धारित कर ली जाय। इनमेंसे पहलेको अंग्रेजीमें कंटेन्स, दूसरेको मूपिंग और तीसरेको मेजुर कहते हैं। इसका तारार्य यह है कि ध्वनि और मीनके सापेक्ष प्रभावक एक विशेष क्रमिक रूपको ही छन्द कहते हैं। हम ऊपर कह आए हैं कि यूरोपवाले अपने छन्दोंमें भाषाचगरेके अनुसार छन्दका रूप निर्धारित करते हैं। एक पंक्ति लीजिए—

फूल फँदम फाइव दार्द फ़ादर लाइज

इस पंक्तिकी यदि हम छन्दके ध्वनिमात्रा न्यायसे विश्लेष्य करें तो वह इस प्रकार अंकित किया जा सकेगा—

फुल फे दम् फाइव दार्ई फा दर लाइज

हमारे छन्दः शास्त्रके अनुसार इसे हम मात्रा-संकेतो में इस प्रकार लिखेंगे—

। ५ । ५ । ५ । ५ । ५ । ५

यदि इसके अनुसार हमें हिन्दीमें छन्द बनाना हो तो उसका एक चरण इस प्रकारका होगा—

अज चली गयी कहीं

किन्तु उसके वास्तविक लयका रूप होगा—

किछके दमसे इसका दम है।

क्योंकि अंग्रेजी छन्दके अनुसार लघुमें भी कई अक्षरोंका समावेश हो सकता है और दीर्घमें भी इसी प्रकार कई अक्षर आ सकते हैं। वहाँ लयकी दीर्घता और

हस्ता छन्दकी विभिन्न ध्वनिमात्राओंको हस्त या दीर्घ पढ़नेके ढंगपर अवलम्बित है, वर्यो या मात्राओंकी गिनतीपर नहीं। यही बात यूरोपकी अन्य भाषाओंके सम्बन्धमें भी है। जापानी भाषामें, जहाँ ध्वनिका कोई भी एक तत्त्व अधिक दीर्घताके साथ या बलके साथ प्रयुक्त नहीं होता वहाँ केवल एक ध्वनिमात्रा ही श्रावृत्ति ही होती है और उधीके सहारे किसी पद्यकी ध्वनि-मात्राएँ गिन ली जाती हैं। चीनमें ध्वनियोंका आरोह-अवरोह इतने अधिक प्रकारका है कि वहाँ पद्यकी बनावटके लिये किसी ध्वनिका आरोह या अवरोह ही अथवा उसका उदात्त या स्वरित रूप ही ध्वनिमात्राके रूपमें पद्यकी रचनाके लिये उपयुक्त समझ लिय जाता है।

यूरोपके प्राचीन लेखकोंने छन्दकी प्रकृति और उसके उद्देश्यकी व्याख्या करते हुए छन्दकी निम्नलिखित परिभाषाएँ बताई हैं—

एक—एक प्रकारसे एक-एक कर चलनेवाली ध्वनियोंके समूहको छन्द कहते हैं।

दो—नियमित अवकाशपर एक प्रकारकी या परस्पर मिलती हुई ध्वनियोंकी श्रावृत्तिको छन्द कहते हैं।

तीन—छन्द वह रीति है जिसके द्वारा दो अवधियोंके शब्द एक प्रकारसे ध्वनित किए जायँ। (अरस्तू)

चार—एक जैसे ध्वनिसमूहोंकी श्रावृत्ति ही छन्द है। (प्लेयर)

पाँच—दो पद्योंके अन्तमें दो ध्वनिमात्राओंकी मिलती हुई एकही ध्वनिवाले पदको छन्द कहते हैं। (प्लेयर)

छः—एक प्रकारसे व्यवस्थित ध्वनिवाली मात्रा-ध्वनियोंको विशेष क्रमसे रखनेको छन्द कहते हैं। (एडविन गेस्ट)

उपरोक्त सभी परिभाषाओंमें कोई तात्त्विक भिन्नता नहीं है किन्तु इन सबने अपनी परिभाषाओंमें यह बतानेकी चेष्टा नहीं की कि इन सब प्रकारकी मात्रा-ध्वनियोंकी श्रावृत्ति करने या एकसे ध्वनि-समूहोंको एक विशेष रूपसे सजानेकी आवश्यकता क्यों पड़ गई, उससे लाभ क्या हुआ या मनुष्यके मानसको और उसके बुद्धि तत्त्वको इस प्रकारकी व्यवस्थाने किस प्रकार उल्लसित या प्रभावित किया।

पॉलेके कुछ लेखकोंने योधी परिभाषाके फेरमें न पड़

कर वह भी व्याख्या करनेका प्रयत्न किया है कि छन्दका कार्य क्या है। इन सब लेखकोंने छन्दके दो प्रधान कार्य बताए हैं—

एक—छन्द स्वतः सुन्दर होता है। भाषा मानव-जीवनका अत्यन्त ललित और मनोहर तत्त्व है। उसके प्रत्येक अंशमें उसकी विशिष्ट मोहकता होती है। समुचित अन्तरपर यदि इस प्रकारके अंश बारबार आते रहें तो वे सहसा अपने ध्वनि-सौन्दर्य और भाव-सौन्दर्यसे हमारे मन और ध्यानको आकृष्ट करते रहेगे। वे ही अंश यदि गद्यमें साधारणतः एक बार कहकर पार कर दिए जायँ तो वे अत्यन्त शीघ्र हमारी स्मृतिसे मिट जाते हैं। यही कारण है कि गीतकी टेक और कविताके पद दोहराने और तेहरानेकी प्रथा अमीतक गायकों और कवियोंमें चली आती है। अतः छन्दमें केवल अर्थ-सौन्दर्य ही प्रधान नहीं रह जाया, उसका ध्वनि-सौन्दर्य भी विशेष प्रभावकारी होता है और उसका सीधा सम्बन्ध इथीलिये संगीतसे जुड़ जाता है।

दो—जब हम कोई पद्य लिखते हैं तब उसमें यति और तुकके अनुसार छन्दके विभिन्न चरणों या चरणांगोंका उचित अवसान ज्ञात होता चलता है और उससे तालका क्रम भी निकलता है। इथीलिये फ़िरमुंस्कीने छन्दके उद्देश्यके अनुसार उसकी यह परिभाषा की है, कि छन्द वह ध्वन्यात्मक श्रावृत्ति है जो पद्यको छन्दोबद्ध रचनामें व्यवस्था उत्पन्न करती है।

छन्दका यह कार्य केवल यति अथवा तुक वैधानिक ही समाप्त नहीं हो जाता। उसके भीतर भी अनुप्रास आदिके द्वारा लयात्मकता या माधुर्य स्थापित किया जा सकता है। प्राचीनी पद्योंमें स्वरित (ऐकसेण्टेड) और अस्वरित (अनऐकसेण्टेड) मात्रा—ध्वनियोंमें उतना अन्तर नहीं है जितना जर्मन और अंग्रेजी भाषामें इसलिये इन भाषाओंमें पढ़नेके ढंगपर ही कानके अभ्यासे छन्दका भाव होता है।

पश्चिमी विद्वानोंमें सबसे पहले आरस्तू अपने 'हला-रिक' (भाषणशास्त्र) में इस विषयकी चर्चा की थी और उसने जो परिभाषा दी थी वह हम ऊपर कह आए हैं। क्विन्तिलियनने कहा है कि दो या कई वाक्योंका एक समान तुकान्त करनेकी कवि-कुरालताको छन्द कहते हैं। सबसे पहले दातेने ही यह सिद्धान्त स्थिर किया कि छन्दका

काम यह है कि वह पद्यकी लयात्मक रचनाको व्यपस्थित करे। सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दीके अंग्रेज छन्दः शारिर्त्रयोंने इसी सिद्धान्तको पुष्ट किया। जार्ज पोइन्टन-हम और विलियम वेबसे लेकर मिलटन और ड्रायडनसे होते हुए एडविन गेस्ट और टेंट्सबरोतक सब बड़ी मानते हैं कि छन्द केवल लयका सहायक है। इनका कहना है कि छन्द स्वयंका स्वरूप स्थिर करता है और इस प्रकार छन्द को पुष्ट करता तथा उसको सहायता करता है। फ्रांसीसी छन्दःशारिर्त्रयोका यह विचार है कि छन्दका काम तो केवल भाषाको अलंकृत करना है। मार्मोन्तेलन (१७२२-१९) बड़े विस्तारसे यह बताया है कि छन्दके द्वारा विचारकी अभिव्यक्तिसे विशदता और सुकुमारता प्राप्त होती है और विचित्र बात यह है कि फ्रांसीसी लोग छन्दके इस बाह्य सौन्दर्य-प्रभावसे कुछ नहीं हो पाए। यहाँतक कि ग्रामोने ड'केकी नोट यह घोषणा की है कि छन्द कानके लिये है आँसुके लिये नहीं। जर्मनीके आचार्यों-ने भी छन्दके संगत तत्त्वकी अधिक महत्त्व दिया है। पीछेके जर्मन छन्दःशास्त्री शूस्ले और श्लेगेलने यह भी कहा कि छन्द स्मृतिके लिये बड़ा सहायक होता है। काएटका शिष्य होमके कारण शूस्लेने छन्दकी दार्शनिक रूपसे समझते हुए बताया कि ध्वनिका रूप तभी सुन्दर हो सकता है जब उसमें अर्थकी विभिन्नता हो। यह रमणीयता या सौन्दर्यका सिद्धान्त हमारे यहाँके रमणीयतावाले सिद्धान्तसे ज्योंका त्यों मिल जाता है जिसमें यह बताया गया है कि 'छछे छछे ध्वनवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः' अर्थात् छछे क्षणपर जिसमें नवीनता उत्पन्न हो उसे ही रमणीयता या सौन्दर्य कहते हैं। श्लेगेलका मत है कि छन्दकी सौन्दर्यवृत्ति यह है कि वह हमारा ध्यान आकृष्ट करे और हमारे मनको सौन्दर्य-मोगके लिये बाधित करे। हेगेल का भी यह मत है कि छन्दमें शब्दोंके प्रति ध्यान आकृष्ट कराने उनके प्रत्यक्ष रूपकी रसा की जाती है। गेटेने कहा है कि शब्दोंका यह प्रत्यक्ष रूप हृदय से निकलता है बुद्धिसे नहीं और इन्द्रियोकी प्रभावित करता है। अमेरिकाके सिडनी लौनिगर और देनरी लौन्का यह मत है कि कविता तो संगीतका एक प्रकार है अतः लौन्का मत है कि पद्य रचनामें छन्द वही काम करता है जो संगीतरचनामें स्वर करते हैं।

यूरोपीय छन्दःशास्त्र—

यूरोपीय छन्दःशास्त्र जाननेके लिये हमें उनकी कुछ विशेषताएँ समझ लेनी चाहिए। पहली तो बात यह है कि उनके यहाँ प्रत्येक पदमें कुछ चरण या फुट होते हैं जिनमें दो ध्वन्यक्षर (सिलैबिल) होते हैं। इन दो ध्वन्यक्षरोंमें से या तो दोनों दोष (— —) या एक लघु और एक गुरु (—) या दोनों लघु (—) अथवा इन्होंने उलटे पलटे मेलके ध्वन्यक्षर होते हैं और इन्होंने अतुल्य छन्दोंका नामकरण भी होता है। दूसरी बात है ध्वन्यक्षरोंपर बल, जिसे अंग्रेजोंमें स्ट्रैस या एम्फैसिस कहते हैं। कविता पढ़ते समय किसी विशेष ध्वन्यक्षरपर यह बल देनेसे छन्दकी गति बनती चलती है। इस बलको साधारणतः वे लोग एक्सेन्ट कहते हैं।

लघु और गुरु ध्वन्यक्षरोंसे जो अनेक प्रकार के काव्य-चरख बनते हैं वे छः हैं—

- आयम्बल (—) कम्प्लेट'
- ट्रोकी (—) वौकिंग (वौक्' इंग)
- स्पैन्डी (—) ओट् केक'
- एनापैस्ट (—) लै मो नेड'
- डैक्टिल (—) हर्' री इंग
- एम्फोत्राक (—) डी फा' इंग

ऊपर जो छन्द दिए गए हैं इनके लक्षणोंमें — चिह्न गुरुका या लम्बे खिचावका बोधक है और — चिह्न लघु या मटकेसे बोलनेका चिह्न है। जहाँ ' चिह्न है उसका अर्थ यह है कि इस ध्वन्यक्षरपर बल देना चाहिए।

किसी पद्यकी पंक्तिका नाम उसके चरणोंकी संख्याके अनुसार ही श्रात होता है। जैसे—

- मोनोमीटर = एक चरणवाला।
- डायमीटर = दो चरणवाला।
- ट्रायमीटर = तीन चरणवाला।
- टैट्रामीटर = चार चरणवाला।
- पैन्टामीटर = पाँच चरणवाला।
- हेक्सामीटर = छे चरणवाला।

इसका तात्पर्य यह है कि ऊपर जो हमने छे प्रकारके चरण गिनाए हैं वे जितनी बार एक पंक्तिमें आवें, उस क्रमसे उस पंक्तिका नाम समझा जायगा। जैसे आषाढिक पैन्टामीटरकी एक पंक्तिमें लघु और गुरुके ध्वन्यक्षर

क्रमशः पाँच बार आवेंगे। हमारे छन्दःशास्त्रमें जिसे चरण कहते हैं उसे योरोपीय छन्दःशास्त्रमें पंक्ति कहते हैं और जिससे वे लोग चरण कहते हैं वे हमारे नियमके अनुसार वास्तवमें गण हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि हमारे यहाँ गणोंमें तीन अक्षर होते हैं, उनके यहाँ दो ध्वन्यक्षर होते हैं। हम ऊपर ही बता चुके हैं कि उनके यहाँ ध्वन्यक्षर वह ध्वनि-समूह माना जाता है जो एक लघु या एक गुरुके उच्चारणकालमें समा सके। योरोपीय छन्दःशास्त्रमें यह भी छूट है कि वे उपयुक्त नियमके अनुसार छन्दकी पंक्ति बाँधते हुए अन्तमें ध्वन्यक्षर जोड़ भी सकता है और अपनी पंक्तियोंको छोटा-पड़ा भी कर सकता है।

भाषके अनुसार भी उनके यहाँ छन्दोंकी गति चलती है जैसे वीर गतिका छन्द। प्रायः आयम्बिक पैन्टामीटर का प्रयोग वीरत्वपूर्ण वर्णनोंके लिये प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार प्रेम, सख वर्याँन तथा भावात्मक वर्णनोंके लिये आयम्बिक टैट्रामीटरका प्रयोग किया जाता है, जैसे स्कीटने अपनी वर्णनात्मक रचनाओंके लिये इसका प्रयोग किया है। यद्यपि उसने उसकी एकरसता भंग करनेके लिये बीच बीचमें त्रिपदी (ट्रायमीटर) का भी प्रयोग किया है। बैलड अथवा प्रबन्ध काव्यमें प्रायः दो या चार पंक्तियोंके छोटे छोटे छन्द होते हैं जिनमें प्रायः दो आयम्बिक टैट्रामीटर और दो आयम्बिक ट्रायमीटर बीच बीचमें देकर लिखे जाते हैं। कुछ लोग प्रबन्ध-काव्य लिखते हुए ट्रीकी छन्दका भी प्रयोग करते हैं और दुःखामक काव्य (एल्लीजियक स्टैन्ज़ा) लिखनेके लिये आयम्बिक पैन्टामीटर अथवा आयम्बिक टैट्रामीटरका प्रयोग करते हैं।

प्रायः योरोपके बड़े कवियोंने कुछ गिते गिनाए सधे हुए छन्दोंका ही प्रयोग किया है। पर इधर कुछ लोग स्वतन्त्र छन्द भी लिखने लगे हैं जिनमें दो से चौदह तक पंक्तियोंवाले छन्द हैं और जिनकी प्रत्येक पंक्ति स्वतन्त्र रूपसे बड़ी छोटी होती है। इनमेंसे कुछके तो नाम भी रख लिए गए हैं—जैसे—ट्रियोलेट, राउन्डल, रोन्डू, बैलाडे, र्यारीमा, राइम रोयल, विलानिल आदि। योरोपीय कवियोंका प्रायः यह सिद्धांत रहा है कि छन्दकी गति यह रक्षनी जाय जो पढ़ने और सुननेमें मधुर तथा स्वाभाविक लगे।

कुछ ऐसे भी छंद हैं जिसमें पंक्ति और लय एक विशेष क्रमसे सजे हुए रहते हैं और जिनकी सब पंक्तियाँ निश्चित लम्बाईकी रहती हैं जैसे सौनेट, पिन्डारिक ग्रोव, बैलाडे, रोन्डू, ट्रियोलेट, विलानिल। इस प्रकार योरोपीय कवियोंने भी भाषके अनुसार छन्दकी गति रक्षनी है।

अरबी छन्दःशास्त्र

अरबी भाषाकी छन्दोयोजना कुछ भिन्न प्रकारकी होती है। वहाँ शब्द-बलके आधारपर छंदको लय वैठाई जाती है। प्रायः प्रत्येक छंदमें दो मिसरे या पद्यार्थ होते हैं और दूसरे मिसरेके अन्तिम शब्दमें 'मिसरा तरह' होता है जिसमें सखर और स्वरांत व्यञ्जन होता है और जो सब प्रकारकी काव्य-रचनाओंके लिये अनिवार्य समझा जाता है। गुज़लके प्रत्येक मिसरेमें उस प्रकारका अन्त स्वभाविक और आवश्यक है। प्रारम्भमें अरबी कवितामें कई प्रकारके छन्द ये जिनमें से दो 'मुतकारिब' और 'रमल' तो निश्चय ही सामान्य प्रमानके कारण समुन्नत हुए होंगे। कहा जाता है कि लगभग ७२२ ईस्वीमें हलील बिन अहमदने 'अरुद' या छन्दः शास्त्रकी प्रथम रचना की थी। सम्भवतः उसने ही 'फल' चातुसे विभिन्न प्रकारके छन्दोंके रूप बॉवनेकी रीति निकाली थी। इस प्रकार 'तवील' अर्थात् सबसे अधिक पुराने चलते छन्दका रूप इस प्रकार था—

'फुजुन मफाइलुन फजुन मफाइलुन'

इसी प्रकार पीछेकी कविताओंमें प्रयुक्त होनेवाला

'हजाज' नामक छन्द इस गतिसे चलाता था—

मफाइलुन मफाइलुन मफाइलुन मफाइलुन

इसकी गति 'शिवतागडव स्तोत्र' के—जयकराइ-

सम्प्रमन्नमन्निलिम्बनिर्भरीके अनुसर चलती है। सुरियों या सीरियोंके प्रभावमें हलीलसे बहुत पहले ही छन्दवाची बहुतसे शब्द चल पड़े थे जिनमें 'वैत' (बर या डेर) बहुत अधिक प्रचलित था और अब भी जैसे ब्राह्मणोंके विवाहोंमें शास्त्रार्थ और श्लोक-पाठ होता है वैसे ही काव्यरथोंके यहाँ अभीतक वैतवाजी या डडू कविता-प्रतियोगिता होती रही है। छठौं शतब्दीमें हलीलने १६ छन्द गिनवाए हैं जिनमेंसे अधिकांशका प्रयोग काव्योंमें होता रहा। इन सब छन्दोंका विशेष प्रयोग और विवरण फारसी कवितामें अभीतक पाया जाता है।

फारसी छन्द-शास्त्र

सातवीं शताब्दी (ईसा पूर्व)—जरख्खसे बहुत हले—ईरानमें छन्दःशास्त्र प्रयुक्त होता था। गाथाओंमें इस प्रकारकी लय होती थी जिनमें प्रत्येक पदके अक्षरोंकी गणना की जाती थी। अन्तिमको बहुतेसे यास्तों (स्तोत्रों) के अधिकांश छन्द अष्टाक्षरी हैं। वर्तमान फारसी-के सबसे पुराने उदाहरण नवीं शताब्दीसे ही प्राप्त होते हैं जिनके अधिकांश छन्द अक्षरीसे लिए गए हैं। प्रत्येक मिसरे या पदमें कई 'अरकाम' या चरण और 'उसूल' या ध्वन्यक्षर (सिलेबिल) होते हैं। 'उसूल', तीन प्रकारके होते हैं—सवब, वतद और फासिला; और इन तीनोंके भी दो दो भेद होते हैं—खफ़ीफ़ (कोमल) और थक़ील (कठोर)। 'खफ़ीफ़ सवब' वह अक्षर होता है जिसमें स्वरित व्यंजन के पीछे स्वरहीन व्यंजन आता है जैसे—काम्। 'थकील सवब' वह अक्षर होता है जिसमें दो स्वरित व्यंजन एक साथ आते हैं, जैसे—फ़रा। खफ़ीफ़ वतदमें दो स्वरित अक्षर और एक स्वरहीन अक्षर आता है, जैसे—चमन। 'थकील वतद' में स्वरहीन अक्षर बीचमें आता है, जैसे—पारसा। 'खफ़ीफ़ फासिले' में दो स्वरित अक्षर होते हैं और उनके पीछे 'तनवीन' (अनुनासिक) की ध्वनिके साथ स्वरहीन अक्षर आता है, जैसे—अबलिल। 'थकील, फासिले' में तीन स्वरित अक्षर आते हैं और उनके पीछे एक स्वरहीन अक्षर 'तनवीन' के ध्वनिके साथ आता है जैसे बर्कतिल। 'अरकान' या पद या तो सालिम (पूरे) होते हैं या 'ग़रे सालिम' (अपूर्ण) होते हैं। पूर्ण पद या सालिम अरकानमें किसी प्रकारका परिवर्तन या परिवर्द्धन नहीं होता किन्तु अपूर्ण पदमें परिवर्तन, परिवर्द्धन या परिवर्द्धन सब कुछ हो सकता है। इस अपूर्ण पदको 'मुज़ादफ़' कहते हैं और परिवर्तनको 'जिहाफ़'।

अरबी छन्द-शास्त्रकी व्याख्या करते समय हम बता आए हैं कि 'फल' धातुसे सब प्रकारके छन्दोंका नामकरण हुआ है और सबका रूप निम्नलिखित आठ मानोंपर स्थिर किया गया है—

- (१) फ़जलुन (1 5 5) ~ ~ ~ ~
- (२) फ़ादलुन (5 1 5) ~ ~ ~ ~
- (३) मफ़ादलुन (1 5 5 5) ~ ~ ~ ~
- (४) मुस्तफ़िलुन (5 5 1 5) ~ ~ ~ ~

- (५) मुफ़ादलुन (5 1 1 5) ~ ~ ~ ~
- (६) मुतफ़ादलुन (1 1 5 1 5) ~ ~ ~ ~
- (७) फ़ादलुन (5 1 5 5) ~ ~ ~ ~
- (८) मफ़लुन (5 5 5 1) ~ ~ ~ ~

इन आठोंके आधार पर १९ बहर या छन्द हैं—तवील, मदीद, बसीत, वाफ़िर, वामिल, हजाज, रबाज, मुतकदब, रमल, मुन्सरिह, मुदरि, मुत्तथब, सरी, जदीद, करीब, खफ़ीफ़, मुसाफ़िल, मुतक़रिब और मुतदारिक। इनके और भी बहुतेसे भेद हैं। जो लगभग ८० के हैं। फ़ारसीके बहुत में से पहले ५ तो शुद्ध अरबीके छन्द हैं। फ़ारसीके बहुत कम कवियोंने उनका प्रयोग किया है। चौदहवें, पन्द्रहवें तथा सषहवें छन्द फ़ारसीके हैं, शेष ग्यारह अरबी-फ़ारसी दोनों में प्रयुक्त होते हैं। प्रत्येक छन्दके अन्तमें काफ़िया या तुक मिलता है।

उर्दूका छन्दः-शास्त्र

श्रीरामनेरा विपाठीने कविता कौमुदीमें चतुर्थ भागमें उर्दू छन्दःशास्त्रके सम्बन्धमें लिखा है

'फ़ारसी का ही छन्दः शास्त्र उर्दू में भी काम देता है। प्रायः सब छन्द भी वही हैं जो फ़ारसीमें व्यवहृत होते हैं। हिन्दीकी अपेक्षा उर्दू का सिंगल बहुत आसान है। हिन्दीमें तो सैकड़ों हजारों प्रकारके छन्द हैं पर उर्दूमें छन्दोंकी संख्या अधिकसे अधिक ५० होगी। हिन्दीकी तरह इसमें अक्षरों और मात्राओंकी गिनती नहीं करनी पड़ती। चार पाँच शब्द हैं, जिनको हेरफेर कर रखनेसे नये छन्द बन जाते हैं। छन्दको उर्दूमें बहर कहते हैं। मशहूर बहरें कुल उन्नीस हैं। उनमेंसे पाँच बहरें खास अरबीके लिये हैं। बाकी अरबी और फ़ारसी दोनोंमें काम देती हैं। उर्दूके पुराने शायर मुश्किल बहरोंमें भी कुछ फर लेनेका प्रयत्न कर लेते थे। पर अब मुश्किल बहरोंका प्रचार उठता जाता है और शायर लोग सहल भाषाके साथ आसान बहरोका भी प्रयोग करने लगे हैं।

यहाँ मुख्य-मुख्य बहरें दो जाती हैं—
(१)—मफ़ादलुन मफ़ादलुन फ़जलुन।

उदाहरण—

कहाँ हो ऐ हमारे राम प्यारे।
किबर तुम छोड़कर वनको सिवारे ॥

हिंदीमें इस बहुरका नाम 'मुमेर' है ।

२—फायलातुन फायलातुन फायलातुन फायलुन ।

उदाहरण—

दिल इबादतवे चुयाना और जनतकी तलब ।
कामचोर इस कामपर किस मुँहसे उबरतकी तलब ॥

हिन्दीमें इसे गीतिका कहते हैं ।

३—मफाईलुन मफाईलुन मफाईलुन मफाईलुन ।

उदाहरण—

खमोयी इठलिये दीवानगीमें इमने हासिल की ।
खुदा जाने वो क्या पूछे हमारे मुँहसे क्या निकले ॥
हिन्दीमें इसे विधाता छन्द कहते हैं ।

४—फायलुन मफाईलुन फायलुन मफाईलुन ।

उदाहरण—

इश्कसे तबीअतने जीस्तका मज़ा पाया ।
दर्दकी दवा पार्सि दर्द वेदवा पाया ॥

५—मफऊल मफाईलुन मफऊल मफाईलुन ।

उदाहरण—

सुरोद जो निकना है इस घब य लरजों है ।
फोटे पे खान शायद यह माहेलफा होगा ॥
हिन्दीमें इसे 'दिग्गल' कहते हैं ।

६—मफऊल मफाईल मफाईल मफाईल ।

उदाहरण—

(१)

तू जिसको कमर समझा है शीशेमें है वो बाल ।
आइनेमें घाला है नहीं ए गुलेतर नाफ ॥

(२)

जिसको तेरा आँखोंसे शरोकार रहेगा ।
विल्परज जिया भी तो वो बीमार रहेगा ॥
हिन्दीमें इसे बिहारी छन्द कहते हैं ।

७—मफाईलुन मफाईलुन मफाईल ।

उदाहरण—

मुहबत नौदिवोंके हो अगर मोल ।
कनी आदम न ले यह दर्देसर मोल ॥
हिन्दीमें इसे शाख छन्द कहते हैं ।

८—फायलातुन मुफायलुन फेटन ।

उदाहरण—

शामसे कुछ खुभासा रहता है ।
दिल हुआ है चिराग मुफलियाका ॥

९—मफऊल फायलान मफाईल फायलुन ।

उदाहरण—

हाजत नहीं है शमाकी मेरे मजार पर ।
हर शब है सोजे आइये रोशन चिरागु दिल ॥

१०—फायलातुन फायलातुन फायलुन ।

उदाहरण—

मुबद गुजरी शाम होने आई मोर ।
तू न चेता और बहुत दिन कम रहा ॥
हिन्दीमें यह 'बीयूपरप' छन्द कहलाता है ।
११—फऊलुन फऊलुन फऊलुन फऊलुन ।

उदाहरण—

समाया है बरबे तू आँखोंमें मेरी ।
जिघर देखता हूँ उधर तू ही तू है ॥
हिन्दीमें इसे 'मुजगमयात' कहते हैं ।
१२—फऊल फेलुन, फऊल फेऊन, फऊल फेलुन,
फऊल फेलुन ।

उदाहरण—

कहाँ है हममें अब ऐसे सालिक कि राह हूँ टो कदम उठाया ।
जो हैं तो ऐसे ही रह गए हैं किताब देखी कलम उठाया ॥
इसे हिन्दीमें 'यशोदा' छन्द कहते हैं ।

१३—मफऊल मफाईलुन मफऊल फऊलुन,
मफऊल फऊलुन ।

उदाहरण—

सौदाये मुहब्बत जो नहीं है तो ऐ दिल,
तो फिर मुझे बतला ।
क्यों चाक किये अपने गेरोबकी है फिरला
आँखों प है यदशत ॥
हिन्दीमें इसे 'खराती' छन्द कहते हैं ।

१४—मुतफायलुन मुतफायलुन मुतफायलुन मुत
फायलुन ।

उदाहरण—

पसे मर्ग मेरी मजार पर जो दिया किवीने बमश दिया ।
उसे आद दामने बादने खरेशाम ही स बुभा दिया ॥
हिंदीमें यह 'परिगीतिका' छन्द कहलाता है ।

१५— फायलातुन फायलातुन फायलात

उदाहरण—

पूछते हैं वह कि गालिन धीन है।

कोई बतलाओ कि हम बतलायें क्या ॥

हिंदीमें इसे "आनन्द वर्षक" कहते हैं।

१६—मफऊत फायलातुन मफऊत फायलातुन।

उदाहरण—

खारे बहाँसे अच्छा हिन्दोस्तौं हमारा।

हम छलवुलें हैं इधकी यह गुलसिाँ हमारा।

हिन्दोमें यह "दिग्पाल" छन्द कहलाना है।

१७—फऊतुन फऊतुन फऊतुन फऊत।

उदाहरण—

कहे एक जब मुन ले इन्सान दो।

कि इरुने ज ब्रौं एक दो कान दो ॥

हिन्दीमें यह "भुजंगी" छन्द कहलाता है।

१८—मफऊत मफायलुन फऊतुन या मफाईल।

उदाहरण—

हर शालू पे हैं शिगूफाकारी।

समर है कूलमका इदेवारी ॥

१९—मफायलुन मफायलुन मफायलुन मफायलुन।

उदाहरण

य घोड़ी घोड़ी मैं न दे कसाई मोड़ मोड़कर।

मला हो तेरा साकिया पिलादे खुम निचोड़ कर ॥

इन छन्दोंके नियमोंको स्वरसे पढ़नेपर उसीमें उसकी गति भी निकल आती है। जो लोग उर्दू नहीं जानते, वे उर्दूके शेरोंको शुद्ध-शुद्ध पढ़ नहीं सकते क्योंकि उर्दूके शायर आवश्यकता पढ़नेपर दीर्घ अक्षरोंको ह्रस्व कहकर पढ़ा करते हैं पर जिलनेमें वे उन्हें शुद्ध लिखते हैं। केवल हिन्दी जाननेवाला उन्हें शुद्ध-शुद्ध पढ़ तो लेगा, संभव है अर्थ भी समझ ले, पर वह उसे शुद्ध बहर नहीं पढ़ सकेगा। लेश—

गुलिस्त्वोंमें जाकर हरेक गुलको देखा।

न तेरी ही रंगत न तेरी ही धू-है ॥

बहरके अनुसार पढ़नेके लिये यह इस तरह लिखा जाना चाहिये—

गुलिस्त्वोंमें जाकर हरेक गुलको देखा।

न तेरीहि रंगत न तेरी धि धू है ॥

हिन्दीमें यह भुजंगप्रपात छन्द है। भुजंगप्रपातकी गति जानकर जब यह पढ़ा जायगा तो जीम आरसे आप इसे ठीक कर लेगी। ऊपर जो बहरोंके लक्षण दिए गए हैं, उन्हें पढ़नेका अभ्यास कर लेनेपर उर्दूकी कविता पढ़नेमें गतिकी गड़बड़ कम हो जायगी।

यहाँ उर्दू पयके खास खास विषयोंका वर्णन किया जाता है।

राजल राजलका अर्थ है जधानीका हाल बयान करना अथवा माशुक्की संगति और इश्कका जिक्र करना। इधलिये एक राजलमें प्रेमके भिन्न-भिन्न भावोंके शेर लानेका नियम रक्खा गया है। किसी शेरमें आशिक अपनी मनोविदना प्रकट करता है, जिससे माशुक्पर उसका कुछ प्रभाव पड़े। किसी शेरमें वह माशुक्की प्रशंसा करता है, जिससे वह प्रसन्न हो। किसी शेरमें वह माशुक्की बपु और जफाका जिक्र करता है और किसीमें रकीबकी शिकायत करता है, मतलब यह है कि जिस बातके कहनेसे माशुक्के प्रसन्न होने या और कोई खास नतीजा निकलनेकी आशा होती है, वही बातें राजलमें आती हैं। कभी कभी सौन्दर्य, प्राकृतिक छटा और वैराग्यकी बातें भी गजलमें कही जाती हैं। अब तो देश-भक्तिकी बातें भी गजलोंमें कही जाने लगी हैं क्योंकि राजलका स्वर बहुत लोकप्रिय हो चला है। इसलिये उर्दूके शायर राजलमें देशसेवाका काम भी लेने लगे हैं। पर राजलका जन्म केवल प्रेम-वर्षाके लिये हुआ था। अरबमें राजल नामका एक आशमी था। उसने अपनी सारी उम्र इश्क-बाजोंमें बिता दी। वह सदा इश्क और दुस्न की ही बातें किया करता था और उर्दू विषयोंके शेर पढ़ा करता था। उसी समयसे, जिस कवितामें इश्क और दुस्नका जिक्र हो, लोग उसे गजलकी यादमें गजल कहने लगे। आजकल गजलोंका बहुत प्रचार है। मरायतोंमें तो खासकर गजलें पढ़ी जाती हैं। पिएटों- में गजलोंका बोलबाला है। वेरयाएँ प्रायः गजल ही गाती हैं। आजकलके सभा समारोहोंमें भी स्वदेशी गजलोंका अधिकार होता जाता है और अब तो हिन्दीके कवि- भी हिन्दी-भाषामें गजलें लिखने लगे हैं। कहनेका तात्पर्य यह है कि धीरे-धीरे गजलोंकी सर्वप्रियता बढ़ती जा रही है। गजलमें शैलीकी संख्या साक (शे से न दैनेवाली)

होतो है। साधारण नियम यह है कि एक गजलमें पाँचठे कम और ग्यारहठे ज्यादा शेर नहीं होने चाहिए। पर कुछ पुराने शायरोंने कमसे कम तीन शेर और अधिकसे अधिक पन्चीस शेर तककी गजलें मानी हैं। आजकल गोलह, उन्नीस और इक्कीस शेर तककी गजलें लिखी जाती हैं। यदि कोई कवि गजलके नियमोंकी पाबन्दी और महायंत्रोंका उचित प्रयोग करता हुआ पचास शेरकी गजल लिखे तो यह उसके लिये शौर्यकी बात है, नियमकी अवहेलना नहीं।

कसीदा—कसीदा उन शैरोंको कहते हैं जिनमें किसी व्यक्ति, वस्तु या विषयके प्रशंसा या निन्दा हो। जैसे गजलके लिये प्रेमकी रीति भाँतिसे जानकार होना आवश्यक है, वैसे ही कसीदेके लिये दरबारी कायदे-कानून और लोक-व्यवहारे अभिज्ञ होना बहुत जरूरी है, जिससे शायर प्रत्येक विषयका ठोक-ठोक वर्णन कर सके और कोई बात मर्षादाके बाहर न जा सके। गालिब कहते हैं कि जो शायर कसीदा नहीं लिख सकता, उसकी गिनती शायरोंमें करनी हो नहीं चाहिए। शीघ्र बिल्कुल सच है। कसीदे से ही कविकी बहुशताका पता चलता है। उर्दूमें सौदा, इन्शा और जौक़्हा कसीदा लिखनेमें बड़ा नाम है।

मसनवी—मसनवी किसी प्रसिद्ध व्यक्तिके पद्य—शब्द जीवन-वृत्तान्त या कल्पित कथाको कहते हैं। मसनवी उर्दूमें बहुत कम हैं। सबसे अधिक प्रसिद्ध 'गुलजार नसीम' है, जो पंडित दयाशंकर 'नसीम'की लिखी हुई है। फारसीमें शाहनामा, सिकन्दरनामा और यूसुफ बुलेखा नामकी मसनवियाँ बहुत प्रसिद्ध हैं।

मरसिया—मरसिया शोक-गीतको कहते हैं। प्रायः सब मरसियोंमें हसन हुसैनका शोक प्रद वृत्तान्त कदा गया है। अनीस और दबीरके मरसिये बहुत प्रसिद्ध हैं।

छन्द और विषयके संबन्धमें कुछ और मुख्य बातें—
रुवाई—रुवाई चार मिसरोंका छन्द है। इसमें नीति या उपदेशकी बड़ी-बड़ी बातें थोड़े शब्दोंमें, सुन्दर, महावरेदार भाषामें कही जाती हैं। अरबी और फारसीमें रुवाईयोंका बड़ा प्रचार है। फारसीमें उमर खैयामकी रुवाईयें इतनी प्रसिद्ध हैं कि सप्ताहकी प्रायः सब प्रसिद्ध भाषाओंमें उनके अनुवाद हो चुके हैं।

मुसल्लस—मुसल्लसकी हिन्दीमें विपदा या तिकड़ो

कहना चाहिए। इसमें तीन मिसरे समान वज़नके होते हैं। जैसे—

या तो त्रफसर मेरा शाहाना बनाया होता।

या मेरा ताज यदापाना बनाया होता।

वर्ना ऐसा जो बनाया न बनाया होता ॥

मुखम्मस—मुखम्मसको पँचकड़ी समझिये। इसमें पाँच-पाँच कड़ियोंका एक-एक दंड होता है। पाँचवीं कड़ीका तुक मिलता हुआ रहता है। जैसे—

(१)

मुन्ने तो कहते हा रंग तेरा घड़ीमें कुछ है घड़ीमें कुछ है।

जमानेकी तरह टग जिसका घड़ीमें कुछ है पड़ीमें कुछ है ॥

न आउ मानूँ गा कलका वादा घड़ीमें कुछ है घड़ीमें कुछ है।

किसे भरोसा कि दमका नक्शा घड़ीमें कुछ है घड़ीमें कुछ है।

घड़ीको सूरत लगा है खटका घड़ीमें कुछ है घड़ीमें कुछ है ॥

(२)

मैं हूँ मरीजे तरे मुहब्बत अर्थात् है वे तानियोंकी सूरत।

मैं दिलजना हूँ हमें अयादत न जीके बचनेका आई नीयत।

जो कोई दम पाये गर्म सोहबत तो फूँके जा सूर सहेरे उलफत।

न कीजो हमदम जरा भी गफलत कि मिस्ले अखबर है

दमकी हालत।

जो दममें जिन्दा तो पनमें मुर्दा घड़ीमें कुछ है घड़ीमें कुछ है ॥

मुसददस—मुसददस छ' मिसरों या तीन शैरोंका होता

है। पहलेके चार मिसरोंके तुक एक होने चाहिए। शेष दोके तुक अलग होते हैं।

उर्दूमें 'हाली'का मुसददस बहुत प्रसिद्ध हैं। अनीस

और दबीरके मरसिये भी मुसददसमें हैं।

तारीख—किसी घटना या किसीके जन्म-मरणका वृत्त

सन् कहना होता है, तब उर्दूमें उस दगसे नहीं कहा जाता

जैसे हिन्दीमें है। हिन्दी-कवितामें अंकके स्थानपर उसी

संख्यावाले पदार्थका नाम लिखा जाता है। जैसे, संवत्

१९८२ कहना होगा तो दग, वसु, अह्म, मयङ्कसे मतलब

निकल आवेगा पर उर्दूमें एक-एक अक्षरके लिए अलग

संख्याकी कल्पना कर ली गई है। कोई सन् कहना होता

है तो कुछ ऐसे अक्षरोंके शब्द बताकर लिखते हैं कि

जिनसे घटनाका अर्थ भी निकल आता है और अक्षरोंकी

संख्याएँ जोड़नेसे सन् भी। प्रत्येक अक्षरके लिये जो अंक

नियत है उनकी सूची यहाँ दी जाती है—

अलिक = १	काफ = २०	रे = २००
बे = २	लाम = ३०	शीन = ३००
जीम = ३	मीम = ४०	ते = ४००
दाल = ४	नून = ५०	से = ५००
हे (छोटी) = ५	वीन = ६०	खे = ६००
वाक = ६	ऐन = ७०	जाल = ७००
जे = ७	फो = ८०	जाद = ८००
हे (बड़ी) = ८	स्वाद = ९०	जोय = ९००
तोव = ९	काफ = १००	गून = १०००
ये (बड़ी) = १०		

जैसे, 'कुनम शुक्र खुदा', यह तारीख एक बार नासिखने काल होते होते बच जानेपर कही थी । इसमें इतने अक्षर हैं—काफ, रून, मीम, शीन, काफ, रे खे, दाल, अलिक । उसके अंक जोड़नेपर द्वितीया मन् १२३५ आयेगा ।

यहाँतक तो उदूके पिंगलका बाहरी परिचय दिया गया, अब उसकी भीतरी बातें सुनिए—

शैर—अरबी भाषाका शब्द है और इसका अर्थ है बाल । सौंदर्यके लिये बाल आवश्यक पदार्थ है । सुन्दर चेहरेपर जुलुक या अलक या लटका लहराना कितना मनोहर होता है, यह मनुष्य जातिसे छिपा नहीं है । बालोंसे सुन्दरता खिल उठती है । प्रेमिका कितनी ही सुन्दरी हो, पर तिर मुँड़ाए हो तो वह प्रेमीको पसन्द नहीं आ सकती । शैरका भी यही हाल है । कविता एक सुन्दरी है । शैर उसके केश हैं । या साहित्य (अर्थ) मायूक है और शैर उसके गेहूँ है ।

साहित्यिक परिभाषामें शैर एक ऐया सँचा है, जिसे विचार टाले जाते हैं । टालनेवाला शायर कहलाता है ।

शैरकी मिसल भँसे ही जाती है । क्योंकि माशूकके चेहरेपर दो मवें एक शैरके मिसरोंकी तरह होती हैं । "खुशुत"में शैरका अर्थ 'जाना' भी लिखा है ।

मिसरा

मिसरा एक चरण या एक पंक्तिको कहते हैं ।

मतला

किसी गज़लमें जो सबसे पहला शैर होता है, उसे मतला कहते हैं ।

मक़ता

गज़लमें सबसे अन्तिम शैर को मक़ता कहते हैं ।

क़ाफ़िया

क़ाफ़ियेको हिन्दीमें तुक कहते हैं । हिन्दीकी तरह उदूमें तुक मिलानेकी कड़ाइयाँ नहीं हैं । उदूमें लागा, सदा, हुश्रा, बजाका भी तुक मिला हुश्रा समझा जाता है । क्योंकि इन शब्दोंमें सबके अन्तमें "आ" है ।

रदीफ़

रदीफ़ क़ाफ़ियेके बाद आती है और वह सब शैरों में अपनी जगहपर क़ायम रहती है । कभी बदलती नहीं । जैसे—

इशरते क़तरा है दरियामें फ़ना हो जाना ।

दर्दका इदसे मुज़रना है दवा हो जाना ॥

इसमें फ़ना और दवा क़ाफ़िया और "हो जाना" रदीफ़ है । यह "हो जाना" सारी ग़ज़लके प्रत्येक शैरके दूसरे मिसरेमें आयेगा । कभी-कभी एक ही अक्षरकी रदीफ़ होती है । और कभी-कभी आयेसे अधिक मिसरातक रदीफ़ हो जाता है । जैसे—

मुझे तो प्यार देखा है कि मैं कुछ कह नहीं सकता ।

वो वुत बेजार ऐसा है कि मैं कुछ कह नहीं सकता ॥

इसमें "प्यार" और "बेजार" "क़ाफ़िये" और "ऐसा" है कि मैं कुछ कह नहीं सकता" कुलका कुल रदीफ़ है ।

कभी-कभी रदीफ़ रहती ही नहीं । जैसे—

हर शख़्समें है धिग़ूनाकारी ।

समरा है कुलमका हम्दे बारी ॥

इसमें बारी और बारीका क़ाफ़िया तो है, पर रदीफ़ नहीं ॥

चीनियोंकी छन्दोयोजना

चीनमें अन्य देशोंकी छन्दोयोजनासे भिन्न एक विचित्र प्रकारसे लयपर तथा छन्दके बदले ध्वनि-प्रकारपर अधिक बल देते हैं । इसीलिये चीनी भाषामें पद्यके लिये कोई शब्द ही नहीं है । 'पिः' शब्द कभी तो पद्यके अर्थमें प्रयुक्त होता है और कभी काव्यात्मक के अर्थमें; किंतु वास्तवमें यह शब्द एक विगेष प्रकारके छन्दका बोधक है । यहाँ लिखित छन्दको ही पद्य कहते हैं और उगका कारण यह है कि चीनी भाषाका प्रत्येक अक्षर एक प्राग्भिक और एक अन्तिम व्यंजनसे बना शब्द होता है । और

अंतिम अक्षर तो स्वर या अनुनासिक मात्र ही हो सकता है। इसका अर्थ यह है कि इस प्रकारके लयदार अक्षर कई सहस्र हैं, जिसका परिणाम यह है कि आप किसी प्रकार भी लयमें विषट् नहीं छुटा सकते।

वित्त प्रसार हमारे यहाँ बाँवट्ट है उसी प्रकार चीनमें भी अक्षर-वृत्त हैं वहाँ अक्षरसे तारण्य उस विह्वले है जो कभी-कभी धाम्यका भी बोधक होता है। कभी कभी तो जब चीनी पद्य स्वर पढ़ा जाता है तब एक एकके बदले कभी कभी दो-दो अक्षर एक ध्वनिमें मिलाकर पढ़े जाते हैं जिसमें पहलेपर कुछ हल्का बल देकर तथा दूसरेको स्वरित करके मिला दिया जाता है। वास्तवमें चीनी पद्यमें यद्ये स्वर अर्थात् किसी ध्वनिको हल्केसे उच्चरित करना अथवा किसी ध्वनिको अधिक खींचकर बोलना भी चीनी छन्दकी कला है। तात्पर्य यह है कि चीनी पद्यमें लय तो आवश्यक है किन्तु स्वर ऐच्छिक है।

चीनी लोग चार प्रकारके पद्य मानते हैं—(१) शिः (२) फुः, (३) त्जुञ और (४) चउ। इनमेंसे 'शिः' आधिक प्रचलित है। प्रायः सम्पूर्ण लोकगीत और चारण-गीत तथा साहित्यिक पद्य प्रारम्भसे आरम्भतक इसी छन्दमें लिखे गए हैं। इसके भी तीन विशेष भेद हैं—चतुस्र चरी पक्तियान्ता—शिः चिद्, जो पीछे पंचाक्षरी और सप्ताक्षरी पक्तियोंमें रचा जाने लगा। यह भी वन संगीतके लिये लिखा जाता है तब यो फुः कहा जाता है। चीनीकाव्य साहित्यकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह गीत-प्रधान है, प्रबन्ध प्रधान नहीं। इसीलिये पूरे चीनीकाव्य साहित्यमें एक भी महाकाव्य नहीं है और प्रायः साधारण कवितामें चारसे बारह तक पक्तियाँ होती हैं। चीनकी सबसे बड़ी कथात्मक कविता, जिसमें व्यासो चुद् चिद्की पत्नीको कथा है, उसमें तीन सौ पचार पक्तियाँ हैं।

शिः और फुःमें सबसे बड़ा अन्तर यह है कि शिः में तो मात्र (बेन फुः) प्रधान होता है और फुःमें प्रवृत्ति अथवा उस्तुओंका ध्यान प्रधान होता है। दूसरा भेद यह होता है कि शिः पद्योंकी रचना संगीतके लिये होती है और फुः की रचना प्रायः साहित्यके लिये। त्जुञ भी नये ढंगका संगीतप्रयोगी छन्द है। और इसका प्रचलन नहीं शताब्दीमें हुआ। इसकी रचनाशीलीको

'तद् येन [चउ]' अथवा रागके अनुसार शब्द भरना कहलाता है। यहाँतक कि पीछेके त्जुञ लेखक पुराने चले अति हुई गीत रागों अथवा तंत्रोंमें बाँधकर ही त्जुञ लिखते रहे। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह रही कि उसमें कोई भी पक्ति सम नहीं थी, सब विषम याँ और यह छन्द अत्यन्त भागदमक गीतोंके लिये ही काममें आता रहा। चऊको त्रजुञका संगीतहीन रूप समझना चाहिए। इस दृष्टिसे चीनी पद्यके केवल दो ही ढंग रह जाते हैं—एक और केवल शिः और फुः और दूसरी और त्जुञ और चउ। इन सबमें लयका प्रधानता होती है किन्तु शिः और फुःमें पंक्तियाँ सम होती हैं और त्जुञ और चउमें विषम।

जापानी छन्दोयोजना—

जापानकी छन्दोयोजना समझनेसे पहले उस भाषाकी कुछ विशेषताएँ समझ लेनी चाहिए। जापानी भाषामें पाँच ह्रस्व स्वर हैं अ, इ, उ, ए, ओ। विशेष बात यह है कि काव्यमें और शुद्ध उच्चारणमें प्राकृतके समान स्वर अलग-अलग बोले जाते हैं, जैसे— सुडमार, बन्नयो, किई। इसे हम स्मार, बागोया की नहीं पढ़ सकते। साधारण बातचीतमें कभी-कभी अन्तिम ऊ को वा बीचके इ को भी छोड़कर पढ़नेकी चलन है, जैसे इमासऊ को इमास अथवा इमाशिगाइको इमाशता। प्रत्येक जापानी अक्षरका अन्त स्वर होता है। इसीलिये जापानमें लयका प्रयोग कवितामें अधिक नहीं प्रचलित हो सका और जापानीमें अक्षरोंपर बल देने या उन्हें स्वरित करनेकी भी कोई विशेष रीति नहीं रही। वहाँ केवल लघु और गुरु शब्द समूहके अनुसार ही लयका निर्माण होता है। जापानी छन्दोंमें प्रसिद्ध छन्द है नगउता, जिसमें क्रमशः पाँच और सात अक्षरोंकी योजना होती है और जिसकी अन्तिम पक्ति सात अक्षरोंकी होती है। कुछ कविताओंमें सन्धुलित वाक्यांश, एक शब्द, दीपक शब्द और श्लेषका अधिक प्रयोग होता है। प्रायः शास्त्रीय कविताका रूप ४—७—५—७—७—७ अक्षरोंका होता था। यहाँ तक कि जापानीमें इस प्रकारकी कविताको ही तद्का कहने लगे। एक पद्य लीगिए—

इमा जो शिः

ओमोइ—इदे—यो तो

बि गि रि शि वा

वासुदेव तो ते नो

नासाके नारिनेरि

[अथ निरचय में जानना

कि जब कदा हमने 'स्मरण करो'

और प्रतिज्ञा भी हमने यह की

तब उसका था अर्थ 'हम भूलेंगे'

और हमारे वे विचार सचमुच ये एक]

यह तद्का छन्द निखनेको शैली आन्तक ज्योंकी त्यों चली आ रही है, यद्यपि आज उसका अधिक प्रचलन नहीं है। वेरह्यां शताब्दीमें कुछ कवियोंने इस तद्काको सुधारकर रेखा (गृह्यत्रयद कविता) नामका छन्द निकाला जिसमें दो वा अथि कवि बायो-बायोसे बौद्ध (७-७) और सबह (५-७-५) अक्षरोंके छन्द बनाते थे और जिसका मुख्य विषय पदला कवि उपरिष्ठ करता था।

जापानी छन्दोंमें सबसे छोटा छन्द है होक्कु या हेक्कु, जिसमें तद्काके प्रथम भागके समान सबह (५-७-५) अक्षर होते हैं। इस छन्दके आचार्य हुए इस्सा महादय और इन्हां चार छन्दोंमें अर्थात् नगडता, तद्का, रेखा और हेक्कुके अतिरिक्त और किसी छन्दमें जापानी कविताकी रचना नहीं हुई।

इन सब वर्षोंसे यह समझनेमें तनिक भी संदेह नहीं रह जायगा कि जिस विस्तार और सूक्ष्मताके साथ हमारे देशमें छन्दपर विचार किया गया है उसकी सूक्ष्मता और विचारके साथ अन्य किसी देशमें नहीं हुआ। इन्हारे यहाँ सब वृद्धि तो छन्द एक नया शास्त्र ही बन गया था जिसमें केवल पद्यरचना मात्र ही उद्देश्य नहीं था धरन् जिसमें प्रत्येक ध्वनिको विशेषता, उसके निम्न प्रयोग और उन प्रयोगोंके परिणामतर्कका कल्पना कर ली गई थी।

कविता और गीत

ॐ कविता पाठ्या गीतं नैयम् ।

[कविता पश्य गीत है नैयम् ।]

प्रायः छन्दमें बँधा हुई प्रत्येक रचनाको सब लोग साधारणतः कविता कहते हैं किन्तु काल छन्दमें बँधने-भावसे कोई रचना कविता नहीं हो जाती। हमारे यहाँ तो गद्यको भी कहा गया है कि उसमें छन्दका प्रवाह होना चाहिए— गद्य वृत्तानुगन्धि स्यात् ।

यद्यपि कि गद्यके जो भेद मुक्तक, चूर्णक, वृत्त-गन्धि और उक्तिका प्राय हैं उनमें वृत्तगन्धि नामक शैली लययुक्त ही होती है। यह वृत्तगन्धिस्व बाणकी कादम्बरीमें अनेक स्थलोंपर अत्यन्त भव्य रूपमें प्राप्त है। इसका एक उदाहरण हिन्दीमें अभिनवभरत द्वारा लिखित 'यह शंखेरी रात' कहानीसे उद्धृत किया जाता है—

"यह महाना नाथका, पङ्खी पवन, बादल भरा आकाश विजलीकी कड़क, धनयोर् डंघियात, झँपेरा पाव, पयरीली कँदाखां रु द्वियावाली भयंकर अन्धरो-सी गैल, बीदड़ बन, शिवारीका रुदन चीरकार, कोसाइल, निरंतर भुनभुनाते कीट, भुनगे और मच्छर बाँस, ऐसी विकट बेला, विकट पथपर चल रहे हम तीन, धुकधुक कर रहे थे हृदय जिनके। भाड़ आगे, माझियाँ दौँ, उधर बाँयँ बड़ा-ठा खड्ड, विजलीकी चमकके-कड्डर सुँह कड़े रहा था बस उधर रहना, इधर बढ़ना न तुम पग एक।"

ब्लैक वर्स (अतुकान्त पद्य)

इसके अतिरिक्त १७ वीं शताब्दीमें योरोपमें एक शैली ही चली जिसे ब्लैक वर्स (निक पद्य या अतुकान्त पद्य) कहते हैं। इसका प्रचलन 'संर'ने सन् १५४० में सम्भवतः इतालवी कवि 'बर्डी स्किमोलनी'से प्रभावित होकर अंग्रेजीमें प्रयुक्त करना प्रारम्भ किया। पूर्व पलिजावेपीय लोगोंने मुकडीन लम्बी पुरानी कविताओंके अनुवादके लिये इसका प्रयोग किया था। सन् १५५७ में इसका प्रयोग नाटकमें हुआ और प्रसिद्ध कवि मालोवेने अपने टैम्बलेन (तैमूरलंग) नामक कवितामें खुलकर इसका प्रयोग किया और तबसे शेक्सपियर, मिल्टन, वर्डस्वर्थ, कीट्स, शैली, टैनीसन, ब्राउनिंग, स्विनबर्न आदि बड़े-बड़े कवियोंने बड़े धडल्लेसे इसमें रचनाएँ की। इसकी विशेषता यह थी कि इसमें तम प्रधान था, तुक और मात्राओं कावना एक चरणके लघुभुक्त अन्त्यस्वरोंको कोई गणना नहीं थी। हिन्दीमें भी 'निरावा'ने बँगलाके माध्यमसे इसका प्रयोग प्रारम्भ किया। और अब तो खुलकर इसका प्रयोग होने लगा है। इसका तात्पर्य यह है कि किसी भी रचनाको काव्यकी संज्ञा प्राप्त करनेके लिये विशेष गुणव्यमन्त्रित होना चाहिए जिसका उल्लेख हम पीछे 'काव्यत्व'में कर आए हैं किन्तु गीत बननेके लिये लय और मात्राका ऐसा उचित सम्बन्ध होना ही चाहिए जिससे यह रागको न गी-नुली तालोंमें ठीक बैठाया जा सके। यों तो बारह मात्रामें नवी हुई तालमें

हम 'आओ' शब्दकी ही किसी रागमें बाँधकर अलापते बारह मात्राएँ भर सकते हैं, जैसे—

आ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ

किन्तु यह रागकी दृष्टिसे ठीक होते हुए भी और गीतकी दृष्टिसे भी ठीक होते हुए उचित नहीं है। उसकी पूर्णता निम्नलिखित पक्षितसे ही हो पावेगी—

आ ओ प्रिय तुम आओ

ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ

गातकी इस प्रकारकी छन्दोयोजनासे तीन बातोंका ध्यान रखना पड़ता है—अवतर, रस या भाव और गति।

गीतका अवसर

अवसरका अर्थ यह है कि किस ऋतुमें किस विशेष परिस्थितिमें किस पात्रके द्वारा गीत गवानेका आयोजन किया जा रहा है। जहाँ तक गीतनाट्यकी बात है, उसमें तो पूरा नाटक ही गीतमें होता है इसलिये उसमें केवल रस या भाव और गतिका ही ध्यान रखना चाहता है किन्तु गद्य नाटकमें गीतके प्रयोगके लिये अवसरकी अनुकूलता अत्यन्त आवश्यक है। इधर कुछ वर्षोंसे ऐसी मणाली चल पड़ी थी कि विवाहके मंगल अवसरसे लेकर अन्तिम सस्कारक सबमें गीत गाना आवश्यक-सा समझा जाने लगा था और अभीतक भी हमारे बहुतेरे नाटककार गीतके लिये अवसरकी चिन्ता नहीं करते। वे सभी अवसरोंपर गीतका प्रयोग लोकाराधनके लिये आवश्यक ही समझते चले आए किन्तु यह अत्यन्त अनुचित और भ्रामक धारणा है। निर्दिशेश्वरने नटन-प्रयोगकालके सङ्घमें अपने अभिनय-दर्पणमें कहा है—

द्रष्टव्ये नाट्यनृत्ये च पर्वकाले विशेषत ॥१२॥

वृत्त एव नरेन्द्राणामभिप्रेके महोत्सवे।

यात्राया देवयात्राया विवाहे प्रियसगमे ॥३॥

नगराणामगाराणा प्रवेशे पुत्रजननि।

शुभार्थभिः प्रयोक्तव्य माङ्गल्य सर्वकर्मसु ॥४॥

[पर्व, राध्याभिप्रेक, महोत्सव, यात्रा, देवयात्रा, विवाह, प्रियमिलन नगर और भवनमें प्रवेश, पुत्र-जनन तथा सभी मंगल अवसरोंपर नाट्य और नृत्यका प्रदर्शन करना चाहिए।]

किन्तु नाटकमें गीतके लिये इतने ही अवसर पर्याप्त नहीं हैं। नाटकमें निम्नलिखित अवसर भी पावेंगे—

गीतका प्रयोग किया जा सकता है—

१, एक पात्र अकेले बैठे हुए मन बहलानेके लिये गाता हो।

२ अकेला व्यक्ति गीत या वाद्य सील रहा हो या सिला रहा हो।

३ पर्व या उत्सवपर कई व्यक्ति एक साथ गा रहे हों।

४ पर्व, मंगलकार्य, उत्सव या देवकार्यपर बहुत लोगोंके बीच एक या अनेक-शास गीत।

५ प्रेम मिलन अथवा प्रेमाचारके अवसरोंपर, वियोगमें भी गीत बहलाते या प्रियकी स्मृतिमें गाया जा सकता है।

६ चक्री पीठने, पुरयत्त चलाने आदिके अवसरपर श्रम मियानेके लिये गीत।

७ देवताओंकी स्तुति तथा मंगलगान।

८ नाट्यारम्भका गीत।

९ विशेष ऋतुके अनुकूल उस ऋतुके दृश्योंमें गीत।

१० मित्रा मॉगल समय।

११ किसी काव्यके कथा-गीत गाना जैसे आरदा आदि।

१२ सेना या किसी सैन्य-कल्प दलके अभिप्रेानके समय अथवा युद्धके समय सेनाको उत्साह दिलानेके लिये गीत।

१३ उपदेशके लिये गाना जैसे सन्त लोग गाते थे।

यह स्मरण रखना चाहिए कि रौद्र, मयानक और बीभत्स रसोंमें गीतका प्रयोग निषिद्ध और निन्द्य है।

हमारे नाट्याचार्योंने इसीलिये चार वृत्तिके अथवा प्रकृतिके नाट्यकी योजना की है जिनमेंसे कौशिकी वृत्तिके नाटकमें ही गीत, वाद्य तथा नृत्यका अधिक आयोजन करनेका विधान किया है। आरभ्यो वृत्तिके नाटकोंमें मारकाट अधिक होती है, इसलिये उसमें गीतकी योजनाका निषेध है। रस या प्रभावके अनुरूप गीतकी शब्द-योजना करना दूसरा तत्त्व है और तदनुकूल राग या तालमें बाँधना भी उसका आवश्यक तत्त्व है। इस सम्बन्धमें रग निर्देशके प्रकरणमें हम सब समझा आए हैं।

कविताके प्रयोग स्थल

※ स्वाभाविको काव्यप्रयोग स्यात्।

[स्वाभाविक हो काव्य प्रयोग।]

संस्कृतके नाटककारोंने अत्यन्त उदारताके साथ अपने पात्रोंसे गद्य सवादोंके साथ श्लोक भी कहलाए हैं और

यह श्लोक-प्रयोग व्यापक रूपसे सब प्रकारके नाटकोंमें किया गया है किंतु हम प्रारम्भमें ही इस शैलीको अस्वाभाविक बताते हुए इसका विरोध कर आए हैं। किन्तु फिर भी कुछ ऐसे स्थल हैं जहाँ नाटकमें भी कविताका प्रयोग किया जा सकता है, जैसे निम्नलिखित स्थलोंमें—

(१) किसी कविका उद्धरण देते समय—

जैसे—जाने दो भाई 'जो तोकूँ काँटा बुवै ताहि बोह लू फूल ।'

(२) किसी बातके या घटनाके समर्थनमें किसी कविकी उक्ति—

जैसे—चिता करनेसे क्या होगा, यह कोई अपने नयकी बात है—

तुलसी जस भवितव्यता तैसी मिलै सहाय ।
आपु न आवै ताहि पै, ताहि तहाँ लै जाय ॥

(३) किसी विशेष भावके पोषणमें—

जैसे—मद प्रहीत पुनि बात बध, ता पुनि भीछि मार ।
ताहि पिपाईं बारनी, कइहु कौन उपचार ॥

(४) नाटकमें वर्णित दो या कई कवियोंकी कान्य-प्रतिद्वन्द्विताके अवसरपर

जैसे—एक कवि—

चंद्रमा क्या है कि घंटा पीठपर नमके टेंगा है ।

दूसरा कवि—

है बड़ा सा एक रसगुल्ला कि जो रसमें पगा है ।

(५) पहिली-शुभीवल, चरणापूर्ति, अन्यातरो-प्रतिद्वन्द्वितामें।

जैसे—बताओ तो क्या है—

तरवरसे एक तिरिया उतरी, उसने खूब रिभाया ।

बापका उसने नाम जो पूछा, आधा नाम बताया ॥

आ अन्धयाहरीमें

एक—

मन सँ कहीं खीम मधु, दगलें कहीं दिवान ।

देखि दगन जो आदरे, मन तेहि हाय विकान ॥

अब 'न' से कहे

दूसरा—

नरकी अरु नलनोरकी, गति एकै करि जोय,

ज्यों र्यों ऊँचो है चढ़ै त्यों त्यों नीचो होय ।

(६) देव-स्तुति या राज-स्तुतिमें।

(७) पागलपनमें किसी कविकी कविता कहना या गीत आलापना ।

(८) प्रेमातिशयमें अथवा प्रेमकी अभिव्यक्तिके लिये ।

(९) भयके कारण किसी देवताकी स्तुति करते समय जैसे लोग इनुमान-चालीसा या गायत्री पढ़ते हैं ।

(१०) रणाङ्गणमें यीरोंको उल्लेखित करनेके लिये जैसे—चारणोंके गीत

(११) प्रसंगवशा किसी कविकी कविताका पारायण करते समय ।

उपयुक्त ऐसे अवसर हैं जिनमें स्वाभाविक रूपसे कविताका प्रयोग किया जा सकता है। इनमेंसे कुछमें पुराने कवियोंकी कविताका प्रयोग हो सकता है और कुछमें नाटककारकी रचो हुई कविताका। इन कविताओंके प्रयोगमें भी उनके श्रौचिपर और अवसरका ध्यान रखना अत्यंत आवश्यक है क्योंकि इनके बिना उस कविताका कोई प्रयोजन और महत्त्व नहीं है। यह कविता ऐसी होनी चाहिए जो ठोक-ठीक सबकी समझमें आ सके, अर्थात् उममें इतनी अधिक लाक्षणिकता न हो कि दर्शकोंको उतका समझना कठिन हो जाय। कविताके संबंधमें शेष बातें हम पीछे समझा आए हैं।

गीतका प्रयोग

नाटकमें गीतका प्रयोग संगीतके साथ साथ आता है और इसलिये नाटककारका यह धर्म है कि वह गीतका निर्माण करते समय इस बात का ध्यान रखे कि कितनी मात्रामें, किस समयमें, किस राग और कालमें गीत बोधे जायें। इसके लिये संगीत-शास्त्रका हलना ज्ञान आवश्यक है कि किस समय, किस अवस्थामें, किस भावके अनुसार किस राग और तालमें गीत होना चाहिए। आजकल पृथ-संगीत-द्वारा भी नाटकीय प्रभाव उत्पन्न करनेका आयोजन किया जाता है इसलिये नाटककारको यह भी जानना चाहिए कि किस समय कौनसे वाद्य-द्वारा, किस गीतसे, किस रागसे, कितने समयमें पृथ-संगीतका प्रयोग करना उपयुक्त है। इस सम्बन्धमें रंगनिर्देशके प्रकरणमें हम सब कुछ कह आए हैं।

कविता और गीत

कविता और गीतकी छन्दोभङ्गिके सम्बन्धमें एक विशेष बात यह स्मरण रखनी चाहिए कि गीतोंमें एक डेढ़

होती है वह चाहे एक पंक्तिही हो या दो की। मीराका एक गीत लीजिए—

मेरे तो गिरघर गोपाल दूसरा न कोई
दूसरा न कोई साथे सकल लोक कोई।
संतन टिंग बैठि बैठि लोकलाज खोई
अब तो बात पै न गई ज्ञानत सब कोई।

इस गीतमें पहली पंक्ति टेक कहलाती है जिसे प्रांत दो कड़ी कहकर दुहराया जाता है। कुछ गीत ऐसे हैं जिनमें दो कड़ीकी टेक होती है जैसे—अभिनवभक्तका यह गीत—

कोयल मीठे बोल न बोल

डाभी डाली कूक कूक कर त्रिपत्ती गोंठ न खोल ॥
बोल-बोलमें तोल-बोलकर तू मत मिश्री बोल ।
दुनिया अन्धी है, बहुधुंधी वह क्या लेगी मोल ॥
सुप ! सुनता है एक अहेरी आया राह ट्योल ।
बाल डालकर पाँव चलेगा पाँसे होगा बोल ॥

इस गीतकी पहली दो पंक्तियाँ टेकका काम करती हैं ।

इसके अतिरिक्त आजकल अंगरेजीके सौन्दर्यके दंगर भी गीत लिखे जाने लगे हैं पर उनमें भी पहली पंक्तिका प्रयोग टेकके समान ही किया जाता है । एक या दो कड़ी गाकर टेक दुहराने, लिहराने या चौहरानेकी प्रथा सब देशोंके गीतोंमें है ।

हम ऊपर कह आए हैं कि गीतका प्रयोग करते समय हमें रस, भाव और गतिका ध्यान रखना चाहिए । अक्सरकी व्याख्या भी हम पीछे कर आए हैं । रस और भावके सम्बन्धमें इतना ही समझना पर्याप्त होगा कि कोमल रसों और भावोंमें कोमल, सरस और सरल पदावलीका तथा कठोर भावों अथवा अश्रीकोमल रसोंमें कर्कष, कर्णकटु तथा कठोर शब्दोंका प्रयोग करना चाहिए जिससे उस भाव या रसका रूपक खड़ा करनेमें सहायता मिले । गोस्वामी तुलसीदासजीने अपने रामायणमें दोनोंके उदाहरण दिए हैं । जब सीताजी उपवनमें आती हैं तब—
कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि ।
कहत लखन सन राम हृदय सुनि ॥
मानहु मदन हुन्दुमी हीन्हीं ।
मनसा त्रिख चित्रय करि लौन्हीं ॥
अगर जब धनुष टूटता है तब वृहदा गोस्वामीजीकी पायी बादलकी कड़क लेकर गरज उठती है—

मरि भुवन घोर कठोर रुबि ससि बाजि तजि मारग चले ।
चिक्करहि दिग्गज, डोल महि-अहि काल कूरम कलमले ॥
अथवा कवितावलीका इससे प्रसंगका वर्णन लीजिए—

टिंगति उर्वि अति पुर्वि सर्व पद्मय सनुद सर ।

ब्याल बधिर वेदि काल त्रिकल दिगपाल चराचर ॥

होमरने अपने 'इलियाद' और 'ओडिस' में इस

प्रकारकी रसातुकूल तथा भावातुकूल शब्दयोजनाका जैसा चमत्कार उत्पन्न किया है वैसा विश्व-साहित्यमें केवल भारतमें ही देखनेको मिलता है । वर्तमान गीतकी भावातुकूल या रसातुकूल बनानेकी बात है, इस सम्बन्धमें हम रंगनिर्देश-प्रकरणमें संगीत निर्देशके अन्तर्गत सब कुछ समझा आए हैं ।

गतिके सम्बन्धमें यह जान लेना अपेक्षित है कि शृंगार और कषणमें गीत मन्द तथा मध्य लयमें गाए जाने चाहिए, वीर, रौद्र तथा अद्भुतमें तीव्र लयमें । भयानक और भीमसभमें गीतका प्रयोग नहीं होना चाहिए । शक्यमें आवश्यकताके अनुसार सब लयोंका प्रयोग किया जा सकता है ।

छन्दोगीतनाके साथ शब्दयोजना तथा संगीत-योजना का तत्त्व समिन्ध्रण करनेसे गीतका ठीक रूप स्थिर किया जा सकता है जिसके लिये नियम नहीं बनाए जा सकते । यह केवल श्रयास और अभ्यसनपर ही प्रबलम्बित है ।

गीतके रूप और प्रयोग

॥ स्वाभाविकी गीतयोजना श्लाघ्या ।

[स्वाभाविक हो गीत-योजना]

गीतका प्रयोग नाटकने कई प्रकारसे किया जा सकता है—

- (१) अकेला व्यक्ति बिना वाद्यके गाता हो ।
- (२) अकेला व्यक्ति वाद्यके साथ गाता हो ।
- (३) अकेला व्यक्ति शरीर नर्तने गाता और बजाता हो ।
- (४) अकेला व्यक्ति नृत्य (भावदर्शन) और नृत्य (ताललय) और वाद्यके साथ गाता हो ।
- (५) एक व्यक्ति दूसरेके नृत्यके साथ गाता हो ।
- (६) दो या अधिक व्यक्ति एक साथ मिलकर गीतें हों ।
- (७) दो या अधिक व्यक्ति संवादात्मक गीत गीतें हों ।

अर्थात् ऐसा गीत जिसमें एक कड़ी एक कइता हो दूसरी कड़ी दूसरा ।

(८) बटुससे लोग मिलकर ऐसा गीत गाते हैं जिसमें एक व्यक्ति एक पंक्ति बहला हो, शेष उसका अनुवर्तन करते हैं ।

(९) गानेवालोंके दो दल चारीचारीसे एक ही पंक्ति गाते हैं ।

(१०) संगीतकी शिक्षा देते समय गुरु सिखाता हो और शिष्य शिक्षाके अनुसर गाते हो ।

(११) लोकगीत—जिसमें स्त्रियाँ अथवा पुरुष, विशेष अवसरके उपयुक्त ढोल-मञ्जीरा आदि कोई वाद्य लेकर विशेष योजना और उपचारके साथ नाचते या गाते हैं ।

(१२) नृत्यगीत जैसे गुजरातमें गरबा नृत्य

(१३) ध्रमगीत—जैसे पुरवट चलाने, चक्री पीसने या सड़क कूटनेके समय पुरुष और स्त्री ध्रम भिद्यनेके लिये गीत गाते हैं ।

(१४) पर्वोत्सव गीत—विवाह तथा धार्मिक पर्व आदि उत्सवोंपर गाए जानेवाले गीत ।

(१५) स्तोत्रगं त—विशेष देवताओंको प्रसन्न करनेके लिये विशेष अथसरोंपर जो गीत गाए जाते हैं जैसे देवीके गीत ।

(१६) ऋतुगीत—जैसे सावनमें हिंडोला या कब्रली और जेतमें जैती आदि ।

(१७) भिक्षागीत—जिनका प्रयोग भिक्षुक लोग करते हैं । यह भी सवाद्य और अवाद्य होता है ।

(१८) कथागीत—जैसे आल्हा ।

(१९) कोलाहल गीत—जिसमें बहुतेके लोग भेजे आदिके दृश्यमें एक साथ गाते, नाचते दिखाये गए हैं ।

(२०) बिलानगीत या शियाद—जो किराँके निचनपर विशेष रागमें उसके गुण कीर्तनके साथ छाती पीटकर रोते हुए गाए जाते हैं । पंजाबके खशियोंमें शियापा गानेवाली-स्त्रियोंका एक शिखित मण्डल ही रहता है ।

(२१) अभियान-गीत जो सेनाकी संचरण गतिके अनुसार गाया जाता है ।

(२२) युद्धमें योद्धाओंको उत्साह देनेके लिये गीत ।

इनके अतिरिक्त कुछ विशेष अवस्थाएँ हैं जिनमें गीतका प्रयोग होता है, जैसे—समागीत, किसी मंगलोत्सवपर

किसी अच्छे गवैये या गायिकाको बुलाकर गीतका आयोजन करना । इसी प्रकार गोष्ठी-गीत भी है जिसमें कुछ मित्र मिलकर अपने मनोरंजनके लिये किसीका गीत गाने या सुनते हैं । इन्हींके साथ आकलन स्मृत्यन्तर-संगीत तथा स्वेच्छासे राग अलापना या गुनगुनाना भी मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे संगीतकी अवस्थाओंमें गिना जाने लगा है और इनका प्रयोग भी नाटकोंमें यथास्थान किया जाने लगा है ।

नीचे हम अभिनवभारतके सिद्धार्थ नृत्य-नाट्यको पूरा उद्धृत करते हैं जिनसे स्पष्ट हो जायगा कि कहाँ, किस प्रकारसे, किस रीतिमें, किन रागमें तथा किन लयमें गीतोंकी रचना करनी चाहिए ।

सिद्धार्थ

नृत्य-नाट्य

पुरुष — पात्र — स्त्री	
शुद्धोदन	मायादेवी
गीतम बुद्ध	यशोधरा
राहुल	सुजाता
गार	रति
काम	अरति
क्रोध	तृष्णा
मोह	
वृद्ध	दासियाँ

रोगी
यती
पाँच भिक्षुक
चारण

निर्बोधक	भावनधी
नेपथ्य-गायक	नेपथ्य-गायिका

[नृत्य-नाट्यका परिचय]

{ शेरपमें औपेय तथा डाम्प-नैलिके नामसे जो नाट्य-अणाली प्रचलित है उसमें पहले गीत-रहित नृत्यके साथ कथाका नाट्य होता था । पीछे उनमें गीत भी जोड़ दिया गया । उसकी प्रयोग-प्रणाली यह है कि कथा-भाग-को एक भावनधी आकर नृत्यके द्वारा समझाती है और उनका विवरण कुछ गायक तथा गायिकाएँ रंगपीठके एक

श्रीर वैष्णव गीतके द्वारा देते रहते हैं। पावोंके जो सवाद होते हैं उनमेंसे पुरुषोंके सवाद पुढर गायक द्वारा श्री स्त्रियोंके सवाद गायिका द्वारा ही गाए जाते हैं, अभिनेता-गण केवल गाए जानेवाले शब्दोंके साथ तत्तद्भाष्य व्यञ्जक अभिनय करते चलते हैं। पोल्लेकी यवनिका रंग दृश्यके भावके अनुकूल होता है और सब गीतोंके रंग भी रस और भावके अनुसार ही होते हैं। हिन्दी साहित्यमें यह सर्वप्रथम नृत्य-नाट्य है और बम्बईके एक्सेलसियर थियटरमें अत्यन्त कुशल भारतीय नृत्याचार्योंके सहयोगसे सितम्बर सन् १९४७ में निरन्तर एक सप्ताह तक खेला जाता रहा।

नृत्य-नाट्यके गीतोंमें अधिक लास्यिकता और चमत्कारोचितियोंके लिये श्रवकाश नहीं होता क्योंकि इसका वर्णन रूप शुद्ध कथात्मक होता है जो अत्यन्त सरल होना चाहिये और शेष सवाद होते हैं जिसके प्रत्येक पदका अभिनय किया जाता है।

[पूजन-नृत्य होता है, कथन वाच्य और नृत्य]

[श्वेत पटीके आगे प्रस्तावना]

भावनगी—

(राग-मालकौंठ, मन्द लय)

जय जन-धन-नमके दिव्य देव

ले शक्ति-मन्त्र तुम जाग उठो।

पशु बनसे पीड़ित जगतीका

ले मुक्ति-मन्त्र तुम जाग उठो ॥

इतिहास जगे ले-ले करवट सब स्वर्ण-चूड खुलते जायें।
निर्मल गायसे धीरोंको मन मलिन हृदय धुलते जायें ॥

[उन्द परिवर्तन]

जय स्वातन्त्र्य विधायक गांधी, मालनीय जय वीर सुभाष।
जय रानी लक्ष्मीबाई जय, जय विप्लवके विमल विनाश।
जाग मंत्रानी धार शिवाकी, यज्ञ सैन्य कब उठे अशेष।
जय प्रताप जय देवि पद्मिनी, जय गोविन्दसिंह वरिष।
हर्ष प्रतापीके प्रताप फिर, शत्रु हृदयमें शूल जगा।
गुप्तोंके दुर्दग्ध पराक्रम, धर्म हासका त्रास भगा ॥
दुर्जय शक सेनाके अक्षय जय विक्रमके विक्रम-भाज।
पुष्पमिवकी जय, जिसने या बेबा यवनोंका अभिमान ॥
जय अशोक, अस्तुभ, शांतिनिधि, शांतिदूत, सुवर्णातिनिधान।
विष्णुसूक्तके अतुल शिष्य जय न द्रगुप्त शापक मतिमान ॥

—स्थायी—

(राग देशका आलाप)

खुला प्रपञ्च, अत्यालोकित नम,

भासमान त्रैलोक्य समान।

जय गीतम, सिद्धार्थ, शाक्यमुनि,

बुद्ध, तथागत, दयानिधान ॥

[तीव्र लय]

मानवशकी मर्षादाएँ, दुर्ग, दुर्घ्न कड़ियाँ मनकी।
नरने शोषितसे हाथ रँगो, कुल्ल व्यथा नहीं मानव-तनकी ॥

जो तनमन बनकर साथ रहे, वे तन-तनकर हो रहे अलग।

माताएँ बिलुडी पुत्रोंसे, हो गए बन्धुसे बन्धु विलग।

ममता कसणा, सौहार्द, स्नेह, बन गए स्वप्न, हो गए विलय।

जगको तर्जन करता आया, निर्मम पैशाचिक महाप्रलय ॥

[बुद्धकी छाया मूर्ति दिखाई देती है।]

[अत्यन्त मन्द लय]

(भैरव राग)

हे शान्ति दयाके देवदूत,

आओ कसणाके दिव्य धाम।

आओ जग मंगल महामूर्ति,

तुमको अर्पित शतशत प्रणाम ॥

[अनेक वपित स्वर नेपथ्यसे क्रमशः आरंभमें गा उठते हैं]

शत शत प्रणाम ॥ शत शत प्रणाम ॥ शत शत प्रणाम ॥

[वचनिका-वनन]

प्रथम अंक

प्रथम-दृश्य

—यशोधरा वरण—

[गुलाबी पगके आगे आरम्भ]

भावनगी—

(राग केदार, द्रुत लय)

घन-धान्य पूर्ण पुर कपिनवत्त,

फूला हिमगिरिकी छायामें।

राजा शुद्धोदनकी रानी

मायाकी भूला मायामें ॥

आपाठ जगा, जग उठा लोक,

पैना वण कणमें नव विनाश।

पावसकी पावन बूँदोंमें,
जागा जगतीका मधुर हास ॥
पुरमें घर-घर, हिंडोल सजे,
वन-उपवनमें झूली डाली ।
मायादेवीके आँगनमें,
पुर-बपुओकी छाई लाली ॥
(राग वागेश्वरी)

श्यामल बादलके दलके दल,
रिमझिम-रिमझिम बरसाते बल ।
गोरी-गोरी पुर-बालाएँ,
घिनकी आँगनमें मचल-मचल ॥
(भैरव राग, मध्य लय)
वीणा रूँजी, ठनका मृदंग,
वंशी झूकी, मंजीर बजी ।
पुप, रिक्रिणि, पुंवरु छमके,
भनकीं बाशाएँ साज सजी ॥

[मायादेवी लेटी हुई हैं । उनके सामने आप्पा-
का अर्गीत नृत्य होता है । नृत्यके समाप्त होनेतक माया-
देवीकी नींद आ जाती है ।]

नेपथ्य-गायक—

(विहाग, मन्द्र लय)

उत्सवकी मायासे थक कर, माया देवीके मुँदे पलक ।
निद्रा प्रहरी बनकर आई, नयनोंपर लम्बा गई भलक ॥
देखो रानीके नयन-कमल, निद्राकी छायामें सुकुलित ।
नतों-उत्सव पड़ गया मन्द, प्रत्यान किंवा सबने दण्डित ॥
निद्राने स्वर्णज जान बुना, मायाका मानस जाग उठा ।
जगतीका संचित पुण्य-पुञ्ज, मानो लेकर अतुराग उठा ॥

[चन्द्रमा दिखाई पड़ता है, उससेसे एक छः सैंडों-
वाला हाथी आकर मायादेवीकी दाहिनी कोलके पास
पहुँचकर झूत हो जाता है ।]

पूनोंके पूर्य सुधारकरके, खुन गए चन्द्रिनामय कपाट ।
पट-शुण्डपुका गौराम हसित निकला उससेसे अति विराट् ।
वह धनचर भी नभचर बनकर देवीके पास पहुँच आया ।
करके प्रदक्षिणा तीन बार, दाहिनी कोलमें जा छाया ॥

[यवनिका-पतन]

द्वितीय-दृश्य

[गुलाबी पदीके आगे कथा-प्रसंग]

भावनटी—

(भैरव राग, मध्य लय)

रजनी अलसाई, भोर हुई, कया आई, आकाश हँसा ।
तारे सोए, लाली छाई, आ गया अरण, सविता विकसा ॥
वीणामें भैरव राग छिड़ा, सोया जग जागा आँलें मल ।
जड़ प्रकृति हँली, हँस झूम उठी, छागए सुमनके दलके दल ॥
नद पवन तालपर नाच उठे, जगका जीवन हो उठा सरस ।
आ गई व्योति, छाया मंगल, कवशा-बदलालय गया बरस ॥
पल-पटिकाओमें दिन बीते, सप्ताह-पक्ष भी बीत चले ।
संस्तुतिकी पीड़ाके विषयट, सब छलक-छलक कर रीन चले ॥
दस मास अरबि हो गई पूर्य, मायाकी यह दीहद आया ।
मैं चर्च देवदह नगर पुन, कुछ पितृगेह मनमें माया ॥

(राग तोड़ी, द्रुत लय)

परिवारक-सेना लिए साथ, वे चलीं पितृ-गृह परम मयन ।
लुम्बिनी शालवन मिला बीच, आभूल शिखर थे लडे सुमन ॥
वे रीस उठों बनलक्ष्मीपर, वनदेवीका पा अभिनन्दन ।
सब रुका सैन्यबल लण भरमे, वन गया लुम्बिनी नन्दनवन ॥

[मन्द्र लयमें]

(भैरवी)

सुन्दर सरस शाल-तटके तल,
मायादेवी हुईं विशीक ।
बुद तथागत प्रकट हो गए,
कुशल हर्षमय सारा लोक ॥
दिशा-दिशामें रूँज उठा रच,
चपक उठा जल-यन-पाताल !
राजपुत्रका जन्म अचणकर,
फूल उठे नर-नारी बल ॥

[लाल पट्टीपर पुत्र-जन्म-संकेतके सफलत्वमें लोक-नृत्य]

[पुत्रोंका उद्गत नृत्य होता है, रित्रियोंका उद्घासमय
लास्य नृत्य होता है, उसके पश्चात् बालकों और
बालिकाओंका समिनित बेगचारी नृत्य होता है ।]

[यवनिका-पतन]

तीसरा दृश्य

नेपथ्य गायक—

(राग भृंगाली, मध्यलय)

अग्ने विलुके संचित ऋतसे, ले आए थे वे सभी ज्ञान ।
फिर भी जग-वरनी बरनेको सीलीं त्रिधाएँ ससम्मान ॥
सब वेद, शास्त्र स्मृति, कथा-पु व, दर्शन-पुराणका सार लिया ।
सब कला-शिल्प-मोक्षण लेकर शस्त्रोंपर भी ग्रधिभार त्रिया ॥
कोई न ज्ञानका अंग बचा, जो नहीं जान वे पाए हों ।
कोई न सृष्टिका मर्म बचा, पहचान न वे जो पाए हों ॥
इस बीच घोषणा हुई यहाँ, हो रहा स्वरर आसपास ।
हे राजन्पुत्रा यशोधरा ठाने मंगलमय वरण रात्र ॥
[यशिका उठती है ।]

[स्वरवरका अक्षगट । यशोधरा ऊँचे आमनपर बैठो
हे । एक दासी हाथमें विजयमाल लिए खड़ी है ।]

चारण—

(राग देश, मन्दलय)

श्री सुपमा-शोभासे विलसित है यशोधरकी यही आन ।
रण कौशलमें जो विजयी हो, उसको अर्पित है देह मार ॥
हो धर्मयुद्ध रणनीति-सहित, पुलकित है पावन विषय माल ।
यह विजय माल धारण कर ले, देखें वह किसका घन्य माल ॥
[अनेक रा-कुमार आते हैं । अस्ति नृत्य, बाण नृत्य
तथा कुन्तल-नृत्य होता है । राजकुमारी अग्रन्तोप प्रकट
करती है ।]

चारण—

यह भी कैसा रण कौशल है, अपने शोणितसे स्नान किया ।
निर्वीर्य हुआ है क्षत्रिय कुल, सबने झूठा अभिमान किया ॥

गौतम—

वह कादर है निर्वीर्य परम, अपमान सहें जो सुन होकर ।
क्षत्रियका कर्त्रियम नैसा जो पैठे क्षत्रियपन धोकर ॥
[गौतम आगे आकर अस्ति-नृत्य करते हैं । कई
राजकुमार उनके सामने अस्ति-नृत्य करते हैं और हार
जाते हैं ।] गौतमका कौशल देवकर दासीके हाथमें विजय
माल लेकर यशोधरा नीचे उतरती है और गौतमके पास
तक बढ़ जाती है ।]

गौतमका कौशल देव बना, हो गइ निरत सब विजिन भाल ।
कन्याके करते सरक गई, गौतमके उरपर विजय माल ॥

श्री यशोधराके नयनोंसे गौतमके पावन नयन मिले ।
दो हृदय मिले, दो चित्त मिले, विलुड़े मानसके अयन मिले ॥
[यशिका-पतन]

—यशोधरा वरण नामक प्रथम श्रक समाप्त—

द्वितीय अंक

प्रथम दृश्य

—महामिनिष्कमण—

[बुद्ध उद्यानमें घूम रहे हैं, पत्तोंको देखते हुए
और बँधते हुए ।]

नेपथ्य गायक—

(कालिंगदा राग, मध्यलय)

सविताका स्वागत करनेको, जागा उपवन, जगि कलियाँ ।
गौतम भी शेषा त्याग उठे, चल दिए देखने रँगरलियाँ ॥
उनके पगर डालियाँ झुकीं, बरसाए सौरभ युक्त सुमन ।
गौतमने उनको दू-दू कर, उनका सबना रक्खा था मन ॥
सेवन्तों, पाठल पारिजात, यूथिका, मल्लिका, कणिकार ।
माथनी, जैतकी, जगकुसुम, मौलश्री, सुगमित गव-भार ।
चौदनी, कुन्द, चम्पा, गेंदा, अतिमुक्त लताके सरस सुमन ।
उदल विठार, रत्ताम, नील, शुभ आभ्रमंजरी अम्बि शम्भन ॥
कचनार वृटज सरसों कदम्ब, वैश्वन्ती रक्ताशोक विरल ।
मोगग, चमेली, वनज्योत्सना, लेते हैं भारे जिनना रस ॥
गौतमने फूलोंका ले रस, कर प्राण हत सम्मान किया ।
मालिनने भूप शोध धरा, गौतमने गंगज-दान दिया ॥

[तीव्र लय]

पड़ पड़ पड़ पड़, कँ कँ कँ कँ

नभमें यह नूँजा भैरव स्वर,

गौतम चौंके आगे देखा

लयपथ पत्नी आया भपर ॥

अद्भुत संचित सुमनोंको पटना, झटपट चल दिए उधर ।
था पडा हस नारोच-विद्ध, -वाकुल, पीड़ित गत-प्राण जिधर ॥
पट्टेचे समीप, बैठे नीचे, पत्नीको भट अकदय किया ।
कौशलसे बाण निःकाव लिया, पगसे शोणित-पथ बन्द किया ।
पत्नीके नीचे छिटा हृदय, अवनक भी धुक धुक था करता ।
मर्महृत खगके नयनोंसे, था खीत वेदनाका बहता ॥

नमस्कारकी पीड़ा कैसी थी, यह समझ न पाए थे गौतम ।
इसलिये चुमाया शर करमें, तब समझ गए वे व्यथा स्वप्न ॥
उनके नयनोंमें बड़ी धार, फूटा कफणाका मूल खोत ।
घरणीघर, घरणीपति समेत, कँपा घरणीका महापोत ॥
अग्ने कोमल करनेलमे फिर गौतमने खगको सहलाया ।
पुचकार और चुपकार लिया, प्यारे पत्नीको बहलाया ॥
शोथित-पथ जब हो गया बन्द, पत्नीको मन्द पड़ी घड़कन ।
फिर चीच बढ़ाकर पैला कर, सो गया अँकमें सुनिधर मन ॥
[देवदत्तका प्रवेश]

देवदत्त —

लाओ यह हंस मुझे दे दो, मैंने वेधा है घाण मार ।
इसका स्वामी केवल मैं हूँ, क्यों उडा लिया है अनधिकार ॥

गौतम—

माना मैंने, तुमने मारा, पर मैंने इसका व्यथा हरी ।
मैंने दिसते इसके तनमें, जीवनकी नृत्न शक्ति मरी ॥
अधिकार माननेमें क्या है, यदि प्राण मरो तो बात एक ।
संभान किया, शर छोड़ दिया, इसमें कैसी अधिकार-टेक ॥
देवदत्त—

जो लक्ष्य करे अपने घरले, आखेट उसीका होता है ।
हो शक्ति मरी जिनके धनुमें, संसार उसीका होता है ॥
छोड़ो, दे दो यह हंस मुझे, मैं रीता लौट न जाऊँगा ।
यदि शक्ति-परीक्षा करनी हो, वह भी मैं कर दिल्साऊँगा ॥

गौतम—

अपने नयनोंमें नीर भरे, कोमल स्वरमें जो खग बोले ।
तुम इसका कोमल तन देखो, इसपर तुमने हैं शर तोले ॥
हैं काम क्रोध-भद-लोभ-भोद, अरि प्रचल दुष्टारे ही तनमें ।
यदि शक्ति दिल्खानी हो तुमको, तो उनसे रण टानो मनमें ॥

[शुद्धोदनका प्रवेश]

शुद्धोदन

यह कैसे इतना मचा कलह, क्या हुआ न्यायका उल्लंघन ।
फिरने सत्य कर दिया भंग, कैसे दूया मनका बन्धन ॥

देवदत्त—

मैंने देखा वह राजहंस, मैंने उसपर शर सन्धाना ।
पर गौतमने ले लिया उसे, व्यवहार किया है मनमाना ॥
गौतम—

यह सत्य कि मैंने उडा लिया, पर कैसे देदूँ इसे इन्हे ।
यदि मर जाता तो इनका था, जी जानेपर क्यों मिसे इन्हे ॥

शुद्धोदन—

गौतमका कहना सत्य, न्याय्य, इसने सचमुच है पुण्य क्रिया ।
पत्नीके जीवनने निश्चय, गौतमकी ही अधिकार दिया ॥
[शुद्धोदनका प्रस्थान]

देवदत्त—

[कोथित मुद्रामें]

यह आज पराजय-पथे सही, पर यहाँ नहीं है पूर्ण अंत ।
जीवनने अथवर आने दो, फिर दिखला दूँगा फल दुरंत ॥
[प्रस्थान]

[यवनिका-न्यतन]

द्वितीय दृश्य

नियोजक—

(भैरवी, मन्द लय)

हे कपिलवस्तुके नागरिको ! तुम सुनो शर्पका समाचार ।
श्री महाराज शुद्धोदनको है, पौत्र हुआ आनन्दसार ॥
अब सजे वीथियों, पुण्य हाट, घर-घर मंगल-उत्सव छार्पे ।
बन्दनवारें ही द्वार-द्वार, घर-हाट ध्वजारें पहार्ये ॥
[राहुलके जन्मपर उत्सव और बालानृत्य हो रहा है । गौतम बैठे हुए देख रहे हैं ।]

(नृत्य गीत, राग भैरवी)

प्राणोंमें अमृत घोल रे बोल ॥
मन्द-मन्द मलयानिल होले,
विमल कमलके बन हिडोले,
सुधा उँडेले जा समुधा पर,
तू प्रियतम अनमोल ॥ रे बोल.....
मैं चातक तू स्वतीका घन,
अर्पण है मेरा जीव-धन,
अरनी करुणाके सागरमें,
भरी करुणा बोल ॥ रे बोल.....
मानसकी सहरोमें पाला,
हंस बीनता मुक्ता-माला,
व्याध फौध ले चला जालमे
अपने हाथों खोल ॥ रे बोल.....

[इसका नाम आनेसे बुढ़ कुछ अनमने हो जाते हैं ।
उसी समय छन्दक आकर फिर झुमता है ।]

जय देव ! आपका यह सेवक चरखोंमें करता विनय-नमन,
समुपस्थित रथ सेवामें, है आज नगममें अभिनन्दन ॥
सबने साजा है पर्न वेप, पुर शोभाका हो क्या वर्णन ।
उसको ललकर लज्जित होता, देवाधिराजका नन्दन वन ॥
पर धरपर मंगल-कलश सजे, नट नर्तकिर्षोका मेला है ।
वन उपवनमें, पुरके बाहर, पौला समाजका रेला है ॥
यापी-तडागमें मुग्धित जल, सबके मनको है लुभा रहा ।
शुक कारक्य, कल राजहस पक्षी-कुल कल-कल मचा रहा ॥

[गौतम उठते हैं और चल देते हैं, पीछे-पीछे छन्दक जाता है ।]

[यवनिका-पतन]

तृतीय दृश्य

निर्घोषक—

(राग आसावरी)

सावधान ! हे कविलवस्तुके, जन गण-नायक सावधान ।
हैं आराज जा रहे भ्रमण हेतु सुवराज हमारे, सावधान ॥
पथमें, पथके टिग इधर-उधर, हो जहाँ तलक दृष्टि प्रसार ।
काई न भ्रमगल लचह मिले, कोई न मिले संयुत-निकार ॥
सुन्दर नर-नारी-मय पथ हों, हो गीत वाद्यका मगल रव ।
सब हों हर्षिततन हर्षितमन, हो मृदय मधुर, हो ध्वनि अभिनव
[रथपर बुद्ध प्रवेश करते हैं, रथकी गतिका नाट्य होता है]

नेपथ्य गायक—

सारथी छन्दक बना था और रथ भी था सुगञ्जित ।
राजपथपर कर रहा था देवरथको भी बिलज्जित ॥
राजपथ पर अग्रगामो रथ सुसयत चल रहा था ।
और गीतमके हृदयमें आगमन यह चल रहा था ॥
[एक वृद्ध दिखाई पड़ जाता है]

गौतम—

(राग देश)

गोह ! कैसे इत मनुजको, काँपती है देह धर-धर ।
क्या इसे है शीत लगता, हिल रहा है क्यों निरन्तर ॥
सुरियों क्यों पद गई हैं, केरा भी काले न क्यों कर ।
हाथमें लाठी लिए, क्यों, भ्रुक गया क्या भार ले कर ॥

छन्दक—

विश्वकी गति ही यही है देवकी आश्चर्य है क्यों ।
वृद्ध है यह एक दिन सबकी दशा होती उदायी ॥

गौतम—

वृद्ध क्या मैं भी धरूँगा और यह होगी दशा तब ?
छन्दक—

हाँ प्रभो ! इस देहका परिपाक होवेगा तभी जन्म ॥
नेपथ्य-गायक -

सुन वचन, सुवराजके मनमें उदासी छा गई थी ।
हैन जीवन-योग्य जीवन, भावना यह आ गई थी ॥
[रोगी दिलारं पड़ता है]

गौतम—

कौन है यह ? क्यों हुआ है पीत मुख, निर्बल, विकल-तन ।
वेदनासे ले रहा है अकमे कोई उसे जन ॥

छन्दक—

रोगसे आक्रान्त है यह, देहका व्यापार अस्थिर ।
अंत है इतमा सुनिश्चित, विश्वका भी अंत सुस्थिर ॥
नेपथ्य गायक—

सुन वचन, सुवराजके मनमें उदासी छा गई थी ।
हैन जीवन योग्य जीवन, भावना यह आ गई थी ॥

गौतम—

और वह क्या ! गिर गया क्यों क्या दशा उसकी हुई है ?
—छन्दक—

देहका यह अंत निश्चित, देहकी मरिमा यही है ॥
नेपथ्य-गायक—

सुन वचन, सुवराजके मनमें उदासी छा गई थी ।
हैन जीवन-योग्य जीवन, भावना यह आ गई थी ॥

[एक प्रसन्न-मुख मुडित यतीका प्रवेश]

गौतम—

कीन है यह ? क्यों रंगे हैं वस्त्र, क्यों है सिर मुड़ाया ?
क्या किया अपराध इसने, क्या किसीका धन उड़ाया ?

छन्दक—

यह यती है छोड़कर जगके सभी बन्धन चला है ।
मुक्त है यह, शोक-दुःखने भी नहीं इसको लुला है ॥

नेपथ्य गायक—

सुन वचन सुवराजके सुलपर नई मुस्कान छाई ।
यही जीवन—योग्य जीवन, भावना मनमें समाई ॥

गौतम—

'चलो छन्दक लाँटकर' मैं पा गया हूँ जन्मका धन ॥
अब नहीं इच्छा भ्रमणकी, कस रहा है विश्वचयन ॥

—नेत्रय-गायक—

चल पड़ा यान, हट गया मोह, मिट गया धुँध, कट गई व्यथा ।
गौतमके मनमें आ छाई फिर जग-जीवनकी मर्म-कथा ॥

[यथनिका-पतन]

चतुर्थ दृश्य

[नारंगिया रंगई पटोपर]

(राम धामेश्वरी)

मखि-जदित स्वर्ण पयंक विद्या,
भारें मोतियोंकी भूलीं ।
सुमनोंके कोमल विस्तर - पर,
सुरमित सुमनावलिपों फूलीं ॥
अपधान सुकोमल सेमलका,
सिरहाने शोभा देता था ।
इन्द्रायोंके सुख-वैभवका,
सौभाग्य छीन वह लेता था ॥

(राम भीमपलासी)

उसपर लेटी थी यशोधरा,
तन्द्राका सुख आधार लिए ।
थी खड़ी दासियों सावधान,
सेवाके सब संभार लिए ॥
थी एक व्यजन करती धीरे,
थी चक्कर डुलाती एक वहाँ ।
मृदु गंध-आणके पात्र लिए,
थी खड़ी चारिका एक वहाँ ॥

(राम भैरव)

कव अलौका आदेश मिले,
इस आशामें टक लगा रहीं ।
निशको सुनधुर करनेको,
मृदु वाच तीन थीं बजा रहीं ॥
[उपर्युक्त विवरणके अनुसार दृश्य खुलता है । मृदु
वाच बज रहा है । धीरे धीरे गौतम आते हैं और चुप-
चाप बैठ जाते हैं ।]

नेत्रय-गायिका—

(राम देश)

इतनेमें आए बुद्ध वहाँ,
चिन्ताकी छायासे स्वाकुल ।

मानों सब कुछ ही व्यर्थ वहाँ,
सब वैभन करता हो आकुल ॥
झुंकर अभिवादन कर-करके,
सब एक-एककर चली गईं ।
गौतमने भी मनमें सोचा,
क्या बुरा हुआ ये मली गईं ॥
लाल यशोधराके मुख-शशिको,
खातक गौतमने आह भरी ।
दुपमुँहे बाल राहुलको लाल,
गौतमने एक कराह भरी ॥
क्षय भरमें सिद्धरी यशोधरा,
चौकी, जागी झौलें मल कर ।
देखा सम्मूल नयनाभिराम,
बैठे हैं कुछ उन्नम होकर ॥
शांकेत, पीड़ित, अति मोद, प्रसन्न,
कम्पित, रोमांचित, कुण्ठित स ।
वह समझ न पाई गौतममें,
परिवर्तन-कारण मोहित सी ॥
यशोधरा—

(आशयगे)

क्या हुआ आपको जनवत्तलम !
क्या व्यथा देहमें व्यात हुई ।
या मानसमें मेरे कारण,
चिन्ता कोई पश्चात् हुई ॥

गौतम—

हे नहीं देहमें कहीं व्यथा,
सब अंग द्बस्थ, कैसा विकार !
तुम मेरे मानसकी रानी,
कैसे बन सकती व्यथा-मार !

यशोधरा—

क्या कहीं किसीने कस्य-कथा,
कोई कहकर यह व्यथा भरी ।
या कहीं किसीसे भूल हुई,
या मिला नहीं बाहर प्रहरी ॥

गौतम—

हे नहीं किसीने कस्य कथा,
कोई कहकर कुछ व्यथा भरी ।

हे नहीं किसीसे भूल हुई,
हे सजय खड़ा बाहर प्रहरी ॥

यशोधरा—

परिजनसे हो पाषा प्रमाद,
तो उन्हें दण्ड मिल जावेगा ।
मे श्रमी नृत्य-मगल करती,
कुम्हलाया मन खिल जावेगा ॥

गौतम—

बुद्ध बात नहीं, कुछ हुआ नहीं,
आकुल न बनो, चिन्ता न करो ।
नर्तनका कोई पर्व नहीं
सशय अपने मनमें न धरो ॥
हे नहीं देहमें वहाँ व्यथा,
सब श्रंग स्वस्थ, कैसा विकार !
तुम मेरे मानसकी रानी,
कैसे बन सकती व्यथा-भार

नेपथ्य-गायिका—

दोनों कर कमलोंके करतल,
हो गए ध्वनित आदेश मिला ।
नूपुरकी कोमल छन छनमें,
नर्तकियोंका नव नृत्य खिला ॥
[नृत्य होता है । यशोधरा सो जाती है गौतम जाने
रहते हैं । नर्तकियाँ भी धी जाती हैं । अन्धकार होना है]
[बुद्ध सहसा चौंकर उठते हैं । खिड़की खोलते हैं —
आकाश वाणी होती है ।]

। समवेत स्वर तथा तीव्र लयमें सोहनी)

मानवताकी मर्यादाएँ टूटीं, छूटीं फड़ियाँ मनकी ।
नरने शोषितसे हाथ रँगे, कुछ व्यथा नहीं मानव-तनकी ॥
जो तन-मन बनकर साथ रहे वे तन-तन कर हो रहे अलग ।
माताएँ निडुड़ी पुत्रोसे, हो गए बन्धुसे बन्धु विलग ॥

ममता, करुणा, सौदार्य, स्नेह,
बन गए स्वप्न, हो गए विलय ।

जगको तर्जन करता आता,
निर्मम पैशाचिक महाप्रलय ॥

(अत्यन्त मन्द लयमें एक कथनयुक्त पुरुष स्वरमें)

हे शान्ति दयाके देवदूत !

आश्रो करुणाके दिव्य धाम ।

आश्रो जग-मंगल—महाभूति,
तुमको अर्पित शत शत प्रणाम ॥

[समवेत कौन-स्वरमें नमराः आरोहके साथ]
शत शत प्रणाम—शत शत प्रणाम—॥
हे सकल विश्व यति रोग व्यथित,
हे त्राग्रस्त, नरर पल-गल ।
जागो इन सबका कर निनाश,
ले श्राय सत्यका ध्रुव संवल ॥

[आकाशवाणी हो चुकनेपर गौतम सोई नारियोंको
देखते हैं ।]

नेपथ्य-गायिका—

(राग भैरव)

ये केश किसीके अस्त-व्यस्त,
कोई थी मुँह लोचने तोई ।
थी बहती मुँहमें लार कहीं,
खरटि भरती थी कोई ॥
कोई वीणापर छुकी हुई,
कोई मृदंगपर थी उड़की ।
कोई निज करमें वंशी ले,
थी वही अचेतन सी लुबकी ॥
थी नहीं चेतना वरोंको,
था नहीं ज्ञान कुछ भी अपना ।
कोई बराती पड़ो - पकी,
थी देव रही मानो तपना ॥
यह देख वहाँ भीमस्त दरय,
भर गया घृणासे उनका मन ।
[छन्दकका प्रवेश]
छन्दकसे इगिन कर बोले,
तुम आश्रो हय चलना है वन ॥
[छन्दक चला जाता है ।]
छन्दकको यह आदेश दिया,
निर धूम गए देला ऊपर ।
राहुलकी लेकर यशोधरा,
थी सोई स्वप्नासुर होकर ॥
ममताने पग आगे डेले,
गौतमका मन हो गया चिमन ।

है दोप नहीं इनका कोई,
क्यों इनको तजकर जाऊँ बन ॥
राहुलके मोले सुल-शशिपर,
लहरावी लटमें मन उलझा ।
बढ़ गए उठाने हाथोंमें,
तत्काल बुद्धिका भ्रम सुलझा ॥
पेयोंको पीछे लिया खींच,
मनको विरागसे लिया बाँध ।
संयमके दीले बन्धनको,
अविचल विचारसे लिया साथ ॥
गौतम—

यह यशोधरा भोला राहुल,
हैं मायाके कोमल बन्धन ।
साधकको ये हैं बाधार्थ,
इनका न उचित है अभिन्दन ॥

नेपथ्य-गायक—

ममता-विरागके भूलेमें,
क्षुण्ण भर गौतमका मन भूला ।
पर क्षणमें उनका उन्मत्त मन,
आया पथपर पयका भूला ॥

गौतम—

(कानडा, मध्यलय)

सब मिथ्या है, सब माया है,
यह सब मनका है कटु विचार ॥
ये विषय तपस्यामें मेरी,
इनपर न करूँगा मैं विचार ।

नेपथ्य-गायक—

[मन्द लय]

तत्काल हुए गौतम सुख्य,
हो गया सिद्ध विश्वास अचल ।
सो गई विकलता अस्थिरता,
संकल्प हुआ मुक्तिपर अविचल ॥

[छन्दक आता है। घोड़ा तैयार होनेकी सूचना देता है और गौतम एक बार राहुलकी ओर देखकर और दूसरी बार यशोधराकी देखकर छन्दकसे साथ चल देते हैं ।]

[अंधेरा हो जाता है ।]

नेपथ्य गायक-गायिका

रवनीकी उस अंधियारीमें
कंधकपर चढ़कर चले बुद्ध ।
सुल गए नगरके कदम द्वार,
हो गया विश्वका चित्त शुद्ध ॥
उस एक रात्रिमें गए दूर,
योजनपर योजन किए पार ।
शी नदी अनोमा मिली मध्य,
कैसे लौंघें यह था विचार ॥
दी एडु रगड़कर कंधरुको,
भागी छुलौंग, हो गया पार ।
गौतमने सोचा यहीं आज,
लूँगा प्रत्यया जीत मार ॥

[छाया रूपमें गौतम और छन्दक दिखाई देते हैं ।]

करवाल कोशसे खींच लिया,

सब केरा उसीने दिए बाट ।

छन्दकको सोपे आभूषण,

नव सन्यासीका बना टाट ॥

बस्त्रानुपूषण करमें लेकर छन्दक लौटा होकर उदात्त ।

पग डगमग भगमें पड़ते ये, कम पड़ता जाता था डुलाव ॥

[प्रकाश होता जाता है। प्रातःकालके मंगल वाद्य बजते हैं। यशोधरा उठकर गौतमकी हँडुती है। दासियाँ भी उठती हैं और ध्याकुल होकर घूमती हैं। छन्दक आकर सब आभूषण देता है और सब समाचार सुनाता है ।]

मुनते ही अकल्प समाचार,

हो गई अचेतन यशोधरा ।

विकल होकर गिर पड़ी तुल,

किर लगी सींचने तप्त धरा ॥

तत्क्षण छन्दकने आभूषण,

उनके करमें रखले लारु ।

नवनोंमें उलझे अश्रु-बिन्दु,

बन चले धारिधर, नद, निर्भर ॥

यशोधरा—

(भीमपलाती)

मैं तुम्हारे ही स्वामी गौतम अपने गा रही हूँ ।
और अपनी कल्पनामें मैं तुम्हें उलझा रही हूँ ॥

तुम कहाँसे भावनामें
 बन गए श्रद्धा चिरन्तन,
 ज्योति बनकर छा गए हो
 चिर विभामय मिथ नूतन
 मैं तुम्हारे लोचनोंमें प्यास अपनी पा रही हूँ ॥
 जा रहे पल-पल विफलसे
 फल नहीं मेरे हृदयमें,
 तुम जहाँ गति देखते हो
 मूर्च्छना है मन्द लयमें ।
 स्वर भरे आशावरीके किन्तु दीमक गा रही हूँ ॥
 तुम कहाँने चल दिए
 मुक्तको अचल सन्देश देकर,
 ले लिया पथ कष्टमय
 विश्रामका आदेश देकर ।
 पर तुम्हारे नामसे ही मैं हृदय बहला रही हूँ ॥
 [यमनिका-पवन]

तृतीय अंक

प्रथम दृश्य

—बुद्धत्व-लाभ—

[पीला पगीपर]

भावनयी—

(राग बहार)

भयभीति दूर करनेके हित,
 गौतमने या संन्यास लिया ।
 मृष्टियों-मुनियोंके आश्रममें,
 वगमुनि-देतु अम्यास किया ॥
 (कानड़ा)

तात आलारु-कानामके घर गए,
 और वैभव चहों योगका सभ लिया ।
 सोख लीं साधनाएँ सभी ध्यानेले,
 पर न उसने उन्हें धैर्य कुछ भी दिया ॥
 ज्ञानकी खोजमें घूमते ही रहे,
 तप, पर, विश्रवका खोज पाए नहीं ।
 वन, सपोवन, भवन छान मारे सभी,
 शान्ति जगकी कहीं जान पाए नहीं, ॥

फिर समापत्ति उदक सिखाते रहे,
 किन्तु यह मार्ग भी कुछ अपर्याप्त था ।
 दुःख-सकट सभीका हृदा जो सके,
 पंथ ऐसा न उनको कहीं प्राप्त था ॥
 देश उखेलमें वे गए अन्तमें,
 अरं देखा कि है दिव्य भूतल षडों ।
 साधना और तर ही बना लक्ष्य जब,
 तब मिलेगा भला देश ऐसा कहाँ !
 साधु कौडिन्य आदिक सभी आ गए,
 और करने लगे सत्य सेवा सभी ।
 यो लगी एक आशा उन्हें अन्ततक,
 शुद्ध होंगे अभी, बुद्ध होंगे अभी ॥
 पर गए वर्ष छः बीत, पीले पड़े,
 हो गई देह काली, न खाया-पिया ।
 छोड़कर वे तपस्या उठे अन्तमें,
 तब परित्राज्जनोंने उन्हें तज दिया ॥
 [यमनिका उठती है]

[पीपलका वृक्ष दिखाई पड़ता है, बुद्ध आते हैं ।]

नेवप्य-गायक—

(मन्द लयमें राग कानड़ा)

दोहा

तब गौतम वट वृक्षके-शेले पधारे अन्त ।
 आज बुद्ध बनना मुझे, लेकर भाव दुरन्त ॥
 उस बोधि-वृक्षके नीचे ही,
 बैठे गौतम आसन मारे ।
 कौंवी प्रतिभा, चमकी विजली
 आकाश हँस, चनके तारे ॥
 वैशाल पूर्णिमाके विहान,
 पा गए बुद्धि, हो गए बुद्ध ।
 जग गई ज्योति, हो गई तृप्ति,
 मैं हुआ शुद्ध, मैं हुआ बुद्ध ॥
 सरकर्मोंका अति बन्नु मार,
 सद्भावोंका वैरी महान ।
 लक्ष दिव्य तपोनिधि शुद्ध बुद्ध,
 आयाँ उस थलपर वैर ठान ॥
 [मार आकर अनेक प्रकारके उदत नृत्यके द्वारा छल,
 बल, कौशल करता है ।]

(भैरव)

छल-बल-नौटाल करके अपनी,
जब अपने मनमें गया हार ।
रति, अरति और तृष्णाको फिर,
काया मायाके हेतु मार ॥

[रति, अरति और तृष्णा बुद्धको हाथ-भावपूर्वक
अगीत हृत्पसे रिभाती है किंतु हारकर चल देती है ।]

रति, अरति और तृष्णा भागीं,
तब काम, क्रोध, अनुराग चले ।

[काम, क्रोध और मोह अपनी भयंकरता प्रकट करते हैं]

गौतमका लख कर दिव्य रूप,
वे भी जूथ भयमें भाग चले ॥
[काम क्रोध और मोह जाते हैं ।]
हो उठा मारका क्रोध प्रबल,
वह दौत पंस कर हुआ क्रुद्ध ।
लेकर स्वशक्तिका महा-सैन्य,
वह करने व्याप महाबुद्ध ॥

—तीव्र लय—

चल पड़े प्रबल उनचास पवन,
घिर चले प्रबल प्रजभंकर वन ।
छा गया अंधेरा मचा प्रलय,
श्रोलो-वत्पर-भक्त-गर्जन ॥

पापाण-शिलापें घूर-घूर,
बरसे, गरजे शरवाह्व वहाँ ।

हो धुआंधार बरसे बादल,
अब कहाँ पाणि, आकाश कहाँ ॥

वनघोर महा गर्जन प्रचंड,
विभ्यस्त सृष्टि सब खंड-खंड ।

मह-पिंड भग्न, जलमन विश्व,
छोपा अलपट वह काल दण्ड ॥

[मन्द लय]

सब हुआ, किंतु स्थिर रहे बुद्ध,
हो गया पराजित स्वयं मार ।

अपना-ना झूठ ले चला लोट,
वह विश्वत्रयी भी गया हार ॥

[उदरालाके सेनानीकी कन्या सुजाता हाथमें थाली
लिये आती है]

४५

[आसावरी]

उदरालाके सेनानीकी कन्याने ऐसा व्रत ठाना ।
पहले पहले सुन होनेपर मनमें चलदल पूजन माना ॥

ऐसा सुन्दर सयोग बना, वा गई सुजाता मनका धन ।
ले मधुर खार थाल में घर, आई करने पीपल पूजन ॥

देखा नरुके नीचे कोई वनदेव सदस्य आसन पर है ।
खिल गई सुजाता मन ही मन समझी वनदेव मनोहर है ।

[सुजाता थाली आगे बढ़ाती है, प्रणाम करती है ।
बुद्ध ग्रहण करते हैं । खीर पीकर पाव उठाकर फेंकते हैं, वह
खुप्त हो जाता है । सुजाता थाली उठाकर प्रसन्नतामें चल
देती है ।]

[यमनिका-पवन]

द्वितीय दृश्य

भ्यान—वृषपचन या मृगदाव [सारनाथ]

नेपथ्य-गायिका—

(बहार, मन्दलय)

ईमपवन मृगदाव, इतिपवन मृगदाव ।
ये जहाँपर अपने मृग, ले हृदयका जात्र ॥ इति ॥

या निरुद वाराणसीके देश वह रमणीय ।
बुद्ध प्रसुदित हो गए कर व्यक्त मनका भाव ॥ इति ॥

[बुद्ध प्रवेश करते हैं ।]

बुद्ध—

शुद्ध ब्राह्मीका मनोहर यह सुख्य प्रदेश ।
श्रीर पूरेगा यहाँमे घर्म-चक्र स्वभाव ॥ इति ॥

[पंच वर्गीय भिक्षु आते हैं ।]

आ गए अश्रिम्य आदिक भिक्षु पौनी शिष्य ।
हो गई श्रद्धा हरी फिर बढ़ गया सद्भाव ॥

(भैरव, तीव्र लय)

नेपथ्य-गायिका—

मुक्ताकर शीश पधारे भिक्षु
कहा लो शरण हमे हे देव !

मूलकर बहुत हुए पय श्रुत
आव फिर गई पुरानी टेव ॥

वरद मुशर्म दे वरदान
बोलने लगे वचन यह बुद्ध ।

बुद्ध—

मुनो हे आदि सन्नेके भिन्दु,

यही उपदेश हमारा शुद्ध ॥

चलाता हूँ मैं मध्यम मार्ग

धमका चक्र श्रवीत उदार ।

आठ अंगोसे सन्नित मार्ग

सत्य हैं केवल इसमें चार ॥

(छन्दकी गति बदलती है । भैरव, मन्दलय)

है दुःख, दुःख-समुदय निरोध,

दुःखके निरोधने सब उपाय ।

ये आर्य ऋषय हैं शुद्ध नित्य,

जिनके प्रकाशसे दुःख जाय ॥

सम्पक् समाधि, व्यायाम, वृत्ति,

रमृति, कर्म, दृष्टि, सरूप, वचन ।

अध्याग मार्ग सुस्थिर विशेष,

हो जायें नष्ट जिनसे बधन ॥

हैं तीन रत्न जेसल महान

में बुद्ध, धर्म, यह सब नवल ।

इनकी जो लेना शरण जीव,

उसको न सताता मार प्रबल ॥

निर्वाण प्राप्तिका यह उपाय

अति शुद्ध सरल निरहल उदार ।

बुद्धत्व प्राप्तिका सहज पथ,

इसमें न कहीं सराय निहार ॥

[पाँचों भिन्दु सिर झुका लेते हैं ।]

बुद्ध सरन गच्छामि

धम्म सरन गच्छामि

सग सरन गच्छामि

[समनेत स्वरमें सब इधे ही दुहराते हैं ।]

[यवनिका पवन]

तृतीय दृश्य

भावनगी—

(गीत-मृदय, भैरव राग)

हो हो हो साज सजाओ रे, सजाओ रे ।

गली गलियोंमें साज सजाओ रे ॥

आज आया जगतीके नैनेका तारा ।

आज आया बुवराज फिरसे हमारा ।

पर-परमे बाजे बजाओ रे ॥

हो हो हो साज सजाओ रे ॥

आज खुली जगतीके बधनको पार्श्व,

आज मिली जगतीको जीवनको साँसें ।

पर-परमे बाजे बजाओ रे ॥

हो हो हो साज सजाओ रे ॥

[पीछेसे मुनाई पढ़ता है ।]

नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मा सबुद्धस्स ।

नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मा सबुद्धस्स ॥

[ऊपर आदारीपर यशोधरा श्रीर राहुल खड़े हुए देखते हैं]

नेपथ्य गायिका—

चढ़ गई आदरपर यशोधरा,

ये नैन सजल, था हृदय विफल ।

कोलाहल वह जिस ओर उठा,

धूमि, देखा— होकर विडल ॥

देखा गीतमका भिन्दु रूप

आँसुकी धारा बरस पड़ी ।

परसे नयनोंको लिया पछ,

टक बाँव देखती रहा खड़ी ॥

यशोधरा—

देखो राहुल पचानो तो,

हैं पिता यही देखो इनका ।

अपनी भ्रष्टा अर्पण करके,

सारा जग अपनाता जिनको ॥

नेपथ्य गायिका—

भोला भाला बालक राहुल,

रह गया ठिठक आँसु पसार ।

मैं सुनता था हूँ राजपुत्र,

क्या मैं भिन्दुका हूँ कुमार ॥

नि शब्द हो गई यशोधरा,

ये अधर मौन, थी साँस मौन ।

किस उपधित हृदयसे बतलावे,

ये भिन्दु आज ये बने कौन ॥

[नेपथ्यमें मुनाई पढ़ता है]

बुद्ध सरन गच्छामि

धम्म सरन गच्छामि

सध सरन गच्छामि

[बुद्ध आते हैं। सापमें शुद्धीरन भी है]

(राग शंकरा, मन्दलय)

जय बुद्धदेव जय शान्तिमूर्ति,
स्वागत विकासके अग्रदूत ।
जय बुद्ध, बुद्ध, अतिशय प्रबुद्ध
जय जीव-दयाके बल अकूत ॥

[यशोधरा राहुलको लेकर नीचे आती है। राहुलके हाथमें पूजनकी थाली है। यशोधरा राहुलका हाथ पकड़कर आती करती है और राहुल सहित आती लिए हुए झुक जाती है। बुद्ध बरद मुद्रामें हाथ उठाते हैं, सब झुक जाते हैं।]

बुद्ध सरनं गच्छामि
धम्मं सरनं गच्छामि
संघं सरनं गच्छामि

[यवनिका-पतन]

["बुद्धत्व-प्राप्ति नामक तृतीय अंक पूर्ण"]

॥ इत्यभिनवपरतन्त्रीसीतागमविरचितेऽभिनवनाट्यशास्त्रे पञ्चदशोऽध्यायः ॥

इस उपर्युक्त चर्यानाट्यसे यह स्पष्ट हो गया होगा कि कहीं गीतकी गति, लय, शब्द योजना तथा उसका राग किस रूपमें उपस्थित किया जाना चाहिए। बहुतेरे नाटककार मस्युके दर्शकोंमें अपना आश्चर्य और बोधव्यक्ततापूर्ण दर्शकोंमें भी अनावश्यक स्थलपर गीतकी योजना करने लगते हैं। गीतके प्रयोगके सम्बन्धमें यह ध्यान रखना चाहिए कि नाटकमें अत्यन्त स्वाभाविक परिस्थितिमें ही गीतका प्रयोग करना चाहिए। अनावश्यक रूपमें नाट्यकथाकी धारा तोड़कर गीतका आवीजन करनेसे रसानुभूतिमें बाधा पड़ती है और दर्शकोंकी जो भाव-धारा उद्योत होकर किसी विशेष दिशामें बढ़ती चलती है वह सहजा विच्छिन्न होकर लुप्त हो जाती है और दुबारा उस भावधाराके लिये भूमिका बगाना कठिन हो जाता है। अतः अवसर, रस भाव तथा गीतिका ध्यान रखकर स्वाभाविक अवस्थामें ही गीतका प्रयोग करना श्रेयस्कर है। नाटकमें छन्दोयोजना, कविता और गीतके प्रयोगके सम्बन्धमें इतना ही पर्याप्त होगा।

रूपरचना-लघु छन्द-योजना-प्रकरणे छन्दस्तत्त्वं नाम

नाट्यवृत्ति

पिछले अध्यायोंमें विस्तृत रूपसे विवेचन किया जा चुका है कि नाटकमें कितने तत्व होते हैं और किन-किन अंगों अथवा उपान्तोंसे उन तत्वोंका निर्माण होता है। इतना विवेचन हो चुकनेपर हमें यह समझनेमें सुविधा हो जायगी कि इन अंगोंसे पुष्ट तत्वोंके व्यापारपर कितने प्रकारके नाटक रचे जा सकते हैं। हमारे यहाँ इस प्रकार 'प्रकार' या 'रचना-शैली' या 'रचनाके ढंग' को ही 'वृत्ति' कहते हैं।

कुछ नाटकोंमें हम गीत, नृत्य, तथा शृंगार चैद्योगिकी बहुलता पाते हैं। किसीमें युद्ध, मारकाट, सङ्घर्ष-भ्रमण और इन्द्रजाल आदिकर प्रयोग होता है। किसीमें केवल संवाद ही प्रधान होता है। किसीमें नायकके विशेष उदात्त गुण ही विस्तारसे दिखाए जाते हैं। हमारे यहाँके नाट्याचार्योंमें केवल इन्हींके आधारपर भेद निश्चित किए हैं। किन्तु यदि हम विदेशी नाटकोंका अध्ययन करें तो हमें

ज्ञात होगा कि और भी अनेक प्रकारकी शैलियोंमें नाटक रचे जा सकते हैं। योरपमें रहस्यवादी नाटक (मिस्टरी प्लेज) या नीतिवादी नाटक (मोरैलिटी प्लेज) भी वास्तवमें नाट्य-वृत्तियाँ ही हैं। इसी प्रकार यूनानमें द्राष्ट और प्रदशन नामसे जो दो प्रकारके नाटक लिखे जाने लगे थे वे भी वास्तवमें दो वृत्तियोंके आधारपर ही व्यवस्थित थे। चीनमें भी जो दो प्रकारके सैनिक और सार्वजनिक नाटक पद्धतियाँ थीं उन्हें भी दो अलग नाट्य-वृत्तियाँ ही समझनी चाहिएं। इन्हीं वृत्ति-भेदोंके आधार-पर ही सब देशोंमें अलग-अलग प्रकारके भेद-उपभेदोंके साथ अनेक नाटक रचे गए।

(स्विक-रहस्यमे डा० श्यामसुन्दरदासने वृत्तिकी विवेचना इस प्रकार की है—

"वृत्ति शब्दका साधारण अर्थ है बस्ताव, काम अथवा

दग। नाट्य शास्त्रमें नायक, नायिका आदिके विशेष प्रकारके बरताव अथवा दगको वृत्ति कहते हैं। प्रवृत्ति वृत्ति तथा रीति, ये तीन साहित्य-विद्याके अंग माने गए हैं। काव्य-मीमांसामें इनका वर्णन राजशेखरने इस प्रकार किया है—'तत्र वेषविन्यासक्रमः प्रवृत्ति, विलास विन्यास-क्रमो वृत्तिः, वचन-विन्यासक्रमो रीतिः।'—अर्थात् विशेष प्रकारकी वेश-रचनाको प्रवृत्ति, विलास-प्रदर्शनको वृत्ति और वचन-चातुरीको रीति कहते हैं। 'साहित्य-दर्पण' के टीकाकार तर्कवागीशने—'वृत्तं ते रसोऽनयेति वृत्तिः'—जिसके कारण रस वृत्तमान हो, जो रसास्वादनका प्रधान कारण हो, वह वृत्ति है, इस प्रकारका व्युत्पत्ति-लक्षण अर्थ दिखलाया है।

'अथ देखना चाहिए कि विलास विन्यासक्रमो वृत्तिः' इस वाक्यमें विलास शब्दका क्या अर्थ है। विलास नायकके गुणको कहते हैं। साहित्य-दर्पणमें उसका यह लक्षण लिखा है—

'धीरा दृष्टिगतिरिचित्रा विलासे सस्मितं वच.' ॥

अर्थात् विलासके चिह्न हैं—गम्भीर दृष्टिके देखना, निराली चालसे चलना और मुस्कराकर बातें करना। विलास नायिकाके स्वभावज अलंकारोंमेंसे एक है। वह है—

पानस्थानासनादीनां मुखनेत्रादिकर्मणाम्।

विशेषस्तु विलासः स्याद्विह्वलदर्शानादिना ॥

तात्पर्य यह है कि मियतमके दर्शन मिलनेपर नायिकाके आनेवालेमें, उठने बैठनेमें, हँसने-बोलनेमें, देखने सुननेमें जो एक प्रकारका निरालाभन आ जाता है, एक तरहकी अदा पैदा हो जाती है, उसे विलास कहते हैं। इन लक्षणोंके अनुसार बोल-चाल, उठने-बैठने तथा चलने फिरनेके अन्वेषे दंगको ही विलास कहना उचित जान पड़ता है।

अतः इससे यह सिद्ध हुआ कि नाट्यमें यथार्थता और उसके द्वारा सजीवता खानेका प्रयत्न करते हुए नट और नटी सभी पात्रोंके वाचिक, यागिक, आहार्य और सात्विक चारों प्रकारके अभिनयकी और प्रसंगानुसृत दर्शकोंके प्रदर्शनकी उस विशेषताको वृत्ति कहते हैं जो नाटक य रचना अनुभूतिमें मुख्य सहायक हो। इस प्रकार, भरतमुनिके शब्दोंमें वृत्तियोंको नाट्यकी माताएँ समझना चाहिए—

एवमेता बुधैर्ज्ञेया वृत्तयो नाट्यमातरः।

वृत्तियों चार प्रकारकी होती हैं—भारती, कैशिकी, सासर्वाती और आरभटी।

भारती वृत्ति

इनमेंसे पहली शब्द-वृत्ति और शेष तीन अर्थ-वृत्तियों कहो जाते हैं। भरताको शब्द-वृत्ति इसलिए कहते हैं कि उसमें याविक अभिनयकी ही अधिकता रहती है, उसको याजनाके लिये किसी विशेष दृश्यकी अनतारणा करनेकी आवश्यकता नहीं होती। अन्य वृत्तियोंमें नृत्य, गीत, हास्य तथा भिन्न भिन्न रसोंके अनुरूप भाव और दृश्य दिखलाए जाते हैं। [भारती अश्वेदसे, सात्वती यजुर्वेदसे, कैशिकी सामवेदसे और आरभटी अथर्ववेदसे उत्पन्न मानी गई है। इसका कारण यह है कि अश्वेदके कई सूक्तोंमें खंलापके ऐसे प्रसंग हैं जिनमें मृद्धम रूपसे नाटकका बीज निहित है। जैसे सरमा और पण्डितोका संवाद (ऋ० १०। १८) विश्वामित्र और नदिद्वेया संवाद, (ऋ० ३। ३३) इत्यादि। इसी प्रकार सरव, शौर्य, दया आदि भावोंसे सम्बन्ध रखनेवाली सात्वतीकी देव मंत्रोंसे पूर्णसे यजुः वे, नृत्य गीत बहुल कैशिकीकी सर्गोत्तमय सामसे, और भव्य, दय, सप्राम काध, इन्द्रमाल, माया आदि उद्धत तथा भीषण भावोंसे भरी आरभटीका मारण, मोहन उच्चपटन आदि आभिचारिक क्रियाओंके वर्णनसे व्यास अथर्वसे उचित मानना उचित ही है।

कैशिकी वृत्ति

जैसा पहले कहा जा चुका है, नायकके व्यापारके आधारपर ये वृत्तियाँ होती हैं। हम पहले अर्थ-वृत्तियोंके सम्बन्धमें विचार करेंगे। कैशिकी वृत्ति उसे कहते हैं जिसमें गीत, नृत्य, विलास, रति इत्यादि आवें। इसमें स्त्रियोंके व्यापार भी सम्मिलित होते हैं। इन्हीं सब बातोंके कारण यह वृत्ति मधुर मानी गई है।

कैशिकोंके चार भेद होते हैं—(१) नर्म (२) नर्म-रुद्ध (३) नर्मरुद्ध (४) नर्म गर्भ

१. नर्म—प्रियकी प्रशन्न करनेवाली परिहास पूर्ण क्रीड़ाको नर्म कहते हैं। नर्मके भाँ तीन भेद होते हैं। पहलेमें केवल हास्य होता है। इसलिये उसे हास्यनर्म कहते हैं। दूसरेमें शृंगार-पूर्ण परिहास होता है इसलिये उसे शृंगार-

नर्म कहते हैं और तिसमें भय-युक्त परिहास होता है । जिससे उसे भयनर्म कहते हैं ।

शृंगार-नर्मके आत्मोपलक्ष्य नर्म, मंभोग नर्म और मान-नर्म, ये तीन उभेद और भय नर्मके शुद्ध और रसांतरांगभूत ये दो उपभेद होते हैं ।

आत्मोपलक्ष्य-नर्म प्रियके प्रति अपना अनुराग निवेदन करनेके उद्देश्यसे होता है; जैसे

लगत अपाद् कइत हो, चलन किसोर ।
घन घुमड़े चहुँ औरन, नाचत मोर ॥
मोहन जीवन प्यारे, कसि हित कीन ।
दरसन ही की तरफत ये दग-मीन ॥

[रहीम]

संभोग-नर्म—कामाभिलाष प्रकट करनेके निमित्त;

यथा—

जाद पलका पीवके, बैठी दावति पाँव ।
अमुहाती लखि बिहँसि विष, लई गरे सो लाव ॥

मान-नर्म—अपराधी पतिके ताड़नेके लिये, उदाहरण—

जानेउ जहाँ रदनियाँ, तदहाँ जाउ ।
जोरि नैन निरलजवा, कत मुसकाउ ॥
पीदहु पीय पलंगिआ, मं.हुउँ पाँव ।
रैन जगे कर निदिआ, सब मिटि जाव ॥

[रहीम]

शुद्ध भय-नर्म—इसका उदाहरण रत्नमालीके दूसरे अंकमें मिलता है । जहाँ चित्रको देख सुसंगता हैं सीमें कहती है—

“चित्रपटके सहित मैं इस सारे वृत्तान्तको जान गई हूँ । मैं यह सब जाकर देवीसे कहूँगी” इत्यादि ।

शृंगारान्तर्गत भय-नर्म—

साँझ समे वा छैल की, लूलनि कही नहीं जाय ।
बिन डर बन डरपाय हैं, लई मोहि उर लाय ॥

[मतिराम]

इस प्रकार नर्मके ६ भेद होते हैं । यह परिहास-वाणी, वेश और चेष्टा तीनोंसे ही सकता है । अतएव इन ६ भेदोंमें प्रत्येकके वाणी, वेश और चेष्टा इन माध्यमोंके आचारपर तीन तीन भेद होते हैं । सब मिलाकर १८ भेद हुए ।

वाणी नर्मका उदाहरण—

मीनके घीस सिंगारनको ‘मतिराम’, सहेलिनको गनु आयी ।
कंचनके बिलुवा पहिरावत, प्यारी सखी परिहास बढायी ॥
“पीतम सौन समीप सदा बजै,” यी कहिकै पहिले पहिरायी ।
कामिनी कौल चलावसि की, कर ऊँचो क्रियो, पै चल्थी
न चलायौ ॥

[मतिराम]

वेश-नर्म—विदूषकोंको वेश-भूषा हास्योत्पादक हुआ करती है । नागार्जुन नाटकमें विदूषक शैलरककी वेशभूषा ऐसी ही हास्योत्पादक थी ।

चेष्टा-नर्म—मालविकाग्निमित्रमें निपुणिका स्वप्न देखते हुए विदूषकके ऊपर एक टट्टी फेंकती है । विदूषक उसे सर्प समझता है और ऐसी चेष्टा करता है जिससे सर्प हँसने लगते हैं ।

२—नर्मस्मृजं या नर्मस्मिज्ज—नायक नायिकाके प्रथम सम्मिलनका सुखसे आरंभ होना तथा भयसे अंत होना नर्मस्मिज्ज कहलाता है । जैसे मालविकाग्निमित्रमें प्रथम सम्मिलनके अवसरपर अग्निमित्रके मालविकासे यह कहने-पर कि मैं बहुत कालसे तेरे प्रेममें अनुरक्त हूँ, तू उभयुक्त लताकी तरह मुझसे लिपट जा, वह उत्तर देती है कि देवी (रानी) के भयसे मैं अपना इष्ट कार्य भी नहीं कर सकती । यहाँपर इस सम्मिलनसे प्रसन्न हुए नायक-नायिकाके सामने अन्तमें रानीका भय उपस्थित हो जाता है ।

(३)—नर्मस्फोट—थोड़े भावोंसे सूचित अल्प रसको नर्मस्फोट कहते हैं । जैसे मालती-माधवमें मकरन्दके नीचे लिखे कथनमें—

चलतमे यह अति ही अलसात ।

देह न करति वृद्धि सुखमार्गी वृत्ति दृष्टि ललात ॥

चिंतातुर सो साँस भरत छिन छिन दूनी दरसावै ।

कारण का ! बहिके विचार्य कहु और समझ नहिँ आवै ॥

अवसि रही परि सुवन सुवनमें मनमथ-विजय-बुहाई ।

जोर मगोर भरी जीवन-नादि यदि तनमे उमड़ाई ॥

प्रकृति मधुर कमनीय भाव जब जीवन व्योति प्रकासै ।

बरषस मन बस करत धीरता धीरज हू की नासै ।

[मालती माधव]

यहाँ माधवकी चाल दालछे प्रकाशित थोड़े भावसे मालतीके प्रति उसका अनुराग किंचित् मात्रामें प्रकट होता है ।

(४) नर्मगर्भ—नायकका गुप्त व्यवहार। जैसे प्रिय-दक्षिणाके गर्भाङ्गमें वस्त्रराजना वेश धारण की हुई सुसज्जताके स्थानपर स्वयं वस्त्रराजका आ जाना। अथवा—

एकै यत्न पैठी हुती, टोज प्यारी वाम।

मूर्ति नैन इकने, उलटि, चूमी अचरहिं स्वाम ॥

भो इसका अर्थ उदाहरण है। वैसे ही मालतीमाधवमें माधव सबलीके रूपमें जाकर विरह-पीडित मालतीके छूटते हुए भाषाओंकी रक्षा करता है और मालतीको इस बात का पता नहीं चलता।

सात्वती वृत्ति

नायकका व्यापार जहाँ शोकरहित, सत्य, शौर्य, दया, त्याग और आर्जव-सहित हो वहाँ सात्वती वृत्ति होती है। इसके चार प्रकार होते हैं—(१) सलापक, (२) उरथापक (२) साधात्य और (४) परिवर्तक।

१—सलापक नाना प्रकारके भाव और रसोंसे युक्त गम्भीर उक्ति या वार्त्तालापको कहते हैं, जैसे—

‘राम—निश्चय यह कार्तिकेयको जीतनेपर सपरिवार प्रसन्न हुए महादेवका दृष्टार वर्षतक उनके धिष्य रहनेवाले तुमको दिया हुआ परशु है।

परशुराम—हे राम। यह मेरे गुरु महादेवनीका प्यारा वही परशु है। शस्त्र परीक्षाके दिन गणोंसे धिरे हुए कुमार कार्तिकेयको मैंने हराया था। इसीसे प्रसन्न होकर मेरे गुरु गुरुओंके प्रेमी भगवान् शंकरने प्रसाद रूपमें यह परशु दिया था।”

[वीरचरित]

राम और परशुरामकी यह गम्भीर उक्ति प्रयुक्ति नाना प्रकारके भावों और रसोंसे युक्त है इसलिये सनापक है।

२—उरथापक—जहाँ नायक दूसरेको युद्धके लिये ललकारे या उभाड़े वहाँ उरथापक होता है। जैसे लक्ष्मणका रावणको ललकारना—

रे खल का मारसि कपि-मातृ। मोहि बिलोकु तोर मैं काटू ॥

[तुलसीदास]

३—साधात्य—जहाँ मन्त्रके, धनके, या देवी शक्तिके बलसे किसी सघात (समाज) में फूट या भेदभाव डाल दिया जाय वहाँ साधात्य हाता है। जैसे मुद्राराक्षसमें ‘राक्षस’के सहायकोंमें चाणक्यने अपने बुद्धि-बलसे भेद-

बुद्धि उत्पन्न कर दी। यह मन्त्र-शक्तिका उदाहरण है। इस उदाहरणमें मन्त्रका अर्थ ‘विचार’ लिया गया है। राक्षसके हाथ परतकके बपड़े पहुँचाकर चाणक्यने अर्थ शक्तिके द्वारा मलयकेतुका उसके भेद कत्वाया। रामायणमें विभीषणका रावणसे फूट जाना रामकी देवी शक्तिका उदाहरण है।

४—परिवर्तक—हाथमें लिए हुए कामको छोड़कर दूसरा काम आरम्भ करना परिवर्तक कहलाता है, जैसे—

परशुराम—

गणपतिके मूलसलसम दत्तन सो अंकित है,

चानन पटानन व्रगदानन मुहार्द्ध है।

उद्भूत वीर-राम सों, सुयस्त्र धारि पुलकनि कौं

छाती मम उत्सुक तोहि भेत्तिनेको घाई है।

राम—भगवान्! अस्मिन् तौ प्रस्तुत व्यापार युद्धके विरुद्ध है।

[वीरचरित]

आरभती वृत्ति

आरभती वृत्तिमें माया, इन्द्रजाल सग्राम, क्रोध, उद्भ्राति प्रस्ताव आदि बातें होती हैं जो वस्तु वास्तवमें न हो उसे मन्त्रके बलसे प्रकट कर दिखलाना माया कहलाता है। तन वन या हाथको सग्राहसे कुठका कुछ कर दिखाना इन्द्रजाल होता है। चकित होकर चक्कर काटते रहने अथवा भूमते रहनेको उद्भ्राति कहते हैं।

आरभती वृत्ति चार प्रकारकी होती है—(१) संक्षिति (२) सफे (३) वस्तुस्थापन और (४) अवपात।

१—संक्षिति—घनजयके अनुसार शिल्पके योगसे संचित वस्तु रचना संक्षिति कही जाती है। घनिकने इसपर टीका करते हुए सांक्षितिकी व्याख्या की है ‘मिष्ट्री, बॉल, पत्तों और चमड़ेके द्वारा वस्तुका उत्पादन’ अर्थात् अपने कला कौशल-द्वारा इन उपादानोंसे नाना प्रकारकी वस्तुएँ बनाना। उन्होंने उसका उदाहरण बताया है उदयन-चरितमें बॉलका बना हाथी। मिस्टर शस्त्रने इसका अर्थ कुठ और ही किया है। उसने इसका कथानक या विषय अर्थ लगाया है। घनजयने इसके विषयमें, बिना नाम दिए ही और आचार्योंकी भी सम्मति दी है। उनके अनुसार संक्षिति पहले नायकके चले जानेपर दूसरे नायककी उसके

स्थानपर प्रतिष्ठा करना है। जैसे बालिके निवन हो जाने पर सुग्रीवको नायक बनाना। धनिष्ठीने अपनी टीकामें इसीसे यह भी अर्थ लगा लिया है कि पात्रकी मनोवृत्तिका बदल जाना, जैसे वीरचरितमें परशुरामकी उद्वेगताकी त्यागकर शान्तिता ग्रहण करना।

२—सफेट—इसमें क्रोधसे उन्नेलित दो व्यक्तियोंका पारस्परिक युद्ध होता है, जैसे, मालती-माधवमें माधव और अघोरघंटका या रामायणीय कथाके आधारपर लिखे गए नाटकोंमें मेघनाद और लक्ष्मणका।

(३) वस्तुस्थान—माया, मन्त्र आदिसे उत्पन्न की हुई वस्तु।

पलंग-सहित अनिच्छको, भन्त्र चलाई उड़ाया।
ल्यथी बानामुर-महल, ऊपै दई मिलाय ॥

[उषा-अनिच्छ]

(४) अवपात—इसमें निष्कमण (जाना), प्रवेश, भय और भागना ये बातें होती हैं। इसका उदाहरण मालती-माधवके तीसरे अंकमें मिलता है—

(बुद्धिरक्षिता वचवाई हुई आती है)

बुद्ध०—बचाना! बचाना! नंदनकी बहन सखी मदनतिका इस व्यापके पंजेमें फँस गई है। उसके साथ-के सब लोग भाग गए। जो लोग साहस करके आगे बढ़े उन्हें इस दुष्ट आपदने मार डाला। वस अब शीघ्र कोई आओ और उस बेचारीको बचाओ।

माधव—(देखकर) ओ हो!

लटकत दूरी, मुख अंचराल,
आवत मृगेन्द्र कद्वत विशाल।
परे रुद्ध-मुंड कृत लंड-लंड,
परकृत कटि हालति युग उर्दंड ॥
वह खरि-पंक-पूरण लखत,
जई पिंडुरी लौं पग धँसे जात।
होयो नहुको कछु करि उताल,
अब यह मारग भयो अति कराल ॥

[मालती-माधव]

प्रियदर्शिकामें विषयकेतुपर किए गए आक्रमणके समयका कोलाहल भी इसका उत्तम उदाहरण है।

भारती वृत्ति—

“दशरूपक” में भारती वृत्तिका यह लक्षण दिया है—

भारती संस्कृतप्रायो वाग्वापारो नटाश्रयः।

भेदेः प्ररोचनायुक्तौ वीथीमहलनामुखैः ॥

अर्थात् भारती वृत्ति वह है जिसमें वाग्वापार या बातचीत अधिकारा संस्कृतमें हो, जो नटके आश्रित हो तथा जिसके प्ररोचनाके अतिरिक्त वीथी, प्रहसन और आमुख भेद होते हैं।

साहित्यदर्पणमें इसका लक्षण इस प्रकार लिखा गया है—

भारती संस्कृतप्रायो वाग्वापारो नराश्रयः।

तस्याः प्ररोचना वीथी तथा प्रहसनामुखे ॥

श्रंगान्वयेन्मुखीकारः प्रशंसतः प्ररोचना।

भरत मुनिने अपने नाट्यशास्त्रमें भारती वृत्तिका वर्णन इस प्रकार किया है।—

या वाक्प्रधाना पुण्यप्रयोज्या स्त्रीवर्जिता संस्कृतवाक्ययुक्ता।
स्वनामवेयैरंशैः प्रयुक्ता सा भारती नाम मयेषु वृत्तिः ॥

इन तीनों लक्षणोंके मिलानेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि भारती वृत्ति उस रूपकर-रचना शैली या भाषा-प्रयोगकी विशेषताका नाम है जिसे भरत अर्थात् नट लोग प्रयोगमें लाते हैं, नटियों नहीं, और जिसमें संकृत भाषाके वाक्योंका ही अधिकता रहती है। घनंजय और साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथकी परिभाषा तो प्रायः मिलती-जुगती है, केवल घनंजयका ‘नटाश्रयः’ विश्वनाथमें आकर ‘नराश्रयः’ हो गया है। इसके कारणका भी अनुमान किया जा सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि आरंभमें नट लोग समासदोषकी प्रसन्न करने तथा उनके मनको मुग्ध करके नाटककी ओर आकृष्ट करनेके लिये मुख्य वस्तुके पूर्व ही इसका प्रयोग करते थे। पीछेसे नाटकके और और अंशोंमें भी इसके प्रयोगका विधान होने लगा, जिससे ‘नटाश्रय’के स्थानपर ‘नराश्रयः’ हो गया। भारती वृत्तिके चार अंगोंमेंसे प्ररोचना और अमुखका संबंध स्पष्ट ही पूर्वर्गसे है। प्ररोचना प्रस्तुत विषयकी प्रशंसा करके लोगोंकी उत्कंठा बढ़ानेके कृत्योंको कहते हैं और आमुख आपसकी बातचीतके द्वारा कौशलपूर्वक मुख्य नाटकीय वस्तुके आरंभ करनेके कृत्योंको कहते हैं। पर भारती वृत्तिके संबंधमें वीथी और प्रहसनकी व्याख्या आचार्योंने स्पष्ट रूपसे नहीं की है। हाँ,

वीथीके तेरह अंग अवश्य बताए हैं, जिनका संबंध उतना पूर्ववर्गसे नहीं है जितना कि स्वयं रूपकके कथानकसे। प्रहसन और वीथी रूपकके भेदोंमें भी आए हैं। प्रहसन एक ही अंकका होता है जिसमें हास्यरस प्रधान रहता है। वीथीमें भी एक ही अंक होता है, पर प्रधानता शृंगार रसकी होती है। दोनोंके इतिवृत्त कवि-कल्पित होते हैं। अनुमानसे ऐसा जान पड़ता है कि आरंभमें प्रहसन और वीथी प्रस्तावनाके अंगमात्र थे। हँसी या मस्कररेपनकी बातें कहकर अथवा उनमें विशेष प्रयोगसे युक्त किसी छोटेसे कथानकको लेकर तथा शृंगार-रस युक्त और विचित्र अंकि-प्रयुक्तसे पूर्ण किसी कल्पित पात्रको लेकर दर्शकोंका चित्त प्रसन्न किया जाता था। ऐसा जान पड़ता है कि प्रस्तावनाके समय अनेक उपायोंसे सामाजिकोंके चित्तको प्रसन्न करके नाटक देखनेकी और उनकी रुचिको उन्मुख और उत्कण्ठित करना नटोंका विशेष कर्तव्य समझा जाता था। फिछेसे प्रहसन और वीथीने स्वतंत्र रूप धारण कर लिया और वे रूपकके भेद विशेष माने जाने लगे। अथवा यह भी हो सकता है कि आमुख और प्ररोचना तो नाटकके प्रति आकृष्ट करनेके लिये और वीथी तथा प्रहसन मध्य या अंतमें सामाजिकोंकी रुचिको सजीव बनाए रखनेके लिये प्रयोगमें आते रहे हों। आजकल भी किसी अन्य रसके नाटकके आरंभ, मध्य अथवा अंतमें दर्शकोंके मनोविनोदके लिये फार्स (जिसके लिये प्रहसन भी उपयुक्त शब्द है) खेला जाता है। पर धनंजयका यह कथन है कि वीथ्योंके द्वारा स्रष्टार नाटकके अर्थ और पात्रका प्रस्ताव करके प्रस्तावनाके अन्तमें चला जाय और तब वस्तुका प्रवचन आरंभ करे, इस अनुमानके विरुद्ध पड़ता है। इससे तो यही शत होता है कि संपूर्ण भारतीय वृत्तिका प्रयोग वस्तु-प्रवचनके पूर्व ही होता था। फिर भी वीथी और प्रहसनको अन्य रूपकोंके अंग एवं स्वतंत्र रूपक दोनों माननेमें कोई आपत्ति नहीं दीख पड़ती।

यह भी हो सकता है कि विश्वनाथका 'नराश्रयः' धनंजयके 'नटाश्रयः'की नहीं वरन् भरतके 'श्चीवर्जिता'का स्थानापन्न हो। भारती वृत्तिमें द्वित्रयोंका पाश्र्व इसलिये धर्मित है कि एक तो भारती वृत्ति संस्कृत-प्रधान होती है और भारतीय नट्याशास्त्रके अनुसार द्वित्रयोंको प्राकृतमें बोलना चाहिए। दूसरे उसमें मसखरेपनकी बातें होती हैं

और द्वित्रयोंके साथ बड़-बड़कर मसखरेपनकी बातें करना हिंदु-समाजमें द्वित्रयोंके लिये विहित आदर और शिष्टता के भावोंके विपरीत है। भारती वृत्तिके अंगोंका विवेचन आगे दिया गया है।

धनंजयने पहली तीन वृत्तियोंको हो सञ्ची या क्रिया-वृत्ति माना है भाग्यी वृत्तिके नहीं। नाटकोय व्यापारसे भारती वृत्तिका कोई संबंध नहीं, वह केवल वाचिक वृत्ति मात्र है।

इसके अतिरिक्त उच्च और उनके अनुयायियोंने एक पाँचवीं वृत्ति भी मानी है। इसकी उन्होंने अर्थवृत्ति संज्ञा दी है परन्तु अन्य नाट्याचार्योंने उसे मान्य नहीं समझा है।¹

॥ वस्तु-व्यापार-प्रकृतिः वृत्तिः ॥

[कथा वस्तु-व्यापार-प्रकृति ही कहलाती है वृत्ति।]

ऊपर वृत्ति शब्दकी जो व्याख्याएँ की गई हैं उनमें न तो राजशेखरकी काव्यमोमासाकी व्याख्या उचित है न तर्कनागेशकी ही। यहाँ वृत्तिका अत्यन्त सीधा सादा अर्थ है प्रकृति जो वृत्त धातुके साथ क्तिन् प्रथय लगाकर बनाई गई है। वृत्तिका अर्थ है होना अर्थात् जिस रूपमें नाटक उपस्थित हो, यही उसकी वृत्ति है, दंग है, रूप है। इसे यों कह सकते हैं कि कथावस्तुमें जिस प्रकारका कार्य अचिक प्रदर्शित किया जाय वही उसकी वृत्ति कहलाती है। अर्थात् कथावस्तुमें विशिष्ट व्यापार या कार्यकी शैलीको ही वृत्ति कहते हैं। इस अध्यायके प्रारम्भमें ही हम यह बात समझा आए हैं कि नाटककार किन्हीं विशेष प्रकारकी घटनाओं या व्यापारोंका प्रवेश करके नव रचना करता है तब वह व्यापार-योजना शैली ही वृत्ति कहलाती है। राजशेखर और तर्कनागेशकी जो भ्रम हुआ वह इस कारण कि दोनों नाटकके प्रयोगात्मक रूपसे सर्वथा अनिभिन्न थे। और आश्चर्य हो इस बातका है कि बाल-रामायण नाटकके रचयिता होकर भी राजशेखरने इस प्रकारकी भूल की।

ऊपर रूपक-रहस्यसे वृत्तिका जो विवेचन उद्धृत किया गया है उसमें भारती, सारवती, कैशिकी और यारभटी चारों वृत्तियोंका पूरा परिचय प्राप्त हो जाता है। उसका सारास यह है कि भारती वृत्ति उस नाट्य रचना शैलीको कहते हैं जिसमें वगैरे या नर-पात्रों द्वारा संकुचमें वाचलाप या

संवाद हो, स्त्रियों कम हों। हमारे मतसे नटाश्रयः ही ठीक पाठ है और उसका अर्थ यह है कि जैसा नट हो उसके अनुसार वाग्म्यापार अर्थात् संवाद जिसमें हो वह भारती वृत्ति कहलाती है। नाट्यशास्त्रके अनुसार भारती वृत्ति 'श्रीवर्षिता संस्कृत-वाग्मयुक्ता' हो अर्थात् उसमें स्त्रियोंके संवादको छोड़कर शेषका व्यापार संस्कृतप्राय हो। इसमें स्त्रीवर्षिताका अर्थ त्रियोषि हीन नाटक नहीं है। नटाश्रय वाग्म्यापारको भी संस्कृतप्राय इसलिये कहा कि गिम्न कोटिके पात्र और विदूषक तो प्राकृतमें ही बोलेंगे। इसत्रिये भरतका युद्ध मत यही है कि भारती वृत्तिमें जितने संवाद हों वे नर्तकी प्रकृतिके अनुकूल ही अर्थात् जैसी उनकी योग्यता, उनका वद हो उसीके अनुकूल उनका संवाद हो और यह संवाद जहाँतक संभव हो संस्कृतमें ही हो या इसमें अधिकांश देवे वाच रखले जायें जिनके मुखसे संस्कृत कइलाई जा सके, साथ ही इस प्रकारके संस्कृतमें बोलनेका बंधन स्त्रियोंके लिये नहीं रहेगा, वे प्राकृतमें ही बोल सकेंगी। यद्यपि साधारणतः स्त्रियोंके लिये प्राकृतमें बोलनेका विधान है किन्तु उत्तराणमचरितकी गौतमीके समान ऐसी चतुर देवियोंका भी प्रयोग हो सकना है जो संस्कृत बोल सकें फिर भी भारती वृत्तिमें उन्हें छूट अवश्य दे दी गई है।

धनत्रयका यह कहना तो ठीक है कि यह वृत्ति क्रियावृत्ति नहीं है और यही कारण है कि इस वृत्तिके नाटकोंमें यह भय बना रहता है कि कहीं 'वाग्म्यापार' या संवाद सजानेकी भौंडमें नाटककार अपने नाटककी अभिनेयता न नष्ट कर दे और उसका नाटक दृश्यके बदले पाठ्य या श्रव्य काव्य न बन जाय जैसे कि बहुदशे नाटक हो भी गए हैं। मन्व्यूतिका उत्तराणमचरित इसका पर्याय उदाहरण है। शेष वृत्तियोंमेंसे कौशिकी वृत्तिके नाटकमें गीत, मृत्य, विलास, शृंगार-चेष्टा आदिके व्यापार अधिक रहते हैं। सात्वती वृत्तिके नाटकमें किसी नायकके उदात्त गुणोंका विकास दिखाया जाता है। इसे हम व्यक्तिप्रधान नाटक कह सकते हैं। आरभटी वृत्तिके नाटकमें मारकाट, युद्ध, कलह, इन्द्रजाल, अग्नि आदिसे प्रधानक रोमांचकारी घटनाएँ प्रदर्शित की जाती हैं।

इन नाट्यवृत्तियोंके अनुसार तो नाटकके मोटे मोटे ये भेद किए जा सकते हैं—

- (१) संवाद-प्रधान नाटक
 - (२) तंगीत प्रधान नाटक
 - ३) व्यक्ति प्रधान नाटक
 - (४) संघर्ष प्रधान नाटक
- किन्तु इसके अतिरिक्त भी अन्य दृष्टियोंसे नाटकके भेद और उपभेद किए गए।

धनत्रयने अपने दशरूपकमें रूपकोंके भेदका कारण बताते हुए कहा है—
वस्तुनेवारसस्तेषां भेदकः।

[कथावस्तु, नायक तथा रसके भेदके अनुसार इन रूपकों तथा उपरूपकोंके भेद किए गए हैं।] अर्थात् जो अनेक प्रकारके रूपक और उपरूपक गिनाए गए हैं उनमें या तो नायक गिम्न हैं या कथावस्तुकी शैली या वृत्ति भिन्न है या रसकी भिन्नता है। इन आचार्यों हमारे यहाँ रूपक और उपरूपकके अनेक भेद किए गए हैं।

रस-मीमांसा

पिछले अध्यायोंमें हम कथावस्तु तथा नेता अर्थात् पात्रके संबंधमें विस्तारसे विचार कर चुके हैं किन्तु रसके संबंधमें हमने उचित विचार नहीं किया है। वास्तवमें रसका संबंध सामाजिक या दशकसे है इसलिये हम अगले अध्यायमें रसके सम्बन्धमें दार्शनिक तथा वैज्ञानिक विवेचन करके द्वितीय खंडके अन्तमें रसके व्यावहारिक स्वरूपकी विस्तृत मीमांसा करेंगे। यहाँ केवल इतना ही जानना पर्याप्त होगा कि शृंगार, वीर, हास्य, कथण, मयानक, अद्भुत, भीमस तथा रौद्र नामके आठ रस हैं। कुछ लोग शान्तकी भी नवाँ रस मानते हैं। इतनी ही सूचना देकर हम रूपक रहस्यके शब्दोंमें रूपक और उपरूपकके भेद रसक कर रहे हैं।

रूपक

रूपकके दस भेद बताए गए हैं। उन सबमें प्रधान नाटक है। नाट्य-शास्त्र-संघों सब लक्षण नाटकमें पाए जाते हैं और उसमें सब रसोंका समावेश भी हो सकता है, यद्यपि प्रधानता शृंगार अथवा वीर रसकी ही होती है। इसीलिये नाट्याचार्यों ने उसे नाट्य प्रकृति कहा है। उसे सब प्रकारके रूपकोंका प्रतिनिधि समझना चाहिए। नाटककी इसी सर्वग्राहिणी प्रकृतिके कारण

दिदीमें 'नाटक' शब्द 'रूपक' का स्थानापन्न हो गया है। साधारण बोल-चालमें नाटक शब्दसे दृश्य काव्यके सभी भेदोंका बोध हो जाता है। यह एक शास्त्रीय शब्दका अनुचित प्रयोग तो है, पर चल पड़ा है। वास्तवमें अब नाटक एक ही अर्थका बोधक नहीं रहा बल्कि दो भिन्न अर्थ देने लगा है—नाटक = रूपक, और नाटक = रूपक-भेद। शास्त्रीय दृष्टिसे न लिखे हुए ग्रंथोंमें इस भेदकी भनी भौति समझ लेना चाहिए।

नाटक

नाटककी कथा कथात अर्थात् इतिहास-प्रसिद्ध होती है। जो कथा केवल कवि-कल्पित हो, इतिहास प्रसिद्ध नहीं, उसके आधारपर नाटक नहीं बनाना चाहिए। आधिकारिक वस्तुका नायक अभिगम्य सुखोंमें युक्त (सत्यवादिता, अर्थ वादि आदि, जिनके विषयमें अन्य मत न हो सके) उनसे युक्त), धीर, गंभीर, उदात्त, प्रतापी, कीर्तिक अभिनापी, महा उत्साहवाला, वेदोंका रक्षक (अयोध्याता), राजा अथवा राजप या कोई दिव्य या दिव्यादिव्य पुरुष हो। नायकके गुण अथवा नाटकीय रसके विरोधी वृत्तोंको नाटकमें स्थान नहीं मिलना चाहिए। प्रधान कार्यकी सहायतामें चार या पाँच व्यक्तियोंका हाथ हो। नाटकेतर व्यक्त प्रासंगिक कथानकोंके नायक हो सकते हैं। जैसा कि कहा जा चुका है, नाटकमें शृंगार अथवा वीर-रस की प्रधानता होती है, अन्य रस प्रधान रसके अंग होकर आते हैं और उसके परिपाकमें सहायता पहुँचाते हैं।

नाटकमें ५ से लेकर दसतक अंक हो सकते हैं। पाँचसे अधिक अंकवाले नाटकको महानाटक कहते हैं। आचार्योंका कहना है कि नाटककी रचना गौकी पूँछके अग्रभागके समान होनी चाहिए। गौकी पूँछके अग्रभाग का कोई तो यह अर्थ लेते हैं कि अंक उत्तरोत्तर छोटे होने चाहिए। कोई यह कहते हैं कि जैसे गौकी पूँछके कुछ बाल छोटे और कुछ बड़े होते हैं, उसी प्रकार कुछ कार्य धूल-संधिमें और कुछ आगे चलकर समाप्त हो जाने चाहिए। पंडित शालिग्राम शास्त्री इसका यह अर्थ करते हैं कि जैसे गौकी पूँछके अग्रभागमें दो ही एक बाल सबसे बड़े दीखते हैं उसी प्रकार नाटकका आरम्भ एकाध व्यापक नाटक होना चाहिए, और जैसे गौकी पूँछके बालोंकी

संख्या उत्तरोत्तर बढ़कर एक स्थान पर समन्वित हो है उसी प्रकार नाटकमें क्रमसे वृद्धि पायी हुई रस का उत्संहारमें समन्वय हो जाना चाहिए। मतसे यह सिद्धान्त ठीक नहीं है। वास्तवमें इसका शुद्ध यही है कि थोड़ेमें आरम्भ करके मध्य भाग क्रियाशील, बहुव्यापारसुम्नित हो और फिर अन्तमें प्रकार टनकर कार्यकलाप कम हो जाय कि उपसंहारमें बहुत समस्याओंका समाधान नाटकमें न पड़े जैसा शोकवियरने भूलसे अपने 'पेज यू लाइक नाटकमें किया है।

नाटकमें यथास्थान पाँचों संधियों और अर्थ का प्रयोग होना चाहिए। उसकी निर्वहण-संधि अद्भुत होनी चाहिए।

प्रकरण

रूपक का दूसरा भेद प्रकरण है। प्रकरणका लौकिक और कवि-कल्पित होता है। उसका नायक धीर शान होता है अर्थात् वह मंत्री, मन्त्राय या वैश्य हो है। धर्म, अर्थ और कामकी प्राप्तिके लिये वह तरंग रहता है और कई विप्ल बाधाओं का सामना करने हुए अपने अभिष्टकी प्राप्ति करता है। प्रकरणमें नायिका कुलकन्या या वैश्या होती है, और कहीं दोनों भी होती हैं। इस दृष्टिसे प्रकरणके तन भेद माने गए हैं—(१) जिसमें नायिका कुलकन्या हो वह शुद्ध, (२) जिसमें वैश्या हो वह विकृत, और (३) जिसमें दोनों ही वह शकीर्ण। 'तरंगदत्त' और 'मानती-माधव' शुद्ध प्रकरण हैं। उनमें नायिका कुलकन्या है। 'पुष्पद्विका विकृत है; उसमें नायिका वैश्या' है। 'मृच्छकटिक संकीर्ण (मिश्रित) है उसमें नायिका कुलकन्या और वैश्या दोनों हैं। कुलकन्या सदा घरने रहती है और वैश्या बाहर; और जिस प्रकरणमें दोनों ही वहाँ उनका सम्मिलन नहीं दिखाना चाहिए। संकीर्ण प्रकरण घृत्, सुआरी, विट, वेगदि पाँचसे भरा रहना चाहिए। रस, संधि, प्रवेशक आदि बातोंमें प्रकरण नाटकके ही समान होता है।

भाषण

भाषणमें एक अंक और एक ही पात्र होता है। यह पात्र कोई बुद्धिमान विट होता है जो अपने तथा दूसरोंके

धृततापूर्वक कृत्योंको वाचानायकके रूपमें प्रकाशित करता है। वाचालाप किसी कल्पित व्यक्तिके साथ होता है। रंग-मंचपर आकर नायक आकाशकी ओर देखता हुआ सुननेका नायक करके कल्पित पुरुषकी उक्तियोंको स्वयं दुहाता है और उनका उत्तर देता है। इस प्रकारकी उक्ति-प्रत्युक्तिने आकाश-भाषित करते हैं। इसमें वास्तवमें मनुष्य अपने ही आप दो मनुष्योंका काम करता है, अर्थात् स्वयं प्ररन करता है और स्वयं ही उसका उत्तर देता है, तथा शीर्ष और सौंदर्यके वर्णनसे वीर एवं शृंगार रसका आविर्भाव करता है। भाषणमें प्रायः भारतीय वृत्तिका आश्रय लिया जाता है। कहीं-कहीं कैथिकोका भी प्रयोग होता है। इसमें अंगीके चरित मूल और निर्वहण दो संघर्षों होती हैं। लास्यके दस अंग भी इसमें व्यवहृत हो सकते हैं। इसका भी कथानक कल्पित होता है।

प्रहसन

भाष्यके समान ही प्रहसन भी होता है। पर इसमें आधिक्य हास्य रसका होता है। बोधोके तेरह अंगामिसे सभी इसमें आ सकते हैं। आरभटी वृत्ति तथा विर्ज्यप्रक और प्रवेरकका इसमें प्रयोग नहीं होजा। प्रहसन तीन प्रकारका होता है—शुद्ध, विकृत और संकर।

शुद्ध प्रहसनमें पापंजी, संन्यासी, सपत्नी अथवा पुरोहित नायककी योजना होती है। इसमें चेद, नेदी, विट आदि नीच पात्र भी आते हैं। इसका बहुत कुछ प्रभाव वेद-भूषा और बोलनेके लंगसे हो जाता जाता है। हास्यपूर्ण उक्तियोंका इसमें बाहुल्य होता है।

विकृत प्रहसनमें नपुंसक, कंजुकी, और तपस्वी लोग कायुकोके विरामे तथा ऊर्ध्वोकी सी बातें कबते दिखाए जाते हैं।

संकीर्ण प्रहसनमें हंसी-दिल्लगीकी बहुत विरोधता रहती है, नायक धूर्त होता है। प्रपंच (बनावटी प्रशंसा), टल (सुननेमें झिंकार पर वास्तवमें अहितकर वचन), अधिवल (स्पर्श-युक्त बातें), नालिका (अव्यक्तार्थ परिहास-वचन), असतप्रशाप (बे-सिपैरकी बातें), व्याहार (हंसी-उड़ाना) और मृदय (गुणको अवगुण और अवगुणको गुण बनाकर कहना) इन बीधोंका व्यवहार अभिनयतामें किया जाना है।

डिम

डिमकी कथा पुराण या इतिहास-प्रसिद्ध होती है। यह माया, इन्द्रजाल, सद्राम, शोध, उन्मत्त लंगोंकी चेष्टाओं तथा स्वयं-चंद्र-ग्रहण आदि बातोंसे पूर्ण रहता है। इसमें देवता, गणपति, यज्ञ, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच, महोरग आदि रक्ष उद्भूत नायक होते हैं। कैथिकोको छोड़कर रोप तीनों वृत्तियोंका इसमें प्रयोग होता है। इसमें हास्य और शृंगार रसको छोड़कर रोप सब रसोंका परित्याग होता है। इसमें चार अंक होते हैं और चार ही संघर्षों होती हैं, विमर्श संघि नहीं होती। 'अत्रपुराद' डिमका उदाहरण है।

व्यायोग

व्यायोगकी भी कथा-वस्तु पुराण या इतिहास-प्रसिद्ध होती है, पर उसका नायक वीरोद्धत राजर्षि अथवा दिव्य पुरुष होता है। उसमें पात्रोंकी बहुलता होती है, पर सब पात्र नर होते हैं, स्त्री एक भी नहीं होती। इसमें युद्ध होता है, पर वह स्त्रियोंके कारण नहीं होता। उदाहरणके लिये महाकाव्यमें जमदग्नि ऋषिको माया। इस कारण जमदग्निके पुत्र परशुरामने उसके साथ युद्ध किया और उसे मार डाला। इसमें एक ही अंक होता है, जिसमें एक ही दिनका वृत्तान्त रहता है, कैथिकी वृत्तिका प्रयोग नहीं होता। हास्य और शृंगारकी योजना नहीं होती। रोप सब बातोंमें व्यायोग डिमके ही समान होता है। उदाहरण—'शौर्गाधिकार-हरण'।

समवकार

समवकारका कथानक इतिहास-प्रसिद्ध परन्तु देवता तथा अयुक्तिके सम्बन्ध रहनेनाला होता है। इसमें बाह्य देवायु र नायक होते हैं। प्रत्येक नायकका पृथक् पृथक् फल होता है। जैसे, सतुदमंथनमें वासुदेवकी लक्ष्मी, इंद्रको रत्न, देवताओंको अमृत इत्यादि अलग अलग फलकी प्राप्ति हुई थी। इसमें वीर-रस प्रधान होता है, जिसकी पुष्टि अन्य सब रस करते हैं तथा सब वृत्तियोंका प्रयोग होता है, किन्तु कैथिकोका मंद (योद्धा सा ही) प्रयोग होता है। इसमें तीन अंक होते हैं। पहले अंकमें धृः घड़ीका वृत्तान्त तथा दो संघर्षों होती हैं; और दूसरे तथा तीसरे अंकोंमें क्रमशः दो और एक घड़ीका वृत्तान्त और

एक एक सधि होती है। विमर्श-सधि इसमें नहीं होती। शेष चारों सधियाँ होती हैं। नाटकके समान इसमें भी आमुखके द्वारा पात्रोंका परिचय कराया जाता है। प्रत्येक अंकेमें एक एक प्रकारके कपट, शृङ्गार और विद्रव यथाक्रम होने चाहिये।

कपट तीन प्रकारका होता है—स्वाभाविक, वैदिक और कृत्रिम। शृङ्गारके भी तीन प्रकार होते हैं—घर्म-शृङ्गार (जिसमें शास्त्रका विरोध न हो), अर्थ-शृङ्गार (घन-लाभके लिये), काम-शृङ्गार (कामोपलब्धिके लिये)। जैसे ही विद्रव (उद्भव) के तीन प्रकार होते हैं (१) चेतन-कृत मनुष्यके द्वारा किया गया, जैसे शत्रुके नगर घेरने या आक्रमण करनेके कारण भगदड़ (२) अचेतन-कृत (जल, वायु, अग्नि, बाढ़, आँधी, अग्नि लगने आदिके कारण उत्पन्न) और (३) चेतना-चेतन-कृत (हाथी आदिके छूटनेके कारण उत्पन्न)। 'समुद्र-मंथन' समवकार है।

धीधी

धीधीमें एक ही अंक होता है और कोई उत्तम या मध्यम पुरुष उठका नायक होता है। पात्र एक ही हो होते हैं। भाणके समान आकाश-भाषितके द्वारा उक्ति प्रत्युक्ति होती है, शृंगार रसका बाहुल्य रहता है और इसी कारण स्वभावतः कैशिकी वृत्तिको प्रधानता रहती है। इसमें मुख और निर्दहण सधियाँ तथा पाँचों अर्थ-प्रकृतियाँ होती हैं और बीचगीका भी समावेश होता है।

अंक

अंक या उत्सृष्टिकांकेमें एक ही अंक होता है और साधारण पुरुष नायक होता है। इसका इतिवृत्त प्रख्यात होता है पर कवि अपनी कल्पनासे उसे विस्तार दे देता है। इसमें रित्रयोंका श्लेष प्रचुरतासे होता है, फलतः कदम्ब रसकी प्रधानता होती है। जय तथा पराजयका इसमें वर्णन रहता है। युद्ध, पात-प्रतिपात आदि प्रहारमय नहीं होता बल्कि वाणीका होता है। वैराग्योन्मेषिणी भाषाका उपयोग होता है और भाणके समान ही मुख तथा निर्दहण सधियों और वहाँ भारती तथा कहीं कैशिकी वृत्ति एवं लास्यके दसों अङ्क होते हैं।

ईहामग

जिस रूपकेमें नायक हरिणी-सदृश अलभ्य नायिकाकी हृच्छा करे वह ईहामग कहलाता है। ईहामगमें कथानक मिश्रित होता है अर्थात् अंशतः प्रसिद्ध, अंशतः कवि-कल्पित। इसमें चार अंक और मुख, प्रतिमुख तथा निर्दहण ये तीन सधियाँ होती हैं। इसमें नायक और प्रति-नायक प्रसिद्ध धीरोद्धत मनुष्य या देवता होते हैं। प्रति-नायक छिपकर पापाचरण करता है। वह किसी दिव्य नारीको चाहता है जो उसे नहीं चाहती और जिससे वह खुलकर अपना प्रेम नहीं जता सकता। नायक उसे हरण करनेकी सोचना है। युद्धकी पूरी सभावना होती है, पर वह किसी बहानेसे टल जाता है। इतिहासमें किसी महारमाका वध प्रसिद्ध हो तो भी ईहामगमें उसे नहीं दिखाना चाहिए।

[उपरूपक]

उपरूपकके अठारह भेद होते हैं, जिनमेंसे पहला भेद नाटिका है। उपरूपक होते हुए भी वह नाटक और पकरणका मिश्रण है। इसीलिये, समवतः, घनञ्जयने नाटकके बाद ही उसका विवक्ष्य दिया है। नाटिकाकी कथा कवि-कल्पित होती है। इसमें चार अंक होने हैं। अधिकांश पात्र स्त्रियाँ होती हैं। नायक धीरललित राजा होता है। रनिवाससे सम्बन्ध रखनेवाला या राजवंशकी कोई गायन-प्रवीणा अनुरागवती कन्या नायिका होती है। महारानीके भयसे नायक राजा अपने प्रेममें शक्ति रहता है। महारानी राजवंशकी प्रगल्भा नायिका होनी है। वह पद पद पर मान करती है। नायक और नवीन नायिकाका सम्मिलन उसीके अधीन रहता है। नाटिकामें प्रधान रस शृंगार होता है। कैशिकी वृत्तिके भिन्न रूपोंका क्रमशः चारों अंकोंमें पालन किया जाता है। विमर्श-सधि या तो होती ही नहीं या बहुत कम होती है शेष चारों सधियाँ होती हैं। कुछ लोगोंका मत है कि इसमें एक दो या तीन अंक भी होते हैं। उदाहरण—रत्नावली, विदर्शिका, विद्वत्शाल भक्तिना, चन्द्रप्रभा।

श्रोटक

श्रोटक पाँच, सात, अठ या नौ अङ्कोंका होता है। देना तथा मनुष्य उसके पात्र होते हैं। प्रत्येक अङ्कमें

विदूषकका व्यापार रहता है। इसका प्रधान रस शृङ्गार होता है। शेष सब बातें नाटकके समान होती हैं। उदाहरण—विक्रमोर्वशीय (५ अङ्क) और स्तम्भितरम्भ (७ अङ्क)।

गोष्ठी

गोष्ठीमें केवल एक अङ्क होता है, जिसमें नौ या दस मनुष्यों तथा गौच या लुः स्त्रियोंका व्यापार रहता है। शृङ्गारके तीन रूपोंमेंसे काम-शृङ्गारकी प्रधानता रहती है। कैशिकी वृत्तिका प्रयोग होता है, पर उदात्त वचनोंकी योजना नहीं होती। गर्भ और विमर्श सन्धियों नहीं होतीं; शेष सब होती हैं। उदाहरण—वैश्व-मदभिका।

सट्टक

सट्टककी सम्पूर्ण रचना प्राकृतमें होती है। इसमें प्रवेशक और विष्कम्भक नहीं होते और अद्भुत रसको प्रचुरता रहती है। इसमें एक विलक्षणता यह है कि इसके अङ्कोंकी जवनिका कहते हैं। अन्य सब बातें नाटिकाके सदृश होती हैं। उदाहरण—कपूर-मंजरी।

नाट्यरासक

नाट्यरासकमें एक ही अङ्क होता है, नायक उदात्त और उप-नायक पीठमर्द होता है। यह हास्यरस-प्रधान होता है। शृंगारका भाव इसमें समावेश रहता है। नायिका शयकलजा होती है। इसमें मुख और निर्वहण-सन्धियों तथा लास्यके दस अंगोंकी योजना होती है। कोई कोई इसमें प्रतिमुख-सन्धिको छोड़कर शेष चारों सन्धिको बना मानते हैं। परन्तु यह दो सन्धिको भी मिलता है। उदाहरण—विलासवती (चार सन्धिको), नर्मवती (दो सन्धिको)।

प्रस्थानक

प्रस्थानकमें दो अंक और दस नायक होते हैं। उपनायक हीन पुरुष होता है और नायिका दासी, कैशिकी और भारती वृत्तिका इसमें प्रयोग होता है। सुगानके संयोगसे उद्दिष्ट अर्थकी सिद्धि होती है। उदाहरण—शृंगारतिलक।

उल्लास्य

उल्लास्यमें एक अङ्क, दिव्य कथा, धीरोदात्त नायक, चार नायिकाएँ तथा शृंगार, हास्य और कथण रस होते

हैं। किसी किसीके मतसे इसमें तीन अङ्क होते हैं। उदाहरण—देवी-महादेव।

काव्य

काव्यमें केवल एक अंक होता है, आरम्भकी वृत्ति नहीं होती, हास्य व्यापक रस रहता है, गीतोंका बाहुल्य रहता है, नायक और नायिका दोनों उदात्त होते हैं और मुख प्रतिमुख तथा निर्वहण-सन्धियाँ होती हैं। उदाहरण—यादबोध।

रासक

रासकमें भी एक ही अङ्क होता है, पात्र पौच होते हैं, मुख और निर्वहण-सन्धिको प्रयोग होता है। इसमें कैशिकी और भारती वृत्तियोंकी योजना होती है तथा भिन्न प्रकारकी प्राकृतोंका विरोध प्रयोग होता है। एतवार इसमें नहीं होता। नायिका प्रसिद्ध और नायक मूर्ख होता है तथा उदात्त भाव उत्तरोत्तर प्रदर्शित किए जाते हैं। कोई कोई इनमें प्रतिमुख-सन्धि भी मानते हैं। उदाहरण—मेनकादित।

प्रेक्षण

प्रेक्षण एक अंकका होता है। गर्भ और विमर्श-सन्धियाँ उसमें नहीं होतीं, हीन पुरुष नायक होता है। इसमें सूत्रधार नहीं होता और विष्कम्भक तथा प्रवेशक भी नहीं होते। नाद्री और प्ररोचना नेपथ्यके पदी जाती है। युद्ध और संफेद तथा सब वृत्तियाँ होती हैं। उदाहरण—बालिवध।

सलापक

सलापकमें तीन या चार अंक होते हैं। नायक पाखंडी होता है। शृंगार और कथण रस नहीं होते और न भारती तथा कैशिकी वृत्तियाँ ही होती हैं। नगणका घेरा, संघाम तथा भगवद् (निद्रव) का वर्णन रहता है। उदाहरण—मायाकापालिक।

थीगदित

थीगदितमें एक अंक, प्रसिद्ध कथा तथा धीरोदात्त नायक होता है। गर्भ और विमर्श सन्धियाँ इसमें नहीं होतीं पर भारती वृत्तिका आधिक्य होता है। एक पात्रचारय विद्वान्का मत है कि इसमें नायिका लक्ष्मीका रूप धारण

करके आती है और कुछ गाना गाती या कुछ बोलती है । इसीसे इसका भोगदित नाम पड़ा । उदाहरण—क्रीडा-रसात्मक ।

शिल्पक

शिल्पकमें चार अंक और चारों वृत्तियाँ होती हैं, शात और हास्यको छोड़कर और रस होते हैं, नायक बालक होता है तथा उपनायक कोई हीन पुरुष । मरघट, मुरदे आदिका वर्णन इसमें रहता है । इसके नीचे लिखे १७ अ ग हाते हैं—

१ आशया (आशा), २ तर्क ३ सदेह, ४ ताप, ५ उद्वेग, ६ प्रसक्ति, (आसक्ति), ७ प्रयत्न, ८ प्रयन (गूँथना), ९ उल्लटा, १० अकांक्षया (आकार गोपन) ११ प्रतिपत्ति, १२ विलास, १३ आलस्य, १४ वमन १५ प्रहृषं (विशेष हर्ष), १६ अरलोल (लज्जा, जुगुप्सा तथा अमगल-सूचक बात, यह काव्यदोष माना गया है पर शिल्पककी प्रवृत्ति ही ऐसी है कि उसमें यह आ ही जाता है । समसनाका वर्णन स्वयं ही शृणा (जुगुप्सा) उत्पन्न करनेवाला होगा), १७ मूढता, १८ साधनानुगमन, १९ उच्छ्वास (आह भरना) २० विस्मय, २१ प्राप्ति २२ लाभ, २३ विस्मृति, २४ सफेट (शोषपूर्ण कथन), २५ वेद्यारथ (विद्यारदता, कौशल) २६ प्रबोधन (सम-भाना), और ७ चमत्कृति । उदाहरण—कनकावती माषव ।

विलासिका

विलासिकामें एक अंक होता है जिसमें दस लास्यांगों-का विनिवेश तथा विदूषक, विट, पीठमर्द आदिका व्यापार होता है । गर्भ और विमर्श-वृत्तियाँ इसमें नहीं होती । इसका नायक हीन गुणवाला होता है पर वेशाभूषणे अन्वी तरह सज्जित रहता है । वृत्तात थोड़ा होना चाहिए । इसका कोई उदाहरण नहीं मिलता ।

दुर्मल्लिका

दुर्मल्लिकामें चार अंक होते हैं । पहले अकमें ६ घड़ीका व्यापार तथा विटकी क्रीडा रहती है दूसरे अकमें विदूषकका विलास रहता है जो दस घड़ी तक चलता है, तीसरे अकमें पीठमर्दका विलास-व्यापार रहता है जो '२

घड़ी तक चलता है, और चौथे अकमें नागरिक पुरुषों-की क्रीडा रहती है जिसका विस्तार १० घड़ीका होता है । दुर्मल्लिकामें कैशिकी और भारती वृत्तियाँ होती हैं गर्भ-वृत्ति नहीं होती । पुरुष मात्र सब चतुर होते हैं, पर नायक छोटी जातिका होता है । उदाहरण—विदुमती ।

प्रकरणािका

जैसे नाटकके जोड़का उपरूपक नाटिका है वैसे ही प्रकरणाके जोड़का उपरूपक प्रकरणािका है । इसमें नायक व्यापारी होता है । नायिका उसकी अपनी सजातोया होती है । शोष बातें प्रकरणाके समान होती हैं ।

हल्लोश

हल्लीशमें एक ही अंक, सात आठ या दस स्थियों और उदात्त वचन बोलनेवाला एक पुरुष रहता है इसमें कैशिकी वृत्ति तथा मुख और निर्वहण सन्धियों होती हैं एव गान, ताल, लयका अधिकनावे प्रयोग होता है । उदाहरण—केलिरैवतक ।

भाणिका—

भाणिकामें भी एक ही अंक होता है, नायक मंदमति तथा नायिका उदात्त और प्रगल्भा होती है । इसमें मुख, निर्वहण-सन्धियाँ एवं भारती और कैशिकी वृत्तियाँ होती हैं । यह भाणकी जोड़का उपरूपक है ।

भाणमें ये सात अंग होते हैं—(१) उपन्यास (प्रसंग प्रसंगपर कार्यका कीर्तन करना), (२) विन्यास (निर्वेद-सूचक वाक्य), (३) विबोध (समझना या भ्रान्तिका नाश करना) (४) साधवस (मिथ्या-कथन) (५) समर्पण (कोषसे उपालमके वचन कहना) (६) निवृत्ति (दृष्टातका कीर्तन करना), (७) सहाय (कार्यकी समाप्ति) । उदाहरण—कामदत्ता ।

ऊपर रूपक और उपरूपाके प्रकारोंमें उन्हीं बाजोंका उल्लेख किया गया है जिनमें उनका नाटकसे भेद है ! शोष सब बातोंमें उन्हें नाटकके ही समान समझना चाहिए ।

विदेशोंमें रूपक के भेद

हमारे यहाँ रूपकको जो परिभाषा है उसको विस्तृत भीमासा हम परिभाषा प्रकरणमें कर चुके हैं । योरपानों

के विचारले 'नाटक या रूपक साहित्य कलाके उस रूपको कहते हैं जो व्यक्तिगत रूपाधारण करनेके द्वारा मनुष्योंके व्यापारों और चरित्रोंका जनता या दर्शकोंके सम्मुख बोधा अभिनय करते हैं। योरपके साहित्यिक इतिहासमें नाटककी गणना काव्यके अन्तर्गत हुई है किन्तु वहाँ ऐसे भी नाटक हैं जो गद्यमें लिखे गए हैं। महाकाव्य या प्रबन्धकाव्य और गीतिकाव्यमें भी जो व्यक्तिगत मनोवेगोंकी अभिव्यञ्जना होती है उसका प्रयोग नाटकमें भी वहाँ होता है जहाँ कथाकी घटनाओंका विकास सम्वाद और अभिनयके मेलने होता है। साधारण बात-चीत और नाटकमें यही बड़ा अन्तर है। चित्रकार और रङ्गव्यवस्थापकके कौशलके दृश्य-काव्य सत्यप्रतीति देने लगता है।

यूनानी नाटक

हम पहले कह चुके हैं कि यूनानमें दो प्रकारके नाटक होते थे त्रासद और प्रहसन जिन्हें मूलतः लोग दुःखान्त और सुखान्त कहते हैं। साधारणतः त्रासदका अन्त दुःखमय होता है और प्रहसनका सुखमय किन्तु दोनोंमें विशेष अन्तर यह है कि त्रासदमें गम्भीर कथाओंपर गम्भीर विचार किया जाता है तथा मनुष्यके कष्टों और विपत्तियोंका विशेष विवरण होता है। प्रहसनमें हास्यास्पद और निम्न कोटिके लोगोंकी मूर्खताओं और असंगत कार्योंका विवरण होता है। त्रासदमें कष्टा और भयके भावोंको उत्तेजित करके रसातुष्टि कराई जाती है और प्रहसनमें हास्यके भावको उत्तेजित करके किन्तु पछेके लेखकोंने इस प्रकारके मेद नहीं माने जिससे अनेक प्रकारके रूपक प्रकट होने लगे। इन विभिन्न प्रकारोंमें ऐतिहासिक और काल्पनिक नाटक तो अपने नामसे स्वयं शत है। मैनेलोहाया वास्तवमें इतालियामें उदयन हुआ जिसमें त्रासद और प्रहसन दोगोका सम्मिश्रण है जो हमारे अत्यन्त निम्नतम भावोंको प्रभावित करते हैं। फ्रांसीसी ड्रामे (नाटक) दो प्रकारके हैं जिनमें जीवनके वास्तविक स्वरूपका बहुत कम अनुकरण रहता है। ये दोनों रूप हैं त्राजेडी बोशु वा और कोमेडीलासोपान्ते। प्रहसनके भी अनेक रूप प्रचलित हुए जो अठारहवीं शताब्दीमें आचार-विषयक प्रश्नों (कोमेडी औफ मेमर्स) से चलकर फार्स (मँडैती), बल्लेक (स्वॉग), वागेविले (हास्य-प्रधान नृत्य-गीत नाटक), मूकाभिनय (पेन्डोनीम) तथा नृत्याभिनय

(बाले) तक विकसित हुए और जो वास्तवमें प्रचीन नाटकमें ही उद्भूत हैं। मुँह बनाना या व्यङ्ग्यानुकरण (मिमिक्री) तो नाटकका ही एक अंग है और सर्वसाधारणमें भी वहाँ प्रचलित है जहाँ किसीका अपमान करनेके लिये, विभ्रान्तके लिये या मूर्ख बनानेके लिये लोग मुँह बनाकर चिढ़ाते हैं।

त्रासद (ट्रेजेडी)

अतिहा (यूनान) में दीभनूमी उत्सवोंके अवसरपर वार्षिकीके देवताके अनुपायी लोगोंका अनुकरण उन समवेत गायकों द्वारा किया जाता था जिनका आधा शरीर अत्राचर्मसे ढका रहता था। इसीलिये यूनानी भाषामें इनके गीतोंको बैरोदिया या अत्रागीत कहते थे और इसीसे ट्रेजेडी (त्रासद) शब्दकी उत्पत्ति हुई। ये गायक वेदीके चारों ओर मंदिरके देवता (बाकस) की स्तुतिमें उग्र स्तोत्र गाते हुए नृत्य करते थे। यह घटना है ६०० ईस्वी पूर्वसे पहलेकी। आषो शताब्दी पीछे अतिक्रान्तिवादी थैसिफने इन गीतोंके बीचका समय भरनेके लिये कथा-व्यङ्ग्यानुकरण और छोटे सम्वाद बढ़ा दिए जिन्हें एक अभिनेता समवेत गायकोंके नेताके साथ वार्तालापके द्वारा व्यक्त करता था। इसके पश्चात् नाटकीय प्रतिद्वन्द्विताएँ होने लगी और त्रासद चिखे जाने लगे। पॉन्वी शताब्दी ई० पूर्वमें प्रसिद्ध त्रासदकार अस्त्युनवने एकके बदले दो नट कर दिए और सफ़लेमने दोको तीन कर दिया। समवेत गायकोंका पचासका मण्डल बारह-बारहके चार विभागोंमें बँट गया।

त्रासदमें क्रमिक घटनाएँ रहती थीं, जिनके बीच-बीचमें समवेत गीतवाले गीत गाते रहते थे। इसके प्रारम्भमें प्रस्तावना (प्रोलोग) और अन्तमें उपसंहार (एप्लोड) किया जाता था। नाटकका कुन वय बह नागरिक मण्डल देता था जिसे कोरेगस कहते हैं। आरम्भमें काव्यशास्त्र(पेरि पोइतिब्यीस)में कहा है कि काव्य-शास्त्रका उद्देश्य भय और कष्टका अत्यन्त कष्टके उन भावोंका परिष्कार (कैथार्सिस) करना है। त्रासदोंमें दैवी प्रणिहिता (नेमेसिस) अस्त्युनसके विचारसे सर्वव्यापक रहस्य है। सफ़लेमके मतसे वह जीवनका नैतिक नियम है। इसी-विषयके मतसे वह मनुष्यके विपत्तियोंका प्रथम कारण है। पीछे जब समवेत गान निकाल दिया गया तो इसका

गीत तब भी नष्ट हो गया और दिश्रुतसुखी पूजासे जो उसका सम्बन्ध जोड़ा जाता था, वह भी टूट गयर।

प्रहसन

यूनानी प्रहसन भी त्रासदके साथ ही रूप संपुन्नत हुआ। इसका उद्भव उन ग्राम्य गीतोंसे हुआ जो दिश्रुतसुखी उत्सवोंपर प्रायः गाए जाते थे और जिन्हें पीछे नाटकका रूप दे दिया गया था। ये प्रहसन तीन प्रकारके हैं। प्राचीन-युगीन प्रहसन, मध्ययुगीन प्रहसन और नवयुगीन प्रहसन। अस्तौकनेस प्रथम प्रकारमें प्रहसनोंका सर्वोत्कृष्ट आचार्य था। प्रहसनोंकी रचना भी उची प्रकार होती थी जैसे त्रासदोंकी। किन्तु इसमें सर्वेवत गायकोंकी सख्या चौबीस रहती थी और दूसरे इसमें पारनासिस् (सीधे दर्शकोंको सम्बोधित करने) का तब अधिक होता था। इनमें निःसंकोच रूपसे व्यक्तियोंकी आलोचना की जाती थी। ये प्रायः राजनीतिक होते थे और इतालवीवासी नागरिकोंका ठठा उड़ानेमें ये सैनिक भी नहीं हिचकिचाते थे। मध्ययुगीन प्रहसनके कालमें इनपर बहुत रोकटोक लगा दी गई और व्यक्तिगत आलोचना करनेके बदन ये लोग विशेष वर्गोंकी आलोचना करते लगे और समवेत गान पूर्णतः निःकार दिया गया। नवयुगीन प्रहसनमें राजनीतिक प्रश्न पूर्णतः छोड़ दिए गए और केवल सामाजिक जीवन पर ही व्यङ्ग्य किए जाने लगे इनके विषय प्रायः ये होते थे—प्रबन्धनीय धृष्ट, विनाशकारी पुत्र, मूर्ख नौकर आदि।

अतः यूनानी नाटककोंके मुख्यतः दो ही भेद दिखा पड़ते हैं, एक तो त्रासद दूसरा प्रहसन।

रोमके नाटक

रोममें अच्छे नाटककारोंकी कमी थी। अतः उन लोगोंने प्रहसनोंको अधिक प्रवृत्त किया और त्रासदोंको कम। प्रहसनोंके इन तत्वोंको उन सत्रो नामक प्रहसनमें हम अधिक पाते हैं जो प्राचीन नगरोंमें इतालवी नगरोंमें स्थान स्थान पर होते रहते थे। प्रायः रोमवालोंने नाट्य करना यूनानवालोंसे ही सीखा। कहा जाता है कि सर्वप्रथम एस्क्रुसोंसे ही नाटकका विचार लिया गया जिनसे द्विशिष्य (अभिनेता) शब्द रोममें प्रचलित हुआ। पञ्चला अतैलानी नामक जो प्रहसन यहाँ प्रचलित थे वे एस्क्रुसोंमें

प्राप्त हुए थे। उन्होंने माइम (वास्तविक जीवनपर लिखे हुए प्रहसन) लिए मैगना प्रीसासे। यहाँ त्रासद और प्रहसन दोनों ही लिखे गए। प्रहसनमें भी एक विशेष प्रकारके पल्लियाती वर्गके वे प्रहसन थे जो यूनानी यादशीपर लिखे गए थे और लोगती प्रहसन वे थे जो रोमके विषयोंपर लिखे गए थे। इन नाटककोंका एक विशेषता यह थी कि इनमेंसे प्रस्तावनाका बहिष्कार हो गया था और उसके स्थानपर एक असम्बद्ध व्याख्या मात्र रहती थी।

त्रासदोंमें भी प्राक्कली प्रकारके वे नाटक थे जिनमें रोमके ऐतिहासिक विषयोंका निरूपण किया जाता था, शेष सब त्रासद यूनानी पौराणिक कथाओंपर ही अवलम्बित थे। रोम साम्राज्यके पतनके पश्चात् ये सब व्यवस्थित नाटक समाप्त हो गए और रममचर नर्तकों तथा मूढ भिनयकारियोंने अधिकार कर लिया।

चीनी नाटक

चीनमें दो प्रकारके नाटक होते रहे हैं एक तो नागरिक और दूसरे सैनिक। चीनी नाटककोंका प्रधान उद्देश्य यह है कि मनुष्य सम्पूर्ण गुणोंका उत्कर्ष और अभ्युदय दिखलाया जाय। ये सब नाटक प्रायः रूढिगत है। किन्तु चीनी नाटककोंका एक बड़ी भारी विशेषता यह है कि रोचते समय अभिनेता लोग उनमें मनमाने ढंगसे चाइ जितना बढा-पया लेते हैं। इसलिये लिखे हुए तथा रचने हुए नाटककोंके पाठोंमें बड़ा अन्तर हो जाता है।

नागरिक नाटकमें सामाजिक जीवनके सब साधायक पक्षका प्रदर्शन किया जाता है और उनकी प्रकृति शान्त तथा प्रहसनात्मक होती है। सैनिक नाटकमें द्वन्द्वयुद्ध तथा सब प्रकारके उत्तेजनरत्मक व्यापार होते हैं। वास्तविकता या रङ्गविधानकी ओर यहाँ बहुत कम ध्यान दिया जाता है। द्विषोंकी भूमिका पुरुष ही ग्रहण करते हैं। एक साथ बिना अन्तरावके अनेक नाटक खेले जाते हैं और इनीलिये बहुत देरतक जो काम किया जाय उसके निये यह उक्ति ही प्रचलित हो गई है कि 'चीनी नाटक रचना का रहा है।'

जापानी नाटक

जापानियोंका सर्वप्राचीन नाटकीय रूप था क्यूरा जिसमें देवताओंके सम्मुख गीत और नृत्यक प्रदर्शन किया

जाता था। यह आज तक उसी रूपमें शिन्तो मूर्तियोंके सम्मुख खेला जाता है, पीछे इसमें कुछ मन्त्र तथा कुछ तालयुक्त क्रियाएँ भी समाविष्ट कर दी गईं। उमाए अर्थात् चैन-नृत्य और दैगाकू अर्थात् चैन-संगीत जापानकी प्राचीन निधियाँ हैं। इनके अतिरिक्त सायवागा नामके सामाजिक नाटकीय रूप हैं जो प्रघानतः गीतात्मक हैं और जो राजाओं के पास राजकीय कर ले जाले समय लोग गाथा करते हैं। एक इन्ही प्रकार के पूर्वा प्रान्तके ऐमे हो गीत हैं जिन्हें अबूका माए कहते हैं। जैसे हमारे यहाँ देव-याथाएँ होती हैं उसी प्रकार जापानमें भी भत्सुयी नामके यान-यात्राके उत्सव अचानक प्रचलित हैं।

दैगाकूके छः नाटकीय रूप हैं—शिवा (घामशाले खेल), दाई (गदान), शो (लघु), मइको (जर्न-कियाँ), मारु (ग्राम) और सञ्ची (टहलना)। ये छः प्रकारके नाटक एन्नेन नामक नाय-नाटकके साथ मिल-कर बौद्ध धर्मकी उन्नतिके साथ अधिक व्यवहियत हो गए और इन्होंने नोह (योग्यता) का रूप धारण कर लिया। मारु गाकू नोह (वानर-सगीत), प्रारम्भमें प्रहसननामक या किन्तु बौद्ध पुरोहितोंके हाथमें पढ़कर उसकी प्रहसना-सिंका प्रकृति समाप्त हो गई।

नोहमें दो या दो से अधिक अभिनेता होते हैं। नाटक गद्यमय होता है और मंत्रोंके समान उसका पाठ किया जाता है। अभिनेता प्रायः खुल्ले बाँधे रहते हैं और उनकी सम्पूर्ण गति एक निनयमें बँधी रहती है। पन्द्रहवीं शताब्दीके अन्ततक चार प्रकारके नोह नाटक प्रचलित थे—१ शिन्तो नोह - जिसमें पौराणिक विषय होते थे।

१—शोन् नोह - जिसमें प्राचीन लोकाचार दिखाया जाता था। २—यूरेई यूरेई नोह - जिसमें भूत-प्रेतों की कथा होती थी और ४—केन्साई मोनो नोह जिसमें कोई नैतिक लक्ष्य प्रतिपादित करनेके लिये लौकिक जीवनका तथ्य प्रतिपादित किया जाता था। यौद्धोंके हाथमें रहनेके कारण इनमेंसे प्रहसनात्मक तर्कोंका पूर्णतः बहिष्कार कर दिया गया था।

प्रहसनात्मक नाटक मौखिक होते थे और क्योरोनमें प्रकृत कर दिए जाते थे। क्योरोन का अर्थ है छरल बाण्य और ये अत्यन्त वास्तविक तथा असाहित्यिक सामाजिक प्रहसन हैं। ये भी गद्यमें होते हैं और प्रायः नोह नाटकों के बीच-बीचमें खेल दिए जाते हैं।

योरपके मध्य-युगीन नाटक

मध्य कालमें योरपके ईसाई पादरियोंके बहुदेव-प्रादियोंके मनोविनोदात्मक प्रदर्शनोंके समकक्ष नाटकोंकी प्रतिष्ठा की जो थोड़े दिनोंमें मिरैकिल प्लेज़ (अलौकिक नाटक), मिस्त्रीज़ (रहस्यात्मक नाटक) और पैसन प्लेज़ (भावात्मक नाटक) के रूपमें प्रचलित हुए। इन्हींके साथ-साथ मोरैलियोज़ (नैतिक नाटक) नामके उन नाटकोंका प्रादुर्भाव हुआ जो भ्रमणशील पादरी खेलते थे। इन्हींसे नवीन योरोपीय नाटकोंकी उत्पत्ति हुई।

इतालवी नाटक

इटलीमें सांस्कृतिक नाटकोंका पुनरुद्धार सर्वप्रथम हुआ। सोलहवीं शताब्दीके प्रारम्भमें प्लाउर्जिया प्रहसनोंका जीर्णोद्धार किया गया किन्तु वास्तविक इतालवी नाटकोंका प्रारम्भ किया अरिस्तोनीने अपने रूढ़िवादी त्रासद सोफो-निस्तासे जो अशुक्रान्त पद्यमें लिखा हुआ था। इसके पश्चात् तोरकाले तावोने पैतोरस प्लेज़ (ग्राम्य जीवनके नाटक) लिखे। उसी शताब्दीके अन्तमें गियमवत्तिस्ता दे ला पोर्ताने अपने मनोहर व्यङ्ग्यात्मक प्रहसन प्रारंभ किए। कलनात्मक नाटकका प्रारम्भ तो यूनायनमें हुआ किन्तु उसका प्रचार इटलीमें हुआ और प्राचीन बहिष्कारी नाटकोंके विरोधमें एक दल ही खड़ा हो गया। उसी समय रिच्युविनो और उसके अनुयायियोंने इन रोमान्टिक (कल्पनात्मक) नाटकोंमें संगीतका पुट देकर मैजोड्रामा (संगीत-नाटक) की सृष्टि की। फल यह हुआ कि शरद और प्रहसन का स्थान ले लिया ग्युज़िफा अरेग (संगीतचरममय नाटक) ने जिसे साहित्यिक स्तरपर पहुँचाया जू नोने।

किन्तु थोड़े दिन पीछे फ्रांसीसी नाट्य कलाने इटलीके रङ्गमञ्चको प्रभावित करना प्रारम्भ कर दिया या विशेषतः अभिनेता नाटककार रिच्युविनीके प्रयत्नों द्वारा। गोंजीने सार्थजनिक कोमीडिया दे ल अरते (मुञ्जीका प्रहसन) को साहित्यिक रूप प्रदान किया।

स्पेनी नाटक

स्पेनको कल्पनात्मक नाटककी जन्मभूमि समझनी चाहिए। इन नाटकोंका प्रारम्भ किया सन्तिलाना लोपेदे, कपदा और नाहारोने जी स्पेनी रङ्गमञ्चके पिता समझे जाते हैं। कल्पनात्मक नाटकोंके अतिरिक्त कुछ ही शरद

लिखे गए किन्तु कुछ वे घामिष्ठ नाटक लिखे गए जिन्हें आउतोस सेक्रामेन्तालिस कहते हैं जिनमें यूलागिस्तके रहस्योंको नाटकीय रूप दिया गया है। उसी समय मोरेतो ने अनेक प्रहसन लिखे जो "चोगा और तलवार" (कनोक एंड सॉर्ड टाइप) भेषीने कहे जाते हैं और जिनके लिये स्पेनी गङ्गा नामा प्रसिद्ध है। इसके पश्चात् वह विद्रोही दल खड़ा हुआ जिन्होंने इन प्राचीन "पुन्तो दे प्रौर" नामक प्राचीननावागी नाटकोंका विरोध किया, यहाँ तक कि वैनीतो पैरेज् गाल्दोस्ने रङ्गमञ्चके नियमोंकी भी अवहेलना की।

फ्रान्सीसी नाटक

फ्रान्सेने देस कान और व्यापक एकदर (यूनिटी ऑफ प्लेज, टाइम एंड ऐक्शन) के सिद्धान्तकी स्वीकार करके सांस्कृतिक नाटकोंका पुनरुद्धार किया। उनके मिस्त्रे (रहस्यारमक नाटक), मोरालिने (नैतिक नाटक), सेतीस् (मूर्खतापूर्ण नाटक), फॉर्से (व्यङ्ग्यारमक प्रहसन) में सांस्कृतिकविरोधी या कल्पनात्मक प्रवृत्तियाँ स्पष्ट दिखाई पड़ती थीं। किन्तु कोई विरोध उन्नति उनके यहाँ नहीं हुई। यहाँ भी अन्य योगोपीय देशोंकी मीति प्राप्त लिखे गए। बहुत दिन पीछे बोस्तेपरने अपने कल्पनात्मक नाटक लिखे और इसके पश्चात् तो ऐसे नाटककारोंका बाढ़ ही आ गई जिन्होंने कल्पनात्मक नाटक तथा कल्पनात्मक नाटक लिखे। बीमार्गी शताब्दीके नाटककारोंने क्रम-शास्त्र तथा मन-शास्त्रके आधारपर नाटक लिखे किन्तु जितने प्रकारके नाटक लिखे गये चाहेिये उतने प्रकार यहाँ न मिल सके।

जर्मन, आस्ट्रियन और जेरोसोवाकियन नाटक

जर्मन, आस्ट्रिया और जेरोसोवाकियन नाटकोंमें प्राप्त लिखे गए। गेटेने अपने फाउल्टमें आरम्भकारको अधिक महत्त्व दिया है और अपने नाटकका प्रस्तावनामें यह बताया है कि नाटकीय रूपमें रचना करते हुए भी मैं सार्वजनिक रङ्गशालाकी आवश्यकताओंके साथ इसका सम्बन्ध नहीं कर सका। हाउप्टमनने उन्नीसवीं शताब्दीके अन्तमें प्रकृतवागी और आध्यात्मिक नाटक लिखे हैं और वेडेकिन्डेने अभिजातनाटक नाटक लिखे हैं जो माक्स नेन हाई रङ्गशालाके इतिहासमें अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। नाटक

प्रदर्शन करनेके लिये जो उसने दृश्यपीठोंका रूप विचार किया है वह सारे संसारमें प्रसिद्ध है।

स्केगडीनेवियन् और फ्लेमिश नाटक

फ्लेमिश नाटक तो फ्रांसके कल्पनात्मक नाटकोंके अनुकरण मात्र हैं। बेल्जियमके प्रसिद्ध कवि मैटरलिकने प्रतीकवादी आन्दोलनका नेतृत्व किया और नाटकमें अतिशय प्रतीकवादी प्रतिष्ठा की। नाटकके क्षेत्रमें महत्वपूर्ण प्रवृत्तियोंका आन्दोलन प्रारम्भ किया स्केगडीनेवियन। व्योर्नसन् और इन्वर्नने मनोवैज्ञानिक और सामाजिक समस्याओंपर 'समस्या नाटक' लिखे हैं जिनका प्रभाव व्यापक रूपसे योगोपीय नाटकोंपर पड़ा है। रिन्डरगने इन्वर्नके महिलानाटकके विरोधमें शक्तिशाली नाटक लिखे।

रूसी नाटक

किसी युगमें रूसमें भी घामिष्ठ नाटक लेखने जाते रहे हैं किन्तु यहाँ व्यवस्थित रूपसे अठारहवीं शताब्दीमें नाटकोंका विकास हुआ और नसद लिखे गए। उन्नीसवीं शताब्दीमें योगोपीय और योगोलने प्रहसन लिखे, पुश्किनने सेक्रेटियरी शैलीपर नाटकेकी रचना की, आर्स्ट्रान्स्कीने जनताके मनोभावोंका स्वाभाविक निरूपण किया अलेक्जेंडर टाल्स्टायने रूसी राजाओंकी कथाओंपर नाटक लिखे और फाउट लियो टाल्स्टायने सब कदियोंकी सोझते हुए केवल चरित्र-चित्रणकी दृष्टिसे नाटक रचे। आन्तोन चेखवने मैस्को आर्ट थियेटरके लिये अत्यन्त स्वाभाविकतापूर्ण कलात्मक नाटक लिखे जिनमें सरल किन्तु भाषारमक अभिनयकी आवश्यकता होती है। नवीन नाटककार एब्रोनफने अपने मोनोड्रामा (एकदलीय नाटक) के सिद्धान्तपर अपने नाटक लिखे। सन् १९१७ को क्रान्तिके पश्चात् नयी रङ्गशालाओंकी स्थापना हुई जिसमें सस्ते उपकरणोंसे तथा वृत्तमितीय आकारोंकी सामग्रियोंपर विभिन्न प्रकारसे प्रकाश देकर दृश्य प्रभाव उत्पन्न करनेकी चेष्टा की गई। वाद्य ही रङ्गशालाको प्रचारका साधन भी बना लिया गया। मेयरहोल्ड जैसे लेखकोंने साधारण जनताके लिये ऐसे नाटक लिखे जो सार्वजनिक रूपसे खुले मैदानमें खेले जा सकते हैं। वहाँके विभिन्न प्रत्योंमें छोटी या उठउठा रङ्गशालाएँ हैं और सुगन्ध अभिनेता घूमघूमकर नाटक

दिखाते हैं। इनके अतिरिक्त प्रयोगात्मक राजकीय रङ्गशालाएँ भी हैं जहाँ निरन्तर नाटकीय प्रयोग होते रहते हैं।

अंग्रेजी नाटक

इंग्लैण्डमें भी प्रारम्भमें ईसाई पादरियों-द्वारा धार्मिक नाटक होते थे जिनमें अलौकिक नाटक (मिरेकिल प्लेज) और रहस्यात्मक नाटक (मिस्टरी प्लेज) होते थे। क्रिस्तु सोलहवीं शताब्दीमें पुनरुद्धार-कालमें ये दन्वत दूट गए और प्रहसन तथा त्रासद लिखे जाने लगे। किन्तु इन सबमें सर्वाधिक ख्याति पाई शोकसपिपर ने। औन्सनेने प्रहसन और त्रासद दोनों लिखे किन्तु उसे प्रसिद्धि मिली उस कलात्मक मास्क (मुर्जाटैवाले प्रहसन) से जिसकी राजद्वारमें खड़ा प्रशास्य हुई। इस प्रकार त्रासद और प्रहसन निरन्तर लिखे जाते रहे। पीछे जो अग्ना बेल्सी, कौलरिड, वाधरन, शौली और हेनरी टेलर जैसे लेखक हुए जिन्होंने प्रग्य-नाटक लिखे, जो केवल पढ़नेके लिये अच्छे थे, रंगमंच पर नहीं खेले जा सकते थे। टेन्सिन, ब्राउनिय और और स्विन्सर्ग जैसे कवियोंने नाटकीय काव्योंकी रचना की और शेरिडन जैसे लोगोंने दूर्यात्मक शक्तिमें पूर्ण नाटक लिखे। इसके पश्चात् जेम्स पिन्नो और ओस्कर वाइल्ड जैसे नाटककाराने वाग्यैदन्धसे पूर्ण प्रहसन लिखे। इसके पश्चात् आए बर्नडशा और गाल्त्वर्दी जिन्होंने रङ्गशालाको नया ही रूप दिया। अनेक विवाहाश्रय विपयोपर निर्भीकता और व्यङ्ग्यते आलोचना की तथा सामाजिक समस्याओंका नये ढंगसे समाधान किया। जे. एम. बार्नेने अगने नाटकोंमें अलौकिक रहस्यात्मक तत्त्वोंका अधिक योग किया। हालें एनविल बाकरने रङ्गविधानकी योजनामें मदत्त्वपूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त की। पीछेके कवियोंमें कुछ ऐसे भी हैं जिन्होंने व्यङ्ग्यात्मक प्रहसन भी लिखे।

आयरिश नेशनल थियेटरमें दो प्रकारके नाटक लिखे गए। एक तो साहित्यिक नाटक, दूसरे लोक-नाटक (फाक प्लेज)

अमरीकाके नाटक

अभी पचास वर्ष पहलेतक अमेरिकाके नाटकोंपर फ्रांसीसी और अंग्रेजी प्रभाव था। किन्तु डेन्मन शैम्सनके सार्वजनिक गीत-नाट्यके आ जानेसे और हैरिगन तथा हार्टके निम्न कोटिके जावनके देशी प्रहसनोंके प्रादुर्भावसे

देशी मौलिकता जागने लगी। जेम्स हर्नने सर्वप्रथम नये ढंगलैडके ग्राम्य जीवनपर अत्यन्त स्वाभाविक नाटक लिखा। वर्तमान अमरीकाके नाटककारोंकी विशेषता यह है कि वे भाववीय प्रकृतिका अत्यन्त सच्चा और निःसंकोच विषय करते हैं। इधर अमरीकाकी जनताके मतका प्रतिनिधित्व करनेवाले भी कुछ नाटक लिखे जा रहे हैं जिनकी लोकप्रियता अचिक बढ़ रही है किन्तु प्रभावशाली, नई सम्भावनाओंको समझनेवाला वास्तविकतावादी नाटककार है यूजेन ओ नील जो अभिव्यञ्जनात्मक कौशलका भी प्रयोग करता है, दूसरा अभिव्यञ्जनावादी नाटककार है एलमेर राइस।

विभिन्न देशोंमें प्रयुक्त होनेवाले जिन अनेक प्रकारके नाटकीक दखान किया गया है उनके अतिरिक्त उनमें इतने उत्पनाट्य, गीत-नाट्य तथा मूबनाट्यकी चर्चा की है किन्तु इसके अतिरिक्त भी कुछ नाट्य शैलियों प्रचलित हो चुकी हैं जैसे एकाकी नाटक, जिनमें एक ही अंशमें पूरी कथा पूर्ण हो जाती है। दूसरा है श्रव्य नाट्य (रेडियो प्ले) जिसमें इस प्रकार संवादयोजना रक्खी जाती है कि मौलिक निर्देश और वाचिक अभिनयसे ही पूरा नाटक पूर्ण कर लिया जाता है। रेडियोपर जो नाटक होते हैं वे इसी प्रकारके होते हैं। किन्तु जब देतार रूप ध्वनि (टैनोविजन) का प्रयोग होने लगेगा तब श्रव्य नाटक समान हो जायेंगे। तसरा संवाद-नाट्य है जिनमें गद्य-संवाद नेपथ्यसे होते हैं और अभिनेता रंगमंचपर कथल अभिनय करते हैं। इनके अतिरिक्त भी और बहुतसे प्रकारके नाटक हो सकते हैं।

भारतको वर्तमान मायाओंमें जो नाटक लिखे गए हैं वे या तो संस्कृत शैलीपर लिखे गए या वर्तमान योगोपीय शैलियोंमेंस किमी एकमें। अत उनका कोई अलग वर्गीकरण नहीं हो सकता। हा, पाठय पुस्तकोंमें नाटकोंके आ जानेसे कुछ नाटककार केवल पाठ्य नाटक लिखने लगे हैं जिनमें अभिनेयता कम होती है, किन्तु भाषा-चमत्कार अधिक होता है।

एकांकी नाटक

योगोपीय साहित्यमें चोखपत्रके आविष्कारकी प्रतिक्रियाके रूपमें एकांकी नाटकोंके सृष्टि आरम्भमें होने लगी क्योंकि

बोलपटमें आधिकारकी नवीनता तथा अल्पव्ययताके साथ साथ समयकी भी बचन होती है। अतः अच्छे कैंडेके लेखक इस श्रौर प्रवृत्त हुए। इन लोगोंको प्रारम्भमें यह कठिनाई हुई कि रगशालाएँ इन एकाकी नाटकोंसे सन्तुष्ट न थीं और इनमें अभिनय तथा इश्य तत्त्वके रहते हुए भी कथा तत्त्व भली भाँति स्पष्ट और विकसित न हो सका। पर घारे घारे इनकी रूपरेखा सुघरने श्रौर कुठ संवरने लगी। लोगोंने इनका महत्त्व समझा और स्कूल कालेजोंकी छोटी रगशालाओंने इन्हें अल्पकालिक मनोरञ्जनका सुन्दर साधन समझकर इन्हें श्रपनाया श्रौर इनका प्रचार भी किया। घारे-घारे शिष्ट समुदायने पत्रों तथा व्याख्यानों द्वारा इनकी प्रशंसाके गीत गाने प्रारम्भ कर दिए और अर्थव्यवसायिक नाट्य मंडलियोंने भी सार्वजनिक रगशालाओंमें इनका प्रयोग श्रारम्भ कर दिया।

जिन लोगोंने सञ्चित नाट्यशास्त्र या नाट्य साहित्यका अध्ययन नहीं किया है, उनका बड़ी विश्वास है कि एकाकी नाटक वैज्ञानिक आधिकारोंके समान ही बीसवीं शताब्दीकी देन है। किन्तु एकाकी नाटकोंका श्रारम्भ इससे बहुत पहले भालने कर दिया था श्रौर उसका 'मध्यम ज्वायोग' उदाहरणके रूपमें प्रस्तुत किया जा सकता है। योरोपमें भी छोटे, सम्बद्ध तथा कलात्मक नाटक कोई नये नहीं हैं। प्राचीन यूनान श्रौर इतालियामें छोटे प्रहसन स्वतन्त्र रूपसे विकसित हुए थे श्रौर यह प्रमाणित है कि छोटे छोटे प्रहसन पन्द्रहवीं शताब्दीसे सत्रहवीं शताब्दी तक कमीदिना देन आर्त' के नामसे इतालियामें तथा दूसरे योरोपीय देशोंमें प्रचलित थे।

सबसे पहले श्रंगरेजों नाटक यूनानी साहित्यिक नाटकोंके समान धार्मिक पूजासे विकसित हुए थे श्रौर मध्ययुगमें प्रचलित थे। रहस्यात्मक नाटक (मिस्टरोज़), अलौकिक नाटक (मिरेकिल प्लेज) और गर्माङ्क नाटक (ड्रैमरप्लूड) सभी एकाकी नाटक ही थे।

जब रुढ़िवादियोंने सन् १६४२ में अपनी रगशालाएँ कालित कर दीं, उस समय प्रमत्तशाला अभिनेता प्रायः स्थानस्थान पर 'ड्रौल्स' नामके छोटे-छोटे प्रहसा किया करते थे। १८ वीं तथा १९ वीं शताब्दीमें भी 'पदें पठाऊ' (कर्टेन रेज़र्स) या पुष्टल्ले नाटक (आफ्फर पारज़) कहलानेवाले बहुतसे एकाकी नाटक व्यावसायिक रग

शालाओंके लिये भी लिखे गए थे अथवा अर्थव्यवसायिकोंके लिये चित्ररेखाके रूपसे रचे गए थे जो श्रव भी हमारे ऊपर कमी-कमी लादे जाते हैं। वे सुखतः भँडैती (बॉलैक) या प्रहसन होते थे श्रौर सामूहिक रूपसे एकाकी रूपके विगलित प्रतिनिधि प्रतीत होते आए हैं।

यद्यपि ऐसे बहुतसे उदाहरण दिए जा सकते हैं किन्तु फिर भी अभी तक इसका कोई प्रमाण नहीं मिला है कि इनका विकास या विस्तार योरोप अथवा इंग्लैण्डमें कबसे नियमित तथा सक्रम रहा है क्योंकि अभीतक इस विषयपर पूरी खोज भी नहीं हो पाई है। हाँ, इतना तो निश्चय है कि बीसवीं शताब्दीमें एकाकी नाटकोंका इंग्लैण्ड, फ्रांस, रूस तथा इतालियामें पुनः निर्माण हुआ, नाटकीय रूपकी दृष्टिसे उसका आदर हुआ श्रौर यह भी समझा जाने लगा कि वह नाटक, प्रहसन, उपदेशात्मक नाटक अथवा किसी भी विशिष्ट नाटकीय प्रभावके लिये उपयुक्त है। दुर्भाग्यवश हिन्दीके पास अपनी कोई रगशाला नहीं है श्रौर इनलिये यहाँ उसकी कोई माँग नहीं है। योरोपमें भी व्यावसायिक रगशालाओंमें इन नाटकोंका प्रचार नहीं हुआ है। कि तु जेकोस्लोवाकिया श्रौर अमेरिकाकी छोटी रगशालाओं (लिग्लि मिण्ड) में उनका बड़ा आदर हुआ है श्रौर इंग्लैण्ड की अर्थव्यवसायिक नाटक मंडलियोंमें भी उनका प्रचार बढ़ रहा है।

आजकल योरोपमें एकाकी नाटकोंकी आद सी आ गई है। इसका एक सुपरिणाम तो यह हुआ है कि लोगोंमें नाटक पढनेकी प्रवृत्ति आग रही है श्रौर छुपे हुए नाटकोंका पढना भी वहाँ आजकल एक शिष्टाभ्यास हो गया है। श्री स्लेडन रिमयका कहना है कि नाटक पढनेसे बढकर कोई दूसरा आकर्षक मनोविनोदका साधन नहीं है श्रौर उपवास तो विशेष रूपसे उसके आगे बिल्कुल निष्कममा श्रौर स्वभा है। वर्तमान अर्थव्यवसायिक नाटक-मंडलियोंके पुनरुत्थानने एकाकी नाटकोंकी श्रौर लोगोंकी रसिक बद्धत बढा दी है श्रौर मिश्रिह हामा लोग तथा स्मैटिश कम्प्यूनिटी ड्रामा एक्सेसिएशनकी श्रारेसे जो दल प्रतियोगिता-में भाग लेते हैं वे भी अपने लिये एकाकी नाटक ढूँढा करते हैं। परिणाम यह हुआ कि प्रतिनर्ण सहस्रों नाटक लिखे जाते हैं श्रौर सम्पादकका काम केवल यही रह जाता है कि वह उनमेंसे सर्वश्रेष्ठको चुन ले।

शिक्षा-प्रकारकी दृष्टिसे भी एकांकी नाटक आदर पा रहे हैं और नाटकीय समीक्षा विषयसे पूर्व वर्तमान नाटकों का अध्ययन कराना एक स्वाभाविक आरंभ समझा जाता है। फिर पिछले कुछ वर्षोंमें पर्याविन्यासको और उसके शिक्षणको अधिक महत्त्व दिया जा रहा है और आजका अध्यापक केवल कुछ कविताओंके अथवा कुछ उच्च श्रेणी के गद्य-पाठ करानेसे समुष्ट नहीं हो जाता। वह भाषामें प्रकट किए हुए भावोंका अभिनय करना सिखाना भी अपना कर्तव्य समझता है। शिक्षाकी दृष्टिसे अभिनयका मनोवैज्ञानिक प्रमाण अमूल्य समझा जाता है।

शिक्षा-शास्त्रियोंका कहना है कि बहुत छोटे बच्चोंके लिये ऐसे नाटक दूने चाहिए जिनके संवाद एक परिमित शब्द-समूहमें बंधे हों और जिनमें साधारण विचारों और भावोंका स्पष्टीकरण हो किन्तु बड़े छात्रोंके लिये जिनमें किशोर भी सम्मिलित हैं विशेष रूपसे लिये हुए नाटकोंकी आवश्यकता नहीं है। स्कूलोंके लिये केवल सर्वश्रेष्ठ नाटक ही होने चाहिए। व्यावसायिक अभिनेता तो द्वितीय श्रेणीके नाटकोंकी भी प्रभावशाली बना सकते हैं पर नाटककी रचना ऐसी पक्की होनी चाहिए कि नौसिखिए अव्यावसायिक लोगोंके हाथमें पढ़कर भी वे खरे उतर।

कुछ पाठशालाओंमें बालक और बालिकाओंकी अलग अलग रखना भी कठिनाई उत्पन्न कर देता है। अंगरेजीमें जो केवल बालकोंके लिये अथवा केवल बालिकाओंके लिये कोई नाटक नहीं है। एक नाटकका सरलता से, एक काल्पनिक नाटक (फ्रैटेसी प्ले) में या परिवान नाटक (कौस्तुभ प्ले) में पुरुष का अभिनय कर सकती है अथवा एक बालक शैक्षिकपरिके नाटकमें लड़की का अभिनय भी कर सकता है, किन्तु आजकलके नाटकोंमें जिनमें वर्तमान कालका चित्रण होता है इस प्रकारके परिवर्तन आवश्यकनीय हैं।

आजकल ऐसी भी माँग है कि केवल स्त्रियोंके लिये ही नाटक लिखे जायें। यद्यपि ऐसे नाटक लिखे भी जा रहे हैं किन्तु वे बहुत ही निम्न कोटिके हैं। अंगरेजीमें स्त्री पात्रोंसे भरे केवल दो ही नाटक हैं—एक है “नाहन टिल सिक्स” और दूसरा है “विल्ड् न इन यूनिफॉर्म” और इन दोनोंमेंसे किसी में भी पुरुषको अनुपस्थित खडकती नहीं। एकांकी नाटकोंमें तो पुरुषोंको उपस्थित सरलता

से दूर भी की जा सकती है और निम्नलिखित एकांकी नाटक तो बिना पुरुषोंके सर्वश्रेष्ठ उतरे हैं और तीन प्रकार के नाटकोंके प्रतिनिधि भी हैं—ऐतिहासिक नाटक, वर्तमान व्यावसायिक नाटक, और वर्तमान संयुक्त मुलान्त नाटक। ये नाटक हैं—एडवर्ड पहला का ‘वीमेन टेट यार,’ डोने टोयेरो का ‘द ग्रेट डाक’ और हेरोल्ड क्रिग हाउसका ‘रमोक स्लोन’ किन्तु इन नाटकोंके पढ़नेसे इनकी कृत्रिमता तरफ़ाल प्रकट हो जाती है। इन सबसे अच्छे हैं अभिनय भारतका ‘श्रुतका’ और कमलिनी मेहताका उर्मिला जिनमें सब स्त्री पात्रोंके होते हुए भी स्वाभाविकता बनी रहती है।

एकांकी नाटक की रचनाके सम्बन्धमें धी यल्लोटेने दो सिद्धान्त निर्धारित किए हैं—

(१) एकांकी नाटकमें यदि चरित्र-चित्रण सुन्दर हो तो नाटक कभी असफल नहीं हो सकता।

(२) यदि एकांकी नाटकमें विनोद न हो तो उसे नाटक नहीं समझना चाहिए।

यल्लोटे ने प्रचार-नाटक तथा भावपूर्ण नाटकोंकी इसलिये व्याख्या कही है कि ये सब अर्थन सत्यता दिखाने तथा किसी विशेष सिद्धान्त या मतके प्रचारके लिये लिखे जाते हैं।

धी यल्लोटेके सिद्धान्तके अनुसार वे नाटक भी नाटकोंमें सम्मिलित किए जाते हैं जो मशीनमें टले नहीं होते अर्थात् जिनके व्यापार रंगमंचके उपयुक्त नहीं होते और जिनके चरित्र भी लुडिगत नाटकोंके चरित्रोंके समान पचाने योग्य नहीं होते। दूसरे शब्दोंमें ये ट्रिक्वाटरके सावधान नाटकोंके विरोधी हैं और ये सावधान नाटक कृत्रिम नाटकोंके विरोधी हैं। दूसरे सिद्धान्तके अनुसार धी यल्लोटे उन तथाकथित तीव्र नाटकोंके अथवा विबोदरहित गंभीर नाटकों और प्रचार-नाटकों का वहिष्कार करते हैं जो अत्यंत अस्वाभाविक रूपसे प्रभावशाली बनाए जाते हैं। प्राप्तदोमें भी कुछ-हैंसी-विनोद होना ही चाहिए; कुछ तो मानसिक भावोंको तथा मानववैश्योंको शान्ति देनेके लिये और कुछ दुःखना-द्वारा उत्तरर क्षण देनेके लिये। जो नाटककार विनोदसे ऊपर उठता रहता है वह ऐसा लगता है मानो उसमें अनुपातका भाव ही नहीं है। हम मैकथेय या हेडा गैबलरके भावोंके साथ बचनेके लिये तैयार हैं किन्तु हमें

यह भी जान पड़ता रहता है कि जिस प्रतिभाशाली व्यक्तिने उनका निर्माण किया है उसने एक क्षणके लिये भी अपना आरम्भ-समय नहीं खोया। शेक्सपियरका प्रलाप फोर्डके प्रलापसे कहीं अधिक तोत्र है और इम्सन की हँसी उसके शासदोंको स्ट्रिडवर्गके क्रोधसे अधिक असह्य बना देती है। विनोद एक प्रकार का दार्शनिक उन्माद है, वह फेरन नाटकोंमें ही नहीं वरन् इस रूखी दुनियाके लिये भी अपरिहार्य है।

योरपमें एकाँकी नाटक इतने अधिक लिखे गए कि उनके कई वर्ग बन गए। नीचे हम उन वर्गोंका तथा प्रत्येक वर्गके सर्वश्रेष्ठ नाटककार तथा रचनाका भी उल्लेख करेंगे।

(१) सम्य प्रहसन (पोलाइट फासॅज) — आनोल्ड वेनेका 'दि स्टेप मद्र'।

(२) देवताओं और मनुष्योंके नाटक (प्लेज श्रीफ गौडस्-एंड मेन) — लौर्ड डनवेनी का 'ए नाइट ऐट एन इन'।

(३) खुले मैदानके नाटक (ओपेन एअर प्लेज) — हेरोल्ड ब्रिग हाउस का 'हाउ दि वेटर इज मेड'।

(४) परिधान नाटक (कौल्थम प्लेज) — ओला-इव कौन्वेका 'मिमी'।

(५) गद्य-पद्य-मय नाटक (प्ले इन प्रोज ऐंड वर्स) डब्लू० बी० योर्ट्सका 'दि पौट औफ ब्रौय'।

(६) गोचर भूमि तथा हरे मैदानोंके लिये नाटक (प्ले फौर दि मीडो ऐंड प्ले फौर दि लौन) हेरोल्ड ब्रिग हाउसका 'दि मिंस हू वाज ए पाइपर'।

(७) दूर और पासके नाटक (प्लेज औफ फार ऐंड निपर) — लौर्ड डलवेनीका 'दि प्लाइट औफ दि बीन'।

(८) प्रत्युत्पन्नमस्तिव् पूर्य नाटक — (विटी प्लेज) जी. जी. टालबोट का 'दि स्पार्टन गर्ल'।

इनके अतिरिक्त कुछ नागरिक-जीवन-सम्बन्धी विशेषत लन्दनके आचारसे सम्बद्ध नाटक भी लिखे गए हैं। इन नाटकोंका प्रारम्भ किया था हेरोल्ड चैपिनने जिनका 'मे पेअर' नाटक बड़ा प्रसिद्ध है। इन लन्दनीय नाटकोंमें कुमारी एलिजाबेथका 'चेन्थ', नील लायोन्सका 'लडन माइड', भी मेक ई बोय का 'दि लाइक्स औफ इर,' र्नागीय

गर्ट्यूड शैबिस का 'मेकशिफ्टस,' हेरोल्ड ब्रिगहाउसके ट्रेम स्केच' तथा 'डोर वे' उल्लेखनाय हैं। और र्नागीय विनियम आर्चरका 'दि 'डम्ब ऐंड दि 'चाइड' तो एकाँकी नाटकोंमें सर्वश्रेष्ठ है जिसका कारण उसकी सरलता और स्पष्टता है।

इन सभी प्रकारके एकाँकी नाटकोंकी रचनाएँ साधारण दृश्य मात्रसे लगाकर नाटकके सभी तत्वोंसे पूर्ण छोटे नाटकतकमें हुई हैं और विभिन्न नाटककारोंने अपने नाटकोंको यथासमय प्रभावशाली बनानेका प्रयत्न किया है। इस प्रभावको उत्पन्न करनेके लिये उन्होंने प्रयत्न लोक-भाषाका आश्रय लिया है और दृश्य विधान शुभित बना दिया है अर्थात् उसमें घटनाओं, पात्रों अथवा स्थितियोंका परिवर्तन दिखलाकर उनको सरस, बोधगम्य, कुतूहल पूर्ण तथा प्रभाव पूर्ण बनाया है। इनकी रचनामें भी दो रूप हैं एक तो वे जो केवल एक दृश्यमें ही समाप्त हो जाते हैं, दूसरे वे जो एक अंकमें तो समाप्त होते हैं किन्तु उनमें दृश्य कई होते हैं।

काशीमें जो अभिनव रंगशालाका निर्माण हुआ है वहाँ इस प्रकारकी रचनाओंका परीक्षण हो रहा है। वहाँ अभिनवधरतका 'अपराधा' नामक एकाँका नाटक सफलतासे खेला गया था। उस नाटकको विशेषता यह थी कि उसमें एक दृश्य होते हुए भी रसका परियाक पूर्ण रूपसे हुआ है।

किन्तु एकाँक नाटक लिखनेका यह प्रयास विन्कुन मद्र है और जय तक हिन्दीकी रंगशाला नहीं बन पाती तब तक नाटकोंका पनपना असंभव ही है।

कलावादी तथा वास्तविकतावादी नाटक

योरपमें जिन शुद्धवादीयोंने समस्याएँ लेकर नाटकोंकी रचना प्रारम्भ की उनके दो पक्ष हुए—एक शुद्ध वास्तविकतावादी और दूसरे कलावादी।

कलावादीयोंका यह तर्क है कि नाटक मनोरंजनका साधन है किन्तु साथ साथ उसमें तथ्यकी मात्रा समूची रहनी चाहिए। हाँ, तथ्यको प्रकट करनेके साधनोंमें कलाकी पूर्ण सहायता ली जा सकती है। इन लोगोंका यह विश्वास है कि समाज र्नाय सधर्म और द्वा-द्वन्द्व क्षेत्र है। मनुष्य अपने चारों ओर इस प्रकारके अनेक वैषम्योंकी नित्य

देखता-सुनता और भोगता चला आ रहा है अतः उनके देखने तथा सहन करनेका अभ्यस हो गया है। उनके आवेशमय प्रत्यक्षीकरणसे उसके हृदयपर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता और इसलिये नाटककारका जो उद्देश्य है वह भी इन लोगोंके हृदयतक नहीं उतर पाता है। अतः इन कलाशक्तियोंका यह प्रस्ताव है कि नाटकमें विनोदके कलात्मक माध्यमोंका अर्थात् गीत, नृत्य और नृत्यका प्रचुर प्रयोग किया जाय। इस आचारपर गीति-नाटकोंको सृष्टि हुई। इन गीति-नाट्योंकी विशेषता यही थी कि इनमें सब बातें पद्यमें ही होती थीं किन्तु वैचल्य पद्य-बद्धता ही इन गीति-नाट्योंकी विशेषता नहीं है। इसके दो रस स्वरूप हैं—एक तो मूक अभिनयके साथ गीति-नाट्य और दूसरा शुद्ध तचादात्मक गीति-नाट्य। इनमें से पहलेमें एक दल विशेष प्राच-युक्त, संवादयुक्त, धार्यदंशोंकी सहायतासे गीत गाता है और दूसरा दल उन गीतोंके अनुरूप भूमिकामें गीत-भावके अनुरूप अभिनय करता है। भारतमें उस प्रकारके गीति-नाट्योंका अधिक प्रचार महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुरने अपने शान्तिनिकेतनमें किया। उनका 'चांडालिका' नामक गीति-नाट्य रंगगीत पर बड़ी सफलता पा चुका है।

दूसरे प्रकारके गीति-नाट्य वे हैं जिनमें केवल पद्य-बद्ध संवाद-मात्र ही रहते हैं किन्तु इस प्रकार के नाटक प्रांगणसी और इताज्जो भाषामें जैसे सुन्दर बन पड़े हैं वैसे न तो अंग्रेजीमें बन पाए न रूसीमें और न जर्मनीमें। इन्हींकी देखादेखी भारतमें भी कुछ लोगोंने यहाँकी भाषाओंमें इस प्रकारके गीति-नाट्य लिखे जिन्हें गीति-नाट्य न कह कर पद्य-बद्ध-नाटक कहना चाहिए। इन नाट्योंमें पद्योंकी विरसताके कारण न ही रसका उचित रूपसे परिपाक हो पाया, न संवादमें ही धन्य आ पाया, और न कथास्वरूप ही उचित प्रसार हुआ।

नवीन वर्गीकरण

जितने प्रकारके नाटक भारत तथा अन्य देशोंमें प्राप्त हुए हैं और हो रहे हैं उनका वर्गीकरण कई दृष्टियोंसे किया जा सकता है—१ विषय, २ रंगमंच, ३ प्रदर्शन-विधि, ४ प्रभाव, ५ रचना, ६ उद्देश्य, ७ सामाजिक या दर्शक तथा ८ पात्र।

१—विषयके अनुसार नाटक निम्नलिखित प्रकारके हो सकते हैं—

पौराणिक
ऐतिहासिक
प्रतीकारमक जैसे प्रबीचचन्द्रोदय
रुढ़ (किवी देश या जातिकी रुढ़ कथाके आधारपर)

मौलिक

मौलिकके अन्तर्गत सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, वैज्ञानिक, धरेल, आर्थिक तथा नैतिक।

२—रंगमंचके अनुसार निम्नलिखित प्रकारके हो सकते हैं—

खुले मैदानके योग्य नाटक (ओपिन एयर या मीबो प्लेज)

चकित्त रंगमंचके योग्य (फौर रिक्विजिटिंग स्टेज)
छोटे रंगमंचके योग्य

बड़े रंगमंचके योग्य
पहले न रंगमंचके योग्य

दूसरे रंगगीतके योग्य (जैसे रामलीला होती है वहाँ दोमंच होते हैं)

३—प्रदर्शन-विधिके अनुसार ये प्रकार हो सकते हैं—

छायानाटक
पुचलिका नाटक
मूकभिनय नाटक
गीतिनाट्य नाटक
नृत्यनाट्य नाटक
अभयनाटक (रेडियो प्ले)
दृश्य-बन्ध नाटक

४—प्रभावके अनुसार ये भेद हो सकते हैं—

गुंभारामक
वीरता पूर्ण
आसन्नक
हास्यजनक
कुतूहलीरगादक
विनोदात्मक
उद्देश्यजनक
कदम्य
पृथोत्पादक
क्रोधजनक या भावोत्तेजक (किसी व्यक्ति, स जाज, वर्ग, जाति, देश, वस्तु, जीय, क्रिया आदिके विरुद्ध)
वैराग्यजनक

५—रचनाके अनुसार निम्नलिखित भेद किए जा सकते हैं—

एकत्री
अनेकारी
एक दृश्यात्मक

एक दृश्यात्मक बहुदृश्यपीठात्मक तथा बहु-
व्यापारात्मक जैसे अभिनयमरतका 'देवता'

आलंकारिक तथा लाक्षणिक भाषायुक्त पठनीय नाटक

६—उद्देश्यके अनुसार ये भेद हो सकते हैं—

समाजसुधार
किसीका निन्दा या स्तुति
किसी विशेष सिद्धांत या लक्ष्यका प्रतिपादन

७—सामाजिक या दर्शकके अनुसार निम्नलिखित भेद किए जा सकते हैं—

बालकोंके योग्य नाटक
स्त्रियोंके योग्य
सैनिकोंके योग्य
किसी विशेष वर्गके योग्य

८—पात्रके अनुसार

देवता या अलौकिक पात्र वाले
उच्च श्रेणिके पात्र वाले
निम्न वर्गके पात्र वाले
मध्य वर्गके पात्र वाले
निम्न श्रेणीके पात्र वाले

वर्तमान वर्गीकरण

इतने सब भेद होते हुए हम सामान्यतः विश्वभरके नाटकोंको निम्नलिखित ६ वर्गों में बाँट सकते हैं—

॥ इत्यभिनयमरतश्रीसीतारामद्विरचितेऽभिनयनाट्यशास्त्रे

१ कथाप्रधान—जिसमें मुख्यतः किसी प्रसिद्ध कथाको उपस्थित करना ही नाटककारका लक्ष्य हो।

२ चरित्र प्रधान—जिसमें किसी विशिष्ट नायक या नायिकाके गुणोंका विकास प्रदर्शित करना इष्ट हो अथवा किसीकी निन्दा करके उसके अवगुणोंका भडापोड़ करना उद्देश्य हो।

३ व्यापार प्रधान—जिसमें घटनाओं और क्रियाओंका अधिक समावेश हो, सवाद कम हो और क्रियाओंके परिणामस्वरूप कोई विशेष स्वाभाविक तथा अनिवार्य फल प्राप्त हो। इस प्रकारके मौलिक नाटक सर्वश्रेष्ठ होते होते हैं और वास्तविक नाटकीयता तथा नाट्यकौशल इन्हीं प्रकारकी रचनाओंमें प्रकट होता है।

४ संगीत प्रधान—जिसमें गीत, वाद्य, नृत्य आदिके द्वारा ही नाट्य व्यापार प्रदर्शित किया जाय।

५ उद्देश्यप्रधान—जिसमें किसी विशेष उद्देश्यका प्रतिपादन किया जाय।

६ सवाद प्रधान—जिसमें अर्घकांत नाटकीय व्यापार सवाद द्वारा सिद्ध हो और भाषा शैलीपर अधिक ध्यान दिया गया हो।

नाटकीय भेद, वृत्ति तथा भेदोपभेदोंके सर्वधर्म इतना विवेचन पर्याप्त होगा। अगले अध्यायमें हम नाट्यग्रथनकी मीमांसा करके यह समझावेंगे कि सब तत्त्वोंका उचित सन्निवेश करके किस क्रम तथा अनुपातसे नाटककी रचना करनी चाहिए।

एक रचना खड़े नाट्यवृत्ति-प्रकरण नाम पोडशोऽप्याय ॥

नाट्यग्रथन

मनिधानक की रचना

विच्छेद अध्यायमें हमने विस्तारमें नाटकके सत्र तत्त्वोंका विस्तारसे विवेचन करते हुए यह भी समाप्ता दिया है कि नाटकमें किस प्रकार उन तत्वोंका प्रयोग करना चाहिए। इसीके साथ हम यह भी समझा आए हैं कि नाटकमें प्रत्येक तत्वका समुचित प्रयोग करते समय हमें किन किन बातोंका ध्यान रखना चाहिए। इस अध्यायमें हम व्यावहारिक और प्रायोगिक दृष्टिसे यह विवेचन करेंगे कि नाटककारको नाटककी रचना करते समय किन किन बातोंका ध्यान रखना चाहिए और किस क्रमसे उसे नाटककी रचना करनी चाहिए।

सनिधानक या कथावस्तु किसे कहते हैं और उसकी रचना किस प्रकार करनी चाहिए इसका विवरण विस्तारसे कथावस्तु प्रकरणमें दिया जा चुका है। यहाँ केवल यही बताना अभीष्ट है कि नाटककी रचना करनेसे पूर्व सनिधानका रचना स्पष्ट रूपसे कर लेनी चाहिए जिससे यह शक्य हो जाय कि आप नाटकमें इष्ट उद्देश्यकी सिद्धिके लिये अथवा नाटकमें वर्णित किसी पात्रके चरित्र निर्वाहके लिये अथवा परिणामको प्रभावशाली बनानेके लिये व्यापार-योजना

अधिक उलझानेके लिये नाटककी कथाको किस रूपमें उपस्थित करना चाहते हैं। यह कार्य ऐतिहासिक नाटकके लिये दुहरा हो जाता है क्योंकि उसमें एक तो मूल ऐतिहासिक कथा रहती है और दूसरी संविधानककी कथा उस परिवर्तित रूपमें रची जाती है जिस रूपमें नाटककार उसे प्रस्तुत करना चाहता है। कभी कभी एक ही कथा कई पुराणोंमें कई प्रकारसे मिलती है। ऐसी अवस्थामें नाटककारके लिये यह सुविधा भी होती है और कठिनाई भी कि इनमेंसे कोई या कौनसी कथा वह ग्रहण करे। ऐसे अवसरपर उचित यही है कि नाटककार उन कथाओंमेंसे निर्द्वन्द्व होकर ऐसी सब घटनाएँ ले ले जो उसके नाटकके परिणामके लिये या नाटकको प्रभावशाली बनानेके लिये आवश्यक हों।

जहाँतक मौलिक नाटकोंके संविधानककी बात है उनमें नाटककारको इस बातका ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि कथाका कोई व्यापार अरुगत और असंभाव्य न हो। प्रत्येक घटना ऐसी हो जो नाटकीय कथाके देश, काल और पात्रोंकी मर्यादाके पूर्णतः अनुकूल हो। यदि उसमें कुछ अलौकिक तत्त्व जैसे भूत, प्रेत आदि लाने भी हों तो उन्हें इस प्रकार लाना चाहिए जिससे वे देश-काल-पात्रकी भावनासे मिल्न न प्रतीत हों।

नाटकका नामकरण

ॐ संविधानान्तरन्नामकरणम् ।'

[संविधान रच लेनेपर ही नामकरण है ठीक ।]

चाहे नाटकका नाम पहले रखकर या सोचकर संविधानककी रचना की जाय अथवा संविधानककी रचना कर लेनेके पश्चात् नामकरण किया जाय, दोनों दशाओंमें कोई अन्तर नहीं आ जाता किन्तु अच्छा यही है कि पहले संविधानककी रचना करके पीछे नामकरण किया जाय क्योंकि यह बहुत संभव है कि संविधानककी रचना करते समय न जाने उसमें कौनसे ऐसे व्यापार आ जायें जिनके कारण नामकरणमें सुविधा हो जाय, क्योंकि प्रायः ऐतिहासिक नाटकमें पात्र ही प्रधान होता है किन्तु नाटककी प्रकृति उस पात्रके नामसे उतनी स्पष्ट नहीं होती जितनी किसी विशिष्ट घटनासे जैसे उद्योग नाटकका नाम भंग या भीमसेन भी ही सक्ता था, पर उसका उचित नामकरण 'उद्योग' ही है। महाकवि कालिदासेन 'अभि-

ज्ञानशाकुन्तलम्' का नामकरण अंगूठीके कारण ही रक्खा क्योंकि सम्पूर्ण घटना प्रवाहका आधार वही अंगूठीरूपी अभिज्ञान है। कभी कभी सनकपे आकर नाटककारोंने निरर्थक नाम भी रख लिए हैं जैसे शोक्नपियरने अपने एक नाटकका नाम रक्खा 'ऐल यू लाइक इट' (जो तुम चाहो)।

नाटकके नामकरणके सिद्धांत

ॐ नायक-व्यापारोभय-जात्युद्देश्य-वस्तु-स्थान-परकानि नाट्यभावव्यञ्जकानि नामानि स्युः।

[नायक या व्यापार, कहीं दोनोंपर या दो जाति परक। उद्देश्य, वस्तुका स्थलबोधक ही नाट्यभावव्यञ्जक ही नाम।]

अता नाटकका नाम रखते हुए इतनी बातोंका ध्यान रखना चाहिए—

(१) नायक-प्रधान या पात्र-प्रधान नाटकका नाम उस नायक या पात्रपर ही होना चाहिए। जैसे अभिनव-भरतका सेनापति पुष्यमित्र या गेटेश डा० फाउस्ट। यदि नायक-नायिका दोनों प्रधान हों तो दोनोंके सम्मिलित नामसे भी नाटकका नामकरण हो सकना है जैसे विक्रमोर्वशीयम्, मल्लिकार्जुनविजय एवम् ऐण्ड क्रिश्चोपेट्रा, कृष्ण-सुदामा।

२—व्यापार-प्रधान नाटकमें मुख्य घटना या व्यापारपर नामकरण करना चाहिए जैसे वैणीबंदार, उद्योग, सुप्रदा-हरण, कौचवध, मार मारकर हकीम (टोक पीटकर वैद्यराज या क्रिश्चियान इन साइट औफ़ हिमसेल्फ) या मध्यम व्यायोग। प्रहसन या व्यंग्यतमक नाटक (सैटायर) में व्यापार या घटनाके अनुसार ही नामकरण होना चाहिए जैसे मत्तविलास-प्रहसन, सुमके घर धूम, मन्च एड्ड अगउट नयिंग, मिड्समर नाइट्स ड्रीम। किन्तु ऐसे नाम न हों जैसे भवभूतिशा महावीरचरित जिसमें सारी गमलीला आ जाय।

३—जिन नाटकोंमें पात्र और घटना दोनों प्रधान हों उनका नामकरण पात्र और घटना दोनोंके अनुसार होना चाहिए जैसे—अभिज्ञानशाकुन्तल या स्वप्नवासुदेवता।

४—यदि नाटकमें किसी जाति विशेषकी वृत्ति दिखाई गई हो तो उस जातिके संकेतसे नामकरण करना चाहिए जैसे नार्सी कावूट, कायस्थ-चौहल, मर्सेट औफ़ वेनिस।

५—उद्देश्य प्रधान नाटकोंमें उद्देश्य या परिणामके अनुसार नामकरण करना चाहिए जैसे गिशास, कथा त्रिकय, मंगल प्रमात, दोनके श्रांस, प्रायश्चित्त, बलिदान, परित्याग, आत्मोत्सव सत्यकी विजय ।

६—कभी कभी कुछ वस्तुएँ या स्थान ही नाटकीय घटनाओं या पात्रकी क्रियाओंके आधार होते हैं । ऐसी दशामें उन वस्तुओं या स्थानोंके अनुसार भी नाम हो सकते हैं—जैसे हीरेका हार, हाथीदाँतका डोना, ग्रेचन पेरिका रूमाल । किन्तु ऐसी वस्तुका नाम न हो जिसका नाटकमें कम महत्त्व हो जैसे मूत्रकटक । ऐसी दशामें ही यथासम्भव स्थानका नाम नाटकके नामकरणके लिये ग्रहण करना चाहिए जब उससे बिना काम न चले अथवा नामसे नाटकका रूप स्पष्ट नहीं हो पाता । प्रायः बड़े बड़े नगरों या स्थानोंमें अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हो चुकी हैं इसलिये उन नगरों या स्थानोंके अनुसार नामकरणमें यह सम्झनेमें ऋतिनाइ हो जाती है कि नाटककार उस नगर या स्थानकी किस घटनाको आधार बना रहा है । किन्तु यदि कोई ऐसा स्थान हो जो किसी एक ही विशिष्ट घटनाके लिये प्रसिद्ध हो तब उस स्थानके नामपर नाटकका नामकरण उचित होगा जैसे कुरुक्षेत्र, वारणावत, पंचवटी, नदिग्राम या चित्रकूट । यह स्मरण रखना चाहिए कि हम श्रयोध्या, मधुरा, इन्द्रावन आदि नाम नहीं रख सकते क्योंकि इन नामोंसे यह भले ही व्यक्त हो जाय कि इसम रामजी या कृष्णकी कथा होगी किन्तु कौनसी कथा होगी यह पक्क नहीं होगा । इसलिये ऐसे आमक नाम नहीं रखने चाहिए ।

७—प्रतीकात्मक नाटक यद्यपि नाटकीय दृष्टिसे अत्यन्त गहिर और हेय होते हैं किन्तु यदि कोई लिखना ही चाहे तो उसके नामसे उसके विषयकी ध्वनि स्पष्ट होगी चाहिए जैसे प्रबोधचन्द्रोदय ।

इसका तात्पर्य यह है कि नाटकका नामकरण इस प्रकार करना चाहिए कि दर्शक या सामाजिकको नाटकका नाम सुनते ही उसके विषयका ऐसा आभास मिल जाय कि उसे देखनेको उसकी उत्कृष्टता जाग पड़े । ऐतिहासिक और पौराणिक नाटकोंके नाम तो प्रायः व्यक्तियों, घटनाओं और स्थानोंपर रखे जाते हैं और रखे जाने भी चाहिए किन्तु मौलिक सामाजिक नाटकोंमें पात्र या स्थानके बदले घटना या परिणामके आधारपर नाटकका

नामकरण करना चाहिए और यथासम्भन इन नामोंको इतना आकर्षक बना देना चाहिए कि दर्शक उसे देखनेके लिये आतुर और आकुण हो उठें जैसे

अगदका पैर, इत्यापा, विशाच राजसका पिता देवता, प्यारके श्रांस विश्वासघात, प्रतिहिंसा भत्याचार, गतीका शाप, भागकी चिनगारी, हृदयमन्यन जीवित समाधि स्वर्गमें नरक, नरकको आग, उबड़ा हुआ स्वर्ग, नयनोंकी प्यास आदि ।

एकदित वाक्योंमें या पूर्ण वाक्योंमें नामकरण भी प्रथा चल निकली है । यह भी अत्यन्त मनोहर है जैसे—

आश्रो मियतम, मैं तुम्हारा हूँ इधर न देखोगी, बादल बरसंगे घटा छा गई ऊँचा कब उदय होगी, चलो दिनों, देर हमारा है, तुर्ग टूट रहा है बोलो सबी बोलो बिजली चमक गई, जब तारे भी रोए थे यह श्रापना पन है, मैं आ गया यानी, वह मुनो हाहाकार, हृदयपर ताड़व करो, भरतो कॉप उठी ।

रुनहावेश, भय, अद्भुत, रोद तथा रोमाचकारी घटनाओंसे भरे नाटकोंके लिये ऐसे नाम अधिक उपयुक्त होते हैं ।

पात्रोंका नामकरण

ॐ प्रायेण स्वभावबोधनानि कल्पितपान नामानि स्युः ।

[हैं स्वभाव बोधक ही प्रायः सब कल्पित पात्रोंके नाम ।]

जहाँतक ऐतिहासिक नाटकोंमें पात्रोंका नामकरण है इस सन्धमें भरतने अपने नाट्यशास्त्रमें कहा है—
 तल्लिङ्गस्थानि नामानि कार्याणि कविभिर्द्विजा ॥
 श्रौतसत्तकानि यानि स्युर्न प्रवृत्तानि नाटके ।
 श्राद्धान्तस्य नामानि गीतकर्मात्सुलपत ॥
 काव्ये कार्याणि कविभिर्गद्यमनवृत्तानि च ।
 दत्तप्रायाणि नामानि वणिगान् प्रबोधयेत् ॥
 शौर्वोदात्तानि नामानि तथा शूद्रेषु योजयेत् ॥
 विजययानि नामानि राज्ञा स्त्रीणाञ्च कारयेत् ॥
 दत्ता मित्रा च तेनेति वेश्यानामानि कारयेत् ॥
 नानाशुभनामानां प्रेष्या कार्यास्तु नाटके ॥
 मगनाथानि नामानि चेदानामपि कारयेत् ।
 शमीरार्थानि नामानि योजयेदुत्तमेपु च ॥

यस्मान्नामानुसृष्टं कर्म तेषां भविष्यति
जातिचेष्टानुरूपाणि शेषास्तुमपि वारयेत् ॥
नामानि पुरुषाणां तु स्त्रीणां चोक्तानि तत्रतः ।
एवं नामाभिधाने तु कर्त्तव्यं कविभिस्त्रय ॥

[अथ्याय १९, श्लो० २१-२६]

[जो जिसका लिंगरथ (पुकारनेका) नाम हो वही नाम नाटकमें रखना चाहिए, उसकी उद्यत्तिका बोधक नाम (जैसे रामका दाशरथि या कर्जुनका कौन्तेय) नहीं रखना चाहिए (इसलिये इसमें बड़ा भ्रम हो सकता है क्योंकि दाशरथि तो राम, लक्ष्मण, भरत, शकुन्धन चारों थे और कौन्तेय भी युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, बर्ष चारों थे), द्राक्षण और क्षत्रियोंके नाम शर्मा (ब्राह्मणके नामके साथ) और वर्मा (क्षत्रियोंके नामके साथ) गोव और कर्मके अनुरूप रखना चाहिए । वैश्याके नामके साथ दत्त लगाना चाहिए (जैसे धनदत्त), राजाओं और रानियोंके नाम विजयवाची रखने चाहिए (जैसे जयवंद, भिजया), वैश्याओंके नाम दत्ता, मित्रा या सेना लगाकर रखना चाहिए (जैसे सुरत्ता, राकमित्रा, वधु सेना), कृषियोंके नाम कृशो पर रखने चाहिए (जैसे मालती माधवा मंजरी), चेटोंके नाम मंगलार्थक हों (जैसे शुभधर), श्रेष्ठ लोगोंके नाम गभीर अर्थवाले हों जैसे (ज्योतिर्वन), शेष लोगोंके नाम उनके व्यवसाय, उनकी जाति और उनके आचरणके अनुसार रखने चाहिए । इस प्रकार पुरुषों और स्त्रियोंके नाम रखने की बात बता दी गई है, उसके अनुसार कवियोंको नाम रखने चाहिए ।]

पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकोंके लिये अधिकारा नाम तो पुराण और इतिहासमें मिल ही जाते हैं, शेष नामोंका प्रयोग उन देशोंकी नान-प्रकृतिके अनुसार ही करना चाहिए । किन्तु इन नाटकीय नामोंके भी कुछ विधान हैं —

१—प्रायः उदात्त चरित्रवाले नायकोंके नाम भी उदात्त अर्थवाले हों जैसे शणा प्रताप, रामचन्द्र, विक्रमसिंह आदि । ऐसे पात्रोंके लिये छोट्टाराम, नरुद्धेद सिंह आदि नाम नहीं रखने चाहिए ।

२—प्रहसनोंके लिये प्रायः हास्यजनक नाम रखने चाहिए जैसे मंजुष चिचरु, घसीटा, लज्जा, बुद्ध, लपेट, पलट्ट, तीनकीड़ी, गोबरा ।

३—कूर तथा दुष्ट चरित्रवाले पात्रोंके नाम कूरता या

दुष्टताके द्योतक ही होने चाहिए जैसे, दुर्वोचन, दुर्जन सिंह, गर्जन सिंह, रत्नवन, पहाड़ सिंह, भयावन देव, विकरालबंग, मालामार ठाकुर, डरावन मीम, बंगीराम, शार्ङ्गरव, दुःशासन,

४—कुछ दुष्ट पात्रोंके नाम अच्छे भी रखले जा सकते हैं यदि नाटककार व्यंग्यके लिये उसका प्रयोग करना चाहे जैसे किसी कपटीका नाम निर्मलप्रसाद रक्ला बाप और फिर किसी दूसरे पात्रके द्वारा यह कहलाया जाय—‘इसका नाम निर्मल प्रसाद नहीं भलप्रसाद होना चाहिए था ।

५—साधारण पात्रोंके नामके सम्बन्धमें कोई नियम नहीं बनाया जा सकता किन्तु इस बातका ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि यथासम्भव पात्रके गुण या अर्थगुणको व्यञ्जना नाममें अवश्य आ जाय जैसे कालदासने शकुन्तलाकी दोनों सखियोंके नाम अनसुया और प्रियंवदा अत्यन्त सार्थक प्रयोजनके साथ रखले हैं और इनका यथानाम निर्वाह भी किया है । स्त्रियोंके नामकरणके सम्बन्धमें भी ये ही नियम व्याप्त समझने चाहिए । नीचे हम भारतके देशभेदके अनुसार नाम दे देते हैं । अन्य देशोंके नाम इतने विभिन्न प्रकारके हैं कि नाटककारको स्वयं उन्हें जानकर यथास्थान उनका प्रयोग करना चाहिए ।

पंचनद

पुरुष	स्त्री
ग्वानामिह	करतार कौर
करतारसिंह	जानकी
भगताराम	मोहिनी
रुद्रामल	पुष्या
छोट्टाराम	मालती
रत्नानरसिंह	दुलारा
मोहनसिंह	शकुन्तला
गुरुदत्तामल	कमला
बिडौलाल	निर्मला
मेलाराम	सुरजात कौर

मध्यप्रदेश, राजस्थाना उत्तरप्रदेश और बिहार

गेंदालाल	रामकरी
छत्रगुण	गुलबा
रामस्वरूप	चम्पा

श्रीराम	चमेली	करोडीमल	सलोनी
सीताराम	गोविन्दी	हवारीमल	सुखदेई
लक्ष्मीनारायण	सीता		बंगाल
जगदाशप्रसाद	कमला	भुजगभूषण भट्टाचार्य	निर्मला
हरिहरस्वरूप	निर्मला	तीनकौड़ी मुकर्जी	विमला
जगदीशस्वरूप	शान्ति	निर्मलानन्द मुखोपाध्याय	अमला
भवानीप्रसाद	दुर्गा	सत्याशुमोहन बनर्जी	कमला
जवाहरलाल	कना	नीरदमोहन बन्धोपाध्याय	सरोजिनी
शिवशंकर	सुशीला	विमलानन्दन गुदा	नलिनी
तुनाराम	सुमित्रा	सन्तोषकुमार मित्र	गौरी
मंगलसिंह	गगा	प्रफुल्लनलोचन गागुली	सुनयना
नारायणप्रसाद	यमुना	सुधीरकुमार बसु	चाशमित्रा
दीनदयालु	सरस्वता	दीनबन्धु चटर्जी	मालिनी
जीवनलाल	राधा	सत्येन्द्रमोहनराय	दोपाली
बनवारीलाल	कृष्णा		गुजरात
उमेश प्रसाद	चन्द्रलेखा	पोपटलाल	प्रमिला
शंकरप्रसाद	इन्द्राणी	कन्हैयालाल	कचन
देवीदीन	भगवती	माणिकलाल	वीरा
भगवतादीन	श्यामा	मपतलाल	इसुमती
सोमरू	मुधा	डाह्या भाई	नन्दिनी
मगरू	रामेश्वरी	नाना भाई	नर्मदा
सुद्यू	बागेश्वरी	कान्तिनाथ	रेवती
झारिकाप्रसाद	शारदा	बेठालाल	कुन्तला
मथुराप्रसाद	वीणा	भगनलाल	वीणा
अयोध्याप्रसाद	शोभा	रण्डी	लक्ष्मी
हरिद्वार राम	भाधुरी	नरसी	रेवा
किन्ध्यवासिनीप्रसाद	उषा	चौकसी	नीरा
गयाप्रसाद	भागीरथी	ठाकरसी	इन्दुमती
गंगाप्रसाद	वनमाला	चापसी	उषा
रामचन्द्र	यशोधरा	गगल भाई	काति
कन्हैयालाल	लक्ष्मी		महाराष्ट्र
ललिताप्रसाद	उमा	बलवन्त	कुसुम
चन्द्रिकाप्रसाद	रमा	गंगाधर	सुमन
रामलेलाननसिंह	जयदेवी	विष्णुराव	कानिनी
शिवप्रसाद नारायणसिंह	सुहाये	सदाशिव	मालिनी
हरिनारायण राम	चण्डी	पाडुरग	मंजुला
विक्रमप्रतापसिंह	सुनाफी		

बालाजी	मन्दाकिनी	इनायत अली	रजिया
नरहरि	विजया	महमूद बख्त	नूरजहाँ
गोविन्द	खसला	नूरुद्दीन	मुमताज बेगम
नारायण	तारा	शहाबुद्दीन	करीमा
भालेराव	पद्मा	अकबर अली	महमूदा
विनायक	पाँचनी	शंजानकर अल्लो	सलीमा
		सय्यद हुसेन	ओहंग
		मुल्तान अहमद	गुलबदन

द्रविड़ प्रदेश

महालिंगम्	तुंगभमा
एकलिंगम्	अम्माकुट्टी
विशनाथम्	बानकी
नागप्प	कुट्टुलक्ष्मी
भानप्पा	मीनाक्षी
शिवसुन्दरम्	विशालाक्षी
शंकरराजुडु	मंजुनाक्षी
राधाकृष्णन्	ताग
शेषय्या	सायमहालक्ष्मी
अनन्तरायनम्	लोला
शिवशंभूमूर्ति	सुन्दरम्मा
मद्रायनम्	शारदा
कृष्णचलमूर्ति	सुगन्धादेवी
राममूर्ति	अश्वकी
वासुदेवन्	राजलक्ष्मी
रंगाचारी	चेङ्गम

तिन्ध

चूडमल	दीरों
होतगम	मीरों
चोइथराम	देवी
मघाराम	सवों
बूलवन्द	नामकी

मुसलमानी नाम

अखतर हुसैन	शीरी
मुहम्मद अली	रशीदा
हाकिज इब्राहीम	महमूदा
हाजी उमर	शरीफा
सक्रदर खग	मुल्ताना

इन नामोंके साथ जाति, वर्ण, देश, ग्राम आदिके बोधक अल्ल भो जोड़ लिए जा सकते हैं जैसे शर्मा, वर्मा, गुप्त, रावल, रावत, गाडगिल, करकरे, भट्टाचार्य, राम, राय, नायक, नैयर, मुदालियर, आयांगर, पिल्ले, चतुर्वेदी, त्रिवेदी, द्विवेदी, मिश्र सहानी, मलकानी आदि। यह सच्ची न तो पूर्ण है न यह व्यापक है। प्रायः स्त्रियोंके नाम देश भरमें एकसे हो हैं, केवल पुरुषोंके नाममें अधिक अन्तर पड़ता है।

पात्र-परिचय

संविधानक बना लेनेके पश्चात् नाटककारका यह कर्तव्य है कि वह तत्काल यह निश्चय कर ले कि अपने संविधानकका निर्वाह करनेके लिये उसे कितने और किस प्रकारके पात्रोंकी आवश्यकता है। उसके अनुसार उसे पात्र छाँटकर उनका नामकरण कर लेना चाहिए और उन पात्रोंका परस्पर सम्बन्ध तथा उनकी अवस्था स्थिर कर देनी चाहिए अथवा उनका विवरण स्पष्ट कर देना चाहिए जैसे -

मथुराप्रसाद—एक महाजन (अवस्था ४५ वर्ष)
 देवीप्रसाद—मथुराप्रसादका ज्येष्ठ पुत्र (अवस्था २२ वर्ष)
 भगवानप्रसाद—मथुराप्रसादका द्वितीय पुत्र (अवस्था १८ वर्ष)

मञ्जू—मथुराप्रसादका नौकर (अवस्था ५२ वर्ष)
 गिरधारीलाल—वकील (अवस्था ४० वर्ष)
 मोहिनी—मथुराप्रसादकी कन्या (अवस्था १६ वर्ष)
 जाह्नवी—मोहिनीकी माता (अवस्था ४२ वर्ष)
 सरला—मोहिनीकी सखी (अवस्था १८ वर्ष)
 तुलाये—नौकरानी (अवस्था ६० वर्ष)

यह हम पहले ही कह आए हैं कि पात्र यथासंभव कम होने चाहियें। कुशल नाटककारकी पहचान यही है कि वह कमसे कम पात्रोंके नाटकका निर्वाह करे। इवमें

नाटककारको भी अपने पात्रोंका उचित चित्रणका अवकाश रहता है और दर्शकोंको भी चरित्र समझनेमें और कथा-प्रवाहके साथ चलनेमें सुविधा रहती है। ऐतिहासिक नाटक लिखनेवालेको यह प्रलोभन रहता है कि अधिक पात्र भर दे, किन्तु यह उचित नहीं है। अधिक पात्र देनेसे कथा अस्पष्ट हो जाती है और पात्रोंके चरित्र भी।

अंश तथा दृश्य-विभाजन

ॐ मुख्यकार्यानुसारेणाङ्कः सहायक-कार्यानुसारेण दृश्यविभाजनं कायम् ।

[मुख्य कार्य-अनुसार अंक हो और सहायकपरक दृश्य हो।]

संविधानकका निर्माण करके पाशोका चयन कर चुकने तथा नामकरणके पश्चात् उसे पहले अपने संविधानककी अङ्कोंमें विभाजित कर लेना चाहिए। मान लीजिए रामके विवाहको कथापर नाटक लिखना है तो नाटककारको यह देखना चाहिए कि इसमें मुख्य कार्य कितने हैं। इसकी परीक्षा सरलतासे करके यह समझ लेगा कि इसमें मुख्यतः चार कार्य हैं—

१—विश्वामित्रका दशरथके पास आना और यज्ञकी रक्षाके निमित्त राम और लक्ष्मणको माँगकर ले जाना।

२—विश्वामित्रके आश्रममें ही जनकपुरके धनुषयज्ञका निमन्त्रण मिलना और प्रस्थान।

३—जनकपुरकी फुलवारीमें राम और सीताका साक्षात्कार।

४—धनुषयज्ञमें धनुष तोड़नेपर रामके गलेमें सीताधीका जयमाल डालना।

अतः रामविवाह नाटकमें चार अंक होंगे।

अङ्कका विभाजन कर चुकनेपर नाटककारको यह देखना चाहिए कि प्रत्येक अङ्कमें कार्यको पूर्ण करनेवाली कौन कौनसी घटनाएँ हैं। ऐसी प्रमुख घटनाएँ नाटककी दृष्टिसे तीन प्रकारकी होती हैं—संवाद, दिखाई जानेवाली (द्रष्टव्य), और सूचित की जानेवाली (सूच्य)। अर्थात् नाटककारको यह निश्चय कर लेना चाहिए कि एक अङ्कमें पूर्ण होनेवाले कार्यकी घटनाओंमेंसे कितनीको संवाद या आमिनव रूपमें रंगमंचपर दिखाना है, कितनी ऐसी हैं जिनकी केवल सूचना दिलानी है। जितनी घटनाएँ रंगमंचपर दिखानी हों

वे जितने स्थलोंपर या जितने विभिन्न कालोंमें हुई हों उतने ही दृश्य एक अङ्कमें बना लेने चाहिए। यदि एक अङ्कका कार्य कुछ कुटियामें, कुछ नदीके तटपर, कुछ वनमें, कुछ दशशालामें हुआ है तो उस अङ्कके चार दृश्य हुए—

१—कुटिया

२—नदीतट

३—वन

४ यशशाला।

यदि दो घटनाएँ विभिन्न कालमें एक ही स्थानपर हुई हों तो भी दो दृश्य होने चाहिए और इन दोनों दृश्योंके बीच एक दृश्य प्रस्तुत कर देना चाहिए जिससे दोनों घटनाओंके बीचके समयका व्यवधान स्पष्ट हो जाय जैसे एक अङ्ककी दो घटनाएँ कुटियामें, एक वनमें और एक नदीतटपर हुई है तो नाटककारको चाहिए कि कुटियाके दो दृश्योंके बीच वह किसी दूसरे दृश्यकी अवतारणा करके ऐसी कल्पित घटना प्रस्तुत करे जो मूल कथाके साथ संगत जान पड़े। अनेक नाटककार इसीलिये असफल हुए हैं कि उन्होंने अपने नाटकमें दृश्यका क्रम ठीक नहीं रखा।^१

रामविवाहकी कथामा अङ्कविभाजन लेकर हम दृश्य-विभाजनकी समस्याका समाधान करते किन्तु इससे पूर्व यह भी समझ देना अपना कर्तव्य समझते हैं कि यदि एक अङ्कका कार्य एक ही स्थानमें निर्वाच रूपसे होता हो तो एक ही दृश्यका एक अङ्क हो सकता है। हमारे यहाँ संस्कृतके नाटककारोंने एक अङ्कमें एक ही स्थानपर होनेवाले कार्यके लिये एक ही दृश्यका बहुधा प्रयोग किया है। एक अङ्कमें अनेक दृश्य रखनेकी प्रणाली योरोपने यहाँ आई है और इसीलिये वर्तमान भारतीय नाटककार उसीका अनुन्वर्तन कर रहे हैं किन्तु यह न तो आवश्यक ही है न श्लाघ्य ही। यदि वास्तवमें एक अङ्कके लिये एक दृश्यसे काम न चलता हो तभी अनेक दृश्योंका प्रयोग करना चाहिए अन्यथा नहीं। दूसरा ध्यान यह रखना चाहिए कि रंगमंचकी सुविधाका ध्यान रखते हुए एक दृश्य ऐसा आगेका दिखाना चाहिए जिसमें रंगरीटपर सजावट या दृश्य जानेवाली सामग्री न हो और दूसरा दृश्य गहरा हो, जिसमें कुटिया, चौकी, ग्रासन, पीडा आदि ऐसी सामग्री लगाई जा सके। आगे दिखाए जा सकनेवाले तो दो दृश्य एक साथ लाए जा सकते हैं क्योंकि

उसमें कोई भङ्ग नहीँ होता किन्तु दो गहरे दृश्य अर्थात् सजावटवाले दृश्य कभी एक साथ नहीं लाने चाहिए। यद्यपि चकित्त रंगमंचपर यह सुविधा होती है कि वहाँ तीन-तीन गहरे दृश्य एक साथ लगातार दिखाए जा सकते हैं किन्तु सब नाट्यमंडलियोंके पास तो चकित्त रंगमंच होते नहीं, इसलिये नाटककारको इस दृष्टिसे नाटक लिखने चाहिए जो सबके लिये प्रायः और सुनम हो। तीसरी ध्यान देनेकी बात यह है कि लगातार दो या कई गंभीर, उच्चैःश्लात्मक आधिशात्मक दृश्य एक साथ नहीं दिखाने चाहिए। इससे दर्शक या तो ऊर जाते हैं या उनके मानसिक भावोंमें इतना तनाव उत्पन्न हो जाता है कि उनके मस्तिष्क और हृदयर उसका बड़ा बुग प्रभाव पड़ता है। इसलिये अच्छा यहो है कि यदि एक दृश्य हमारे भावोंको अत्यन्त तान देनेवाला हो तो दूसरा इतना हल्का, मनोदात्मक अथवा मनोरञ्जक हो कि भयोंका तनाव शिथिल होता रहे।

इस प्रकार दृश्य-विभाजन करके प्रत्येक दृश्यमें होनेवाले या दिखई जानेवाले तथा सूचित किए जानेवाले व्यापारों या बातोंको क्रमसे लिख लेना चाहिए और यह भी अंकित कर लेना चाहिए कि किस क्रमसे किस प्रयोजनसे कौनसा पात्र कब प्रवेश करता है और कब चला जाता है, कहीं किस पात्रसे गीत गवाना है, कहीं नृत्य करना है, कहीं किस प्रकारका वाद्य बजवाना है।

उपर्युक्त दृष्टिसे राम-विवाह नाटकके चार अंकोंमेंसे दोका दृश्य-विभाजन इस प्रकार होगा—

प्रथम अंक

प्रथम दृश्य—विश्वामित्रका आश्रम, ऋषि लोग उमाग बैठे हैं। विश्वामित्रका प्रवेश। सन न होनेका कारण पूछनेपर कई ऋषि विश्वामित्रको सूचना देते हैं कि सुबाहु, मारीच और नाइका यहाँ आकर उपद्रव करते हैं। विश्वामित्र। एक ऋषिस प्रस्ताव कि दशरथसे कश जाय। विश्वामित्र कहते हैं कि राम लक्ष्मणको ही क्यों न लाया जाय। विश्वामित्र चल देते हैं।

द्वितीय दृश्य—अयोध्याके द्वारपर कुछ नगरवासी रामको चौदशवाँ वर्षगाँठ मना रहे हैं। नैक्य देशके एक वृजन्तसे लोग हँसी कर रहे हैं। विश्वामित्रके आगमनकी

चर्चा होती है। सब उसके विचित्र-विचित्र हास्यजनक, गंभीर तथा विचित्र अर्थ लगाते हैं। (यह कल्पित दृश्य है)।

तृतीय दृश्य दशरथकी राजसभा। दशरथ, राम, लक्ष्मण, वशिष्ठ तथा समासद बैठे हैं। संगीत हो रहा है। एक प्रतीहारी आकर विश्वामित्रके आगमनकी सूचना देता है। राजा दशरथ, वशिष्ठ, राम, लक्ष्मण सब उठकर द्वारतक जाकर विश्वामित्रको अगवाना करते हैं। प्रणाम, नमस्कार, कुशल मंगनके पश्चात् विश्वामित्र अपना उद्देश्य कहते हैं। दशरथ जोड़ा भिन्नकते हैं और सेना देनेका आग्रह करते हैं। विश्वामित्र रोष दिखाते हैं और चलनेकी तैयार होते हैं। वशिष्ठ बीचमें पड़कर विश्वामित्रको शान्त करके दशरथकी समझते हैं। विश्वामित्रके साथ राम-लक्ष्मण चले जाने हैं।

द्वितीय अंक

प्रथम दृश्य - यज्ञशालामें यज्ञ, बाहर नेपरमें कोलाहल। ऋषि मुनि द्वार-उधर भागते हैं। राम धनुष-बाण लेते हैं, स्त्री ताड़काकी देखकर संकुचित होते हैं किन्तु विश्वामित्रके आदेशसे राम बाण छोड़ते निकल जाते हैं। ताड़का-सुबाहु नेपथ्यमें हाहाकार करके मारे जाते हैं।

दूसरा दृश्य—सब ऋषि-मुनि राम लक्ष्मणको प्रसन्न होकर आशोचांद देते हैं और विश्वामित्र उन्हे बला और अतिबला विद्या प्रदान करते हैं।

तीसरा दृश्य—रामकी अयोध्या भेषनेकी सब व्यवस्था हो रही है। सब ऋषि लोग कन्द, मूल, फल, ला-लाकर राममें दे रहे हैं। इतनेमें जनरूपका दूत आकर धनुषयज्ञका निमन्त्रण देता है। अयोध्याके बदले विश्वामित्र उन्हे साथ लेकर जनरूप चल देते हैं।

इस प्रकार अन्य दो अंकोंका भी दृश्य विभाजन कर लेना चाहिए।

कुछ नाटक ऐसे भी हैं जिनमें एक ही स्थान अर्थात् एक दृश्य या दृश्यगोष्ठपर ही नाटकके सभी मुख्य कार्य दिखलाए जाते हैं जैसे अभिनवभारतका 'देवता' और 'विश्रवात' नाटक। ऐसे स्थलोंपर नाटकमें मुख्य कार्योंके अनुष्ठान अंक तो भिन्न हो सकते हैं किन्तु दृश्य-भेदकी आवश्यकता नहीं है। कहीं कहीं कुछ नाटककार एकही अंकमें प्रकाश-भेदके द्वारा दृश्य-भेद या सहायक कार्य-भेद दिखानेकी योजना करते हैं। यह भी बहुत बुरा तो नहीं है किन्तु इससे कार्य-

भिन्नताकी उतनी व्यंजना नहीं हो पाती जितना अंक समाप्त करके दूसरा अंक नियमित रूपसे नया प्रारंभ करने श्रयवा दृश्य बदलनेसे । इसीलिये संस्कृत नाटककारोंने श्रयन्त चतुरताके साथ अंकावतारकी सुष्ठिकी यी विधमें एक अंकके ही पात्र दूसरे अंकमें आते हैं किन्तु विछला कार्य पूर्ण होनेके कारण वह अंक समाप्त करके कार्यमेंदके कारण दूसरेमें सब पात्रोंको प्रस्तुत करते हैं ।

कथावस्तु-प्रकरणमें भारतीय पद्धतिमें नाट्य-ग्रयन की पद्धतिके विवेचनके साथ विस्तारसे अंक, सन्धि, अर्थ-प्रकृति, संध्यंग, विच्छेदक, प्रवेशक, चूलिका, अंकास्य, ग्रामतार आदि सबका वर्णन किया जा चुका है ।

प्रस्तावना

सविधान रचना, पात्रचयन, पात्रोंका नामकरण, अंक-विभाजन तथा दृश्य विभाजन कर चुकनेपर नाटक लिखना प्रारंभ करना चाहिए ।

नाटकके प्रारंभमें हमारे देशमें मी और योरोपमें भी प्रस्तावना देनेकी प्रथा रही है । भरतने नाट्यशास्त्रके पंचम अध्यायमें कहा है—

यस्माद्रङ्ग प्रयोगोऽयं पूर्वमेव प्रयोज्यते ।
 तस्मादयं पूर्वोक्तो विश्लेषोऽत्र द्विजोसमाः ॥ ७ ॥
 अस्याङ्गानि तु कार्याणि यथावदनुपूर्वशः ।
 तन्त्रीभाण्डसमायोगैः पाठ्ययोगकृतैस्तथा ॥ ८ ॥
 प्रत्याहारोऽवतरण तथात्वारभ एव च ।
 आस्त्रावया वक्त्रपाणिगतया च परिघटना ॥ ९ ॥
 संघटना ततः कार्यं मार्गोत्सारितमेव च ।
 ज्येष्ठमध्यकनिष्ठा च तथैवासारितक्रिया ॥ १० ॥
 एतानि च बहिर्गीतान्धन्तर्बन्दिनामैः ।
 प्रयोक्तृभिः प्रयोज्यानि तन्त्रीभाण्ड कृतानि तु । १ ॥
 ततश्च सर्वकुतपैतुक्तान्यन्यानि कारयेत् ।
 विधास्य वै यवनिका नृत्यपाठ्यकृतानि च ॥ २ ॥
 गीताना मुद्रकादीनामेकं योज्य तुगीतकम् ।
 वर्धमानमथापौह ताण्डव यत्र युज्यते । ३ ॥
 ततश्चोत्थापनं कार्यं परिवर्तकमेव च ।
 नान्दी शुष्कापकृत्या च रंगद्वारं तथैव च ॥ ४ ॥
 चारी चैव ततः कार्या महाचारी तथैव च ।
 त्रिकं प्रगेचना चापि पूर्वर्गमेव मन्ति हि ॥ ५ ॥
 एतान्यङ्गानि कार्याणि पूर्वर्गविवौ तु च ।

[जो कार्य नाटकके पहले किया जाता है वह रंग-प्रयोगमें पहले होनेके कारण पूर्वर्ग पूर्वर्ग कहलाता है । इसके सब अंग यथाक्रम करने चाहिए, जिसमें तन्त्री-भाण्ड अर्थात् बाने मिलाना, पाठ्ययोग, प्रत्याहार, अवतरण, आरंभ, आस्त्रावया, वक्त्रपाणि, परिघटना, संघटना, मार्गोत्सारित, (जिसके तीन भेद हैं—ज्येष्ठ, मध्य और कनिष्ठ), परदेके पीछेसे बाने-गाजेके साथ बहिर्गीत गवाना, परदा उठाकर बानोंके साथ नृत्य और पाठ्यके युक्त जहाँ वर्धमान तांडव भी कराना तो वहाँ मुद्रक आदि गीतोंमेंसे एक गीत गवाना, कि उत्थापन, परिवर्तक, नान्दी, शुष्का और अपकृष्टा ध्रुवा, रंगद्वार चारो, महाचारी, त्रिक आदि प्रगेचना नामक क्रियाएँ हो । पूर्वर्गमें इतने अङ्गोंका व्यवहार करना चाहिए । भाष्यप्रकाशनकारने भी अपने ग्रन्थके सप्तम अधिकारमें यह कहा है—

नदी नटश्च मोदन्ते पात्रान्योन्यानुऽङ्गनात् ।
 अतो रङ्ग इति श्रेयः पूर्वं दश प्रकल्प्यते ॥
 तस्मादयं पूर्वोक्त इति विद्वद्विचर्यते ।
 कलापाताः पादभागः परिवर्तश्च सूरिभिः ॥
 पूर्वं क्रियन्ते यद्रङ्गे पूर्वोक्तो भवेदतः ।
 तस्य द्वाविंशदङ्गानि प्रत्याहारी-मुखानि तु ॥
 प्रत्याहारोऽवतरणमरम्भास्त्रावयो अपि ।
 वक्त्रपाणिस्ततस्तत्र भवेत् परिघटना ॥
 संघटना ततो मार्गोत्सारितश्च ततो भवेत् ।
 शुष्कापकृतकं तत्रोत्थापनं परिवर्तनम् ॥
 नान्दी प्रगेचना तत्र त्रिगता सारिते अपि ।
 गीतं ध्रुवा त्रिसामस्य द्रङ्गद्वारमतः परम् ॥
 एतान्यङ्गानि कल्पन्ते पूर्वोक्तस्य सूरिभिः ।

[नट और नदी जिस स्थानपर एक दूसरेका अतुरंजन करते हुए प्रसन्न होते हैं उसे रंग करते हैं । उसके पूर्व जो क्रिया की जाती है उसे पूर्वर्ग कहते हैं । क्योंकि उसमें नाटकसे पहले कवि लोग कला, पात्र, पाद-भाग और परिवर्तन करते हैं । इस पूर्व रंगके बाईस अंग हैं—प्रत्याहार, आरंभ, आस्त्रावया, वक्त्रपाणि, परिघटना, संघटना, मार्गोत्सारित, शुष्कापकृतक, उत्थापन, परिवर्तन नान्दी, प्रगेचना, त्रिगत, आस्त्रारिता, गीत-ध्रुवा, त्रिसाम, रंगद्वार, सर्वधमानक, चारि, महाचारि । इस क्रमसे कुनव अर्थात् षाड्गोका वाचना प्रत्याहार कहलाता है, गायकोंका आकर बैठना अवतरण, नाट्य-संबन्धी बहूतसे कार्य जैसे पर्दा

ठीक करना, रंगपीठकी सामग्री एकत्र करना, पात्रोंको सजाना आदि आरम्भ कहलाता है, सब बाजोंको ठीक करना आलापन, तंत्री आदिका शृंगार करना वदत्रसायि, बाजोंको बजा-बजाकर देखना परिवर्तना, योगा आदिको बजाकर देखना संघटना, तंत्री और भाण्ड आदिका मेल मार्गाधारित, अनर्थ वनोंको हटा देना अर्थात् पाठ्य प्रकरणसे निकाल देना शुष्कारकृष्टक, नान्दी पाठकोंके द्वारा नाटकका प्रयोग चलाना उत्पापक और लोकरपालोंको प्रथाम करनेके लिये चारों ओर घूमना परिवर्तन । जगत्पति महदेवजीके वैल नंदीने लुष्टिके आदिमें नाचते हुए कल्पनाके योगसे रंगता प्राप्त कर ली थी इसलिये उस रूपके संबंधसे जो देवता आदिको नमस्कार या मंगलारम्भ नाटकके प्रारम्भमें किया जाता है वह नान्दी कहलाता है अथवा जो किया सामाजिकोंको प्रसन्न करे या पूर्वरंगके सम्बन्धसे बाईस अंगवाली जो नाट्यके आरंभमें सबको प्रसन्न करनेवाली किया की जाती है वह नान्दी कहलाती है । दर्शकोंको नाटककी प्रसिद्ध उदात्त कथाकी प्रशंसा करके उसको और उन्मुख करना प्ररोचना कहलाती है । सूत्रधार, नट और पारिवार्यकका परस्पर वार्ताज्ञान करना विद्यत कहलाता है । बाहरी गीतका विधान करना आचारित, वाद्यके साथ विधान करना गीत । गीतकी पाँच प्रकारकी टैठोंको भ्रू वा कहते हैं तीन प्रकारके नृत्य, तीन लय, तीन पाण्डिके संयोगकी विधाम कहते हैं । बायीं और अंगके अभिनयका शृंगार-रसपूर्ण सुकुमार अभिनय ही रंगद्वार कहलाता है । अभिनयका बढ़ना ही यर्धमानक कहलाता है, एक बाजेजा प्रयोग चारी कहलाता है और अनेक बाजोंके समूहका प्रयोग महाचारी कहलाता है । यह बाईस अंगवाला कार्य ही पूर्वरंग कहलाता है ।

भारतीय शैलीसे नाटक रचनाकी प्रस्तावना प्रक्रिया रूपक-रहस्यमें इस प्रकार समझाई गई है—

रूपककी रूप-रचना

“किसी नाटककी मुख्य कथाको आरंभ करनेके पहले कुछ दृष्ट्योंका विधान है । इन्हें पूर्वरंग कहते हैं । इसमें वे सब दृश्य सम्मिलित हैं, जिन्हें अभिनय करनेवाले नाटक आरंभ करनेके पहले रंगशाळाके विधियोंको दूर करनेके लिये करते हैं । भरत मुनिने इन बातोंका वर्णन विस्तारसे

किया है । उनके अनुसार सबसे पहले नगाड़ा बजाकर इस बातकी सूचना दी जाती है कि अब नाटक आरंभ होनेवाला है । इसके अनंतर गानेवाले रंगमंचपर आकर अपने यंत्र आदिको ठीक करते तथा उनके सुर आदि मिलाकर उन्हें बजाते हैं । तब सूत्रधार रंगमंचपर फूत्त छिटकाता हुआ आता है । उसके साथ एक सेवक पानीका पात्र और दूसरा इंद्रकी ध्वजा लिए रहता है । सूत्रधार पहल उस जलपात्रसे पानी लेकर अपनेको पवित्र करता और ध्वजा हाथमें लेकर रंगमंचपर दहलता तथा स्तुति-पाठ करता है । इस स्तुति-पाठको नांदी कहते हैं । इसके अनंतर यह उस देवताकी स्तुति करता है जिसके उत्सवके उपलक्ष्यमें नाटक होनेवाला है अथवा राजा या ब्राह्मणकी वन्दना करता है । नांदीके समाप्त हो जानेपर ‘रंगद्वार’ नामक कृत्तिका आरंभ होता है, जिससे नाटकके आरंभकी सूचना होती है । सूत्रधार श्लोक पढ़ता और इंद्रकी ध्वजाकी वन्दना करता है । फिर पार्वती और भृतीकी प्रभन्ताके लिये नृत्य होता है और सूत्रधार, विदूषक तथा सूत्रधारके सेवकमें बातचीत होती है । अंतमें नाटकके कथानककी सूचना देकर सूत्रधार और विदूषक आदि चले जाते हैं । भरत मुनिके अनुसार इसके अनन्तर रथापकका प्रवेश होता है । इसका रूप, गुण आदि सूत्रधारके ही समान होता है और यह अपने बेरासे इस बातका आभास देता है कि नाटकका विषय देवताओंसे सम्बन्ध रखता है अथवा मनुष्योंसे । यह सुंदर छुंदी-दाग देवताओं आदिकी वन्दना करता, नाटकके विषयको सूचना देता हुआ नाटकके नाम तथा नाट्यकारके गुण आदिका वर्णन करता और किसी उपयुक्त ऋतुका वर्णन करके नाटकका आरंभ करा देता है ।

“भरत मुनिके पीछेके नाट्यकारोंने इन सब व्यापारोंको बहुत सूक्ष्म रूप दे दिया है । धार्मिक कृत्योंका उन्होंने उल्लेख नहीं किया है । उनके अनुसार नाटकका आरंभ नांदी-पाठसे होता है, जिसमें देवता, ब्राह्मण तथा राजाकी ध्यायीर्वाद्-युक्त स्तुति की जाती है । इसमें मंगल वस्तु, शंख, चंद्र, चक्रवाक और कुसुद आदिका वर्णन रहता है तथा यह ८ या १० पदों या पादों (चरणों) का होता है । वास्तवमें ऐसी स्तुतिकी ‘रंगद्वार’ कश्ना चाहिये । यह नांदी नहीं है, क्योंकि इसमें तो नाटकका अवतरण ही हो जाता है । नांदी तो नदोंके स्वरूप-रचना किट विना मंगल-

पाठ मात्र करनेको मानना चाहिए । इसमें नाटकके विषयका सूक्ष्म आभास मिल जाता था । जैसे मुद्राराक्षसके नादीमें छल-कस्यकी तथा मालती माधवके नादीमें शृंगार रसकी सूचना मिल जाती है । नादी पाठके अनंतर रगद्वारका आरंभ होता है, जिसमें स्थापक आकर काव्यकी स्थापना करता है । यदि वर्णनीय वस्तु दिव्य होती है तो देवताका रूप रचकर, यदि अदिव्य होती है तो मनुष्यका वेप धारण करके और यदि मिथ होती है तो दोनोंमेंसे किसी एकका रूप धारण करके आता है । वह वस्तु, बीज, मूल या पात्रकी सूचना देता है । वयपि शास्त्रोंमें इन सब विधानोंके स्थापक द्वारा किए जानेका नियम है, पर वास्तवमें वही देखनेमें आता है कि सूत्रधार ही इनको करता है । वही नादी-पाठ करता है और जिसवे उपलब्धिमें नाटक होनेवाला है उसका उल्लेख करके पारिपार्षक या अपनी परनी श्रवण विदूषकका आह्वान करके बातचीत आरंभ कर देता है; तथा प्रायः किसी श्रद्ध आदिके वर्णनके साथ कवि तथा उसके नाटककी सूचना देकर प्रधान नाटकका श्रीगणेश कर देता है । इन वृत्तोंका संपादन करनेमें उसे भारती श्रितिका अनुसरण करना चाहिए जिसमें दर्शकोंका चित्त आकृष्ट हो जाय । भारती वृत्तिकी परिमाणा विछले प्रकारमें दी जा चुकी है ।

भारती वृत्तिके चार अंग माने गए हैं—प्ररोचना, वीथी, प्रहसन और आश्रय । जहाँ प्रस्तुतकी प्रशंसा करके लोगोंकी उत्सृष्टा बढ़ाई जाती है, उसे 'प्ररोचना' कहते हैं । प्रशंसा चेतन और अचेतनके आश्रयसे दो प्रकारकी होती है । देश कालकी प्रशंसा अचेतनाश्रय कही जानी है और कथानाथक, कवि, सभ्य तथा नटोंकी प्रशंसा चेतनाश्रय । अपने सम्बन्धमें कवि अपनी प्रकृतिके अनुसार चार प्रकारसे प्ररोचनाका प्रयोग करते हैं । प्रकृतिके अनुसार कवि भी चार प्रकारके होते हैं—उदात्त, उदत्त, प्रौढ़ एवं विनीत ।

(१) उदात्त कवि मनमें छिपे हुए श्रमिमानसे हुईं उत्सिका प्रयोग करते हैं । जैसे मालविकाग्निमित्रमें सूत्रधारका यह वचन—

पुण्यमित्येव न साधु सर्वं
न चापि काथं नवमित्यवधम् ।

सन्तः परीक्ष्यानतरद्भजन्ते

मूढः परप्रत्ययेयबुद्धिः ॥

[“प्राचीन जानि कदापि वस्तुन दोषहीन न मानिए ।
पुनि दोषयुत नव-मन्थको पनि मित्र कबहुँ बखानिए ॥
विद्वान पंडित नर सदा गुन दोष आप विचारहीं ।
ते मूढ छोड़ बिचेक जो पर बात नित हिय धारहीं ॥]

[मालविकाग्निमित्र]

(२) उदत्त कवि दूसरोंके अपवाद करनेपर अपने उत्कर्षका कथन करते हैं । जैसे मालती-माधवमें सूत्रधारका यह कथन —

ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्प्रवशा,

जानन्ति ते किमपि ताभ्यति नैप यतनः ।

उत्स्यते नु खलु कोपि समानधर्मा,

कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वीः ॥

[“निदरत मरि उपहास जे लखि यह रचना-साज ।
समभि लेहैं ते यतन यह, नहिं किंचित् तिन काज ॥
उपजै मति कोज सुदद, मो गुन परखनहार ।
हे यह समय अगाध बहु, श्री अपार संसार ॥”]

[मालती-माधव]

(३) प्रौढ़ कवि अपने उत्कर्षका कथन किसी सुक्तिसे अवया स्पष्ट करते हैं जैसे कश्पाकंदलामें कविका यह वचन—

“भारद्वाज सुकविने अपने यशसे विश्व जगाया है ।
वाणी रसिक, रसोंके ममोंका व्यवहार दिखाया है ॥
जिसकी वाणी रसिकजनोंके हृदय उल्लासित करती है ।
उसकी शुभ आनंद मूर्ति महिमा गुणिगण्य मन हरती है ॥”

[कश्पाकंदला]

(४) विनीत कवि विनयपूर्वक अपने अपकर्षका उल्लेख करते हैं । जैसे तुलसीदासजीने रामचरितमानस में क्या है—

“कवि न होउं नहिं वचन प्रवीण ।

सकल कला सब विद्या-हीन ॥

आखर अरथ अलंकार नाना ।

छंद मन्थ अनेक विधाना ॥

भावभेद रसभेद अपारा ।

कवित दोष-गुन विविध प्रकारा ॥

कवित्त-विवेक एक नहीं मोरे।

सत्य कहौं निखिल कागद कोरे ॥

मानिति मोरि सख गुन-नदित, विश्व-विदित गुन एक।
सो बिचारि सुनहहि सुमति, जिन्हके विमल विवेक ॥”

[रामचरितमानस]

इसी प्रकार सम्प (ईशक या सामाजिक) भी दो प्रकारके कहे गए हैं—प्रार्थनीय और प्रार्थक। प्रार्थनीय सम्प वे कहे गए हैं जिनके आगमनके लिये नाट्य-प्रयोक्ता उत्कण्ठित रहते हैं और जिनके आनेसे वे अपनेकी सम्मानित सम्पन्नते हैं। प्रार्थक वे हैं जो नाटक देखनेके लिये उत्कण्ठित रहते हैं तथा उसके लिये नाट्य-प्रयोक्ताओंके अनुसूचित होते हैं।

उक्त प्ररोचनके संक्षिप्त और विस्तृत नामके दो भेद होते हैं। रत्नावलीमें सूत्रधारका यह वचन संक्षिप्त प्ररोचनका उदाहरण है—

“कवि श्रीहर्ष निपुण अत्रि भारी।

गुन-भाइक सब सभा मन्तारी ॥

वत्सराज कर कथा मनोहर।

तापर खेल करहि हम सुन्दर ॥

इन चारुमें एकहु बाता ॥

होत सकल शुभ फल करि दाता ॥

हम चारों पार्द एक वारा।

घन्य आज है माग हमारा ॥

[रत्नावली]

बाल-रामायण नाटककी प्ररोचना विस्तृत है। धीधी और प्रदसनके विषयमें पहले कहा जा चुका है। इनके द्वारा उत्कण्ठा बढ़ाकर सूत्रधार ही नये, परिपार्श्वक या विदूषकके साथ प्रस्तुत विषयपर विचित्र उक्तियों-द्वारा वात्सलाय करता और बड़े कौशलसे नाटकका आरम्भ करा देता है। इसे आमुख कहते हैं। आमुखके प्रस्तावना और स्थापना नामके दो भेद माने गए हैं। जिसमें कविपय वीर्य्योंका प्रयोग होता है उसे स्थापना कहते हैं। शृङ्गार रसके नाटकोंमें आमुख, वीर और अद्भुत-रसके नाटकोंमें प्रस्तावना, तथा हास्य, बीमल और रोदरसके नाटकोंमें स्थापनाकी योजना की जाती है। यह कार्य तीन प्रकारसे सम्पन्न किया जा सकता है; अतः इसके तीन अंग हैं—

(१) कयोद्घात—जहाँ सूत्रधारके वचन या उसके

भावको लेकर कोई पात्र कुछ कहता हुआ रंग-मंचपर आ जाता है और नाटक प्रारम्भ कर देता है। जैसे, रत्नावलीमें सूत्रधारके इस पदकी दोहराता हुआ—

“द्वीपन जलनिधि मध्य सों, अथ दिगंत सों लाय।

मनचाही अद्रुकून विधि, छुन महुँ देत मिलाय ॥”

योग्यवयवण रंगमंचपर आकर अपना कथन आरंभ कर देता है। यह तो सूत्रधारके वचनोंकी ही लेकर उसके नाटकका आरंभ करना है। जिसमें केवल उसका भाव लिया जाता है, उसका उदाहरण वेषीसंहारमें है। सूत्रधार कहता है—
शत्रु शमनकृत सुखी रहें श्रीकृष्ण सहित पांडव बंके।
क्षिति सखिर कर, त्रिपित देह, हों पुत्र स्वस्थ कुव राबके ॥

[वेषीसंहार]

इस पर भीम यह कहता हुआ आता है—

“अरे दुरारमा, यह मंगल-गठ वृथा है। मेरे जीते बी घात-राष्ट्रीका स्वस्थ रहना कैसा ॥”

(२) प्रवृत्त या प्रवर्तक—जहाँ सूत्रधार किसी प्रवृत्तका वर्णन करे और उसीके आश्रयसे किसी पात्रका प्रवेश हो। जैसे—

घन तमीकर पावव भेदके,

प्रकट चंद्र हुआ नभमें अभी।

शरद प्राप्त हुआ शुभ कांतिये,

निघन रावणका करि राम बधों ॥

इसमें शरत्काल और रामकी तुलना करनेके कारण शरत्कालके आगमका वर्णन होते ही उसी समय रामका भी प्रवेश होता है।

(३)—प्रयोगातिशय—जहाँ सूत्रधार प्रविष्ट होनेवाले पात्रका “यह देखो इनके समान” या “यह तो अत्युक्त व्यक्ति हैं” इत्यादि किसी ढंगसे साक्षात् निर्देश करे उसे प्रयोगातिशय कहते हैं। जैसे माझिकाशिनमित्रके—

परिपदकी शुभ आशाका पालन वैधे ही मैं करता।

जैठे देवि धारिणीके आदेश सदा यह जन धरता ॥

इस पदके द्वारा सूत्रधार “मैं परिपदकी आशाको वैधे ही पूरा करना चाहना हूँ जैसे धारिणी देवीको आशाको उनका यह परिजन” यह कहता हुआ परिजनके प्रवेशकी सूचना देता है। अथवा जैसे शाकुंतलके—

लै बरबध तेरी गयो मधुर गीत मुहि संग।

ज्यो राजा दुर्धतको लायो यहै कुरंग ॥

इस पदमें सूत्रधारने अपनी उपमा साक्षात् दुष्यंतसे देकर उसके आनेकी सूचना दी है।

साहित्यदर्पणमें प्रस्तावनाके पाँच भेद गिनाए हैं— उद्घातक, कथोद्घात, प्रयोगातिशय, प्रवर्तक और अवगलित। उद्घातकका यह लक्षण दिया है—अभिप्रेत अर्थके बोधनमें असमर्थ पदोंके साथ अपने अभिलषित अर्थकी प्रतीति करानेके लिये जहाँ और पद जोड़ दिए जायें वहाँ उद्घातक प्रस्तावना होती है। जैसे, मुद्राराक्षसमें सूत्रधार कहता है—

‘चंद्र-विष धून मए क्रूर नेतु हठ दाप।

बल सों करिहै ब्रास यह...’

इसपर नेपथ्यसे यह कहता हुआ कि “मेरे जीते जी चंद्रको कौन बलसे ब्रस सकता है” चाणक्य प्रवेश करता है। प्रयोगातिशयके ऊपर दिए हुए लक्षणसे साहित्य-दर्पणका लक्षण भिन्न है। साहित्य-दर्पणमें प्रयोगातिशयका यह लक्षण दिया है—“यदि एक प्रयोगमें दूसरा प्रयोग आरंभ हो जाय और उसीके द्वारा पात्रका प्रवेश हो तो वह प्रयोगातिशय है।” जैसे कुंदमालामें सूत्रधार नदीको बुलाने जा ही रहा था कि उसने नेपथ्यमें “आर्या! इधर इधर” की आवाज सुनी। इसपर यह करते हुए कि “कौन आर्याको पुकारकर मेरी सहायत करता है” उसने नेपथ्यकी ओर देखा और यह पद पढ़कर लदमण और सीताके प्रवेशकी सूचना दी—

“किया निवास भवनमें लंकापतिके सीताने बहु काल,
इसी लोक-अपवाद-भीतिसे दुःखित हो कौशल्या-जाल।
बाहर किया नगरसे यद्यपि गर्भवती थीं शुभगीता,
लक्ष्मणके संग चली जा रहीं वनको वैदेही सीता ॥”

[कुंदमाला]

जहाँ एक प्रयोगमें किसी प्रकारके सादृश्य आदिकी उद्भावनाके द्वारा किसी पात्रके प्रवेशकी सूचना दी जाय, उसे “अवगलित” कहते हैं; जैसे, शकुंतलामें सूत्रधारने यह कहकर—

“ले बरस तेरो गयो मधुर गीत मुहि संग।

ब्यों राजा दुष्यंतको लायो यहें कुरंग ॥”

[शकुंतल]

दुष्यंतके प्रवेशकी सूचना दी जाती है।

इससे स्पष्ट है कि दशरूपकका ‘प्रयोगातिशय’ वही है

जो साहित्यदर्पणका ‘अवगलित’ है। कथोद्घातक और उद्घातकमें इतना ही भेद है कि एकमें सूत्रधारके बचन या भाषको लेकर पात्रका प्रवेश होता है और दूसरेमें सूत्रधारके अन्वयार्थक कथनको अपने मनके अर्थमें लेता हुआ पात्र आता है। दोनोंमें जो कुछ अन्तर है वह यही है।

नक्षत्रटुटका कहना है कि नेपथ्यका घनन या आकाश-मापित सुनकर उसके आराधयपर भी नाटकोंमें पात्रोंका प्रवेश करामा जाता है।

भारती वृत्तिके अन्तर्गत वीथीके तरह अंग होते हैं जिनका विवरण इस प्रकार है—

(१) उद्घात्य—गूढार्थक शब्द तथा उनके पर्यायवाची अन्य शब्दोंका अर्थ समझनेके लिये जो प्रश्नोत्तरमाला हो अथवा वस्तुवियोगके ज्ञानके लिये जो प्रश्नोत्तरमाला हो उसे उद्घात्यक कहते हैं। पहले भेदका उदाहरण—

“विदूषक—हे मित्र! यह कामदेव कौन है जो तुम्हें भी दुःख देता है? क्या वह पुण्य है या रक्षो?

राजा—हे सखा! मन ही जिसकी जाति है, जो स्वच्छंद है और सुखमें ही जिसपर चला जाता है, स्नेहके ऐसे ललित मार्गका ही नाम कामदेव है।

विदूषक—मैं तो यह भी नहीं जानता।

राजा—मित्र, यह इच्छामें उपन्न होता है।

विदूषक—क्या, जो जिस वस्तुको चाहता है वही उसके लिये काम है?

राजा—और क्या!

विदूषक—तब तो जान गया, जैसे रसोई-घरमें मैं भोजन की इच्छा करता हूँ ॥”

[विक्रमोर्वशीय]

दूसरे भेदका उदाहरण—

श्लाघनीय क्यों होते गुणिजन? क्षमा धर;

कौन निरादर! निजकुलवाले जिते करें।

कौन दुखी है!—परका आश्रय लेनेवाला;

स्तुत्य कौन नर है!—आश्रय देनेवाला ॥

जीवित भी कौन मृतक है!—दास व्यसनका;

शोक-विहीन है कौन! मर्दक अरिजनका।

हैं धन्य कौन नर इस तथ्य शनसे युन!—

विराट् नगरमें छिपे हुए जो पाहु-सुत ॥

[पांडवानंद]

पांडवानंदमें इस प्रश्नोत्तरमालासे पात्री (पांडवों) का प्रवेश किया गया है।

(२) अवगलित—जहाँ एकके साथ सादृश्य आदिके कारण दूसरे कार्यका साधन हो या प्रस्तुत व्यापारमें कोई दूसरा ही व्यापार हो बाय वहाँ अवगलित होता है। जैसे उत्तर-रामचरितमें गर्मिणी सांताको धनमें घूमकर अधिपियोंके आश्रमोंको देखनेकी इच्छा होती है। परन्तु इसके दूसरे ही कार्यका साधन हो जाता है। इस इच्छाकी पूर्तिके बहाने वह अथवादके कारण जंगलमें छोड़ दी जाती है।

अथवा छलितमें राम जैसे—

राम—लक्ष्मण ! मैं पितृजीते रहित श्रयोध्यानगरमें विमानपर चढ़कर जानेमें असमर्थ हूँ, इच्छितये उतरकर चलता हूँ।

वह देखो ! विशासनके नीचे पाहुकाओके सामने अस-माला पहने हुए तथा चँवर डुबाते हुए कोई जयावारी शोभित है।

यहाँ रथके उतरनेके कार्यके भरतके दर्शन-रूप दूसरे कार्यकी सिद्धि हुई।

साहित्य-दर्पणकारने इन दोनोंको प्रस्तावनाके अन्तर्गत माना है और वीर्यगौमें भी इनका उल्लेख किया है।

(३) प्रयंच—असकर्मोंके कारण एक दूसरेकी उपहास-पूर्ण श्लेष प्रस्ताव। परस्त्री-गमन आदिमें चातुर्भ्य असकर्म-में सम्मिलित है। कपूर्मजरीमें भैरवानन्दका यह कथन इसका उदाहरण है—

रडा चंडा दीक्षिता विरहित नारि हमारी।

भांस मद्य खाते पीते हैं अति बलकरी॥

है मिश्राञ्जित चर्मका शय्यासन न्यारा।

कौल धर्म यह, भाई, किसे न लगता प्यारा॥

(४) त्रिगत—जिसमें शब्दोंकी भ्रुति-समता (एकसे उच्चारण) के कारण अनेक अर्थोंकी कल्पना हो। इसकी सहा पूर्ववर्गमें नट आदि तीन पात्रोंके संलापसे होती है। जैसे विक्रमोर्वशीयमें—

कुसुम-नलोसे मतवाले मीरे कोयल करते गुंवार।

जैसे देव-सभा में बैठो गावी हो किन्तरी बहार॥

(५) छलन—देवनेमें प्रिय पर वास्तवमें अप्रिय वाङ्मय-द्वारा धोखा देना। अन्य शास्त्रकारोंके मतसे किसी-के कार्यको लक्ष्य करके धोखा देनेवाले हास्य अथवा

रोषकारी वचन बोलना छलन है। जैसे, वेणीशंकरमें भीम-अर्जुन दोनों कहते हैं—

बूपमें छल, लादाग्रहमें अग्नि-प्रदाता अभिमानो,
प्येष्ट भ्रात दुःशासन आदिक सौ का, कर्ण-मित्र मानो।
कृष्णाका कच-वस्य विकर्षक, पांडव जिसके दास बने,
कहाँ गया दुर्घोचन ऐसा, आए हम उनसे मिलने॥

(६) धाक्केली—किसी वक्तव्य बातको कहते कहते बक जाना। जैसे, उत्तर-रामचरितमें पारसवीकी उक्ति—

“तुम ही प्रियप्राण सबै कह्यु हो,

तुम ही मम दूजो हियो सुकुमारी।

तुम ही तन काब सुवा सरिता,

इन नैननिकी तुम ही उजियारी॥

हिय मोरे कि यों ही लई भरमाह कैं,

बात बनाय बनाय पियारी।

पुनि ता विय कौं—सब मीन भलो,

अब होत कहा कहिबे तैं श्रमारी॥”

अथवा दो सीन व्यक्तियोंकी हास्यजनक उक्ति-प्रत्युक्ति जैसे रत्नावलीमें—

“विदूषक—मदनिके ! तुझे भी यह चर्चरी (एक प्रकारका छंद) सिखाओ।

मदनिका—मूढ़ ! यह चर्चरी नहीं है, इसे द्विपरी छंद कहते है।

विदूषक—क्यों जी ! इस खंडसे क्या लड्डू बनाए जाते हैं ?

मदनिका—नहीं ! यह पढ़ा जाता है।”

कुछ लोगोंका कहना है कि जहाँ अनेकप्रश्नोंका एक ही उत्तर हो वहाँ भी धाक्केली ही होती है।

(७) आचिबल—दो व्यक्तियोंका बढ़-बढ़कर स्वर्ण-युक्त बातें करना। जैसे वेणीशंकरमें धृतराष्ट्र और गांधारी को अर्जुन प्रणाम करते हैं—

सकल शत्रुके जपकी आशा जहाँ बँधी यो।

जिसके बलपर सृष्टि एक तुण सम समझो थी॥

उस राघवासुत कर्णवीरको मारनहारा।

अर्जुन तुमको है प्रणाम करता जग न्यारा॥

इसके पश्चात् दुर्घोचन कहला है कि मैं तुम्हारे समान आरनरलाघी नहीं हूँ किन्तु—

मेरे गदा-प्रहारसे, वक्ष-अस्त्रिय कर धूर ।
देखेंगे बावब तुम्हें, रथमें फँकत धूर ॥

(८) गड—प्रस्तुत विषयसे सम्बन्ध रखनेपर भिन्न
अर्थका सूचक त्वरा-युक्त वाक्य; जैसे, उत्तर-नामचरितमें—
“शुद्धी यहि यह लच्छिमी पूरन सुखमा साज ।
अमृत सराई सुमग यहि इन नयननके काज ॥
तन परघत ऐसी लगे जनु चदन रस-धार ।
यहि भुज सीतन मृदुल गल मानहु मोतिन द्वार ॥
कछून जाको लगत अस जहाँ न सुख संजोग ।
किंतु दुसह दुखही भरयो केवल जासु बिभोग ॥”

(प्रतीहारीका प्रवेश)

प्रती०—उपस्थित है, महाराज ।

राम०—अरे कौन !

प्रती०—आपका चर, दुसुख ।

यहाँपर रामके मुखसे अंतिम शब्द वियोग निकलते
प्रतीहारीने आकर कहा—“उपस्थित है महाराज ।” और
यद्यपि प्रतीहारीका यह अर्थ नहीं, फिर भी पाठक इससे
वियोगका उपस्थित होना, यह अर्थ निकाल लेते हैं ।
इससे एक दूसरा ही वृत्तात आरम्भ हो जाता है ।

(९) अबव्यदित—सीधे कहे हुए किसी वाक्य-
का दूसरे ही प्रकारसे अर्थ लगा लेना जैसे, छलित
राममें—

“सीता—हे पुत्रो ! कल सवेरे तुम दोनोंको अयोध्या
जाना है । वहाँ जाकर राजाको निनयपूर्वक समस्कार
करना ।

लव—माता ! क्या हमें भी राजाका आश्रयजीवी
होना पड़ेगा !

सीता—पुत्रो, वह तुम दोनोंके पिता हैं ।

लव—क्या रघुपति हमारे पिता हैं ?

सीता—(सशक होकर) तुम्हारे ही नहीं, वे सारी
पृथ्वीके पिता हैं ।”

यहाँपर सीताजी अनजानमें कह गई कि राम
तुम्हारे पिता हैं । परतु उन्हें पता चना कि मैंने गोप्य
भात खोल दी है तो उन्होंने यह कहकर कि वे तुम्हारे ही
नहीं सारी पृथ्वीके पिता हैं और प्रसन्न बातची प्रकट
होनेसे बचानेके लिये ‘पिता’ शब्दका दूसरा ही अर्थ
लिपा ।

(१०) नालिका—गूढ़ भाववाली हास्य-पूर्ण पहली-
को कहते हैं, जैसे, मुद्राराक्षसके पहले अंकमें—

“दूत—अरे ब्राह्मण ! क्रोध मत कर, सभी सब कुछ
नहीं जानते । कुछ तेरा गुप्त जानता है, कुछ मुझ जैसे
लोग जानते हैं ।

शिष्य—(क्रोधसे) मूर्ख ! तेरे कहनेसे गुफजी
भी सर्वशता उड़ जायगी !

दूत—भला ब्राह्मण ! जो तेरा गुप्त सब जानता है
तो बतला कि चंद्र किसको अच्छा नहीं लगता ।

शिष्य—मूर्ख ! इसको जाननेसे गुप्तका क्या काम ?
इन बातोंको सुनकर चाणक्य समझता है कि ‘मैं
चंद्रगुप्तके वैरियोंको जानता हूँ । यह कोई गूढ़ वचनसे
कहता है ।”

(११) असप्रलाप—वे-सिर पैरकी बात कहना
अथवा ऐसा उत्तर देना जो असम्बद्ध हो; या मूर्खके
आगे ऐसे हित वचन कहना जिन्हें वह न समझता हो ।
स्वप्नमें उरते हुएकी, पागलकी, उन्मत्तकी और शिशु-
की कही हुई वे सिर-पैरकी बातें इसमें आती हैं, यथा—

देहु हस मोरी पिया, छीनि लई गति जासु ।

आयो चोरोके मिले, सकल देख्यो तासु ॥

(१२) व्याहार—दूधरेका प्रयोजन सिद्ध करनेके लिये
हास्यपूर्ण और लोभकारी वचन कहना । जैसे मालविका-
ग्निमित्रमें लास्यके प्रयोगके अनन्तर—

(मालविका जाना चाहती है)

विदूषक—अभी नहीं । उपदेशार्थ शुद्ध होकर जाना ।

इसी उपक्रममें गणदास विदूषकसे कहता है—

आर्य ! यदि तुमने इनके नार्यमें क्रमभग पाया हो तो
बताओ ।

विदूषक—पहले ब्राह्मणकी पूजाका नियम है, इसका
इन्होंने उल्लंघन किया है ।

(मालविका हँसती है)

यहाँपर नायकको विध्वंस नायिकाके दर्शन करानेके
प्रयोजनसे हास्य और लोभकारी वचन कहे गए हैं, इसलिये
व्यवहार है ।

(१३) मृदव वहाँ होता है जहाँ दोष गुण और गुण
दोष समझ पड़ें; जैसे, शकुन्तलामें मृगशके दोष इस
प्रकार गुण बनाकर कहे गए हैं—

सेनापति—

कहू भेद कटे अथ तुंदि घटे छटिके तन धावन लोग बने ।
चितवृत्ति परानकी जानि परे भय क्रोनमें लेति लपेट बने ॥
अति कीरति है धनुधारिनीकी चलतो यदि बान तें बेभो हने ।
मृगया ते भलो न विनोद कोई ताहि दोषन माहि ब्या ही गर्ने ।

वीथी और प्रहसनका एक ही उद्देश्य है—सामा-
जिकोंकी रुचिको अभिनयकी और आकृष्ट करना । अतएव
साहित्य-दर्पणकारके अनुसार वीथीके अंग प्रहसनके अंग
भी हो सकते हैं । हाँ, इतना भेद अवश्य है कि वीथीमें
उनकी योजना अवश्य होनी चाहिए, पर प्रहसनमें उनकी
सच्चा ऐच्छिक होती है । किंतु रसार्णव-सुपाकरणों प्रहसनके
इनसे भिन्न दस और ही अंग माने गए हैं । यथा अ-
गलित, अवस्कंद, व्यवहार, विप्रलंभ, उपपत्ति, भय, अगुत,
विभ्रान्ति, गद्गद वाणी और प्रलाप । इनके लक्षण और
उदाहरण इस प्रकार हैं—

(१) अवगलित—जिस व्याचार या व्यवहारको ग्रहण
कर लिया हो उसको, अशान अथवा मोहके कारण छोड़
देना अथवा उसमें दोष निकालना, जैसे, आनंदकोय
नामके प्रहसनमें—

जिन गलसे नीचे बालोंको लोग कटाते, उन्हें रखा,
सिर ऊपर जिन केशोंको रखते हैं लोग, उन्हें सुँ ड्या ।
सब जगसे कर दिए आचरण हैं विबद्ध इस ब्रवाने,
हाय भोगने योग्य बयस छीनी हरिणीने गाताने ॥

यहाँ यति-आश्रम ग्रहण करके कोई अष्ट यति उसे
दोष देता है । अथवा जैसे प्रबोध-चंद्रोदयमें क्षणक
कहता है—

शोभित अति कुच योनियों, भीत मृगो सम नैन ।
तौ कापालिनि जौ रमों, भाव हमें भाये न ॥

यहाँ क्षणकका मोहवश अपने मार्गको छोड़ना
ही अवगलित है ।

(२) अवस्कंद—अनेक पुरुषों-द्वारा किसी एक अयोग्य
वस्तुके संबंधमें अपनी-अपनी योग्यताके अनुसार कथन,
जैसे प्रहसनमें—

यति—कुचन मध्य अंतर छु है, द्वैतवाद कहि देत ।

बौद्ध—सौगतमे चित देनको, शुद्ध भाव अति हेत ॥

जैन—दधि करत पावन परम, बाहुमूलको वेर ।

सब—नाभिभूलमें भरि रहा, जग सिद्धांत अरोष ॥

यहाँ यति, बौद्ध और जैनोका वैश्याके अंगोंमें अपने
अपने सिद्धांत-धर्म-सम्बन्धी कथनसे अपने अपने पक्षको ग्रहण
करना ही अवस्कंद है ।

(३) व्यवहार—दो तीन पुरुषोंका हास्योत्प्रेरक स्व-
संवाद—जैसे, प्रहसनमें—

बौद्ध—(यतिको देखकर) है एक दंडी ! तिर क्यों
मुँ ड्या है !

मिथ्यातीर्थ—(देखकर स्वगत) यह क्षणिकवादी
बोलने योग्य नहीं है, फिर भी दंड छिपाकर इसे निरुचर
करूँगा । (प्रकाश) अरे शय्यवादी ! मैं बिना दंडके
गलेतक बिना बालवाला हूँ ।

जैन—(अपने मनमें) यह निरुचय भाषावादी है ।
अच्छ, मैं भी कुछ छिपाकर हसते पूछता हूँ । (प्रकाश)
अरे महापरिणामवादी ! वृहद्बीज ! बालोंकी एक जाति
होते हुए भी कुछके रखने और कुछके कटवानेका क्या
कारण है !

मिथ्यातीर्थ—जीता हुआ अमेध्य अंगोंको धारण
करनेवाला यह नर-पिशाच बोलने योग्य नहीं है ।

निष्कण्डकीर्ति—(आदरके साथ) मित्र ! अर्हतमुनि !
इस वादमें तुमने भाषावादिगणके प्रतिरधि नामक रक्षा-
स्थानका आश्रय लिया है ।

मिथ्यातीर्थ—(मनमें) निरुचय इन दोनोंने भी हमारे
समान चिह्न धारण मात्र कर रखा है । (पीपलकी जड़में
बैठता है) ।

यहाँ यति, बौद्ध, जैनके संवादके कारण 'व्यवहार' है ।

(४) विप्रलंभ—जहाँ भूतके प्रवेश या बशनेसे छल
क्रिया जाय, जैसे, एक प्रहसन पंचतंत्रमें एक ब्राह्मणको
बकरा ले जगते देखकर तीन टगोंका छल—

पहला टग—अरे ब्राह्मण ! यह कुत्ता कहाँ ले जा
रहे हो !

ब्राह्मण—अरे मूर्ख ! यह बकरा है । (आगे बढ़ता है)

दूसरा टग—राम राम ! तुम ब्राह्मण होकर कुत्ता
सिरपर ले जा रहे हो !

ब्राह्मण—(बकरेको अच्छी- तरह देखकर) अरे
पागल ! यह बकरा है ।

तीसरा टग—अरे मदायज ! शरीरपर कुत्ता !

(ब्राह्मण आपनी दृष्टिमें दोप समझकर बकरा पटककर चल देता है ।)

(५) उपपत्ति—उपपत्ति वहाँ होती है जहाँ किसी प्रसिद्ध बातको लोकरूपसिद्ध युक्तिसे हास्यका विषय बनाया जाय—

उस तनुमध्याका चरण, पीपल-दल सम जानि ।

बृहन्न मई अश्वत्थ हूँ, नारायण लद मानि ॥

(६) भय—नगर-क्षकों आदिके कारण उत्पन्न डर, जैसे—

जैन—ग्रहा ! यह राजकीय विषय है कि नगरमें रहने-वाले तपस्वियोंका घन चोरी जाता है । (हाथ उठाता है ।)

(‘अरे किसका कितना घन चोरी गया है ?’—यह कहते हुए नगर रक्षकोंका प्रवेश ।)

अरूपावर—अरे मारे गए । नगर-रक्षक आ गए ।

(छोट फड़काने लगता है । मिथ्यातीर्थ गणिकाको घड़का देकर समाधि लगाता है और निष्कण्ठकीति एक पैरपर खड़ा होकर उँगली गिनता है ।)

(७) अट्टत—भूडो स्तुति करना । कोई कोई अपने मतकी स्तुतिको अट्टत कहते हैं, जैसे कपूरमजरीमें—

रंडा चंडा, दीचिता घर्मदारा, पोना खाना मद्यऔ मांसका है ।
भिक्षा वृत्ती चामडा है विछौना, किसको भाटा कौलका घर्म है ना ॥

(८) विभ्राति—बस्तु-सागसे उतरान मोहको विभ्राति कहते हैं, जैसे—

(सुंदरीको देखकर एक बौद्ध भिक्षुको किसी नगरीका भ्रम होता है ।)

दूषरा—दीह नैनवाली है, पुरी है वह नाहि मूढ !

तोरण नहीं हैं, ये भौंह-सान ताने हैं ।

दुर्षण नहीं हैं, ये कपोल सुंदरीके हैं,

नहीं ये कलश, कुच पीन सरसने हैं ॥

(९) गद्गदवाक—झूठे रोनेसे मिले हुए कथनको गद्गदवाक कहते हैं ।

गुह्यमाही—(स्वगत दो बहनोंको परस्पर मिलकर रोनेपर)

आँसु बिन गद्गद कहहि, छोड़ति दीर्घ साँस ।

इनकी भूँडो रोवनी, सुपति अंतर्नी राष ॥

यहाँ गद्गदवाक स्पष्ट ही है ।

(१०) प्रलाप—अयोग्यका योग्यतासे अनुमोदन करना ।

जैसे—

राजा—, उदारताके साथ) अरे विडालाद ! हमारे नगरमें जो पतिर्दान स्त्री हो तथा जो स्त्री-हीन पुरुष हो वह इच्छानुसार व्यवहार करें, यह घोषणा कर दो ।

विडालास—जो आशा ।

गुह्यमाही—हे महाराज ! यह घोषणा आपने नष्टाश-भयशक्त न्यायसे की है तथा मनु आदि जो ऐकहों राजा हुए हैं उन्होंने भी पृथ्वीका पालन करते हुए ऐसे आश्चर्य और सौख्यको देनेवाला मार्ग नहीं निकाला ।

ऊपर हम देख चुके हैं कि प्राचीनोंने भारती वृत्तिका संबंध केशल नदोसे माना है तथा अश्व पाशोंके रंगमंचर कानेके पहले ही उसका प्रयोग होना बतलाया है । घनजयने अपने दशरूपकमें इन १२ वीथ्योंका उल्लेख करके स्पष्ट जिल भी दिया है—

एषामन्यतेनार्यं पात्रं चाद्विष्य सूत्रभृत् ।

प्रस्तातनति निर्गच्छेत्ततो वस्तुः प्रपचयेत् ॥

[इन वीथ्योंके द्वारा अर्थ और पात्रका प्रस्ताव करके प्रस्तावनाके अंतमें सूत्रधार चला जाय और तब वस्तु का प्रपंचन आरंभ हो ।] हिन्दु वंश्यों और प्रहसनके अंगोका जो विवरण ऊपर दिया गया है उसमें स्पष्ट है कि आगे चलकर नाटकके सभी अंतोंमें भारती वृत्तिका प्रयोग होने लगा । इस विवरणसे यह भी स्पष्ट है कि ये सब ऐसे प्रयोग हैं, जिनसे प्रायः हास्य-रसका उद्रेक होता है और जो भारती वृत्तिके अनुरूप, सुननेवालोंके हृदयोंको चमत्कृत करके उन्हें आनन्दमें निमग्न कर देते हैं । हमारे विचारसे आरम्भमें वीथी और प्रहसन प्रस्तावनाके ऐसे अंशोंको कहते थे जिनमें हँसी या आमोदजनक चमत्कारपूर्ण सक्तियोंकी अधिकता रहती थी और जो सामाजिकोंके चित्तमें प्रपन्न कर अभिनय देखनेके लिये उनका रुचिको उत्कण्ठित करते थे । आगे चलकर नाटकके आरम्भमें ही नहीं, उसके अन्य अंशोंमें भी सामाजिकोंकी रुचिको आकृष्ट करनेकी आवश्यकताका अनुभव हुआ होगा जिससे और अंशोंमें भी उसका प्रयोग होने लगा । यही घनजयके भारती वृत्तिके संबंधमें ‘नट्यशास्त्र’का, विश्वनाथके ‘नराश्वय’में बदलनेका इतिहास है, जिसका उल्लेख पिछले अध्यायमें हो चुका है ।

'यहाँपर यह भी प्रश्न उठ सकता है कि भारती वृत्ति, वीथी और प्रहसन भेदोंका इन्होंने नामके रूपकोसे कुछ सञ्चय है या नहीं। हमारे मनमें वीथी और प्रहसन वृत्तिमें भेदोंके ही निश्चित रूप हैं। जैसे ये प्रस्तावनासे नाटकके सर्वाङ्गमें संक्रमित हुए उसी प्रकार इन्होंने मनुष्यकी आभोग-किन्नीदी प्रकृतिले लाम उठाकर रूपरु-जगतमें अपनी स्वतंत्र कथा स्थापित कर दी। परंतु पहले ये प्रस्तावनाके अंग मात्र थे, इसमें संदेहका स्थान नहीं।

'इस प्रकार प्रस्तावना-द्वारा मुख्य नाटकका आरम्भ होना चाहिए। मुख्य नाटकमें सबसे आवश्यक बात अन्तिम फलकी प्राप्ति है। इसके स्थिर करनेमें नाटककारको बड़े सोच-विचारसे काम लेना चाहिए। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, नाटक आभोग-प्रभेद और मनबहलाव-के उपदान हैं। इनसे ये सब बातें तो प्राप्त होती ही हैं और होनी भी चाहिए; पर साथ ही ये उच्च, उपकारी तथा उपदेशमय आदर्शका चित्र भी उपस्थित करते हैं। जीवनकी व्याख्या इनके द्वारा अवश्य होती है। पर जीवन कैसा होता है यही उनका उद्देश्य नहीं होना चाहिए, वरन् इन्हें यह भी दिखलाना चाहिए कि जीवन कैसा होना चाहिए और उत्तमसे उत्तम कैसा हो सकता है। इसीलिये कहा गया है कि नाटकके द्वारा अर्थ, धर्म और कामकी प्राप्ति होती है। फलका निश्चय ही जानेपर नाटककारको अवस्थाओं, अर्थ-प्रकृतियों तथा संघियोंके अनुसार विचारपूर्वक उनका रचना करनी चाहिए।

'रूपकारको चाहिए कि प्रस्तावनाके उपरान्त कार्य-व्यापक रस ध्यान देकर आरम्भमें विष्कम्भकका प्रयोग करे; अर्थात् वस्तुका जो विशेष भाग अपेक्षित तो हो पर साथ ही नीरस भी हो, उसे छोड़कर दोष अंधका नाट्य दिखावे और उस अपेक्षित अंशको विष्कम्भकमें ले जाय परन्तु जहाँ सरस वस्तुका आरम्भसे ही प्रयोग हो सकता हो वहाँ आमुखमें की गई सूचनाका ही आश्रय लेकर कार्य आरंभ करना चाहिए।

'रूपकके प्रधान खंडको अंक कहते हैं। अंकोंमें नायक-के कृत्योंका प्रत्यक्ष वर्णन रहता है। अथवा उसे रस और मान-पूर्ण होना चाहिए। प्रत्येक अंकमें प्रधानता एक ही रसको मिलनी चाहिए और वह भी या तो शृंगारकी या वीरकी और रखीको गौण स्थान मिलना चाहिए। वे

प्रधान रसके सहायक मान होकर आ सकते हैं। अद्भुत रस अंकके अंतमें आना चाहिए। अंकोंको रसपूर्ण तो होना चाहिए परंतु रसका इतना आधिक्य न हो कि कथाका व्यापार अक्षय-सा लगने लगे। वस्तुका सूत्र बराबर चलता रहना चाहिए।

'किसी भी कारणसे यदि कथा-प्रवाहसे ध्यान हट जाय तो कुतूहल वृत्ति शांत हो जाती है और अभिनयसे रुचि हट जाती है। इसलिये प्रत्येक अंककी कथाको स्वतः पूर्ण नहीं होना चाहिए। अर्थात् अंकोंमें अर्थांतर कार्य तो पूरा हो जाना चाहिए किंतु विंदु लगा रहना चाहिए, अर्थात् मुख्य कथाकी समाप्ति नहीं होनी चाहिए। आगे क्या होता है, मनमें यह उत्सुकता बनी रहन चाहिए। एक अंकमें एक ही दिनकी कथा होनी चाहिए और नायकके अतिरिक्त तीन ही चार पात्र और होने चाहिए। तात्पर्य यह कि जो पात्र वस्तु-व्यापारको बढ़ानेमें निरान्त आवश्यक हों वे ही आने चाहिए, उनसे अधिक नहीं। एकके अनन्तर दूसरे अंककी रचना, अवस्था, अर्थ प्रकृति, संघि, उसके भंग तथा अर्थोपचरकोंको ध्यानमें रखकर करना चाहिए।

'कुछ शास्त्रकारोंने अंकके मध्यमें आनेवाले अंकोंको गर्भाङ्क कहा है और लिखा है कि इसका प्रयोग रस, वस्तु और नायकका उरुप बढ़ानेके लिये होना चाहिए। इसमें रंगद्वार और आनुख आदि अंग होते हैं तथा बीज और फलका स्पष्ट आभास होता है। यह देखनेमें आता है कि किसी नाटकके अंतर्गत जो दूसरा नाटक होता है वह गर्भाङ्कमें दिखाया जाता है जैसे, पिचदशिकाके तीसरे अंकमें धावदत्ताका अपनी सखियों-द्वारा वत्सराजसे अपने पूर्व प्रेम-कृत्योंका नाट्य करना; अथवा उत्तर-रामचरितमें बालमीकि ऋषिका राम लक्ष्मणके समुल्ल सीताके दूसरे धनरावकी कथा अन्तराङ्ग-द्वारा दिखाना, अथवा बाल रामायणमें सीता-स्वयंवरका प्रदर्शन।'

प्रस्तावनाके अन्य प्रकार

प्रस्तावनाके और भी अनेक प्रकार हो सकते हैं—

१—नेपथ्यसे कथा सुना देना।

२—जहाँसे कथा आरम्भ होनेवाली है उससे पूर्वका प्रसंग बराबर समाप्त कर देना और इत प्रकार दर्शकोंके मनमें उत्सुकता भर देना।

३—दो साधारण पात्र प्रस्तुत करके उनके द्वारा नाटकीय कथाको जिज्ञासा उत्पन्न करके उस वातावरणके परिणामस्वरूप नाटक प्रारंभ करना ।

४—रंगमंचपर एक विशेष प्रस्तोता व्यवस्थित करके नाटकके संक्षेपमें ज्ञान्य बातें कहला देना जैसे योरोपीय नाटकोंमें 'प्रोलोग' होता है ।

५—एक ऐसी प्रतीकात्मक घटना प्रस्तावना रूपमें प्रदर्शित करना जो प्रस्तुत नाटकके परिणामकी बोधक हो जैसे एक नाटककी प्रस्तावनामें एक छोड़ एक चीनी बत्तीकी दूकानमें घुसकर सब तोड़-फोड़ डालता है । इससे दर्शकोंको यह इंगित मिल जाता है कि नाटकका परिणाम इसी प्रकारका होगा कि कोई उहड़ या प्रचंड व्यक्ति पशुबलके सहारे समाजका संहार करता है । किन्तु यह प्रणाली अत्यन्त निषिद्ध है क्योंकि इससे परिणामके कौतूहलकी सद्यः निवृत्ति हो जाती है ।

६—सूत्रधार-नटकी प्रणाली तो प्रसिद्ध ही है ।

७—कोई आकस्मिक घटना दिखाकर नाटक प्रस्तुत करना ।

८—प्रस्तावनामें संक्षेप नाटकीय पात्रोंको उनके चरित्रके अनुरूप क्रियाओंमें प्रस्तुत करके उनका इस प्रकार परिचय देना कि नाटकीय कथाके विषयका आभास मिल जाय, जैसा अभिनवभारतके देवता नाटकमें है ।

प्रस्तावनाका विषय

१०—नाट्यवस्तु-नेता-रुचि-परिचयार्थ प्रस्तावना ।

[नाट्यवस्तु, नायक या कविका परिचय प्रस्तावना मनोहर ।]

प्रस्तावना चाहे जिस ढंगसे भी जाय किन्तु उसमें तीन बातोंका मुख्य रूपसे संकेत हो । १—एक तो नाटककी कथाका जिसमें नाटकी मूल कथा तो न आवे किन्तु उसनी दूर तककी कथा अवश्य आ जानी चाहिए जहाँसे नाटक प्रारंभ होनेवाला है । २—दूसरे, यदि पात्र प्रधान नायक हो और वह लोकप्रसिद्ध न हो तो उसका परिचय भी दे देना चाहिए किन्तु उसके जीवनकी जो कथा नाटकमें दी जानेवाली हो वह अंश नहीं आना चाहिए । ३—तीसरे, प्रस्तावनामें कविका परिचय भी देना चाहिए । बहुतसे लोगोंका यह कथन है कि प्रस्तावनामें कविका परि-

चय नहीं देना चाहिए किन्तु यह अत्यन्त भ्रामक मत है । अन्य सब प्रकारके प्रयोगोंके प्रारंभमें भूमिका लिखकर कवि अपनी प्रशंसा या अपनी मनोभावना व्यक्त कर लेता है किन्तु नाटकमें इस प्रकारका कोई अवसर नहीं रहता । हाँ, नाट्यशालाके बाहर विद्यापनोंमें कविका नाम दे दिया जाता है । किन्तु दर्शकोंके सम्मुख कविका जो वर्णन दिया जाता है उससे यथाप्रार्थी कविको बहुत मानसिक सन्तोष मिलता है और वह सन्तोष उसके प्रोत्साहनके लिये अत्यन्त आवश्यक भी है । ध्यान रखनेकी बात केवल यही है कि प्रस्तावनामें द्रष्टव्य नाटकीय कथा-वस्तुका कोई अंश नहीं आना चाहिए ।

घटना-संवाद-प्रवेश-निर्गम

व्यापार-योजना तथा संवाद-योजनामें हम विस्तारसे इसके सब अंग प्रत्यंग समझा आए हैं । यहाँ केवल इतना स्मरण दिला देना चाहते हैं कि नाटकमें संवादकी अपेक्षा कार्य या व्यापार अधिक होना चाहिए । प्रति दो मिनटके संवादके पश्चात् कुछ न कुछ व्यवहार या व्यापार-परिवर्तन जैसे उठना, जाना, आना, चलना, लड़ना-भगड़ना, कुछ लाना, रखना, रूटना भनाना, किसी पात्रका प्रवेश, निर्गम आदि इस प्रकार प्रत्येक दृश्यमें सजाए जायें कि संवादके कारण दर्शकोंका जी न ऊबे । बहुतसे नाटककार समझते हैं कि संवाद ही नाटक है । यह उनका भ्रम है । नाटक मुख्यतः दृश्य-व्यापार है, श्रव्यता गौण है । प्रत्येक नाटककारकी इसका ध्यान रखना चाहिए—

११—मुख्य दृश्यत्व गौण श्रव्यत्वम् ॥

[नाटकमें है दृश्य मुख्य, है गौण अथवा नाटककी]

विशेष नाट्यग्रन्थ

साधारण नाटकके अतिरिक्त कुछ विशेष प्रकारके नाटक होते हैं जिनके प्रधानका प्रकार कुछ भिन्न है ।

नाट्यनृत्य

नाट्यनृत्यके रचना-विधानमें दो अंग होते हैं—

१. कथा

२. नृत्य संकेत

नाट्यनृत्यमें प्रस्तुत की जानेवाली वस्तुके कथा अंगमें कथा अत्यन्त काव्यमयी, प्रामाण्यमयी किन्तु स्पष्ट और

सब भाषाओं में पहले किसी वाग्निद्वारा सूत्रधार अथवा विशेष व्यक्ति (स्थायक या प्रस्तावता) द्वारा कड़वाने के लिये लिखी जाती है।

दूसरे अंगों में वाद्य-संकेत, ताल-संकेत तथा नृत्य-नृत्य संकेत दिए जाते हैं अर्थात् यह क्रम प्रस्तावता जाता है कि कथाको किस घटनाको किस प्रकारके नृत्य-द्वारा किस वाद्यके साथ किस राग, ताल और गतिके सहारे प्रस्तुत किया जायगा।

गीति-नाट्य -

गीति-नाट्यके निम्नलिखित अंग होते हैं -

१. प्रस्तावना
२. कथा
३. संवादाभिनय
४. गीत
५. नर्तन

गीति-नाट्यमें सब कुछ गीतोंमें होता है। ये गीत अभिनेता नहीं गाते हैं बल्कि एक गायक-मंडली गाती है। इस गायक-मंडलीमें प्रत्येक पात्रके प्रतिनिधि गायक होते हैं जो उस-उस पात्रके संवाद या अभिनयका अंग गाते हैं और पात्र केवल गीत-भावका अभिनय करते हैं। संवादके अतिरिक्त जितना कथा-भाग है, उसे या तो गायक-मंडली गीत-द्वारा व्यक्त करती है अथवा एक भावनेय या भावनेय आकर कथा-भागको नृत्यद्वारा प्रस्तुत करता है। अर्थात् इसके प्रदर्शन विधानमें तीन दल होते हैं—(१) अभिनेता, (२) भावनेय या भावनेय अथवा कथाअभिनेता, और (३) गायक, वादक मंडलीके दो मंडल जिनमेंसे एक पात्र-प्रतिनिधि, दूसरे समवेत गायक।

गीति-नाट्यकी प्रस्तावनामें केवल कथा-विषय अर्थात् मुख्य पात्र या घटनाका गीत नृत्यात्मक परिचयभाव दे दिया जाता है जो भावनेय अपने नर्तनसे व्यक्त करती है।

मुख्य गीति-नाट्यकी रचनामें कुछ तो गीति-मय संवाद होते हैं, कुछ विभिन्न दृश्योंके बीचकी कड़ी जोड़नेवाली कथा होती है, कुछ विशेष अवसरोंके मानसिक आवेगोंको व्यक्त करनेवाले गीत होते हैं और कुछ गीतहीन नृत्य होते हैं। इसका रचना-विधान यह है कि नाटककारको यथास्थान पद्यमय कथा-भाग देकर यह संकेत करना

चाहिए कि भावनेय इसे नृत्य-द्वारा प्रस्तुत करेगी अथवा गायक ही गाए समझा लेंगे। इनके संवाद भी गीतिमय होने चाहिए इसमें पात्रोंका उल्लेख उसी प्रकार करना चाहिए जैसे गद्य नाटकमें होता है। जहाँ किसी पात्रका विशेष भावावेश अथवा मानसिक आवेग दिखाना हो वहाँ गीत देना चाहिए और जहाँ संवादहीन उत्तर आदि अथवा विशेष उपद्रव आदि दिखाना हो वहाँ केवल नृत्यका संकेत करना चाहिए कि वहाँ कीमल अथवा उद्धत नृत्य अथवा तालमें ब्रह्मक वाद्योंके साथ किया जाय। यदि कहीं कोई विशेष रंगनिर्देश करना हो कि 'असुक घड़ेपर चढ़ा प्रवेश करता है' या 'सुक होता है' आदि, तो यह गद्यमें ही किया जाना चाहिए। इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण अभिनवभरतका 'सिद्धार्थ' है जो पीछे दिया जा चुका है। इसमें ध्यान रखनेकी बात यही है कि संवाद-विधान अत्यन्त अल्प होना चाहिए।

सूकनाट्य

सूक नाट्यमें दो अंग होते हैं—

- १.—कथा या प्रस्तावना
- २.—अभिनय

यदि कथा अप्रसिद्ध हो तो पूरी कथा पहले दे दी जाती है और यदि प्रसिद्ध हो तो उसके संबंधमें इतना कथा-संकेत दे दिया जाना है कि कथा प्रसंग समझनेमें सुविधा हो। इसमें गीतका पूर्ण अभाव होता है। कथाके क्रमानुसार सब पात्र आ-आकर केवल आंगिक अभिनयके द्वारा कथा व्यक्त करते हैं। बीच-बीचमें आवश्यकतावश यदि नर्तनका विधान हो तो उसके साथ वाद्यका प्रयोग होता है और यों भी मौनताकी एकसत्ता भंग करनेके लिये पक्ष-वाद्य, पृष्ठ-तंगीत या वाद्य-ध्वनि भावानुसार सुनाई देती रहती है। इसके लिये यह अवश्य संकेत कर देना चाहिए कि कब-कब, किस-किस रागमें, तालमें और लयमें कौनसे वाद्य बजाने चाहिए।

सूक-संवाद-नाट्य

सूक-संवाद-नाट्य तथा साधारण नाटककी रचनामें कोई अन्तर नहीं होता, केवल उसके प्रस्तुत करनेके ढंगमें अन्तर हो जाता है और वह यह है कि साधारण नाटकमें तो संवाद और अभिनय दोनों कार्य अभिनेता ही करते हैं

किन्तु मूक सवाद-नाट्यमें संवादका वाचिक अभिनय अर्थात् पाठ तो नेत्रयमें प्रत्येक पात्रके प्रतिनिधि संवाद-पाठक करते हैं और रंगमंचपर पात्रोंकी भूमिका धारण करनेवाले केवल अभिनय करते हैं । इसे ही नेत्रययाकु (प्ले बैक) कहते हैं । आजकल अनेक चलचित्रवाले प्रायः रागीतज्ञान हीन अथवा कंठहीन सुन्दरी अभिनेत्रियोंके गीतोंके लिये इसीका प्रयोग करते हैं ।

अन्यनाट्य (रेडियो प्ले)

यद्यपि नाटक तो दृश्य और श्रव्य दोनों होना चाहिए किन्तु रेडियोपर जो नाटक प्रस्तुत किए जाते हैं वे दृश्य-रेडियो (टेलिविजन)के प्रचलित होनेतक तो श्रव्य नाटक ही प्रस्तुत कर रहे हैं । ऐसे श्रव्य नाटकोंके चार अंग होते हैं —

१—सूचना

२—संवाद

३—ध्वनि-युक्त व्यापार योजना ।

४—संगीत (गीत, वाद्य तथा नृत्य)

इसकी रचना करते समय संवादके अतिरिक्त शेष सब कार्य एक सूचकके द्वारा बीच-बीचमें सूचित करते रहना चाहिए और इस सूचनाकी भाषा इतनी काव्यमय और प्रमाणाशाली किन्तु सरल हो कि सूचक उसे पढ़ते समय वाचिक स्वरके उतार चढ़ावके द्वारा उसका भाव व्यक्त करता चल सके ।

इसमें रंगनिर्देश तथा संवाद-कार्य ठीक वैसा ही होता है जैसे अन्य साधारण नाटकोंमें किन्तु संवाद ऐसे ही अिनमें अधिकसे अधिक वाचिक अभिनयका अवसर हो । इसका तीसरा अंग ही विशेष ध्यान देनेका है, वह है ध्वनियुक्त व्यापार-योजना । साधारण दृश्य नाटकमें तो अभिनेताओं

की सारी क्रिया प्रत्यक्ष होती है इसलिये कोई अश्रुविधा नहीं होती किन्तु 'बढ़ उठकर जाता है, चलता है, सोचता है' आदि क्रियाएँ श्रव्यनाटकमें तो देखी नहीं जा सकतीं और प्रत्येक ऐसी क्रिया सूचित भी नहीं की जा सकती क्योंकि उससे भावधारा टूटनेकी आशंका पग-पगपर बनी रहती है । इसलिये प्रायः ध्वनियुक्त व्यापारोंकी योजना करनी चाहिए जिससे श्रोता उस व्यापारको कानसे समझ सके जैसे प्याले घोना, याली गंगाना, मोटरका मोंपा, चिड़ियों या अन्य जीवोंकी बोली, किवाड़का भड़भड़ाहट, घड़ की टिकटिक, घंटा ध्वनि, घोड़ेकी टाप, तलवारोंकी खनखन, पिस्तौलकी धार्य आदि ।

चोया अंग संगीतका तो वैसा ही है जैसा अन्य नाटकोंमें किन्तु इसमें यह संकेत करना चाहिए कि कहीं, किस रागमें, किस ताल और लयमें किस वाद्यके साथ नृत्य या गीत हो या केवल वाद्य श्रवण केवल नृत्य हो ।

इसी प्रकार अन्य नाट्य-रूपोंके सम्बन्धमें भी जानना चाहिए और संवाद, अभिनय, संगीत और भाषाका आश्रय लेकर अनेक प्रकारके नाट्य-रूपोंकी सृष्टि करनी चाहिए ।

नाट्यकी रचना और उसके रूपके शास्त्रीय विचारके सम्बन्धमें इतना पर्याप्त होगा । यद्यपि नाटकके शास्त्रीय विचारमें रसका भी विवेचन होना चाहिये या किन्तु हम पहले ही कह आए हैं कि इसका संबंध दर्शकोंसे है अतः दर्शकोंका विश्लेषण करते समय हम रसका भी विवेचन करेंगे । यों जहाँ-जहाँ रसके जितने अंगोंका विवेचन रूपकके विभिन्न तत्त्वोंकी समझानेके लिये अपेक्षित था उनका विवरण यथास्थान यथोचित रूपमें दिया गया है ।

॥ इत्यभिनवमरत-भैमसेनितुर्वेद-श्रीगीताराम-विगचितेऽभिनवनाट्यशास्त्रे रूपक-रचना-खण्डे नाट्यप्रयत्नं नाम षोडशोऽध्यायः ॥

इति रूपक-रचना खण्डं सम्पूर्णम् ॥